प्रधान सम्पादक

शिक्षको, प्रशिक्षको एव समाज-शिक्षको के लिए

वर्ष : चौदह
•
अंक : एक

नये मानव का निर्माण कैसे ?

एसोसियेटेड प्रेस के पीकिंग स्थित सवाददाता के अनुसार चीन के शिक्षा-विभाग के अधिकारी ह्वाग शेन-पाई ने कहा है कि चीन-सरकार नये मानव का निर्माण करने के लिए शिक्षा मे आमूल परिवर्तन करने जा रही है । शिक्षा-शालाओ मे आधे समय उत्पादक श्रम तथा आधे-समय अध्ययन का कार्यक्रम रखने की उसकी योजना है । इस तरह समाज मे किसी को केवल बौद्धिक काम और किसी को केवल शरीर-श्रम का काम करना नही पडेगा । इससे वह समाज मे बुद्धिजीवी नाम के एक विशिष्ट वर्ग का बनना रोक सकेगी, ऐसा वह मानती है । उसका यह भी कहना है कि इस योजना द्वारा शिक्षा स्वावलम्बी भी हो सकेगी ।

पीकिंग की यह खबर एक अत्यन्त शुभ सूचना है । शताब्दियो से विश्व के विचारक दुनिया मे एक वर्गहीन समाज-निर्माण का स्वप्न

चीन की योजना में उपर्युक्त सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रेरणा का अभाव दिखता है। चीन अगर चाहता है, जैसाकि उसका स्वरूप है, कि समाज में एक समन्वित तथा अद्वैत व्यक्तित्व का निर्माण हो तो उसे उत्पादन की पद्धति तथा उसके औजार में आमूल परिवर्त्तन करना होगा, जिससे औजार चलाने की हर मनुष्य में रुचि पैदा हो, उसके प्रति आकर्षण हो तथा वह आनन्ददायक हो।

वर्तमान उबानेवाले भीमकाय केन्द्रित उद्योगों की मार्फत नये मानव के निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। उत्पादन औद्योगिक केन्द्र की प्रवृत्ति न होकर पारिवारिक तथा सामाजिक दिनचर्या का विषय होना चाहिए।

ऐसा होने पर ही उत्पादन की प्रक्रिया बौद्धिक, सांस्कृतिक, नैतिक, तथा आध्यात्मिक साधना का आधार बन सकेगी।

उत्पादन प्रक्रिया तथा औजार में उपर्युक्त परिवर्त्तन तथा शिक्षण-प्रक्रिया में समवाय-पद्धति के समावेश के बिना अपेक्षित समन्वित व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं होगा। अगर ऐसा न होकर सामाजिक कानून-द्वारा हर मनुष्य को अरुचिकर शरीर श्रम तथा रुचिकर बौद्धिक श्रम में लगा रखने की कोशिश की जायगी तो ऊपर से यन्त्रवत-अद्वैत समाज बन गया है, ऐसा दिखायी देगा, लेकिन हर मनुष्य का अन्तर मन शरीर-श्रम से मुक्त होने की ओर ही झुका रहेगा। इस प्रकार विभाजित व्यक्तित्व के निर्माण से सामाजिक अद्वैतवाद की स्थापना सम्भव नहीं है।

प्राचीन काल से चीन एक कलापूर्ण तथा सांस्कृतिक मुल्क रहा है। उसकी संस्कृति हमेशा सचेतन रही है। यद्यपि आज उसके नेता पाश्चात्य यांत्रिक संस्कृति से प्रभावित दीख पड़ते हैं, तथापि वहाँ के मूल समाज की चिन्तन-धारा में चेतन मानव की कला और संस्कृति का अन्त प्रवाह सूख नहीं गया है। अतः हम आशा करते हैं कि चीन की दृष्टि अगर समाज-क्रान्ति के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर आकृष्ट हुई है तो वहाँ के नेता उद्योग के उपर्युक्त सांस्कृतिक पहलू पर ध्यान देंगे और उसकी प्रक्रिया तथा औजारों का आमूल परिवर्तन कर उसे कला और संस्कृति का वाहन बना सकेंगे।

—धीरेन्द्र मजूमदार

०

चाहिए और इसी स्पष्टता से अपने बच्चों को तालीम देनी चाहिए। यह नहीं हो सकता कि देश की सेवा की तालीम गाँववाले पायें और शहरवाले बच्चे देश को लूटने की तालीम पायें। इस देश में अब यह नहीं चल सकता, क्योंकि देश जागृत हुआ है और जागृत देश इस तरह का भेद हरगिज सहन नहीं करेगा।

नयी तालीम और पुरानी तालीम का भेद

नयी तालीम यानी नये मूल्यों की स्थापना। पुरानी-तालीम चोरी करने को पाप समझती थी। नयी तालीम न सिर्फ चोरी को, बल्कि अधिक संग्रह को भी पाप समझती है। पुरानी तालीम मानसिक और शारीरिक परिश्रमों के मूल्यों में फर्क करती थी। नयी तालीम दोनों का मूल्य समान समझती है। इतना ही नहीं, दोनों का समन्वय करती है, दोनों का 'समवाय' साधती है। पुरानी तालीम क्षमता की इज्जत करती थी। नयी तालीम क्षमता को समता की दासी समझती है। पुरानी तालीम लक्ष्मी और सरस्वती को स्वतन्त्र देवता रूप में पूजती थी, नयी तालीम मानवता को पूजती है और इन दोनों को उसकी सेवा का साधन समझती है।

समता का शिक्षण

नयी तालीम के बारे में और एक महत्त्व की बात कहूँगा। नयी तालीम आज की समाज रचना कायम रखकर नहीं दी जा सकती। आज की समाज-रचना के साथ नयी तालीम का पूरा विरोध है। अगर कोई कहे कि नयी तालीम तो तालीम का एक प्रकार है, उद्योग के जरिये तालीम देने की एक पद्धति है, तो ऐसा कहना गलत है। नयी तालीम तो नये समाज का ही निर्माण करेगी। आज की समाज रचना में ही नयी तालीम को बिठाया जाय और शिक्षकों की तनख्वाह में कमी-बेशी रहे, डिग्री के अनुसार तनख्वाह दी जाय, यह सब उसमें नहीं चलेगा। अगर नयी तालीम में ही शिक्षकों की तनख्वाह में फर्क रहा, तो 'स्टेट' में कैसे बदल होगा? आज तो 'स्टेट' का जो सारा ढाँचा बना है, उसमें योग्यता के अनुसार तनख्वाह दी जाती है, दर्जे बने हुए हैं। नयी तालीम इसे खतम करेगी। अगर नयी तालीम का उसके साथ विरोध नहीं आता और नयी तालीम उसको तोड़ती नहीं, तो वह नयी तालीम ही नहीं है। नयी तालीम में शरीर-श्रम और मानसिक श्रम की नैतिक और आर्थिक योग्यता समान मानी जायेगी। इसका मतलब है कि आज की कुल आर्थिक रचना ही हमें बदलनी है और उसे बदलने के वास्ते ही नयी तालीम है।

आध्यात्मिक पहलू

नयी तालीम का आध्यात्मिक पहलू यह है कि ज्ञान और कर्म दो चीजें नहीं, बल्कि एक ही चीज हैं। ज्ञान से कर्म श्रेष्ठ या कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ कहना गलत है। ज्ञान और कर्म एक हैं, इस बुनियाद पर, जो तालीम दी जायगी, वह नयी तालीम है। उसमें पता नहीं चलता कि कोई परिश्रम हो रहा है। काम होता है, शिक्षण मिलता है और साथ साथ स्वच्छ, सुन्दर हवा भी मिलती है।

आजकल कारखानों में मजदूरों को बन्द जगह में आठ घण्टे काम करना पड़ता है, जहाँ उन्हें न खुली हवा मिलती है, न आनन्द। उस काम का ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए फिर उन्हें सिनेमा आदि के जरिये आनन्द 'सप्लाई' करते हैं। उनके काम का आनन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। नयी तालीम में इस तरह काम का एक घण्टा और आनन्द का एक घण्टा नहीं रहेगा। नयी तालीम में तो सच्चिदानन्द होगा; कर्म, ज्ञान और आनन्द एक रूप होगा। ज्ञान प्राप्ति का एक स्वाभाविक तरीका यह है कि हम जो भी कार्य करते हैं, उसके साथ-साथ ज्ञान भी हासिल होता रहे। हम बीमार की सेवा करेंगे तो साथ-साथ प्रयोग भी करेंगे, यानी सेवा और अध्ययन दोनों करेंगे। कोई डाक्टर शोध करना चाहता है, परन्तु रोगी की सेवा नहीं करना चाहता, तो कैसे चलेगा? जैसे शोध से आप काम को अलग नहीं कर सकते, वैसे आनन्द से भी काम को अलग नहीं कर सकते। काम और आनन्द को अलग अलग किया जायेगा, तो आनन्द सदोष होगा और काम रूखा सूखा बनेगा।

o

विदेशी हस्तक्षेप आदि तरीकों से साम्यवाद अपनी शक्ति और अपना क्षेत्र बढ़ाता है, तो उन्हीं तरीकों से उसे रोकने में क्या हर्ज है ? इस तर्क में बल है। लेकिन, वियतनाम की अबतक की लड़ाई से एक बात सिद्ध हो गयी है कि अमेरिका केवल बन्दूक और डालर से लोगों को डरा नहीं सकता, उनकी भावना को कुचल नहीं सकता।

चीन के पास अकेला साम्यवाद का ही नारा नहीं है, उसके दूसरे नारे भी हैं —

(क) एशिया और अफ्रीका के देशों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विदेशी शासन से मुक्ति

(ख) रंगीन जातियों की सफेद जातियों के दमन से मुक्ति,

(ग) जनता की सामन्तवाद और पूँजीवाद के शोषण से मुक्ति।

चीन आज त्रिविध मुक्ति का नारा लगा रहा है और उसके नारे का एशिया और अफ्रीका के करोड़ों दलित-शोषित जनता के दिल पर गहरा असर हो रहा है। एशिया-अफ्रीका के देश देख रहे हैं कि पश्चिम के धनी देशों की नीयत उनके प्रति आज भी साफ नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में धनी देश गरीब देशों का शोषण कर रहे हैं और विकास के नाम में, जो पूँजी भिजवा दी जा रही है उससे उन देशों की राजनीति और अर्थनीति को ऐसा मोड़ मिल रहा है कि जिससे समाज के सामन्तवादी और पूँजीवादी पक्षों को ही बढ़ावा मिले। क्या कारण है कि जहाँ पश्चिम की बन्दूक पहुँचती है या पैसा पहुँचता है, वहां सैनिक गुट और शासक की शक्ति बढ़ती है जनता की शक्ति घटती है ?

पिछड़े देशों का दुर्भाग्य है कि वे अमेरिका और योरप पर ही शस्त्र, पूँजी, यन्त्र और बुद्धि इन चारों के लिए मुहताज हैं। अपनी परिस्थिति में प्रतिरक्षा, उत्पादन की पद्धति और टेक्नालाजी विकास के मापदण्ड राजनीतिक संगठन, शिक्षा आदि की कोई नयी दिशा विनिमित करने की कोशिश उन्होंने अबतक नहीं की है। उन्हें सोचना चाहिए कि अगर आकांक्षाएँ पश्चिम की होंगी, तो तरीके भी पश्चिम के अपनाने पड़ेंगे, और परिणाम भी वे सारे भोगने पड़ेंगे, जिनसे हम बचना चाहते हैं। हिंसा से अलग हटकर हमें अपना नया रास्ता ढूँढ़ना पड़ेगा, लेकिन क्या कहा जाय, किसी देश में नया रास्ता ढूँढ़ निकालने के साहस का नया नेतृत्व दिखाई नहीं देता।

साम्यवाद में हजार बुराइयाँ हो सकती हैं, लेकिन गरीब देशों की जनता के लिए उसमें 'साम्य' का जादू है। उस जादू का असर अमर होता है। शस्त्र से शस्त्र का मुकाबला किया जा सकता है लेकिन किस शस्त्र से साम्य को लोगों के दिमागों में घुसने से रोका जा सकता है ? जब साम्य की प्रेरणा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ जुड़ जाती है तब साम्य की शक्ति अजेय हो जाती है। दक्षिण वियतनाम में इसी सम्मिलित शक्ति का दर्शन हो रहा है। अगर दुनिया के पास साम्यवाद के सिवाय साम्य का दूसरा कोई रास्ता नहीं है, तो गरीब और पिछड़े देशों में साम्यवाद की शक्ति उठकर रहेगी और उसे कोई रोक नहीं सकता। बुद्धिमानी इसमें है कि साम्य का कोई सौम्य तरीका निकाला जाय, और यह जिम्मेदारी सबसे अधिक उन देशों की है, जो लोकतन्त्र को मानते हैं न कि साम्यवादी बन्दूक का मुकाबला पूँजीवादी बन्दूक से करने का व्यर्थ प्रयत्न किया जाय।

जबतक उन्नत देशों का अपनी बुद्धि से अधिक भरोसा अपनी बन्दूक पर रहेगा और जबतक पिछड़े देश अपनी मुक्ति के लिए दूसरों की शक्ति के मुहताज रहेंगे तबतक एक वियतनाम के बाद दूसरा वियतनाम तैयार होता ही रहेगा। कुछ भी हो हर देश की जनता को ठेकेदारी से सजग हो जाना चाहिए। एक ओर चीन की ठेकेदारी कि दुनिया में साम्यवाद फैलाना है, दूसरी ओर अमरीका की ठेकेदारी कि दुनिया को साम्यवाद से मुक्त रखना है। ये दोनों ठेकेदारियाँ सामान्य-जनता के स्वतन्त्र विकास के लिए घातक हैं क्योंकि अन्त में जनता को किसी-न-किसी ठेकेदार का गुलाम ही बनकर रहना पड़ेगा। जबतक ठेकेदारी रहेगी, हिंसा रहेगी और जबतक हिंसा रहेगी मनुष्य मुक्त नहीं होगा। ०

बुनियादी तालीम की दिशा

•

राधाकृष्ण

नेशनल बोर्ड आफ बेसिक एजुकेशन की हाल की एक बैठक म यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या सरकार अभी भी अपने उस फैसले पर कायम है, जिसम उसने बुनियादी शिक्षा को देश की प्राथमिक शिक्षा के ढाँचे के रूप मे मजूर किया था। बोड के अध्यक्ष श्री चागला न, जो केन्द्रीय शिक्षा मत्री भी हैं—इस बात को फिर मे दुहराया कि बुनियादी शिक्षा प्राथमिक शिक्षा का एक खास और जरूरी हिस्सा है, इसलिए अच्छी प्राथमिक शिक्षा का ढाचा बुनियादी शिक्षा पर ही आधारित रखना होगा।

हम समय की गति से पीछे हैं

समय समय पर विभिन्न शैक्षिक निकायों-द्वारा ऐसे प्रस्ताव पास किये जाते रहे हैं जिनके द्वारा बुनियादी शिक्षा को विद्यालय स्तरीय शिक्षा के पुनगठन के लक्ष्य के रूप म मान्य किया गया। इस प्रकार की घोषणाओ के बावजूद इस दिशा मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। हम इस देश म जिस प्रकार की शिक्षा चलाना चाहते हैं उसकी मजबूत बुनियाद अभी भी डालना बाकी ही है। राष्ट्रीय स्तर पर हम कोई व्यापक उद्देश्य और लक्ष्य निर्धारित करने मे असफल रह गये हैं और इस प्रकार समय की गति से बहुत पिछडते जा रहे हैं। इसी का परिणाम है कि हमारे सामने समस्याओ की एक पिटारी-सी खुल गयी है, ऐसी समस्याओ की जो शिक्षा-पद्धति म से पैदा हुई हैं, जैसे पढे लिखो की बेकारी, छात्रो की अनुशासन हीनता और शिक्षा के क्षेत्र मे व्यावसायिक दुष्प्रवृत्तियो की वृद्धि। आज की परिस्थिति का निर्माण करने म जिन तत्त्वो का प्रमुख हाथ रहा है उनका विश्लेषण किया जाय तो वे निम्नलिखित होगे—

१ बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र म स्वतन्त्र प्रयोग करने की सुविधा और प्रोत्साहन का अभाव,

२ बुनियादी और गैर बुनियादी—इन दोनो प्रकार के परस्पर विपरीत विद्यालयो को साथ साथ चलने देना,

३ बुनियादी शिक्षा के कायक्रमो के कार्यान्वयन के लिए ऐसे शैक्षिक प्रशासन का होना, जो इसके लिए अक्षम है और इसम विश्वास भी नहीं रखता,

४ बुनियादी शिक्षा नगरो के स्कूलो म कैसी होगी, इसका कोई प्रयोग न होना,

५ विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न प्रकार के उद्योगो की विशेष परिस्थितियो और उनके अन्तर्गत प्राकृतिक और सामाजिक शिक्षण की सम्भावनाओ का उद्घाटन करनेवाले प्रयोगो का नितान्त अभाव,

६ हमने लोकतत्र और समाजवाद का आर्थिक सामाजिक लक्ष्य स्वीकार किया लेकिन इसके साथ शैक्षिक लक्ष्य प्रवृत्तियो और शैक्षिक प्रशासन की कोई भीतरी एकता नही स्थापित की।

७ जो छात्र बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र मे शिक्षण प्राप्त करके बाहर आये उन्हें सामान्य शिक्षा प्राप्त छात्रो के मुकाबले कम अवसर प्रदान किये गये।

८ बुनियादी शिक्षा की शिक्षण अवधि को प्राथमिक और उच्च प्राथमिक दो भागो मे विभाजित किया गया।

६ से ११ वर्ष के छात्रों को किस किस प्रकार के क्रियाशीलता म सलग्न होने देना चाहिए। इस चुनाव के प ा म यह तर्क पेश किया जाता है कि क्राफ्ट का शिक्षा ग्रहण करने का सबसे उपयुक्त समय छात्र के लिए तब आता है जब वह कुछ सयाना हो जाता है। इससे पहले की प्रारम्भिक अवस्था म बच्चे को विभिन्न प्रकार के ऐसे क्रियाशीलता म लगने देना चाहिए जिससे उसकी कर्मेन्द्रियों को अनेक प्रकार के सीखने का अभ्यास करने का भरपूर अवसर मिल सके।

इस राय से सब सहमत है कि स्कूली शिक्षा म उत्पादक काम को शिक्षा के आवश्यक अग के रूप म स्वीकार प्राप्त हो। तथा इसम भी कि प्रत्येक स्कूल म कम से कम दो प्रकार के ... रखने की व्यवस्था हो और यह आवश्यक न माना जाय कि केवल क्राफ्ट कताई और बुनाई तक सीमित है। एकसाथ बहुत-से क्राफ्टो की शिक्षा देना, न तो सम्भव ही है और न व्यावहारिक। अतएव प्रकार के ऐसे क्रियाशीलनों का आयोजन किया जा सकता है, जो मुख्य क्राफ्टो के लिए प्रेरक हो सकते हैं।

क्राफ्ट का चुनाव

हिन्दुस्तानी तालीमी सघ द्वारा प्रस्तुत आठ वर्षीय क्राफ्ट शिक्षण के पाठ्यक्रम के अनुसार यदि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो सकें तो मानना चाहिए कि अमुक क्राफ्ट स्कूली शिक्षा के लिए मुख्य क्राफ्ट के रूप में स्वीकृत होने योग्य है—

१ वह ऐसा होना चाहिए जिसके माध्यम से भाषा, सामान्य विज्ञान और गणित का ज्ञान बढ़ाने की पर्याप्त शैक्षिक सम्भावनाएँ हो और उसके द्वारा छात्र में ठीक आदतें और सही रुझान पैदा की जा सके।

२ उसकी ऐसी आर्थिक उपयोगिता होनी चाहिए कि छात्र अथवा छात्रा बेसिक शिक्षा का दौर पूरा करने के बाद उसके द्वारा सन्तुलित आहार और जीवन निर्वाह की अन्य न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने म समर्थ हो सके।

बुनियादी शिक्षा के काम मे सलग्न कार्यकर्ता इस सम्बन्ध मे लगभग एक राय हैं कि कताई और बुनाई के अतिरिक्त ऐसे उद्योगों के बारे मे खोज की जानी चाहिए, जिनकी शैक्षिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत होने पर छात्रों को लाभ पहुँचे। यह भी देखना होगा कि किसी उत्पादन का निर्धारित लक्ष्य पूरा होना ही सफलता की कसौटी न मानी जाय, बल्कि यह देखा जाय कि क्राफ्ट म छात्र ... हो जाय। यह तभी सम्भव है जबकि क्राफ्ट-शिक्षा वैज्ञानिक पद्धति से हो ... और सुंदरता ... रीति से। गाधीजी के शब्दो म कहना हो तो जब छात्र प्रत्येक प्रक्रिया को क्यो और कैसे करना चाहिए यह सीख लेता है तो क्राफ्ट के काम की शैक्षिक सम्भावनाएँ पूरी होने लगती हैं।

विकास की मुख्य बाधाएँ

क्राफ्ट का काम दोषपूर्ण तरीके से करना, शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों म क्राफ्ट की कुशलता का अभाव, बच्चे सामान जुटाने की व्यवस्था की कमी और विद्यालय म तैयार सामान की खपत की व्यवस्था का न होना बुनियादी शिक्षा के विकास की मुख्य बाधाएँ हैं। इसके परिणामस्वरूप, बुनियादी विद्यालयों म क्राफ्ट का काम एक अव्यवस्थित और अध कचरा कार्यक्रम बन गया है और इसी कारण इस कथन का बल मिलता है कि बुनियादी शिक्षा बडी खर्चीली है।

जैसाकि १९५६ की मूल्यांकनसमिति ने अपनी रिपोर्ट मे प्रकट किया था—"शैक्षिक दृष्टि से यह बिना विरोध के स्वीकार करना होगा कि यदि उत्पादक कार्य को शिक्षा का उत्तम माध्यम बनाना है तो उसका कार्यान्वयन सुव्यवस्थित सुनियोजित और सुसज्जित रूप में होना चाहिए। यदि विद्यालय म वैज्ञानिक प्रयोग करने की सुविधा न हो, अध्ययन के लिए पुस्तकालय न हो तो उसे शिक्षण का केन्द्र नही माना जा सकता, और अगर वहाँ क्राफ्ट का काम सुनियोजित ढग से नही होता, न वहाँ आयु के अनुसार उद्योगघर तथा सामान मरम्मत का प्रबन्ध है तो वह बुनियादी विद्यालय भी नही है।

सवाल यह नही है कि शुरू की कक्षाओं म क्राफ्ट दाखिल किया जाय या सिर्फ क्रियाशीलन रखा जाय, बल्कि उस उम्र के बच्चों का क्राफ्ट सहज, आसान और उनकी उम्र के लिहाज से मौजूँ और दिलचस्प हो।

बुनियादी स्कूलों के लिए जिस किसी क्राफ्ट को लिया जाय उसकी तैयारी और जोड़ के क्रियाशीलन के रूप में कई कार्यक्रमों का कुशल शिक्षक चुनाव कर सकते हैं और उसका बच्चों की आयु के अनुसार इस तरह बंटवारा कर सकते हैं कि उनमें लगने से बच्चों की कार्यकुशलता बढ़े और वे रुचि तथा दिलचस्पी के साथ उसमें भाग ले सकें।

समवाय सनक नहीं है

समवाय का सिद्धान्त एक ऐसा दूसरा विषय है, जिसको लेकर काफी भ्रम और हिचकिचाहट की स्थिति पैदा हो गयी है। समवाय विशुद्ध मनोविज्ञान पर आधारित शैक्षिक तकनीक के रूप में बुनियादी शिक्षा में दाखिल हुआ था, न कि गांधीजी की सनक के रूप में। शिक्षा मंत्रालय-द्वारा प्रस्तुत 'कान्सेप्ट आफ बेसिक एजुकेशन' में समवाय की व्यापकता और सीमा का अच्छी तरह विवेचन किया गया है।

जैसा कि किसी भी अच्छी शिक्षा-योजना में होना अभीष्ट है—बुनियादी शिक्षा में ज्ञान किसी क्रियाशीलन, व्यावहारिक अनुभव या अवलोकन के साथ अनुबद्ध होना चाहिए। इसे सम्भव बनाने के लिए बुनियादी शिक्षा में सही ढंग से माना गया है कि पाठ्यक्रम को समवाय के तीन मुख्य केन्द्रों, यानी क्राफ्ट, प्राकृतिक परिवेश और सामाजिक वातावरण के साथ सम्बद्ध होना चाहिए। सुप्रशिक्षित और समझदार शिक्षक जितना ज्ञान छात्रों को देना आवश्यक मानता है, उसे वह इन तीनों या तीनों में से किसी एक के समवाय में देने में समर्थ होगा; क्योंकि समवाय के उपर्युक्त तीनों केन्द्र विकास करनेवाले बच्चे की रुचि के सहज और महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। इसलिए यदि जूनियर बेसिक स्तर पर शिक्षक यह कार्य नहीं कर पाता तो इसका यह अर्थ होता है कि उसमें आवश्यक क्षमता नहीं आ सकी है या फिर यह मानना होगा कि उस स्तर का पाठ्यक्रम अनावश्यक और अवांछनीय ज्ञान से बोझिल है।

यान्त्रिक अनुबन्ध नहीं

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे विषयों का समावेश भी हो सकता है, जिनका समवाय के तीनों केन्द्रों के साथ अनुबन्ध न हो पाये। ऐसे विषय एक तो बहुत कम होंगे और जो होंगे उनका शिक्षण उस ढंग से हो जाय, जो किसी अच्छे विषय शिक्षण के विद्यालय में प्रचलित है तो हमें कोई एतराज नहीं होना चाहिए। इसका यह अर्थ होता है कि ऐसे पाठों को पढ़ाने में भी बच्चे की रुचि, सक्रियता और भाव-प्रकाशन के तत्वों का भरपूर फायदा उठाया जायगा। कुछ भी हो, लेकिन खींचतान और यान्त्रिक ढंग से स्थापित अनुबन्ध की पद्धति, जो बहुत से विद्यालयों में प्रचलित है, सावधानी से त्यागनी पड़ेगी।

समवाय सिर्फ सिद्धान्त में

यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में अलग अलग राज्य-सरकारों ने समवाय के इस पहलू की जांच करके कार्य के तरीके ढूँढ़ने की कोशिश की थी, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से उनका रुख दूसरा हो गया है। जो कुछ बचा है वह सैद्धान्तिक रूप में या तो प्रशिक्षण संस्थाओं में। इस सम्बन्ध में पहली कठिनाई तो समवाय सम्बन्धी साहित्य और शिक्षकों के लिए मार्गदर्शक पुस्तकों की है। दूसरी कठिनाई शिक्षकों की तैयारी की है। आज शिक्षकों की तैयारी का ज्यादा भाग शिक्षा सिद्धान्त की चर्चाओं में चला जाता है। उन्हें कक्षा शिक्षण के अभ्यास के लिए न पूरा समय मिलता है न समुचित अवसर। इसी का *नतीजा है कि समवाय शिक्षण केवल सिद्धान्तरूप में रह* गया है।

विद्यालयों का नवीनीकरण

बुनियादी शिक्षा की मूल्यांकन समिति ने सुझाव दिया था कि गैर बुनियादी विद्यालयों को बुनियादी विद्यालय में परिवर्तित करने की प्रक्रिया नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने के बदले फैलाव की ओर होनी चाहिए यानी कुल-के-कुल प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालय के ढांचे में ले आना चाहिए। यह पुनर्नवीनीकरण (री-ओरियेन्टेशन) का कार्यक्रम इस योजना की अवधि के भीतर ही पूरा हो जाना चाहिए। इस अवधि के बाद हमारे पास ऐसा कोई विद्यालय नहीं रहना चाहिए, जो नवीनी-

करण से वंचित हो और न कोई नया विद्यालय ही ऐसा खुलने देना चाहिए, जो पुराने ढंग का हो।

इस सम्बन्ध में अगला काम करने के लिए जो रह जाता है वह यह है कि जिला शैक्षिक विकास की इकाई बने। इस दृष्टि से शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की नींव डाली जाय, शिक्षण में सलग्न व्यक्तियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो और बुनियादी विद्यालयों का विकास होता रहे।

विकास की न्यूनतम कसौटी

स्कूली शिक्षा की नवरचना का यह कार्यक्रम इस गति से चलना चाहिए कि आगामी ५-६ वर्षों के भीतर यह कार्यान्वित हो जाय। राष्ट्रीय संगठन अथवा भावात्मक एकता की समस्या के संदर्भ में जितनी जल्दी हो सके इसे कार्यान्वित करने की अधिक आवश्यकता माननी चाहिए। बुनियादी विद्यालयों के विकास-कार्यक्रम की निम्नलिखित न्यूनतम कसौटी होगी—

१ उसमें ७ से ८ वर्ष तक का समन्वित शिक्षण की व्यवस्था होगी।

२ उसमें सफाई-अपनी और अपने पास पड़ोस की—और आरोग्य के क्रियाशील शिक्षाक्रम के अंग होंगे तथा इसके लिए आवश्यक सुविधाएँ रहेंगी। बच्चों को सिखाया जायगा कि वे इसमें दिलचस्पी और समझदारी के साथ शरीक हों।

३ उसमें एक मुख्य और एक पूरक क्राफ्ट की व्यवस्था रहेगी। उत्पादक काम को शिक्षा का माध्यम बनाकर भरपूर शिक्षा दी जायगी। समवाय को सिर्फ उत्पादक कार्यक्रम तक सीमित रखने की जरूरत नहीं। उसे प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तक बढ़ाना चाहिए। जिस क्राफ्ट का चुनाव किया जाय उससे ज्ञान बढ़ना चाहिए और बच्चों में ऐसी उत्पादक क्षमता आनी चाहिए कि वे वस्त्र तथा अपने लिए दूसरी उपयोगी चीजों में आत्मनिर्भर बन सकें। कच्चे सामान औजार और उनकी मरम्मत की ठीक व्यवस्था रहनी चाहिए।

४ बुनियादी विद्यालय का संगठन एक उत्पादक सहकारी समुदाय के रूप में होना चाहिए, जो शिक्षक के मार्गदर्शन में छात्रों की प्रजातन्त्रीय पद्धति से चलेगा। सांस्कृतिक और मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों को इस ढंग से आयोजित करना होगा कि छात्रों का उससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो।

५. विद्यालय के क्रियाशीलता का पास पड़ोस से लगाव होना चाहिए ताकि बालकों के लिए नए नये अवसर आवें और पास पड़ोस की सेवा का भी मौका मिले।

६. अधिकांश शिक्षक बुनियादी प्रशिक्षित होने चाहिए। जो शिक्षक बुनियादी प्रशिक्षित नहीं है उन्हें प्रशिक्षित करने की यथाशीघ्र चेष्टा होनी चाहिए।

७ सामुदायिक ढंग का प्रार्थना समुदाय के एक अंग के रूप में प्रतिष्ठित होनी चाहिए।

बुनियादी शिक्षा को सफलीभूत करने के लिए कई और भी पहलू हैं, जिनपर ध्यान देना होगा। शैक्षिक प्रशासन का नवनीकरण (रीओरिएन्टेशन) किसी भी कार्यक्रम को लागू करने की एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसी प्रकार शिक्षक प्रशिक्षण के कई पहलुओं पर भी पूरा पूरा विचार करना होगा। गैर सरकारी ढंग पर चलनेवाले बुनियादी और उत्तर बुनियादी के छात्रों को अन्य विद्यालयों के छात्रों की तरह ही ऊँची शिक्षा की सुविधा दिलाना एक बड़ी भारी समस्या है

तीन समस्याएँ

मैंने इस लेख में तीन ऐसी समस्याओं का उल्लेख किया गया है, जिनका समाधान ढूँढे बिना शिक्षा की पुनरचना का कोई कार्यक्रम शुरू नहीं किया जा सकता। शिक्षा की यह पुनरचना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा एक गोरखधंधा बन गयी है। लोकतन्त्र और समाजवाद के आर्थिक सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसकी बुनियाद नागरिकों में बचपन से ही डाला जाय। हमारे आर्थिक विकास की गति कायम रखने और उसकी वृद्धि से किसी वर्ग विशेष या समुदाय के बदले सम्पूर्ण समाज को प्रभावित और परिवर्तित करने के लिए शैक्षिक पुनर्रचना के सिवाय और कोई कारगर उपाय नहीं दीखता।

(मूल अंग्रेजी में)

स्तानी थे। खुशी हुई कि हिन्दुस्तानी गीत उनको पसन्द आये। हमने सोचा, हमारे बच्चों को भी दूसरे देशों के गीत सीखने चाहिए और गाने चाहिए, जिससे मेल-जोल बढ़े।

हम अध्यापकों के मेहमान थे। अधिक समय उनसे मिलने-जुलने और बातचीत करने में लगा। हर शहर में अध्यापकों की यूनियन में भाषण हुए। मैत्री-भावना को सराहा। 'जामे-सेहत' पिये, उपहार दिये और लिये। बच्चों से तो कहीं पार्क या पायनियर पैलेस में घण्टा डेढ़-घण्टा मिलना होता, जहाँ सैकड़ों बच्चे होते। इसलिए किसी बच्चे से पाँच मिनट से अधिक मुलाकात न हो सकी।

तीन-चार हफ्ते घूम-फिर कर, मिल-मिलाकर जब वापस होने लगे तो आपस में उन अध्यापकों की चर्चा होती रही, जिनकी बातचीत, मिलने-मिलाने, हँसी-मजाक ने प्रभावित किया था। हमारा विचार था कि दूसरी सौगात के अतिरिक्त अध्यापकों की दोस्ती बड़ी सौगात है। बच्चों की मित्रता को सामयिक चीज समझा। अन्दाजा तक न था कि उनसे रिश्ता हो जायगा।

मैं घर पहुँचा तो सब खुश थे। खुशी का वेग कम हुआ तो मुझे दो पत्र दिये गये, जो मेरे आने से एक हफ्ते पहले आ गये थे। मैंने सोचा, अध्यापकों के होंगे। सफर की थकान दूर हुई, तो रूसी भाषा जाननेवाले की खोज की। जब पता चला तो खत पढ़वाये। मालूम हुआ ताशकन्द से आये हैं। स्कूल में पढ़नेवाली बच्चियों के हैं, जो भारत और यहाँ के लोगों के बारे में जानकारी चाहती हैं।

खुशी हुई कि यात्रा सफल रही। पत्रों के उत्तर दिये। चूँकि मैं सातवें साल में था और लिखनेवाली स्कूल की बच्चियाँ, इसलिए मैंने 'प्यारी बेटी' से पत्र आरम्भ किये। डाक में तो डलवा दिये; मगर सोचा, अजनबी लड़कियाँ, जिनसे यूँ ही मुलाकात हुई थी, वही वे या उनके माँ-बाप बुरा न मानें कि रिश्तेदारी कैसी? दूसरे महीने उत्तर मिले। एक पत्र में लिखा था—"मुझे खुशी है कि भारत में मेरे पिता हैं।"

इन प्यारी बच्चियों से पत्र-व्यवहार चलता रहा। दिल की बीमारी हुई। महीनों उन्हें पत्र न लिख सका। जब सँभला तो पत्र लिखा और देर का कारण बतलाया। उत्तर में दोनों ने लिखा—"बाबा, यदि मैं भारत में होती तो आपकी पलंग से लगी बैठी रहती।" पढ़ना था कि आँखें बन्द हो गयीं। लगा, दोनों के हाथ मेरे माथे पर हैं। ठण्डक पहुँची, शान्ति मिली। कैसे सुगन्धित और रंगीन फूल, जिनकी महक और रंगीनी ने हजारों मील दूर होते हुए भी मुझे मदहोश कर दिया।

लीजिए उनके दो ताजे पत्र आप भी पढ़ लीजिए—

पहला खत

चमकते हुए उजबेकिस्तान से सलाम,

बाबा! आपकी बेटी रानो आपको यह पत्र लिख रही है। मुझे आशा है कि आप अच्छे होंगे। आप माफ करें, मैंने आपको बहुत दिनों में पत्र लिखा। मैं परीक्षा में उलझी हुई थी। मुझे बहुत से विषयों में काफी अच्छे और चार में अच्छे नम्बर मिले। आपको खुशी होगी कि मेरी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गयी। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि मेरे भाई नौकरी पा गये और मेरी बहन भी आखिरी परीक्षा दे रही है। आप उनके परीक्षाफल से मुझे अवश्य सूचित करें।

कुछ दिन हुए ताशकन्द में हिन्दुस्तानी फिल्में दिखायी गयी थीं। मुझे वे फिल्में और गीत अच्छे लगे। मैं जब भी आपके या भारत के बारे में सोचती हूँ, ऐसा जान पड़ता है कि मैं आपके साथ हूँ और भारत में घूम रही हूँ। एक न-एक दिन तो हम अवश्य मिलेंगे।

गरमी का मौसम है। फलों और सब्जियों का जमाना है। जी चाहता है कि आप भी साथ होते।

आपकी तन्दुरुस्ती चाहनेवाली
आपकी बेटी
रानो (अब्दुल रहमानो रानो)

प्रकाशनय उजबेकिस्तान से सलाम

प्यारे पापा !

फाया तुमी (फाया के पति) गुलशान चक (बच्चा) की ओर से हार्दिक प्रणाम। हम सब अच्छे हैं और चाहते हैं कि आप भी तन्दुरुस्त हों। आपका पत्र मिला। उत्तर लिखने बैठी तो बहुत खुश थी। जी चाहता था कि खुशी में गाऊँ। गुलशान चक कितना भाग्यवान है ! बचपन ही से नयी-नयी चीजें देख रहा है। आश्चर्य नहीं कि वह बड़ा होकर इन चीजों को खूब समझे और इनका प्रयोग करे।

७ नवम्बर को कौमी त्योहार हो रहा है। ६ नवम्बर को तुमी के साथ सामूहिक फार्म में गयी। तुमी ने बहुत अच्छा काम किया। वहाँ से हम माँ के पास गये। वह अपने नाती में खेलती रही। घर आये तो खुशखबरी मिली कि राया ने खिलौने, मिठाई और अल्बम दिये। मेरे दिल पर इतना असर पड़ा कि आँखों से आँसू बहने लगे। आपके पैतृक स्नेह और अलबम ने दिल में जो भावना पैदा की उसे प्रकट नहीं कर सकती। जिस दिन गुलशान चक को खिलौने मिले, वह एक साल तीन महीने का था। इतने नये खिलौने देखकर खुशी से लोटने लगा। उसने आपके दोनों गाल चूम लिये। इति।

आपकी बेटी फाया
(मकदूनोराव फाया)

जब भी पत्र मिलता है, लगता है अपने बच्चों में बैठा खेल रहा हूँ। बेटियाँ ही नहीं, नाती भी हैं और जब कोई बच्चा मिलता है, तो समझता हूँ कि यह इनसान का बच्चा है। उसके दिल में राया, फाया-जैसी भोली और पाक मुहब्बत उमड़ रही है। यह तो मेरा ही बच्चा है।

सौगात ! और कैसी सौगात !!

●

कमाई के पैसे

●

नीरजा

एकबार टालस्टाय सादे कपड़े पहने प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। उन्हें कुली समझ कर एक महिला ने बुलाया और कहा—"यह पत्र सामने के होटल में मेरे पति को देआ। आने पर तुझे दो रूबल दे रही हूँ।"

टालस्टाय ने चुपचाप उस महिला का काम कर दिया और दो रूबल प्राप्त कर लिये।

थोड़ी देर बाद उनके एक मित्र आ गये और उन्होंने बड़े अदब से टालस्टाय को नमस्कार किया। उस महिला का माथा ठनका। उसने पास आकर उस व्यक्ति का परिचय पूछा।

उस आदमी ने चकित होकर उत्तर दिया—"अरे ! आप नहीं जानती, ये हैं टालस्टाय।"

काटो तो खून नहीं। महिला ने टालस्टाय से बार-बार क्षमा माँगते हुए कहा—"कृपा करके रूबल लौटा दीजिए मैंने आपका बहुत अनादर किया। हे परमात्मा ! मुझे क्षमा कीजिए।"

टालस्टाय ने हँसकर कहा—"देवी, क्षमा करना तो परमात्मा का काम है, लेकिन मैं पैसे क्यों वापस कर दूँ ? क्या मैंने आपका काम नहीं किया ? वह तो मेरी कमाई के पैसे हैं न ?" ●

यों कहने के लिए हम अपने को आजकल स्वाधीन कह लेते हैं; पर असल में हम आज भी पराधीन ही हैं, और शायद राजनीतिक दासता के दिनों में जितने पराधीन थे, उससे कुछ अधिक ही पराधीन हम स्वतंत्रता के इन १८ वर्षों में या तो बने हैं या बना दिये गये हैं। और, हम हैं कि अभी तक होश में नहीं आ रहे हैं। स्वाधीनतापूर्ण जीवन बिताने की कोई उत्कटता आज हमारे शिक्षा-जगत के वातावरण में कहीं दिखाई नहीं पड़ती। हर एक लकीर का फकीर बनकर चलने में ही अपनी कुशलता मानता नजर आता है। यही कारण है कि प्राथमिक विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक की सारी शिक्षा का मुँह आज सरकारी नौकरियों की ओर मुड़ा हुआ है। स्वतंत्र देश के शिक्षित नागरिक का कार्यक्षेत्र सरकारी नौकरी से भिन्न और स्वतन्त्र कोई क्षेत्र हो सकता है, इसकी कल्पना करना भी आज हममें से बहुतों के लिए कठिन हो उठा है। नयी पीढ़ी का हर नागरिक थोड़ा-बहुत पढ-लिखकर नौकर बनने की ही बात सोचता है, स्वतंत्र नागरिक के रूप में अपनी जीविका का स्वतन्त्र प्रबन्ध करके जीने की और कार्य करने की उसकी कोई स्वस्थ दृष्टि देश में बन ही नहीं रही है। मेरे नम्र विचार में भारत-जैसे प्राचीन देश के लिए आज की यह स्थिति अत्यन्त दयनीय और चिन्तनीय है।

लोकतंत्र में एकतंत्री रीति-नीति

सबसे अधिक दुःख यह देखकर होता है कि हमारी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कर्णधारों को भी अभी तक यह सूझ नहीं रहा है कि देश की शिक्षा-व्यवस्था और शिक्षा प्रणाली को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने देने की अनुकूलता वे अपनी ओर से तुरत कर दें। वहाँ भी दुर्भाग्य से एकतन्त्री शासन की मनोवृत्ति जितना जोर दिखाती है उतना जोर लोकतंत्र की स्वतंत्र भावना का कहीं दिखाई नहीं पड़ता। हमारा केन्द्रीय शासन भी इस विषय में बहुत जागरूक और स्पष्ट नहीं है। कभी-कभी केन्द्रवाले भी शिक्षा के सारे तंत्र को अपनी मुट्ठी में लेने के लिए अधीर हो उठते हैं और उसके लिए नाना प्रकार के तर्क देकर युक्तियों-प्रयुक्तियों से काम लेना शुरू कर देते हैं। लोकतंत्र के वातावरण में शिक्षा की यह एकतंत्री-रीति-नीति किसी भी दृष्टि से देश के लिए हितकर और श्रेयस्कर नहीं मानी जा सकती।

पिछले २०-२५ वर्षों में हमारे देश में शिक्षा का स्तर, उसका मूल्य, महत्व और उसकी कसौटियाँ जितनी तेजी से गिरी हैं और जितनी गति के साथ इन पिछले १८-२० वर्षों में शिक्षा के रूप-स्वरूप में अनेकानेक विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं, उन्हें देखकर प्रत्येक विचारशील और विवेकशील व्यक्ति का हृदय किसी भावी की भयंकर आशंका से काँप-काँप उठता है।

शिक्षा-जगत का बाजारू रूप

आज के व्यवसाय-युग के व्यावसायिक मूल्यों से प्रेरित और प्रभावित हमारी सरकारों ने शिक्षा के क्षेत्र में भी इस व्यवसाय को बड़ी हद तक दाखिल कर दिया है। आज नीचे से ऊपर तक सारा शिक्षा-जगत एक बाजार का रूप धारण कर लिया है। हर जगह हर काम का सौदा पटाने की बात सोची जाने लगी है। पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षाओं और नित्य की पढ़ाई के क्षेत्र में बाजार के मूल्यों ने अपना जोर और प्रभाव इस हद तक बढ़ा लिया है कि साधारणतः पढ़ाई के नाम पर शिक्षकों और विद्यार्थियों को गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-चिन्तन करके विद्वान्, विचारक या ज्ञानी बनने की कोई भूख और भावना सताती नहीं है। हर एक यही सोचता है कि शिक्षकों अथवा परीक्षकों को डराकर-फुसलाकर अथवा खरीदकर परीक्षाएँ पास करने और प्रमाणपत्र बटोरकर उनकी मदद से जैसे-तैसे सरकारी नौकरियों से चिपक जाने में ही मानो उनके जीवन की सारी इति कर्तव्यता और सार्थकता समा चुकी है। इससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि जो लोग इस तरह गलत ढंग से परीक्षाएँ पास करके और प्रमाणपत्र देकर प्रत्यक्ष सेवा-कार्य में लगते हैं, वे वहाँ अपनी योग्यता और क्षमता के अनुरूप पूरी तत्परता, निष्ठा, परिश्रम, और प्रामाणिकता के साथ काम करने के अपने सहज धर्म को भी बड़ी सरलता से भुला देते हैं और नित्य-प्रति के अपने दायित्व के निवाहने में इतनी टाल-मटोल, ढिलाई, सुस्ती गैरजिम्मेदारी और बेशर्मी बरतते हैं कि देखकर दिल काँप उठता है। पता नहीं, इस तरीके से हम अपने देश को कहाँ ले जायेंगे और कितने गहरे गड्ढे में पटक देंगे।

व्यसन का चक्कर

जिस तरह की शिक्षा-दीक्षा आज दी और दी जा रही है, उसके कारण देश के शिक्षित कहे जानेवाले नागरिकों में नानाप्रकार की विकृतियाँ बराबर अपना पैर जमाती जा रही हैं। आज का हमारा शिक्षित कहा जानेवाला व्यक्ति जितना व्यसनाधीन बना है, उतना इससे पहले वह शायद ही कभी बना हो। जो एक बार अपने जमाने छोटे या बड़े प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित किसी भी व्यसन के चक्कर में फँस गया, वह जीवन भर के लिए उसी में फँसकर रह गया। फिर उसमें ताकत नहीं कि वह अपने को उससे छुड़ा ले और एक स्वतंत्र नागरिक की रीति से मुक्त जीवन बिताने की क्षमतावाला बन सके।

आमूल-चूल क्रान्ति की आवश्यकता

यदि आज की इस दुखद और लज्जास्पद स्थिति में से अपने शिक्षक-समाज को खींचकर बाहर लाना हो, तो हमको दृढ़ निश्चय के साथ शिक्षा जगत के पुराने सारे मूल्यों और माप-दण्डों को बदलने का साहस दिखाना ही होगा। पुराने जर्जर मूल्यों को लेकर शिक्षा की सहायता से हम नये युग के नये नागरिकों का निर्माण करने में सफल नहीं हो सकते। आज की हमारी शिक्षा आमूल चूल क्रान्ति चाहती है। इधर उधर थोड़े सुधार या परिवर्तन कर देने मात्र से काम बनेगा नहीं। आज हमारी शिक्षा का पोत इतना क्षीण हो चुका है कि यहाँ वहाँ थोड़े से पैबन्द लगा देने से उसके रूप स्वरूप में कोई मौलिक परिवर्तन आ नहीं सकेगा।

यदि हम चाहते हैं कि इस देश की शिक्षा में और शिक्षा-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो तो हम सबसे पहले जनमानस में प्रवेश करके जन-जन के जीवन में क्रान्ति की लौ जगाने का प्रयत्न करना होगा। जबतक आम लोगों में शुद्ध स्वाधीन और पुरुषार्थी जीवन बिताने की भूख और भावना जगायी नहीं जाती है, तब तक शासकीय क्रियाओं अथवा आदेशों से किये जानेवाले परिवर्तनों से शिक्षा के क्षेत्र में कोई मूलगामी और तेजस्वी परिवर्तन हम ला नहीं सकेंगे और न शिक्षा जगत में काम करनेवालों को उनकी आज की दयनीय पराधीनता के चंगुल से छुड़ा ही सकेंगे।

नये सन्दर्भ में नये निर्णय

शिक्षा का क्षेत्र जीवन की अखण्ड साधना का क्षेत्र है उसे टुकड़ों में बाँटना सम्भव नहीं। यदि इसमें किसी भी प्रकार की परिपूर्णता, क्षमता, और तेजस्विता, लानी हो, तो उसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षा-जगत में प्रवेश करनेवालों के जीवन में परिपूर्णता, क्षमता और तेजस्विता का उदय और संचार हो। अगर उनमें अपना कोई प्राण, तेज पौरुष और दर्शन न रहा, तो वे अपने छात्रों को भी इन गुणों और शक्तियों का दान नहीं कर सकेंगे। जहाँ कुआँ ही खाली होता है, वहाँ डोल बाल्टी अथवा घड़े गगरे में पानी कैसे आ सकता है। अतएव आज के अपने शिक्षा जगत की अपूर्णताओं और अक्षमताओं पर विजय पाने के लिए हम अपनी स्वतन्त्रता के नये सन्दर्भ में बिलकुल नये सिरे से ही गम्भीरतापूर्वक सोचना और किसी शुद्ध तथा श्रेयस्कर निर्णय पर पहुँचना होगा। उसके बिना प्रवाह पतित की भाँति सारा काम दीर्घ काल तक यों ही चलता रहा, तो उससे न केवल देश की स्वाधीनता संकट में पड़ेगी, बल्कि आज की हमारी मानवता को भी भारी आँच आयेगी, उसका स्वस्थ विकास रुकेगा और वह निरुद्देश्य भाव से भटककर अपना और देश का भारी नुकसान करती रहेगी।

स्वाधीनता के संघर्ष की मूल प्रेरणा

जिन दिनों हमने अपने देश में स्वाधीनता के लिए जी जान से जूझना शुरू किया था, उन दिनों हमारे नेताओं के मन में केवल राजनीतिक स्वाधीनता की बात नहीं थी। देश का हर एक नागरिक तन से, मन से, भावना से, विचार से, वाणी से और व्यवहार से स्वतन्त्र और उपयुक्त बने जीवन में उसे किसी प्रकार की कुण्ठा और बाधा का सामना न करना पड़े, उसकी सारी शक्तियों का समग्र विकास अबाधित गति से होता चले और देश को सर्वांग सुन्दर जीवनवाले नागरिक देशकार्य के लिए बराबर मिलते रहें, यह विचार भी स्वाधीनता के उस संघर्ष के मूल में था ही, किन्तु दुर्दैव से स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय स्तर पर इन सारे विचारों

रचनात्मक कार्य

अबतक और आगे–४

रामभूर्ति

ग्रामदान बढ़ने पर स्वभावतः पहला लोभ होता है कि उनका संघ बने, ताकि उनकी संगठित शक्ति प्रकट हो। हमारी संस्थाएँ-ग्रामदान-संघ की ईर्ष्या में कहाँतक बच सकेंगी, यह कहना कठिन है; लेकिन इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि ग्रामदान-संघ अपनी महत्त्वाकांक्षा से, या दूसरों के कहने में, सत्ता की राजनीति में नहीं पड़ेगा, इसकी क्या गारंटी होगी, और अगर पड़ गया तो हमारे पूरे आन्दोलन पर क्या असर होगा?

ग्रामदान-संघ की रचना, उसके कृत्य, रचनात्मक संस्थाओं और ग्रामदान-संघ का सम्बन्ध, पंचायत-कोआपरेटिव और ग्रामदान-संघ, संघ के सन्दर्भ में हम कार्यकर्ताओं का रोल आदि ऐसे प्रश्न हैं, जिनपर चिन्तन अभी ही होना चाहिए। मुँगेर के १११ ग्रामदानों के कारण यह समस्या हमारे सामने आकर खड़ी हो गयी है। यह सोचना अब टाला नहीं जा सकता, कि ग्रामदानों का अलग संघ बनाना ठीक होगा या, किसी प्रकार का ढीला ग्रामदानी भाईचारा (एसोसिएशन), या ग्रामदान को एक बड़े सर्वोदय-सम्मेलन के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा।

सर्वोदय-इकाइयाँ

हम जितना भी चाहें, अधिकांश गाँवों का ग्रामदान काफी समय लेगा। इस बीच क्या यह सम्भव है कि ग्रामदान, खादी और शान्तिसेना की सक्रिय इकाइयाँ (सेल्स) गाँव-गाँव में बन सकें? ग्रामदानी गाँवों को टिकाने के लिए भी यह आवश्यक है कि उनके चारों ओर व्यापक क्षेत्र में अनुकूल वातावरण हो; कम-से-कम उग्र विरोध न हो। इसलिए हमने सोचा है कि १९६९ तक मुँगेर जिले के साढ़े तीन हजार गाँवों में से ५०० गाँवों का ग्रामदान हो; साथ ही जिस गाँव का ग्रामदान न हो उसमें कम-से-कम एक 'सर्वोदय-मित्र' हो, जो साल में ३.६५ रुपये या उस कीमत का अनाज देता हो और दो 'सर्वोदय-सहयोगी' हों, जो साल में १.०० रुपया या उस कीमत का अनाज देते हों। इन तीन को मिलाकर एक 'सर्वोदय-इकाई' मानी जाय। ब्लाक और जिले के स्तर पर, इन 'सर्वोदय-इकाइयों' और ग्रामदानी गाँवों का भाईचारा बने। प्रयत्न हो कि ये इकाइयाँ सक्रिय बनें और अपने ऊपर अपने क्षेत्र में आन्दोलन की जिम्मेदारी उठायें। इस तरह आन्दोलन का आर्थिक प्रश्न भी हल होगा और गाँव-गाँव में सर्वोदय के 'नागरिक सिपाही' तैयार होते जायेंगे, जिनके मन में कार्यकर्ता होने की गाँठ न होगी, लेकिन जिनमें विचार-निष्ठा भरपूर होगी।

तात्कालिक सेवा और बुनियादी काम

कार्यकर्ताओं की दृष्टि से, कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक और प्रश्न महत्त्व का है। अक्सर हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या ग्रामदान के बुनियादी काम में लगने का यह अर्थ है कि हम अपने क्षेत्र के तात्कालिक प्रश्नों, संकटों और झगड़ों से आँख मूँद लें? भ्रष्टाचार का प्रश्न अक्सर सामने रहता है। ये प्रश्न हमारे ध्यान को खींचते रहते हैं। भ्रष्टाचार ऐसा प्रश्न है, जिसके विरुद्ध केवल वातावरण (क्लाइमेट) बनाने का ही काम हम कर सकते हैं; सामान्यतः अलग-अलग भ्रष्ट व्यक्तियों के खिलाफ जिहाद नहीं छेड़ सकते। ग्रामदानी गाँवों में हमारी कोशिश जरूर यह होनी चाहिए कि सड़क, स्कूल या सिंचाई बनाकर सरकार या संस्था से रुपया न लिया जाय। शान्तिसेना का भी यह काम नहीं है कि वह हर छोटे-बड़े

सबके ने अपनी जिम्मेदारी मानते रहे। आकस्मिक आपत्ति, अप्रत्याशित दुर्घटना, गोर संगठित आक्रमण या उपद्रव वगैरह इन्हीं प्रश्नों में हम विशेष पूर्वक पड़ना चाहिए। कुछ भी हो समाज परिवर्तन का बुनियादी प्रश्न और उसे हल करने का बुनियादी उपाय ग्रामदान कभी भी हमारी आँखों से ओझल न होने पाये। हाँ, ऐसी स्थितियों की कल्पना की जा सकती है, जब बेदखली या सरकारी जुल्म आदि के प्रश्नों को लेकर संगठित प्रतिकार आवश्यक हो जाय, लेकिन हम यह जान लें कि लोकतंत्र में प्रतिकार मान्य अन्याय का ही हो सकता है, नये विचार को मान्य कराने के लिए नहीं, और प्रतिकार भी मुख्यतः उसी के द्वारा हो सकता है, जो अन्याय का शिकार बनाया गया हो। हमारी अन्तरात्मा (कान्शस) को, जो सत्य प्रतीत हो वह सामान्यतः सर्वमान्य (कन्सेन्सस) कैसे हो इसके शैक्षणिक प्रक्रिया का विकास लोकतंत्र की जान है, इसलिए हमारा मुख्य रोल प्रतिकार का नहीं, सहकार का ही हो सकता है।

ग्रामदानी गांवों का विकास

शायद ग्रामदान प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना ग्रामदानी गांवों का विकास करना। विकास की दिशा क्या हो, विकास का संस्थागत माध्यम क्या हो, पूंजी और कार्यकर्ता कहाँ से आयें, विकास के लिए गांव की सामूहिक शक्ति कैसे विकसित की जाय, क्या किया जाय कि विकास का जो लाभ हो वह गांव के अंतिम व्यक्ति के पास तक पहुँचे आदि अनेक प्रश्न हैं, जिनका निश्चित उत्तर देना कठिन है, पर यह कम नहीं है कि हम प्रश्नों के प्रति सजग रहें, और उत्तर ढूंढते रहें।

विकास के प्रश्न को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं–

क गांव की एकता (इण्टीग्रेशन)

ख बाहरी हस्तक्षेप से मुक्ति तथा आपसी निर्णय और न्याय का विकास और

ग सामान्य जीवन के सुख-साधन और सुविधाओं की प्राप्ति।

इनमें सबसे अधिक महत्व गांव की एकता का है। एकता बनी रहे तो दूसरे काम आसानी से होते जाते हैं।

ग्रामदान होने के बाद भी एकता के विकास में, जो बाधाएँ आती हैं वे ये हैं–

१ गांव का वर्ग और जातिगत विरोधों का एक अजीब जाल है। पूरे तौर पर न मजदूरों में एकता होती है, न किसानों में, कभी किसान एक ओर, कभी मजदूर दूसरी ओर, और कभी कुछ किसान और कुछ मजदूर एक ओर तथा कुछ मजदूर और कुछ किसान दूसरी ओर हो जाते हैं। गांव के जीवन में वर्ग और जाति का यह खेल बराबर होता रहता है, और खेल करानेवाले अगुआ, [illegible] या [illegible], बने रहते हैं।

२ आर्थिक विरोधों के साथ-साथ जातिगत विरोध होते हैं।

३ पारिवारिक प्रतिद्वन्द्विताएँ, झगड़े आदि, जिनकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं।

४ चुनावों को लेकर आपस में दलबन्दी होती है, और बाहर के राजनीतिक दल भी गांव में अपने अपने गुट बनाते हैं।

५ कुछ धनियों, शिक्षितों आदि की ऐसी महत्वाकांक्षा होती है कि वे अपने प्रभुत्व के लिए दूसरों को लड़ाते रहते हैं।

६ बाहरी प्रभाव। गांव प्रायः अलग-अलग नेताओं में बँटे हुए होते हैं। अगर एक गांव में कुछ काम होता है तो पास का विरोधी गांव उसे तोड़ने का काम करता है।

७ राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासकीय तथा धार्मिक निहित स्वार्थों (वेस्टेड इण्टरेस्ट) के कुचक्र।

८ नेतृत्व के लिए आपसी लड़ाई।

९ गांव के भीतर या क्षेत्र में ग्रामदानी और गैर ग्रामदानी का विरोध।

१० ग्रामदान से मिली भूमि और ग्रामसभा में मिली इज्जत के कारण मजदूरों में अहंकार का पैदा होना।

हम देखते हैं कि सरकार की योजनाओं के कारण किसान-मजदूर का विरोध बढ़ा है, क्योंकि कई कारणों से मजदूर की सौदा करने की शक्ति (बारगेनिंग पावर) सामान्यतः बढ़ी है। जिन गांवों में सर्वोदय का विकास

कार्य हुआ है वहाँ भी तनाव, स्वार्थ और लोभ घटा नहीं है, प्रकट होने के स्वरूप में कुछ परिवर्तन भले ही हुआ हो, लेकिन गाँव की एकता को तोड़ने में उनका स्थान कम नहीं रहा है। अभिनव ग्रामदान की भूमिका में अब हमें एकता के प्रश्न के सभी पहलुओं की गहराई से छानबीन करनी चाहिए, क्योंकि ग्रामदानी गाँवों का अस्तित्व इसी बात पर निर्भर है कि कहाँ तक हम उन्हें विरोधों के शान्तिपूर्ण आपसी निराकरण, सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया तथा सामाजिक न्याय के मूल्यों में दीक्षित कर पाते हैं। अगर हम यह न कर सके तो आर्थिक विकास के कार्यक्रम नहीं टिक पायेंगे, और अगर टिकेंगे भी तो कुछ परिवारों के स्तर पर, पूरे गाँव के स्तर पर नहीं। एकता के विकास में कार्यकर्ता के व्यक्तित्व का बहुत अधिक महत्व है। वह स्वयं हर प्रकार के भेदभाव से अलग हो, सेवा के कारण उसे सबका विश्वास प्राप्त हो और उसे ग्रामीण मनोविज्ञान का अच्छा अभ्यास हो, तभी वह गाँव को सही रास्ते पर ले जा सकेगा, लेकिन उसका स्थान हमेशा सलाहकार का ही रहेगा, पंच का नहीं।

एकता के विकास में पुलिस और अदालत से मुक्ति की चेष्टा के अलावा तीन चीजें विशेष रूप से सहायक होती हैं—

एक, सत्संग और सत्साहित्य आदि के द्वारा चित्त की वृत्तियों का उर्ध्वीकरण,

दो, ऐसी प्रवृत्तियाँ, जिनके द्वारा परस्पर सम्पर्क और सहकार बढ़ता रहे,

तीन, स्वस्थ सामूहिक मनोरंजन।

ग्रामसभा की 'सेवक समिति' को चाहिए कि गाँव के प्रश्नों को लेकर बराबर बैठें ताकि, लोगों को एक दूसरे को समझने, अपने स्वार्थ को सामूहिक स्वार्थ से जोड़ने और सबकी सम्मति से सही काम करने का अभ्यास हो।

एकता से मुक्ति की ओर

अगर एकता सध जाय तो मुक्ति का सधना आसान हो जायगा। एकता मुख्यतः दो दिशाओं में परिलक्षित होनी चाहिए-पुलिस और अदालत से मुक्ति तथा सामूहिक निर्णय। इसलिए ग्रामदान हो जाने के बाद सबसे अधिक ध्यान तुरत पुलिस और अदालत से मुक्ति की ओर जाना चाहिए। इन दो से मुक्त होने की चेष्टा में गाँव की सद्भावना संगठित हो जाती है, और गाँव महसूस करने लगता है कि वह एक इकाई है, जिसका हित आपस में जुड़ा हुआ है, और आज जो दिमाग गाँव को तोड़ने में लगा हुआ है वह दूसरी दिशा में मुड़ने लगता है।

व्यसन मुक्ति का प्रश्न अत्यन्त महत्व का है, और अत्यन्त कठिन भी है। कुछ समुदायों में, जैसे आदिवासियों और हरिजनों में, नशीली चीजों का इस्तेमाल स्वभाव और स्वधर्म का अंग बन गया है, ऐसे लोगों का बहुत सहानुभूति के साथ ही हृदय परिवर्तन किया जाना चाहिए। जहाँ तक व्यसनों का सम्बन्ध सरकार की नीति से है, ग्रामसभाओं को अपनी आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

सामूहिक निर्णय

सामूहिक निर्णय एकता का सबसे ठोस और प्रत्यक्ष (पाजिटिव) स्वरूप है, लेकिन कठिन है। हमारा पूरा चरित्र आदेश का पालन करने और दूसरों से आदेश पालन कराने का बना हुआ है। ईर्ष्या, द्वेष, मद और मत्सर से हमारा दिमाग भरा रहता है। लेकिन हम जानते हैं कि ग्रामदान का लोकतन्त्र 'सर्वानुमति पर ही चल सकता है, बहुमत के आधार पर नहीं।' इसका यह अर्थ है कि हमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर उसमें सच्चाई का अंश ढूँढ़ने और उसमें सहमत होने की तीव्रता महसूस करने की आदत डालनी चाहिए। यह काम आसान नहीं है, लेकिन इसके बिना ग्रामसभा टिक भी नहीं सकती। ज्योंही ग्रामसभा में बहुमत-अल्पमत (मेजारिटी माइनारिटी) का प्रश्न घुसा कि ग्रामसभा गयी। इसलिए *'सेवक-समिति' के सदस्यों का सर्वसम्मति और सर्वानुमति* की कला तथा समझ करने की प्रक्रिया में अभ्यास होना चाहिए। कार्यकर्ता ग्रामसभा के सामने उन पहलुओं को रखता रहे जिनके आधार पर निष्पक्ष और सही निर्णय हो सके। वह कभी ग्रामसभा के सही निर्णय की जगह अपना सही निर्णय लादने की कोशिश न करे।

ग्रामसभा के सुदृढ और सक्षम विकास पर ग्रामदान का भविष्य निर्भर है, ग्रामदान का ही नहीं गाँवों के हमारे देश में स्वयं लोकतन्त्र का। विभिन्न

विभिन्न धर्म और आर्थिक स्थिति, विभिन्न सांस्कृतिक स्तर, विभिन्न स्वभाव और संस्कार के लोगों की एकता तथा सामूहिक हित की साधना का माध्यम ग्रामसभा को बनना है, लेकिन आज गाँव मे जिस निराशा, निष्क्रियता और अविश्वास का वातावरण है उसे देखते हुए कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि क्या ग्रामसभा कभी सफल हो सकेंगे ? कुछ भी हो, हमे ग्रामसभा की सफलता मे श्रद्धा रखनी है। अगर विकास की दिशा मे कार्यकर्ता का सबसे मुख्य कोई कार्य है तो यह देखना कि ग्रामसभा लोकतन्त्र की रीढ बने। इस दृष्टि से ग्रामसभा की बैठक नियमित रूप से पन्द्रह दिनों मे एक बार हो, और वह 'सेवक-समिति'-द्वारा प्रस्तुत विषयों पर विचार करे। सेवक समिति सामान्यत सात सदस्यो की हो, जो सर्वसम्मति से चुन गये हो और गाँव की सेवा करने के लिए राजी हो। ग्रामसभा का सभापति 'सेवक-समिति का अध्यक्ष यानी मुख्य सेवक हो। हर सेवक ग्रामीण जीवन के किसी एक पहलू की जिम्मेदारी ले। विषयो का बँटवारा इस प्रकार हो सकता है—

१. खेती, भूमिसुधार,
२ वृक्ष, पशुपालन,
३. खाद, सफाई और स्वास्थ्य,
४. शिक्षा और रंजन,
५ शान्ति रक्षा, श्रमदान, ग्रामकोष,
६ खादी और अन्य उद्योग, और
७ न्याय, सरकारी सहायता और दूसरे गाँवो से सम्बन्ध।

हर सेवक प्रयत्न करे कि उसके विभाग के काम के साथ ग्रामसभा के कुछ लोग जुडे रहें, और धीरे धीरे सात सेवको के साथ काम करनेवाली सात समितियाँ बन जायँ। सेवक समिति की बैठक हर हफ्ते हो। हर पूर्णिमा की शाम को दो मील के घेरे मे पडनेवाले सभी ग्रामदानी गाँवो की सेवक-समितियो की आपसी बैठक हो, ताकि गाँव मे आपसी सामीप्य बढे, समस्याओ के प्रति सामूहिक जागरूकता पैदा हो और एक दूसरे के अनुभवो से लाभ उठाये। समय आने पर ग्रामसभा, सेवक-समिति और सर्वोदय-इकाइयो के आधार पर ब्लाक और जिला-स्तर पर भी सगठन विकसित किया जा सकता है। उनकी रचना के बारे म प्रारम्भिक चिन्तन होना चाहिए। ● (अपूर्ण)

लघु कथा

इन्द्रधनुष ने गरदन झुका ली ?

●

शिरीष

आकाश बादलो की गोद मे सो रहा था। बादलो का जामुनी रग धीरे-धीरे और गहरा हो रहा था। सूरज की बेटियाँ धरती के गले मिलने के लिए बेताब हो रही थी क्योकि बादलो ने उनका रास्ता रोक लिया था।

सतरगा इन्द्रधनुष बादलो के सिर चढ इतरा रहा था। वह अपने रूप के अभिमान मे इठलाकर बोल उठा—"है कोई ससार मे मेरे सौन्दर्य के सामने टिकनेवाला ?"

भगवान को इन्द्रधनुष का मिथ्या अभिमान अच्छा न लगा। हवा का एक तेज झोका आया और कुछ मोर-पख उड चले। इन्द्रधनुष कि निगाह उनपर पडी तो वह उनके सौन्दय को बहुत देर तक निहारता रहा। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसपर घडो पानी पड गया। उसकी गरदन शर्म से ऐसी झुकी कि आज तक झुकी हुई है। ●
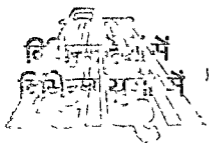
डेनमार्क के नर्सरी स्कूल

०

डा० तारकेश्वर प्रसाद सिन्हा

डेनमार्क एक कृषि प्रधान देश है। वहाँ का आर्थिक ढाँचा ग्राम प्रधान है। जैसे भारतवर्ष गाँव और किसानों का देश है, उस प्रकार डेनमार्क भी गाँव और किसानों का देश है। डेनमार्कवालों की मनोवृत्ति बहुत कुछ हिन्दुस्तान के कृषकों जैसी है। डेनमार्क के किसान सरल स्वभाव के होते हैं। भारतवर्ष और डेनमार्क में फर्क इतना ही है कि डेनमार्क एक समुन्नत राष्ट्र है। पाश्चात्य उन्नतिशील देशों में वह एक प्रमुख देश समझा जाता है; किन्तु भारतवर्ष अभी पिछड़ा हुआ देश है। इसका पूरा विकास हो नहीं पाया है। कुछ ही वर्षों से यह स्वतन्त्र हुआ। इसकी सामाजिक तथा आर्थिक रचना अभी हो रही है। इसी अवसर पर भारतवर्ष को डेनमार्क की तरह एक ऐसी शिक्षा प्रणाली को अपनाना चाहिए, जिस प्रकार की शिक्षा प्रणाली से कृषि प्रधान देश डेनमार्क की सामाजिक या आर्थिक रचना हुई है और वह आज संसार में समृद्धशाली देश समझा जाता है।

डेनमार्क के नर्सरी विद्यालय नई तालीम के पूर्व-बुनियादी विद्यालय-जैसे हैं। ये नर्सरी विद्यालय लगभग सौ वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। अब उनका आज बहुत विकसित रूप है। स्वीकृत विद्यालयों की संख्या सारे डेनमार्क में लगभग ३६ हजार है तथा अस्वीकृत विद्यालयों की संख्या २७ हजार है। नर्सरी विद्यालय बड़े लोकप्रिय हैं। ये विद्यालय फ्रोबेल साहब के शिक्षा दर्शन के अनुसार चलते हैं, किन्तु ग्राम स्थानीय आवश्यकता के अनुसार अभ्यास क्रम में कुछ परिवर्तन भी होते रहते हैं। इन विद्यालयों में ढाई वर्ष के बच्चे भरती किये जाते हैं और ७ वर्ष की उम्र तक रखे जाते हैं। एक विद्यालय में १५ से २० लड़के लड़कियाँ रखी जाती हैं। विद्यालय में ९ घण्टे बच्चे रहते हैं।

डेनमार्क का सामाजिक-आर्थिक ढाँचा

डेनमार्क के अभिभावक इतने सजग हैं कि जिस विद्यालय के शिक्षकों के व्यक्तित्व का प्रभाव बच्चों पर नहीं पड़ता है, उस विद्यालय में वे अपने बच्चों को भरती नहीं कराते। नर्सरी स्कूल में १३ ही लड़के रखने का नियम है। प्रत्येक नर्सरी स्कूल में १०-११ लड़के प्रतिदिन रहें, यह भी नियम है। डेनमार्क में स्त्री और पुरुष दोनों काम करते हैं, क्योंकि वहाँ का आर्थिक ढाँचा इसी प्रकार का है। वहाँ का जीवन इतना खर्चीला है कि एक आदमी की कमाई से दो आदमी का पेट नहीं भर सकता है। अतः माँ अपने बच्चे को नर्सरी स्कूल में रखकर काम करने के लिए कार्यालय में चली जाती है। जब वह सन्ध्या समय ५ बजे काम करके लौटती है तब बच्चे को घर ले जाती है।

डेनमार्क के प्रत्येक गाँव में नर्सरी विद्यालय खोलने का प्रयास हो रहा है। इस प्रकार के विद्यालय ग्राम-पंचायत द्वारा चलाये जाते हैं। जिनके बच्चे नर्सरी स्कूल में पढ़ते हैं उनको इसके लिए पैसे देने पड़ते हैं। सरकार की ओर से इसी प्रकार की संस्थाओं को स्वीकृति मिलती है और उनका निरीक्षण किया जाता है।

पर्लबक :

शिक्षा और शान्ति की उपासिका !

•

सतीशकुमार

पर्लबक !

कौन है पर्लबक ? दिलो को झकझोर देनेवाले उपन्यास लिखनेवाली प्रसिद्ध महिला, समाज, राज्य और परिवार की व्याख्या करनेवाली मशहूर नारी, प्रेम, काम और विवाह का विश्लेषण करनेवाली प्रख्यात वैज्ञानिक ? जी हाँ, मैंने उनकी तारीफ मे ये सारी बातें सुन रखी थी; पर संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा करते हुए जब मैं उनके घर जाकर मिला तो मुझे लगा कि पर्लबक की उपर्युक्त आशंसा से उनका सही परिचय नही मिलता है। वे इन सबसे ज्यादा एक माँ हैं। वे लिखने-पढ़ने से भी ज्यादा अपना समय समाज की उपेक्षित सन्तानो की सेवा मे व्यतीत करती हैं।

उन्होंने समाज-सेवा का माध्यम चुना है शिक्षा। "शिक्षा बुनियाद के पत्थर की तरह है।"—पर्लबक ने ऐसा कही लिखा है, पर लिखने मात्र से क्या ! वे अब एक शिक्षिका का जीवन ही जी रही हैं। शिक्षिका का उनका रूप बहुत कम लोग जानते हैं; पर हमने स्वयं अपनी आँखो से देखा ! उनका स्कूल उनके घर के पास ही है, जहाँ ऐसे उपेक्षित बालको को वे शिक्षा देती हैं, जिन्हे अन्यत्र अवसर उपलब्ध नही है।

पर्लबक के माता-पिता चीन मे 'मिशनरी' थे। सेवा का गुण उन्हे विरासत मे मिला है। वे राष्ट्रीय सीमाओ से दूर हैं। उनकी सन्तानें चीन, जापान, जर्मनी आदि विभिन्न देशो की हैं। उपेक्षित बालको को समुचित शिक्षा-दीक्षा देकर सुयोग्य और कुशल बनाने का नया रास्ता पर्लबक ने खोजा है। वे मानती हैं कि हर बालक समाज की सम्पत्ति है और समाज की तरफ से पूरी देख-रेख पाने का अधिकारी है।

हम दोनो (मै और प्रभाकर) अपने अमेरिकी मेजबान एडवर्ड और उनकी पत्नी साराह के साथ पर्लबक के घर गये। उस दिन गहरी बर्फ गिर रही थी। जमीन से आसमान तक बर्फ की सफेद चादर फैल गयी थी। पेड़-पौधे पतझर के बाद ठूँठ-जैसे हो चुके थे। किन्ही किन्ही टहनियो पर पीले पत्ते अब भी दिख जाते थे।

पर्लबक का घर देहात मे है। चारो तरफ खुला आसमान, पेड़-पौधो से आस-पास का लुभावना दृश्य, परन्तु ठण्डी बर्फ के कारण सब कुछ शान्त। हमने द्वार खटखटाया तो एक जापानी बाला ने द्वार खोल दिया।

"आइए अन्दर चले आइए। स्वागत है आपका। अम्माजी आपकी प्रतीक्षा ही कर रही हैं।" हमे सोफे पर बिठाकर उसने आग जलायी, ताकि हम सरदी से न ठिठुरें। पर्लबक बिजली की सिगड़ी से खुली आग ज्यादा पसन्द करती हैं। खुली आग की गरमी ज्यादा प्राकृतिक जो है। और कुछ ही क्षणो में मातृत्वभरी मुसकान के साथ पर्लबक कमरे में आयी।

"मेरे भारतीय अतिथियो, बहुत प्रसन्न हूँ आपसे मिलकर।"—पर्लबक ने ही बातचीत प्रारम्भ की—"पिछले ही वर्ष तो मैं भारत मे थी।"

"कैसा लगा आपको भारत ?"—मैं पूछ बैठा।

"कैसे बताऊँ कि मै भारत को कितना प्यार करती हूँ। भारत के लोग अद्भुत हैं। भारत में जिन-जिन

लोगों से मैं मिली, मैंने उनमें अनन्त सहानुभूति पायी। विविधताओं से भरे भारत में आजादी के बाद पिछले वर्ष पहली ही बार मैं गयी थी। मैं देखना चाहती थी कि आजादी के बाद भारत ने क्या और कितनी प्रगति की है। फिर दलाईलामा से मिलने और तिब्बत के शरणार्थियों की हालत देखने का भी एक उद्देश्य था। मैं बहुत प्रसन्न हुई भारत जाकर। लेकिन, इस बात का मुझे दुख भी हुआ कि भारत गाधी के सिद्धान्तों को भूलता जा रहा है।"

गाधी का नाम आते ही पर्लबक कुछ क्षणों के लिए चुप हो गयी। उनका कण्ठ रुँध सा गया। उनके हृदय मे गाधी के प्रति बेहद आस्था है। उन्होंने कुछ वर्षों पहले गाधी के बारे में कुछ व्याख्यान वाशिंगटन में दिये थे, जिनमें उनका हृदय खुलकर सामने आया था। गाधीजी का ऐसा सजीव चित्रण बहुत थोड़े ही विदेशियों ने किया है।

अपना मौन भग करते हुए पर्लबक ने कहा—"मैं विनोबा से नहीं मिल सकी। वे बही दूर पद-यात्रा पर थे। विनोबा-जैसे लोगों की हमें जरूरत है, जो हमें समय-समय पर चेतावनी देते रहते हैं। हमें आप-जैसे की भी जरूरत है, जो दुनिया में पैदल चलकर शान्ति का सन्देश सुना सकें। मैं आपको बधाई देती हूँ।" फिर पर्लबक कुछ देर हमारी पदयात्रा की कहानियाँ सुनने में रुचि लेती रही। ईरान, रूस और यूरप के सस्मरण पूछती रही।

पर्लबक ने अपना अधिकाश जीवन चीन मे बिताया है और उनके उपन्यासों मे चीनी पात्रों का उल्लेखनीय स्थान है।

"आपके लिखने की प्रेरणा का स्रोत क्या है ?"—पर्लबक से मैंने पूछा—"आपके उपन्यासों में मैं सदैव खो जाया करता हूँ। क्या आप बतायेंगी कि आपने कब और कैसे लिखना प्रारम्भ किया और आपके चिन्तन का स्रोत कहाँ से निकलता है ?"

"मुझे याद नहीं कि मैंने लिखना कब शुरू किया।"—पर्ल ने हँसते हुए उत्तर दिया—"जबसे मुझे बोध है, तभी से मैं लिख रही हूँ। मेरे लिखने की प्रेरणा है व्यक्ति। वही मेरे चिन्तन का स्रोत है। वही मेरी भावना का स्रोत है। मुझे लोगों को समझने, देखने, सुनने मे आनन्द आता है। लोगों का व्यवहार, उनका रहन-सहन, जीवन, विविधता आदि मे से ही मेरे उपन्यास पैदा होते हैं।" फिर उन्होंने चीन की ऐतिहासिक-परम्परा के बारे मे हमें बहुत कुछ बताया।

उन्होंने बताया—"मैंने अपने जीवन के बेहतरीन ४० वर्ष चीन मे बिताये। एक जमाना था, जब चीन मे कोई सगठित सेना नहीं थी। सेनाओं में छिट-पुट सगठनों में भी कोई खास दम नहीं था। भले लोग सैनिक होना पसन्द तक नहीं करते थे। पश्चिमी सैन्यवाद ने चीन में सगठित सेना के लिए प्रेरणा पैदा की है। किसी जमाने में चीनियों ने पश्चिमी लोगों को देखा तक नहीं था। चीन का पश्चिम के साथ बहुत कम सम्पर्क रहा है। वहाँ के लोग जन्मजात 'एरिस्टोक्रेट' होते हैं। साम्यवादी-क्रान्ति के बाद वहाँ नया सैन्यवाद पनप रहा है।"

"क्या आप साम्यवादी क्रान्ति के बाद भी चीन गयी हैं ?"—प्रभाकर ने पूछा।

"नहीं। हमारी सरकार मुझे वहाँ जाने की इजाजत नहीं देती, पर मैं इस बात से बहुत दुखी हूँ कि चीन ने

भारत पर आक्रमण किया। चीन सोचता है कि उसे अपनी सीमाएँ प्राप्त करनी ही चाहिए। भले ही उसके लिए हिंसा का भी सहारा क्या न लेना पड़े। मैं चीन की हिंसा पर आधारित नीति पसन्द नहीं करती।

'आपके विचार से भारत चीन समस्या का क्या हल है?'

मध्यस्थता और पंच निर्णय। क्योंकि यह मामला बहुत उलझा हुआ है और इसमें राष्ट्रीय स्वाभिमान का सवाल भी समाया हुआ है। अतः यही अच्छा है कि दोनों पक्ष किसी तीसरे तटस्थ पक्ष को जिसपर दोनों का समान विश्वास हो मध्यस्थ बनायें और मध्यस्थ का निर्णय प्रेमपूर्वक स्वीकार करें। —पलवक ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा— भारत और चीन दोनों ही बड़े देश हैं। दोनों देशों को सदा के लिए पड़ोसी बनकर रहना है। यदि दोनों देश सैनिक तैयारियों में जुटते तो उसका कोई अन्त नहीं होगा। दोनों देश सदा के लिए शीतयुद्ध और पारस्परिक भय की अवस्था में रहें, इसके लिए मेरा मन सलाह नहीं देता। इस तरह काफी देर तक हम भारत और चीन के प्रश्न पर चर्चा करते रहे।

'आप लोग अमरिका से कहाँ जाने वाले हैं?'

हम यहाँ से जापान जायेंगे यह बताने पर पलवक ने कहा जापान में आपको बहुत अच्छा स्वागत मिलेगा ऐसी मुझे उम्मीद है। पिछले युद्ध में जापान की जो क्षति हुई उसके बाद जापान के लोग युद्ध से बेहद नफरत करने लगे हैं। भारत ने युद्ध का वैसा अनुभव प्राप्त नहीं किया है। यही दशा संयुक्त राज्य अमरिका की है। अमरिका लोगों का भी युद्ध की कड़वाहट उतनी नहीं मिली, जितनी रूस जापान तथा अन्य योरपीय देशों को।'

पलवक की बात हमें तुरन्त समझ में आ गयी। भारत से अमेरिका तक की पैदल यात्रा करने के बाद हम भी यही नतीजा हुआ है कि रूस, पोलैण्ड, ब्रिटेन आदि देशों की जनता जितनी युद्ध के खिलाफ है उतनी भारत या अमरीका की जनता नहीं है।

पलवक ने कहा— आणविक-युग में सैनिक प्रतिरक्षा केवल मजाक बन गयी है। यदि कोई युद्ध छिड़ा तो न अमेरिका अपनी रक्षा कर सकता और न रूस। फिर किसलिए इतनी हाय तोबा? किसलिए इतना लम्बा चौड़ा खर्च?

इस तरह हमने घण्टे भर तक पलवक के साथ विविध विषयों पर बातचीत की। वे निरंतर आगन्तुकों से मिलती हैं। जब हम गये तो वे कुछ लोगों से वार्तालाप में लगी थीं। हमारी भेंट चल ही रही थी कि नये आगन्तुक पहुंच चुके थे। फिर भी पलवक के अनवरत मुसकराते हुए चेहरे पर थकान या उपेक्षा नहीं थी।

हम विदा हुए। पलवक का वह लुभावना गाँव पीछे छूट गया। बर्फ छिटक रही थी। हमारी छोटी सी जमन-कार अमरिका के सुपर हाइवे पर दौड़ रही थी। पलवक के साथ बिताया हुआ यह एक घण्टा हम कभी भूल नहीं सकते।

●

गलत पहलू का समर्थन

एक बार किसी गूढ़ मसले पर नेहरूजी से एक सज्जन की बहस चल पड़ी। वह सज्जन बार-बार तर्कों-द्वारा यह साबित करने लगे कि नेहरूजी के विचार गलत हैं। जब नेहरूजी के तर्कों के आगे उन्हें किसी प्रकार सफलता न मिली तो उन्होंने खीझकर कहा—'महाशय, शायद आप भूल रहे हैं कि हर समस्या के दो पहलू हुआ करते हैं।'

नेहरूजी ने उसी क्षण जवाब दिया—"अच्छा, तो इसीलिए आप उसके गलत पहलू का समर्थन कर रहे हैं।"

●

है। इन भ्रान्तियों के लिए मन में स्थान न रहे तथा हृदय में खटका न रहे, इसके लिए सत्र के आरम्भिक दिनों में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया, जिसमें बुनियादी शिक्षा का सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार, उसका प्रजातान्त्रिक स्वरूप, सर्वोदय-समाज और बुनियादी शिक्षा, सदाचार की शिक्षा, आदर्श नागरिकता का निर्माण करनेवाली शिक्षा, राष्ट्रीय स्वरूप आदि पर विस्तृत चर्चाएँ आयोजित की गयी।

इन्हीं दिनों बुनियादी साहित्य, बुनियादी पत्र पत्रिकाएँ, संस्थागत उद्योगों में निर्मित प्रदर्शनीय वस्तुएँ तथा प्रशिक्षार्थियों-द्वारा अध्यापन अभ्यास के लिए निर्मित सहायक सामग्री की प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त सत्र में बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं के प्राचार्यों व्याख्यानाओं और उद्योग निर्देशकों को आमन्त्रित करके उनके विचारों का लाभ प्रशिक्षार्थी को देने का प्रयास रहा, बुनियादी शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर इस क्षेत्र में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं से व्यावहारिक ज्ञान मिला। इस प्रकार हम नयी तालीम को अपने प्रशिक्षार्थियों में लोकप्रिय बनाने में सफल हुए तथा उनमें इस शिक्षा के लिए श्रद्धा और आस्था उद्भूत हुई।

स्वाध्याय-वृत्ति कैसे लायी जाय ?

जबतक यह अनुभव न हो कि शिक्षक वह ज्योति है, जो स्वयं को जलाकर विश्व को आलोकित करती है।" तबतक प्रशिक्षार्थी ज्ञानी नहीं बन सकते। यह तभी सम्भव है जब हम उनमें स्वाध्याय की वृत्ति पैदा कर दें। इसके लिए स्थान शिक्षामंत्री को प्रातः ८॥२ से १० तक वाचनालय संचालन का दायित्व दिया गया तथा उप शिक्षामंत्री को जिम्मेदारी में बुनियादी साहित्य के पुस्तकालय से पुस्तक वितरण करने का भार सौंपा गया। समय विभाग चक्र में ऐसी व्यवस्था रखी गयी है कि सस्ता-वार में २५-२५ छात्रों के दल पुस्तकालय-अधीक्षक के कक्ष में निरीक्षित स्वाध्याय करें तथा पठित अंश का सार तैयार करें।

इसी प्रकार १०-१० छात्रों की टोली बनाकर टोलीवार चर्चा के लिए सम्बन्धित प्राध्यापक के पास निश्चित काल खण्ड में सप्ताह में दो दिन जाना, वहाँ किसी प्रसंग पर निबन्ध पढ़ना, उसपर चर्चा करना तथा उसे लिपिबद्ध करके व्यवस्थित रूप से वार्षिक सेसनल वर्क के लिए मूल्यांकन के हेतु रखना आदि कार्यों के लिए छात्रों को अनेक पुस्तकें पत्र पत्रिकाएँ पढ़नी होती थीं। प्रशिक्षार्थियों की सृजनात्मक प्रवृत्ति के उपयोग के लिए संस्था ने पिछले सत्र में एक अभिनव प्रयोग हाथ में लिया। संस्था के दैनिक-साप्ताहिक पत्र पत्रिकाओं से, जो एक अरसे से रद्दी की भाँति पड़ी थी, सुन्दर कलात्मक चित्र निकाल-कर विभिन्न विषयों की चित्रावलियाँ तैयार की गयीं। जैसे-प्राकृतिक सुषमा, विश्व की विविधताएँ, देश विदेश की झाँकियाँ, प्रान्तीय वेशभूषा बालजीवन देश के साहित्यकार, हमारे महापुरुष आदि। इस प्रकार प्रशिक्षार्थियों को श्रम एवं उत्पादन-समन्वित बुनियादी शिक्षा का ज्ञान दिया गया।

लोकतंत्री जीवन की तैयारी

बुनियादी शिक्षा व्यवस्था मात्र नहीं है। उसका उद्देश्य है नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना। इसका अर्थ है प्रशिक्षार्थियों को उस लोकतन्त्री समाज के लिए तैयार करना जिसमें जाकर उन्हें अपना कार्य-क्षेत्र चुनना है। इसकी पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए बुनियादी-शिक्षा सप्ताह और दस दिन के ग्रामशिविर का आयोजन किया जाता है। उक्त दोनों कार्यों के लिए ब्लाक के गाँव चुने जाते हैं, जो हमारे रचनात्मक, समाज सेवा प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने के केन्द्र होते हैं। उक्त दोनों अवसरों पर शिक्षक और छात्र शिक्षा-योजना को जन जन तक पहुँचाते हैं तथा पालकों से सम्पर्क साधकर शालाओं में भरती करायी जाती है।

गाँवों की आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक स्थिति का सर्वेक्षण, मध्यान्ह जलपान योजना को आरम्भ करने हेतु जन-सहयोग लिया जाता है तथा ग्राम भाइयों की कठिनाइयों का अध्ययन और निराकरण के उपाय किये जाते हैं। साथ ही ग्राम की शाला को सूक्तियों से साज-सज्जा तथा इसके लिए श्रमदान में कामउद्यान अथवा क्रीडा-क्षेत्र निर्माण किया जाता है। प्रतिदिन ग्राम की सफाई तथा रात को सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजनों-

विकास, आचरण का परिष्कार और जीवन में संयम का अभ्युदय हुआ है।

धार्मिक बन्धुत्व की दीक्षा

गाधीजी के शब्दो मे 'जो जीवन से मुक्ति दे वह विद्या, बाकी समस्त अविद्या।' इस प्रकार बुनियादी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है सत्य, अहिंसा और प्रेम-द्वारा आत्मा का परब्रह्म मे लीन होना। इस आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सस्था मे नित्यप्रति सुबह-शाम सर्व धर्म की प्रार्थना, दो मिनट का मौन ध्यानासन तथा प्रत्येक शनिवार को रामायण तथा शुक्रवार को 'कुरान शरीफ' का पाठ होता है। रविवार की विशेष प्रार्थना मे किसी विशिष्ट व्यक्ति को आमन्त्रित करके उनका नैतिक विषय पर प्रवचन कराया जाता है। सर्व धर्म व जाति के पर्व-उत्सव तथा जयन्तियो का आयोजन सस्था के कार्यक्रम का तो अभिन्न अग है ही। ऐसे अवसरो पर धर्म और जाति-विशेष के व्यक्ति को आमन्त्रित करके एक धर्म से दूसरे धर्मों की तुलनात्मक विशेषताओ पर प्रकाश डाला जाता है।

इस प्रकार हमारा सतत प्रयत्न रहता है कि प्रशिक्षार्थी दीक्षा की अवधि मे, धर्म ही शिक्षा का सार है—जो श्रद्धा और कर्तव्य का पाठ पढाती है, ऐसा निष्काम और निस्वार्थ कर्तव्य जिसमे धर्म, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय सब समान और बन्धुत्व की सीमा मे बंधे हैं—का बोध कराया जाता है, विभिन्न धर्म तो उस महान सत्य की खोज के भिन्न भिन्न मार्ग हैं। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा ऐसे कार्यकर्ता पैदा करती है, जो अपनी उन्नति करते हुए समाज की उन्नति करके अपने को आत्मसात कर दें।

भारतीय गणतन्त्र मे यदि हमे गणतन्त्रात्मक मूल्यो को प्राप्त करना है तो हमे बुनियादी प्रशिक्षण की ओर विशेष ध्यान देना होगा, जो व्यक्ति की रोटी रोजी की समस्या हल करते हुए व्यक्ति को आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी बनाकर प्रजातन्त्र भारत के लिए सुयोग्य नागरिक निर्माण करने का जिम्मा लेती है, इसके साथ ही आध्यात्मिक मूल्यो की प्राप्ति पर बल देती है। इस प्रकार यह मानव-जीवन की भौतिक उपलब्धियो के साथ जीवन की उच्चतर सम्भावनाओं की प्राप्ति के साधन बनाकर उनकी प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।●
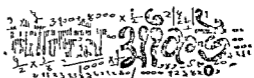
भारत की भाषाएँ

—१९६१ के प्रकाशित ऑकडो के आधार पर

१ हिन्दी	१३, ३४, ३५, ४५०
२ बिहारी	१, ६८०६, ७७२
३ राजस्थानी	१, ४९, ३३, ०६८
४ उर्दू	२, ३३, १३, ५१८
	१९, २५, २८, ८०८
५ तेलगू	३, ७६, ६८, १३२
६ बंगला	३, ३८, ८९, ३६९
७ मराठी	३, ३२, ८६, ७७१
८ तमिल	३, ०५, ६२, ६८९
९. गुजराती	२, ३०, ४४, ६०४
१० कन्नड	१, ७४, १५, ८२७
११ मलयालम	१, ७०, १५, ८७२
१२ उड़िया	१, ५७, १९, ३८९
१३ पजाबी	१, ०९, ५८, २०६
१४ असमिया	६८, ०३, ४६५
१५ कश्मीरी	१९, ५६, ११५
१६ संस्कृत	२, ५४४
	२२८५, २२, ९४८

हिन्दी भाषी चार प्रान्तो के अतिरिक्त असम, बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में हिन्दी प्रमुख रूप से उपयोग में आनेवाली भाषाओ में से एक है।

चित्रकार रणवीर से

अक्षर और चित्र

०

गुरुशरण

प्रो० रणवीर देश और विदेश के माने-जाने चित्रकार हैं। सम्प्रति वे दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय (मध्य प्रदेश) के चित्रकला विभाग के अध्यक्ष हैं।

गांधीजी प्राय कहा करते थे कि अक्षर भी चित्र होते हैं। उनकी उस भावना पर आधारित एक पुस्तक 'क से कमला' हाल ही में सर्व-सेवा-संघ, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। मैंने जब वह पुस्तक देश के प्रख्यात-चित्रकार प्रो० रणवीर को भेंट की तो वह उसे देख-पढ़कर बोले–'एक्ज़ेक्टली' यही होना चाहिए।

प्रो० रणवीर राम राज्य का चित्र बनाते हुए

उन्होंने अपना एक तैल-चित्र 'समृद्धि' दिखाया और कहने लगे—"अपने देश का 'स्टैण्डर्ड आफ लाइफ' ऐसा होना चाहिए। इस चित्र में गाँव के बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष सब काम में लगे हैं और सबसे बड़ी बात है कि सबके चेहरे पर प्रसन्नता है। आज हर पढ़ा-लिखा अपने आप को अति व्यस्त बताता है। उसके चेहरे पर परेशानियाँ-ही-परेशानियाँ झलकती हैं; पर पूछो—'क्या कर रहे हो तो उत्तर 'कुछ नहीं' में ही मिलेगा।'

"अच्छा अब आप ही बताइए, यह चित्र पूरा एक वाक्य है कि नहीं?"

"वाक्य क्या प्रोफेसर साहब, यह तो पूरा एक अध्याय हो गया। आप यह बना क्या रहे हैं?"

"यह अपने देश के 'रामराज्य' की कल्पना का प्रतीक है। रामराज्य से तात्पर्य किसी राजा के पुत्र राम के राज्य से नहीं है, बल्कि कर्त्तव्यपरायण मर्यादा-पुरुषोत्तम के राज्य से है। इस चित्र में राजतिलक का दृश्य है। उसका अर्थ कर्त्तव्य के प्रति सम्मान से है। इस अवसर पर यूनान, मिश्र, रोम आदि दूर-दूर से, जो शासक आये हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द के द्योतक हैं, वैसे टेकनिकल आस्पेक्ट से इनमें राजपूत शैली का रंग, मुगल शैली की मनोहारिता और अजन्ता-एलोरा की रेखा है।"

क्या आप सफल अध्यापक हैं ?

o

अखिलेशदत्त त्रिपाठी

आप यदि अध्यापक हैं तो आइए, देखिए अध्यापन कला में आप कितने दक्ष हैं। आप सफलता की किस सीमा तक पहुँच चुके हैं इसे जानने के लिए निम्न प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' में दीजिए।

१ क्या आपका व्यवहार अपने छात्रों के साथ आत्मीयता का होता है ?

२ क्या आप पढ़ाते समय अपने छात्रों की रुचि का ध्यान रखते हैं ?

३ क्या आप अपने पाठ को रोचक बनाने की कोशिश करते हैं ?

४ क्या आप छात्र की व्यक्तिगत उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं ?

५ क्या आप छात्र की घरेलू परिस्थिति से परिचित होने का प्रयत्न करते हैं ?

६ क्या आप छात्र के अभिभावक के साथ समय समय पर सम्पर्क स्थापित कर उसे छात्र की प्रगति की सूचना देते रहते हैं ?

७ क्या आप छात्रों में आत्मविश्वास पैदा करने के लिए, सप्ताह में कम से कम एक बार वाद विवाद या अन्य प्रतियोगिताओं का आयोजन करते हैं ?

८ क्या आप छात्र के अच्छे कार्यों की प्रशंसा कक्षा में करते हैं, जिससे अन्य छात्र भी अच्छे कार्य करने की प्रेरणा लें ?

९ क्या आप सभी छात्रों को समान दृष्टि से देखते हैं ?

१०. क्या आप छात्रों को ऐसी प्रेरणा देते हैं, जिससे वे सामाजिक एवं अन्य कार्यों में भाग लेते हैं।

११ यदि किसी छात्र को कक्षा में कोई बात स्पष्ट न हो तो, क्या आप उस छात्र को अलग से समय देकर उसकी कठिनाइयों को दूर करते हैं ?

१२ क्या आप यह प्रयत्न करते हैं कि आपके छात्रों में हीनभावना की ग्रन्थियाँ न बनने पायें ?

१३ क्या आप छात्र की किसी गलती से रुष्ट होकर उसे कक्षा में अपमानित करते हैं ?

१४ क्या आप छात्र पर अपनी विद्वत्ता का जबरदस्ती लादने का प्रयत्न करते हैं ?

१५ क्या आप छात्र से नाखुश हो जाने पर उससे बदले की भावना रखते हैं ?

१६ क्या आप छात्रों की गलतियों पर शारीरिक दण्ड देते हैं ?

१७ क्या आप छात्र की छोटी-मोटी गलतियों पर हल्ला उठते हैं ?

१८ क्या आप छात्रों के सामने बीड़ी या सिगरेट पीते हैं ?

ऊपर के प्रश्नों में प्रथम बारह प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में और अन्तिम छः प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में है। प्रत्येक प्रश्न पर एक नम्बर है। यदि आपको १५ से १८ नम्बर तक मिलते हैं तब तो आप अत्यन्त सफल अध्यापक हैं। १० से १४ नम्बर तक पाने पर आप सफल अध्यापक कहे जा सकते हैं। ६ से ९ नम्बर तक पाने पर आपको सफल अध्यापक बनने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ६ से कम नम्बर यदि आप पाते हैं तो आप को अध्यापन छोड़कर कोई और व्यवसाय चुन लेना चाहिए। ●

बुनियादी शिक्षा

का

न्यूनतम कार्यक्रम

'इण्डिया-इण्टरनेशनल सेण्टर' नयी दिल्ली में, सर्व-सेवा-सघ के तत्त्वावधान मे बुनियादी शिक्षा के कार्यकर्ताओं की एक अखिल भारतीय विचार-गोष्ठी का १५ से १७ अप्रैल '६५ तक आयोजन हुआ था। विचार-गोष्ठी के अध्यक्ष श्री उ न ढेबर थे।

उस विचार-गोष्ठी मे सर्व सेवा सघ के अध्यक्ष, केन्द्रीय उप शिक्षा मन्त्री, गुजरात सरकार के शिक्षा और ग्राम विकास-मन्त्री, योजना-आयोग के शिक्षा कार्यकारी सदस्य तथा राष्ट्रीय बुनियादी-शिक्षा-सस्थान के निदेशक उपस्थित थे। इनके अतिरिक्त उसमे सर्व-सेवा-सघ-द्वारा आमन्त्रित लगभग ६० कार्यकर्ता शरीक हुए थे, जिनमे सर्व श्री आर्यनायकम्, आशादेवी आर्यनायकम्, काका कालेलकर, धीरेन्द्र मजूमदार, अण्णा साहब-सहस्र बुद्धे तथा अरुणाचलम् आदि सम्मिलित थे।

उक्त विचार-गोष्ठी ने देश की वर्तमान-आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थिति के सन्दर्भ मे बुनियादी शिक्षा की चालू स्थिति का विचार किया। इसके अतिरिक्त उसमे बुनियादी शिक्षा के अन्य मूल प्रश्नो, जैसे पाठ्यक्रम, शिक्षक-प्रशिक्षण, तथा शैक्षिक प्रशासन की चर्चाएँ हुईं। उपर्युक्त विषयो से सम्बन्धित लगभग १२ सन्दर्भ-लेखो पर भी विचार किया गया। विचार-गोष्ठी ने बुनियादी-शिक्षा के निम्नलिखित पहलुओं पर विस्तार से चर्चा करके अपने सुझाव निश्चित किये—

१ बुनियादी शिक्षा लागू करने के निमित्त न्यूनतम कार्यक्रम,

२ उत्तर बुनियादी शिक्षा,

३ शिक्षक प्रशिक्षण,

४ गैरसरकारी प्रयोग,

विचार-गोष्ठी ने पहले मुद्दे अर्थात् बुनियादी-शिक्षा लागू करने के लिए जिन न्यूनतम कार्यक्रमो का सुझाव दिया वे निम्नलिखित हैं। —रुद्रभान

बुनियादी शिक्षा एक खर्चीली शिक्षा-पद्धति मानी जाती है। शिक्षा की कोई भी ऐसी पद्धति कम खर्चीली नहीं हो सकती, जिसे समाज की निरन्तर बढती हुई भौतिक, नैतिक, और मानसिक माँगो की पूर्ति करने का दायित्व निभाना पडे। बुनियादी शिक्षा पद्धति म, जो खर्च होना है उसे वह नागरिको के ऊचे स्तर, चारित्र्य, उत्पादक कार्य की निपुणता और बुद्धिमत्ता के रूप म कही अच्छी तरह लौटा देती है।

गाधीजी ने बुनियादी शिक्षा-द्वारा जिस समाज-व्यवस्था की स्थापना का विचार किया था उसम और अपन देश द्वारा स्वीकृत आर्थिक-सामाजिक लक्ष्यो म यद्यपि भिन्नता है, लेकिन बुनियादी शिक्षा क सिद्धान्त विश्वव्यापी हैं। अत यदि इस शिक्षा को दृढ इच्छा और सकल्प के साथ जारी किया जाय तो सर्वोदय और लोकतात्रिक समाजवाद दोनो

की इसके द्वारा लक्ष्य पूर्ति हो सकती है। क्योंकि दोनों समाज व्यवस्थाओं में परस्पर भिन्न जुड़े होते हैं।

यह सही है कि प्रचलित शिक्षा-पद्धति फौरन नहीं बदली जा सकती। नयी तालीम की राष्ट्रीय विचार गोष्ठी का सुझाव है कि सरकार बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को स्वीकार कर ले तो उसको लागू करने के बारे में एक समय की सीमा बांधी जा सकती है, जिसके अन्तर्गत जिन विद्यालयों में बुनियादी शिक्षा प्रचलित है वहाँ उसे और-अधिक सुव्यवस्थित किया जाय, और जो स्कूल गैर बुनियादी हैं उनमें कुछ न्यूनतम कार्यक्रम लागू किये जायें।

राष्ट्रीय विचार गोष्ठी सरकार से निम्नलिखित स्थापनाओं और न्यूनतम कार्यक्रमों के बारे में उसकी स्पष्ट सफाई चाहती है—

१ विद्यालय की शिक्षा में विकास की कई समानान्तर पद्धतियाँ नहीं होनी चाहिए। प्राथमिक शिक्षा की केवल एक पद्धति ही चलनी चाहिए और वह होगी बुनियादी शिक्षा।

२. चालू बुनियादी विद्यालय पूरी तरह विकसित और मजबूत किये जाने चाहिए, ताकि वे उच्च कोटि के बुनियादी विद्यालय बन जायें। प्रत्येक विकास क्षेत्र में कम-से-कम एक अच्छा बुनियादी विद्यालय चुना जाय और उसे साधन-सम्पन्न बनाया जाय। ऐसे विद्यालयों के विकास को परखने के लिए मुख्य आदर्श सिद्धान्त स्थिर करने चाहिए।

३ जो प्राथमिक विद्यालय बच जायेंगे उन्हें भी उस लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए उनमें कुछ आवश्यक सुधार करने होंगे। प्रारम्भिक कदम के रूप में सामुदायिक कार्य, आस-पास के वातावरण के अध्ययन और अपनी तथा अड़ोस-पड़ोस की सफाई के कार्यक्रम रखने होंगे। दूसरे कदम में किसी अच्छा उद्योग के साथ विद्यालय के 'नवीनीकरण कार्यक्रम' को यथाशीघ्र सभी विद्यालयों में लागू करना होगा।

४ उत्तर बुनियादी विद्यालयों की पढाई और पाठ्यक्रम को माध्यमिक शिक्षा का अंग बनाते हुए उन्हें विकसित होने का अवसर देना चाहिए। उत्तर बुनियादी-विद्यालयों के, जो छात्र हाई स्कूल की परीक्षा देना चाहें, उन्हें इसकी सुविधा मिलनी चाहिए और आगे चलकर विश्वविद्यालयीन या अन्य उच्च शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए।

५ बुनियादी शिक्षा के विकास को समुदाय के क्षेत्रीय-विकास के कार्यक्रम के साथ जोड़ना चाहिए। समुदाय को शिक्षित बनाने और क्षेत्रीय विकास के कार्यक्रमों को विद्यालय की शिक्षा का कारगर साधन बनाने की सम्भावनाओं की पूरी खोज करनी चाहिए।

६ कई कारणों, और मुख्यतः आर्थिक कारणों से, जो बच्चे-बच्चियाँ प्रचलित विद्यालयों में पढ़ने जाने में असमर्थ हैं उनके लिए आंशिक समय की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

७ जो खानगी संस्थाएँ बुनियादी, उत्तर बुनियादी, या शिक्षक प्रशिक्षण के क्षेत्र में प्रयोग करना चाहें उन्हें प्रोत्साहित करते हुए पूरी आर्थिक सहायता देनी चाहिए, ताकि वे सोद्देश्य और स्वतन्त्र परिस्थितियों में काम कर सकें।

८. प्राथमिक शिक्षकों के सभी प्रशिक्षण महा विद्यालयों को बुनियादी महाविद्यालयों में यथाशीघ्र परिणत करना चाहिए। इसको सहज बनाने के लिए दो-तीन वर्षों के भीतर सभी स्नातकोत्तर प्रशिक्षण महा-विद्यालयों को बुनियादी में परिवर्तित करने का अग्रगामी कार्यक्रम अपनाना चाहिए, ताकि बुनियादी-प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए आवश्यक प्रशिक्षक उपलब्ध हो सकें।

९ उच्च स्तर पर शिक्षकों के प्रशिक्षण की सीधी जिम्मेदारी सर्व सेवा संघ को उठानी चाहिए और इसके लिए एक संस्था बना देनी चाहिए।

१० विद्यालयों में वस्त्र-उत्पादन तथा अन्य उद्योगों का काम मजबूत किया जाना चाहिए। इसके लिए खादी-ग्रामोद्योग आयोग द्वारा शिक्षकों को उद्योग में प्रशि-क्षित करने, सुधरे औजार प्रदान करने, और बच्चों के कते सूत के बदले उन्हें कपड़ा देने की सुविधाओं का पूरा लाभ उठाना चाहिए। इस सम्बन्ध में
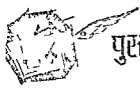
ग्रामदान और देश की समस्याएँ

मूल्य ८० पैसे पृष्ठ ६०

जयप्रकाश नारायण

प्रकाशक सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन,
राजघाट, वाराणसी–१

- कुछ व्यक्ति ऐसे है जिनका जीवन संघर्ष से ओत-प्रोत होता है। या तो संघर्ष उनके लिए होता है या वे ही संघर्ष के लिए बने होते है। श्री जयप्रकाश-नारायण उन्ही म से एक है।

- भारत ने स्वतंत्रता संग्राम मे, जिस प्रकार अपने प्राणो को हथेली पर रखकर उत्सर्ग किया उसी प्रकार आज व भारत की नैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति के संग्राम मे भी अगले मार्चे पर खडे है।

- हमारे देश मे आज अनेक समस्याएँ मुँह बाये खडी है। उनका हल निकालने के लिए हमे जीवन मे नये मूल्यो की स्थापना करनी होगी, यानी नैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति को चरितार्थ करने का प्रयत्न करना होगा। ग्रामदान का विचार उसी क्रान्ति का वाहन है।

- इस छोटी लेकिन महत्वपूर्ण पुस्तक म आप पढिएगा कि ग्रामदान म किस तरह देश की समस्याएँ हल होगी और किस तरह ग्राम स्वराज्य की स्थापना होगी।

अनुक्रम

श्रीकृष्णदत्त भट्ट सर्व सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी मे मुद्रित तथा प्रकाशित

हमारी तीन नयी पुस्तकें

● हमारी पहली पुस्तक का सम्बन्ध है ग्राम जीवन से। इसके रचयिता हैं सुप्रसिद्ध साहित्यिक श्री श्रीकृष्णदत्तभट्ट और इसका नाम है **गाँव गाँव में अपना राज**। हमारे देश को स्वराज्य मिला लेकिन वह अभी तक गाँवों में नहीं पहुँच सका। वह गाँव-गाँव तक घर घर तक कैसे पहुँचे यही है पुस्तक का महत्वपूर्ण विषय। सरल और सुबोध भाषा तथा रोचक शैली में लिखी गयी यह पुस्तक गाँववालों, गाँवों के विकास में रुचि रखनेवालों और समाजशास्त्र का अध्ययन करनेवाले छात्रों तथा शिक्षकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मूल्य ०.५० पैसे

●

●● दूसरी पुस्तक है **संयम और सन्तति**। विनोबाजी ने आज के एक ज्वलन्त प्रश्न सन्तति नियमन पर जो विचार व्यक्त किये हैं वे ऐसे समय में और भी अधिक मननीय हैं जबकि सन्तति नियमन के कृत्रिम साधनों के प्रचार पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है। मूल्य ०·३५ पैसे

●

●●● तीसरी पुस्तक है **उपवास**। डा० शरण प्रसाद ने शरीर को स्वस्थ रखने के एक उत्तम उपाय के रूप में उपवास की तकनीक का विश्लेषण किया है। 'पहला सुख निरोगी काया' वाली बात सही है। यह सुख पाना कठिन भी नहीं यदि हम उपवास करने का अभ्यास साध सकें। मूल्य १·२५

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

**मानवीय मूल्यों के विकास के लिए
सर्व-सेवा-संघ-द्वारा प्रकाशित
साहित्य पढ़िए।**

गद्दार का ही वर्ताव होगा।" लड़के दौड़ते हुए चौराहे की तरफ बढे और मास्टर साहब चुपके से स्कूल में चले गये। पिछले महीने बिहार में जो उपद्रव हुए उनके सिलसिले में दूर के एक बाजार म यह घटना घटी।

मास्टर स्कूल म मास्टर है, लेकिन विद्यार्थी तो स्कूल के अन्दर और बाहर, हर जगह विद्यार्थी है, इसलिए जब कचहरी म नारे लगानेवाले विद्यार्थियों से डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने प्रेम के साथ पूछा— बताओ, तुम्ह क्या चाहिए ?" तो कई लड़के बोल उठे—'सिनेमा में हर रोज कन्सेशन। वे शायद भूल गये कि उनका प्रदर्शन फीस बढ़ने के विरुद्ध था, न कि सिनेमा के कन्सशन के लिए। कुछ भी हो अगर विद्यार्थियों ने यह तय कर लिया है कि मास्टर स्कूल म ही मास्टर है बाहर उनकी बातें सुनने की जरूरत नही है, और समाज ने भी उनका यह फैसला मान लिया तो अब समझ लेना चाहिए कि भारत म शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी एक साथ समाप्त हुए। शिक्षा ने शक्ति खोयी, शिक्षक ने प्रभाव खोया, शिक्षार्थी ने आस्था खोयी। जब सब न अपना अपनापन खो दिया तो रहा क्या ? रह गया स्कूल की दूकान म बैठनवाला व्यापारी (शिक्षक) और डिग्री का ग्राहक (विद्यार्थी)। शिक्षा के लिए कहाँ जगह रह गयी ?

शिक्षक-दिवस के अवसर पर जब कि हमेशा की तरह शिक्षक के गौरव की गाथाएँ गायी जायगी, राष्ट्र के निर्माण म उसके महत्त्व की ओर ध्यान दिलाया जायेगा और उसकी सहायता के लिए पैसे मागे जायगे, तो यह जरूरी है कि शिक्षक जरा इस पहलू पर भी गौर करे कि वह भारतीय समाज म सचमुच अपनी क्या हैसियत रखना चाहता है। हैसियत दो दृष्टियों स शिक्षक की दृष्टि से, नागरिक की दृष्टि से। और इस हैसियत के सन्दर्भ म वह सम्बन्ध क्या रखना चाहता है विद्यार्थी से समाज से, सरकार से ? स्वराज्य के बाद शिक्षक न अपनी नागरिक की हैसियत बहुत कुछ खो दी है। शायद वह अपने पेशे की कठिनाइयो म इस बुरी तरह फँसा हुआ है, और उसके मन मे इतनी ज्यादा खटास है कि वह और किसी तरफ देखना ही नही चाहता। फिर भी अगर शिक्षक यह भूल जाय कि शिक्षित और उद्बुद्ध नागरिक होने के नाते समाज को स्कूल के बाहर उससे कुछ अपेक्षाएँ हैं, जिनकी पूर्ति पर समाज म उनकी प्रतिष्ठा निर्भर है तो क्या आश्चर्य कि विद्यार्थी कह दे कि मास्टर स्कूल म मास्टर हैं, बाहर क्या है! आज जब कि समाज को प्रगतिशील व्यक्तियो और प्रगतिशील प्रवृत्तियो की जरूरत है तो वह स्वभावत अपने शिक्षको की ओर देखता है।

ऐसी हालत में अगर शिक्षक ने अपने को स्कूल की लक्ष्मणरेखा में बांध लिया, तो वह समाज में प्रतिष्ठा खो देगा, और समाज की प्रतिष्ठा खोकर वह सरकार की नौकरशाही की नजर में नौकर ही रहेगा, वेतन भले ही उसका कुछ भी हो जाय। तब शिक्षक यह नही कह सकेगा कि उसे 'नौकर' से ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए।

हमे लगता है कि शिक्षक के लिए आज निर्णय का अवसर है। हम मानते हैं कि लोकतंत्र के भारत में महत्त्व नागरिक का होगा, नौकर का नही और नौकर (नौकरशाही) का महत्त्व घटाना देश के लोकतान्त्रिक विकास के लिए आवश्यक भी है। क्या शिक्षक इतिहास के इस संकेत को समझेगा और संकेत समझकर क्या वह प्रगतिशील नागरिकता के विकास मे योग देगा? इसके लिए सबसे पहले जरूरी है कि वह अपने पेशे के लिए कम-से-कम एक आचार-सहिता बनाये, और कोशिश करे कि वह उसके नीचे न गिरे। शिक्षक की आचार-सहिता मे किन-किन पहलुओ को शामिल करना आवश्यक है, इसका निर्णय खुद शिक्षक को ही करना उचित होगा लेकिन उस आचार-सहिता मे शैक्षिक चारित्र्य-सम्बन्धी तीन महत्त्वपूर्ण मुद्दों को अवश्य जगह देनी होगी। वे हैं—

१. परीक्षा के प्रति पूरी निष्पक्षता बरतना,
२. छात्रों की पढाई और जीवन-विकास के प्रति पूरी ईमानदारी और सजगता रखना और
३. शैक्षिक पेशेके प्रति आमतौर से फैली हुई हीनता की भावना से ऊपर उठकर समाज की समस्याओं के प्रति उद्बुद्ध नागरिक का रोल अदा करता का साहस दिखाना।

दूसरे, शिक्षक को यह भी सोचना है कि शिक्षा सरकार का एक विभाग मात्र न होकर, समाज की मूल प्रवृत्ति कैसे बने। आज के समाज मे शिक्षा समाज की प्रवृत्ति नही है, क्योकि नेतृत्व राजनीति और व्यवसाय का है। इसलिए विनोबाजी देश के सामने जिस क्रान्ति को प्रस्तुत कर रहे हैं, वह वास्तव मे लोक शिक्षण की प्रक्रिया है, इसलिए उसमे शिक्षक का क्रान्तिकारी का स्थान है। लेकिन शिक्षा मे क्रान्ति नही हो सकती, जबतक कि शिक्षा-द्वारा सामाजिक क्रान्ति की बात न सोची जाय। शिक्षक को उस ओर ध्यान देना चाहिए। शिक्षक का भविष्य आज के स्कूल से अधिक कल के समाज मे है। शिक्षा और शिक्षक का प्रश्न समाज-निर्माण का प्रश्न है।

—राममूर्ति

लाइसेंस नं० ४६
पहल से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अगस्त '६५ नयी तालीम रजि० सं० एल. १७२३

देखा है किसी ने ?

किस इंजीनियर ने इस घर का नक्शा बनाया ? किस कारीगर ने इसे बनाकर तैयार किया ? कहाँ से ईंट आयी, कहाँ से पत्थर ?

फूटे मिट्टी के बरतन के टुकड़े, आधी-तिहाई ईंटें, पेड़ की टहनियाँ, मिट्टी और ताड़ के पत्तों की दीवालें, पुराने टीन, पत्तों और टूटी-फूटी सिर की छत, तीन फीट ऊंची; पुल पर सरकारी सड़क की पक्की फर्श—देखा है किसी ने ऐसा महल ?

हर साइज और हर डिजाइन के रंग-बिरंगे चिथड़े, तरह-तरह के पुरावे, फूटे बरतन, जूते, खिलौने, तथा असंख्य अन्य चीजें—देखा है किसी ने ऐसा विपुल, विविध संग्रह ?

न किसी से कुछ माँगती है, न कुछ कहती है, न बोलती है, न सुनती है। अन्दर लेटी रहती है, कभी बाहर निकलकर बैठ जाती है। अपनी चीजें इधर से निकालकर उधर रखती है। दुनिया में है भी, और नहीं भी। क्या खाती है ? कौन खिलाता है ?

देखा है किसी ने ऐसा सन्यासी ? कभी किसी माँ के गर्भ से पैदा हुई होगी शायद बाजा भी बजा होगा, शायद ब्याही भी गयी होगी। कौन जाने जीवन की किन मंजिलों से गुजरती हुई यहाँ पहुँची है ? यह कौन है, कोई नहीं जानता। जानना चाहता भी नहीं; लेकिन जनगणना के अनुसार भारतीय नागरिक है, इतना निश्चित है।

—राममूर्ति

आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७,१०० इस मास छपी प्रतियाँ २७,१००

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
•
सर्व-सेवा-संघ की मासिकी

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करने की कृपा करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी *जिम्मेवारी* लेखक की होती है।

वार्षिक चन्दा
६ ००

एक प्रति
० ६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

वर्ष : चौदह
•
अंक : दो

मास्टर स्कूल में मास्टर हैं!

"दंगा, ढेलेबाजी, हुल्लड, बस, डाकखाने या स्टेशन को तोड़ना, जलाना, या गाली बकना विद्यार्थियों के लिए शोभा की बात नहीं है। और, न तो ऐसा करने से कोई काम ही बनता है। इसलिए मेरी सलाह है कि तुमलोग स्कूल वापस चलो। अपनी माँग के सम्बन्ध में जो कुछ करना हो, संगठित ढंग से शान्तिपूर्वक करना चाहिए।"

अपने शिक्षक की ये बातें सुनकर लड़के सड़क पर खड़े-खड़े एक दूसरे की ओर देखने लगे, गोया पूछ रहे हों बोलो, क्या मास्टर साहब के इतना कहने पर भी हड़ताल में शरीक होना है या वापस जाना है। कोई कुछ कह नहीं रहा था, लेकिन हर एक बारी-बारी मास्टर साहब और चौराहे पर खड़े १५-२० आदमियों को देख रहा था। इतने में विष्णुपुर कालेज से आये हुए चारों विद्यार्थी एक साथ कड़ककर बोले— "मास्टर स्कूल में मास्टर हैं, बाहर क्या हैं? जहाँ हमारी आन का सवाल है, हम मास्टर क्या किसी को कुछ नहीं समझते। जो विद्यार्थी जलूस में शरीक नहीं होंगे वे गद्दार हैं, और उनके साथ

गद्दार का ही बर्ताव होगा।" लड़के दौड़ते हुए चौराहे की तरफ बढ़े और मास्टर साहब चुपके से स्कूल में चले गये। पिछले महीने बिहार में जो उपद्रव हुए उनके सिलसिले में दूर के एक बाजार में यह घटना घटी।

मास्टर स्कूल में मास्टर हैं, लेकिन विद्यार्थी तो स्कूल के अन्दर और बाहर, हर जगह विद्यार्थी हैं, इसलिए जब कचहरी में नारे लगानेवाले विद्यार्थियों से डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने प्रेम के साथ पूछा—"बताओ, तुम्हें क्या चाहिए?" तो कई लड़के बोल उठे—"सिनेमा में हर रोज कन्सेशन।" वे शायद भूल गये कि उनका प्रदर्शन फीस बढ़ने के विरुद्ध था, न कि सिनेमा के कन्सेशन के लिए। कुछ भी हो, अगर विद्यार्थियों ने यह तय कर लिया है कि मास्टर स्कूल में ही मास्टर हैं, बाहर उनकी बातें सुनने की जरूरत नहीं है, और समाज ने भी उनका यह फैसला मान लिया तो अब समझ लेना चाहिए कि भारत में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी एक साथ समाप्त हुए। शिक्षा ने शक्ति खोयी, शिक्षक ने प्रभाव खोया, शिक्षार्थी ने आस्था खोयी। जब सब ने अपना अपनापन खो दिया तो रहा क्या? रह गया स्कूल की दूकान में बैठनेवाला व्यापारी (शिक्षक) और डिग्री का ग्राहक (विद्यार्थी)। शिक्षा के लिए कहाँ जगह रह गयी?

'शिक्षक-दिवस' के अवसर पर जब कि हमेशा की तरह शिक्षक के गौरव की गाथाएँ गायी जायेंगी, राष्ट्र के निर्माण में उसके महत्त्व की ओर ध्यान दिलाया जायेगा और उसकी सहायता के लिए पैसे माँगे जायेंगे, तो यह जरूरी है कि शिक्षक जरा इस पहलू पर भी गौर करे कि वह भारतीय समाज में सचमुच अपनी क्या हैसियत रखना चाहता है। हैसियत दो दृष्टियों से : शिक्षक की दृष्टि से, नागरिक की दृष्टि से। और इस हैसियत के सन्दर्भ में वह सम्बन्ध क्या रखना चाहता है : विद्यार्थी से, समाज से, सरकार से? स्वराज्य के बाद शिक्षक ने अपनी नागरिक की हैसियत बहुत कुछ खो दी है। शायद वह अपने पेशे की कठिनाइयों में इस बुरी तरह फँसा हुआ है, और उसके मन में इतनी ज्यादा खटास है कि वह और किसी तरफ देखना ही नहीं चाहता। फिर भी अगर शिक्षक यह भूल जाय कि शिक्षित और उद्‌बुद्ध नागरिक होने के नाते समाज को स्कूल के बाहर उससे कुछ अपेक्षाएँ हैं, जिनकी पूर्ति पर समाज में उनकी प्रतिष्ठा निर्भर है, तो क्या आश्चर्य कि विद्यार्थी कह दे कि मास्टर स्कूल में मास्टर हैं, बाहर क्या हैं! आज जब कि समाज को प्रगतिशील व्यक्तियों और प्रगतिशील प्रवृत्तियों की जरूरत है, तो वह स्वभावतः अपने शिक्षकों की ओर देखता है।

ऐसी हालत मे अगर शिक्षक ने अपने को स्कूल की लक्ष्मणरेखा मे बांध लिया, तो वह समाज मे प्रतिष्ठा खो देगा, और समाज की प्रतिष्ठा खोकर वह सरकार की नौकरशाही की नजर मे नौकर ही रहेगा, वेतन भले ही उसका कुछ भी हो जाय। तब शिक्षक यह नही कह सकेगा कि उसे 'नौकर' से ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए।

हम लगता है कि शिक्षक के लिए आज निर्णय का अवसर है। हम मानते हैं कि लोकतन्त्र के भारत मे महत्त्व नागरिक का होगा, नौकर का नही और नौकर (नौकरशाही) का महत्त्व घटाना देश के लोकतान्त्रिक विकास के लिए आवश्यक भी है। क्या शिक्षक इतिहास के इस सकेत को समझेगा और सकेत समझकर क्या वह प्रगतिशील नागरिकता के विकास मे योग देगा? इसके लिए सबसे पहले जरूरी है कि वह अपने पेशे के लिए कम से-कम एक आचार सहिता बनाये, और कोशिश करे कि वह उसके नीचे न गिरे। शिक्षक की आचार-सहिता मे किन किन पहलुओ को शामिल करना आवश्यक है, इसका निर्णय खुद शिक्षक को ही करना उचित होगा लेकिन उस आचार-सहिता म शैक्षिक चारित्र्य सम्बन्धी तीन महत्वपूर्ण मुद्दो को अवश्य जगह देनी होगी। वे है—

१ परीक्षा के प्रति पूरी निष्पक्षता बरतना,

२ छात्रो की पढाई और जीवन विकास के प्रति पूरी ईमानदारी और सजगता रखना और

३ शैक्षिक पेशे के प्रति आमतौर से फैली हुई हीनता की भावना से ऊपर उठकर समाज की समस्याओ के प्रति उद्बुद्ध नागरिक का रोल अदा करता का साहस दिखाना।

दूसरे, शिक्षक को यह भी सोचना है कि शिक्षा सरकार का एक विभाग मात्र न होकर, समाज की मूल प्रवृत्ति कैसे बने। आज के समाज म शिक्षा समाज की प्रवृत्ति नही है, क्योकि नेतृत्व राजनीति और व्यवसाय का है। इसलिए विनोबाजी देश के सामने जिस क्रान्ति को प्रस्तुत कर रहे हैं, वह वास्तव मे लोक शिक्षण की प्रक्रिया है, इसलिए उसमे शिक्षक का क्रान्तिकारी का स्थान है। लेकिन शिक्षा म क्रान्ति नही हो सकती, जब-तक कि शिक्षा द्वारा सामाजिक क्रान्ति की बात न सोची जाय। शिक्षक को उस ओर ध्यान देना चाहिए। शिक्षक का भविष्य आज के स्कूल से अधिक कल के समाज म है। शिक्षा और शिक्षक का प्रश्न समाज निर्माण का प्रश्न है।

—राममूर्ति

'हिन्द-स्वराज्य' का गांधीजी के जीवन के गठन में जो स्थान है या 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' का मार्क्स ऐंगल्स में जो स्थान है, वही 'उपनिषदों का अध्ययन' का विनोबाजी के लिए मान सकते हैं। ये खुदा का बन्दा जहाँ हाथ रखता है, वहाँ उसे रतन ही रतन मिलते हैं।

विनोबाजी की साहित्य-साधना

•

श्री युत देशपांडे

साहित्यिका को उनका मूलधन उस गहन गुहा से प्राप्त होता है, जहाँ दुनिया के सामान्य जन प्रवेश करने में हिचकते हैं। आत्मा की गहराई में उतरकर, विश्व की सूक्ष्मता में प्रवेश कर जीवन सिद्धान्त की शोध करना साहित्यिक का प्रमुख कार्य है। ऐसा साहित्य लिखनेवाला साहित्यिक अपने जीवन में जो रस पाता है, उससे उसका जीवन आत्मरति, उत्साह और आनन्द से लबालब भर जाता है। यह भरा घट सकारण या अकारण जब उमड़ने लगता है तब उसी को इकट्ठा कर वाङ्मय बनता है, जो 'सारस्वत' कहलाता है। ऐसे सारस्वत का परीक्षण करने के लिए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, भाव, विभाव, संचारीभाव आदि पारिभाषिक शब्दों की योजना कर रस-परिपोष आदि का प्रपंच किया जाता है। विनोबाजी का साहित्य करुणा, वीर, शान्त आदि रसों का अपूर्व प्रपानक (प्याऊ) है, पर हम यहाँ उस विषय में प्रवेश नहीं कर रहे हैं।

जीवन-सम्बल का सम्पुट

विनोबा कहते हैं, मैं साहित्यिक नहीं, साहित्यिकों का सेवक हूँ। सत्ययुक्त, मननयुक्त वाणी जो नित्य मधुर, लोकसुलभ और लोकग्राही हो, प्रेरक होती है। सदिच्छा एवं सद्भाव से निकले उद्गार साहित्य माने जा सकते हैं। इस अर्थ में विनोबा साहित्यिक हैं और साहित्यिकों के सेवक अर्थात् प्रेरक तो हैं ही। पर 'साहित्य' शब्द हमने तो एक विशेष अर्थ में ही बचपन में सुना था। सुबह खाना बनाने के समय चूल्हे के पास आटा, दाल, चावल, नमक, हल्दी आदि सारी चीजें रखी हुई हैं और माँ कहती है—"रसोईघर में साहित्य निकालकर रखा है। अभी रसोई बनेगी। रसोई के लिए पूर्व तैयारी के रूप में जुटायी गयी सामग्री को हमारी माँ साहित्य कहती थी। अर्थात् हमारी मातृभाषा में साहित्य का अर्थ है जीवन का सम्बल। हमारे जीवन का सम्बल रखने के लिए विनोबा ने हमें क्या-क्या 'साहित्य' दे रखा है इस विषय में हम यहाँ कुछ सोचेंगे। जाहिर है कि यहाँ हम उनके लिखित वाङ्मय के विषय में ही चर्चा करना चाहेंगे। वरना विनोबाजी का जीवन ऐसा है कि कुछ न लिखने या बोलने पर भी वह सारको एवं साहित्यिका के लिए अतीव लाभदायी है। पर विनोबाजी ने कुछ लिखा भी है।

"भावना से भरकर जिसे लिखे बिना रहा नहीं जाता" ऐसी अवस्था में लिखनेवालों में से विनोबा हैं नहीं। ऐसा कुछ लेखन उन्होंने अपनी युवावस्था में किया भी है पर वह आज हमारे सामने उपस्थित नहीं है।

सन्तों के वचनों से—सुकवियों की कविताओं से, प्रसिद्ध लेखकों के वाङ्मय से भरे विनोबा का अन्तरघट

नव-यौवन में उमडा अवश्य है, पर वह सारी सामग्री गगा मैया या अग्निनारायण को समर्पित हो चुकी है ।

नाम ही काम है

अंग्रेजी में कहावत है—"वह चाँदी का चम्मच मुहँ में लेकर जन्मा" । हमें यह कहावत पसन्द नही है, पर उपमा के लिए उसको स्वीकार किया जा सकता है । बाल्यावस्था से आजतक के विनोबाजी के जीवन का ईपद्-दर्शन भी किया जाय तो ऐसा लगता है कि यह मनुष्य मानो किसी परम अर्थ को लेकर ही जन्मा है । हनुमान जी ने जन्मते ही सूर्य को हस्तगत करना चाहा, सूर्य नही मिला तो आगे चलकर "सूर्य-कोटि-समप्रभ" सूर्यवशी को हो पा लिया । विनाबाजी ने जो पाना चाहा, वह उन्हें मिला या नही, हम यह कैसे कह सकते है। परन्तु एक उद्देश्य से अभिभूत होकर ही सार प्रयत्न उन्हाने किये है, यह स्पष्ट है। अत क्या पढें क्या न पढें, इसका निर्णय वे बाल्यकाल म सहजता स कर सके और जो पढा वह भी विशेषरूप से ।

विनोबाजी का पिंड है 'काम यही नाम हो हो, कबहूँ वहत हूँ" कहनेवाले की मिट्टी मे बना हुआ । यहाँ काम' शब्द के सस्कृत एव प्राकृत दोनो अथ अभिप्रेत है । राम के साथ रहना नित्य है, कहना कभी-कभी है। इसमें यदि केवल सस्कृत अय हो अभिप्रेत हाता, तो विनोबा का कोई वाङ्मय हम उपलब्ध हो नही हाता । परन्तु उन्हाने नाम कहन का काम भो किया है ।

साधना का एक अग

विनोबा न अपन एक ग्रथ के निवेदन में लिखा है कि कृति-शून्यता के लिए उनका यह प्रयत्न है । हम सब जानते हैं कि कृति-शून्यता, 'अकर्म' निरहकारिता की प्राप्ति के लिए ही विनोबाजी के सारे प्रयत्न हैं । इसी निरहकारिता की प्राप्ति के लिए विनाबा ने जोवन में साधना की है ओर उनका लेखन इसी साधना का अग है ।

रामकृष्ण परमहस को निरहकारिता की साधना की एक घटना प्रसिद्ध है । अपने सिर के लम्बे केशा से उन्होंने हरिजनो की बस्ती बुहारी । जनता के साथ एकात्मता एव निरहकारिता की साधना के लिए विनोबाजी ने भी अपने सिर के अन्दर जो था, वह जनता के लिए या जनता के सेवकों के शिक्षण के लिए जनता के चरणों में आवश्यकता के अनुसार उँडेला है । और इसी साधना के कारण विनोबा का कुल लेखन एवं वचन हमें प्राप्त हैं ।

"श्रीशाय जनतात्मने"—जनतात्मरूप भगवान को समर्पित होने के लिए जो लिखा या बोला जाता है उसकी एक विशेष शैली होती है । बापू की लेखन-शैली, जे० पी० की भाषण-शैली इसके उदाहरण है । इसी समर्पण-वृत्ति के कारण विनोबा कठिन से-कठिन विषय सरल करके समझाते है । और काव्य साहित्य के साधारणतया जो विषय नही मान जाते उनको भी विनोबाजी काव्यरूप दे सके है ।

शान्ति घोष

हिन्द स्वराज्य का गाधीजी के जीवन के गठन म जा स्थान है या कम्यूनिस्ट मनिफस्टो का माक्स-लेखन म जो स्थान है वही उपनिषदो का अध्ययन' का विनोबाजी के लिए मान सकत ह। मानो यह घोषणा लेकर ही विनाबा समाज के सामन प्रस्तुत है । इस पुस्तक में शान्ति का जो घोष हुआ है, उसी का जप व आजतक लगातार कर रह हैं । जिस शान में यह पुस्तक लिखी उसम उसको शैली उसी प्रकार को हो सकती है, जैसा कि इस पुस्तक की है, एसा इस लेखक का व्यक्तिगत नम्र अभिप्राय है, पर यह पुस्तक जिनके लिए लिखी गयी, उनम स कुछ लोगा की ग्रहण-शक्ति इसकी भाषा को पूरी तरह से समझन म कम समर्थ है, एसा जानकर विनोबाजी ने अपनी लेखनशैली ही बदल दी और आज की उनकी शैली उनकी उस बदला हुई शैली का विकसित रूप है ।

उपनिषदों का हम अध्ययन करें और वहा से हमारा, कार्यकर्ताओं का सम्पर्क रहे, इस कारण विनोबाजी ने ईशावास्य पर 'वृत्ति'—सारभूत व्याख्या—लिखी । विनोबाजी को शब्दो मे भी काव्य दोखता है । सस्कृत-शब्दकोश भी उनके लिए काव्यग्रन्थ बनता है । चित्त के अन्तस्तल में पहुँचनवाले विनोबा शब्दो के भी अन्तस्तल

में पहुँचते हैं। रामानुज के जैसे ही उनके लिए भी शब्दों के दो स्वरूप हैं। एक शब्दरूप, दूसरा परमात्मरूप। इस प्रकार की वृत्ति क्या काम करती है, यह देखना हो तो विनोबाजी की यह ईशावास्यवृत्ति हम पढ़ें, और उसका अध्ययन करें।

विन्या गीता का अनुवाद करेगा

विनोबाजी की गीताई यानी गीता का सरल मराठी अनुवाद अपनी माता की इच्छा को पूरा करने के लिए किया हुआ कार्य है। गीतामाता का जो उपकार उन पर हुआ उससे उऋण होने का किया हुआ वह एक प्रयत्न है। महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी का नित्यपठन करनेवाले लोग उसे 'आई' (माँ) कहते हैं। ज्ञानेश्वर का स्मरण रखते हुए ही, यह काम हुआ है, यह निर्देश भी इस नाम में विनोबाजी ने किया है।

गीता के अध्ययन की मुख्य प्रेरणा विनोबाजी को उनकी माता की इच्छा के कारण हुई। विनोबाजी की माताजी गीता का एक मराठी पद्य-अनुवाद पढ़ती थी। वह कठिन था। अत वह एक सरल पद्य-अनुवाद चाहती थी, पर वह नही मिल सका। एक दिन बहुत श्रद्धा से अपने बेटे से ही माँ ने कहा—"विन्या, तू ही क्या नही करता है गीता का अनुवाद।"

माताजी की यह इच्छा विनोबाजी ने अन्तर में सँजो रखी और 'गीताई' के रूप में उसे पूरा किया। गीताई और गीता पर सरल प्रवचनो के सग्रह के लिए हम इस पारिवारिक श्रद्धा के ऋणी हैं। गीता के अध्ययन में विनोबाजी ने गीता पर सस्कृत, प्राकृत एव मराठी जितने भी भाष्य मौजूद हैं उन सबका गहरा अध्ययन किया है और गीता पर उनके ग्रन्थ इन सबके दोहन हैं।

गीत प्रवचन, स्थितप्रज्ञ-दर्शन, ये गीता के तत्त्वज्ञान पर दिये गये व्याख्यान हैं। जिस श्रेणी के श्रोता मिले उस श्रेणी के व्याख्यान हुए। एक के आगे एक सीढी हो, इस प्रकार गीता की जानकारी करानेवाली ये पुस्तकें हैं। गीता विषय हमारे कण्ठ हो सके और सूत्ररूप में मस्तिष्क में रहे, इस कारण सस्कृत मे साम्यसूत्र बने और गीता का विशेष अध्ययन साधक एव कार्यकर्ता कर सकें इसलिए गीताई-चिन्तनिका बनी। हिन्दी मे यह शीघ्र ही हमें उपलब्ध होगी।

सत्य-दर्शन की चाह

अध्ययन करने की विनोबाजी की एक विशिष्ट पद्धति है। उसी पद्धति से सन्त वाङ्मय और धर्म वाङ्मयो का उन्होने गहरा अध्ययन किया है। उन्होंने उसका चयन भी किया है और उस पर वे पुष्ट-तुष्ट हुए हैं। इस प्रचण्ड वाङ्मय का चयन करके उसका सार-अश उन्होने हमको उपलब्ध कर दिया है। उनके एक ग्रन्थ को पढ़कर हमारे एक मित्र ने कहा था "ये खुदा का बन्दा, जहाँ हाथ रखता है, वहाँ उसे रतन ही रतन मिलते हैं।"

जिसे धर्म का ज्ञान हुआ उसे सभी धर्मों में सत्य-दर्शन होता है। साधना के रूपक के तौर पर एक कथा देहातो में कही जाती है।—लंका से अयोध्या आने के पूर्व सीता माई ने सब वानरो को उपहार बाँटे। हनुमानजी को एक रत्नहार उपहार में दिया गया। रामजी का यह सेवक, जीवनभर जिसने अपने सम्मुख प्रस्तुत 'राम' की सेवा की, उसे यह जानने की इच्छा हुई कि उन रत्नों में 'राम' है क्या? हनुमानजी एक रत्न को फोडने ही जा रहे थे कि किसी ने कहा—तुझमें भी राम है क्या? हनुमानजी ने यह भी देखना चाहा। हृदय चीरा, तो प्रत्यक्ष भगवान वहाँ प्रकट हुए। फिर तो हनुमानजी के लिए यह सिद्ध ही हुआ कि रत्न में राम है। उसका सार, जीवन ही सीताराम मे समर्पित था। रत्नहार भी माताजी के चरणों में समर्पित हुआ।

जहाँ प्रभु-साक्षात्कार होता है, वहाँ सभी धर्मों में प्रभु की लीला का दर्शन होता है।

रामकृष्ण परमहस को प्रभु-साक्षात्कार होने पर उन्होंने भिन्न भिन्न धर्मों और धर्मपन्थो के गुरुओ से उन-उन धर्मों की दीक्षा ली और अनुभव किया कि सर्वत्र एक ही प्रभु-दर्शन व्याप्त है। जहाँ परमहस रामकृष्ण ने गुरुओ से दीक्षा ली वहाँ आचार्य विनोबाजी ने उन-उन धर्म एव पन्थो की मूलग्रन्थो से ही समान अनुभव की शिक्षा और दीक्षा ली। एक सत्य को अपने अन्दर पाने के कारण उन्होने धर्म-ग्रन्थो का, जो चयन किया वह एक विशेष वस्तु बनी।

धर्म-समन्वय

विज्ञान के कारण दुनिया छोटी बन गयी है। हम एक दूसरे के नजदीक आये हैं। ऐसी स्थिति में हम एक दूसरे को अच्छी तरह से न समझें, एक संस्कृति, धर्म या जमात को उच्च समझकर दूसरे को नीच समझते रहें तो टकराने के सिवा और कुछ बनेगा नहीं। इसलिए भिन्न भिन्न धर्मों का अध्ययन करना और उनका गुण ग्रहण करना जरूरी हो जाता है। इस दृष्टि से भी धर्मग्रन्थों के इन सारग्रन्थों का महत्त्व है।

बाइबिल, जैनग्रन्थ आदि धर्म-ग्रन्थों का चयन भी विनोबाजी से प्राप्त हो, धर्म-प्रेमी लोगों की ऐसी आकांक्षा है।

धर्म-ग्रन्थों के सिवा समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, शिक्षणशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर विनोबाजी के जो ग्रन्थ हैं वे उनके लिखे लेखों या भाषणों से सम्पादित पुस्तकें हैं। स्पष्ट है कि इन सब के मूल में धर्म प्रेरणा एवं सर्व जन-हित की ही ईषणा है।

भवमूल-भेद-भ्रम-नासा

जनता एवं जनता के सेवक जीवन-निष्ठ बनें और उससे जनता का भला हो, इसलिए विनोबाजी का यह सारा परिश्रम है। उनके लिए यह एक साधना है।

रामहिं सुमिरिय, गाइअ रामहिं।
सन्तत सुनिअ रामगुन ग्रामहिं

का ही यह सारा कार्यक्रम है।

विनोबाजी के ग्रन्थ

आध्यात्मिक ग्रन्थ

१–उपनिषदों का अध्ययन
२–ईशावास्य-वृत्ति
३–गीताई (मराठी)
४–गीता प्रवचन
५–स्थितप्रज्ञ-दर्शन
६–गीताध्याय संगति
७–साम्यसूत्र (संस्कृत)
८–गीताई चिन्तनिका (मराठी)

संत वाङ्मय

१–ज्ञानदेव चिन्तनिका
२–एकनाथाचे अभंग (मराठी)
३–नामदेवाचे अभंग (मराठी)
४–संताचा प्रसाद (मराठी)
५–गुरुबोध (संस्कृत)
६–भागवत-धर्म-सार (संस्कृत)
७–नामघोषा (असमिया)
८–अभंग-व्रतें (मराठी)
९–विचार पोथी

धर्म-ग्रन्थों से संकलन

१–धम्मपद (पाली)
२–रूहुलकुरान (अरबी)
३–जपुजी

शैक्षिक

१–मूलउद्योग कातना
२–शिक्षण विचार (लेख एवं भाषणों का संकलन)
३–स्वराज्यशास्त्र
४–मधुकर
५–जीवन दृष्टि
६–सिंहावलोकन (मराठी)

हिन्दी में स्वयं लिखी हुई किताबें

१–रामनाम
२–ग्रामलक्ष्मी की उपासना

हिन्दी में लगभग १८ अन्य पुस्तकें उनके भाषणों से तैयार की गयी हैं।

यदि आत्मसुख, भक्तिभाव, धर्म, सदाचार एवं प्रभु-यश बढ़ाने की वृत्ति से, विनोबाजी का हमारे लिए दिया हुआ यह साहित्य लेकर, इस सम्बल का लाभ हम उठावें, तो तुलसीदासजी के शब्दों में हमें आशीर्वाद प्राप्त होगा–

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा,
तब भवमूल-भेद-भ्रम नासा।
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा,
उर गृहँ बैठि ग्रन्थि निरुआरा॥

समाज, अनुशासन और तालीम

•

मनमोहन चौधरी

अपने देश में विद्यार्थियों में अशान्ति और असन्तोष की समस्या चिन्तनीय हो उठी है। पिछले वर्ष उड़ीसा का विद्यार्थी-आन्दोलन तथा मद्रास में विद्यार्थियों के नेतृत्व में हिन्दी विरोधी आन्दोलन तो इस मामले में बिलकुल चोटी की घटनाएँ रहीं।

इस विषय में आम तौर पर यह राय दी जाती है कि विद्यार्थी उद्दण्ड बन रहे हैं। उनमें अनुशासन, नीतिमत्ता आदि सिखाने का इंतजाम होना चाहिए, पर कैसा अनुशासन और कैसी नीति ?

इस समस्या के सही आकलन के लिए यह आवश्यक है कि पिछले दो-तीन सौ साल में दुनिया की सामाजिक तथा वैचारिक परिस्थिति में जो बड़ा भारी परिवर्तन हुआ है, उसके सन्दर्भ में हम इसे देखें।

यह परिवर्तन इस प्रकार का है कि दुनिया में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा वैचारिक परिवर्तन की गति इस समय इतनी तेज हो गयी है, जितनी वह दुनिया के इतिहास में और किसी जमाने में नहीं थी, तथा दुनिया के करोड़ों-करोड़ सामान्य जनता के लिए सुखी और समृद्ध जीवन तथा सृजनात्मक आत्म-प्रकाश के लिए ऐसी विराट सम्भावनाएँ पैदा हुई हैं, जो इससे पहले कल्पना में भी नहीं आ सकती थीं।

इतिहास के हजारों या लाखों वर्षों में बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। जो मानव कभी छोटे-छोटे गिरोहों में जंगली जानवर-सा घूमा करता था, उसने पशुचारण शुरू किया, आग का आविष्कार किया, उसने खेती शुरू की और गाँव बसाये, धातुओं का उपयोग सीखा, शहर बसाये, साम्राज्य स्थापित किये, विश्व-रचना की भव्य-कल्पनाएँ कीं, भव्य साहित्य, दर्शन और कला-कृतियों का निर्माण किया, पर ये सारे प्रयत्न समाज के नगण्य-अल्पसंख्यक लोगों तक सीमित थे। जनता की बहुत बड़ी तादाद को इनका स्पर्श बहुत कम और बहुत धीरे-धीरे होता था। पाँच हजार साल पहले के उपनिषद् का चिंतन आज भी भारतीय जनता में अधिकांश के पास पहुँच नहीं पाया है।

वैसे ही समाज में परिवर्तन की धारा भी अत्यन्त धीमी थी। सैकड़ों या हजारों वर्षों में ही पता चलता था कि कोई महत्त्व का परिवर्तन हुआ है। किसी एक व्यक्ति को अपनी जिन्दगी के दौरान शायद ही यह दीखता हो कि समाज या उसके जीवन में कोई परिवर्तन हो रहा है। समाज की रचना शाश्वत काल से स्थिर है, ऐसी कल्पना लोगों की थी।

इस तरह समाज की रचना, आर्थिक तकनीक तथा लोगों के विचार और विश्वास सैकड़ों वर्षों तक अपरिवर्तित-से रहते आये। उनमें परिवर्तन हुए तो इतने धीमे कि उनका सही भान भी लोगों को नहीं होता था। स्थिरता एक गुण समझी जाती थी और उसे कायम रखना ही सामाजिक सुव्यवस्था का लक्षण था।

इसी तरह लोगों के विचार और विश्वास स्थिर थे। हर एक जमात को अपने धर्म, सम्प्रदाय या उस प्रदेश के समाज से जो विचार और विश्वास मिले होते थे, वे ईश्वर के द्वारा प्रकट किये गये समझे जाते थे। उनके प्रति किसी प्रकार का अविश्वास प्रकट करना भयानक पाप समझा जाता था। समाज के नीति नियम, राज्य के कानून, इसी प्रकार शाश्वत और पवित्र समझे जाते थे।

समाज की रचना भी इसी प्रकार बहुत धीरे-धीरे बदलनेवाली, करीब स्थिर-सी थी, और थोड़े-से आदिवासी समूहों को छोड़कर बाकी के सभी बड़े मानव-समाजों और सभ्यताओं में समाज ऊँच-नीच, भेदभाव आर्थिक-विषमता, शोषण और अधिकारवाद पर आधारित था। सामान्य मनुष्य का स्वातंत्र्य बहुत ही सीमित था। उसके व्यक्तित्व की कीमत बहुत कम थी। राज्य से लेकर परिवारों के सम्बन्धों तक सर्वत्र यही हाल था। जैसे राज्य में राजा दण्ड-मुण्ड का मालिक था, वैसे परिवार में पिता भी सर्वेसर्वा होता था। समाज में स्त्री दोयम दरजे की नागरिक समझी जाती थी और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती थी। निचली कही जानेवाली जाति के लोग उच्च कहे जानेवालों के गाँव के बीच में कुरता या लम्बी धोती पहनकर गुजर नहीं सकते थे। लड़का बाप-दादाओं के सामने मुँह नहीं खोल सकता था। सास बहू को गुलाम-जैसी समझती थी। लड़के-लड़कियों की शादियों तक में उनकी राय की कोई जरूरत नहीं समझी जाती थी।

विज्ञान का विकास सीमित था और इसलिए तकनीकों का भी विकास सीमित था। खेती, उद्योग, यातायात आदि की तकनीक में बड़े परिवर्तनों की सम्भावना नहीं के बराबर थी। हिन्दुस्तान तथा दूसरे देशों में हल, चरखा, करघा, घानी, खेती और उद्योगों के साधन हजारों वर्षों से अपरिवर्तित रहे। हिन्दुस्तान की तो यह करामात रही कि सामाजिक सुव्यवस्था के खयाल से यहाँ उत्पादन की तकनीकों को स्थिर, अचल बनाया गया। एक बैल से घानी चलानेवाला तेली-परिवार पुश्त-दर-पुश्त एक ही बैल से चलाने को मजबूर था और दो बैलवाला दो बैलों से। किसी ने थोड़ा-सा भी फर्क किया तो उसे सामाजिक दण्ड का सामना करना पड़ता था। हर उद्योग के बारे में यही बात थी। इस तरह तकनीकी पिछड़ापन और सामाजिक जड़ता एक दूसरे पर असर करते थे, एक दूसरे को मजबूर करते थे।

इस तकनीकी पिछड़ेपन के कारण उत्पादन में किसी प्रकार की भारी वृद्धि तथा उसकी व्यवस्था में नये प्रकार के संगठन की गुंजाइश नहीं थी। इसलिए विषमता, शोषण आदि का हटना असम्भव-सा था, समाज की रचना में कोई व्यापक परिवर्तन की सम्भावना नहीं के बराबर थी। बहुत सारे लोग जिस सामाजिक स्थिति में पैदा हुए हों, वे वहीं पुश्त दर-पुश्त रहने के लिए मजबूर थे। कोई हरिजन कभी यह सोच नहीं सकता था कि वह राज्य का मंत्री बन सकेगा। कोई विरला ही किसान सोच सकता था कि उसका लड़का वेद का विद्वान बनेगा।

ऐसी परिवर्तन-रहित परिस्थिति में शिक्षण का दायरा बहुत सीमित था। किसी जाति या वर्ग के लोग किस सीमा तक शिक्षण की अपेक्षा रख सकते हैं, यह भी परम्परा से निश्चित थी और सामाजिक सन्दर्भ के द्वारा मजबूरन मर्यादित थी। इस परिस्थिति में सामाजिक अनुशासन का उद्देश्य था—समाज में हर व्यक्ति को उसके लिए निश्चित घरौंदे में स्थिर रखना। हरिजन छोटी धोती पहने, छोटा बड़े को साष्टांग प्रणिपात करे, बाप के सामने मुँह न खोले, बहू सास की जली-कटी बातें मार-पीट मुँह बन्द करके सह ले, एक बैल-वाला तेली एक ही बैल से कोल्हू चलाते रहे, किसी *लड़की पर राजा की 'कृपा-दृष्टि' पड़ी तो उसका बाप* उसे अपना अहोभाग्य समझे इत्यादि। स्वतंत्र चिन्तन का निषेध, स्वतंत्र आचरण का निषेध आदि सामाजिक शृंखला और अनुशासन का ध्येय समझा जाता था। इसमें कवि होते थे, दार्शनिक होते थे, वैज्ञानिक होते थे, पर वे सनकी, बागी या गैर दुनियावी समझे जाते थे।

बच्चे को सामाजिक घरौंदे में ठूँसने के लिए सबसे कारगर साधन भय और दण्ड समझा जाता था। "चमोटी लागे चम-चम, विद्या आवे झम-झम" यही था उस अनुशासन का बीज मंत्र। बच्चे और नवयुवकों की स्वतंत्र प्रतिभा की जरूरत समाज को नहीं थी। इसलिए उसके विकास की कोई अपेक्षा या योजना नहीं थी, इसलिए भय तथा दण्ड से बालक की जो अन्दरूनी प्रतिभा, उसकी स्वाभाविक स्फूर्ति और सृजनशीलता कुण्ठित होती है, उसकी परवाह किसको थी?

पिछले ढाई-तीन सौ सालों में दुनिया में कुछ सामाजिक तथा वैचारिक ताकतों ने बहुत जोर पकड़ा और उसके कारण मानव सभ्यता के विकास की मन्द गति कहीं अधिक तेज हो गयी।

सामाजिक स्तर पर सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा और उसके अधिकारों की मांग सामने आयी। राजाओं-महाराजाओं के शतरंजी मुहरे बनकर रहने के लिए सामान्य मनुष्य अब तैयार नहीं रहा। राज्य-व्यवस्था में सामान्य लोगों के हक की मांग पर इंग्लैण्ड और फ्रांस में क्रांतियां हुईं। इनका असर दूसरे देशों पर भी पडा और दुनिया भर में लोकतन्त्र का सिलसिला शुरू हुआ। आर्थिक और सामाजिक समता की आकांक्षा भी प्रकट हुई और उसमें से समाजवाद साम्यवाद और सर्वोदय आदि क्रांतिकारी आंदोलनों का उदय हुआ। व्यक्ति की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का महत्त्व स्पष्ट होने लगा और उस प्रकार की स्वतन्त्रता की आकांक्षा भी जोर पकडने लगी।

साथ-साथ वैचारिक स्वतन्त्रता की हवा भी प्रबल हुई। परम्परा से मिले हुए विश्वासों और विचारों को आंख-मूंदे मान लेने की वृत्ति खत्म हो चली। समाज, राष्ट्र, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, साहित्य कला आदि मानवीय जीवन और कृति के हर विभाग में प्रतिष्ठित मूल्यों, परम्परागत विचारों और रूढिगत श्रद्धाओं की नये सिरे से जांच शुरू हुई। मनुष्य अपने को रूढिगत धार्मिक अन्धश्रद्धाओं से मुक्त करने लगा। ईश्वर और आत्मा-जैसे पवित्र समझे जानेवाले विषय भी शंका और जांच से परे नहीं रहे। दर्शन में चिंतन और कल्पना की नयी-नयी उडानें भरी जाने लगीं। साहित्य और कला में नयी सर्जना की बाढ-सी आ गयी, जिसमें भाव-प्रकाश के नये तरीके और नये माध्यम अपनाये जाने लगे। सामान्य मनुष्य और सामान्य वस्तुओं का इनका मुख्य ध्यान का विषय बनाया जाने लगा। आधुनिक वैज्ञानिक खोज भी इस नवीन और व्यापक अभिक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंश रही। विज्ञान की खोजों के कारण ज्ञान के नये और अत्यन्त व्यापक क्षितिज खुलते गये तथा दर्शन, साहित्य और कला पर भी इसका असर पडा।

विज्ञान का बडा असर तकनीक पर हुआ। नैसर्गिक ताकतों पर मनुष्य ने काबू प्राप्त किया और उत्पादन, यातायात तथा वार्ता आदान प्रदान के बहुत अधिक कारगर साधनों की ईजाद हुई और वे बडे पैमाने पर काम में लाये गये। इन सबका असर राजनीति, अर्थ-व्यवस्था और समाज पर बडे व्यापक पैमाने पर हुआ, और आज भी है। यातायात, संवाद, आदान-प्रदान के साधन, रेल, मोटर, हवाई जहाज, अच्छी सडकें, टेलीग्राफ, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन आदि के कारण दुनिया के लोग एक दूसरे के नजदीक और घने सम्पर्क में आये। दुर्गम देशों के दूरगामी अभियान हुए और यात्री दुनिया के लिए इनके द्वार खुल गये।

उद्योग धंधों में नयी तकनीकों के उपयोग के कारण उनका स्वरूप बदला। सामाजिक रचना और लोगों के परस्पर सम्पर्क बदले। इन सबका परिणाम कहीं अच्छा आया, कहीं बुरा, पर एक मुख्य परिणाम यह हुआ कि पुरानी 'स्थितिशील' व्यवस्था मिटने लगी और सामाजिक तथा आर्थिक समता के आवश्यक भौतिक सन्दर्भ को साकार रूप देने की सम्भावना पैदा हुई। लाखों वर्षों के विकास के बाद मानव-समाज के सामने यह सम्भावना मूर्त हुई कि सारी दुनिया के मनुष्य के लिए सभ्य और सुसंस्कृत जीवन के भौतिक आधार—खाना, कपडा, मकान, तालीम तथा दवा-दारू की व्यवस्था-मुहय्या की जा सके। दुनिया के किसी जंगल में या रेगिस्तान में बसे हुए किसी भी स्त्री, पुरुष, बच्चे या बूढे को भूखे, नंगे, अनपढ या असहाय रहने की अब कोई अनिवार्यता नहीं रही। सामाजिक और आर्थिक विषमताओं की सारी ऐतिहासिक आवश्यकताओं का अन्त करने की सम्भावना इस जमाने में मूर्त हुई।

इस परिवर्तनशीलता का परिणाम कहीं अच्छा दिखा, तो कहीं अमंगलकारी। जहाँ सोच विचार कर परिवर्तन किया गया वहाँ प्राय ऐसा लगा कि वह मानो अपने-आप होता गया, उसका सही अन्दाजा लगाना भी मुश्किल रहा। पुरानी व्यवस्था टूटी और पुराने सम्पर्कों का अन्त हुआ तो लोगों में अरक्षा की भावना पैदा हुई, उद्वेग और शंका बढी। दूर-दूर के लोग निकट सम्पर्क में आये तो संघर्ष बढे और शोषण तीव्र हुआ, पर मानव-समाज में यह जो तीव्र परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई, उसमें जो गतिशीलता आयी उसके सन्दर्भ में मानव का एक नया रूप प्रकट हुआ—स्रष्टा का। (अपूर्ण)

यहां शिक्षा के नाम पर बच्चे सिर्फ स्कूल जाते हैं और प्रगति के नाम पर केवल उनकी ऊँचाई बढ़ जाती है।

अभी समझ में नहीं आ रहा है

•

विवेकी राय

जहाँ अक्षर ज्ञान तक का अकाल, शिक्षा की ढही पुरानी हवेली पर नवीन अशिक्षा शिक्षा की छानी, ऊपर से परिस्थितियों की मार और शेष रह गये नर नहीं वानर।

वानर!

मगर, प्रश्नों के और भी उत्तर हैं।

गाँव के बालकों को उनका गाँव ही पढ़ने नहीं देता। माँ + बाप=लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर। पड़ोस=काला अक्षर भैंस बराबर। गोवरगनेस की महफिल बैठी तो बतकही का लच्छेदार सिलसिला चला—

"मंहगुआ की भैंस पता लगा है कि खूब दूध देती है। पट्ठा सूर माघ में रात-रातभर लाठी-जेंवर लेकर चलता है। सहतुआ तो ठंडा हो गया। हमने कह दिया है कि सभापति की पार्टी छोड़ो, नहीं तो भोजभात भी नहीं रह जायेगा। हाँ तो तमाखू मुजफ्फरपुर का ही फस्टियर होता है। लेकिन, वह पीपर पर वाला नटवा बाबा अभी भी जोर करता है। धुनिया के बाप ने भिखारी के ऊपर डिप्टी साहब के इजलास पर गवाही दी थी।"

बुधुआ छ: घंटा पढ़ता है स्कूली विषयों की रामायण और अठारह घण्टा घोंटता है ग्रामायण। आइए, पूछिए तो गाँव का वर्तमान और बीता इतिहास भूगोल, सब इसे कंठस्थ है। इसकी स्कूल की प्रोग्रेस रिपोर्ट देखी थी; प्राय: प्रत्येक विषय में (पी० टी० छोड़कर) चार प्रतिशत से लेकर छह प्रतिशत नम्बर।

अब इस बुधुआ की दो गति है। प्रथम, कुछ दिन स्कूल में समय बरबाद कर उसी गृहस्थी में भरती हो जायेगा, जिसमें उसका पूरा परिवार पहले से ही एक की जगह तीन के हिसाब से जुटा हुआ है। द्वितीय, उस नौकरी की तलाश करेगा, जो मिडिल अथवा हाई स्कूल फेल व्यक्ति को मिलती है।

फिर एक सवाल।

तो, बुधुआ गरीब है। गरीबी पढ़ाई में बाधक है। उधर धनी किसानों के लड़के भी तो नहीं पढ़ते? यह क्या?

वास्तव में ऐसे धनी किसान परिवार के लड़कों के मस्तिष्क पर छायी रहती है उनके दरवाजे पर दिखाई पड़नेवाली बैलों की लम्बी लम्बी कतारें, हलवाहों की सेना और बड़प्पन की डींगें। आदर्श बैल हैं, सस्कार घूरक्तवार हैं और वातावरण तमाखू के धुएँ से भरा है। गूँज रहा है कानों में—

"पढ़ लिख कर क्या करोगे?

क्या नौकरी करनी है?

इतना खेत? इतने बैल? ऐसी हवेली? यह रोब?

इतना तिलक? इतना दहेज?"

सब मिलाकर ऐसे परिवार के लड़के वही हो गये, जो उनके बाप-दादे थे।

उधर बुधुआ फेल होकर फेलवाले लोगों को मिलनेवाली नौकरी खोज रहा है। उसका बाप गाँव में लखपती जमीदार सुन्दर बाबू का हल जोतता है। इधर सुन्दर बाबू का लड़का छः साल हाई स्कूल में फेल होकर और प्रति वर्ष एक-एक हजार तिलक कम होते-होते जब इस वर्ष पन्द्रह हजार में उठ गया तो पढ़ाई छूट गयी। इस लड़के का रूप है $\frac{\text{फैशनेबुल} \times \text{कामचोर}}{\text{आइडिया}}$ + भू स्वामी।

रह गये वे ग्रामीण फूल जिनमें सुगन्ध है, परन्तु जो विपरीत हवा-पानी में खिलें न खिलें।

मिट्टी के कच्चे डिब्बों में पढने के लिए भर खटिया जगह नहीं, साँप बिच्छू, ढिबरी की टिमटिमाती रोशनी भी मुहाल, तेल समस्या, लालटेन समस्या, समय समस्या, शाम को सारा गाँव खा पीकर सो गया। आठ बजे ही लगता है जैसे आधी रात हो गयी। एक एक बाधा क्या उपलब्धि रही? स्कूल की पढ़ाई जैसे वही छाछ हाथ-भाँजते घर आ गये।

बेशक, स्कूलों की संख्या बढ़ गयी। गाँवों में बस्ता, बोरा, पटरी, दावात और झोला लिये, बिना बटन का कुरता पहने, कुछ केवल गंजी पहने अथवा नंगे, गमछा गठरी लिये कूदते फाँदते, लड़ते भिड़ते छात्ररूप नर-वानर का झुण्ड पाठशाला पथ पर दिखाई पड़ा।

> हर्ष से मस्तक ऊँचा! विषाद से गरदन झुकी!!
> निरखकर मन बढ़ा! परखकर हताश!!

अरे, शिक्षा के नाम पर ये केवल स्कूल आते जाते हैं और प्रगति के नाम पर केवल इनकी ऊँचाई बढ जाती है!

और तब, समाधान?

अभी ठीक से समझ में नहीं आ रहा है।●

बच्चों के मन को स्पर्श करनेवाला बाल-साहित्य कैसे तैयार हो, उसके विषय क्या हों, उसका सम्पादन कैसा हो और छपाई आदि कैसी रखी जाय, ये हैं आज के प्रश्न।

बच्चे और उनकी किताबें

●

गुरुशरण

चर्चा चल पड़ी कि ऐसी कौन सी पुस्तकें हो सकती हैं, जो बच्चों की पठन-रुचि के विकास में सहायक होने के साथ साथ उनमें आनन्द की उद्भावना भी जाग्रत कर सकें।

"जासूसी उपन्यास पढने दीजिए। अब तो वे किराये पर पढ़ने के लिए गली गली पसारियों तक की दुकानों पर मिलने लगे हैं।"—एक बुजुर्गवार ने हँसते हुए कहा।

"सिनेमा के गाने की किताब और असली कोकशास्त्र को क्यों भूल रहे हैं। अब तो वही वटानवी, भक्तरामा लखनवी, प्यारेलाल आवारा आदि न जाने कितने ही मशहूर कोका पण्डित हो रहे हैं।"—दूसरे महाशय ने जरा बिगड़कर कहा।

"बच्चों का सत्यानाश हो रहा है। वे स्कूल की किताबें पढ़ते नहीं, बस गन्दी किताबें पढ़ते रहते हैं। आवारा बने घूमते रहते हैं। कोई ढंग की बात कहो तो माँ बाप को अपना दुश्मन समझते हैं। घर से भाग जाने की धमकी देते हैं।"—तीसरे शख्स मौलवी साहब ने जमाने और जमाने की हवा को एक भद्दी-सी गाली देते हुए कहा।

अब रह गया मैं और मेरी श्रीमतीजी। हम दोनों एक बच्चे की सालगिरह पर उसे भेंट देने के लिए कुछ मनोहारी पुस्तकें बाजार से लाना चाहते थे। हमलोगों के सामने समस्या थी कि कैसी पुस्तकें खरीदी जायें। हमने इस सम्बन्ध में अपने दो पुस्तक विक्रेता मित्रों की राय लेनी चाही तो दोनों ने एक ही बात कही कि बच्चों की किताबें बिकती नहीं, बेचनी पड़ती हैं। सरकार में या फिर पुस्तकालयों में खपानी पड़ती हैं, इसीलिए हिन्दी में बच्चों की किताबें अहिन्दी प्रदेशों के नवसाक्षरों और प्रौढ़ों, सभी के लिए एक ही होती हैं, बस कवर बदल दिये जाते हैं।

आखिर अपनी समस्या के हल के लिए हमने स्थानीय बाल-पुस्तकालय का सहारा लिया और यह जानने की कोशिश की कि बच्चों को कौन सी किताबें प्रिय लगती हैं।

हमने देखा कि जिन पुस्तकों के मुखपृष्ठ आकर्षक चटक रंगों के और विशेषकर बच्चों की कृति या आकृति से युक्त होते हैं उनकी ओर बच्चों का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट होता है। ऐसी किताबें उठाने के बाद फिर बच्चे पहले पन्ने पलटते हैं और भीतर के चित्रों को बड़ी रुचि के साथ देखते हैं और थोड़ा-सा अंश पढ़ने के बाद अगर मन लग गया तो फिर पूरी पुस्तक आद्यन्त पढ़ डालते हैं।

"अगर मन लग गया तो?" श्रीमतीजी ने बात पकड़ते हुए कहा कि—"मुख्य बात तो यही मन लगने की है। बच्चों का मन किन विषयों में सर्वाधिक लगता है यही सोच विचार और चिन्तन का मुख्य पहलू है। किताब के रंग बिरंगे कवर से क्या होता है। ओढ़नी चाहे जितनी खूबसूरत हो, देखना तो यह है कि मुखड़ा कैसा है? रंगीन छपाई, अच्छे चित्र, बढ़िया कागज और मजबूत जिल्दवाली किताब के लिए पैसे भी तो ज्यादा चाहिए। बढ़ती हुई महँगाई के वक्त बच्चों को खिलाने और पहनाने के लिए तो है नहीं, महँगी किताबें कहाँ से खरीदी जायें; फिर स्कूल की किताबों के लिए भी रुपये दो। उन किताबों की कुंजियों के लिए रुपये दो और इम्तहान के दिन आ जायें तो गेस पेपर्स की किताबों के लिए दो। आखिर, बच्चों की पढ़ाई पर कितना खर्च किया जा सकता है?"

अच्छा, मान लिया कि सामान्य गृहस्थ बच्चों में पठन रुचि उत्पन्न करने के लिए अधिक पुस्तकें नहीं खरीद सकता, पर स्कूल के पुस्तकालयों और सार्वजनिक पुस्तकालयों में तो अच्छी किताबें रह सकती हैं? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अपने देश में अच्छी पुस्तकें छपनी तो चाहिए ही। छोटे बच्चों को पढ़ानेवाले शिक्षकों के लिए 'हैंडबुक फॉर टीचर्स' की भी जरूरत है। यह नहीं कि बिना समझे-बूझे मौलवी के मुँह से निकला लफ्ज बस लफ्जे खुदाई हो जाय।

"मियाँ, क्यों मेरे पीछे पड़े रहते हो?" मौलवी साहब ने बीच में टोका—"मैं बीसों किताबें ऐसी दिखा सकता हूँ जिनमें भाषा और भाव की निरी गलतियों के साथ फैक्ट्स (तथ्य) की गलतियों की भी भरमार रहती है।"

"आप ठीक कह रहे हैं। मेरे देखने में भी ऐसी कुछ किताबें आयी हैं। इनका मुख्य पृष्ठ, बाह्य सज्जा, जिल्द, कागज मुद्रण आदि चाहे जितना नयनाभिराम और मनोहारी हो, पर वह वैसा ही है कि 'विष रस भरा कनकघट जैसे'। बच्चे किताब में लिखी बात को प्रमाण मानते हैं।

'ऐतिहासिक एवं विज्ञान की पुस्तकों में तो तथ्य सही रहने ही चाहिए पर जहाँ तक साहित्यिक कृतियों का प्रश्न है उनमें तो उदार रहना होगा। कल्पना-शक्ति के विकास के लिए परी-कथाओं का भी अपना महत्व है।"—महाशयजी ने अपनी बात रखी।

"और जीवनियाँ?'—बुजुर्गवार बोले।

वे अतिरंजित नहीं होनी चाहिए। उनको भी इतिहास और विज्ञान की पुस्तकों की कोटि में रखना उचित होगा।

जहाँतक प्रकार का प्रश्न है, प्राथमिक कक्षाओं के लिए हिन्दी की पुस्तकें दो तरह की हों। एक तो उनके लिए, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, और दूसरे उनके लिए, जो हिन्दी दूसरी भाषा के रूप में सीख रहे हैं।

प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से छोटे बच्चों की किताबों में उनकी अवस्था और उनके स्तर के अनुरूप भावनाओं को ध्यान में रखना होगा। जैसे, बच्चों को खेल बहुत प्रिय है। उनको पढ़ना भी खेल की तरह प्रिय लगे, ऐसा प्रयास रहना चाहिए। कविता की पुस्तक हो तो पढ़ने के साथ गुनगुनाने का भी मन करे। ऐसा हुआ तो वह आसानी से याद रहेगा और उसके स्मरण रहने से तदनुरूप कुछ करने की प्रेरणा भी होगी और क्रियाशक्ति का विकास होगा।

अँग्रेजी की किताबों में तो प्रयुक्त शब्दों की पृथक सूची दी रहती है। हिन्दी में भी ऐसा किया जा सकता है। जिन शब्दों का प्रयोग बार-बार हो उनकी ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया जाय। कारक चिह्नों का भी परिचय कराया जाय। छोटे बच्चों की किताबों में पुनरुक्ति का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाहिए तो यह कि घर-घर जाकर बाल विशेषज्ञ (चाइल्ड स्पेशलिस्ट) की तरह बच्चों में प्रचलित शब्दों का चयन करें।

मोटी बात यह कि बच्चों की किताबों का सम्पादन बहुत जरूरी है। प्रकाशकों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रीय भावना एवं भावात्मक एकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द की दृष्टि से भी यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पुस्तकों में चित्रण (इलस्ट्रेशन) विषय के अनुरूप हो। यह नहीं कि पुस्तक सचित्र बनाने के लिए पुरानी किताबों के चाहे जैसे ब्लाक फिट कर दिये जायँ। हिन्दी की किताब में अँग्रेजी की किताब के ब्लाक लगा दिये जाते हैं, जिन पर अँग्रेजी के नाम और अक्षर रहते हैं। काल परिवर्तन का भी ध्यान नहीं रहता। पुस्तक के नाम और कवर से उसके विषय का ज्ञान नहीं हो पाता। सम्पादन का यह दायित्व होगा कि वह शब्दों का भार, क्रमिक कठिनाइयाँ, सरलता, सरसता, सुबोधता, रोचकता, उपयोगिता, मनोरंजकता, विविधता और सामयिकता आदि का ध्यान रखे।

हिन्दी बाल साहित्य में अभी भी सिद्धहस्त लेखक कम ही हैं। प्रकाशक चाहे जिसको सौ-पचास रुपये देकर लिखा लेते हैं। समाज में एक मान्यता है कि कक्षा ५ पास व्यक्ति भी पहली कक्षा को पढ़ाने के लिए उसका अध्यापक हो सकता है। उसी तरह हर लिखना जानने-वाला बच्चों का लेखक हो सकता है। दर असल हर आदमी बाल-साहित्य का लेखक तो कभी नहीं हो सकता।

स्कूलों में भी जो शिक्षण चलता है वह पाठ्यक्रम-आधारित है, बालक और उसकी मनोभावनाओं को आधार मानकर नहीं है। सब धान बाईस पसेरीवाली कहावत चरितार्थ है। एक साँचे में खिलौनों का निर्माण हो सकता है, पर एक ही पैटर्न से बच्चों का चारित्र्य निर्माण नहीं होता। बंगला में बड़े-बड़े लेखकों ने बच्चों के लिए भी लिखा है। हिन्दी में ऐसा बहुत ही कम हुआ है, बल्कि हिन्दी के कुछ ख्याति प्राप्त लेखक बच्चों के लिए लिखना छोटा काम मानते हैं।

बाल-साहित्य में अभी बच्चों के दैनिक जीवन को स्पर्श करनेवाले विषयों पर पुस्तकों का अभाव है। गणित, स्थापत्य, वास्तुकला, विज्ञान के नियम, ललित कलाएँ, देशान्तर, नगर संस्कृति, नगरों की कहानियाँ, संचार के साधन, सुरक्षा, यातायात आदि विषयों पर अच्छी पुस्तकों की कमी है। इन विषयों पर जो इनीगिनी पुस्तकें उपलब्ध भी हैं वे अकसर विदेशों में छपी पुस्तकों की नकल जैसी होती हैं। भूले भटके यहाँ के सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश के अनुरूप एक दो मौलिक कृतियाँ मिल भी जायँ तो कागज, टाइप, चित्रांकन और छपाई आदि में कोई न कोई न्यूनता रहती ही है।

जबतक बाल साहित्य का प्रकाशन अधकचरे व्याव-सायिक प्रकाशकों की मुट्ठी में बँधा रहेगा तबतक इससे अधिक की आशा की भी नहीं जा सकती। इस समस्या का एक ही समाधान है और वह यह कि उच्चस्तरीय बाल-साहित्य के निर्माण और प्रकाशन के लिए रचनाकार, चित्रकार और उद्बुद्ध प्रकाशक एकजुट होकर काम करें।

●

जर्मन-विचारक
श्री हेकमन

•

सतीशकुमार

२७ जून, '६३ ! बरसाती साँझ !

हम हजारों कारों से भरी-पुरी हानोवर (पश्चिमी जर्मनी) की सडकों को पार करके 'हाउस युगेन' (युवक भवन) में पहुँचे। वहाँ ७ बजे शान्तिवादी कार्यकर्ताओं की एक गोष्ठी में हमें भाग लेना था। गोष्ठी में अनेक युवक और प्रौढ साथी उपस्थित थे। यहीं हमारी भेंट हुई प्रसिद्ध गांधीवादी जर्मन प्रोफेसर श्री हेकमन से। मोटे फ्रेमवाले चश्मे, जिसे वे कभी कभी उतार भी लेते थे, से झाँकती हुई चमकदार आँखों ने पहली ही दृष्टि में बहुत कुछ कह डाला, जिसे शायद चुलबुली जबान न कह पाती। लगभग दो घण्टे तक हमारी गोष्ठी चली। दिल्ली से हानोवर तक की १३ महीने की कहानी में सबकी गहरी दिलचस्पी थी। खास तौर से साम्यवादी देशों की यात्रा के अनुभवों और संस्मरणों में सभी का आकर्षण था। भूदान, ग्रामदान और शान्तिसेना के बारे में लोगों को बड़ी जिज्ञासा थी।

गोवा-विजय [?] के प्रश्न से लेकर चीन-संघर्ष के प्रश्न तक हमलोग पहुँचे। प्रोफेसर हेकमन बीच-बीच में हिस्सा ले रहे थे। उनके विचारों का सन्तुलन और उनका सूक्ष्म विश्लेषण निश्चय ही आदरणीय था। इस प्रकार हमारी गोष्ठी समाप्त हुई और प्रोफेसर ने कहा—"आज आप मेरे मेहमान होंगे।"

हमें आश्चर्य और आनन्द एक साथ हुआ। "मेरा भाग्य है कि आप जैसे अतिथि मुझे मिले।"—प्रोफेसर ने हमारा हाथ पकडते हुए कहा। "भाग्य तो हमारा है कि हमें आपका सत्संग प्राप्त होगा।"—हमने कहा। वृद्ध प्रोफेसर के निष्कपट और विनयशील स्वभाव के प्रति हम श्रद्धानत होकर उनके साथ चल पडे।

घर पहुँचनेपर टेबुल पर भोजन परोसते हुए प्रोफेसर की पत्नी ने कहा—'इसी जगह इसी तरह हमें श्री आर्यनायकम्‌जी ने भी आतिथ्य का अवसर प्रदान किया था। वे दो दिन यहाँ रहे थे, पर आप कल ही चले जायेंगे?"

"हम बहुत आनन्दित होते, यहाँ अधिक रुककर, परन्तु आगे का पूरा कार्यक्रम बन गया है, इसलिए फिर कभी रहकर आपलोगों के साथ विचार-विनिमय करने की भावना के साथ हमलोग यहाँ से विदा होंगे।"—मैंने निवेदन किया।

इतने में प्रोफेसर ने गांधीजी की कुछ पुस्तकें दिखाते हुए कहा—"पिछले लम्बे समय से मैं इन पुस्तकों में खोया हुआ हूँ। खासतौर से 'सत्याग्रह' नामक पुस्तक ने तो मेरे सोचने की दिशा को ही आलोकित कर दिया है। यह कहते हुए मुझे बडी वेदना होती है कि भारत गांधी के विचारों पर नहीं चला और न चल रहा है। नेहरू की आधी श्रद्धा गांधी-विचार पर और अहिंसा पर है तथा आधी श्रद्धा राजनीतिक सत्ता, सेना और शस्त्रों पर है। इस बीच की स्थिति में मैं ज्यादा खतरा देखता हूँ। न इस पार न उस पार।"

"लेकिन, विनोबा ने देश के सामने गांधी-विचार को जागृत रखा है और उन्होंने शान्तिसेना का चमत्कारपूर्ण कार्यक्रम हमें दिया है।"—मैंने बीच में ही कहा।
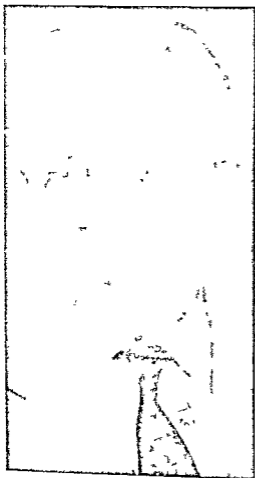
प्राफमर हकमन

"पर इसम भी मै सन्तुष्ट नही हू ।' —प्राफमर बोले ।

"विनोवा या शान्तिसना के बार म आपकी क्या आलाचना है ? '—मैंन पूछा ।

"गोवा और चीन क मामल म शान्तिसेना ने क्या किया ?"

' देश की जनता अहिंसक प्रतिरक्षा की दृष्टि से तैयार नही है ।"—मेरा निवेदन था ।

" नही ।" प्रोफेसर ने सोफे पर पैर फैलाते हुए कहा—"गाधीजी ने ऐसा कभी नही सोचा, विनोवा नेहरू के विरुद्ध कभी नही जाते । उन्होंने चीन के विरुद्ध भारत की सैनिक कार्रवाई को मूक समर्थन दिया, यह हमलोगों के लिए आश्चर्य की बात है । विनोबा और नेहरू घनिष्ट मित्र हैं । एक क्रान्तिकारी और दूसरा शासक । इन दोनो की मित्रता शायद क्राति में बाधक है । शासक क्राति नही चाहता । वह जैसे थे की स्थिति होती है । विनोबा भूमि-समस्या को लेकर निकले, पर भूमिक्राति नही हुई । फिर शान्तिसेना और अहिंसक प्रतिरक्षा का महान सूत्र उन्होने दिया । उसमें भी सफलता नही मिली ।"

प्रोफेसर ने अपनी बात को बहुत विस्तार से और बहुत से तर्कों के साथ मुझे समझाया । उनके कहने का सार यही था कि ' भारत गाधी के रास्ते पर नही चल सका । इसके लिए नेहरू और विनोबा दोनो जिम्मेदार हैं ।'

"देखिए रात बहुत हो गयी है, मेहमानों को सोने दीजिए । –प्रोफेसर की पत्नी ने रोककर कहा । उन्होने हमारे लिए बिस्तर लगाया और हमें आराम करने की मीठी सी आज्ञा दी । हम प्रोफेसर के पढने के कमरे में सोये । ठीक सामने की दीवार पर बापू का एक छोटा सा, पर बहुत गम्भीर, चित्र लगा हुआ था । "मैं कभी भारत आकर सेवाग्राम जाना चाहता हूँ । मुझे आयनायकमजी ने निमत्रण भी दिया था ।"—प्रोफेसर ने कहा ।

गम्भीर, अध्ययनशील और गाधी-विचार के प्रति हृदय से श्रद्धा रखनेवाले प्रोफेसर हेकमन के घर एक रात बिताकर हम कितनी प्रेरणा मिली ! हम उस २७ जून की रात को भूल नही सकते । प्रोफेसर के प्यार की नदी में नहाकर हम धन्य हुए । प्रोफेसर ने विनोबाजी के बारे में कुछ आलोचना की, यह इस बात का सबूत है कि उनके हृदय में विनोबा के प्रति, उनके विचारों के प्रति और उनके साहित्य के प्रति गहरी अभिरुचि है । वे बडी बारीकी से भूदान, ग्रामदान और शान्तिसेना के तत्व का, उसकी गतिविधियों का और प्रगति का अध्ययन करते हैं । उनका यह मानना है कि विनोबा, जयप्रकाश तथा सर्वोदय-आन्दोलन को काम का ऐसा ढग अपनाना चाहिए कि सरकार भी गांधीजी के रास्ते पर चलने के लिए बाध्य हो । ●

एक जमाना था जब जलसों में लाठी और गोली चला करती थी। फिर भी लोग जाया ही करते थे। उस दिन तो केवल पानी बरसा था। यह एक ऐसी घटना थी, जिसने भोलानाथ की जिन्दगी ही छीन ली।

मिट्टी का सेवक

•

गुरुबचन सिंह

भोलानाथ हमारे घर के बगीचे का माली था। उसने बड़ा साधु-स्वभाव पाया था। जब भी वह हमारे माता या पिताजी के सामने कोई बात करे, दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता था। उसे अपने काम की बड़ी लगन थी, और कभी शिकायत का मौका नहीं आया।

भोलानाथ की पत्नी उससे भी कहीं अधिक सरल स्वभाव की थी। कोई छोटा हो या बड़ा, वह सबके सामने घूँघट काढ़ती थी, हम भाई-बहनों के सामने भी। माताजी हँसकर कहतीं–"अरी दुलारी, इनसे काहे घूँघट काढ़ती हो। ये तो बच्चे हैं।"

दुलारी ओंठों में मुसकुराती और कहती – "घूँघट काढ़ने की हमारी आदत है।"

भोला माली के घर में भारतमाता का एक चित्र था। हम जानबूझकर दुलारी और भोलानाथ से पूछते "माली यह चित्र किसका है?"

तो वह श्रद्धा-भाव से कहता–'भारतमाता का।'

"लेकिन यह तो एक स्त्री का चित्र है।"

वह कहता–"माँ है माँ। यही हमें अन्न और जल देती है, जीवन देती है।"

"इतनी बातें कहाँ से सीख गये भोलानाथ?"

"तुम तो बच्चे हो, क्या जानो।" वह कहता–"अरे माँ जब वन्दिनी थी तब जानते हो, क्या क्या सुनने-समझने को नहीं मिलता था?।"

"क्या तुम कभी सत्याग्रह में गये थे? कभी जेल गये थे?"

"ऐसा सौभाग्य कहाँ। हाँ, एक बार लाठी की मार खायी थी।"

"कैसे?"

"एक बार मीटिंग होने को थी। पुलिसवाले मीटिंग नहीं होने देना चाहते थे। बस इसी में लाठी चल गयी थी।'

"वाह! तब तो तुम्हारा भी शहीदों में नाम है!"

वह आजादी का गीत गुनगुनाने लगता। उसे ऐसे-ऐसे अनेकों सुन्दर गीत याद थे—वन्दे मातरम् से लेकर शहीद भगतसिंह तक के गीत। उन गीतों को वह अपनी अटपटी भाषा और बेसुरे अन्दाज में गुनगुनाता तो सुनकर हँसी आती।

भोला माली जब कहीं नगर में किसी नेता के आने का समाचार और आम जलसे की खबर सुनता, साँझ के समय वहाँ पहुँच जाता। साथ एक खूबसूरत-सा हार बनाकर ले जाता, जिसे वह कार्यकर्ताओं को सौंप देता, और अपने मन में प्रसन्नता और गर्व अनुभव करता।

प्रायः मेरे पिता, उसकी इस हरकत पर खीझ उठते थे।

जाड़े के दिन थे। चीनी आक्रमण के विरोध में नगर में एक जलसा होनेवाला था। सवेरे ही से आसमान पर बादल छाये हुए थे, और हड्डियों को छेदनेवाली तेज हवा बह रही थी। लेकिन सर्दियों की कौन परवाह करता है। रिगल मैदान में हजारों की भीड़ जम गयी। तिल धरने की जगह न रही।

जाने क्यों उस दिन भोलानाथ के मन में क्या बात आयी, उसने पिताजी से उस मीटिंग में जाने की आज्ञा माँगी।

पिताजी बोले–'क्या बात है आज, इजाजत माँग रहे हो ?"

वह हौले से बोला–"दुलारी भी साथ जायेगी।"

पिताजी हँसकर बोले–'खुशी से जाओ। यह भी कोई पूछने की बात है ?"

उस दिन जल्से की कार्रवाई आरम्भ होने के पहले, हल्की-हल्की बूँदाबांदी होने लगी। कुछ देर बाद पूरी तरह पानी बरसने लगा। भीड़ कुछ छँटने लगी। लेकिन अनेकों लोग खड़े वक्ता का भाषण सुनते रहे। उनमें भोलानाथ भी एक था। जिनके पास छाता था, उन्होंने छाता तान लिया। शेष खड़े भीगते रहे।

भोलानाथ अपने साथ छाता नहीं ले गया था। वह और दुलारी भी पानी में भीगते ही रहे।

रात को जब वे घर लौटे तो ठंड से बुरा हाल था। दुलारी तो काँप सी रही थी। उसे बुखार हो आया। सवेरे तक उसे निमोनिया हो गया।

भोलानाथ दौड़ा-दौड़ा पिता जी के पास आया। पिताजी ने फौरन फोन करके डाक्टर बुलवाया।

दुलारी की हालत खराब देखकर डाक्टर ने उसे अस्पताल में दाखिल कर देने को कहा।

इसका प्रबन्ध हो गया। लेकिन उसी दिन शाम को दुलारी भोलानाथ को हमेशा के लिए विदा दे गयी।

भोलानाथ ठगा-सा रह गया, उस बच्चे की तरह जिसके हाथ का खिलौना अचानक ही किसी नाली या गड्ढे में गिर पड़े। वह न रोया न कुछ बोला। उसकी बिरादरी के कुछ लोग आये और दुलारी के शव को श्मशान पहुँचा आये।

शाम के समय जब वह आँखों में आँसू लिये उदास-सा अपने घर के दरवाजे के पास बैठा हुआ था, माँ उसे समझाने के लिए गयी और बोली–"दुलारी अगर जलसे में न जाती तो शायद ऐसा न होता।"

वह हौले से बोला–"एक जमाना था मालकिन, जब जल्सों में लाठी और गोली चला करती थी। फिर भी लोग जाया ही करते थे। उस दिन तो केवल पानी बरसा था।

माँ इसके उत्तर में कुछ नहीं बोली।

यह एक ऐसी घटना थी, जिसने भोलानाथ की जिन्दगी ही छीन ली। वह गुमसुम रहनेवाला बूढ़ा अब बिल्कुल खामोश तबीयत का आदमी बन गया। दिन भर बगीचे के काम में जुटा रहता। कहीं किसी पौधे को पानी दे रहा है, तो कहीं घास छील रहा है। कहीं मिट्टी उलट रहा है, तो कहीं सूखे झड़े हुए पत्ते इकट्ठे कर फूँक रहा है।

रात के एकान्त क्षणों में वह अपने घर के सामने बिछी हुई चारपाई पर लेट जाता और ऊपर आकाश की ओर देखता हुआ, कोई गीत गुनगुनाता रहता, वही गीत जो उसने वर्षों पहले सुने थे, जिसकी बेसुरी आवाजों पर हम हँसते थे। पर वह आनन्द अनुभव करता था।

अब हम भोलानाथ से मजाक नहीं करते थे। और न ही उसे सताते थे। वह हमसे बहुत प्यार से बात करता था और हम भी मनसे उसका आदर करते। फुरसत के समय उसके पास चले जाते और उससे कुछ न कुछ बातें करते। हमें लगता, बातों से उसका भी मन बहल जाता है।

एक दिन भोलानाथ रात के समय पिताजी की बैठक में गया और चुपचाप एक कोने में खड़ा हो गया।

पिताजी ने पूछा–"क्या बात है भोलानाथ, क्या कुछ कहना चाहते हो ?"

"हाँ मालिक।"

"क्या बात है बोलो।"

"छुट्टी चाहता हूँ।"

"छुट्टी कैसी छुट्टी ?"

"आपकी नौकरी से अलग होना चाहता हूँ।"

"क्यो, क्या बात है ?" पिताजी ने आश्चर्य से पूछा।

"बहुत दिन आपकी नौकरी की। मेरा मन भर गया है। अब छुट्टी चाहता हूँ मालिक।"

"नौकरी छोडकर कहाँ जाओगे, भोलानाथ ?"

"अपने गाँव, मालिक।"

पिताजी कुछ विचारो में डूब गये। कुछ क्षण सोचते रहे। फिर बोले-"नही, तुम कुछ दिना के लिए गाँव चले जाओ। नौकरी से छुट्टी नही मिलेगी। जितने दिन मरजी हो रहकर वापस चले आना।"

भोलानाथ ने कोई ना नू नही की। वह महीने के अत में हमारे यहाँ से चला गया। उसके चले जाने से हम सबको ऐसा लगा, जैसे कोई अपना आदमी उठ गया हो। हम काफी दिनों तक उसकी कमी को महसूस करते रहे। जाने से पहले वह माताजी से पत्र लिखने का वादा कर गया था। पर जाकर वह जैसे सब कुछ भूल गया था। न तो उसने कोई पत्र भेजा न किसी के हाथ कोई समाचार।

एक दिन उसके गाँव का एक आदमी, जो यही इसी नगर मे रहता है, हमारे यहाँ आया। और *भोलानाथ के विषय में बताता हुआ बोला—'भोलानाथ* अब इस दुनियाँ में नहीं है।"

घर के सब लोग स्तम्भित रह गये।

"क्या हुआ भोलानाथ को ?" माताजी ने पूछा।

वह बोला-"गाँव में पचायती चुनाव में दो पार्टियो म झगडा हो गया था। वह उनमें बीच-बचाव कराने गया और

आगे उसका गला रुँध गया, ●

कचरे का भाग्य

●

दादा धर्माधिकारी

मेरे एक मित्र नागपुर मे हैं। दिल उनका काफी खट्टा हो गया है। जब कभी मैं उनके सामने से जाता हूँ तो वे मुझसे एक बात सुनाये बिना नही रह सकते—"तुम्हें क्या कम है, तुम बडे भाग्यवान हो। चुनाव मे जीत गये तो मिनिस्टर, हार गये तो गवर्नर, रिटायर हो गये तो वाइसचासलर और कही के न रह गये तो सर्वोदय।" उनको बहुत सुख होता है जब इस तरह की बात मुझे कह लते हैं। उनके दिल का खट्टापन कुछ कम हो जाता है। मैंने उनसे कहा कि आपकी यह बात मुझे बहुत उत्साह देती है।

आप इतना तो मानते ही होगे कि कचरे का भी स्थान होता है। जो कचरा अपनी जगह होता है उस कचरे का नाम है सम्पत्ति, और जो सम्पत्ति अपनी जगह नही होती उस सम्पत्ति का नाम है कचरा। तो जो हम कही के नहीं रहे—न शस्त्रधारियो की सेना मे, न सम्पत्तिवानो के वैभव मे, न सत्ताधारियो के चुनाव मे, उनका एक ऐसा उपयोग है जिसकी इस देश को बहुत आवश्यकता है।

आज इस धरती मे सम्प्रदायवाद, जातिवाद, वर्गवाद, पक्षवाद के बीज बोने के लिए बहुत समर्थ और शक्तिमान लोग प्रस्तुत हैं। मानवता का बीज बोने के लिए खाद बनने की आवश्यकता है। और वह हम ही बन सकते है, जिनका दूसरी जगह कोई उपयोग नही। ●

ग्राम-निर्माण की भूमिका में

ग्रामदान को त्रिवेणी की गंगा मानना चाहिए। ग्रामदान से गाँव का जन्म, खादी से उसका पोषण और शान्ति-सेना से उसका रक्षण होता है।

संस्थागत तरीकों से भिन्न अब विकास के लिए शैक्षणिक तरीके अपनाने चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जिस परिवार की कमाई का जो धन्धा है, उसमें सुधार पहले बताया जाय, उसकी जो समस्या है उसे पहले सुलझाया जाय, उसके ऊपर कार्यक्रम या काम करने का नया ढंग न लादा जाय, और वह समान कामों में पड़ोसी के साथ सहकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

रचनात्मक कार्य : अब तक और आगे–५

•

रामभूर्ति

ग्रामकोष ग्रामसभा के सामने सबसे नाजुक विषय है, लेकिन जरूरी भी है। अनुभव बता रहा है कि ग्रामकोष तभी इकट्ठा करना चाहिए जब गाँव में एक या दो ऐसे लोग हों जिनकी ईमानदारी पर गाँववालों को भरोसा हो, क्योंकि अगर कोष को लेकर एक बार सन्देह की दीवाल खड़ी हो जायेगी तो उसे गिराना मुश्किल हो जायेगा। ग्रामदान की व्यवस्था में ग्रामकोष की जो योजना है उसे लागू करना आसान नहीं है। मनसेरा लेने के लिए उत्पादन कैसे आँका जायेगा, कौन देखेगा कि मजदूर को कितने दिन काम मिला, कैसे मालूम होगा कि व्यापारी को कितना लाभ हुआ, आदि बातें ग्रामसभा में तीव्र विवाद का कारण बन सकती हैं। शुरू के चरण में ग्रामसभा को हर तरह के विवाद से बचना चाहिए, और ग्रामकोष का कोई निरापद, सर्वमान्य तरीका निकालना चाहिए। क्या यह ठीक नहीं होगा कि ग्रामकोष सर्वोदय-पात्र से शुरू हो? उपज, मजदूरी और मुनाफे के बारे में शुरू में यह नीति रखी जा सकती है कि जो ईमानदारी से, जितना दे दे उतना स्वीकार कर लिया जाय। धीरे-धीरे लोगों की ईमानदारी और नेकनीयती बढ़ेगी। पूँजी के लिए पूरे गाँव की सहकारी समिति बनायी जाय और जो भी अनाज आदि वसूल हो उसका नकद रुपये में बाकायदा हिसाब रखा जाय। गाँव में बननेवाली सहकारी समितियाँ पंचायत, स्कूल तथा दूसरी संस्थाएँ पैसे को लेकर इतनी बदनाम हो गयी हैं कि कोष के मामले में जितनी भी सतर्कता बरती जाय उतनी थोड़ी। लेकिन किसी हालत में हमारा कार्यकर्ता न तो स्वयं किसी ग्रामसभा का खजांची बने और न किसी झगड़े में पंच। उसका काम सलाह और सहायता देने का है जिम्मेदारी लेने का नहीं।

हिसाब, बैठक करने और कार्यवाही लिखने की पद्धति एजेण्डा, सर्वसम्मति की प्रक्रिया और मर्यादा, आदि के अभ्यास के लिए सेवक-समितियों के शिविर होने चाहिए, तथा पूरी कोशिश होनी चाहिए कि ग्रामसभा की पंचायत, पुलिस, ब्लाक या राजनीतिक दलों से टक्कर न हो। विरोध से बचते हुए बढ़ने का रास्ता निकालना होगा।

यह तब सम्भव होगा जब हम ग्रामदान को लोक-आन्दोलन की भूमिका में देखेंगे, तथा कम से-कम मुख्य कार्यकर्ताओं का ग्राम-स्वराज्य के चित्र (इमेज); अपील और पद्धति (मेथड) के बारे में दिमाग साफ होगा और उन्हें समाज के विभिन्न तत्त्वों को जोड़ने की कला मालूम होगी।

अधकचरे ग्रामदान या प्रलोभन देकर प्राप्त हुए ग्रामदान का मोह कठोर होकर छोड़ना चाहिए। इसी तरह प्रयत्न यह रहे कि ग्रामदान म सभी परिवार शामिल हो, भरसक कानूनी बचत न निकाली जाय।

समग्र विकास की कुछ बातें

जब देश का अर्थनीति—अथनीति ही क्यो, पूरी जीवन धारा–दूसरी दिशा मे जा रही हो तो कुछ गाँवों को भिन्न आधारो पर खड़ा करना कहाँ तक साध्य होगा, कहना कठिन है। लेकिन पिछले वर्षों का अनुभव यह सिद्ध कर रहा है कि विकास केवल आर्थिक नहीं हो सकता। विकास समग्र होगा, और उसकी पद्धति कानूनी या सरकारी नहीं होगी, शैक्षणिक होगी, ताकि सम्पूर्ण मनुष्य ऊपर उठे। अभी तक हम गाँवो मे अपना कार्यकर्ता बिठाकर कुछ कार्यक्रम चलाते रहे हैं, लेकिन ग्रामदान क सन्दर्भ म यह पद्धति काम नहीं देगी। जब ग्रामसभा के रूप मे व्यवस्था और विकास की जिम्मेदारी लेनेवाली एक सस्था गाँव म ही बन गयी तो उसके काय कर्ताओ को प्रशिक्षित करना और ग्रामसभा को साधन देना हमारा मुख्य काम है। अब प्रवृत्ति चलाने की जिम्मेदारी ग्रामसभा की होगी। इसलिए ग्रामदानी क्षेत्रो म छोटे विद्यालय खोलने की बात सोचना चाहिए जिनमे हाथ-खेती, सफाई, कपास-खेती, कताई-बुनाई प्राथमिक उपचार प्रारम्भिक हिसाब शिविर-सगठन, सभा सचालन तथा सामूहिक निर्णय आदि का प्रशिक्षण सुव्यवस्थित ढग से दिया जा सके और वहाँ समय-समय पर शिविर आदि किये जा सकें। *लेकिन स्थानीय युवक किसी हालत मे* सस्या के वैतनिक कायकर्ता न बनाये जायँ। इनके बदले ग्रामसभा की कमाई बढ़ायी जाय, और जबतक जरूरत हो ग्रामसभा को मदद दी जाय और वह अपने कार्यकर्ता को मुआवजा दे। अब हम पूरी कोशिश सस्था निरपेक्ष शक्ति विकसित करने की करनी चाहिए। सरकार सस्था समाज इन तीन म से सबसे अधिक समाज की ही शक्ति अभिनव ग्रामदान को टिका सकती है।

प्राय ऐसा होता है कि हम सर्वेक्षण और योजना के आधार पर लम्बी चौड़ी योजना बना लेते हैं और गाँव को योजना के साँचे म ढालने की कोशिश करते हैं। यह भी होता है कि हमारी योजना के कारण गाँव म एक नया व्यवस्थापक वर्ग निकल आता है जो गाँव के श्रमिकों से अलग हो जाता है, और यह अलगाव ग्रामदान के टूटने का एक कारण बन जाता है। ऐसा न होने पाये, इसका शुरू से ही ध्यान रखना चाहिए। गाँव का विकास सहज हो, और वह यह महसूस करे कि अपनी ही शक्ति से आगे बढ रहा है। गाँव म रुपये पर रुपया भेजने की नीति विफल हो चुकी है। अब गाँव को अपनी जितनी पूँजी हो उसी के आधार पर मदद दी जाय वह भी साधनो के रूप म।

अन्य चीजो की तरह विकास के भी स्टेज होते हैं। अगर इन स्टेजो का ध्यान रखा जायेगा तो दिशा स्पष्ट रहेगी और ये विकास क्रमिक होता जायेगा। स्टेज ये हैं—

एक–विकास की आकांक्षा पैदा करना (डेवलपमेण्ट माइंडेडनेस)।

दो उसकी पूर्ति क लिए सयोजन (प्लैनिंग),

तीन–सयोजन की सफलता क लिए सहकार (कोआपरेशन),

चार–सहकार के सगठन के लिए साझेदारी (पार्टनरशिप),

पाँच–साझेदारी (शेयरिंग) की सिद्धि के लिए स्नेह (अफेक्शन),

गाँवो का सयोजन सामूहिक हो, लेकिन पुरुषार्थ पारिवारिक रहे। परिवार के पुरुषार्थ को खण्डित करने की योजना न बनायी जाय। परिवार को उत्पादन और उपभोग की इकाई मानकर चलना ही श्रेयस्कर है। परिवार को इकाई मानने का अर्थ यह होगा कि हम सबसे पहले परिवार के खाने-कपड़े की बात सोचें और ऐसी योजना बनायें कि आज परिवार जो कुछ अच्छा बुरा खा रहा है, वह उसको सालभर मिले। इतना हो जाने के बाद ही जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने, कुछ बचाने और सुख-सुविधा भोगने की बात सोची जा सकती है। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ज्योंही परिवार हमारे हाथ से छूटता है और हम गाँव और क्षेत्र

की बात सोचने लगते हैं, कि अन्तिम व्यक्ति हमारे हाथ से निकल जाता है, और हम भी टोटल और आँकड़ों के चक्कर में फँस जाते हैं। शायद यही सोचकर गांधीजी ने कहा था कि गाँव का विकास गाँव में होनेवाली बर्बादी को रोकने के प्रयत्न से होना चाहिए—समय, शक्ति, पैसा और साधन की बर्बादी। बर्बादी रोकने के प्रयत्न से विकासशीलता शुरू होती है, और हर परिवार नजर के सामने रहता है।

आज तक हमने विकास के लिए संस्थागत (इंस्टीट्यूशनल) तरीके अपनाये हैं और पिछले वर्षों में गाँव में तरह-तरह की संस्थाओं की भरमार की गयी है, लेकिन परिणाम क्या हुआ है? जितनी ही अधिक संस्थाएँ उतना ही कम विकास और हर संस्था भ्रष्टाचार और प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा! संस्थागत तरीकों से भिन्न अब विकास के लिए शैक्षणिक तरीके अपनाने चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जिस परिवार की कमाई का जो धन्धा है उसमें सुधार पहले बताया जाय, उसकी जो समस्या है उसे पहले सुलझाया जाय, उसके ऊपर कार्यक्रम या काम करने का नया ढंग लादा न जाय, और वह समान कामों में पड़ोसी के साथ सहकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। हर क्रिया के द्वारा कर्ता का बौद्धिक विकास करने की कोशिश की जाय। इस आधार पर ग्रामशाला (प्रौढ़शिक्षण या नशिक्षा) की योजना विकसित करनी चाहिए।

गाँव के विकास का पूरा प्रश्न खेती पर निर्भर है। खेती को छोड़कर विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सामान्यतः गरीबों के ग्रामदानी गाँव में जितनी जमीन होती है उतनी जमीन से गाँव की अर्थनीति नहीं खड़ी हो सकती। देखा यह जा रहा है कि जबतक गाँव अन्न में स्वावलम्बी नहीं होता तबतक उद्योगों की कोई योजना चल नहीं पाती। गाँववाला के पैर ही नहीं जम पाते। जब अधिकांश जमीन बाहर के मालिकों की होती है और गाँववालों को बटाई करनी पड़ती है तो बटाई में दे दिये गये अन्न की कमी की पूर्ति करना सम्भव नहीं होता। यह समस्या कैसे हल होगी, आज समझ में नहीं आ रहा है। इस समस्या के कारण गाँव में उन्नत साधनों और सुदृढ़ सहकारी सम्बन्धों की वह भूमिका ही नहीं बन पाती जो गाँव के विकास के लिए आवश्यक है। ग्रामदान आन्दोलन को इस समस्या का समाधान ढूँढ़ना ही पड़ेगा, और कई दृष्टियों से यह प्रश्न ग्रामदान की क्रान्ति की कसौटी भी बनेगा।

हमारे हाथ में खेती का पूरक सबसे बड़ा उद्योग खादी है। अम्बर ने सिद्ध कर दिया है कि कताई परिवार का उद्योग हो सकती है, लेकिन अम्बर की नीति में हमें कुछ परिवर्तन करना चाहिए। कुछ परिवर्तन निम्न दिशा में हो सकते हैं :

१ अम्बर परिश्रमालय स्थानीय युवकों को सर्वोदय-कार्यकर्ता बनाने के लिए चलें। परिश्रमालय प्रति ५ से १० गाँवों के बीच 'मोबाइल' ढंग से चलें, या हमारे नये क्षेत्रीय विद्यालयों में चलें, लेकिन इस दृष्टि से चलाये जायँ कि केवल कताई नहीं सिखानी है, बल्कि सर्वोदय-क्रान्ति की दीक्षा देनी है, इसलिए अम्बर के साथ दूसरा उपयोगी ज्ञान भी जोड़ा जाय।

२. हमारे विद्यालय में प्रशिक्षित स्थानीय युवक ही अपने-अपने गाँव और पड़ोस में अम्बर परिश्रमालय चलायें। वे ही प्रशिक्षणार्थी सफल माने जायँ जो एक रुपया रोज कमाई कर लें। गाँव के परिश्रमालय में फीस के रूप में हर कत्तिन २० गुण्डी पर १ गुण्डी दे। इस तरह स्थानीय शिक्षक के लिए पचास रुपये में जो कमी पड़े उसकी पूर्ति ग्रामसभा के द्वारा हमारी संस्था कर दे। बाद को यह कार्यकर्ता ग्रामसभा का कार्यकर्ता हो जाय और औद्योगिक प्रवृत्तियों से तथा अपने अम्बर से ५० रुपये की टोटल कमाई कर ले।

३ प्रयत्न यह हो कि एक गाँव के अधिक से-अधिक परिवारों को एक साथ अम्बर दिया जाय ताकि निश्चित अवधि के अन्दर मिल-बहिष्कार की स्थिति पैदा हो जाय।

४ अब आगे संस्था अपनी पूरी शक्ति ग्रामदानी गाँवों को वस्त्र स्वावलम्बी करने में लगाये और वह कोशिश करे कि जो कच्चा माल गाँव में पैदा होता है उसका पक्का माल गाँव के इस्तेमाल के लिए गाँव में ही तैयार हो।

शुरू में गाँव की कोई प्रवृत्ति, जहाँतक हो सके, बाजार के साथ न जोडी जाय, नही तो बाजार के अनिश्चित भावो के कारण गाँव घाटे का शिकार हो जाता है। एक समय शीघ्र आयेगा कि ग्रामदानी गाँवो के पूरे आर्थिक विकास और व्यापार का काम करने के लिए किसी तरह के बडे निगम (कारपोरेशन) की जरूरत पडेगी। हमलोगो की कोई सेवा सस्था इतना बडा काम नही कर सकेगी।

जिन क्षेत्रो मे खादी का काम पहले से हो रहा है उनमे नया मोड लाने की दृष्टि से व्यापारिक काम को समेटने की तैयारी रखनी होगी। अगर गाँव समर्पण' को छोडकर ग्रामदान की दूसरी शर्तों को भी मानने के लिए तैयार नही है तो उस गाँव से अपने काम को हटा लेना अपने मे एक बडा क्रान्तिकारी कदम है जिसका समाज पर जबर्दस्त असर होगा।

खादी और ग्रामदान का इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व कठिन है, और जहाँ इन दोनो की भूमिका बन जाती है वहाँ शान्तिसेना सहज ही जुड जाती है। लेकिन अब तक का अनुभव यह है कि ग्रामदान की कठिनाई के कारण, जो प्राय काल्पनिक है, हम पहले खादी या शान्तिसेना पर जोर देने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ग्रामदान छूट जाता है। ग्रामदान को त्रिवेणी की गगा मानना चाहिए। ग्रामदान से गाँव का जन्म, खादी से उसका पोषण और शान्तिसेना से उसका रक्षण होता है। जब जन्म ही नही है तो पोषण और रक्षण क्या होगा ?

यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण ग्राम-व्यवस्था के रूप मे त्रिविध कार्यक्रम की बात सुनने के लिए आज जनता के ध्यान पहले से अधिक उत्सुक दिखाई दे रहे हैं। जरूरत है कि हम हजारो की सख्या म चल पड, चलते जायें और सुनाते जायें। (समाप्त)

लोकतन्त्र मे जनशक्ति ही बुनियाद मानी जाती है। देश की परिस्थिति मे परिवर्तन करने के लिए जनशक्ति को जाग्रत करना तथा उसके द्वारा समस्याओ का हल करना ही मुख्य कार्यक्रम होता है।

जबतक स्वय जनता का नेतृत्व पैदा न हो, तबतक कोई भी लोकतन्त्र सफलतापूर्वक नही चल सकता। गाँव, ब्लाक, जिला, प्रदेश एव सारे राष्ट्र मे ऐसा नेतृत्व होना चाहिए।

आज सारा सर्वोदय-आन्दोलन इस बात पर जोर डाल रहा है कि जनता को अपनी समस्याओ का हल स्वय अपने करना है। आप जनता का उद्धार जनता के हाथ मे है, नेता या दल के हाथ मे नही। अपनी समस्याओ के हल के लिए संगठन बनायें, तो सहायता मिलेगी ही। उस सहायता से लाभ उठाने की शक्ति हममे होनी चाहिए।

—जयप्रकाश नारायण

अन्न की समस्या और लोक-शिक्षण

○

द्वारको सुन्दरानी

आज देश मे अन्न की समस्या गम्भीर रूप धारण करती जा रही है, चारो तरफ हाहाकार मच रहा है। अनाज महगा होता जा रहा है। उसके मिलने में भी कठिनाई हो रही है। लोग सरकार को दोष दे रहे हैं और कहते हैं कि यह सरकार अनाज का सवाल पिछले सत्रह वर्षों मे हल करने मे असफल साबित हुई है।

स्वतत्रता मिलने के बाद हमारे देश के प्रधान मत्री पण्डित जवाहरलाल नहरू ने, जो जन नता भी थे ९४९ मे यह सकल्प किया था कि देश को दो साल के अन्दर स्वावलम्बी बना देंगे। लेकिन आज १९६५ ई० मे भी विदेशो से सौ सवा सौ करोड रुपये का अनाज मँगाया जा रहा है। यह सब सरकारी अव्यवस्था के कारण हो रहा है। उधर सरकार लोगो को दोष दे रही है कि बडे बडे किसान और अनाज के व्यापारी अपने पास अनाज रखे बैठे है, बाजार मे लाते नही, जिससे महँगाई बढ रही है। ऐसा भी उनका कहना है कि ४० प्रतिशत किसानो का अनाज उनके घरो मे बन्द है।

अन्न-समस्या का भयानक भविष्य

इस समस्या का, जो विकट रूप आज हमारे सामने खडा है, उससे भी भयानक रूप अगले ५ वर्षों में प्रकट होनेवाला है। यह बात देश के विशेषज्ञ कह रहे हैं। कुछ माह पूर्व सयुक्त राष्ट्र सघ सचालित 'खाद्य-कृषि सस्था' के एक विशेषज्ञ भारत आये थे। उन्होंने खाद्य समस्या का अध्ययन करने के बाद यह बतलाया कि भारत मे १९७० तक यह और भी दर्दनाक रूप धारण कर लेगी। लाखो लोगो को भूखो मरना पडेगा। बगाल के अकाल से भी भयानक स्थिति होगी।

ये बातें वे किसी ज्योतिष के आधार पर नही बता रहे थे, बल्कि देश की अन्नोत्पादन की क्षमता और जन-सख्या की बेशुमार वृद्धि को देखकर कह रहे थे। हमारी जनसख्या ४९ करोड के लगभग पहुँच रही है। प्रति वर्ष एक करोड की वृद्धि होती है। औसत एक मनुष्य को ४॥ मन अनाज की जरूरत प्रति वर्ष होती है। अर्थात् जब हम हर साल १७ लाख टन अधिक अनाज पैदा करें, तब आज की जो हालत है, वह कायम रहेगी।

अन्न-सकट के कारण क्या हैं ?

समस्या की गहराई म उतरने पर देखा जाता है कि पिछले साल जब कि अच्छी फसल हुई थी, आठ सौ बहत्तर लाख टन अनाज पैदा हुआ था। बाहर से ९० लाख टन अनाज मँगाया गया। कुल मिलाकर इस साल हमारे पास नौ सौ बासठ लाख टन अनाज है। अपने देश के लिए ८४० लाख टन अनाज की जरूरत है और बीज के लिए ८० लाख टन चाहिए। कुल मिलाकर हमारी जरूरत ९२० लाख टन की है।

आज की स्थिति मे ४२ लाख टन अनाज अधिक है। फिर यह कमी क्यो है ? क्या यह कमी शासन की दुर्बलता के कारण है या मुनाफाखोरो की लोभ-वृत्ति के कारण है ? अथवा अज्ञान-वश जो अनाज की बर्बादी हमारे देश मे होती है उसके कारण है ? या समाज मे समुचित व्यवस्था के अभाव के कारण है ?

समस्या का सही हल

इन सारे प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए सन्त विनोबा ने १९५१ में ही योजना आयोग के सामने कुछ सुझाव रखे थे, जिनमें एक 'भूदान' का सुझाव था। उन्होंने कहा था कि जबतक जोतनेवाले की अपनी जमीन नहीं होती, तबतक वह जमीन पर अच्छा काम नहीं करेगा। अतः भूमि का वितरण होना चाहिए। भूमिहीनों को भूमि मिलनी चाहिए। भूदान में जो जमीन बाँटी गयी, उसका अनुभव कई जगह अच्छा आया है।

बोधगया के नजदीक एक बड़े किसान ने अपनी ७० एकड़ परती भूमि भूदान में दी। उसी गाँव में उक्त दाता की ३०० एकड़ उपजाऊ भूमि भी थी। आज भूदान किसान उस ७० एकड़ जमीन में प्रति वर्ष १५०० मन गल्ला पैदा करते हैं जबकि ३०० एकड़ जमीन में २५०० मन गल्ला पैदा होता है। इन भूदान किसानों के पास कृषि-साधनों का अभाव है और वह बड़ा किसान साधन सम्पन्न है। अतः अन्न-समस्या को हल करने का एक उपाय है—'जो जोते जमीन उसकी।'

लेकिन, समग्र दृष्टि से देखा जाय तो ग्रामदान में इसका पूरा हल है। ग्रामदान में ग्रामसभा बनायी जाती है और ग्रामसभा गाँवों की पूरी देख भाल करती है। ग्रामसभा पर गाँव के निवासियों की सारी जिम्मेदारी आती है ऐसी हालत में कोई आदमी अपने भण्डार में अधिक अन्न कैसे रख सकेगा, जब गाँव में अनाज की कमी होगी। फिर ग्रामदानी गाँव में ग्रामकोष खड़ा किया जाता है जिसमें हर साल गाँव के उत्पादन का चालीसवाँ हिस्सा अनाज जमा होता जायेगा। इस तरह जिसको 'बफर स्टॉक' कहा जाता है वह गाँव में बन जायेगा।

ग्रामदान में भूमिहीनों को कुछ जमीन मिल जाती है, जिससे मजदूर मालिक का सहयोग गाँव के विकास-कार्य में बढ़ता है। फिर ये ग्रामदान मिलकर ग्रामदान-खंड बनायेंगे, जिससे क्षेत्रीय पैमाने पर भी अनाज की समस्या का हल निकलेगा। गया जिले के एक ग्रामदानी गाँव में भूमि वितरण हुआ और चकबन्दी हुई। ये लोग ग्रामदान के पहले अपने गाँव में तीन महीने के लिए ही अनाज पैदा कर पाते थे। आज दस महीने का अनाज पैदा करते हैं।

सन्त विनोबा ने यह भी सुझाव रखा था कि सरकार मालगुजारी अनाज के रूप में वसूल करे और अपने कर्मचारियों को वेतन का कुछ हिस्सा अनाज के रूप में दे।

इन सब बातों के अलावा आज जरूरत है लोक शिक्षण की। लोगों को इस समस्या का रूप समझाया जाय और अधिक अन्न उपजाने के नये नये वैज्ञानिक तरीकों से परिचित कराया जाय। अनाज की बरबादी कहाँ होती है, कैसे होती है और उसको रोकने के उपाय क्या हैं, इसकी जानकारी गाँववालों को दी जाय। यह सब ग्रामदानी गाँवों के द्वारा आसानी से हो सकता है।

अन्न-समस्या एक राष्ट्रीय विपत्ति है। इसको हल करने के लिए सामूहिक शक्ति की जरूरत है। सरकार, सामाजिक संस्थाओं और जनता का सहयोग होना जरूरी है। अभी समय है। एक विशेष अभियान चलाकर उस समस्या को हल किया जा सकता है। अगर यह समस्या समय पर हल नहीं हुई तो भूख ऐसी चीज है जो भले लोगों को भी पागल बना देती है।

गांधीजी ने बंगाल के अकाल के समय यह सलाह दी थी कि हर एक को अन्न उत्पादन में भाग लेना चाहिए। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि शहरवाले अपने घर की छतों पर गमलों में भी कुछ-न-कुछ अन्न उपजाने का प्रयत्न करें। आनेवाला खतरा हो तो ऐसे ही उपाय करने पड़ेंगे।

बिहार में ग्रामदान-अभियान का तूफान चल रहा है। हमारा यह विश्वास है कि ग्रामदान प्राप्ति अन्न-समस्या के हल की पूर्व तैयारी है और ग्रामदान में इस समस्या का स्थायी हल है। लेकिन, ग्रामदान प्राप्ति के साथ-साथ हमें अर्थात् सर्वोदय आन्दोलनवालों को ग्रामदानी गाँव में अधिक अन्न उपजाने अनाज के संरक्षण और अनाज के समुचित बँटवारे का भी तूफानी कार्यक्रम चलाना चाहिए। इस तरह देश को अन्न-संकट से बचाया जा सकता है। ●

मठों की जमीन
की
समस्या

•

मनमोहन चौधरी

तमिलनाड में मन्दिर की मालकियत की समस्या को लेकर वहाँ के प्रमुख सर्वोदय सेवक श्री जगन्नाथन्‌जी के नेतृत्व में एक सत्याग्रह-आन्दोलन चल रहा है।

इन मन्दिरो और मठो की जमीन की समस्या इस प्रकार है कि देश के हर प्रात में मन्दिरो और मठो के पास काफी जमीन है। पुराने जमाने में मठ या मन्दिर की स्थापना करते समय लोगा ने उनका यह जमीन दे रखी थी, ताकि उसको आमदनी से उन सस्थाओ का काम स्थायी रूप से चले। तमिलनाड में मठ और मन्दिर शायद अन्य राज्यो की तुलना म काफी अधिक है। उनके पास जमीन भी बहुत ह। इन जमीना के मामले में वे सामान्य जमीदार-जैसा बरताव करते हैं। किसाना से अधिक-से-अधिक लगान या बटाई का हिस्सा लेकर उनको जमीन जोतने के लिए देते हैं। मौके पर उनको बेदखल भी करते है। कुछ सस्थाएँ अपनी जमीन बडे-बडे सम्पन्न ठीकेदारो को ठीका पर दे देती है, जो किसानो से उस तरह का बरताव करते हैं।

मदुराई में मीनाक्षी देवी के मन्दिर की कुछ जमीन विलमपट्टी गाँव में है, जो ग्रामदानी है। यह जमीन किसी ठीकेदार को ठीके पर दी जाती रही है। गाँववालो ने इस समय माँग की कि यह जमीन ठीकेदार को न दी जाय, बल्कि इस गाँव के किसानो को ही खेती के लिए उनके सगठन के जरिये दी जाय।

पहले मन्दिर के सचालको से मिलकर बातचीत की गयी, पर उन्होंने नही माना तब ग्रामवासियो ने मन्दिर के सामने खडे होकर अनशन-सहित प्रार्थना करना तय किया। इसके लिए उनकी टोलियाँ बारी-बारी वहाँ जाती थी। फिर राज्य के मुख्यमत्री ने कुछ कार्रवाई करने का आश्वासन दिया तो यह प्रार्थना-सत्याग्रह बन्द रखा गया, पर काम आगे नही बढ़ा, इसलिए जगन्नाथन्‌ जी ने अनशन शुरू किया। सात दिन के अनशन के बाद मन्दिर के सचालक विलमपट्टी गाँव की ३६ एकड जमीन छोडने के लिए तैयार हुए और उन्होने अपना अनशन तोडा।

बाद म जानकारी हुई कि यह जमीन मन्दिर के सचालको ने ठीकेदार के नौकरो के नाम पट्टा कर दिया है। इस तरह उन्होने एक हाथ से जो दिया, दूसरे हाथ से ले लिया। इससे वहाँ फिर से सत्याग्रह शुरू हुआ। इस बार सत्याग्रही उस जमीन पर पिकेटिंग कर रहे हैं और उनकी गिरफ्तारी हो रही है।

इन गाँववालो की माँग बिल्कुल सादी और योग्य है। वह कम-से-कम भी है। उनकी माँग है कि इन जमीनो को अपनी ग्रामसभा या सघ के जरिये गाँववालो को सीधा पट्टे पर दिया जाय और उसके लिए योग्य लगान भी ली जाय। हम सब की शुभकामनाएँ इन सत्याग्रहियो के साथ जरूर होगी। हम आशा करते हैं कि यह पत्र आपके पास पहुँचते-पहुँचते इस आन्दोलन को सफलता मिल चुकी होगी और दोनो पक्ष किसी समाधानकारक समझौते पर पहुँच चुके होंगे।

असल मे मन्दिर और मठो को अपने निर्वाह के लिए इस तरह जमीन देना गलत तरीका था। कोई बहुत सारी जमीन का मालिक बन बैठे और खुद कुछ मेहनत किये बिना मालकियत के अधिकार से दूसरो की मेहनत से हिस्सा वसूल करे, यह गलत है। पर, पुराने

जमाने में इसको कोई गलत समझता नही था, इसलिए मन्दिर बनाये गये और मठ कायम हुए तो उनके नाम इस तरह जमीन रख देना मुनासिब समझा गया था।

मन्दिर और मठ धर्म-कार्य के लिए कायम किये गये थे, पर उनकी बुनियाद मे ही अधर्म रहा, इसलिए उनसे हिन्दुस्तान का बहुत कुछ भला हुआ नही। हम जमीन के मालिक हैं, इसलिए उसपर तुमको काश्त करना है तो अपने बच्चों को भूखे रखकर भी हमको तुम्हारी उपज का आधा या अधिक बटाई देनी होगी। यह कैसा धर्म है? असल मे किसी मन्दिर या मठ के भक्त या समर्थक स्वेच्छा से उसके लिए जो दान दें उसी के आधार पर वह चलना चाहिए। फिर उनमें आध्यात्मिक साधना, कुछ ज्ञान की साधना, कुछ सेवा-कार्य चलेगा तभी उनकी उपयोगिता रहेगी, या इनके पास उतनी ही जमीन रहे, जिसपर उस मन्दिर के सेवक या मठ के निवासी खुद मेहनत कर सकें।

पर आज तो उलटा हो चलता है। मठ और मन्दिरो के लोग सामान्य गृहस्थ-जैसे होते हैं। जमीन की आमदनी से अपने निर्वाह की चिन्ता ही उनको होती है, खुद मेहनत तो वे करते ही नही।

इस परिस्थिति के हल का पहला कदम यही है कि किसी गाँव में मठ या मन्दिर की जमीन हो तो वह उस ग्रामसभा के मातहत रहे। उस पर योग्य लगान उस मठ या मन्दिर को दिया जाय। उसमे बदखलियाँ और बेहद शोषण बन्द होगा, फिर किसी मन्दिर या मठ को जमीन जितने गाँवो में हो उन सब गाँवो के प्रतिनिधि उसके सचालन-मडल या समिति में हो। इस तरह उसके सचालन मे गाँववालो का हाथ रहेगा तो वे उस मन्दिर या मठ को सुधारने में मदद कर सकेंगे।

यह सब तभी सम्भव होगा जब देश के बहुत सारे गाँव ग्रामदान हो जायें और नये जमाने के नये विचार को मान्य करें। तभी उनमे इस प्रकार की समस्याओं को हल करने की ताकत आयेगी। लोग अकसर चाहते है कि नेता उनकी समस्या का हल कर दें पर कितना भी बडा क्यो न हो, कोई नेता किसी समस्या का हल नही कर सकता, जबतक उसको हल करने में लोगो की खुद की ताकत न लगे।●

सत्याग्रह-समापन

श्री जगन्नाथनजी ने विनोबाजी को एक पत्र मे लिखा है—"ईश्वर की कृपा से विलमपट्टी के मामले का फैसला हो गया।

बाहर के आसामियों मे जो जमीन बँटी थी, उसे गाँव के ही किसानो मे बाँटने का वादा किया गया, उसी पर मैंने उपवास तोडा था। लेकिन जमीन बाँटने मे दोष पाया गया। पहले ही जो मालिक के अधीन काम करते थे, उन्ही मे जमीन बँटी। मन्दिर के धर्मकर्ता (परिपालक) तथा अन्य सरकारी पदाधिकारी इस पक्षपाती निर्णय से न जाने क्यो सहमत हो गये। लगभग ७७२ व्यक्ति कैद हुए और उनमें ३६७ व्यक्ति जेल मे बन्द किये गये। सत्याग्रहियो के शिविर मे रात मे लोगो पर छापा मारा गया। उनके घरो से भी सत्याग्रही गिरफ्तार किये गये। लारियो पर आते वक्त लोग पकडे गये। इतना होने पर भी रोज सैकडो व्यक्ति सत्याग्रह मे भाग लेते रहे।

इतने मे कामराजजी के इशारे पर गृहमंत्री श्री कक्कनजी स्वय ही ६ तारीख को मदुराई आये और समाधान का इन्तजाम कराकर उसी शाम को सत्याग्रहियो को मुक्त करा दिया। अगले साल विलमपट्टी मे स्थित, श्री मीनाक्षी देवस्थान की ३६ एकड की सारी जमीन, व्यवसायी-सहकारी-समिति को ही दी जायेगी, ऐसा निर्णय हुआ है।"

—सम्पादक

कहते हैं शिक्षा व्यक्ति के अन्दर के गुण-तत्व को विकसित करने के लिए है, उसके समग्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए है, लेकिन ऐसा दीख रहा है कि ये विद्यालय, महाविद्यालय, विश्व-विद्यालय सब के सब माल पैकिंग करनेवाले कारखाने हैं।

कोढ़ में खाज

•

रामचन्द्र 'राही'

परीक्षाओं की झझट और श्रीमतीजी की बीमारी से योंही काफी परेशानी थी। कल एक और मुसीबत आ पडी। ज्योंही आँख खुली, जगनाथ ने खबर दी–'कल शाम का हाई स्कूल के चार-पाँच लडकों ने गर्ल्स स्कूल की मास्टरनी को घर लौटते समय रास्ते म पकड लिया और ...।" वह आगे कहने मे हिचक रहा था।

'मैं समझ गया, फिर क्या हुआ ?' मैंने उसके सकोच का अर्थ समझते हुए कहा।

'मास्टरनी ने उसी समय थाने मे रिपोर्ट कर दी। रात को ३ बजे पुलिसवाले सबको कमर मे रस्सा डालकर थाने ले गये। मुझे और सबकी तो कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि सब अमीरों के बेटे हैं, १० बजे से पहले ही घर वापस लौट आयेंगे, लेकिन यह मूर्ख लगन ! इसकी भी मति मारी गयी थी, अब सडे जेल मे।"

"क्या कहा, अरे लगन भी उसमे शरीक था ?"–मैं भौचक रह गया। बचपन का अनाथ, लोगों की दया पर जी रहा लगन, यह क्या कर बैठा ? जब मेरा तबादला हुआ और यहाँ आया तो वह इधर-उधर कुछ मजूरी करके अपना पेट पाल रहा था, गाँववालों ने चन्दा करके किसी प्रकार मिडिल तक पढ़ा दिया था, लेकिन अब जब कि वह जवान हो गया, कौन उसकी पढ़ाई के लिए चन्दा दे ? पढ़ने म वह काफी होशियार था, अपनी कक्षा मे सदा प्रथम आता रहा।

इसी जगन्नाथ ने एक दिन मुझसे सिफारिश की थी कि अगर मैं उसकी पढ़ाई पुन जारी करने मे मददगार होऊँ तो एक होनहार लडके की जिन्दगी बर्बाद होने से बच जायेगी। मेरे लिए अपने परिवार का बोझ ही भारी पडता था, लेकिन फिर भी न जाने क्यों इसे मैं अपना फर्ज मान बैठा। उसे अपने परिवार म दाखिल कर लिया था। कोशिश करके फीस माफ करवा दी, पुरानी पुस्तकें माँग-मूँगकर इकट्ठी कर दी, और मुझे पूरी उम्मीद थी कि मैट्रिक अच्छे नम्बरों से पास कर गया, तो कोशिश करके वजीफा दिलवा दूँगा, आगे इसकी तकदीर। अपनी इच्छा के विरुद्ध इसके लिए मुझे २० रुपये मासिक की ट्यूशन भी करनी पड रही थी।

उसकी परीक्षा चल रही थी, ठीक से तैयारी कर सके इसलिए वह अपने एक सहपाठी के घर रह रहा था, मेरे यहाँ सिर्फ भोजन करने आता था। पिछली ही रात तो भोजन करते समय उसने बताया था कि पर्चे अच्छे हो रहे हैं प्रथम श्रेणी तो निश्चित ही है। कितना खुश होकर मैं सोया था। क्या पता था कि उठते ही यह मनहूस खबर सुनाई पडेगी।

"अब क्या होगा जगन्नाथ ?"–मैंने चिन्ता व्यक्त की।

'होगा क्या, अपनी करनी का फल भुगते। कोई किसी की तकदीर बदल देगा।"

'लेकिन कुछ तो करना ही होगा ?"

"करना क्या होगा, चलकर एक बार थानेदार के सामने हाथ पाँव जोड आयेंगे, बाकी उसका भाग्य। पैसा तो है नही कि पूजा देंगे।"

रास्ते भर हमारी कोई बातचीत नही हुई। हमारे मन बेहद बोझिल थे।

थानेदार अभी सोये ही थे शायद रात को देर तक जगना पडा था, थोडी देर हम बाहर बरामदे म ही बैठे रहे। लगभग आधे घटे की प्रतीक्षा के बाद उनसे बात चीत हो पायी।

"मैने पूछ लिया है, आज इन लडको का कोई पर्चा नही है। पण्डितजी, आप बेफिक्र हो जाइए, शाम तक डॉट डपट कर बुद्धुओ को छोड दूँगा। मेरी कोई सन्तान नही है तो क्या, बाप का दिल तो मेरे पास भी है।"

थानेदार साहब का आश्वासन पाकर हम तसल्ली हुई।

"लेकिन, आप बुरा न मानें श घरजी, आजकल इन स्कूलो मे पढाई वढाई क्या होती है ? सब लडके आवारा बनते जा रहे हैं।'

मैं कुछ न बोल सका। क्या बोलता ? चुपचाप अभिवादन किया और घर की राह पकडी।

'ये लडके तो बदमाश हैं ही, लेकिन वे मास्टरनी भी कुछ बहुत अच्छी नही दिखती।'—जगन्नाथ चलते-चलते भुनभुनाया।

"क्या मतलब ?"

'अरे पण्डितजी, जिस तरह के वे कपडे पहनती हैं, ओठ रंगती हैं, और जाने क्या क्या सिंगार पटार करती हैं, भला कोई भले घर की औरत वैसा करेगी ? स्कूल जाती हैं तो मालूम पडता है कोई नाचनवाली महफिल मे जा रही है।"

"चुप रहो, ज्यादा बक-बक करना ठीक नही।" मेरी डाँट खाकर वह खामोश हो गया, लेकिन उस मोटी अकल वाले थानेदार ने एक गाल पर चाँटा जड दिया था तो इस गँवार ने दूसरे पर अपनी खुरदरी उँगलियो के निशान अकित कर दिये। मैं अन्दर ही अन्दर तिलमिला गया।

अभी उस दिन बस म जा रहा था। लोगो मे चर्चा का विषय था—लडकियों की चुस्त पोशाक। लगे सब अपने-अपने अनुभव सुनाने और जमाने को गालियाँ देने। एक सज्जन ने सबसे ऊँची आवाज मे कहा—'साहब, अपनी आँखो देखी बात है। रामनगर मे एक लडकी की पेन सयोग से जमीन पर गिर पडी, उसके कपडे इतने चुस्त कि झुककर कलम उठा नही सकती थी। किसी प्रकार पाँव से ठोकर मारते मारते पास की पेट्रोल टकी तक ले गयी, तो वहाँ के चपरासी ने कलम उठाकर उसके हाथ मे थमाया।"

"जमाना भ्रष्ट हो गया।" मेरी बगल मे बैठे एक अधेड सज्जन ने अफसोस जाहिर किया। मैं अचानक झल्ला पडा—"ये लडकियाँ आसमान से नही टपकती, हमारे आपके घरो से ही ऐसे कपडे पहनकर आती हैं। हम-आप उन्हें छूट ही नही देते बल्कि इस तरह के कपडे सिलवा भी देते हैं। अपनी अतृप्त वासना अपने बच्चो की मार्फत पूरी करते हैं और फिर जगह-जगह अपने मन की मैल बिखेर कर जमाने को समाज को, सरकार को गालियाँ देते हैं। क्या होता है इससे ?'—एक साँस म मैं इतनी बातें कह गया। भय हुआ कि सहयात्री मुझसे उलझ न पडें, लेकिन मैं हैरत मे पड गया कि सब लोग हें हें हें हें करते हुए मेरी बातो का समर्थन कर रहे थे आप ठीक ही कहते हैं, बिलकुल ठीक कहते हैं।

"आजकल स्कूलो मे पढ़ाई-वढाई क्या होती है ।" थानेदार साहब की आवाज घूम फिरकर पुन कानो मे गूँज गयी।' सचमुच पढाई वढाई क्या होती है, पीढियो से वही बात रटते रटाते चले आ रहे हैं। जिन्दगी की गहराइयों से, समाज की समस्याओ से और प्रकृति के रहस्यो से जैसे कोई सम्बन्ध ही न हो शिक्षा का। लडकियाँ सीखती हैं—शादी के बाजार भाव मे ऊँचे स्तर पर पहुँचने की आधुनिकतम कला, शृंगारिक प्रसाधनो का इस्तेमाल, शारीरिक प्रदर्शन, नयी नयी अदाएँ, चाहे जैसे सम्भव हो नयी-नयी तहजीब। लडके हासिल करते हैं—डिग्रियाँ, उनके आधार पर कोशिश, सिफारिश और लेनदेन के भरोसे नौकरियाँ—कम-से-कम काम, और अधिक-से अधिक दाम के अवसर। हम सब माँ-बाप, सरक्षक, गुरु ऐसे ही बनाये गये हैं, अगली पीढ़ी को हम वैसा ही बना रहे हैं बनाते जायेंगे।

कहते हैं शिक्षा व्यक्ति के अन्दर के गुण-तत्व को विकसित करने के लिए है, उसके समग्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए है लेकिन मैं देख रहा हूँ कि ये विद्यालय, महाविद्यालय विश्वविद्यालय सबके सब माल पैकिंग करनेवाले कारखाने हैं, जहाँ व्यक्ति-रूपी वस्तु को बाजार की मांग के अनुसार प्रस्तुत किया जाता है। तैयार माल मे से कुछ बिकता है कुछ सडता है। जो बिकता है वही आगे चलकर खरीददार बनता है और जो कारखाने तक पहुँच ही नही पाता वह इन खरीदारो कर्मचारियो संचालको का पेट भरता है अपने रक्त और मज्जा से।

लार्ड मेकाले के प्रयास से किसी दिन हिन्दुस्तान के शरीर म कही कही कोढ के जख्म हुए थे जो अब लगभग पूरे शरीर म फैल गये हैं। इतना ही नहीं, तथाकथित पश्चिमी सभ्यता की अंधी चाह और अनुकरण से हम अपने अन्दर का खोखलापन भरना चाहते हैं, ढकना चाहते हैं, लेकिन भरना ढकना की जगह उसमे खाज पैदा हो गयी है।

जगन्नाथ का घर नजदीक आ गया। वह चुपचाप उधर मुडा तो मैंने उससे कहा—'सुनो जगन्नाथ। तुमने जो कहा था, ठीक ही कहा था, फिर मैं लखन को ही अपराधी कैसे कहूँ और मास्टरनी को ही क्योंकर कोसूँ, एक दो नहीं, असंख्य हैं ऐसे लोग। और, इससे भिन्न की अपेक्षा भी करूँ तो किस आधार पर ? तुम तो इन बातों को और नजदीक मे नहीं जानते, मैं कुछ जानता हूँ। १३-१४ साल हो गये मास्टरी करते, सोचता हूँ तो सोच सोचकर पागल हो उठता हूँ। आजादी के बाद मंत्री से लेकर मजदूर तक कोई भी इस शिक्षा को पसन्द नहीं करता, फिर भी जाने क्यो और किसलिए यह चलायी जा रही है शायद अपने आप चलती जा रही है।

•

अन्य महान कलाओ की तरह ही, जिनकी सहायता से मानव-जाति ने अपनी सांस्कृतिक तथा बौद्धिक निधि का संचय किया है, शिक्षण-कला के लिए भी जीवन भर तैयारी की जरूरत होती है।

जो विद्यार्थी प्रशिक्षण संस्थाओ मे भरती होने जाते हैं उनमे से बहुतेरे ऐसे होते है जो अध्यापन-कार्य को अपने जीवन का ध्येय समझने की भावना से प्रेरित होकर वहाँ नही पहुँचते, बल्कि वे बहुधा ऐसे निराश तथा निरुत्साह लोग होते हैं जो इसके पहले कई दफ्तरो और कई दूसरे पेशो का दरवाजा खटखटाकर हताश हो चुके होते हैं। यह बडे खेद की बात है कि आज हमारे सामने ऐसी परिस्थिति है और हमारी उच्च शिक्षा कम से कम थोडे से नौजवान स्त्री-पुरुषो के हृदय मे भी यह उत्कट इच्छा जागृत नही कर पाती कि वे शिक्षण-कार्य को अपना सर्वप्रिय लक्ष्य मानकर अपना जीवन उसे अर्पित कर दें और इस प्रकार देश की उत्तम सेवा करें। —के जी सैयदैन

•

[नयी दिल्ली मे १५, १६ और १७ अप्रेल ६५' को सर्व-सेवा-सघ की ओर से नयी तालीम के कार्यकर्ताओ की एक राष्ट्रीय विचार-गोष्ठी आयोजित हुई थी। नीचे हम उन चर्चाओ की सक्षिप्त रिपोर्ट दे रहे हैं। आगामी अको मे हम क्रमश शेषाश प्रकाशित करेंगे। स०]

नयी तालीम परिसंवाद

श्री मनमोहन चौधरी–

१. नयी तालीम की दो धाराएँ हैं—

क सामाजिक क्रान्ति के सन्दर्भ में नयी तालीम,

ख सर्व-सामान्य शिक्षा-सस्था मे नयी तालीम का स्वरूप।

ये दोनो परस्पर पूरक हैं, विरोधी नही। तालीम समाज के साथ परिवर्तित हो और स्वय परिवर्तन का माध्यम बने। नित्य नया विकास, नये विचार और नये अनुभव उसमे जुड़ते जायँ। नये विचार का जितना अश समाज स्वीकार करेगा उतना अमल मे आयेगा।

२ आज देश की परिस्थिति शिक्षा में परिवर्तन के अनुकूल है। आर्थिक विकास और समाज-उत्थान की जो आकाक्षा और जो प्रश्न पैदा हुए हैं, उनके कारण लोक-मानस परिवर्तन के अनुकूल हुआ है। हमे अपने विचार और कार्य-पद्धति को इनके साथ जोड़ना चाहिए। जो सवाल आज सामने हैं उनका समाधान करने की शक्ति नयी तालीम मे है। नये सदर्भो के प्रकाश मे नयी तालीम पर नये सिरे से विचार करना चाहिए।

श्रीमती सौंदरम्–

बुनियादी शिक्षा हमारे लिए एक चुनौती है। हमे पूर्व-बुनियादी से उत्तर बुनियादी तक की क्रमिक शिक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करना चाहिए। सरकार हमारी है। उससे मदद मिलेगी, लेकिन अच्छे स्कूल, शिक्षक-प्रशिक्षण आदि चलाने की जिम्मेदारी हम उठानी चाहिए।

डा० वी० के० आर० वी० राव—

१ शिक्षा जीवन की तैयारी के लिए है—हर पहलू की तैयारी के लिए, जिसम आर्थिक पहलू भी शामिल है। इसलिए शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो शिक्षार्थी मे आर्थिक चुनौतियो का मुकाबला करने की क्षमता पैदा करे।

२ बेसिक शिक्षा गाधी जी के व्यक्तित्व के कारण स्वीकृत हुई, बौद्धिक विश्वास के कारण नहीं। यह मत मानिए कि सरकार ने प्रस्ताव पास कर दिये तो सब कुछ हो गया। इस वक्त शुरू से शुरुआत करनी है। आँकडो मे ८० हजार बुनियादी स्कूल हैं लेकिन वे हैं कहाँ?

३ नये सिरे से सोचना चाहिए कि शिक्षा जगत् ने इस पद्धति को क्यो नही स्वीकार किया। बुनियादी तालीम का सिद्धान्त मान्य, होते हुए भी इस पर अमल क्यो नही किया जाता।

४ बच्चे की रुचि का ध्यान रखा जाय, उसे ऐसी एक्टिविटी दी जाय, जिसम उसकी रुचि हो—ये तत्त्व सर्वमान्य हैं, लेकिन क्या इनके लिए क्राफ्ट' अनिवार्य है? क्राफ्ट बुनियादी तालीम का शरीर है या उसकी आत्मा?

५ शिक्षा मे आज विज्ञान, कला आदि तरह-तरह के विषयो की माँग है। क्या किया जाय कि नीचे से ऊपर तक की शिक्षा म बुनियादी शिक्षा की सुगन्ध आ जाय?

श्री ढेबर भाई—

बुनियादी शिक्षा के दो पहलू हैं—

१—तात्कालिक और

२—दीर्घकालिक।

ये दोनो समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। तात्कालिक के लोभ म दीर्घकालिक की उपेक्षा करना ठीक नही है।

२ बुनियादी शिक्षा मे गाधीजी की दो प्रेरणाएँ हैं—

अ मौन और

आ दरिद्रनारायण।

उन्होंने जनता को उसकी शक्ति का भान कराया और उसे रचनात्मक दिशा दी। इस भूमिका को छोडकर बुनियादी शिक्षा पर विचार नही किया जा सकता।

३ बुनियादी शिक्षा केवल वैकल्पिक पाठयक्रम नही है। वह देश के व्यक्तित्व को प्राप्त करने का एक माध्यम है। देश को सिर्फ आर्थिक विकास नहीं चाहिए, बल्कि एक मूल प्रेरणा चाहिए जिससे वह जीवित रहने की शक्ति प्राप्त कर सके। यह बुनियादी शिक्षा का दीर्घकालिक पहलू है। इसकी प्रतीति हुए बिना भावनात्मक एकता सम्भव नही है।

४ गाधीजी के सामने बुनियादी शिक्षा का जो स्वरूप था वह सरकार के सामने नही है। उनके लिए बुनियादी शिक्षा जनता की रोटी और इज्जत दोनो का माध्यम थी। उसमे उनकी मुक्ति का सन्देश था। विनोबाजी गाधीजी की कल्पना की बुनियादी शिक्षा का सबसे गहरा प्रयोग कर रहे है। हमलोग बुनियादी शिक्षा की बारीकियो मे बहुत ज्यादा पड गये हैं और उसकी बुनियादो को भूल गये हैं।

५ सर्व-सेवा सघ देश की मुख्य धारा देश की समस्याओ और उनके समाधान से अलग हो गया है। बुनियादी शिक्षा ऐसी प्रवृत्ति नही है जो कुछ थोडे से लोगो द्वारा चलायी जाय। उसे देश की समस्याओ का जवाब देना है।

६ आधुनिक शिक्षा मे जो अच्छाइयाँ हैं उसम जो निष्ठा है जो साहस है, उसकी उपेक्षा नही की जानी चाहिए। इसम बुराई ही-बुराई नही है। इसका आज के जीवन पर जगह-जगह असर दीखता है। इससे जीवन की समृद्धि हुई है।

७ हमारे देश के कल्याणकारी राज्य न शिक्षा की जिम्मेदारी ली है। कोई सरकार इस जिम्मदारी से अलग नही हो सकती है। बालिग-मताधिकार का लोकतन्त्र औसत के नियम से चलता है, लेकिन उस औसत को निरन्तर बढाते रहना आवश्यक है।

चीन और पाकिस्तान के कारण हमारे देश का जीवन एक बडे सकट मे गुजर रहा है। हमारी राजनीति और अर्थनीति का विकास सहज नही रह गया है। जनसख्या तेजी से बढ रही है। ७८ करोड बच्चे स्कूल मे हैं। इतनी बडी सख्या को अविलम्ब शिक्षित करना है। एक तरफ सख्या दूसरी ओर शिक्षा का स्तर, साथ-साथ काम की तेजी—इन सबका मेल कैसे मिलाया जाय बहुत बडा प्रश्न है।

मुद्रा स्फीति के कारण विकास की हर समस्या और भी जटिल हो जाती है। टेकनालाजी बेतहाशा बढती जा रही है और नित्य नयी समस्याएँ खडी करती जा रही है। ऐसे सन्दर्भ मे हमारा रोल क्या होगा? क्या हम कुछ नमून के बुनियादी स्कूल खोलते रहेंगे या सब स्कूलो को बुनियादी बनाने की बात कहेंगे? आज जो चीजें देश का स्वरूप बदल रही हैं—बुनियादी शिक्षा उनसे अलग नही रह सकती, इसलिए हम ढीले पडकर बैठ भी नही सकते और आदश के हिडोले पर उड भी नही सकते। बीच का रास्ता ढूँढकर हमे आगे बढने की कोशिश करनी होगी।

गाधीजी का तरीका था कि वे बुनियादी बातें कह देते थे और तफसीलें लोगो की रुचि पर छोड देते थे। वे हर विचार के लोगो को साथ लेकर चलते थे। हमे भी वह उदारता बरतनी चाहिए। विविधता से व्यक्तित्व उतना ही समृद्ध होता है जितना गहराई से। कभी-कभी उत्तम और सर्वोत्तम एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। उत्तम पाकर आदमी ढीला पड जाता है और सर्वोत्तम की तलाश मे वह हवाई बन जाता है। जबकि जरूरत यह होती है कि उत्तम पाकर हम प्रयत्न छोडें नही और सर्वोत्तम की तलाश मे हम अपने को खोय नही। यह गांधीजी

का व्यावहारिक आदर्शवाद था। यही रास्ता हमारे लिए भी श्रेयस्कर है।

श्री बद्रीनाथ वर्मा–

बुनियादी शिक्षा को देश की राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति मानने की जरूरत है। इसे प्रायोगिक रूप से निकालकर अब राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने की आवश्यकता है।

शिक्षा-नीति पूरे देश के जीवन के साथ जुड़ी रहती है; इसलिए आर्थिक, सामाजिक आदि सभी नीतियों को सामने रखकर आज शिक्षा का स्वरूप स्थिर करना चाहिए और देश के लिए समन्वित योजना बनानी चाहिए। सामंजस्य न होने के कारण हर क्षेत्र मे संघर्ष पैदा हो गया है।

श्री आर्यनायकम्‌जी–

कई काम ऐसे हैं, जिन्हे सरकार कर ही नही सकती, और उसमें बुनियादी शिक्षा एक है। अगर सरकार को हमारी शिक्षा से समाधान नही है, तो वह बताये कि उसके पास क्या विकल्प है? शिक्षितो की बेकारी और विद्यार्थियो की अनुशासनहीनता का मुख्य कारण आज की शिक्षा है, जो बेशुमार खर्च पर चल रही है।

बुनियादी शिक्षा हर चीज को सत्य और अहिंसा की तराजू पर तौलती है। वह प्रकृति का हत्या करके विज्ञान और टेकनालाजी का समर्थन नही करती।

श्री अरुणाचलम्‌जी–

१. आज की शिक्षा पद्धति जीवन से अलग है। मौखिक पद्धति अचेतन मन को नही छूती, लेकिन व्यक्तित्व अधिकांश अचेतन मन से ही बनता है, इसलिए ऐसी शिक्षा चाहिए, जिसम शब्द-ही-शब्द न हो।

२. आज की शिक्षा मे क्राफ्ट जोड़ देने से ही बुनियादी शिक्षा नही हो जाती। केवल सर्जनात्मक क्रियाशीलन काफी नही होता। शिक्षा के प्रति हमारी पूरी दृष्टि बदलनी चाहिए। नमूने बहुत दिखाये जा चुके। अब सरकार सामने आये और बड़े पैमाने पर लागू करे।

३. अब सरकार स्वय बुनियादी तालीम के तत्त्व घोषित करे और उन्हें लागू करे। तफसील मे एक राज्य से दूसरे राज्य मे भेद हो सकता है। विद्यार्थी विद्यालय मे सामान्य जीवन बितायेंगे, और भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करेंगे।

४. कहा जाता है कि मातृभाषाएँ अभी विकसित नही हुई हैं, लेकिन विकास के लिए जरूरी है कि उनका इस्तेमाल हो।

५. बहुत से विषय पढ़ाने से विकास रुकता है; इसलिए बुनियादी शिक्षा छात्र को वातावरण के सामने रख देती है और उसे क्रियाशील बनाती है।

६ शिक्षा फौलादी ढांचा नही है। उसम अनगिनत प्रयोगो के लिए गुजाइश है।

७ बच्चो को उन क्रियाओ मे रुचि होती है, जिनका समाज म आदर होता है, नहीं तो उन्ह ऐसा लगता है कि उनसे छोटा काम कराया जा रहा है।

श्री धीरेन्द्र मजूमदार

बुनियादी शिक्षा नही चल सकी, क्योकि इसका प्रयोग मुख्यत देहातो म ही हुआ। आज काम करनेवाले और काम न करनेवाले दोनो काम के प्रति हेय दृष्टि रखते है। स्कूल मे वे बच्चो को इसलिए भेजते हैं कि पढ़कर अच्छी जिन्दगी मिलेगी, जिसम काम नही करना पड़ेगा। बुनियादी शिक्षा को यदि निष्ठा से भी चलाया जाय तो उसे राष्ट्र की मान्यता नही मिलेगी, क्योकि समाज मे प्रतिष्ठित जिन्दगी की मान्यता श्रम विरोधी है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि काम के प्रति नेतृत्व की मान्यता मे परिवर्तन आये।

प्रश्न उठता है कि एक्टिविटी क्या हो? समाज मे जिस एक्टिविटी को मान्यता हो और प्रतिष्ठा भी हो वही एक्टिविटी बुनियादी शिक्षा मे चलनी चाहिए।

बेसिक एजूकेशन का 'बेस' क्या हो इसका कोई बँधा नियम नही है। देश और काल के अनुसार वह बदल सकता है। गांधीजी ने जो बताया था वह निरपेक्ष नही था; उनके समय के देश और काल की चुनौती का उत्तर था।

आज कोई व्यक्ति व को न माने, विचार को न माने, लेकिन वह देश और काल की चुनौती का उत्तर देने की जिम्मेदारी तो मानेगा।

बेसिक एजूकेशन का आधार देश और काल की बुनियादी समस्या है। आज रोटी और कपड़ा देश की बुनियादी समस्या है। इसका हल करनेवाला शिक्षा ही बुनियादी और राष्ट्रीय शिक्षा होगी। बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा देश के किसी एक अंग के लिए नहीं होगी, बल्कि समूचे राष्ट्र के लिए होगी। इस मूल तत्व को केन्द्र में रखकर चारों और अन्य पूरक तत्व जोड़े जा सकते हैं, जैसे आकाश दर्शन या समुद्र की सैर आदि।

शिक्षा दो प्रकार की होती है–'वोकेशनल' और 'जनरल'। वर्तमान शिक्षा वोकेशनल है, क्योंकि उससे आज का शिक्षित व्यक्ति सामान्य नागरिक नहीं बनता। वह किसी न किसी अर्थ में वोकेशनल ही बनता है।

वह शिक्षा कौन-सी होगी, जो देश के ४६ करोड़ लोगों को स्पर्श करेगी और जो जहाँ है उसे वहीं से आगे बढ़ायेगी? अगर शिक्षा-द्वारा चेतन व्यक्तित्व का निर्माण करना है तो सामाजिक वातावरण को शिक्षा का सहज आधार बनाना होगा और उसे सामाजिक विकास के साथ जोड़ना होगा। सामाजिक प्रवृत्ति में लगे हुए लोगों को उससे अलग किये बगैर सुनियोजित ढंग से उन प्रवृत्तियों को शिक्षा का आधार बनाना होगा।

बुनियादी शिक्षा के तत्व क्या हैं?

स्वावलम्बन—काम शिक्षा का माध्यम होगा तो वह श्रम के बोझ के रूप में नहीं बल्कि रुचिकर और आनन्ददायक होगा। इसके लिए वैज्ञानिक शोध की दिशा बदलनी होगी। वह शोध विज्ञान और टेकनालाजी को छोड़ने का नहीं—काम से जो मुक्ति की अब तक की दिशा रही है, उसे बदलकर दिलचस्प और आनन्ददायी बनाने का है।

शिक्षा की प्रक्रिया में स्वावलम्बन का तत्व दाखिल हो यह आवश्यक है। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि शिक्षा प्राप्त करने पर छात्र को नौकरी न मिले तो वह निराश न हो जाय।

सरकार क्या करे–इस प्रश्न पर मुझे दो बातें कहनी हैं–

१–नौकरियाँ डिग्री के आधार पर न दी जायँ। इसके लिए क्वालिटी टेस्ट लिया जाय और उसके आधार पर नौकरी दी जाय यानी शिक्षा नौकरी पाने का पासपोर्ट न बने। ऐसा होने पर ही शिक्षा में प्रतिभाशाली लोग नये-नये प्रयोग के लिए प्रेरित हो सकेंगे। आज शिक्षा-विभाग प्राइवेट एक्सपेरिमेंटशन को रोक रहा है जब कि उसे बढ़ावा मिलना चाहिए।

२–शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिभाशाली लोग आने चाहिए; आज वे राजनीति में जाते हैं।

श्री डी० पी० नायर–

१ हम बुनियादी शिक्षा के सब्त्री नहीं हैं, लेकिन हम मानते हैं कि इस बुनियादी शिक्षा के बिना राष्ट्रीय विकास असम्भव है।

२ निराशा का कारण नहीं, लेकिन परिस्थिति कठिन है। अभी प्रशासन के तन्त्र में परिवर्तन और मूल्यांकन की तैयारी नहीं है, यद्यपि अधिकारियों का समर्थन है और योजना में भी समर्थन किया गया है। चौथी योजना में एक बड़ा कदम उठा है कि उत्पादन-केन्द्रित शिक्षा की बात मानी जा रही है।

३ सत्य हमारे पक्ष में है, यद्यपि गांधीजी के समाज और आज की धारा में बुनियादी अन्तर है, लेकिन हमें लोकतन्त्र की जड़ मजबूत करनी है।

४ जनता बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन को पचा पाती है। यह कठिनाई हर सुधार-आन्दोलन को भुगतनी पड़ती है। वालेंटियरी संस्थाओं का काम प्रदर्शन का होता है, जिसका बहुत बड़ा महत्त्व है। हमें तीन काम करने हैं–

अ अधिक-से-अधिक अच्छे स्कूल चलें,

ब शोध का कार्य हो, और

स मूल्यांकन होता चले।

यह सब होगा तो लोगों के विचार बदलेंगे। शिक्षा-आयोग बना है तो हमें अपनी बात जोरदार ढंग से कहनी

चाहिए। आयोग के समर्थन के बाद कोई अधिकारी अलग नही जा सकेगा। यह बहुत बडा अवसर है। हम आयोग के लिए अच्छा-से-अच्छा स्मृति-पत्रक बनायें।

श्री जी० एन० कौल–

हम वैचारिक पहलू पर अधिक विचार करने के अभ्यस्त हैं। यहाँ जो भी चर्चा हो रही है वह सैद्धान्तिक अधिक है। जबतक हमारे पास अच्छे नमूने के काफी बडी सख्या मे चलनेवाले स्कूल नहीं होंगे तबतक उनका गहरा असर नही होगा। हमे ऐसी परिस्थिति पैदा करनी है, जिसमे हरेक शिक्षक अपनी विशेष परिस्थिति मे स्वय कुछ करने की प्रेरणा पा सके।

श्री यू० ए० असरानी–

१. पहल हाथ की शिक्षा को होनी चाहिए, यह शिक्षा शास्त्री मानते हैं। रूस में १६ वर्ष तक बच्चा कारपेण्टरी सीखता है, मोटर की कारीगरी सीखता है, जापान मे कोआपरेटिव इडस्ट्री म क्राफ्ट का बहुत स्थान है। अमेरिका, इग्लैण्ड के उदाहरण दिये जा सकते हैं कि आधा समय एक्टिविटीज को मिले, आधा समय पढाई को। बुनियादी तालीम कहती है कि क्रियाओ को उत्पादक बनाना चाहिए। बुनियादी म प्रकृति और समाज से सम्बन्ध सेवा भावना से होता है। केवल आबजर्वेशन की दृष्टि से नहा।

२. हमसे कहा जाता कि जबतक लाभ मानते नही, धीरे-धीरे चलें, लेकिन समाजवाद के लिए कितने वोट लिया, लोकतत्र के लिए कितने वोट लिया? ऐसी बात कहने का अर्थ है, जिम्मेदारी का टालना। नेताओ का आगे आना चाहिए। हजारो साल की गरीबी है, बेकारी है, क्या हम बैठे रहे?

सरकार के हाथ मे पूरा शक्ति है तो क्या उनकी कोई जिम्मेदारी नही है? सरकार हमारे ऊपर जिम्मेदारी क्यो छोडती है? उसे अपना उत्तरदायित्व निभाना चाहिए।

३. बेसिक शिक्षा का रग हर स्कूल पर चढे तो अच्छा होगा, लेकिन हर स्कूल एक तरह का नही हो सकेगा। सब बच्चे दिनभर स्कूल म नही रह सकेंगे। अलग-अलग स्थितियो के लिए कार्यक्रम बनाना होगा; लेकिन समवाय सब मे होगा। अगर शिक्षक योग्य होंगे तो काम अच्छी तरह चलेगा।

श्री मनमोहन चौधरी–

सरकारी तथा गैरसरकारी तत्वो का एक दूसरे पर दोषारोपण करने की जगह हम नयी तालीम की 'इमेज' प्रस्तुत करें। हम नयी तालीम को सिक्त को सिद्ध करना चाहिए। बुनियादी के छात्र का अपना एक व्यक्तित्व बनता है, जिसकी आज देश मे बडी आवश्यकता है। अब बुनियादी शिक्षा का शहर म प्रयोग होना चाहिए। उसमे टेकनालाजी को स्थान मिले और उसका विकास हो, उसका प्रयत्न होना चाहिए। नयी तालीम का विद्यालय गाँव म टेकनालाजी का प्रसार-केन्द्र बने और उद्योगो मे टेकनालाजी को दाखिल किया जाय।

श्री सय्यदअन्सारी–

हम बुनियादी शिक्षा का प्रयोग खुद करना चाहिए, लेकिन अपन तक ही सीमित रहन पर बहुत दूर तक नही जा सकते। सब सेवा-सघ आस पास भी देखे। अभी शिक्षा आयोग बना है, लेकिन उसमे बुनियादी शिक्षा का कोई प्रतिनिधित्व नही है। उसके सामन बुनियादी शिक्षा की गलत रूपरेखा आ रही है। बुनियादी शिक्षा का स्वरूप और व्याख्या बदलन की कोशिश की जा रही है। शुरू की दो कक्षाओ म हाथ का काम न रखा जाय, यह कोशिश की जा रही है। उत्पादक काम छठवी कक्षा से शुरू किया जाय और आठवी म समाप्त कर दिया जाय, ऐसी स्कीम सोची जा रही है। हमे उनको कनविंस करने की कोशिश करनी चाहिए और मेमोरण्डम पेश करना चाहिए।

श्री करण भाई–

१. *बेसिक और नॉन बेसिक का भेद न रहे।*
२. *बुनियादी शिक्षा के नाम का आग्रह रखना चाहिए* और नाम-परिवर्तन के खिलाफ आवाज उठानी चाहिए।
३. कुछ न्यूनतम तत्व राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के लिए तय कर लेना चाहिए।
४. प्रॉडक्टिव एक्टिविटी की स्टेज खेलकूद की स्टेज के साथ ही शुरू की जाय। एक्टिविटी शुरू से ही मोद्देश्य होनी चाहिए।

श्री क्षितीश राय चौधरी—

बुनियादी शिक्षा को मान्य बनाने की दृष्टि म मेरे ये सुझाव हैं —

१ बेसिक और गैरबेसिक साथ-साथ चल रहा हैं, यह गलत है। बेसिक के विद्यार्थी के लिए भी बेसिक के बाद के रास्ते उसी तरह खुले रहने चाहिए जैसे दूसरो के लिए खुले रहते है।

२ बेसिक का आठ साल का एक सम्पूर्ण अभ्यास-क्रम है। राज्यो ने उसके टुकडे कर दिये है, जो गलत है।

३ हायर सेकण्डरी और पोस्ट-बेसिक एक हो जायें, अलग न रहें।

४ शिक्षा अहिंसा की शक्ति विकसित करने के लिए है। अहिंसा का रास्ता शासन-मुक्ति का है। शिक्षा जितनी ही अधिक शासन उतना ही कम।

५ देशभर म एक दो जगह पूर्व बुनियादी से विश्व-विद्यालय तक शिक्षा का सुव्यवस्थित नमूना खडा किया जाय। शिक्षा स्कूल तक सीमित न रहे, पूरे समाज को अपनी परिधि के अन्तगत समझे।

श्री चित्तभूषणजी—

१. शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा ही हो। एक सेंट्रल नयी तालीम रिसर्च इस्टीट्यूट बने, जिसमें चौदहो भाषाओ के लिए स्थान हो। सेंट्रल के अलावा रीजनल केन्द्र हो। हर जिले म शिक्षा का एक सघन क्षेत्र हो। अलग-अलग परिस्थिति के विद्यार्थियो के लिए अलग दिनचर्या, पाठ्यक्रम, छुट्टी आदि की योजना बनानी चाहिए।

श्री पथिक जी—

शासन के द्वारा नयी तालीम अपनी राह नही जा सकती। सरकार मन्दिर बना सकती है, मूर्ति की स्थापना नही कर सकती। शास्त्रियो और विशेषज्ञो की श्रद्धा बन गया है कि जबतक मनुष्य गाँव से शहर मे नही चला जाता, सम्भवत शहरी नही हो जाती, उसका विकास नही हो सकता।

एक क्षेत्र-विशेष में शिक्षा को सगठित करने के लिए स्काउटिंग-जैसा अभियान चलाया जाय।

डा० आरम्—

सीमावर्ती क्षेत्रो के सन्दर्भ में विचार—

१. आदिवासियों में शिक्षा की भूख है। दस्तकारी में उनकी दक्षता है, लेकिन शिक्षा के कारण उनकी बेकारी बढ़ रही हैं। हम एक राष्ट्र के है, ऐसी भावना उनमें नही है।

२ उनके अभ्यासक्रम में जेनरल उद्योग-जैसा उपयोगी विषय नही है। शिक्षको की भी कमी है।

श्री इदुमतिबेन—

बुनियादी शिक्षा की विफलता की जिम्मेदारी सरकार पर नही, हमारे ऊपर है। हमने बुनियादी शिक्षा को प्रतिष्ठा नही दी। इस शिक्षा में शिक्षक पर बहुत अधिक बोझ पडता है और समाज भी इसके मूल्यो को स्वीकार नही करता। मध्यम वर्ग शरीर-श्रम से विमुख रहना चाहता है।

श्री असरानी—

लायक आदमी को अवसर दिया जाय कि वह काम करके दिखाये। शासन आँकडे दिखा देता है, काम नही करता है। एक निश्चित अवधि के भीतर सब स्कूलो पर बुनियादी का रग चढा दिया जाय।

दिन का आधा समय क्रियाशीलन को दिया जाय। शिक्षा समवाय की पद्धति से ही दी जाय और उसके लिए शिक्षको को तैयार किया जाय। जाँच के लिए मूल्याकन हो, फार्मल परीक्षा न हो।

स्कूल को एक कम्युनिटी मानकर चलें और शिक्षक को प्रयोग और अनुभव की छूट मिले। शिक्षा के लिए धन कई स्रोतो से प्राप्त किया जा सकता है—दान से, उत्पादन से, विद्यार्थियो और शिक्षको के श्रम से।

श्री अमरनाथ विद्यालकार—

१ रीओरियेन्टेशन की कल्पना स्पष्ट की जाय। एक सेन्ट्रल बोर्ड आव् एजूकेशन बने, जो शिक्षा को बेसिक की ओर ले जाय।

श्रीमती सौन्दरम्–

हर ट्रेनिंग स्कूल बेसिक हो जाय। हर राज्य में एक बेसिक एजूकेशन बोर्ड हो। उसी तरह पोस्ट-बेसिक में "लाइट इंजीनियरिंग" दाखिल हो। लड़कियों के लिए "होम मायन" और किचेन गार्डेनिंग पर विशेष जोर दिया जाय।

श्री अण्णा साहब–

१. प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के स्तर पर गाँव के समग्र विकास के साथ जोड़ी जाय। गाँव के विकास से गाँव की शिक्षा के लिए धन–मुख्यत चालू खर्च–निकलेगा।

२ इस कल्पना में पूरा गाँव ही स्कूल है, जिसमें प्रौढ़ पहला विद्यार्थी है बच्चा दूसरा। शिक्षक गाँव का मार्गदर्शक है क्योंकि स्कूल दस-पन्द्रह साल बाद की स्थिति का प्रतिनिधि—प्रतीक है।

३ ऐसे स्कूल में केवल पेशेवर शिक्षक ही शिक्षण का काम नहीं करेगा बल्कि हर कुशल किसान और कारीगर शिक्षक होगा।

४ जिस तरह गाँव का विकास गाँव की शिक्षा के साथ जुड़ेगा उसी तरह क्षेत्र का विकास हाई स्कूल के साथ। हर शिक्षक और विद्यार्थी को मालूम होना चाहिए कि उसके क्षेत्र के भावी विकास का स्वरूप क्या है और उसका क्या स्थान और उत्तरदायित्व है।

ब्लाक के नमूने पर जिले का विकास विश्वविद्यालय की शिक्षा के साथ समन्वित रहेगा। हर विद्यालय अपने स्तर पर स्थानीय समस्याओं के शोध समाधान और मूल्यांकन का केन्द्र होगा।

५ शिक्षा की जिम्मेदारी मुख्यत गाँव ले, और सरकार मदद करे। आज स्थिति इसके विपरीत है।

सुश्री जयदेव शाह–

शिक्षा के लक्ष्य स्पष्ट किये जायँ। प्रारम्भिक शिक्षा में अंग्रेजी न हो। देश में एक ही शिक्षा चले।

१ बुनियादी शिक्षा की क्रांतिकारी विशेषता यह है कि उसमें हाथ का काम शिक्षा का माध्यम माना गया है वह किताब के साथ केवल जोड़ा नहीं गया है।

२ बेसिक शिक्षा की पुरानी कल्पना में हम सशोधन के लिए तैयार हो। सरकारी और गैर-सरकारी मत की परस्पर खींचतान बन्द हो। प्राइमरी और हायर सेकेण्डरी शिक्षा एक ही माला के हिस्से माने जायँ। हमारा बहुभाषी देश है इसलिए बच्चे को कई भाषाएँ सीखना जरूरी है। हम अपनी शिक्षा में विज्ञान और टेक्नालाजी को अधिक से अधिक स्थान दें। (अपूर्ण)

●

यह आज की दुनिया का एक विरोधाभास है कि एक ओर तो शिक्षा न केवल प्रगति की, बल्कि जीवित रहने की भी अनिवार्य शर्त बन गयी है, और दूसरी ओर वह समाज की सबसे अधिक उपेक्षित सेवा है। हम अपने आज के अध्यापकों की प्राचीन काल के गुरुओं से तुलना किया करते हैं, लेकिन आज के अपने अध्यापकों की परिस्थिति के अन्तर को हम चुपचाप भुला देते हैं।

—प्रो० हुमायूँ कबीर

●

बिहार में समन्वय-पर्व का महोत्सव

●

काका कालेलकर

अबकी बार बिहार में एक अच्छे काम का प्रारम्भ हो रहा है। दो साल हुए बोधगया में समन्वय आश्रम की स्थापना के द्वारा एक संकल्प ने रूप पकडा है।

बिहार के जनक राजा ने अपने गुरु याज्ञवल्क्य की मदद से एकतावादी वेदान्त का प्रणयन किया। बिहार में जन्मे हुए भगवान महावीर ने अहिंसा का और समन्वयवादी स्यादवाद अथवा अनेकान्तवाद का प्रचार किया। बिहार प्रदेश को, उसका नाम देनेवाले भगवान बुद्ध ने वैराग्य का संदेश दुनियाभर में फैलाने के लिए इसी प्रदेश में भिक्षुसंघ की स्थापना की। गुरुओं के द्वारा भगवान को पहचानकर सारी दुनियाँ में भक्ति और सदाचार का प्रचार करनेवाले सिख सम्प्रदाय के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंहजी का जन्म भी बिहार में ही हुआ। सत्याग्रह के द्वारा सात्त्विकता की पराकाष्ठा करके दुनिया के सब राष्ट्रों को, धर्मों को, संस्कृतियों को सहयोग के लिए एकत्र लानेवाले महात्मा गांधी के कार्य को पहचानकर उन्हें सर्वप्रथम अपनाया बिहार ने ही। और स्वराज-प्राप्ति के बाद सर्वोदय की स्थापना के लिए आध्यात्मिक साम्ययोग चलाने के लिए भूदान ग्रामदान का उपक्रम करनेवाले विनोबा भावे की पदयात्रा को अधिक से-अधिक सफलता प्रदान की बिहार ने। शान्तिसेना का सन्देश भी हृदय से अपनाया बिहार ने ही।

इसी बिहार ने अब सोचा है कि समन्वयवृत्ति बढ़ाने के लिए और समन्वय-प्रवृत्ति चलाने के लिये 'समन्वय-पर्व' नामक एक महोत्सव का प्रारम्भ किया जाय। दशहरा और दिवाली के बीच शरदपूर्णिमा आती है। सनातनी हिन्दू मानते हैं कि बुद्धावतार भी इसी अरसे में हुआ था। प्राचीनकाल के पाटलीपुत्र के नागरिक इसी दिन कौमुदी महोत्सव मनाते थे। उसी दिन एक समन्वय-पर्व' मनाने का बिहार के मनीषियों ने सोचा है। विजया-दशमी से लेकर शरदपूर्णिमा तक ५-६ दिन यह पर्व चलेगा, जिसमें समन्वय के अविरोधी सब विषयों के लोकसुलभ व्याख्यानों के द्वारा ज्ञानसत्र चलेगा। सब धर्मों के प्रतिनिधि एकत्र आकर एक-दूसरे के धर्म में उन्हें कौन-सी बातें आकर्षक लगती हैं, इसका विवरण करेंगे। संगीत, नृत्यनाट्य, संवाद, जुलूस और प्रदर्शनी आदि कलात्मक विभाग भी उसमें होंगे। समाज के सब स्तरों के लोगों को इसका आकर्षण हो, ऐसा प्रयत्न किया जायगा।

राज्यसभा के मेरे साथी गंगाशरण सिंह, मेरे पुराने स्नेही, विख्यात साहित्यिक लक्ष्मीनारायण सुधांशु, (विधान सभा के स्पीकर) बुनियादी तालीम के समर्थक श्री बद्रीबाबू भूदान ग्रामदान-सर्वोदय प्रवृत्ति के कार्य कुशल संचालक श्री सरयुबाबू और कलास्वामी श्री महारथी आदि सज्जनों ने एक कार्यकारी समिति नियुक्त करके समन्वय पर्व शुरू करने का निश्चय किया है।

गांधी-जन्म शताब्दि के आगामी समारोह का मंगला-चरण भी इसी समन्वय पर्व से होगा।

हमें विश्वास है कि बिहार प्रदेश के इस सात्त्विक, प्रसन्न और प्राणवान प्रवृत्ति के साथ भारत के अन्यान्य प्रदेशों का सहयोग होगा ही। ●

समन्वय-पर्व

समन्वय पर्व का एक नया कार्यक्रम काका साहब कालेलकर ने हमारे सामने रखा है।

पर्वों का उन्होंने बहुत अध्ययन किया है और लिखा भी है। वह हम लोगो के लिए बहुत महत्त्व की बात है। पर्वों के द्वारा लोगों के जीवन पर और खास कर के सास्कृतिक जीवन पर गहरा असर पडता है।

उनके ख्याल से बिहार के लिए सबसे अच्छा विचार समन्वय का हो सकता है। विदेशा के लिए भी वह हो सकता है। लेकिन यहाँ तो समन्वय का प्राचीन काल से विचार रहा है। इस पर्व से बिहार के अन्दर यह काम शुरु किया जा रहा है। अगर बिहार म बीस तीस स्थानो पर भी इस प्रकार का आयोजन हो तो अच्छा होगा। हमलोगो का जो सारा काम है, उसका जो ढग है वह समन्वय का ही है। हम सबकी दृष्टि समन्वय की ही है।

अब इस विचार को बिहार म प्रचलित करने, यहाँ की जनता को इस ओर प्रवृत्त करने और इसमे उनकी रुचि बढाने का प्रयास हम करना चाहिए और इसे अपने कार्यक्रम का एक भाग मानना चाहिए।

जब बोधगया में सर्वोदय सम्मेलन हुआ था तब वहाँ के महन्तजी ने बाबा को जमीन दी और वहाँ समन्वय आश्रम की स्थापना हुई। यह भी बिहार के अनुरूप ही कार्य हुआ। बाबा ने काका साहब से प्रार्थना की कि वे समन्वय आश्रम को चलावें।

बडी खुशी की बात होगी कि अगर सन् १९६९ आते-आते समन्वय पर्व ही बिहार मे सबसे अधिक महत्व का पर्व हो जाय। मैं समझता हूँ कि जातिवाद के झगडे पक्षों के झगडे और तरह-तरह के अन्य झगड इससे खत्म हो सकते है और इसके अन्दर से शायद समाज को जोडने की कुछ शक्ति भी पैदा हो सकती है।

—जयप्रकाश नारायण

पटना के भाषण से

सर्वोदय और साम्यवाद

मूल्य १.०० विनोबा पृष्ठ ९५

मेरा गाँव

मूल्य २.५० बबलभाई महेता पृष्ठ : १२०

प्रकाशक सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन,
राजघाट, वाराणसी–१

आज का मानव एक नये जीवन-दर्शन की खोज में है। वह जीवन-दर्शन क्या हो सकता है? कुछ विचारकों ने उस जीवन दर्शन को खोज करते-करते एक विचार पाया, वह था, साम्यवाद! पर खोज पूरी नही हुई। जीवन दर्शन के अन्वेषण का द्वार बन्द नही हुआ। कुछ अन्य विचारकों ने अपनी खोज के परिणाम–स्वरूप जो पाया वह है! सर्वोदय।

विनोबाजी की इस पुस्तक में इन दोनों का तुलनात्मक विश्लेषण है।

गुजरात के प्राणवान सेवक और ग्राम-आन्दोलन के वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री बबलभाई महेता की इस पुस्तक मे अनुभव-कथन की सरसता के साथ ही इस बात का भी बहुत सरस और बुद्धि-सम्मत विवरण मिलता है कि हमारे गाँवों की सेवा करने के मार्ग क्या-क्या है, उन मार्गों पर चलते हुए कौन-कौन से विघ्न खडे होते हैं, उन विघ्नो को स्वय अपनी सूझ-बूझ से दूर करने मे सेवक को सदा के लिए ताजा और प्रफुल्ल रखनेवाला ग्रामवासियो का निर्व्याज प्रेम और सद्भाव किस तरह मिलता है।

हमारा नया बाल-साहित्य

बाल साहित्य की पहली किस्त में पाँच किताबें—बोलती कहानियाँ—भाग एक और दो, शहद का छत्ता कैसे बनता और खेल-खेल में सा ।ना प्रकाशित हो चुकी हैं। अब हम बाल साहित्य की दूसरी किस्त में छह किताबें और प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

इस दूसरी किस्त में हम दो पुस्तकें उन बच्चों के लिए भी निकाल रहे हैं जो अक्षर और गिनती भी नहीं जानते हैं।

एक बाल उपन्यास और एक बाल गीत संग्रह भी योजना में अन्तर्गत है। इसके अतिरिक्त बोलती कहानियाँ का तीसरा और चौथा भाग भी शीघ्र ही प्रकाश में आ जायेगा, ऐसी सम्भावना है।

महात्मा भगवानदीन जी की तीन भागों में छपी बिल्ली की कहानी नामक पुस्तिका बाल उपन्यास की शक्ल में सँज सँवर कर अगले महीने तक प्रकाशित हो जायेगी।

—व्यवस्थापक

सर्व-सेवा संघ प्रकाशन

०

अनुक्रम

●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

नया प्रकाशन

सर्वोदय और साम्यवाद

प्रवक्ता · विनोबा

पृष्ठ ६६। मूल्य एक रुपया।

आज का मानव एक नये जीवन-दर्शन की खोज में है।

वह जीवन दर्शन क्या हो सकता है ?

कुछ विचारकों ने खोज करते करते बरसो पहले एक विचार पाया, और वह था—साम्यवाद।

पर क्या खोज यही पूरी हो गयी ?

नही कुछ अन्य विचारको ने भी खोजा और उनकी खोज के परिणामस्वरूप जो उन्होने पाया, वह है—सर्वोदय।

रस्किन, टालस्टाय, थोरो आदि की परम्परा और पृष्ठभूमि मे गाधी ने सर्वोदय-दर्शन की व्याख्या की।

गाधी के बाद विनोबा ने उस दर्शन का मन्थन किया। 'सर्वोदय और साम्यवाद' नामक पुस्तक में साम्यवाद और सर्वोदय के विचारो का तुलनात्मक विश्लेषण है।

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

मानवीय मूल्यों के विकास के लिए
सर्व-सेवा-संघ-द्वारा प्रकाशित
साहित्य पढ़िए।

लाइसेंस नं० ४६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
सितम्बर '६५ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

आखिरी चोट

मैं पाँच साल का था। गाँव मे पत्थर फोडने का काम चल रहा था। एक दिन मै घूमता-फिरता वही जा पहुँचा। थोडी देर ध्यान से देखता रहा। देखते-देखते मेरे मन मे भी उत्सुकता जाग उठी और मै तैयार हो गया पत्थर फोडने के लिए।

मेरी इच्छा देखकर भी पत्थर फोडनेवालो ने मना किया लेकिन मेरे हठ पकडने पर उन्होने मुझे फोडने के लिए एक पत्थर दे ही दिया।

लेकिन, वह पत्थर जो मुझे फोडने के लिए दिया गया था, टूटने की तैयारी में था। मैंने जब छोटी-सी हथौडी से पहली ही चोट की, तो वह टूट गया।

सभी कहने लगे—"विन्या ने पत्थर तोड दिया!"

उस समय मुझे भी लगा—"मैने पत्थर तोड दिया।"

लेकिन, मेरी चोट से पहले ही उस पर कितनी ही चोटें पड चुकी थीं। मैंने तो आखिरी प्रहार किया था।

वैसे ही आज की दूषित समाज-व्यवस्था को मिटाने के लिए अनेक-अनन्त पुरुष प्रयास कर गये हैं। वह अत्यन्त जर्जर हो चुकी है और टूटने की तैयारी मे है। आवश्यकता है हमें श्रद्धापूर्वक आखिरी चोट लगाने की।

—विनोबा

आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७,१००, इस मास छपी प्रतियाँ २७,१००

प्रधान सम्पादक

धीरेन्द्र मजूमदार

•

सर्व सेवा-संघ की मासिकी

समस्याओं का अनुमान सही-सही लगाना होगा, ताकि उसके शिक्षित किये हुए युवक तथा युवतियाँ भविष्य की समस्याओं के समाधान में समर्थ और सफल नागरिक बन सकें।

इस युग का दो महान देन हैं—विज्ञान और लोकतन्त्र। लोकतन्त्र लोकसम्मति की पद्धति है। स्पष्ट है कि सम्मति का प्रेरणा स्रोत दबावमूलक नहीं हो सकता। वह तो निश्चित रूप से विचार ही हो सकता है। अत लोकतन्त्र की गतिशक्ति (डायनामिक्स) राजनीति नहीं हो सकती और न अर्थनीति ही हो सकती है, वह तो लोकशिक्षा-नीति ही हो सकती है क्योंकि विचार परिवर्तन शिक्षण की प्रक्रिया है। अत सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि इस युग का नेतृत्व जबतक शिक्षक के हाथ में नहीं आयेगा, तबतक न लोकतन्त्र ही पनप सकेगा और न समाज की ही प्रगति हो सकेगी।

लोकतन्त्र के उपासकों का कहना है कि हमारी साधना दबाव पद्धति से सम्मति-पद्धति पर पहुँचने की है। निस्सन्देह दबाकर किसीको मजबूर किया जा सकता है, लेकिन किसी की सम्मति नहीं ली जा सकती। सम्मति लेने की प्रक्रिया तो शिक्षण प्रक्रिया यानी सांस्कृतिक प्रक्रिया ही हो सकती है, अर्थात् वर्तमान महासंकट से मुक्ति, युग की आवश्यकताओं और चुनौतियों से त्राण, तथा सभ्यता के विकास के अगले कदम के लिए, इस युग की अनिवार्य आवश्यकता है कि हम यथाशीघ्र दण्डशक्ति के विकल्प में सांस्कृतिक शक्ति को समाज की गतिशक्ति के रूप में अधिष्ठित कर सकें।

आज शिक्षक समुदाय को युग की उपर्युक्त आवश्यकता तथा चुनौती के सन्दर्भ में विचार करना होगा। प्रचलित लोकतन्त्र की, जो पद्धति चल रही है, उसमें मूलभूत विसंगति है। लोकतन्त्र में जनमत मुख्य तत्त्व है। जन प्रतिनिधि का स्वधर्म है कि वह लोकमत के पीछे चले। काल प्रवाह के साथ कदम मिलाकर लोकमत चले, इसके मार्गदर्शन के लिए जन नायक की आवश्यकता होती है। स्वभावत जननायक जनमत से आगे चलनेवाला होगा। आज की विसंगति यह है कि जनमत के पीछे चलनेवाला प्रतिनिधि ही जनमत को आगे ले जानेवाले नायक के रूप में मान्य है।

आज का लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है, जब समाज में पीछे चलनेवाले लोक प्रतिनिधि से भिन्न, आगे चलनेवाले लोकनायक का अधिष्ठान होगा। जननायक का यह स्थान स्वाभाविक रूप से शिक्षक का है।

—धीरेन्द्र मजूमदार

तालीम का ढाँचा बदले

विनोबा

सितम्बर की दसवीं तारीख। करीब दो बजे का समय। बड़ी चहल-पहल थी बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय (वाराणसी) के मैदान में। शिक्षकों के बीच युग-पुरुष सन्त विनोबा का प्रवचन होनेवाला था। अमराई की घनी छाँव के उत्तरी पार्श्व में बना हुआ मंच देखते ही बनता था! करीब बीस मिनट और शेष थे विनोबा के आने में। एकाएक पश्चिमी क्षितिज से कुछ भूरी, कुछ काली, ऊमसी घटाएँ चल पड़ीं और तूफानी हवा तो कुछ पहले ही पहुँच गयी। फिर क्या था—छूट पड़ीं बूँदें, और बढ़ गया वर्षा का वेग। प्रबन्धकों को पसीना छूटने लगा। अब सभा कहाँ हो, यही प्रश्नचिह्न था सबके सामने। करीब पाँच हजार शिक्षक-शिक्षिकाओं के मन में उत्सुकता, आशंका और प्रतीक्षा का समन्वित-वेग लहरें मार रहा था। बेचारा छोटा-सा हाल महिलाओं को ही शरण देने से पनाह माँग रहा था। आचार्य श्री वंशीधरजी कभी इधर आते, कभी उधर जाते; कभी घड़ी देखते, कभी निरीह आँखों से देखते बरसते हुए बादलों को। लेकिन, अभी दो मिनट शेष थे उस महामानव के आने में, कि हवा रुक गयी, वर्षा थम गयी और आकाश निरीह शिशु-सा मुसकरा उठा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। सभा निश्चित समय पर हुई और उसी अमराई की घनी छाँव में हुई, जहाँ पहले से प्रबन्ध था। —शिरीष

प्रशिक्षण-कार्य काशी नगरी में चलता है, यह बड़ी खुशी की बात है। आज की सभा का यह स्थान भी नयी तालीम के लायक है। श्रोतागण कुछ बैठे हैं, कुछ खड़े हैं। उनका दर्शन तो रमणीय है ही, लेकिन सबसे रमणीय दर्शन है उनका जो बन्दर बनकर शाखाओं पर बैठे हैं।

नयी तालीम का काम है सारे समाज में समानता लाना। बन्दरों के साथ भी अपनी समानता का नाता जोड़ सकते हों तो जरूर जोड़ना चाहिए। तुलसीदास ने रामायण में प्रभु रामचन्द्र की महिमा गायी है। वे कहते हैं कि सेवक बन्दरगण कितने मन्द मति थे कि उनको शिष्टाचार तक नहीं मालूम। प्रभु अगर नीचे बैठे हैं तो हमारा स्थान उनसे भी नीचे होना चाहिए, लेकिन—'प्रभु तरु तर कपि डार पर'—कपि डार पर बैठे हैं और प्रभु हैं पेड़ के नीचे! प्रभु ने—'देखहिं आपु समान'—अपने समान बनाया और उन्होंने अपनी योग्यता उन बन्दरों को दी। रामायण में रामचन्द्र की महिमा गायी गयी है, लेकिन उसमें हनुमान की महिमा भी कम नहीं गायी गयी है।

हृदय व्यापक कैसे बने?

तुलसीदास का बड़ा प्रिय स्थान 'संकटमोचन' यही है। तुलसीदास का शरीर बहुत रुग्ण हो गया तो उन्होंने 'हनुमान बाहुक' लिखा। उन्होंने राम को भी तकलीफ देना उचित नहीं माना। इसी प्रकार नयी तालीम कुदरत के साथ सम्पर्क रखना चाहती है। जिन देशों का कुदरत के साथ सम्बन्ध टूट गया है वे उत्तरोत्तर गिर रहे हैं, उन्नति नहीं कर रहे हैं। इतिहास का अनुभव है कि मनुष्य को कुदरत की सेवा करनी चाहिए, दो हाथों से काम करना चाहिए, कुदरत के

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वी तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करने की कृपा करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

वार्षिक चन्दा
६.००

एक प्रति
० ६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

वर्ष : चौदह

●

अंक : तीन

शिक्षक का स्थान कहाँ ?

स्वतन्त्र देश के नागरिक को देश और दुनिया की परिस्थिति तथा समस्याओं के प्रति नित्य जागरूक रहने की आवश्यकता होती है; लेकिन शिक्षक के लिए तो उससे भी कहीं अधिक जागरूकता चाहिए। प्राचीन काल में, जब विज्ञान की इतनी तरक्की नहीं हुई थी, तब एक ही प्रकार की सामाजिक परिस्थिति कई युग तक समानरूप से चलती थी। तब शिक्षक के लिए इतना काफी था कि वह केवल वर्तमान को ही जाने; लेकिन इस विज्ञान की अति प्रगति के युग में तो शिक्षकों को स्पष्ट रूप से भविष्य-द्रष्टा बनना पड़ेगा।

क्योंकि, उनका आज का छात्र जब शिक्षित युवक बनकर समाज में प्रवेश करेगा, तबतक समाज में इस हद तक आमूल परिवर्तन हो गया रहेगा कि अगर उसका शिक्षण केवल वर्तमान परिस्थिति और मान्यता के अनुसार होगा तो वह अपने को बिलकुल खोया हुआ पायेगा। अतः शिक्षक को वर्तमान के अध्ययन के साथ-साथ काल-प्रवाह की दिशा और रफ्तार का अध्ययन करके अगली पीढ़ी की परिस्थिति तथा

साथ हमेशा सम्पर्क रखना चाहिए और अपना जीवन अधिक-से-अधिक कुदरती बनाना चाहिए।

आजकल की सभ्यता कपड़े और जूतेवालों की सभ्यता है फाउण्टेनपेन और रिस्टवाच की सभ्यता है, लेकिन हवा अच्छी मिले पानी अच्छा मिले, सूर्य की किरणें शरीर पर अच्छी तरह पड़ें, पसीना देह से निकले, आकाश के साथ हृदय का सम्पर्क हो तो जितना व्यापक आकाश बाहर है उतना ही हमारा हृदय विशाल बनेगा। हृदयाकाश की तुलना महाकाश के साथ करते हैं-- हृदय व्यापक बनाने के लिए। आकाश के सम्पर्क से हृदय व्यापक बनता है, लेकिन छोटे-छोटे घरौंदों में रहें तो छोटा-सा आकाश होगा और उससे हृदय भी और छोटा बन जायेगा। किसान, जो खुले खेत-खलिहानों खुले आसमान, और खुले पंच महाभूतों के सम्पर्क में काम करता है इससे उसका हृदय भी विशाल होता है।

यही होगा नयी तालीम का आकर्षण

नयी तालीम की आकांक्षा है कि अपने देश में भेद-भाव मिट जाय। कुछ लोग शरीर-श्रम करते रहें, अच्छी भूख उनको लगे, लेकिन उनको खाना नसीब न हो और कुछ लोगों को जरूरत से ज्यादा खाने को मिले, पहनने-ओढ़ने को मिले, खाना ठीक से पचे न और डाक्टर उनके पीछे लगे रहें, यह ठीक नहीं। पाचन शक्ति-सम्पन्न भूखे लोग और पाचन शक्ति विहीन पेट भरे और सन्दूक भरे लोग---ये दो विभाग अगर देश में बन जायें तो देश में संगीत नहीं रहेगा, न मेल रहेगा समाज में। रहेगा आपस में विरोध, कलह और झगड़ा। इससे देश और दुनिया का भला नहीं होगा।

इसलिए, ज्ञान और कर्म दोनों को एकसाथ जोड़ दिया जाय, यह आदेश भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है। उसी के आधार पर नयी तालीम का विचार बना है। यह कोई नया विचार नहीं है। जब बड़े-बड़े राजाओं के पुत्रों को आश्रम में लकड़ी चीरनी पड़ती थी, गायें दुहनी पड़ती थीं और बहुत सारे महत्व के काम गुरु-सेवा के तौर पर करने पड़ते थे तो उन्हें विद्या स्वत प्राप्त होती थी---'गुरो कर्मातिशेषेण'---गुरु के सौंपे हुए काम करने के बाद बचे हुए समय में। अगर इस प्रकार की तालीम भारत में चले तो यह होगा नयी तालीम का आकर्षण।

शिक्षा-आयोग का निर्माण इतनी देर से ?

आज तालीम के बारे में कुछ योजना बनायी जा रही है, सोचा जा रहा है, कमीशन मुकर्रर हुआ है। मालूम नहीं, नयी तालीम का नसीब क्या होगा ? उस कमीशन से डरने की कोई बात नहीं, उसमें कोई आपत्ति भी नहीं। आपत्ति अगर है तो यही कि कमीशन इतनी देर से क्या नियुक्त किया गया ? १८ साल बीत गये, ऐसी पुरानी तालीम चलायी हमने। इधर (निचली कक्षाओं में) तो बुनियादी तालीम चलायी और उधर ऊपर की तालीम का बुनियादी तालीम के साथ कोई ताल्लुक नहीं रहा। नाम तो उसको बुनियादी तालीम का जरूर दे दिया गया। कमीशन जो मुकर्रर किया गया है उसकी रिपोर्ट आयेगी। होते-होते दो-चार साल लग जायेंगे। २०-२२ साल के बाद तालीम का ढांचा क्या हो, स्वराज में वह तय होगा। मालूम नहीं, इतनी सुस्ती से काम करनेवाली दुनिया में और कोई सरकार है ?

सरकारी सुस्ती की नयी मिसाल !

मैंने जो इतिहास पढ़ा है और आज भी दुनिया के वातावरण से जितना परिचय है उसमें ऐसी कोई सरकार नहीं देखने को मिली---न एशिया में, न योरप में, न अमेरिका में। योरप, अमेरिका का तो सवाल ही नहीं, एशिया में भी मुझे ऐसी कोई सरकार मालूम नहीं, जो इतनी सुस्ती से काम करती हो। लेकिन, इसमें नयी तालीमवालों को डरने की बात नहीं है, देश को डरने की बात है। जो कमेटी मुकर्रर की गयी है वह नयी तालीम के खिलाफ निर्णय लेगी, ऐसी बात तो नहीं है। वह नयी तालीम का निर्णय ले सकती है, उससे भिन्न निर्णय भी ले सकती है और उसके खिलाफ भी निर्णय ले सकती है। वह तो सलाह के लिए है। वह भारत के विभिन्न स्थानों पर जाकर तलाश करेगी, शिक्षण वेत्ताओं के साथ बात करेगी और अपनी योजना सरकार के सामने पेश करेगी। सरकार उसपर विचार करेगी और तब तालीम का रूप तय होगा।

हमें माननी ही होगी गांधी की बात

अभी हमारा मुकाबला (विकास-सम्बन्धी) चीन से हो रहा है, लेकिन चीन में इस समय क्या चल रहा है? वहाँ जो स्कूल चलते हैं, उनके नाम हैं हाफ-हाफ स्कूल, यानी आधे समय सबको मेहनत मशक्कत करनी होगी और आधे समय पढ़ाई करेंगी। मेहनत कोई सांकेतिक तौर पर नहीं कि एक वर्ग गज कपड़ा बना लिया, दो गुण्डा सूत कात लिया और प्रशिक्षण खतम हो गया, बल्कि जैसे किसान और बढ़ई काम करता है, काम करना होगा और आधे समय आजीविका प्राप्त करने की योग्यता तथा आधे समय विद्या सबको समान रूप से प्राप्त करनी होगी।

आखिर महात्मा गांधी की बात सुननेवाला एक देश तो निकल गया—चीन! अब भारत भी उनकी बात सुनेगा ऐसी आशा हम करेंगे। नहीं सुनेगा तो मार खायेगा, हार खायेगा, इसमें कोई शक नहीं क्योंकि समस्याएँ खड़ी होंगी। अगर आप तालीम बढ़ाते हैं तो बेकारी खड़ी होगी और नहीं बढ़ाते हैं तो अज्ञान बढ़ेगा। इस प्रकार यह दो खतरे कि ज्ञान बढ़ायें या अज्ञान, इन दोनों में एक को तो बढ़ाना ही चाहिए। ज्ञान और कर्म का जोड़ हम करें, यह नयी तालीम का बिलकुल सीधा-सादा, सरल तंत्र है। इसमें कोई पेच नहीं कोई समझने में कठिन बात नहीं।

पाकिस्तानी मुकाबला और रंगीन बोतल

अभी तो हमारा मुकाबला पाकिस्तान से हो रहा है। लोग समझते हैं कि सेना भेज दिया है हमारी सेना वहाँ जाकर लड़ेगी, हमको आराम करने में कोई हर्ज नहीं। इसलिए लोग जितना इसके लिए खर्च करना होगा है खर्च करेंगी और हमारा जीवन रात को सिनेमा देखना, दिन में आराम करना, इधर उधर के उपन्यास पढ़ते रहना, रसोई के लिए नौकर रखना आदि चलता रहेगा। शरीर-श्रम जितना कम हो उतना कम करना, फेमिली-प्लैनिंग करना, जिसमें फेमिली पर भार कम हो।

लेकिन, हरेक फेमिली में एक फेमिली-डाक्टर भी होना चाहिए जिस तरह परिवार में माता पिता माने जाते हैं! बच्चे कम हों, ऐसी इच्छा है लोगों की लेकिन हर फेमिली में डाक्टर हो, जिससे निरन्तर रोगी होने की सहलियत रहे। जिस तरह भूख लगती है तो खाने की याचना होती है वैसे ही रोज बीमारी, रोज दवा — कभी लाल बोतल, कभी पीली बोतल, कभी हरी बोतल, पानी का रंग बदलेगा। यह तबतक घर में कायम रहेगा, जब तक मालिक की लाश घर से बाहर नहीं निकलती। तब वह बोतल खाली होगी। यह है योजना!

रक्षा के लिए हम करें क्या?

हमारी सेना लड़ती रहेगी और हमारा आराम अक्षुण्ण चलता रहेगा। बड़े बड़े अक्षरों में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का वाक्य जगह-जगह लिखा होगा—आराम हराम है। यह भी एक साहित्य होगा। उपनिषद से लेकर महात्मा गांधी तक का साहित्य आज कुछ कम नहीं है लेकिन जीवन सारा पोचा होगा, नर्म होगा जैसे पका हुआ टमाटर। अगर इस प्रकार के नागरिक अपने देश में बनेंगे तो देश की ताकत नहीं बनेगी। देश की ताकत केवल लड़ाई के फ्रण्ट पर नहीं बनती, देश की ताकत तो हर फ्रण्ट पर होनी चाहिए। इन दिनों जो लड़ाइयाँ होती हैं उनमें उत्तम उद्योग होने चाहिए उत्तम खेती होनी चाहिए, उत्तम सफाई होनी चाहिए और होना चाहिए उत्तम आरोग्य।

समस्याओं का एकमात्र हल

अभी ऊ थाँ आये हैं और बातें चल रही हैं कि सुलह हो जाय प्रेम से मसले हल हो जायँ। भारत के आराम प्रिय लोग भी चाहेंगे कि सुलह हो जाय। इस तरह आराम प्रिय लोग और सर्वोदय के लोग सभी एक आवाज से चाहते होंगे कि लड़ाई बन्द हो, लेकिन लड़ाई बन्द भी हो जाय तो भी आराम हराम है, क्योंकि भारत में गरीबी बढ़ रही है, मँहगाई बढ़ रही है। सबका हल बिना तालीम में फर्क किये होगा नहीं, हरेक नागरिक के हाथ से कुछ-न-कुछ उत्पादन होना ही चाहिए। शहरवाले फ्लावर-पाट की जगह गमला में तरकारियाँ बोना शुरू करें, ताकि उत्पादन में सब लोग हिस्सा ले सकें। गाँववाले तो तरकारियाँ पैदा ही करते हैं।

भारत पर आज आपत्ति है कि प्रति व्यक्ति दूध कम, प्रति व्यक्ति अनाज कम, प्रति व्यक्ति तरकारी कम,

लेकिन आज प्रति व्यक्ति तम्बाकू ज्यादा, प्रति व्यक्ति सिगरेट ज्यादा, प्रति व्यक्ति शराब ज्यादा। ज्यादा और कमवाला बँटवारा जो हिन्दुस्तान में हुआ है उससे इन दिनों जिन्दगी की प्राथमिक आवश्यकताओं का उत्पादन कम हुआ है। उत्पादन बढाने में तो कोशिश की गयी है लेकिन प्रति व्यक्ति उत्पादन उतना नहीं बढा, और दूसरी चीजें बहुत बढ गयी जो हानिकर हैं।

तम्बाकू और शराब की आमदनी कबतक ?

सरकार भी सोचती है चलो तम्बाकू बचकर डालर मिलेगा और शराब से आमदनी होती है। सोचने का यह गलत ढंग चल रहा है। अगर यह जारी रहेगा और हरेक का उत्पादन काम में हिस्सा नहीं रहेगा तो उत्पादन बढाओ, उत्पादन बढाओ कहनेवालों की संख्या बढेगी। करनेवालों को इज्जत नहीं, उनके पेट के लिए पूरा पोषण नहीं, लेकिन दूसरों को इज्जत बढावे और तरह-तरह के इनाम मिलते रहेंगे तो 'उत्पादन बढाओ उत्पादन बढाओ' कहने से कुछ बढेगा नहीं।

इसलिए बहुत जरूरी है कि तालीम का ढाचा बदले। प्रत्येक मनुष्य में शरीर-श्रम की निष्ठा पैदा हो। निष्ठा पैदा कैसे हो, इसके लिए गांधी ने कहा—घर में बैठे बैठे चरखा कातो। आधा घण्टा भी कातेंगे तो कुल मिल की बराबरी हो जायगी और उत्पादन बढेगा। इस तरह की छोटी छोटी हिदायत देश को उन्होंने दी।

हमारा दिमाग बडी-बडी चीजों में लग गया है और छोटी चीजें हमें आकृष्ट नहीं करतीं लेकिन यही छोटी चीजें, जब करोडों हाथों से होती हैं तो उनका आकार बडा हो जाता है और अगर उसमें सबका सहयोग होता है तो उससे हार्दिक एकता बनती है आध्यात्मिक एकता पैदा होती है और देश को मिलती है एक प्रेरणा। यही है नयी तालीम का सार। ●

बाग लहलहा उठे

●

विनोबा-कथित

पचवटी में राम से परशुराम दूसरी बार मिले तो वे पौधे सींच रहे थे। कुशल पूछने पर परशुराम ने बताया कि इन दिनों में जंगल काटकर नयी बस्तियाँ बसा रहा हूँ।

अपने स्थान पर पहुँचकर परशुराम ने ब्राह्मणों को बुलाया और कहा—"राम मेरे गुरु हैं। जब धनुष-यज्ञ के समय वे मिले तो उन्होंने मेरा रास्ता ही बदल दिया और तभी से मैं सेवा में लगा हूँ।"

"इस बार उन्होंने क्या उपदेश किया ?"

"उपदेश तो उन्होंने कुछ नहीं दिया, लेकिन जब मैं उनसे मिला तो वे पौधे सींच रहे थे। इससे मैंने सीखा कि अगर हम लोग यों ही पेडों को काटते रहे तो एक दिन इनका नामोनिशान भी न रहेगा। इसलिए काटना बन्द करके हमें नये पेड-पौधे लगाना चाहिए।"

फिर क्या था—जुट गये हजारों हजार हाथ पेड-पौधों को लगाने, सींचने और गोडने में। कुछ ही दिनों में फलदार पेडों के बाग लहलहा उठे। ●

विचार-प्रेरित सार्वभौम सिद्धान्त से वफादार रहकर कौशल बढाना और कौशलयुक्त श्रम से समाज की सेवा करना ही है संस्कारी जीवन। उस जीवन के लिए हमें, जो तैयार करती है उसका नाम है तालीम। —आचार्य काका कालेलकर

छात्र और अनुशासनहीनता

रामनयन सिंह

आज हर कोने से यह आवाज सुनाई पड़ती है कि भारतीय छात्रों में अनुशासनहीनता है। नेताओं के भाषणों और पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों में बहुधा यही आवाज गूंजती है। यह आवाज जितनी तीव्र रूप में आज सुनाई पड़ती है उतनी पहले नहीं थी।

व्यक्ति का अपनी इच्छाओं और कार्यों पर इस प्रकार नियंत्रण करना कि उसका और समाज का विकास हो, सच्चा अनुशासन है। अनुशासित व्यक्ति सामाजिक मूल्यों का आदर करता है। वह स्वत: अपने व्यवहार को समाज-स्वीकृत आकृति देता है। सामाजिक मूल्य और व्यवहार-मानक देश और काल के अनुसार बदलते रहते हैं। विकास और उन्नति की दिशाएँ बदलती रहती हैं। फलस्वरूप अनुशासन का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है।

विद्यार्थी का यह परावलम्बन !

भारतीय समाज संक्रमण-काल से गुजर रहा है। इस समाज में सबको समान अधिकार नहीं रहा है। जन्म से ही व्यक्ति छोटा या बड़ा हो जाता रहा है। हम लोगों ने सदा अधिकारी की आज्ञा पर चलना सीखा है। फलस्वरूप परावलम्बन भारतीय व्यक्ति की विशेषता हो गयी है। लोग अपेक्षा रखते हैं कि दूसरे उनके लिए काम कर दें। स्वयं आगे बढ़कर कार्य शुरू करने की न तो कोई इच्छा है, और न उत्साह। वह कार्य तभी करता है, जब उससे करवाया जाता है। विद्यार्थी स्वयं परिश्रम करके ज्ञान अर्जित करने की अपेक्षा पका-पकाया माल चाहता है। वह नोट चाहता है और चाहता है 'गेस क्वेश्चन'। यह परावलम्बन जीवन के हर क्षेत्र में स्पष्ट है। भारतीय समाज प्राधिकारवादी समाज रहा है।

किन्तु, आज भारतीय जीवन-शैली नया मोड़ ले रही है। जाति-पाँति और ऊँच-नीच के बन्धन टूट रहे हैं। प्राधिकारवादी समाज को जनतांत्रिक समाज में बदलने का प्रयत्न हो रहा है। नये मूल्य और नये मानक अपनाये जा रहे हैं। ऐसे परिवर्तन एक झटके में नहीं होते। इसमें समय लगता है और आदत बनानी पड़ती है। ऐसे समय भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। विद्यार्थी-समाज भी उसी का एक अंग है। अनुशासनहीनता आज विद्यार्थी-समाज में ही नहीं है बल्कि भारतीय जीवन के हर पहलू में इसका दर्शन होता है। जिन मूल्यों की अपेक्षा व्यक्ति से की जाती है उसके समतुल्य वह नहीं ठहरता। फिर जब समाज के मूल्य और मानक ही अस्थिर हैं, बनाये जा रहे हैं तो व्यक्तियों के व्यवहार में क्रमबद्धता कैसे आ सकती है? इस प्रकार यह अनुशासन की समस्या तो बहुत कुछ इस संक्रमण काल की उपज है। फिर भी इस समस्या को यों ही टाला नहीं जा सकता। इस दिशा में सोचना और प्रयत्न करना हर भारतीय का कर्त्तव्य है, और यही है नये मूल्यों की माँग।

अनुशासनहीन छात्रों के लक्षण

छात्रों के किन व्यवहारों को नये समाज में अवांछित समझा जाता है? जिन व्यवहारों के कारण छात्र को अनुशासनहीनता की सजा मिलती है वे प्रमुख व्यवहार इस प्रकार हैं—कक्षा में पढ़ाई के समय अनुपस्थित रहना और इधर-उधर घूमना, समय पर स्कूल न पहुँचना, कक्षा-कार्य में ध्यान न लगाना, दलबन्दी करना, लड़ाई-झगड़ा करना, गृह-कार्य पूरा न करना, अध्यापकों के प्रति उचित आदर न दिखाना, नियमोल्लंघन करना, सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना, चोरी करना,

परीक्षा में नकल करना, दीवालो पर अश्लील बातें लिखना, लडकियो के प्रति अभद्र व्यवहार करना, अभिभावको से प्राप्त धन आवश्यक कार्य में न लगाकर इधर-उधर अनावश्यक रूप से खर्च करना आदि-आदि।

यह अनुशासनहीनता क्यो ?

छात्रो म इस प्रकार के व्यवहार की दिनादिन वृद्धि क्या होती जा रही है ? बालक स्वभाव से चचल होता है। कहा भी गया है कि बालक बानर एक स्वभाऊ। फिर भी छात्रा की जिस अवस्था म अनुशासन-सम्बन्धी समस्याएँ आती है वह है किशोरावस्था। यह समय वैज्ञानिको की दृष्टि म सक्रमण-काल होता है। इसे व्यक्ति के जीवन का समस्या-काल कहा जाता है। इस समय अनुकूलन सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठ खडे होते हैं। किशोर में सवेगात्मक अस्थिरता रहती है। उसके जीवन मे इसी समय अनेक तूफान और तनाव आते हैं।

फलस्वरूप उसके व्यवहार मे अस्तव्यस्तता आ जाती है। इस तरह थोडी-बहुत अनुशासनहीनता तो इस काल का सामान्य व्यवहार है ही। इस समय किशोर के व्यवहार के प्रति अभिभावको और शिक्षको को विशेष चिन्तित होने की बात नही। बालक पैरो पर चलने के पहले घुटनो पर रेगता है। उस अवधि में घुटनो पर रेगना चिन्ता की बात नही होती। वह तो विकास का क्रम है। जिस प्रकार बालक दूसरो के उकसाने से स्वत पैरो पर चलना सीख जाता है उसी प्रकार सतकतापूण सहानुभूति और निर्देशन से किशोर अनुशासित प्रौढ के रूप में ढल जाता है।

अनुशासनहीनता की समस्या क्यो ?

अब प्रश्न उठता है कि जब अनुशासनहीनता किशोरावस्था की सामान्य बात है तो पहले की अपेक्षा इधर अनुशासन की समस्या क्यो अधिक चर्चा का विषय बन गयी है ? स्पष्ट है कि अनुशासनहीनता सामान्य की सीमा लाँघ चुकी है, क्योकि किशोरावस्था की अनुकूलन-सम्बन्धी समस्याओ के अतिरिक्त अन्य कारक भी नियारत हैं। प्रश्न उठना है—ये कारक कौन-कौन से हैं ?

१ सक्रमण-काल के कारण सर्वत्र अनुशासनहीनता का ही पर्यावरण है। ऐसे समय विद्यार्थी भी उससे अछूते नही रह सकते।

२ छात्रो की सख्या में बडी तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। वर्तमान शिक्षा-सस्थाएँ, यद्यपि उनकी सख्या में वृद्धि भी हुई है, उन्हें समेटने में असमर्थ हो रही हैं। पहले शिक्षा-सस्थाओ में पढनेवालो की सख्या कम होती थी। उनका आसानी से नियत्रण हो जाता था। आज वैसी हालत नही रही। अध्यापको और विद्यार्थियो की सख्या में ऐसा सम्बन्ध नही रह गया कि व्यक्तिगत सम्पर्क सम्भव हो। सख्या में बेजोड वृद्धि से मानवीय मूल्यो का ह्रास होता है।

३ छात्रा की अनुशासनहीनता की बहुत बडी जिम्मेदारी वर्तमान परीक्षा-पद्धति पर है। सामान्य विद्यार्थी वर्षभर अध्ययन में सक्रियता नही दिखाता। जब परीक्षा-काल समीप आता है तो वह रात-दिन परिश्रम करता है। कुछ चने-चुनाये प्रश्न तैयार करता है और परीक्षा पास कर लेता है। वर्ष के अधिकाश भाग में अवाछित कार्यो के लिए खाली रहता है, क्योकि बाजारू प्रश्नोत्तरियाँ उसकी सहायता के लिए तैयार रहती ही हैं।

यह ठीक है कि यह परीक्षा पद्धति बहुत दिनो से चली आ रही है, लेकिन वर्तमान समय में छात्रो की सख्या-वृद्धि के कारण इसकी उपयोगिता घट गयी है। नये सामाजिक मूल्य के सीखने में इससे बल नही मिलता। छात्र के व्यक्तित्व मे परिश्रम, आत्म-निर्भरता, स्वय आगे बढकर काम करने के प्रति अनुराग तथा अध्ययन और अनुसन्धान की प्रवृत्तियो का समावेश नही हो पाता।

४ आजकल हर गाँव, स्कूल या सस्था में दलबन्दी भरपूर पायी जाती है। अधिकाश शिक्षण-सस्थाओ में छात्रो, अध्यापको और प्रबन्धको में दलबन्दी है। दलो का काम एक-दूसरे को नीचा दिखाना और उखाड फेकना है। अध्यापको और प्रबन्धको की अनुशासनहीनता का असर छात्रो पर पडता है। प्राय अनुशासनहीन छात्रो को किसी-न-किसी अध्यापक या प्रबन्धक का समर्थन मिला करता है।

५ माता-पिता अपने लड़कों को शिक्षण-संस्था में भेज देना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। ऐसे बहुत कम अभिभावक मिलते हैं, जो अपने लड़के के स्कूल के कार्यों में रुचि दिखाते हों। उनकी आँखों से दूर जाकर विद्यार्थी स्वच्छन्द हो जाता है।

शिक्षण-संस्थाओं की ओर से भी विद्यार्थियों के अभिभावकों से सम्पर्क रखने का कोई प्रयास नहीं किया जाता। छात्रों को चरित्र के प्रमाणपत्र दिये जाते हैं। उनमें सभी को 'अच्छा' ही लिखा जाता है। चाहे छात्र विशेष अत्यन्त अनुशासनहीन ही क्यों न रहा हो।

६ बहुधा राजनीतिक दल छात्रों को साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। लगता है, जैसे विद्यार्थी किराये के आन्दोलनकर्त्ता हों, जिन्हें हरेक अपना उल्लू सीधा करने के लिए आसानी से फुसला ले।

७ प्रायः छात्रों के आमोद-प्रमोद का साधन सिनेमा है। सिनेमाघरों में, जो चलचित्र दिखाये जाते हैं उनमें सामाजिक मूल्यों, विशेषकर 'सेक्स'-सम्बन्धी मान्यताओं को बड़ा धक्का पहुँचता है। समाज में, जो कार्य वर्जित हैं, चलचित्रों में बहुधा उन्हीं का रिहर्सल होता है। छात्रों का मन प्रदर्शनों से प्रभावित होता है। सिनेमा के गाने उनकी चेतना में स्वतः स्फुरित हुआ करते हैं। रामायण और गीता को कौन पूछता है? छात्र के बिस्तर पर तकिया के नीचे सिने-गीतों की पुस्तकें मिलेंगी। रास्ते चलते सिसकारी मारना, सीटी बजाना, लड़कियों को सिनेमा का कोई 'जायकेदार भजन' टेरना, विद्यार्थी के लक्षण होते जा रहे हैं।

८ अधिकांश अध्यापकों को अध्ययन-अध्यापन में रुचि नहीं। वे तो अध्यापक इसलिए बने हैं कि कोई दूसरा काम उन्हें नहीं मिला। निम्न आर्थिक दशा के कारण वे हीनता का भाव लिये रहते हैं। अच्छी योग्यतावाले विरले ही इस शिक्षा-व्यवसाय (यद्यपि शिक्षा व्यवसाय नहीं है) की ओर आकृष्ट होते हैं।

सहज अनुशासन आये कैसे ?

समाज और व्यक्ति की वृद्धि, विकास और रचनात्मक कार्यों के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शक्ति सुव्यवस्थित रूप में खर्च हो। इस सुव्यवस्था की कुंजी है मात्र अनुशासन। शिक्षण-संस्थाओं में अनुशासन के कई स्तर होते हैं। पहले स्तर में अनुशासन शिक्षण-संस्था के नियमों और अध्यापक की आज्ञा के पालन से उत्पन्न होता है। विद्यार्थी से आज्ञापालन दो तरह से कराया जा सकता है—

- प्रतिरोध-द्वारा, और
- प्रभाव-द्वारा।

विद्यार्थी जब कभी अवांछित कार्यों में रत पाया जाय, तब उसका मन अध्यापक से प्यार और प्रशंसा के लिए लालायित रहता है। छात्र के अवांछित कार्य के प्रति अध्यापक-द्वारा विरोध सूचित कर देने मात्र से बहुधा वह ऐसे कार्यों से विरत हो जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के दण्डों (?) का सहारा लिया जा सकता है। सामान्य अनुशासित छात्रों के अभिभावकों से सम्पर्क स्थापित करना भी कारगर होता है।

प्रतिरोध के अतिरिक्त शिक्षण-संस्थाओं का वातावरण ही ऐसा बनाया जा सकता है कि छात्रों में अनुशासनहीनता पनप ही न पाये। यदि संस्था के नियम न्यायपूर्ण हैं, और छात्रों को उनकी उपयोगिता स्पष्ट है तो उनके उल्लंघन का प्रश्न ही सामान्य रूप से पैदा नहीं होता। यदि संस्थाओं के अधिकारी संस्था और विद्यार्थी दोनों के हित पर समुचित रूप से ध्यान दें तो अधिकारी और छात्रों के बीच का संघर्ष बहुत कुछ कम किया जा सकता है। यदि अध्यापक प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व का है, अपने विषय का पारंगत है, स्वयं अनुशासित रहता है और छात्रों के प्रति निष्पक्ष भाव से सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है तो छात्रों की अनुशासनहीनता टिक नहीं पायेगी।

यही है अनुशासन का सही रूप

उपर्युक्त दोनों विधियों में बाह्य बाध्यता निहित है। अनुशासन का दूसरा स्तर वह है जब छात्र स्वयं अनुशासन की दिशा में प्रयत्नशील होता है। किसी बाह्य बाध्यता के न रहने पर भी वह आन्तरिक प्रेरणावश अनुशासित रहता है। वास्तव में यही है अनुशासन का सही रूप। ऐसा अनुशासन दो दशाओं में उत्पन्न होता है—

१ व्यक्ति में सद्विचार या अन्तरात्मा के जागने से। अन्तरात्मा की रूपरेखा इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति का जीवन दर्शन क्या है? उसने कि नैतिक मूल्यों को आत्मसात् किया है? वह किन बातों को अच्छा या बुरा समझता है?

२ कार्य के प्रति लगन से। इसमें एक विशिष्ट प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता होती है। उसके अनुसार वह स्वतः अपने को अनुशासित करता है।

इस प्रकार के अनुशासन के लिए यह आवश्यक है कि घर, शिक्षालय, और बाहर समान रूप से नैतिक मूल्यों पर बल दिया जाय। छात्रों की रुचि अध्ययन में हो, इसके लिए उन्हें उनकी योग्यता तथा रुचि के अनुसार विषय मिलने चाहिए। यहाँ मनोवैज्ञानिक निर्देशन की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षालयों को विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्य करने का अवसर छात्रों को देना चाहिए।

छात्रों की अनुशासनहीनता को रोकने के लिए आज शिक्षण-संस्थाओं और उनसे सम्बद्ध अधिकारियों तथा सरकार को नीचे लिखे पथप्रदर्शक सिद्धान्तों के आधार पर प्रयत्नशील होना चाहिए—

१ योग्य व्यक्ति ही अध्यापक हो,

२ संस्थाएँ ऐसा वातावरण बनायें, जिसमें ईमानदारीपूर्वक कठिन श्रम से अध्ययन करने का अवसर मिले, और

३ विद्यार्थी जिस उद्देश्य से स्कूल या कालेज में आया है, उसके प्रति वह पूरी तरह सचेत रहे। ●

एक लघु कथा

वहम हो गया है!

●

खलील जिब्रान

एक दिन आँख ने कहा—"मैं इन घाटियों से नीली धुन्ध से ढके हुए पहाड़ों को देख रही हूँ। क्या ये खूबसूरत नहीं हैं?"

कान ने सुना और थोड़ी देर बाद कहा—"मगर, पहाड़ हैं कहाँ? मुझे तो वे सुनाई नहीं देते!"

तब हाथ ने कहा—"मैं उन्हें छूकर महसूस करने की बेकार कोशिश कर रहा हूँ। मुझे कोई पहाड़ नहीं मिलता।"

नाक ने कहा—"यहाँ कोई पहाड़ है नहीं, क्योंकि मुझे उसकी खुशबू नहीं आती।"

तब आँख दूसरी तरफ देखने लगी, और वे तीनों उसके ताज्जुबखेज (आश्चर्यजनक) तजरबे की चर्चा करने लगे।

उन्होंने कहा—"मालूम होता है, आँख को जरूर कोई वहम (भ्रम) हो गया है।" ●

बाल-संग्रह-वृत्ति और बाल-प्रदर्शनी

•

जुगतराम दवे

करीब चार पाँच वर्ष की उम्र के बच्चों में संग्रह करके कुछ-न-कुछ रखने की रुचि पैदा होने लगती है। वे अधिकतर उन्हीं चीजों को इकट्ठा करते हैं, जो खुद उन्हीं की होती हैं। अपनी चीजों को न बहुत ज्यादा प्यार करते हैं, बल्कि बड़े ही जतन से सँभाल-कर रखते हैं। यदि घर में माता पिता और बालवाडी में शिक्षिका बालकों की इस स्वाभाविक वृत्ति के प्रति सहानुभूति से काम ले तो इससे उन्हें बडी ही प्रसन्नता होगी।

बच्चों को सहानुभूति अलग अलग प्रकार से दी जा सकती है—

१ जब बच्चे अपने संग्रह की चीजों को दिखाने में रस लेने लगें तो आप अपना कुछ समय देकर उनकी चीजों को दिलचस्पी से देखें।

२ उनकी संग्रह की हुई चीजों को रखने के लिए आवश्यक सामानों को इकट्ठा करके उन्हें प्रोत्साहन और बढावा दें।

३ उनके लिए एक ऐसी जगह का प्रबन्ध कर दें, जहाँ वे अपनी चीजों को आजादीपूर्वक बिना किसी रोक-टोक के रख सकें।

संग्रह-वृत्ति का विकास

बच्चों की इस संग्रह-वृत्ति की मदद से हम उनकी शिक्षा दीक्षा की एक उपयोगी प्रवृत्ति खडी कर सकते हैं और वह प्रवृत्ति है बाल-प्रदर्शनी की। अपने नित्य के जीवन में बालक सहज रूप से जिन चीजों का संग्रह करते हैं बाल-प्रदर्शनी की इस प्रवृत्ति-द्वारा हम उनकी इस स्वाभाविक वृत्ति के लिए एक रास्ता खोल देते हैं, और एक ऐसा वातावरण तैयार कर देते हैं कि उनकी इस वृत्ति में दोषों का समावेश नहीं हो पाता। साथ ही इससे संग्रह की रुचि का विकास तो होता है, लेकिन स्वामित्व की वृत्ति का पोषण कदापि नहीं हो पाता।

बाल प्रदर्शनी की कतिपय खूबियाँ

बालक किन्हीं भी चीजों को अपने संग्रह में इसलिए नहीं रखता कि वे अच्छी हैं, सुन्दर हैं, और किसी-न किसी काम में आने लायक हैं, बल्कि उनपर उसकी ममता तो इसलिए होती है कि वे उसे मिली हैं और वे उसकी हैं।

कभी-कभी माँ-बाप अपनी नासमझी के कारण बच्चों की इस सहज प्रवृत्ति की कीमत नहीं समझ पाते और परिणाम यह होता है कि बच्चे की एकत्र की हुई चीजों के प्रति वे पूरा ध्यान नहीं देते और उन्हें रख-रखाव के लिए सामान मुहय्या करना फजूल काम समझते हैं। परिणाम यह होता है कि बच्चे का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है और उसे अपने उस काम से एक प्रकार की अरुचि-सी हो जाती है।

बालक की इस संग्रह-वृत्ति को प्रदर्शनी की दिशा में मोड देने से, जो एक बडी सिद्धि मिलती है, वह यह कि बालक नित नयी प्रदर्शनियाँ रचाता रहेगा और नित-

चल मेरे घोड़े टिम्बक-टू • • •

१६. पहनने के कपड़ों की प्रदर्शनी,
१७. दरी, आसन और चटाई की प्रदर्शनी,
१८. नित्य पहने जानेवाले वस्त्रों की प्रदर्शनी,
१९. जूतों, चप्पलों और बूटों की प्रदर्शनी,
२०. निजी उपयोग की चीजों की प्रदर्शनी,
२१. विभिन्न प्रकार के अनाजों की प्रदर्शनी, और
२२. चित्रों की प्रदर्शनी।

प्रदर्शनी के मूल में मौजूद शिक्षा

बालकों की समस्त आनन्द प्रवृत्तियों में बाल-प्रदर्शनी की यह प्रवृत्ति अपना एक अलग महत्व रखती है। यह बालक को व्यवस्थित बनाती है। अलग-अलग तरह की चीजों को इकट्ठा करने और उन्हें जहाँ-की-तहाँ पहुँचाने में व्यवस्था की कितनी बड़ी शिक्षा भरी पड़ी है! यह बालकों को विचार करना सिखाती है और उनमें सुसंस्कार डालती है।

चीजों को माँगकर लाते समय उन्हें विवेक और विनय से काम लेना पड़ता है; और विशेषकर प्रदर्शनी की सारी योजना भी समझानी पड़ती है। जब लोग प्रदर्शनी देखने आते हैं, तो उन्हें सारी चीजें दिखाने में भी बड़ों और छोटों को उनके हिसाब से दिखाना-समझाना होता है।

इससे बच्चों में सहकारिता का बीजारोपण होता है। किसी भी प्रकार की प्रदर्शनी अकेले नहीं लगायी जा सकती। पाँच-सात बालकों को इकट्ठा होकर ही काम करना पड़ेगा। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि यह दूसरी किसी भी प्रवृत्ति की तुलना में बालकों को ज्ञान देने का एक उत्तम साधन है। अगर एक बार उन्हें प्रदर्शनी लगाने का शौक लग जाय तो फिर बिना बड़ों की मदद के ही वे इस काम को आसानी और आनन्दपूर्वक कर सकते हैं।

खुद अपने हाथों तरह-तरह की चीजें इकट्ठा करने, उन्हें सुन्दरता-पूर्वक सजाने और दर्शकों को उनके सम्बन्ध की आवश्यक जानकारी देने के सिलसिले में सब चीजों के गुण-धर्म आदि का ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति बालकों में अनायास ही विकसित होती है।
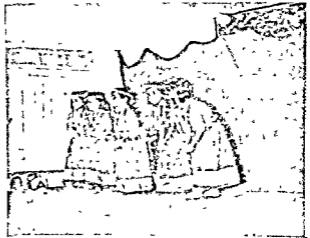
• • • गुड़िया नाचें छुम्मक-छू

समाज, अनुशासन और तालीम—२

०

मनमोहन चौधरी

अपने देश के विद्यार्थियो में फैली अशान्ति, असन्तोप और अनुशासन की समस्या का सही आकलन करने के लिए लेखक ने इस लेख के पूर्वार्द्ध में यह स्पष्ट किया था कि पिछले दो-तीन सौ साल में दुनिया की सामाजिक और वैचारिक परिस्थिति में कितन तीव्रगामी परिवर्तन हुए तथा उनका मानव-मन पर क्या प्रभाव हुआ।

—रुद्रभान

आज के सृजनशील, गतिशील, और सवेदनशील मानव के विकास के लिए शिक्षण का पुराना तरीका—'चमोटी लागे चम चम' वाला बकार है यह स्पष्ट ही है। जहा भय और दण्ड शिक्षण का मुख्य आधार होता है वहाँ मनुष्य का समग्र व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है। उसका सहजात सामर्थ्य या प्रतिभा अविकसित रह जाती है। सद्भाग्य से इस जमाने में शिक्षण के बारे में भी नये सिरे स चिन्तन तथा प्रयोग शुरू हुए। लोकतान्त्रिक सन्दर्भ में स्वाश्र, अपराधीन मानव के विकास के लिए उपयोगी शिक्षण-पद्धति के बारे में चिन्तन और प्रयाग रूसो पेस्तालाजी, फ्रोबेल आदि ने शुरू किया था। माण्टेसरी ने उसको विशेष रूप से आगे बढ़ाया और उस आगे चलकर आधुनिक मनोविज्ञान का आधार मिला। भारत में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन में इसी प्रकार मुक्तता के वातावरण में शिक्षण का प्रयोग शुरू किया था। गाधीजी ने भी नयी तालीम के आन्दोलन के जरिये इसे भारतव्यापी करने की कोशिश की।

इन सबके परिणाम-स्वरूप हम देखते हैं कि दुनिया-भर के प्रगतिशील देशा में बच्चो की परवरिश और शिक्षण के बारे में धारणा बिल्कुल बदल चुकी है। अज्ञात सम्भावनाओ से भरा हुआ बच्चा एक नाजुक पौधे-जैसा है। अत्यन्त सावधानी, सहानुभूति और प्यार के साथ उसे विकसित होने का अवकाश देना चाहिए, मदद करनी चाहिए, यह बाल-शिक्षण का बुनियादी सिद्धान्त बन चुका है। इस मामले में पूँजीवादी अमेरिका स लेकर साम्यवादी रूस तक सर्वत्र एक सर्व-सामान्य एकता देखने को मिलेगी।

शैक्षिक प्रयोगो की उपेक्षा क्यो ?

माध्यमिक तथा ऊपर के स्तर में अभी यह नयी दृष्टि उतनी व्यापक नही हुई है। तकनीकी क्रान्ति के कारण उद्योग धधो का, जो नया ढाँचा खडा हो रहा है उसमें यान्त्रिक तकनीक तो नयी है पर उसके सगठन की बुनियाद में बहुत सारे पुराने मल्य हैं। कही व्यक्तिगत नफा का आधार है, कही सत्तावाद का। इसलिए इसमें एसे दबाव पैदा हो रहे हैं जो मनुष्य के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और विशेषता के विकास में बाधक हो रहे हैं। सत्ताधारियो और सम्पत्तिवालो की सकुचित दृष्टि के अनुरूप मनुष्यो को साचे म ढालने की कोशिश इन्ही कारणो से हो रही है। इसका असर तालीम पर भी हो रहा है तिस पर भी दूसरे देशो में तालीम के इन स्तरो में भी बहुत सारे नये प्रयोग हो रहे हैं।

लेकिन, इस मामले में भारत पीछे ही रहा है। यहाँ जमाना तो नया आया है, सयोजन के आधार पर आर्थिक विकास का सिलसिला शुरू हुआ है; पर तालीम के बारे में दृष्टि अभी तक मुख्यतया पुरानी ही रही है। उदाहरण-स्वरूप विचार-स्वातन्त्र्य के विकास के बदले बनी-बनायी धारणाओ के कारण धोखा देना ही अपने देश का तरीका रहा है। बाहर के विश्वविद्यालयो के अनुभव रखनेवाले कई मित्रो से मैंने सुना है कि उधर तो विद्यार्थियो को इसके लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अध्यापको के साथ जोरदार बहस करें, उनके द्वारा रखे गये विचारो की धज्जियाँ उडा देने की कोशिश करें, पर अपने देश में चुपचाप सुन लेने की ही आदत अधिक है। कोई विद्यार्थी बहस करने खडा होता है तो उसे अक्सर उद्धत समझा जाता है।

यहाँ के अपने विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो में विद्यार्थियो की सृजनात्मक वृत्ति को मार्ग तथा दिशा देने की चिन्ता नहीं के बराबर होती है। उनकी सामाजिक वृत्तियो को विकसित करने का कोई प्रयत्न नही होता। कल्पना शक्ति का अस्तित्व शायद ही किसी के ख्याल में आता हो। मारपीट का निषेध जरूर हुआ है, पर अनुशासन के बारे में कल्पना मुख्यतया अधिकारवादी रही है। नहीं तो विद्यार्थियो को अनुशासन सिखाने की जिम्मेदारी एन० सी० सी० के जरिए फौज को सौंपने की कल्पना का समर्थन कोई आधुनिक शिक्षण शास्त्री कैसे कर सकता था ?

भोंडी नकल के प्रतीक ये पब्लिक स्कूल !

इतना ही नहीं, आज पैसेवालो तथा बडे अफसरो के तबको में पब्लिक स्कूल, कन्वेण्ट स्कूल आदि का बहुत ही आकर्षण रहा है। देश में कई सैनिक स्कूल भारत सरकार के अभिक्रम से चालू हुए हैं और उनको एक तरह से देश की सर्वोत्तम शिक्षण-संस्था माना जाता है। इगलैण्ड के पब्लिक स्कूल में जरूर कुछ गुणो का विकास होता था और हो रहा है, पर कुल मिलाकर इन गुणो की समष्टि पब्लिक स्कूलो की उपलब्धि को साम्राज्यवादी पराक्रम के लिए ही योग्य बनाया है। निर्भीकता, आत्मविश्वास आदि गुणो के साथ काल्पनिक शक्तिहीनता, कठोरता, वर्ग-अभिमान आदि के विकास में भी ये मदद करते हैं। आज जब इगलैण्ड में पब्लिक-स्कूलो के खिलाफ जनमत खडा हो रहा है, हम यहाँ उसे श्रेष्ठ तालीम का प्रतीक मान बैठे है। सैनिक स्कूल, कन्वेण्ट आदि में अनुशासन का वही तरीका चलता है, जो सौ-सवा सौ वर्ष पहले बर्बर युग में योरप में मान्य था। इस सिलसिले ने जोर पकडा तो इस देश में (फैसीज्म) का ही उदय होगा, समाजवाद और लोकतत्र का नही।

छात्रों के असन्तोष का मूल कहाँ !

शिक्षण की यह अपगता ही मुख्य कारण है, जिससे विद्यार्थियो में अशान्ति और असन्तोष का उद्रेक होता है। यह अशान्ति और असतोष स्वास्थ्य के लक्षण हैं। ये नही होते तो फिर समझना होता कि अपने देश का भविष्य अन्धकारमय है। उडीसा, मद्रास तथा और जगहो में विद्यार्थियो-द्वारा चलाये गये आन्दोलनों के सिलसिले में कई गलत काम हुए, गलत ख्याल के आधार पर आन्दोलन उठाये गये यह सब हुआ, फिर भी उसमें आशा की किरण देखने को मिली कि अपने विद्यार्थियो में अभी भी प्राण है पराक्रम है त्याग-वृत्ति है। वर्षो की गलत तालीम और उपेक्षा उनको मार नही सकी है। देश के किसी बडे सवाल के हल का बीडा वे उठा रहे हैं, ऐसा समझकर उन्होंने आदोलन शुरू किये, उसकी सफलता के लिए बडी मेहनत की, त्याग की तैयारी दिखायी, मार्के की सगठन शक्ति और अपने ढग के अनुशासन का परिचय दिया। ये सब गुण हैं, जिनके आधार पर समाज आगे बढता है, जो किसी राष्ट्र की या दुनिया की प्रगति के लिए सबसे बडी पूंजी है, पर अपनी शिक्षण-पद्धति में इन सबके विकास और विधायक उपयोग के लिए कोई रास्ता नही है, इसकी चिन्ता किसी को नही है।

यह ठीक है कि देश की सामान्य परिस्थिति में दूसरे कारण भी हैं, जिनका असर विद्यार्थी-समाज पर हो रहा है। मँहगाई, अनाज की कमी आदि कारणो से पैदा होनेवाले तनाव से विद्यार्थी भी प्रभावित होते हैं। बेकारी की व्यापक समस्या उनके सामने अपने भविष्य के बारे में एक बडी अनिश्चितता पैदा कर देती है। भाषा, प्रान्त रचना, कौमी सघर्ष आदि क्षोभ पैदा करनेवाली

उक्त सज्जन ने कुछ क्षण तक सोचा, इधर-उधर देखा, फिर उन्होंने कहा—'अच्छा' और तांगे में बैठ गये।' तांगेवाला कह रहा था—'अजी बसवाले तो लखपति हैं, कुछ गरीबों का भी ख्याल रखा कीजिए।'

मैंने पूछा—'भाई, आजकल तो बहुत मँहगाई है, कैसे काम चलता होगा?'

मनुष्य के लिए सहानुभूति से बढ़कर कोई प्रभावशाली मरहम नहीं है। इससे उसको तुरन्त राहत मिलती है और दिल का दुःख शब्द के रूप में निकल जाता है।

तांगेवाले ने कहा—'बाबूजी, आजकल नौ-दस रुपये रोज से कम में काम नहीं चल पाता। छ-सात रुपये तो घोड़े को चाहिए। दो रुपये का दाना सुबह और दो रुपये का शाम को देना होता है। कुल मिलाकर दो-ढाई किलो दाना सुबह और इतना ही शाम को न दें तो काम नहीं चलता।'

मैंने कहा—'फिर भी घोड़ा तो तुम्हारा दुबला ही है?'

वह रो पड़ा। कहने लगा—'बाबूजी क्या करें, पहले पाँच सेर दाना, गुड़ व मसाला देता था। हरी घास चराता था। एक आदमी मालिश करने के लिए नौकर था, तब घोड़ा चमचमाया करता था और यह सब दो रुपये में हो जाता था। अब इतना दस में भी नहीं हो सकता।'

मैंने बात बदलने की दृष्टि से पूछा—'तुम्हारे परिवार के खर्च के लिए कितना चाहिए?'

'चाहिए की बात मत पूछिए, लेकिन चार रुपये रोज से कम में घर में चूल्हा नहीं जलता।'

मैंने कहा—'और तुम रात-दिन तांगा चलाते हो तो तुम्हारा अपना खर्च भी होगा?'

वह बोला—'बाबूजी, आप सब जानते हैं। था तब तो बहुत कुछ था, लेकिन आज तो सारा दरिया ही सूख गया है। फिर भी दिन भर खट-खट करता हूँ तो रुपये-बारह आने तो चाय और बीड़ी-तम्बाकू में लग ही जाते हैं।'

इतने में बस पीछे से आयी और निकल गयी।

उक्त सज्जन बोल उठे—'देख, बस तो निकल भी गयी। मैं बस में जाता तो जल्दी पहुँच जाता न?'

मेरे पास एक भाई और बैठे थे। वे कहने लगे—'भाई साहब, आपको दो-तीन मिनट देर से पहुँचने पर कोई बड़ा हर्ज न होता हो तो बस में बैठकर जाने के बजाय तांगे में बैठकर जाना ही अच्छा है।'

मैंने कहा—'उससे आप एक मानव-परिवार के अपने ही देशवासी नागरिक और घोड़े-जैसे मानव के सहायक पालतू पशु के भरण-पोषण में सहायक होते हैं न?'

वे कहने लगे—'लेकिन घोड़े और बस का मुकाबला कैसे हो सकता है! वह आज के जमाने में कैसे टिकेगा?'

मैंने कहा—'अन्धी दौड़ में बिलकुल नहीं टिकेगा। घोड़े और ऊँट कम हो रहे हैं, शायद खत्म भी हो जायें, लेकिन हमारी आँखें खुली रहें और हृदय जागृत हो तो वे भी जिन्दा रह सकते हैं, गरीबों को रोजगार भी मिल सकता है, और यन्त्र भी अपनी जगह पर रह सकता है।'

मेरे खादी के वस्त्रों की तरफ संकेत करके वे बोले—'पर आज तो आपकी सरकार है, वह यह सब क्यों नहीं सोचती?'

मुझे हल्की-सी झल्लाहट आयी। मैंने कहा—'भाई सरकार तो जड़ है, लेकिन आप-हम तो चैतन्य हैं, मानव हैं। एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझते हैं, हम ही क्यों नहीं सोच सकते?'

बड़ी चौपड़ आ गयी थी। तांगा रुका और वे सज्जन उतर पड़े और सरकारी दफ्तरों की तरफ मुड़ गये। •

समाजवादी जनतंत्र के प्रहरी प्रो० कुलचिंस्की

•

सतीशकुमार

भारत की पचवर्षीय योजनाओ के निर्माण में पोलैण्ड की सरकार काफी मदद पहुँचा रही थी। उन्ही दिनो मैंने पोलैण्ड के उप राष्ट्रपति प्रो० कुलचिंस्की का नाम सुना था। प्रो० कुलचिंस्की से मिलने का सुअवसर मुझे प्राप्त होगा ऐसी कल्पना भी नही थी परन्तु जब हम अपनी विश्व-पदयात्रा के दौरान पोलैण्ड की राजधानी वारसा पहुँचे तब वहाँ की शान्ति-परिषद के मन्त्री श्री तादउस स्त्रालकोव्स्की ने हमसे कहा कि आप जिस आन्दोलन को लेकर चले हैं, उस दृष्टि से प्रो० कुलचिंस्की के साथ मुलाकात करना आपके लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। श्री स्त्रालकोव्स्की की इस सलाह ने मेरे मन में एक नया उत्साह पैदा किया। मैंने उनसे ही निवेदन किया कि वे प्रोफेसर साहब के साथ मुलाकात के लिए समय तय कर दें। उन्होंने वैसा ही किया भी। प्रो० कुलचिंस्की पोलैण्ड की शान्ति परिषद के भी अध्यक्ष थे। इसलिए हमारे लिए यह मुलाकात और भी अधिक दिलचस्प एव उपयोगी थी।

१० मई १९६३ का दिन। वातावरण मे भरपूर ताजगी। विस्वा नदी की लहरें मई के खूबसूरत मौसम को और भी अधिक आकर्षक बना रही थी। बहुत सबेरे मेरे कमरे के टेलीफोन की घण्टी बजी। श्री स्त्रालकोवस्की ने फोन पर कहा—'आप शीघ्र ही नहा धोकर तैयार हो जायें। आज सुबह ही हम प्रो० कुलचिंस्की से मिलने चलेंगे। मैं उनके इस सन्देश से बहुत खुश हुआ। बगल मे ही सोये प्रभाकर को जगाकर मैंने यह सूचना दी और जल्दी जल्दी तैयार हो जाने को कहा।

घडी ने १० बजाया। हम अपने होटल 'दोमख्हावा के रेस्तरां में बैठकर काफी पीते हुए सोच ही रहे थे कि प्रोफेसर साहब से किन किन विषयो पर बातचीत करनी है कि श्री स्त्रालकोव्स्की आ पहुँचे। हमसब एक दुभाषिया तरुणी कुमारी रोजमरी को साथ ले, कार से पार्लियामेण्ट भवन पहुँचे। वारसा की यह एक आकर्षक तथा बहुत ही साफ सुथरी इमारत है। पोलैण्ड के जनप्रिय नेता श्री गोमुल्का का भी यहाँ पर एक कार्यालय है। हम सीढियो पर बिछे कोमल कालीन पर अपने जूतो के निशान छोडते हुए आगे बढे। श्री स्त्रालकोव्स्की ने हमसे कुछ आगे बढकर प्रो० कुलचिंस्की के सचिव तथा फोटाग्राफर को हमारे आने की सूचना दी।

हमने ज्यो ही प्रोफेसर साहब के कार्यालय में प्रवेश किया, उन्होने कुरसी से उठकर हमारा स्वागत किया, और एक ओर लगे सोफो पर हम सब औपचारिक अभिवादन के बाद बैठ गये।

लम्बा कद ऊँचा ललाट बडी-बडी आँखें, खिचडी बाल और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी प्रो० कुलचिंस्की ने भारत से आये हुए हम दोनो अतिथियो का पुन स्वागत करते हुए कहा— मुझे भारत और भारतीयो के प्रति एक विशेष लगाव है। मै जब भी किसी भारतीय से मिलता हूँ तो मुझे विशेष आनन्द का अनुभव होता है। आप लोग भारत से शान्ति के आदर्शों का प्रचार करने के लिए पैदल चलकर यहाँ तक आये हैं, यह जानकर

मेरा हृदय आपके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। आपके इस आदर्शवादी तथा साहसिक अभियान के लिए मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।"

मैंने कहा—"आप सबके आशीर्वाद तथा शुभकामनाएँ ही हमें बल प्रदान करती हैं। वही हमारा मार्गदर्शन भी करती हैं।"

प्रोफेसर साहब से हमने अपने सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए कहा—'जिन जिन देशों में हम जाते हैं, जनता और सरकार से यह माँग करते हैं कि वे निःशस्त्रीकरण की दिशा में तीव्र गति लाने के लिए एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण करें। हम पोलैण्ड की सरकार के प्रतिनिधि के रूप में आपसे भी यह पूछना चाहेंगे कि इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?"

प्रोफेसर साहब कुछ क्षण मौन रहे। उसके बाद उन्होंने धीमे, लेकिन गम्भीर स्वर में कहा—'निःशस्त्रीकरण होना चाहिए, इस पर कोई दो राय नहीं हो सकती। अणु शस्त्रों ने आज मानव जाति को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। अगर दुनिया हथियारों की होड़ से बाज नहीं आयेगी तो उसे मिट जाना होगा, पर कौन-सा देश पहल करे, यह एक कठिन समस्या है। सचाई यह है कि कोई भी देश इस प्रकार का खतरा उठाने से घबराता है। कुछ सरकारें ऐसा भी मानती हैं कि एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण से शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जायेगा, इसलिए वर्तमान परिस्थितियों में मुझे एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण सम्भव तथा व्यावहारिक नहीं लगता, और आपसी समझौते के आधार पर दोनों तरफ से एकसाथ कदम उठाना ही ज्यादा व्यावहारिक जान पड़ता है।"

मेरे साथी प्रभाकर ने बीच ही में प्रोफेसर साहब से निवेदन किया कि—"यह तथाकथित व्यावहारिक और सम्भव मार्ग ढूँढने में सभी देश वर्षों से प्रयत्न करके भी असफल रहे हैं।"

"यह ठीक है कि अभी तक कोई हल नहीं मिला है, पर प्रारम्भिक असफलता से निराश नहीं होना चाहिए। प्रयत्न जारी रखा जाय। इसी बीच जन-आन्दोलन और जनमत तैयार करके सरकारों को निःशस्त्रीकरण की दिशा में बढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है ताकि निःशस्त्रीकरण की दिशा में समझौते तक पहुँचने के लिए विश्व की बड़ी शक्तियाँ बाध्य हो जायें।"

शान्ति परिषद के मंत्री श्री स्ताक्नोवुस्की ने भी हमारी चर्चा के बीच भाग लेते हुए कुछ महत्वपूर्ण बातें कहीं। उन्होंने इस प्रसंग पर अपने विचार रखते हुए कहा—'शीतयुद्ध को समाप्त करने के लिए और निःशस्त्रीकरण की मंजिल तक पहुँचने में पैसीफिस्ट आन्दोलनों का भी असाधारण महत्व है। इस तरह के अहिंसात्मक आन्दोलनों का हम सदैव समर्थन करते हैं।'

मैंने प्रोफेसर साहब से पूछा—"हम अभी पश्चिमी देशों की ओर जा रहे हैं। वहाँ की जनता के लिए आपका क्या सन्देश है ?"

प्रोफेसर साहब मेरे सवाल पर मुसकरा पड़े। फिर बोले—"जनता चाहे पूर्व की हो या पश्चिम की वह सर्वत्र एक-सी है समान रूप से शान्ति चाहता है, पर पश्चिमी देशों की सरकारों के रुख में परिवर्तन की आवश्यकता है। अतः आप मेरा यह सन्देश अपने साथ लेते जाइए कि पूर्व से और खासकर समाजवादी देशों से युद्ध का प्रारम्भ नहीं होगा। उन्हें सहअस्तित्व की हमारी नीति पर विश्वास करना चाहिए। एक निःशस्त्र

तथा युद्धमुक्त विश्व के निर्माण में मिल जुलकर हम कदम बढ़ाना चाहिए।

मेरे साथी प्रभाकर ने पूछा—'इसके अलावा भी क्या कोई और संदेश आप हमारे माध्यम से पश्चिमी देशों को देना चाहते हैं?'

प्रोफेसर साहब ने कुछ सोचते हुए कहा— हाँ एक और सन्देश है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। अणुशस्त्रों का विस्तार रोकने के लक्ष्य से हमारी सरकार के विदेश मंत्री श्री रापात्स्की ने मध्य योरप को अणुमुक्त क्षेत्र बनाने की एक तजवीज पेश की है। मुझे उम्मीद थी कि पश्चिमी देश इस योजना का स्वागत करेंगे, परन्तु जर्मनी की अणुशस्त्र प्राप्त करने की होड़ ने इस योजना के महत्व को समझने में बाधा पहुँचायी है। जब आप पश्चिमी जर्मनी जायें तो लोगों से 'रापात्स्की-योजना' के बारे में चर्चा अवश्य करें।

हमारी सारी बातचीत शान्ति के प्रश्न पर ही उलझी हुई थी। मैंने प्रसंग बदलने के विचार से पूछा— आप अपने नाम के पहले प्रोफेसर शब्द का इस्तेमाल करना क्या पसन्द करते हैं?

बड़ा अजीबोगरीब सवाल था। एक जोर का ठहाका लगा जो देर तक कमरे में गूंजता रहा। फिर प्रोफेसर साहब ने उत्तर देते हुए कहा— प्रोफेसर होना यानी शिक्षा के क्षेत्र से सम्बन्धित होना एक गौरव की बात होती है। मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन में शिक्षा का सबसे ज्यादा महत्व है। मुझे याद आता है आपके देश में महात्मा गांधी ने भी शिक्षा को बहुत ऊँचा दर्जा दिया था। अंग्रेजों ने भारत में अपनी नौकरशाही चलाने के लिए जो शिक्षा-पद्धति लागू की थी उसने भारत को बहुत नुकसान पहुँचाया और इसलिए गांधी ने शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन की योजना बनायी। अगर हम समाज में नये मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले शिक्षा की ओर ध्यान देना पड़ेगा। अगर समाजवाद तथा जनतंत्र की नींव को मजबूत बनाना है तो उसका प्रारम्भ शिक्षा के क्षेत्र से ही करना पड़ेगा। मैं अपने नाम के साथ प्रोफेसर शब्द जोड़ता हूँ, इससे आप सहज अनुमान कर सकते हैं कि मैं अपने आपको शिक्षा के क्षेत्र से अलग नहीं रखना चाहता।'

प्रोफेसर साहब का यह विश्लेषण सचमुच अनोखा था। वे बातचीत करते हुए जो लहजा पैदा करते थे वह एक राजनेता से अधिक, एक शान्तिवादी और एक शिक्षाशास्त्री का ही होता था। उन्होंने बातचीत के अन्त में एक और भी महत्वपूर्ण बात कही—'बिना समाजवाद के जनतंत्र कायम नहीं रखा जा सकता, बिना जनतंत्र के समाजवाद अधूरा है। जनतंत्र और समाजवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। समाजवादी व्यवस्था में ही जनतंत्र सफल हो सकता है। पोलैण्ड इस बात का प्रमाण है। हमारे यहाँ विभिन्न दल हैं और उनके विचारों में, जो मतभेद हैं उनका हम आदर करते हैं, परन्तु देश का हित इन सभी मतभेदों से अधिक बड़ा है यह भी हम मानते हैं। अलग-अलग राजनीतिक दलों के लोग सत्ता हथियाने के लिए आपस में लड़ते रहें और देश का हित उपेक्षित होता रहे यह जनतंत्र के नाम पर सत्ता की होड़ है। मैं एक ऐसे समाज की कल्पना करता हूँ, जहाँ समाजवाद और जनतंत्र साथ साथ पनपेंगे और मानवता का कल्याण करेंगे।

हमारी इस बातचीत में लगभग एक घण्टा बीत चुका था। मैंने कुछ और भी प्रश्न पूछने का विचार किया था परन्तु हमारी चर्चा इतनी लम्बी हो गयी कि मैंने अपना विचार स्थगित कर दिया। पोलैण्ड की यात्रा में प्रो० कुल्चिंस्की के साथ की यह मुलाकात एक उल्लेखनीय यादगार बनकर आज भी ज्यों-की-त्यों मौजूद है।●

अच्छी शिक्षा :

नयी परीक्षा

•

तारकेश्वर प्रसाद सिन्हा

डेनमार्क में अनिवार्य शिक्षा ६ वर्ष की उम्र से १४ वर्ष की उम्र तक चलती है। वहाँ अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा का कानून विश्व में सबसे पहले १८१४ ई० में बना था। इंगलैण्ड में यह कानून १८५० ई० में बना। इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा में डेनमार्क इंगलैण्ड से भी आगे है। यही कारण है कि डेनमार्क में आज कोई अपढ़ नहीं है। एक भी गाँव ऐसा नहीं है जहाँ एक सुन्दर विद्यालय तथा एक अच्छा पुस्तकालय न हो।

पाठ्यक्रम की विशेषता

६ से ८ वर्ष की अनिवार्य शिक्षावाले विद्यालय का पाठ्यक्रम बहुत कुछ क्रियाशीलन-प्रधान होता है। विद्यालय में तरह-तरह के क्रियाशीलन चलते हैं। जैसे—मधुमक्खी-पालन, मुर्गी-पालन, गो-पालन, सुअर-पालन, साग-सब्जी उत्पादन, छोटे छोटे करघों पर मिल के सूत से तौलिया आदि की बुनाई इत्यादि। लड़कों को दोपहर का भोजन विद्यालय में ही मिलता है। ऊपर के वर्गों में फल से जैम और जेली बनाना मुख्यतः लड़कियों को बताया जाता है। इस प्रकार के विद्यालय में विज्ञान की भी पढ़ाई पहले दर्जे से ही प्रारम्भ होती है। विज्ञान की पढ़ाई बहुत कुछ बच्चों के रोजमर्रे की घटनाओं से अनुबन्धित होती है।

विद्यालय के पास अपना कारखाना गृह (वर्कशाप) भी होता है। उसमें लड़के अपने यंत्रों की मरम्मत करते हैं। वहाँ बिजली-सम्बन्धी मरम्मत करने के भी काम सिखाये जाते हैं। मोटर-गाड़ियों, मोटर-साइकिलों की मरम्मत करने के तौर-तरीके भी सिखाये जाते हैं। ऐसा मानना चाहिए कि जितने प्रकार के उद्योग देश में चलते हैं उनका छोटा-सा रूप विद्यालय में रखा जाता है। विद्यालयों में मनोविज्ञान के विशेषज्ञ रहते हैं, जो बच्चों की दिलचस्पी तथा इच्छा को देखते रहते हैं। वहाँ भाषा, गणित, विज्ञान, समाजशास्त्र आदि की शिक्षा भी दी जाती है।

बच्चों की मनोवैज्ञानिक जाँच

११ वर्ष की अवस्था में बच्चों की लिखित तथा मौखिक जाँच होती है। जब जाँचफल के पत्रक तैयार हो जाते हैं तब बच्चों के अभिभावकों की बैठक होती है। उनके सामने उनके बच्चे का जाँच-पत्रक तथा विद्यालय के व्यावसायिक निर्देशकों-द्वारा तैयार किये गये बच्चों के विभिन्न स्तरों की सूची रखी जाती है। अभिभावक स्वयं इन आँकड़ों को देखकर पता लगाते हैं कि उनके बच्चे या बच्चियों की क्षमता किस दिशा में है। कुछ लड़के केवल बौद्धिक विकास की क्षमतावाले पाये जाते हैं, किन्तु अधिकांश बच्चों के भीतर रचनात्मक प्रवृत्तियों की विशेषता पायी जाती है।

जिस देश का अधिकांश जीवन विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों पर निर्भर करता है तथा जहाँ आवश्यक वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता अधिक रहती है वहाँ के अधिकांश बच्चों में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अधिक पायी जाती हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष और डेनमार्क के बच्चों में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अधिक पायी जाती हैं। इंगलैण्ड में रचनात्मक कार्य के लिए प्राकृतिक उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत कम पायी जाती हैं, इसलिए वहाँ के अधिकांश परिवार अन्य प्रकार की बौद्धिक चेतना-द्वारा अपना जीवन

यापन करते हैं। वहाँ वे बच्चे में बौद्धिक चिन्ता के संस्कार अधिक दिखते हैं। यहाँ पर यह कहावत ठीक जँचती है कि अधिकतर दार्शनिक रेगिस्तान में ही मिलते हैं।

विद्यालयों की दो किस्में

अस्तु, बच्चों की ११ वर्ष की अवस्था तक शिक्षक और अभिभावक तय कर लेते हैं कि कौन लड़का किस दिशा में जायगा। डेनमार्क का आर्थिक ढाँचा ऐसा है कि अधिकांश अभिभावक अपने बच्चे को १४ वर्ष की उम्र के बाद योग्य कृषक बनाना पसन्द करते हैं। बहुत-से अभिभावक यह चाहते हैं कि उनके बच्चे १६ वर्ष की अवस्था तक स्वावलम्बी बन जायँ। अतः जिन लड़कों में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, उनको एक प्रकार के स्कूल में दर्ज किया जाता है, जिन्हें फ्री मिडिल-स्कूल कहा जाता है। जिन बच्चों में बुद्धि की लब्धियाँ इस लायक होती हैं कि वे विभिन्न विषयों की उच्चतम शिक्षा पा सकें तथा विषय विशेषज्ञ बन सकें, उनको एक दूसरे प्रकार के विद्यालय में शिक्षा दी जाती है। इस विद्यालय का नाम 'एक्ज़ामिनेशन मिडिल स्कूल' होता है। दोनों प्रकार के विद्यालयों में एक वर्ष के भीतर हेरफेर हो सकता है। यदि फ्री मिडिल स्कूल में कोई लड़का मानसिक विकास की क्षमतावाला दीख पड़ता है तो उसको परीक्षावाले मिडिल स्कूल में भेज दिया जाता है। उसी प्रकार यदि एक्ज़ामिनेशनवाले स्कूल में कुछ लड़के ऐसे दीख पड़ते हैं, जिनमें बौद्धिक शिक्षा पाने की क्षमता संदेहपूर्ण दीख पड़ती है तो उनको फ्री मिडिल स्कूलों में भेज दिया जाता है। इस प्रकार लगभग अस्सी प्रतिशत छात्र फ्री मिडिल स्कूलों में ही जाते हैं। केवल बीस प्रतिशत छात्र परीक्षावाले मिडिल स्कूलों में जाते हैं।

फेल-पास का सवाल कहाँ ?

फ्री मिडिल स्कूलों की शिक्षा बच्चों को १४ वर्ष की अवस्था तक दी जाती है। इनमें किसी प्रकार की परीक्षा नहीं रखी जाती। इनका पाठ्यक्रम बहुत कुछ उद्योग-प्रधान होता है। इस पाठ्यक्रम को बहुत-से लड़के ८ वर्ष में ही पूरा कर लेते हैं। कुछ ऐसे लड़के भी पाये जाते हैं, जो इस पाठ्यक्रम को ९ या १० वर्षों में पूरा करते हैं। इस शिक्षा में सफल या विफल होने का प्रश्न नहीं उठता। सफल तो सभी को होना है। किसी को कम समय लगता है और किसी को अधिक। १४ वर्ष तक इस प्रकार की शिक्षा पाकर लड़के एक वर्ष तक विभिन्न उद्योगों में विशेष प्रकार की शिक्षा पाते हैं। इस एक-वर्षीय शिक्षावाले विद्यालय का नाम आर० विद्यालय होता है। आर० का अर्थ है रीयल अर्थात् वास्तविक।

रीयल स्कूलों की योजना राष्ट्र की विभिन्न प्रकार की उद्योग-योजनाओं से सम्बद्ध रहती है। तात्पर्य यह कि आगे के वर्ष में यदि समूचे राष्ट्र में दो हजार यान्त्रिक अभियन्ताओं (मेकनिकल इंजीनियर्स) की आवश्यकता है तो इस वर्ष वास्तविक विद्यालयों से करीब दो हजार इंजीनियर ही तैयार किये जायँगे। उसी प्रकार कृषि-उद्योग में यदि देश भर में अगले वर्ष दस हजार प्रशिक्षित कृषक सहायकों की आवश्यकता है तो वास्तविक विद्यालयों से १०,००० के लगभग ही कृषि प्रशिक्षित कृषक-सहायक पैदा किये जायँगे। इस प्रकार इस विद्यालय से निकले प्रशिक्षित व्यक्तियों को बेकार नहीं बैठना पड़ता।

मर्यादित ऊँची शिक्षा

एक्ज़ामिनेशन मिडिल स्कूलों में प्रत्येक वर्ष परीक्षा होती है। परीक्षा का स्तर बहुत ऊँचा रखा जाता है। जो लड़के उत्तीर्ण नहीं होते, उन्हें फ्री मिडिल स्कूलों में भेज दिया जाता है। इस प्रकार छँटे-छटाये वे ही विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाते हैं, जिनकी बौद्धिक उपलब्धि उत्तम कोटि की होती है। विश्वविद्यालय पहुँचते-पहुँचते छात्रों की संख्या ५ से १० तक रह जाती है। विश्वविद्यालय से निकले हुए छात्र प्रधानाध्यापक, अध्यापक वकील, बैरिस्टर, शिक्षक, प्रशासक, मैनेजर आदि बनते हैं। डेनमार्क-जैसे देश में भी विश्वविद्यालय के स्नातकों में मैंने बेरोजगारी की समस्याएँ पायीं, हालाँकि वह एक कल्याणकारी देश है।

भारतवर्ष में आज सबसे बड़ी समस्या है पढ़े लिखे बेरोजगारों की। एक तरफ विभिन्न उद्योगों में काम करनेवाले प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव दिखता है तो दूसरी तरफ पढ़े लिखे बेरोजगारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। शायद भारतवर्ष के शिक्षाशास्त्री डेनमार्क की शिक्षा प्रणाली का अध्ययन मनन करें तो अपने देश की समस्या आसानी से टल सकती है। ●

पाकिस्तान ने कश्मीर के प्रश्न पर बोलने का अधिकार खो दिया

●

जयप्रकाश नारायण.

भारत और पाकिस्तान के बीच शान्ति और समझौते में मैं अपना विश्वास जारी रखूँगा, क्योंकि मैं समझता हूँ कि दोनों देशों को मित्र के रूप में रहना है। किन्तु, यदि पाकिस्तान इसलिए भारत से युद्ध करता है कि उसे कश्मीर प्रश्न में हाथ डालने का मौका नहीं दिया गया, तो मैं कहूँगा कि समझौते के लिए सद्‌बुद्धि जाग्रत होने तक हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए।

पाकिस्तान और सम्पूर्ण विश्व को यह समझ लेना चाहिए कि हाल की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कश्मीर का मसला, अगर कोई मसला है तो वह कश्मीर की जनता और भारत-सरकार से सम्बन्ध रखता है। इसके अतिरिक्त इसमें सन्देह करने की जरूरत नहीं है कि भारत का वर्तमान नेतृत्व कश्मीर प्रश्न का निपटारा इस ढंग से करेगा, जिससे जम्मू-कश्मीर की जनता को पूर्ण सन्तोष हो।

भारत में लोकतन्त्र है और पाकिस्तान यदि दूर रहे तो कश्मीर के बारे में वहाँ की जनता की इच्छाओं का आदर होगा जैसाकि भारत के अन्य भागों में है।

यह बातें स्पष्ट हो जानी चाहिएँ कि इस प्रश्न पर पाकिस्तान एक आक्रान्ता के रूप में आगे आया है और उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह हमला बन्द कर दे। पाकिस्तान ने यह हमला कश्मीर में दुबारा किया है और बड़े पैमाने पर किया है जिसमें उसका एक ही मन्तव्य रहा है कि वह अपनी शक्ति-द्वारा कश्मीर को हड़प ले। इस प्रकार कश्मीर प्रश्न पर बोलने का अपना अधिकार पाकिस्तान ने खो दिया है।

पाकिस्तान ने कश्मीरी जनता की आशाओं पर कुठाराघात किया है। १९४७ में और इस समय पाकिस्तान-द्वारा किया गया आक्रमण क्या कश्मीरी जनता की इच्छा के विरुद्ध नहीं था? क्या कोई इसमें विश्वास कर सकता है कि पाकिस्तान ने यदि कश्मीर हड़प लिया होता तो वह राष्ट्रसंघ को बुलाकर, वहाँ से सेनाएँ हटाकर, वहाँ की जनता की इच्छाओं को राष्ट्रसंघ के महासचिव-द्वारा जानने की कोशिश करता? यह अभी मालूम नहीं हो सका है कि क्या पाकिस्तान ने उस क्षेत्र में, जिसे आजाद कश्मीर कहा जाता है, कभी जनमत संग्रह कराया है? इससे यह स्पष्ट है कि जनमत संग्रह के विशुद्ध धुएँ की आड़ में पाकिस्तान जम्मू-कश्मीर राज्य को हड़पने के लिए, अनवरत योजनाएँ बना रहा है। ●

नयी तालीम

परिसंवाद—२

[पिछले अक में हम नयी दिल्ली मे आयोजित नयी तालीम के कार्यकर्त्ताओं की राष्ट्रीय विचार-गोष्ठी का प्रारम्भिक अंश प्रकाशित कर चुके हैं। उसी सिलसिले में आगे की चर्चा का सार प्रस्तुत है।—रुद्रभान]

डा॰ राव ने प्रोडक्शन ओरियेण्टेड एजुकेशन की कल्पना का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—

१. शिक्षा का चालू खर्च विद्यालय के विद्यार्थियों और शिक्षकों के उत्पादन से निकले, यह विचार उस समय का था, जब देश में शिक्षा के लिए रुपया नहीं था। आज रुपये की कमी नही है। हमें बच्चों को औद्योगिक मजदूर नही बनाना है। उनका व्यक्तित्व विकसित करना है; इसलिए उत्पादन विद्यालय के अभ्यास का लक्ष्य नही हो सकता, अधिक-से-अधिक आकस्मिक निष्पत्ति ही हो सकता है।

विद्यालय में उत्पादन का इतना ही महत्व है कि विद्यार्थियो में उत्पादक श्रम के लिए अनुकूल वृत्ति का निर्माण हो। उनमें श्रम की प्रतिष्ठा की भावना जगे, उनमें दूसरों के कन्धों पर बैठने के प्रति विरति आये। इससे अधिक शिक्षा में उत्पादन का महत्व नही है। देश प्रत्यक्ष उत्पादन के आग्रह को स्वीकार नही करेगा—कम-से-कम ऊपर के लोग।

देश ने इतना मान लिया है कि शिक्षा में क्रियाशीलता हो, शिक्षा समाज के साथ जुड़कर चले, उसमें लोकतान्त्रिक तत्त्व आयें। इतना हो जाय तो शिक्षा में बेसिक की सुगन्ध आ जायेगी।

२. इस सन्दर्भ में बुनियादी शिक्षा का गुण-स्तर बढ़ाने की आवश्यकता है। उसके लिए योजना-आयोग ने सोचा है कि चतुर्थ योजना में देश के पाँच हजार ब्लाकों में एक-एक सीनियर बेसिक स्कूल खोला जाय। इसी तरह किसानो के लड़कों के लिए जूनियर एग्रीकल्चर स्कूल होंगे।

३. बुनियादी के विद्यार्थियों के लिए युनिवर्सिटी का दरवाजा खोल दिया जायेगा; लेकिन बुनियादी और गैरबुनियादी के विद्यार्थियों के लिए परीक्षाएँ समान होंगी।

श्रीमती आशादेवी

सच्ची शिक्षा वही है, जो समाज की समस्याओं का समाधान सुझाये।

श्री अरुणाचलम्

अगर बच्चे उत्पादक क्रिया करेंगे तो इसमें हानि क्या है? उनके द्वारा उत्पादित सामग्री का क्या इस्तेमाल होगा, यह समाज के निर्णय का विषय है।

श्री काका साहब कालेलकर

बुनियादी शिक्षा में ऐसे क्राफ्ट की बात सोची गयी थी, जिसका राष्ट्रीय महत्व हो, लेकिन मध्यमवर्गीय शिक्षक ने गम्भीरतापूर्वक इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया। उसने दस्तकारी के काम के लिए कारीगर को बुलाया और खुद केवल शिक्षक बना रहा। हम क्राफ्ट को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। अगर यह स्थिति मान्य हो तो हमें परम्परागत कारीगर को शिक्षक बनाना चाहिए। मध्यमवर्गीय शिक्षक को कारीगर बनाने का प्रयोग बहुत हो चुका।

बेसिक शिक्षा मुख्यतः आवासी होनी चाहिए। छात्रावास हो, जिसमें बच्चे रहें, उद्योग चलायें, लेकिन अगर छात्रावास में भोजन की व्यवस्था न हो तो घर जाकर खाना खायें।

बुनियादी शिक्षा में शोषण मुक्ति है—आर्थिक और सामाजिक। क्राफ्ट से दिमाग रचनात्मक बनता है। अब हमें सत्ता और सम्पत्ति से मुक्त होना है, इसलिए बुनियादी के अभ्यासक्रम में आध्यात्मिक समाजशास्त्र की प्रधानता होनी चाहिए। साथ ही स्वयं क्राफ्ट की भी क्षमता बराबर बनी रहे और उसके लिए आधुनिकतम विज्ञान और टेक्नालाजी का प्रयोग हो।

क्राफ्ट का खेती के साथ शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, इसका ध्यान रखना चाहिए। हमारी संस्थाओं में हिन्दू-वातावरण रहता है। यदि नहीं तो अधार्मिकता रहती है। प्रयत्न यह हो कि ऐसा वातावरण बनाया जाय कि सभी धर्मों के लोग एकसाथ रह सकें। यह सब तब सम्भव होगा, जब बेसिक स्कूल के शिक्षक—कम-से-कम मुख्य शिक्षक की दृष्टि जागतिक हो, आध्यात्मिक हो, शोषण मुक्ति की हो।

इसलिए, बुनियादी तालीम का मेल-शान्तिसेना के साथ है। शान्तिसेना के बिना बुनियादी शिक्षक सामाजिक आधार नहीं बनता।

अब समय है कि स्वराज्य की शिक्षा को सर्व-राज्य की ओर मोड़ा जाय। इसके लिए हमें अभेद की नीति से सबके साथ मिलकर काम करना है, इस श्रद्धा के साथ कि दूसरों का विचार-परिवर्तन होगा।

श्री सुब्रह्मण्यम्

१ ११ वर्ष के सभी लड़के-लड़कियों को मुफ्त बुनियादी शिक्षा मिलनी चाहिए।

२ हरेक ताल्लुका में एक पोस्ट बेसिक स्कूल होना चाहिए। बाद में हर पंचायत में उसकी शुरुआत होनी चाहिए।

३ कोई भी सामान्य स्कूल देहाती क्षेत्र में नहीं चलना चाहिए। अगर वहाँ कोई सीनियर स्कूल हो तो उसे पोस्ट बेसिक तक ले जाना चाहिए।

४ पोस्ट बेसिक के मूल्यांकन के लिए एक कमेटी बननी चाहिए, जो छात्रों के काम का मूल्यांकन करेगी और प्रमाणपत्र देगी। पोस्ट बेसिक के छात्रों को आगे की शिक्षा जारी रखने या नौकरी पाने की पूरी सुविधा मिलनी चाहिए।

५ छात्रों का सामाजिक मूल्यांकन करने में स्थानीय लोगों की भी राय ली जानी चाहिए। पंचायत समितियों की शिक्षण समिति के सदस्यों के मार्ग-दर्शन के लिए कैम्प और परिसंवादों का आयोजन किया जाना चाहिए।

६ प्रत्येक राज्य में एक गैरसरकारी राज्य स्तर की शिक्षण-समिति होनी चाहिए।

७ खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड की तरह शिक्षा के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए एक 'स्टेटुअरी बॉडी' का गठन होना चाहिए।

श्री मनुभाई पंचोली

१ एकेडेमिक चर्चा से कोई हल नहीं निकलेगा। सोचना चाहिए कि हमें समझौता क्या करना पड़ता है। या तो हमारी अपनी युनिवर्सिटी हो, जिसमें बेसिक-एजुकेशन के छात्रों को ऊँची शिक्षा की सुविधा हो, या फिर उन्हें जनरल युनिवर्सिटीज में जाने का अवसर हो। हम आईलैण्ड के रूप में नहीं रह सकते। बेसिक एजुकेशन को नेशनल एजुकेशन के रूप में फैलाना चाहिए। ● (अपूर्ण)

उच्चारण की समस्या

•

रविशकर भट्ट

अक्सर हमारी शालाओ में अनेक कारणो से हिन्दी भापा के उच्चारण की ओर ध्यान नही दिया जाता जिससे अभिव्यक्ति दोपपूर्ण रह जाती है। भापा की दृष्टि से उच्चारण की शुद्धता अति आवश्यक है। अत हमारी भापा के ध्वनितत्त्व को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यदि बालक के उच्चारण पर प्रारम्भ में ही ध्यान नहीं दिया गया तो पुन उसमें शुद्ध उच्चारण की क्षमता उत्पन्न करना दुष्कर है।
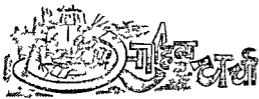
जब बालक शाला में प्रवेश करता है तो उसके पास काफी विचार रहते है और उन विचारो की सामान्य अभिव्यक्ति भी। लेकिन, आज पारम्परिक भापा शिक्षण में उच्चारण की ओर प्रारम्भिक शिक्षण में ध्यान नही दिया जाता, जिससे उच्चारण में दोप उत्पन्न हो जाते है। आज की परीक्षा प्रणाली में मौखिक अभिव्यक्ति की कमी के कारण भी इस ओर ध्यान नही दिया जाता।

उच्चारण पर ध्यान न देने से उसमें कई क्षेत्रीय दोप भी आ जाते हैं, जिससे भापा अनेक रूपो में लक्षित होने लगती है। अशुद्ध उच्चरित शब्द का अर्थ अन्यत्र जा पडता है और यही दोपपूर्ण उच्चारण वर्तनी की अशुद्धियो का जन्मदाता होता है। वाचन की शिक्षा उच्चारण के ज्ञान के अभाव म अपूर्ण रहती है।

मौखिक शिक्षण क्यों ?

प्राचीन काल में जब शिक्षण मौखिक रूप से ही होता था तो उच्चारण पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। हमारी भापा की अन्य कई विशेपताओ मे एक यह भी विशेपता है कि जिस रूप में बोला जाता है उसी रूप मे लिखा भी जाता है। इसलिए भापा ज्ञान शुद्ध उच्चारण के अभाव में अधूरा ही होता है। मुख्यत हमारे क्षेत्र में जबकि हम घर में अपनी क्षेत्रीय बोली का प्रयोग करते हैं उच्चारण एक महत्वपूर्ण अग है।

अध्यापक थोडा सजग रहकर कक्षा में शुद्ध उच्चारण की परम्परा डाले तो बालक भी अनुकरण से सीख सकते है। सामान्य रूप से तो दोपपूर्ण उच्चारण का कारण अक्षर के उच्चारण विन्यास में ज्ञान का अभाव ही होता है, लेकिन कक्षा में अध्यापक यदि उच्चारण को शुद्ध करता रहे तो सम्भव है कि उच्चारण शुद्धता की नीव शुरू में ही पड जाय।

यो तो प्रत्येक भापा का अपना ध्वनितत्त्व होता है। भापा शिक्षण के साथ प्रारम्भिक कक्षाओ में यदि सम्पूर्ण ध्वनितत्त्व को स्पप्ट नही कर सकते है तो भी सामान्यत शुद्ध उच्चारण की परम्परा अवश्य डाल सकते हैं। हमारी नागरी भापा का ध्वनितत्त्व पूर्णरूप से वैज्ञानिक है। प्रत्येक भापा के उच्चारण में दो तत्त्व होते हैं—भौतिक और आन्तरिक, यानी बोलने और समझने के लिए अध्यापक की क्षमता परम अपेक्षित है जो हर अक्षर की ध्वनि को स्पप्ट कर सके। मूल ध्वनि के उच्चारण में शिथिलता आ जाने से भापा का स्तर गिरता जा रहा है।

उच्चारण अशुद्ध : कारण शुद्ध

उच्चारण वातावरण में बनता और बिगड़ता है। बालक शिक्षक का उच्चारण सुनकर प्रयत्न करता है। इसलिए शिक्षक आदर्श वातावरण प्रस्तुत करे, यह अनिवार्य है। शिक्षक भाषा का शुद्ध ज्ञान तभी दे सकता है, जब उसे शुद्ध उच्चारण का ज्ञान हो। जब बालक पढ़ता है तो ध्वनि की स्मृति उसके मानस में सजग हो जाती है तो वह सहसा अर्थ को भी सहज ही समझ लेता है। इसलिए कक्षा में मौखिक कार्य पर भाषा-शिक्षण के समय बल देना चाहिए।

शुद्ध उच्चारण से वाचन का माधुर्य प्रस्फुटित होता है। अध्यापक का उच्चारण शिक्षण वैज्ञानिक उपकरणों और लेखनविधि के अधिक प्रयास के कारण कुछ सुलभ भी हो गया है, फिर भी समस्त जीवन का व्यापार बोलचाल पर निर्भर है। उच्चारण प्रभावोत्पादक होगा तो उसका चरित्र और व्यक्तित्व भी प्रभावोत्पादक हो जायगा और कार्यसिद्धि में सफलता मिलेगी।

उच्चारण-शिक्षण : बड़ा परीक्षण

हमारी शालाओं में स्वर-व्यन्जन की शिक्षा व ज्ञान देते समय छोटी इ और बड़ी ई सिखायी जाती है। यह पद्धति पूर्णत: दोषपूर्ण है, क्योंकि अक्षरों के परिवार में मानवीय परिवार की भाँति कोई छोटा बड़ा नहीं होता। किसी अक्षर का उच्चारण दीर्घ होता है तो वह बड़ा हो गया, ऐसा नहीं समझा जा सकता।

बालक में इस प्रकार के शिक्षण से गलत आदत पड़ जाती है। इससे वर्तनी की अशुद्धि के साथ-साथ उच्चारण का दोष उत्पन्न हो जाता है। शिक्षक को बोलकर 'इ' और 'ई' का अन्तर समझाना चाहिए और इसका अभ्यास कराना चाहिए। इसी प्रकार श, ष, स (तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य स) का बोध भी उच्चारण के अनुसार कराना चाहिए।

कभी-कभी क्षेत्र का क्षैत्र, श्री को सिरी, ऋषि को रिषी भी बोला जाता है और ऐसा अवसर सुनने में आया है कि इन अशुद्धियों पर ध्यान देना केवल भाषा-शिक्षण के लिए ही आवश्यक है, अन्य विषयों के लिए नहीं। यह उचित नहीं है। इसलिए चाहे इतिहास पढ़ रहे हों, चाहे भूगोल, भाषा के शुद्ध उच्चारण तथा लेखन पर सभी अध्यापकों को ध्यान देना चाहिए।

कई पुस्तकों में अशुद्धियाँ रह जाती हैं। इससे भी बालक का उच्चारण बिगड़ जाता है। इसलिए भी भाषा-शिक्षक का दायित्व है कि उस अशुद्धि को ठीक करे। क्षेत्रीय बोली के कारण भी जहाँ उच्चारण में दोष हो, बालक को टोककर शुद्ध उच्चारण का अनुकरण प्रस्तुत करना चाहिए।

बहुधा दुकानों की नाम-पट्टिकाएँ, नगरपालिकाओं के नाम-फलक तथा राजकीय पट्टिकाएँ अशुद्ध लिखी होने से भी बालक के उच्चारण में दोष आ जाते हैं।

वर्णों के अशुद्ध उच्चारण के कारण अक्षर भी गलत लिखे जाते हैं। इसलिए बालक के वर्ण-उच्चारण की शुद्धता की ओर भी ध्यान देना अपेक्षित है। ण और न, ड और ड़, द और ध तथा व और ब का भ्रम अशुद्ध उच्चारण से होता है। शुद्ध बोलने और शुद्ध उच्चारण सुनने से अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं। जिस प्रकार का अशुद्ध उच्चारण होगा उसी प्रकार अशुद्ध रूप से लिखा जायगा।

शिक्षक सावधानी कैसे बरते ?

कक्षा में जितने अशुद्ध उच्चारण हों, अध्यापक को उनका संकलन कर लेना चाहिए और समय समय पर शुद्ध उच्चारण का अभ्यास करना चाहिए। उच्चारण-शिक्षण में स्मरण शक्ति का बड़ा उपयोग होता है। हिन्दी ध्वन्यात्मक भाषा है, इसलिए बालक को एक छोटी-सी पुस्तिका रखनी चाहिए, जिसमें समय-समय पर अपने अशुद्ध उच्चारण को शुद्ध रूप में अंकित कर ले और उसको देखकर अभ्यास करता रहे। अच्छा लिखना जितना आवश्यक नहीं है उतना शुद्ध उच्चारण।

किसी भी बालक का अशुद्ध उच्चारण का स्वभाव पड़ गया हो तो भाषा शिक्षक को उस बालक को व्यक्तिगत रूप से उच्चारण का शुद्ध रूप सिखाना चाहिए। सबके सामने टोक देने से उसका बोलना बन्द हो जायगा या उसके बोलने में झिझक उत्पन्न हो जायगी। कक्षा में सामूहिक रूप से भी शुद्ध उच्चारण की शिक्षा दी जा सकती है।

शारीरिक स्वास्थ्य का बालक के उच्चारण से घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि बालक में सुनने की कमी है तो उसका उच्चारण दोषपूर्ण हो सकता है। इसलिए भी बालक की व्यक्तिगत देखरेख परमावश्यक है।

आज के बालक को पढ़ने की अपेक्षा सुनने का अवसर कम मिलता है, इसलिए कक्षा में ऐसी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना चाहिए जिसमें शुद्ध उच्चारण सुनने का अवसर मिले।

परिस्थिति ऐतिहासिक समस्या सामाजिक

किसी भी भाषा का शिक्षक व छात्र उच्चारण के द्वारा ही भाषा पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। उच्चारण का सम्बन्ध शरीर के भिन्न भिन्न उच्चारणोपयोगी अवयवों से निकलनेवाली ध्वनि से होता है। बालकों में अनुकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है इसलिए उच्चारण की शिक्षा के लिए अच्छे वक्ताओं का सम्पर्क शाला के बालकों को मिलना चाहिए।

स्वराघात के उच्चारण से वक्ता का उद्देश्य पूर्णतया अप्रकाशित रह सकता है इसलिए भी उच्चारण भाषा की मूलाधार और सर्वविद्यमान विशेषता है। वैसे कोई भी दो व्यक्ति ईश्वर की सृष्टि में समान ध्वनि में उच्चारण करते कभी भी नहीं दिखाई दिये हैं। व्यक्ति की ध्वनि में उसके ध्वनि-यन्त्र के आकार से उच्चारण-वैभिन्य होता ही।

परन्तु, भाषा तो एक सामाजिक तत्त्व है। अगर इसके शृंगार की शुद्ध और पवित्र रूप में रक्षा करनी है तो उच्चारण पर बल देना पड़ेगा जिससे भाषा समाज में परस्पर व्यवहार का साधन बनी रहे। इसलिए व्यक्तिगत वैषम्य का उसके उच्चारण में कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

भाषा में उच्चारण पर व्यक्ति और देश से अनिवार्य का प्रभाव रहता है। काल से उस ऐतिहासिक परिस्थिति का अर्थ लिया जाता है, जो किसी भाषा के विशेष घटनाओं की किसी विशेष सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा राजनैतिक अवस्था से उत्पन्न होती है, इसलिए भाषा के अर्थ में उच्चारण का पुष्ट और स्पष्ट रूप होता है।●

—साभार जन-शिक्षण से

लघु कथा

मैं पीड़ा को समझ सकूँगा

●

विष्णु प्रभाकर

वह कोढ़ियों का द्वीप था। रोग और दुर्गन्ध उनके साथी थे। पीड़ा उनकी परिचारिका थी और मौत उनकी डाक्टर। जंगली जातियों में काम करनेवाले एक पादरी ने इस दुर्दशा को देखा और वह वहाँ रह कर उनकी सेवा करने लगा।

सोलह वर्षों बाद एक दिन अचानक उसके पैरों पर उबलता पानी गिर पड़ा। वह काँप उठा, लेकिन उसके पैर पर उस गरम पानी का कुछ असर न हुआ। यह देखकर वह प्रसन्नता से भर उठा।

डाक्टर को पता लगा तो वे भागे आये। उन्होंने पादरी के पैरों की परीक्षा की। फिर कहा—

"आप अभी चले जाइए।"

पादरी ने पूछा—"कहाँ ?"

डाक्टर—"अपने घर।"

पादरी—"क्यों ?"

डाक्टर—"आपको कोढ़ हो गया है।"

पादरी—"यही तो मैं चाहता था।"

डाक्टर ने चकित होकर पूछा—"क्यों ?"

पादरी ने विश्वासपूर्वक कहा—"इसलिए कि अब मैं उनकी पीड़ा को ठीक-ठीक समझ सकूँगा। अब मैं उनका अपना हो गया हूँ। सच पूछो तो उनकी सेवा के योग्य मैं अभी हुआ हूँ।"●

तूफान आन्दोलन के कार्यक्रम की रूपरेखा

[दिनांक ७ से ९ सितम्बर, '६५ तक वाराणसी में तूफान में लगे सक्रिय कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन में स्वीकृत]

तूफान आन्दोलन को सक्षम और सफल बनाने के लिए नीचे लिखे सुझावों पर अमल करना आवश्यक समझा गया —

१ जहाँ आन्दोलन चलाना हो उस क्षेत्र के स्थानिक नेतृत्व को आन्दोलन में शरीक करने पर ध्यान दिया जाय। पंचायतीराज, सेवा-संस्थाएँ, युवक संगठन, राजनैतिक पक्ष आदि इस नेतृत्व के अधिष्ठान होते हैं। इनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाय।

२ ग्रामदानी गाँवों की जनता की शक्ति को आन्दोलन का मुख्य आधार बनाने का प्रयत्न हो।

३ रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे हुए अधिकांश कार्यकर्त्ताओं की शक्ति इस काम के लिए प्राप्त हो। रचनात्मक संस्थाएँ अपनी कार्यकर्त्ता-शक्ति का एक निश्चित भाग इस काम के लिए बारी-बारी दें, जिससे संस्था की एक चौथाई कार्यकर्त्ता-शक्ति तीन-तीन महीने के लिए उपलब्ध हो और कार्यकर्त्ताओं का दसवाँ हिस्सा साल भर के लिए मिले।

४ ऊपर के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यापक पैमाने पर शिविर, सम्मेलन तथा व्यक्तिगत सम्पर्क आदि का आयोजन हो।

५ अखबार, रेडियो आदि साधनों का भरपूर उपयोग हो तथा प्रचार पत्र, पुस्तिका आदि के द्वारा यह कोशिश हो कि अगले साल के अर्थात् १९६६ के अन्त तक भारत के हर गाँव में त्रिविध कार्यक्रम और तूफान का सन्देश पहुँच जाय।

इसके लिए पंचायतीराज, खादी संस्थाएँ, विद्यालय आदि हर प्रकार के तंत्र की मदद ली जाय।

६ विचार को घर-घर पहुँचाने तथा उसका अधिक-से-अधिक व्यापक प्रचार करने के अलावा हर राज्य की सम्मिलित कार्यकर्त्ता-शक्ति किसी-न-किसी चुने हुए क्षेत्र में ही लगनी चाहिए। यही काम का सबसे अधिक कारगर तरीका होगा। इधर-उधर छुटपुट प्रयत्न से शक्ति बिखर सकती है।

७ बिहार, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और बंगाल, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र ऐसे कुछ पड़ोसी प्रान्तों के समीपवर्ती जिलों में ग्रामदानी क्षेत्र हैं। ऐसे क्षेत्रों में इन प्रान्तों की सम्मिलित शक्ति लगने से ग्रामदान के साथ-साथ आन्तरप्रान्तीय सहकार बढ़ सकता है।

८ शहर में विचार प्रचार की ओर भी ध्यान देना जरूरी है, क्योंकि शहर के विचारों का असर गाँवों पर होता है।

९ जिस क्षेत्र में सघन आन्दोलन करने का तय हो वहाँ के सरकारी अधिकारी खास करके विकास-खण्ड-कर्मचारियों की बैठकें करके ग्रामदान की चर्चा की जाय।

१० उपर्युक्त सुझावों पर अमल कराने के लिए सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष ने, जिस समिति का गठन किया है, उसके सदस्य ये हैं—

१ श्री मनमोहन चौधरी
२. श्री चारुचन्द्र भण्डारी
३ श्री एस० जगन्नाथन्
४ श्री रतनदास
५ श्री रामनन्दन सिंह
६ श्री राममूर्ति
७ श्री नरेन्द्र दुबे
८ डा० द्वारकादास जोशी
९ श्री सिद्धराज ढड्ढा
१० श्री गोविन्दराव देशपाण्डे
११ श्री कृष्णराज मेहता (संयोजक)

यह समिति निम्नलिखित कार्य करेगी—

यह समिति तूफान-कार्यक्रम को सफल बनाने की दृष्टि से अपना कार्यक्रम तय करेगी और उम्मीद यह है कि हर माह कम-से-कम एक बार मिलकर सारे आन्दोलन को व्यापक और व्यवस्थित रूप से गठित करेगी। समिति का दफ्तर वाराणसी में ही रहेगा और फिलहाल समिति निम्न प्रकार का काम करे, ऐसा सोचा गया है—

१ जहाँ-जहाँ तूफान-कार्यक्रम उठाया गया है उन प्रान्तों में कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण हो, और यह सारा कार्यक्रम चलाने के लिए उपयुक्त शिविर, सम्मेलन आदि का संयोजन करके कार्यक्रम को संचालित करना।

२ इस कार्यक्रम के लिए आवश्यक साहित्य की तैयारी का इन्तजाम और कम-से-कम एक लाख गाँवों में अगले छः महीने के अन्दर यह साहित्य पहुँच सके, इस दृष्टि से एक विस्तृत योजना बनाना।

३ एक प्रान्त के लोगों को दूसरे प्रान्त के साथियों का अनुभव और मार्गदर्शन मिले, इस दृष्टि से अन्तर-प्रान्तीय सम्पर्क और दौरे का संयोजन करना।

४ अखिल भारतीय या प्रान्तीय रचनात्मक संस्थाएँ इस काम में पूरा सहयोग दें, इस दृष्टि से उनसे सम्पर्क स्थापित करना।

—राधाकृष्ण

प्रतिवेदन

[वाराणसी में पूज्य विनोबा के चार दिवसीय पड़ाव (७ से १० सितम्बर '६५ तक) के अवसर पर सर्व-सेवा-संघ की प्रबन्ध-समिति की बैठक के साथ-साथ तूफान-कार्यक्रम में लगे कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का मुख्य प्रस्ताव नीचे दिया जा रहा है। —राधाकृष्ण]

आज भारत एक संकट की परिस्थिति से गुजर रहा है। मँहगाई, अन्न की कमी, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी आदि का प्रकोप बढ़ा हुआ है और इन सवालों का सामना करने में सामान्य जनता अपने को असहाय महसूस कर रही है। इस असहायता और असन्तोष के सम्मिश्रण से एक भयानक स्फोटक मनोवृत्ति का निर्माण देश में हुआ है, जो जहाँ-तहाँ, जब-तब हिंसक प्रदर्शनों के रूप में फूट निकलती है।

दूसरी तरफ चीन और पाकिस्तान के साथ हमारा सम्बन्ध बिगड़ा हुआ ही है, और इस समय तो कश्मीर में पाकिस्तान की घुसपैठ और आक्रमण को लेकर पाकिस्तान के साथ एक अघोषित लड़ाई में हम फँसे हुए हैं।

इस प्रकार की समस्याओं का हल अहिंसक ढंग से करने की परिस्थिति देश में पैदा न होने के कारण सरकार को इस आक्रमण का सामना शस्त्र से करना पड़ रहा है और अपनी सैनिक तैयारी बढ़ानी पड़ रही है। हालांकि यह जाहिर है कि युद्ध से कोई समस्या हल नहीं होती। गरीबी, बेरोजगारी, महँगाई आदि देश की अन्दरूनी समस्याओं को हल करने के लिए, जिस आर्थिक विकास की आवश्यकता है उसके साथ भी इस सैनिक आयोजन का विरोध है और बाहरी सम्पर्कों के सवालों को शस्त्र-बल से हल करने की मजबूरी का परिणाम अन्दरूनी समस्याओं को अधिक विकराल करने में हुआ है और आगे भी होता रहेगा।

देश की अन्दरूनी समस्याओं को हल करने में आम जनता का पराक्रम, शक्ति और आत्मविश्वास को जागृत करने पर ही देश में छाई हुई निष्फलता के वातावरण को आशीर्वाद और उत्साह में बदलना सम्भव होगा

तथा बाहरी सम्बन्ध के सवालों को भी शान्तिपूर्ण तथा विधायक ढंग से हल करने की ताकत उसमें से पैदा होगी।

इस विश्वास से पिछले साल सर्वोदय-सम्मेलन में सुलभ ग्रामदान, ग्रामाभिमुख खादी और शान्ति सेना का त्रिविध कार्यक्रम स्वीकार किया गया था। ग्रामदान है इन सारे कार्यक्रमों की और ग्रामस्वराज्य की आधार-शिला। पिछले वर्षों के अनुभव से इस बात की पुष्टि हुई है कि जिन क्षेत्रों में ग्रामदान का कार्यक्रम अमल में आया वहाँ न केवल जनता में अभिक्रम और उत्साह का संचार हुआ है; बल्कि भ्रष्टाचार, दैन दिन शोषण आदि को मिटाने और गाँवों की आर्थिक दशा सुधारने व उत्पादन बढ़ाने में वह बहुत हद तक सफल हुआ है। देश में व्यापक पैमाने पर ग्रामदान हो जायें तो इससे देश के सारे स्वरूप में ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है और जनता की नैतिक शक्ति बढ़ सकती है, जो देश को आज की परिस्थिति से उठाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

ग्रामदान के माध्यम से भारत के साढ़े पाँच लाख गाँवों में ग्राम-स्वराज्य की नींव डालने का ध्येय हमने अपनाया है और गांधीजी की शतवार्षिकी तक इस ध्येय को साकार करने का हमारा संकल्प है। पर, देश की बिगड़ती स्थिति और संकटों का तकाजा बढ़ते रहने के कारण अपने प्रयत्नों में आत्यन्तिक तीव्रता लाने की आवश्यकता पिछले दिनों विनोबाजी ने महसूस की और बिहार में छः महीने में दस हजार ग्रामदान प्राप्त करने का संकल्प लेकर आन्दोलन का एक तूफान खड़ा करने का उन्होंने आवाहन किया। बिहार के साथियों ने इस आवाहन को सहर्ष स्वीकार किया और अब इस ध्येय को पूरा करने के निश्चय से वे बिहार जा रहे हैं।

विनोबाजी के इस आवाहन से सारे देश को भी प्रेरणा मिली है और जगह-जगह उत्साह का स्रोत फूट निकला है। कई प्रान्तों ने अपना-अपना लक्ष्यांक निश्चित करके काम शुरू कर दिया है।

यह सम्मेलन महसूस करता है कि देश की आज की उत्कट संकट की घड़ी में इस प्रकार 'करो या मरो' की भावना से तूफान खड़ा करने की जरूरत है। इसी से संकट का सामना करने की ताकत देश में पैदा होगी। इसलिए यह सम्मेलन सारे देशवासियों, सर्वोदय-सेवकों तथा अन्य समाज-सेवकों से यह उम्मीद करता है कि वे अपने-अपने राज्य व तथा क्षेत्र में ग्रामदान का तूफान खड़ा करने का संकल्प और प्रयत्न करें, ताकि भारत के हजारों-लाखों गाँवों में ग्राम-स्वराज्य की मजबूत बुनियाद जल्द-से-जल्द स्थापित हो और नव समाज रचना के महान कार्य में इस देश की करोड़ों जनता आशा और उत्साह के साथ जुट सके। ●

सच्ची घटना

परहित सरिस धर्म नहिं....

●

बच्चन पाठक 'सलिल'

उन दिनों मैं एक मन्दिर में रहता था। मन्दिर में भाड़े पर कई कमरों में लोग रहते थे। एक गरीब ब्राह्मण मेरे पास के कमरे में रहते थे, जिन्हें लोग पण्डितजी कहते थे। वे पढ़े-लिखे न थे पर पूजा-पाठ खूब करते थे और स्वयं अपना भोजन बनाते थे। किसीका छुआ वे न खाते थे।

पास में ही एक शिविर लगा था, जिसमें विस्थापित मुसलमान ठहराये गये थे। उन्हें खाने-पीने की असुविधा हो रही थी। पंडितजी के गाँव का एक मुसलमान युवक इद्रीस रोज रात को छिपकर उनके यहाँ आता। पंडितजी उसे कुछ खाने को देते।

एक दिन मुहल्ले के लोगों ने इद्रीस को देख लिया। बात की बात में दर्जनों लोगों ने पंडितजी का घर घेर लिया। पंडितजी समझाने लगे—"यह मेरे मामा का लड़का ईश्वर है।" इद्रीस थर-थर काँप रहा था। लोग उत्तेजित हो रहे थे। एक सरदारजी ने व्यवस्था दी—'पंडत, अगर तुम इसके हाथ का छुआ पानी पीओ तो हम मान लेंगे।' पण्डितजी ने तुरत इद्रीस द्वारा घड़े का पानी निकलवाकर पी लिया। भीड़ तितर-बितर हो गयी। मैंने साश्चर्य पंडितजी से कहा—"आप धार्मिक होकर भी झूठ बोले और विधर्मी के हाथों जल पी लिया।" उन्होंने कहा—"परहित सरिस धर्म नहिं दूजा।" मैं धर्म की इस परिभाषा पर विमुग्ध था।

●

नागरी-लिपि

और

राष्ट्रीय एकता

●

विनोबा

आप (नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी के सदस्य) नागरी लिपि के प्रचार का काम कर रहे हैं। यह काम धर्मचिन्तन लगता है। मुझे भी शौक है भिन्न भिन्न भाषाएँ सीखने का। जब मैंने चीनी, जापानी के साथ परिचय करने की कोशिश की तो पाया कि ये दोनों भाषाएँ नागरी लिपि में अच्छी तरह लिखी जा सकती हैं।

गीता प्रवचन ये सम्भवतः दो-तीन भाषाओं को छोड़कर हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं में हो चुके हैं। सभी भाषाओं के उसके संस्करण नागरी लिपि में भी छपे हैं। दो-तीन भाषाएँ रह गयी हैं, सो छपना है। अपने भारत को जोड़ने का काम भाषा के तौर पर हिन्दी जितना कर सकती है उससे लिपि के तौर पर नागरी कम नहीं कर सकती। लेकिन, अब मैं तो 'भी वादी हूँ', 'ही वादी हूँ नहीं'। गीता-प्रवचन का आरम्भ ही इस तरह से होता है—'भी वाद' और 'ही वाद'।

जोड़ने की कड़ी नागरी-लिपि

भिन्न-भिन्न लिपियाँ हिन्दुस्तान में चली हैं और चलती हैं। उन सबकी अपनी-अपनी खूबियाँ होती हैं। मैं सबसे कहता हूँ कि आपकी भाषा नागरी में भी लिखी जाय तो सारे भारत के शिक्षितों को जोड़ने में बड़ी मदद मिलेगी। नागरी-लिपि परिपूर्ण बनी है, ऐसा किसी का दावा तो है नहीं और कोई लिपि दुनिया की परिपूर्ण है भी नहीं।

लेकिन, दुनिया में जो लिपियाँ हैं, उनमें यह नागरी और रोमन दो ही लिपियाँ अधिक पूर्ण हैं। रोमन-लिपि में, जो गुण हैं वे जाहिर हैं, उनसे कोई इनकार नहीं कर सकेगा। मेरे मन में इस लिपि के प्रति बड़ा आदर है।

नागरी लिपि की पूर्णता

नागरी-लिपि का कोई अभिमान या अहंकार हो, उसका कोई कारण मैं मानता नहीं। लेकिन, जो लिपियाँ हमारे यहाँ मौजूद हैं उन सबमें थोड़े से फर्क से, जो पूर्ण हो सकती है, वह नागरी-लिपि है। इसमें थोड़ा-सा फर्क किया जाय तो यह पूर्ण हो सकती है। दो-तीन अक्षरों की जरूरत है। हिन्दुस्तान की सब भाषाएँ इसमें व्यक्त करने के लिए नुक्ते से बन सकती हैं, और जरा स्वर-भेद की जरूरत है।

महात्मा तुलसीदास को लीजिए। वे थे दीर्घदर्शी। उनकी रामायण देखते-देखते सारे भारत की किताब बनने जा रही है। उनके ध्यान में आ चुका था कि ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' की जरूरत रहेगी। उनकी छपी हुई रामायण में तो उसमें ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' पाइयेगा। अब इसको अनियमितता कहा जाय? छन्द में, कविता में, रचना में अनियमितता कभी-कभी कवि किया करते हैं। तुलसीदासजी की सम्पूर्ण रामायण में अनियमितता कहीं नहीं है, छन्द दोष-मुक्त है, और

ह्रस्व तथा दीर्घ वगैरह का पूरा नियंत्रण है। तो यहां अनियमितता कैसे मानी जायेगी? तो (यह मानना होगा कि) ये योजनाएँ ह्रस्व 'ओ' और 'ए' दोनों की अपनी भाषा में वस्तुत हैं। एक-दो, एक-दो, दीर्घ में तो बोलेंगे नहीं, ह्रस्व में (ही) बोलेंगे।

मिलीटरी में तो दीर्घ नहीं चल सकता। उनको तो जरा तीव्रता और गति की जरूरत होती है। अगर दीर्घ-ही-दीर्घ चले तो अपना काम तो कम-से-कम होगा ही, पर मिलीटरी का काम तो चलेगा ही नहीं। फलत मिलीटरी में दीर्घ सूत्र नहीं चलेगा। मिलीटरी के लिए ह्रस्व की जरूरत तो है ही यह तुलसीदास के ध्यान में था। उन्होंने दोनों की योजना इसलिए की है।

दीर्घदर्शी सन्त के संकेत

पहला मरतबा आपकी नागरी प्रचारिणी-सभा ने, जो रामायण प्रकाशित की उसमें ह्रस्व ए' और ह्रस्व 'ओ' के लिए टाइप बनाया और तदनुसार पुस्तक छापी। नागरी प्रचारिणी की यह दीर्घदर्शिता देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई।

'राम भजे गति के नहि पाई
पाइ नहि कहि गति पतित पावन

अब राम भजे गति के नहि पाई के बाद फौरन तुलसीदास लिखते हैं— पाइ नहि केहि गति। तो केवल छन्द के लिए जरूरत था इसलिए किया, सो नहीं, अपनी भाषा में ह्रस्व और दीर्घ दोनों जरूरी हैं और वे हमारी भाषा में मौजूद हैं। क्योंकि जल्दी के लिए ह्रस्व की जरूरत होती है। इंगलिश में भी ऐसा है। कई जगह लिखा रहता है— आपको शत् शत् प्रणाम। तो वह गलत माना जाता है। अब जरा जल्दी है प्रणाम करने में लोग जल्दी के लिए आपको शत शत प्रणाम कर देते हैं। शाश्वता के लिए हलन्त यानी ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ को मान्य किया।

यदि दो-तीन नये अक्षरों को दाखिल कर दिया जाय तो नागरी लिपि हिन्दुस्तान की सब भाषाओं में तो चल ही सकती है। जापानी चीनी भाषा के लिए भी चल सकती है ऐसी है इसकी शक्ति। शक्ति तो इसमें बहुत है लेकिन पक्ष क्या है? भक्ति के बिना शक्ति बेकार हो जाती है। अगर हम लोगों में भक्ति हो और सारे एशिया को प्रेम से जोड़ना चाहें तो मैंने कहा बौद्धों से कि कृपा करके 'त्रिपिटक' का जो तीस पेटियाँ पड़ी हैं उनको जरा नागरी में तो लाइए। भारत की अपनी लिपि पाली है। पाली और संस्कृत में फर्क क्या है? एक कहेगा धर्म और दूसरा कहेगा धम्म। इस वास्ते अगर इसका बौद्ध-दर्शन नागरी में आ जाता है तो सारा (मामला) हल हो जाता है और नागरी की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

नागरी की गागरी भरते रहें हम

तिलक विद्यापीठ ने अभी एक किताब प्रकाशित की है— अवेष्टता ग्रंथ। उसने उसे नागरी में छापा है। नागरी में भी यह हो सकता है ऐसा उन्होंने करके दिखा दिया है। पडोसी देश नेपाल है जहाँ का सारा कारोबार नागरी में चलता है? संस्कृत मराठी और हिन्दी तो है ही। अब गुजराती तो नागरी ही है। सिरोरेखा हटा दी तो नागरी हो गया। दूसरी लिपियाँ भी हैं बंगाली वगैरह वे नागरी के बहुत नजदीक हैं।

अगर हम लोगों में नागरी का प्रेम है तो हम कोशिश करें नागरी में दूसरी लिपियों का साहित्य लाने का। और, जैसाकि आप (नागरी प्रचारिणी वाले) सोच रहे हैं उसके लिए मैं धन्यवाद देता हूँ। हमारा काम भक्ति से होनेवाला है शक्ति से नहीं। और वह शक्ति मौजूद है नागरी लिपि में। यह काम प्यार से त्याग से बनेगा इसलिए आप और हम 'भा वारी हो जायें, फिर अपना बेडा पार है।

—नागरी प्रचारिणी सभा काशी का प्रवचन

द्वारा ऐसा आयोजन हो कि प्रत्येक अध्यापक एक निर्दिष्ट क्षेत्र के अन्तर्गत समयानुकूल गोष्ठियों, शिल्पालयों आदि में भाग लेने के साथ पाठ्यक्रम के नवीनीकरण का सुअवसर प्राप्त कर सके। जब तक कोई अध्यापक अपनी सेवा का पाठ्यक्रम पूरा न कर ले उसकी पदोन्नति नहीं होनी चाहिए।

७ (क) उत्तर मैट्रिकुलेशन के दो वर्ष के पाठ्यक्रम का ध्येय कक्षा एक से सात या आठ तक के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने योग्य बनाना है। शिक्षा-स्तर बढ़ाने के लिए बुनियादी विद्यालयों में शिक्षा देने के लिए स्नातक शिक्षकों को कम-से-कम एक अतिरिक्त वर्ष का पाठ्यक्रम होना चाहिए।

(ख) शिक्षक प्रशिक्षकों के लिए अलग पाठ्यक्रम की आवश्यकता भी सम्मेलन ने महसूस की है। इस सम्बन्ध में शिक्षाविदों के राष्ट्रीय संगठन द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम पर विचार करने के लिए भारतीय बुनियादी शिक्षा परिषद् एक छोटी समिति की नियुक्ति करे। अतः शिक्षण-संस्थाओं के लिए प्रान्तीय शिक्षण-संस्थानों को पाठ्यक्रमों की व्यवस्था का उत्तरदायित्व यथाशीघ्र लेना चाहिए।

८ प्राथमिक शिक्षण-संस्थानों का पद उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के स्तर से ऊँचा होना चाहिए तथा शिक्षक प्रशिक्षकों के लिए एक विशेष वेतनमान निश्चित हो, ताकि योग्य तथा उचित व्यक्ति इन संस्थाओं से आकृष्ट हो सकें।

९ शिल्प, भाषा तथा अन्य विशिष्ट अध्यापकों का वेतनमान दूसरे प्रशिक्षकों के समान ही होना चाहिए।

१० पाठ्यक्रम के साथ-साथ अभ्यास शिक्षण का कार्यक्रम भी चलना चाहिए। इसमें कम-से-कम तीन सप्ताह का वर्ग शिक्षण भी शामिल होना चाहिए।

अभ्यास-पाठों का समुचित निरीक्षण होना चाहिए तथा छात्राध्यापकों के व्यक्तिगत प्रयोगों के लिए स्थान होना चाहिए। वर्ग-अभ्यास-द्वारा छात्राध्यापकों को सामान्य वर्ग शिक्षकों के सारे अनुभव प्राप्त होने चाहिए। इसमें सामान्य विषय के अलावा नीचे लिखे विषय भी अपेक्षित हैं—

(क) सामूहिक जीवन का संगठन,
(ख) विद्यालय को समुदाय से जोड़नेवाले कार्य, और
(ग) विद्यालय के विभिन्न कार्यों का संगठनात्मक अनुभव।

अभ्यास शिक्षण के अन्तर्गत शिल्पाभ्यास तथा अनुबन्धित विषयों का भी समावेश होना चाहिए, और प्रशिक्षार्थियों को उनके आपसी सम्बन्धों की पूरी जानकारी रहनी चाहिए।

सम्मेलन के विचार से जहाँतक शिल्प तथा सामान्य ज्ञान के अनुबन्ध का प्रश्न है नीचे लिखी बातों तक सीमित रहना चाहिए—

(१) शिल्प ज्ञान की कार्य प्रणाली की विधि प्रक्रिया
(२) कार्य से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार विनिमय,
(३) काम का आयोजन
(४) प्रयुक्त उपकरणों तथा सामान्य यंत्रों का ज्ञान,
(५) शिल्पिक अर्थशास्त्र
(६) शिल्प पर आधारित व्यक्तियों का अध्ययन और
(७) लेखा के आधार पर कार्यों का मूल्यांकन।

११ शारीरिक विकास-सम्बन्धी सुविधाओं के लिए नीचे लिखी बातें जरूरी हैं—

(क) विद्यालय के पास पर्याप्त स्थान,
(ख) कर्मचारी वर्ग तथा शिक्षकों प्रशिक्षकों के लिए आवास की सुविधा,
(ग) बहुउद्देशीय सभाभवन,
(घ) सुसज्जित शिल्पशाला
(च) अध्ययनकक्षों के साथ ही प्रयोगशालाएँ और पुस्तकालय,
(छ) पाकशाला के लिए पर्याप्त भूमि, बागवानी और खेती के लिए सिंचाई-युक्त पर्याप्त भूमि की व्यवस्था,
(ज) क्रीड़ा-स्थल,
(झ) वर्ग-कक्षों की पर्याप्त संख्या और
(ञ) एक प्रायोगिक विद्यालय।

—साभार इण्डिया कौंसिल आफ बेसिक एजुकेशन की बुलेटिन से। ●

नयी तालीम-समिति

का

निर्माण

गत नयी-तालीम-परिसंवाद में यह तय हुआ था कि सर्व-सेवा-संघ की ओर से नयी तालीम विषय के लिए एक प्रबन्ध-समिति का निर्माण किया जाय। सर्व-सेवा-संघ की पिछली प्रबन्ध-समिति की बैठक में इस सम्बन्ध में विचार भी हुआ था और अध्यक्ष को इस बात का अधिकार दिया गया था कि वे समिति के सदस्यों को नामजद कर सकते हैं। उसके अनुसार नयी तालीम के लिए अध्यक्ष ने निम्नलिखित सदस्यों की स्थायी समिति का निर्माण किया है—

१. सुश्री मार्जरी साइक्स	कोटा
२. श्री मुनियांडी	कल्लु पट्टी
३. श्री द्वारिकाप्रसाद सिंह	पटना
४. श्री राममूर्ति	खादीग्राम
५. श्री राधाकृष्ण मेनन	रामनाटकारा
६. श्री क्षितीशराय चौधरी	बलरामपुर
७. श्री वजूभाई पटेल	बम्बई
८. श्री राधाकृष्ण	वाराणसी
९. श्री दयानिधि पटनायक	बैतूल
१०. श्री आचारलू (संयोजक)	हैदराबाद
११. श्री मनुभाई पंचोली (संयोजक)	गुजरात
१२. श्री अरुणाचलम् (संयोजक)	मदुराई

नयी तालीम की साधारण समिति (जनरल बाडी) के निम्नलिखित सदस्य होंगे—

१. श्री धीरेन्द्र मजूमदार २. श्री ई० डब्ल्यू आर्यनायकम् ३. सुश्री आशादेवी आर्यनायकम् ४. श्री जुगतराम दवे ५. श्री जी० रामचन्द्रन् ६. श्री उ० न० ढेबर ७. श्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा ८. श्री राधाकृष्ण मेनन ९. श्री मुनियांडी १०. श्री श्रीनिवासन् ११. श्री आचारलू १२. श्री नवकृष्ण चौधरी १३. श्री निर्मला देशपाण्डे १४. श्री काशिनाथ त्रिवेदी १५ श्री बनवारीलाल चौधरी १६. श्री देवेन्द्रकुमार गुप्ता १७. श्री लालभाई देसाई १८. श्री धीरुभाई देसाई १९. सुश्री मार्जरी साइक्स २०. श्री अरुणाचलम् २१. श्री ग० उ० पाटणकर २२. सुश्री सरला बहन २३. श्री त्रिलोकचन्द २४. श्री करुण भाई २५. श्री शालिग्राम पथिक २६. श्री नारायण देसाई २७. श्री राधाकृष्ण २८. श्री राममूर्ति २९. श्री मनुभाई पंचोली ३०. श्री अन्नपूर्णा मेहता ३१. श्री जयनारायण दास ३२. श्री मनमोहन चौधरी ३३. श्री क्षितीशराय चौधरी ३४. श्री हिमांशु मजूमदार ३५. श्री वेदप्रकाश नंय्यर ३६. श्री यू० ए० असरानी, लखनऊ ३७. श्री सईद अंसारी, जामियामिलिया, दिल्ली ३८. श्री वंशीधर जी, वाराणसी ३९. श्री वजूभाई पटेल ४०. श्री द्वारकाप्रसाद सिंह ४१. डा० दयानिधि पटनायक।

स्थायी समिति का फिलहाल प्रधान कार्यालय बंगलोर में होगा, जिसका पता इस प्रकार है—

श्री के एस० आचारलू, सयोजक
गाधी भवन,
८ ग्रास रोड, बगलोर–३

स्थायी समिति का यह प्रयत्न होगा कि नयी तालीम के क्षेत्र में, जो व्यक्ति तथा सस्थाएँ कार्य कर रही हैं या गतिशील हैं, उनमे सम्पर्क स्थापित किया जाय। नयी तालीम के क्षेत्र में, जो प्रगति हो रही है उसकी जानकारी सम्बन्धित क्षेत्रो को प्रेषित करें। प्रान्तीय शाखाएँ स्थापित करें तथा उनको गति दें। इसके साथ-साथ यह समिति देश तथा विदेश में प्रगतिशील शिक्षा के क्षेत्र में, जो नये-नये प्रयोग हो रहे हैं उनसे सम्पर्क साधने का प्रयत्न करेगी तथा इस क्षेत्र की मुख्य विचारधाराओं से जनता को परिचित कराने के लिए परिसवाद, सम्मेलन आदि का समय समय पर आयोजन करेगी, जिससे शिक्षा के पुर्नानिर्माण की समस्याओ पर विचार हो सके। जहाँ सम्भव हो वहाँ इस क्षेत्र में अभिरुचि रखनेवाली सस्थाओं तथा व्यक्तियों को प्रयोग करने की दिशा में भी प्रोत्साहित करेगी।

राधाकृष्ण
मन्त्री सर्व सेवा सघ, वाराणसी

भारतीय शिक्षा

भारतीय शिक्षक सघ की मासिक मुख पत्रिका 'भारतीय शिक्षा' के पिछले ५ अक देखने को मिले। पत्रिका विकासोन्मुख है, यह शुभ लक्षण है। छपाई तथा गेटअप अच्छा चल रहा है। सम्पादक हैं श्री कालिदास कपूर।

पूरा पता—कपूर-कुटी, हरदोई मार्ग, लखनऊ।

प्रौढ़शिक्षा : सिद्धान्त तथा पद्धति

●

बरकत अली 'फ़िराक़'

भारत की जनसख्या जितनी तेजी से बढती जा रही है उतनी ही तेजी से अपढ बालिगों की तादाद भी। आजादी मिलने के बाद से ही इस दिशा में प्रयास किये जाने लगे लेकिन अभी तक सफलता मिलती दिख नहीं रही है। शायद हमारी योजनाओं में कहीं कुछ बुनियादी कमी रह गयी है। प्रौढ़ शिक्षा को एक अलग इकाई में रखकर हमारे शिक्षा शास्त्रियों ने जरूर बड़ी भूल की, जिसका परिणाम हम भुगत रहे हैं कि जी तोड कोशिशों के बावजूद हमें लोक शिक्षण की दिशा में किसी प्रकार की उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पा रही है।

श्री बरकत अली 'फिराक' जो 'तालीम व-तरक्की' समाज शिक्षा विषयक मासिकी के सम्पादक हैं, प्रौढ-शिक्षा के प्रयोगों में शुरू से ही शरीक रहे हैं। उनकी 'प्रौढशिक्षा सिद्धान्त तथा पद्धति' नामक पुस्तक साक्षरता के प्रचार प्रसार में किये गये प्रयत्नों का दिशा-बोध कराती है। भाषा सरल एव सुबोध है। कीमत साढे तीन रुपये अधिक लगती है। इस पुस्तक का प्रकाशन 'इदारा किताबघर', ग़जनफर मजिल, जामिया नगर, नयी दिल्ली–२५' से हुआ है। ● —धर्मदेव

सर्व-सेवा-साहित्य

'सर्व-सेवा-साहित्य' नाम की त्रैमासिकी हर तीन महीने बाद प्रकाशित होती है। अब तक इसके दो अंक प्रकाशित हो चुके हैं। हर तीन महीने बाद हमारे स्थायी ग्राहकों, सहयोगी सदस्यों तथा स्थायी विक्रेताओं को नये प्रकाशनों की जानकारी और परिचय मिलता रहे, इसी दृष्टि से यह त्रैमासिकी प्रकाशित की जाती है।

'सर्व-सेवा-साहित्य' की छपाई दोरंगी तथा वार्षिक मूल्य एक रुपया है।

व्यवस्थापक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

•

अनुक्रम

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

लाइसेंस नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अक्तूबर '६५ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

जनता जाग उठी

कोट्टाईपट्टी का ग्रामदान बाबा विनोबा को हुआ सन् '५६ मे। फिर तो वहाँ की जनता के मन-प्राण नयी चेतना से भर उठे।

गाँववालो के सम्मिलित प्रयास से आस-पास के १० गाँवो का ग्रामदान हुआ।

ग्रामदान के बाद कोट्टाईपट्टी मे और क्या हुआ ?

- पूरा गाँव एक परिवार है, यह भावना ग्रामवासियो मे विकसित हुई।
- भूमिहीनो को जमीन दी गयी।
- गाँव के एक किनारे, प्राप्त भूमि पर बुनकरो की बस्ती बसायी गयी।
- ऋण देने के लिए ग्रामदान-सर्वोदय-सहयोगी सोसाइटी बनायी गयी।
- श्रमदान से सडक का निर्माण किया गया।
- तालाब खोदकर गहरा किया गया।
- खेतो की पैदावार पहले से ढाई गुनी बढ गयी।
- आठ नये घर बनाये गये।

तब तो सचमुच कोट्टापईट्टीवालो को नयी जिन्दगी की नयी राह मिल गयी।

—वसन्त व्यास

आवरण-मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७ १०० इस मास छपी प्रतियाँ २७ १००

प्रधान सम्पादक

धीरेन्द्र मजूमदार

●

सर्व-सेवा-संघ की मासिकी

नेहरू कवि थे लेखक थे राजनीतिज्ञ थे युग पुरुष थे और न जाने क्या क्या थे लेकिन इन सबसे अधिक थे वे चाचा नेहरू–देश ही नहीं सारे विश्व के बच्चों के।
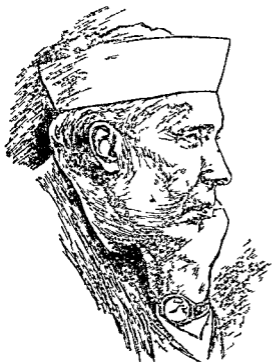
मै जवाहरलाल की हैसियत से कहता हू कि मेरे दिमाग में कोई शक नही है कि इस बुनियादी तालीम के रास्ते पर हमें चलना है; और शुरू मे तो हमे चलना ही है—बुनियादी वर्गो तक, और उसके बाद भी। फिर यह सोचना है कि इसमे दूसरी टेकनिकल तालीम कैसे खपेगी। यह एक अलग सवाल है और गौर-तलब सवाल है।

•

आज की दुनिया साइस की है। आजकल की दुनिया क दिमाग साइस से भर ह उसी स ढले हैं। उसे हम अलग नही कर सकते। साइस स अलग रहकर तो हम किसी बात को मजबूत नही कर सकते। इसलिए साइस को हमे अपने दिमाग मे रखना है और अहिंसा से उसे जोडना है।

वर्ष : चौदह
•
अंक : चार
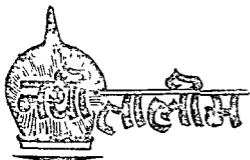
हमारे भाईपन की कसौटी है कश्मीर

यह अच्छा हुआ कि जब एक बार तय कर लिया कि लड़ना है तो दिल खोलकर लड़े। कम-से-कम इस लड़ाई से भारत की आत्मा का बोझ उतर गया। भारत ने युद्ध की प्यास बुझाने या पाकिस्तान की भूमि छीनने के लिए लड़ाई नहीं लड़ी। युद्ध उसके ऊपर लादा गया, तब प्रतिकार का और कोई रास्ता न पाकर अपने स्वत्व और सम्मान की रक्षा में उसे हथियार उठाना पड़ा—यह जानते हुए भी कि युद्ध सभ्यता का तरीका नहीं है, और न तो युद्ध से किसी समस्या का स्थायी हल ही होता है। किसी देश को युद्ध के लिए विवश होना पड़े, और दूसरे के सिद्ध आक्रमण को जानते हुए भी दोनों को एक ही तराजू में तोलने की कोशिश की जाय, यह आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का अत्यन्त दुखद पहलू है। लेकिन, जो स्थिति है वह हमारे सामने है।

भारत और पाकिस्तान के बीच का झगड़ा झगड़े से ज्यादा रगड़ा है, और इस रगड़े में दूसरे भी अलग-अलग नीयत लेकर शरीक हैं। इसलिए लड़ाई बन्द भी है, और चल भी रही है। अगर लड़ाई का सैनिक मोरचा कश्मीर और पंजाब में है तो उसका राजनीतिक मोरचा न्यूयार्क में। सैनिक मोरचे पर न्याय किसी तरह गोली से हो भी जाता है, लेकिन न्यूयार्क में तो न्याय से अधिक नीति है—हर देश की अपनी नीति, जो उसके स्वार्थ से जुड़ी हुई है। स्वार्थ में क्या न्याय, और क्या अन्याय, कौन किसका दोस्त, और कौन दुश्मन?

केवल २२ दिनों की लड़ाई में दोनों देशों में से हरेक के लगभग दो से तीन अरब रुपये खर्च हुए। जो आदमी मारे गये उनका हिसाब क्या? जितना खर्च लड़ने में हुआ उससे ज्यादा अब तैयारी में होगा, और जितनी बरबादी हो चुकी है उससे ज्यादा आगे होगी। भारत और पाकिस्तान दोनों दुनिया के गरीब-से-गरीब देशों में हैं। दोनों विदेशी पैसे के मुहताज हैं, विदेशी अन्न पर पल रहे हैं, और विदेशी हथियारों से लड़ रहे हैं। अगर कोई पूछे कि इस लड़ाई से पाकिस्तान को क्या मिला और भारत ने क्या पाया तो क्या जवाब मिलेगा? क्या यही कि इतने अरब रुपये और इतने हजार वीर जवान गँवाकर दुनिया का उपहास पाया? नंगी आँखें तो यह देख रही हैं कि पाकिस्तान भारत में घुस आया है, और भारत पाकिस्तान में घुस गया है, और लड़ाई की चोट किसी पर ऐसी नहीं पड़ी है कि दुबारा उठने का नाम न ले। पाकिस्तान सोच भी नहीं सकता कि कश्मीर उसको मिल गया, भारत भी यह भरोसा नहीं कर सकता कि उसने कश्मीर को हमेशा के लिए बचा लिया। लड़ाई हुई कश्मीर के नाम पर, लेकिन कश्मीर का सवाल पहले से ज्यादा उलझ गया। कश्मीर दुनिया की गुटबन्दी का प्रश्न बन गया। बेचारे कश्मीरी सोचते होंगे—'क्या किस्मत है कि अपने शुभचिन्तकों के हाथों ही हम तबाह हो रहे हैं।'

कश्मीर का सवाल कैसे हल होगा? जहाँतक भारत का सवाल है यह कहता है कि कश्मीर का सवाल हल हो गया, लेकिन सुरक्षा-परिषद् मानती नहीं। दुनिया यही मानकर चल रही है कि कश्मीर का सवाल अभी हल नहीं हुआ है। पाकिस्तान चाहता है कि कश्मीर में मतगणना हो। सुरक्षा-परिषद् यह भी जानती है कि मतगणना में झंझटों की कोई सीमा नहीं रहेगी। कश्मीर न पाकिस्तान का, न हिन्दुस्तान का, और न अपना, तो कश्मीर किसका? कश्मीर के बँटवारे की आवाजें उठने लगी हैं। बँटवारा भी कोई हल है? कोई पाकिस्तान से यह कहने को तैयार नहीं है कि अगर कश्मीर के लोग भारत के साथ रहने को नहीं तैयार हैं तो उन्हें कहने दो, तुम क्यों बीच में कूद पड़े?

बात यह है कि एशिया में चीन, पाकिस्तान और इण्डोनेसिया का, जो त्रिभुज दिखायी देने लगा है, उसके कारण बड़े राष्ट्र पाकिस्तान को छोड़ना नहीं चाहते। कश्मीरवाले क्या चाहते हैं, इसकी चिन्ता किसीको नहीं है, टुकड़े बाँटकर पाकिस्तान और भारत दोनों को खुश करने की कतरब्योंत चल रही है; भारत पर हर तरह का दबाव डाला जा रहा है।

सचमुच, भारत के लिए कश्मीर का प्रश्न केवल कश्मीर का नहीं है। वह प्रश्न बहुत बड़ा है, बुनियादी है, जिसका हल केवल लड़ाई के मैदान में नहीं हो सकता। कश्मीर और पंजाब की लड़ाई में उस प्रश्न का सैनिक पहलू प्रकट हुआ है, संयुक्त राष्ट्र-संघ में राजनीतिक पहलू प्रकट हो रहा है, और अन्न का मोरचा उसका नागरिक पहलू है। यह लड़ाई भी केवल भूमि की लड़ाई नहीं है, पाकिस्तान ने इसे 'जेहाद' का नाम दे रखा है—मुसलमानों का गैरमुसलमानों पर जेहाद। जिस भारत में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब रहते हैं, जहाँ सबको वोट देने का अधिकार है, वह भारत इस जेहाद का उत्तर कैसे देगा?

भारत सम्प्रदायवाद की भाषा नहीं बोल सकता। जिस दिन वह धर्म और सम्प्रदाय की भाषा बोलने लगेगा बस दिन उसके हाथ की बन्दूक अपने आप गिर जायगी, और वह कश्मीर को अपने आप नहीं रख सकता। भले ही कश्मीर को पाकिस्तान से बन्दूक के भरोसे बचाया जा सके; लेकिन कश्मीरियों को अपने साथ एक ही तरीके से रखा जा सकता है—उनका दिल जीतकर। दूसरों से लाठी चलायी जा सकती है, लेकिन भाई को लाठी से भाई बनकर रहने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। कश्मीर हमारे भाईपन की कसौटी है।

चीन ने पाकिस्तान को सामने कर रखा है। उसका हाथ पीछे रहकर अपना काम कर रहा है। एशिया में आज चीन की मोरचेबन्दी चल रही है। उसमें अगर कोई रुकावट है तो भारत। लेकिन, चीन जानता है कि वह भारत को परेशान चाहे जितना कर ले उसका और हमारा फैसला लड़ाई के मैदान में नहीं, विचार के क्षेत्र में होगा। चीन के पास सबसे बड़ा अस्त्र है साम्यवाद, जिसका जवाब बन्दूक से नहीं दिया जा सकता। केरल में चीनवादी कम्युनिस्टों का जीतना इस बात की चेतावनी है कि चीन की सेना हमारी सीमा से कितनी भी दूर रहे, चीनी साम्यवाद की आवाज भारत के करोड़ों-करोड़ नीचे के लोगों के दिल के भीतर जायगी, और तब उसे बिना लड़े जीत हासिल हो जायगी। उसकी उस जीत को रोकने का एक ही उपाय है कि हम 'साम्य' को स्वीकार करें, ताकि 'वाद' से मुक्त हो सकें। अगर हमने समय रहते 'साम्य'

को स्वीकार न किया, और इस भ्रम में पड़े रहे कि हमारी सेना हमें हर प्रकार के आक्रमण से बचा लेगी, तो बहुत जल्द 'वाद' हमें घेर लेगा और वह 'वाद' ही चीन है।

चीनी साम्यवाद से हमें कौन बचायेगा? अमेरिका? क्या हम उसी तरह बचना चाहते हैं जिस तरह दक्षिण वीएतनाम बच रहा है? वास्तव में हमारे देश की सुरक्षा का प्रश्न ऐसा नहीं है, जो केवल सैनिक शक्ति से हल हो सके। सैनिक शक्ति का, जो काम है उसे वह करेगी; लेकिन नागरिक शक्ति को, जो काम करना है उसे करने के लिए उसे तेजी के साथ सामने आना चाहिए। क्या अन्न-उत्पादन का काम सैनिक-शक्ति के जिम्मे रहेगा? क्या गाँव-गाँव का संगठन सेना से होगा? शिक्षा में बुनियादी परिवर्तन कौन लायेगा? सेना? हमें यह जान लेना चाहिए कि नागरिक शक्ति के अभाव में किसी देश की सैनिक शक्ति भी टिकाऊ नहीं होती।

भारत में नागरिक शक्ति के विकास का अर्थ है बुनियादी सामाजिक क्रान्ति। क्रान्ति ऐसी हो, जिससे समाज मे गुणात्मक परिवर्तन प्रकट हो; जो एकता, समता, श्रम की प्रतिष्ठा तथा सार्थक शिक्षा का रूप लेकर सामने आये, और मनुष्य को नयी चेतना और शक्ति दे। यह काम केवल सरकार के कानून और उसे चलानेवाले अधिकारियों से नहीं होगा; इसके लिए नागरिक क्रान्ति-दूत चाहिएँ। देश की सुव्यवस्था, सुरक्षा और विकास के लिए एक-एक गाँव और नगर को मोर्चा बनाने की जरूरत है, उसकी सगठित शक्ति विकसित करने की है। इसी दृष्टि से बिहार में विनोबा ने 'ग्रामदान-तूफान' का समाजव्यापी आन्दोलन शुरू किया है। गाँव के लोग भूमि की मालिकी छोड़ें, भूमिहीन को भूमि दें, अपनी कमाई का एक अंश देकर ग्रामकोष इकट्ठा करें, तथा सब वालिगों को मिलाकर ग्रामसभा बनायें, जो गाँव के जीवन का नियमन और संचालन करे। देश में अक्षय शक्ति छिपी पड़ी है, उसे ऊपर लाने के लिए तूफान का वेग और शक्ति चाहिए। देश का भला चाहनेवाले उस वेग और शक्ति को पहचानें।

सच्ची शिक्षा की स्वाभाविक राह

•

विनोबा

विनोबा जब साहित्यिकों के बीच बोलते हैं तो लगता है कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि बोल रहा है, जब गाँव की अपढ़ जनता के बीच बोलते हैं तो लगता है गरीबों का मसीहा बोल रहा है, और जब कार्यकर्ताओं के बीच बोलते हैं तो लगता है कोई उपदेष्टा बोल रहा है। लेकिन, विनोबा जब छात्रों के बीच बोलते हैं तो कहना कठिन होता है कि वे युग के महान शिक्षक के रूप में बोलते हैं, या उन्हीं विद्यार्थियों के सगे-सहोदर बनकर।

जो कुछ हो, इतना अक्षरशः सत्य है कि विद्यार्थियों के बीच पहुँचकर विनोबा आत्मविस्मृत हो उठते हैं, उनकी चेतना और स्फूर्ति के अंग-अंग अँगड़ाई लेने लगते हैं, वाणी से अकूत उत्साह का निर्झर फूट पड़ता है, और नाच उठता है उनका मन-मयूर। वे भूल जाते हैं अपने स्वास्थ्य की बात, वे भूल जाते हैं समय के बन्धन को। और, उस दिन ऐसा ही हुआ। ३ सितम्बर '६५ का दिन। इलाहाबाद विश्वविद्यालय का खुला मैदान। करीब १५-२० हजार छात्र-छात्राओं की भीड़। थाली उछालिए तो सिर ही पर जाय। सूरज की प्रखर किरणें छात्रों के धैर्य की परीक्षा ले रही थीं, और उनका धैर्य भी अब बेताब हो उठा था टूटने के लिए। इक्की-दुक्की आवाजें कसी जा रही थीं। प्राध्यापकों से लेकर उपकुलपति तक सभी बैठे थे मंच पर, लेकिन टूटने के लिए बेताब उस अनियंत्रित अनुगुंजन का मुकाबला करना औरों के बस की बात न थी।

तभी मंच के पीछे से एक आवाज आयी—"यह बूढ़ा क्या बोलेगा, नर्वस हो गया।" शिक्षकों की निगाहें उधर ही मुड़ गयीं और उनका स्वागत हुआ एक जोरदार ठहाके से।

तभी युग-शिक्षक विनोबा बोल उठे—"सभा अनुशासनम्।"

और, एक विचित्र शान्ति का वातावरण तत्काल व्याप्त हो गया। जैसे-जैसे विनोबा बोलते जा रहे थे, छात्र-छात्राओं का मन उल्लसित होता जा रहा था। थोड़ी देर बाद तो तालियों की तड़तड़ाहट शुरू हो गयी, और विनोबा ने जीत लिया था विद्यार्थियों के दिल को, दिमाग को। और, अन्त में एक-दो-तीन, बोलकर प्रार्थना के लिए विनोबा ने क्षण-मात्र में सभी छात्र-छात्राओं को बिठाकर एक चमत्कार-सा कर दिया। प्रस्तुत है उस भाषण की पहली किस्त। —शिरीष

विद्यार्थियों के सामने बोलने में मुझे हमेशा बड़ी प्रसन्नता महसूस होती है और मैं बिल्कुल बेफिक्र रहता हूँ। क्या बोला जाय, कुछ सोचना पड़ता ही नहीं। जिस तरह माँ के दिल में भावनाएँ उठती हैं, लहरें उठती हैं और बच्चे के साथ बोल लेती है, वैसा ही सम्बन्ध मेरा विद्यार्थियों से है। और, मैं तो आपका ही सजातीय हूँ। मैं आजतक विद्यार्थी रहा हूँ और अब भी जो थोड़ा समय मिलता उसमें अध्ययन करने में लग जाता हूँ।

मैं निरन्तर अध्ययनशील रहा, और इसलिए मेरी स्मरण शक्ति पहले से आज बहुत तेज है। आज एकाध श्लोक कण्ठ करने में दो मिनट समय लगता है। लोग कहते हैं कि जैसे-जैसे बुढ़ापा आता जाता है स्मरणशक्ति क्षीण होती जाती है। अगर जीवन कैसे जीना, उस शक्ति की जानकारी न हो और गलत ढंग से जीवन

जिया जाय तो जैसे-जैसे शरीर-शक्ति क्षीण होती जायेगी वैसे-वैसे बुद्धि भी क्षीण होनी जायगी। लेकिन, अगर जीवन शास्त्र से अवगत हैं—विद्यार्थियों को जरूर समझना चाहिए और समझाना चाहिए—तो जैसे-जैसे शरीर क्षीण होता जायेगा वैसे-वैसे बुद्धि मजबूत··· मजबूत मजबूत होनी जायेगी।

यह है स्वाभाविक विकास-क्रम

हम पेडो पर अच्छे फल देखते हैं। वे पहले कच्चे होते हैं, फिर पक जाते हैं। पकने पर उन फलो का शरीर जरा ढीला हो जाना है और वे टूटने भी लगते हैं। इसी तरह शरीर की त्वचा जैसे जैसे जीर्ण होने लगती है, अन्दर का बीज उसी तरह मजबूत होने लगता है। आम ऊपर से मजबूत है तो उसकी गुठली कमजोर है। आम पक गया, गुठली मजबूत होगी, आम और पका, गुठली और मजबूत होगी, आम का ऊपरी हिस्सा सड गया तो अन्दर की गुठली और मजबूत होगी। यह है स्वाभाविक विकास क्रम।

अब मनुष्य की बुद्धि उसकी स्मरणशक्ति अन्दर का बीजरूप है। जैसे-जैसे बाहर का भाग क्षीण होता जायेगा वैसे-वैसे अन्दर का मजबूत होना चाहिए, ऐसा अनुभव आना चाहिए। हमारे विद्यार्थियों की बुद्धि में और फुरती में क्षीण नहीं होना चाहिए। शरीर तो जीर्ण शीर्ण होने-वाला ही है। उसको भी काफी देर तक सँभाला जा सकता है, वैसे तो उसको आखिर में जीर्ण-शीर्ण होना ही है, लेकिन अन्दर के तत्त्व को नहीं।

तो मैं कह रहा था कि आजतक मेरा अध्ययन जारी रहा है, इसी वास्ते मेरी शारीरिक शक्ति मजबूत है। पदयात्रा के दरमियान मैं १४ साल चला। करीब चालीस हजार मील की पदयात्रा हुई होगी। इससे मैंने जितना अध्ययन किया, विभिन्न भाषाओं का, शास्त्रों का, उतना कालेज-जीवन में नहीं कर सका। इसलिए मुझे आती थी, कालेज में फ्रेंच सीखा था, घर पर संस्कृत सीखा हूँ, मराठी मेरी मातृभाषा है, गुजराती गांधीजी की भाषा है, उनके साथ गुजराती सीखा, हिन्दी तो बिना सीखे ही आ गयी। बंगाली, असमिया, उड़िया, तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम् सीख लिया। अरबी सीखने की इच्छा हुई इसलाम के अध्ययन के लिए, इसलिए अरबी सीखा, थोड़ी फारसी सीख ली। १८ दिन में ही मैंने जर्मन सीख ली। एक भाई मेरी यात्रा में दो-तीन दिन रहे। उनसे मैंने जापानी सीख ली। और आपसे क्या कहूँ, अभी मैं बंगाल में था तो चीनी भाषा के अध्ययन की कोशिश की और चीनी भाषा किस तरह नागरी लिपि में लिखी जा सकती है, उसके बारे में एक रीडर बनाया। वहाँ नारायण सेन नाम के एक भाई हैं रविन्द्रनाथ के शान्ति निकेतन में, उनके साथ बैठकर। उन्होंने कबूल किया कि चीनी भाषा नागरी लिपि में अच्छी तरह लिखी जा सकती है। बिल्कुल ठीक उच्चारण किया जा सकता है।

रात का अध्ययन सुबह का विस्मरण

मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि हमारे देश को अध्ययन की अभी बहुत जरूरत है—अनेक भाषाओं का अध्ययन, अनेक शास्त्रों का अध्ययन, अनेक प्रकार के विज्ञानों का अध्ययन, आत्मज्ञान का अध्ययन। अनेक नये-नये शास्त्र बढ़े हैं उनके अध्ययन की बहुत जरूरत है। उनके बिना भारत सर्वांग-सम्पन्न नहीं होगा और उसका विश्वशान्ति का सन्देश और जय जगत् की घोषणा पूरी नहीं होगी। अध्ययन के लिए समय निश्चित होना चाहिए। आज बहुत-सारे विद्यार्थी रात को देर तक जागते हैं। उनका दिमाग थका है, शरीर थका है, लेकिन खा-पीकर वे अंग्रेजी की किताब हाथ में ले लेते हैं। आँखें जरा बन्द हो रही हैं और इस तरह सोते-सोते हो रहा है अध्ययन।

परिणाम यह होता है कि रात का इस प्रकार का अध्ययन सुबह उठते ही खतम हो जाता है। पुस्तक तो पढ ली, लेकिन क्या पढा, मालूम नहीं। बजाय इसके अगर रात को जल्दी सो जायें और सुबह जल्दी उठ जायें और जरा तड़के हाथ-मुँह धोकर स्वस्थ चित्त होकर, प्रातःकालीन मंगलमय वेला में मुक्त मन से एक घण्टे भी अध्ययन कर लिया जाय तो रात के ३ घण्टे में भी उतना नहीं हो सकता। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। मेरा जितना अध्ययन हुआ है, सबका सब ऐसे ही हुआ है।

अभी आप देखेंगे कि मैं साढ़े-सात बजे सो जाऊँगा, लेकिन आप लोग तो उस समय अभी जागते रहेंगे। लेकिन, मैं तीन बजे सुबह उठ जाऊँगा और अपना ध्यान-अध्ययन करूँगा। दुनिया को पता नहीं चलेगा कि यह

सब कब हुआ। यह सब मैं आप के सामने इसलिए रख रहा हूँ कि आपके ध्यान में आये कि आपकी और मेरी एक ही जाति है। आप विद्यार्थी हैं तो मैं भी हूँ, और आप विद्यार्थी सच्ची लगन से अध्ययनशील बनें तो भारत की प्रतिष्ठा आपके हाथ में है।

अगर बागडोर मेरे हाथ होती तो ....

दूसरी बात जो मैं कहने जा रहा हूँ उसमें दोष तो हमारी सरकार की योजना का है। जब स्वराज्य प्राप्त हुआ तभी मैंने वर्धा में विद्यार्थियों से पूछा—'नया राज्य शुरू हुआ है, पुराना झण्डा चलेगा ?' उन्होंने कहा—'नहीं चलेगा।' तो मैंने कहा—"नये राज्य में जैसे पुराना झण्डा एक दिन नहीं चलेगा वैसे ही नये राज्य में पुरानी तालीम एक दिन भी नहीं चलेगी।" अगर वह चल रही है तो समझना चाहिए कि पुराना राज्य ही चल रहा है, नाम नये राज्य का है।

अगर राज्य की बागडोर मेरे हाथ में होती, सत्ता होती तो मैं कहता कि स्वराज्य हुआ है, विद्यार्थियों को तीन महीने की छुट्टी दी जाय। वे तीन महीने खूब खेलें-कूदें, मजबूत बनें और हम तीन महीने में देश में चलाने के लिए तालीम का निर्णय लेते। शिक्षाविदों की समिति मुकर्रर करते, तब हम नयी तालीम शुरू करते, लेकिन हम तबतक पुरानी तालीम नहीं चलने देते। इस तरह तीन महीने में मैं ऐसा करता। लेकिन, १८ साल बीत गये, तालीम का ढाँचा क्या हो, उसका स्वरूप क्या हो, उसके लिए अब एक समिति मुकर्रर हुई है। अब सीताजी रामचन्द्रजी से कहती हैं—"मन्द-मन्द गति चलिए प्रभुजी, मन्द-मन्द गति चलिए।" अब दो-चार साल के बाद निर्णय होगा यानी स्वराज्य मिलने के २२ साल बाद निर्णय होगा कि कौन-सी तालीम दी जाय।

तालीम के मामले में जिस चीन से हमारा मुकाबला है वह हमसे बहुत आगे बढ़ा हुआ है। सोचने की बात है कि आज चीनवाले एक तालीम दे रहे हैं, जिसका नाम है—हाफ-हाफ स्कूल, यानी आधे समय मजबूत काम और आधे समय ज्ञान-चर्चा। उसमें देश के सभी लड़के-लड़कियों को दाखिल होना पड़ता है। इसमें वर्ग-भेद कम हो जायगा।

ये राहु और केतु !

हम लोगों के लिए यह कोई नयी चीज नहीं है। हमारे देश में भगवान कृष्ण ने अद्भुत मिसाल पेश की है। वे घोड़े की बागडोर हाथ में रखने के लिए तैयार हैं, मैदान में लड़ने के लिए तैयार हैं, गाय का दूध दुहने के लिए तैयार हैं, गाय चराने के लिए तैयार हैं, और भगवद्गीता का प्रतिपादन करने के लिए तैयार हैं। उन्होंने भी हमें कर्मयोग और ध्यानयोग का मेल सिखाया। जबतक यह नहीं चलेगा, और कुछ लोग बिलकुल पढ़ते रहेंगे और कुछ लोग काम करते रहेंगे, तो इस प्रकार कुछ हो जायेंगे राहु और कुछ हो जायेंगे केतु। राहु यानी जिनको सिर ही सिर है और मालूम नहीं आप २० हजार छात्र-छात्राओं में, जो सामने बैठे हैं वे राहु होनेवाले हैं या क्या होनेवाले हैं, और बाकी किसान, जो खेतों में काम करते हैं केतु बन जायेंगे। उनको कोई सिर विर नहीं। वे अपने हाथों से काम करेंगे।

आजकल कहते हैं कि हमारे हाथ में ५०० 'हैण्ड्स' हैं यानी सिर तो उन्हें है ही नहीं। (दूसरे शब्दों में) ५०० ऐसे मजदूर, जिनके हेड नहीं हैं और उनको इसकी अपेक्षा भी नहीं है। उनके सिर पर एक हेड रहेगा। ऊपरवाला हेड और नीचे वाला हैण्ड। यही कारण है कि दुनिया में झगड़े हैं। दूसरों के श्रम का लाभ उठानेवाली जमातें ज्यादातर खड़ी हो गयी हैं, जो वर्ग-भेद कर रही हैं। इन वर्गों को खत्म करना होगा। हर व्यक्ति को बुद्धि और शरीर की शिक्षा यानी औद्योगिक शिक्षा, अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए, ताकि ये भेद बिलकुल मिट जायँ। ये भेद जबतक कायम रहेंगे तबतक हमारे देश में शान्ति होनेवाली है नहीं, समाधान होनेवाला है नहीं।

जनता अन्धी : शिक्षित लँगड़े

एक कहानी है। एक था अन्धा। एक था लँगड़ा। अन्धे को पाँव थे, आँखें नहीं थीं। लँगड़े को आँखें थीं पाँव नहीं थे। इस तरह हमारी आज की सारी जनता है अन्धी, और शिक्षित वर्ग है लँगड़ा। आज यह लँगड़ा शिक्षित वर्ग अन्धी जनता के कन्धे पर बैठा है। उससे अगर पूछा जाय कि "भैया, तेरे हाथ से कोई 'रिव्यूलेशन'

होगा ?" तो वह कहेगा—'मेरे भाई, मेरे हाथ से क्या होगा, मैं तो लँगडा-लूला हूँ दूसरे के कन्धे पर बैठनेवाला हूँ।"

और, इस तरह एक जमात दूसरी जमात के कन्धे पर बैठे और दोनो अक्षमो का सहयोग हो, यानी यह भी अक्षम, वह भी अक्षम, और दोनो मिलकर सक्षम बनेंगे, समर्थ बनेंगे, एक ऐसी योजना बने, क्या यह सम्भव है ? होना तो यह चाहिए कि दोनो सक्षम हो, फिर भी दोनो का सहयोग हो। एक पूर्ण, दूसरा पूर्ण मिलकर परिपूर्ण। आज यह है कि एक अपूर्ण, दूसरा अपूर्ण और दोनो मिलकर पूर्ण बनना चाहते है। दोनो मिलकर दो अपूर्ण होते है, एक पूर्ण नही। यह समझने की बात है। यही वजह है कि आज तालीम बिलकुल निर्वीर्य करती है। इसलिए इसको एक क्षण भी चालू नही रखना चाहिए।

नौकरी की भीख कबतक ?

लोग परीक्षा पास करते है और नौकरी चाकरी माँगते है। आखिर नौकरी है कितनी ? सिर्फ ५५ लाख। सेवा 'बोझा' बढा रहे हैं, इसे भी जोड लें, तो कोई ६० लाख। आज देश मे ४५ करोड लोग हे। देखते-देखते ५० करोड लाग हो गये होगे। इन ४५ या ५० करोड लोगो में सिर्फ ९ करोड लोग शिक्षित है और इस ९ करोड में से सिर्फ ६० लाख लोगो के लिए नौकरी है। इस तरह १५ शिक्षितो में से एक शिक्षित के लिए नौकरी, १४ लोगो को नौकरी नही मिलेगी, चाहे कितनी परीक्षा पास करें। फिर क्या होना है इसका परिणाम ? जिसको काम नही मिला, वह आया घर। जोरो की हुई बारिश। गया खेत पर। उसको खेतो में काम करने की आदत नही। पडा बीमार। खत्म हो गया मामला।

बिना अंग्रेजी जाने खेती होगी कैसे ?

खेती करना सीखने के लिए अँग्रेजी कालेज में प्रवेश करना पडता है और शायद इण्टर साइस होना चाहिए। इतनी अँग्रेजी पढने तक उनको काम करने की कोई आदत नही। इसके बाद उसको खेती के कालेज मे प्रवेश करने लायक माना। सवाल है कि उस लडके म क्या दम ? यह देगा कि वह बारिश सहन नही करेगा, वह धूप सहन नहीं करेगा, वह बहुत ज्यादा ठण्डक बरदाश्त नही कर सकेगा, अब तो वह लायक हो गया खेती के। अब तू बच्चा आ... जा। वह लायक हुआ क्या ? क्योकि उसे इगलिश आ रही है। अब काम है बैलो को इगलिश सिखाने का। अरे भाई मेरे! अब उन इगलिश सीखे हुए लोगो के हाथ मे इगलिश नही सीखे हुए बैल आ जायेंगे तो दोनो की एकरूपता, एकरसता क्या बनेगी ? लेकिन, इसमें सरकार भी तो लाचार है, नाकाम है। इस वास्ते लाचारी से बैलो को ही खेती म लगना है, भले ही इगलिश न जानते हो, चल जायगा।

मैं समझ रहा हूँ कि देश की जनता एक बाजू में, देश के पढे लिखे दूसरे बाजू में, और बेचारे चाहते हैं नौकरी। उन्हें काम करने की आदत नही, उनमें काम करने की ताकत नही, ऐसा कब तक चलेगा ? इस वास्ते इस तालीम मे बदल होना चाहिए। जब मैं पढता था तो देखता था कि क्या बेकार की तालीम चल रही है। इसीलिए निकल पडा यह तालीम छोडकर और आज तक चल रहा है मेरा ज्ञानार्जन का यह क्रम। जब मैं पढता था तो उस तालीम मे बहुत-सी बातें थी, लेकिन ज्ञान नहीं था। अरे भैया! संस्कृत भी इगलिश के माध्यम से चलती थी और उसे कण्ठ करना पडता था।

शिक्षा के नाम पर बडा ढोंग पब्लिक स्कूल

और, आजकल क्या चलता है ? एक ढोग! नाम है पब्लिक स्कूल। जिसमे पब्लिक नहीं जा सकती उसका नाम है पब्लिक स्कूल। देंगे तो रिश्वत, लेकिन नाम है दस्तूर, मामूर, कितने सुन्दर शब्द है! ये पब्लिक स्कूल, यानी जहाँ बचपन से इगलिश के माध्यम से तालीम दी जाती है और नेता-वर्ग तैयार किया जाता है। देश के कुछ लोग तो इस तरह की तालीम पायेंगे और बाकी लोग दूसरे स्कूलो मे।

पहले जो थी, उसका नाम था शायद राष्ट्रमय तालीम। राष्ट्रमय तालीम मे बच्चे जायेंगे तो बेंच पर बैठेंगे। उनको जरा भी तकलीफ नही होनी चाहिए। उनके पेट का पानी तक नही हिलना चाहिए और उनको ज्ञान मिलना चाहिए। तब क्या करेगा बेचारा मास्टर ? लडके बैठे हैं मास्टर साहब सस्कृत सिखा रहे हैं। राम रामौ रामाः, राम रामौ रामेण वह रटे जा रहे हैं। कौन रटे जा रहा है तो मास्टर साहब, यानी विद्यार्थियो

का प्रतिनिधि रट रहा है, मानो ज्ञान दिया जा रहा है प्रतिनिधि के माध्यम से, जिन्हें बिना प्रतिनिधि के ज्ञान दिया जाना चाहिए।

क्या चीन का मुकाबला ऐसे ही होगा ?

इस शिक्षा के कारण आज के विद्यार्थी बिलकुल नरम बन गये हैं। इसमें उन बेचारों का क्या दोष ? वे बात करते हैं कि हमें मुकाबला करना है चीन का, इसका और उसका। वहाँ जाना होगा हजारों फीट ऊपर और करना होगा काम, लेकिन ये हैं तो नरम। पूछते हैं कि विद्यार्थियों के लिए फैसिलिटीज (सुविधाएँ) क्या-क्या होंगी ? वे यह नहीं पूछते कि विद्यार्थियों को किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, बल्कि सुभीते क्या-क्या हैं, पूछते हैं !

सुखार्थिन कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिन सुखम्

अगर आप चाहते हैं सुख, तो विद्या कहाँ से मिलेगी ? और अगर आप विद्या चाहते हैं तो सुख कहाँ से मिलेगा ? लेकिन आप तो चाहते हैं दोनों। इस प्रकार विद्या हासिल नहीं होती। इसके लिए मधुर वेला में उठना पड़ेगा, व्यायाम करना पड़ेगा, शरीर संयम के साथ रखना पड़ेगा, इन्द्रियों पर काबू पाना पड़ेगा, अपनी बुद्धि पर काबू पाना पड़ेगा। कोई कहेगा कि हम सुबह कैसे उठ सकते हैं, शाम को तो जल्दी हमें नींद ही नहीं आती। क्या भाई, नींद क्यों नहीं आती ? किसने रोका ? कहते हैं आती ही नहीं। अरे भाई ! तुम जब चाहो नींद आ सकती है। हमारे हाथ में ताला-कुंजी है। जब चाहें सो जायें, जब चाहें जाग जायें।

नेपोलियन की कहानी है। लड़ाई चल रही थी। जरा फुरसत मिली कि वह जंग के मैदान में ही फौरन सो जाता था। पाँच मिनट नींद लिया और उठ खड़ा हुआ। जब नींद ही अपने काबू में नहीं रहती तो और चीजें कैसे काबू में आयगी ? इसलिए विद्यार्थियों को अपनी नींद पर काबू रखना ही चाहिए। इस प्रकार के आदर्श विद्यार्थी पहले जमाने में थे, जब हमारा देश बहुत ऊँची चोटी पर था। ●

(अपूर्ण)

सन्त की महानता

एक दिन सन्त तुकाराम के घर में खाने के लिए कुछ नहीं था। उनकी पत्नी रखुमाई चिड़चिड़े स्वभाव की थीं। लगीं खरी-खोटी सुनाने। तुकारामजी को याद आ गयी खेत में खड़े गन्ने की। वे चल पड़े उधर ही।

उन्होंने गन्ना काटा, छीला, बांधा और सिर पर रखकर चल पड़े बाजार की ओर। रास्ते में कुछ बच्चे मिले। गन्ना देखकर वे ललच उठे। उन्हें बच्चों में गोपाल के दर्शन होते थे। वे भला इनकार कैसे करते ?

बच्चे माँगते गये, तुकाराम एक-एक करके देते गये। बच्चों के क्या कहने ! गन्ना पाये, प्रसन्न हो उठे, और चूसते चल पड़े दूसरी ओर।

तुकारामजी के पास केवल एक ही गन्ना बच रहा। अब बाजार जाने का सवाल ही कहाँ रहा ? वे लौट पड़े घर की ओर। फिर भी उनके चेहरे पर प्रसन्नता और तुष्टि के भाव थे।

घर के पास पहुँचे तो रखुमाई की दृष्टि उनपर पड़ी। उन्होंने देखा, तुकाराम एक गन्ना हाथ में छड़ी की तरह लिए चले आ रहे हैं। फिर क्या पूछना ! एक तो भूखी ! दूसरे स्वभाव की रूखी !! पारा चढ़ गया सातवें आसमान पर !!! बिना किसी भूमिका के बरस पड़ीं तुकाराम पर।

तुकाराम पास आ गये। वे अब भी वैसे ही सन्तुष्ट थे—जैसे कुछ हुआ ही नहीं। उनकी शान्त मुद्रा ने पत्नी के क्रोध में घी का काम किया। वह आपे से बाहर हो गयीं। उन्होंने आव देखा, न ताव, तुकाराम के हाथ से गन्ना छीना और दे मारा उनकी पीठ पर। गन्ना टूट गया, उसके दो टुकड़े हो गये।

वाह रे सन्त तुकाराम की अजेय शांति ! क्रोध की क्या मजाल कि पास तक फटक पाये ! बल्कि, उनके चेहरे पर मुक्त मुसकान दौड़ गयी। उन्होंने कहा—"हम दोनों के लिए गन्ने के दो टुकड़े मुझे करने ही पड़ते। तुमने बिना कहे ही कर लिया। बड़ी साध्वी हो तुम।"

यह है सन्त तुकाराम की महानता। —रमाकान्त

राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य शर्त अन्नोत्पादन में आत्मनिर्भरता

•

मनमोहन चौधरी

भारत-पाकिस्तान के बीच युद्धबन्दी हो गयी, यह अच्छा समाचार है, लेकिन इसे स्थायी शान्ति मानना ठीक नहीं। युद्ध कब शुरू हो जाय, कोई नहीं कह सकता। चीन की धमकी भी है। आप जानते हैं कि उक्त युद्धबन्दी के कुछ दिनों पूर्व चीन की साम्यवादी सरकार ने भारत को 'अल्टीमेटम' दिया था और चीनी मोरचे पर लडाई शुरू हो सकती है, ऐसी आशंका थी। भारत-पाक-द्वारा युद्धबन्दी स्वीकार करने के बाद चीनी स्वेच्छया पीछे हट गये, लेकिन उस मोरचे पर भी युद्ध की आग कब भड़क जाय, कोई नहीं जानता।

इस सारी वस्तुस्थिति का हमारे देश पर काफी दबाव पड़ रहा है। अपने पड़ोसियों के साथ की हमारी समस्याएँ यथाशीघ्र सुलझ जायँ तथा हम स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकें, इस दिशा में हम अधिक-से-अधिक आशा रखें और सर्वोत्तम के लिए प्रार्थना तो करें ही; पर साथ ही बुरी-से-बुरी स्थिति का सामना करने के लिए भी उद्यत रहें।

सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु, जिसकी तरफ हमारे प्रयत्न की आवश्यकता है, वह है अन्न-उत्पादन। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दिन से ही भारत अन्न-उत्पादन के मामले में आत्मनिर्भर नहीं हो सका। प्रतिवर्ष डेढ़ सौ करोड़ से दो सौ करोड़ तक का खाद्यान्न आयात करना पड़ता है। इन खाद्यान्नों का आयात हम अमेरिका, कनाडा, रूस, बर्मा, थाईलैण्ड और यहाँ तक कि पाकिस्तान से भी करते हैं।

बढ़ती आबादी : घटती उपज

हम अपनी जनसंख्या में होनेवाली वृद्धि के अनुपात से तथा पूर्ण आत्मनिर्भर होने तक की स्थिति तक अन्न-उत्पादन नहीं कर पा रहे हैं। इसके मुख्यतया दो कारण हैं। पहला यह कि हमारी अधिकांश भूमि बड़े भू-स्वामियों के हाथ में है, जो कृषि-उत्पादन में विशेष रुचि नहीं लेते। वे अपनी जमीन गरीब किसानों को बटाई पर देने में सन्तोष रखते हैं। भारत के लगभग सभी हिस्सों में इन बटाईदारों की स्थिति बहुत ही अरक्षित है। अनेक सरकारी कानूनों के बावजूद, जो बटाईदारों के संरक्षण के लिए पास किये गये हैं, भूस्वामी बिना किसी लिखित पत्रक के जमीन को बटाई पर दे देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वे जब कभी (स्वेच्छया) चाहें उन्हें जमीन से बेदखल कर देते हैं। इस तरीके को वे अक्सर इसलिए अपनाते हैं, ताकि एक व्यक्ति अधिक समय तक जमीन पर अधिकार न जता सके। फलस्वरूप बटाईदार जमीन की किस्म को सुधारने या अधिक अन्न-उत्पादन के लिए कुछ भी नहीं करता।

दूसरा कारण है कि अच्छे-से-अच्छे किसान का अधिक पैसे के लालच से अपनी सर्वोत्तम जमीन में तिजारती फसलें, जैसे—तम्बाकू, जूट, मूँगफली इत्यादि पैदा करना। इन उत्पादित वस्तुओं का बड़ी मे निर्यात होता है, जिससे काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। सरकार के लिए यह बहुत ही लाभदायक है, इसलिए इन वस्तुओं के उत्पादन के लिए वह विशेष प्रोत्साहन देती है, ताकि हम अपना

निर्यात कर सकें तथा अधिक-से अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकें। बहुतों के अनुसार जूट, रुई आदि के निर्यात से काफी मुद्रा अर्जित करना तथा दूसरे देशों से सस्ते सामान खरीदना एक उज्ज्वल विचार है, लेकिन यह उज्ज्वल धारणा युद्ध की स्थिति में बहुत ही खतरनाक साबित होती है, क्योंकि सामानों से लदे जहाज बन्दरगाहों पर सुरक्षित पहुँच जायेंगे, इसकी कोई निश्चितता नहीं होती।

विदेशी विनिमय : देशी संयम

विदेशी विनिमय है क्या? और वह इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है?

तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए देश में बहुतायत से नये उद्योग खड़े करने की आवश्यकता है, जिससे रेल्वे इंजन, जहाज, मोटर-गाड़ियाँ आदि बनायी जा सकें। इन सबके लिए विदेश निर्मित मशीनों तथा अन्य चीजों को आयात करना पड़ता है, क्योंकि इन सभी मशीनों का उत्पादन करने की स्थिति में अभी हम नहीं हैं। एकबार हमारे पास इस्पात के कारखाने, विद्युतशक्ति-केन्द्र, मशीनों-त्पादक इंजन, मोटर-गाड़ियाँ, सीमेण्ट तथा रासायनिक पदार्थों के कारखाने हो जायें तो हम अपनी आवश्यकता की ज्यादातर मशीनों तथा कल-पुर्जों को स्वयं बना सकेंगे और बाहर से इतने अधिक आयात की आवश्यकता नहीं रह जायगी। फिर कुछ कच्चे माल, जैसे—पीतल, टीन, कुछ रासायनिक तत्त्व, जो हमारे देश में अपर्याप्त मात्रा में या बिलकुल नहीं पाये जाते, को आयात करना जरूरी होगा।

जब किसी देश से हम कोई चीज आयात करते हैं तो उस देश को उसी मूल्य के बराबर किसी दूसरे व्यापारिक माल को भेजना पड़ता है। यह जाहिर है कि भारतीय सिक्कों तथा नोटों के माध्यम से किसी दूसरे देश से कोई वस्तु नहीं खरीद सकते। मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति अपनी चीज बेचने के बदले हमारी मुद्रा को स्वीकार करता है तो यह प्रश्न होगा कि वह इसको किस प्रकार खर्च करे? स्पष्टतया वह भारत से ही कोई वस्तु खरीदने में इसका उपयोग करेगा।

अन्य कोई देश तबतक हमें कोई वस्तु नहीं बेचेगा जबतक उसे हमसे कोई चीज खरीदने को न हो या हमें कर्ज देने को तैयार न हो या जिस वस्तु को हम चाहते हैं उसे दान-रूप में न दे। अपने माल को दूसरे देश में बेचने से, जो मुद्रा प्राप्त होती है उसे विदेशी मुद्रा कहते हैं। बाह्य देशों से हम काफी मात्रा में कर्ज और कुछ उपहार भी प्राप्त कर रहे हैं। फिर भी विदेशी मुद्रा की हमें विशेष जरूरत है। यही कारण है कि सरकार निर्यात के लिए व्यापारिक फसलों को पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करती है।

यह सच है कि विदेशी मुद्रा का ज्यादातर भाग सम्पन्न व्यक्तियों के लिए विलासिता की वस्तुओं पर तथा दूसरे तरीकों पर बरबाद होता है। यह भी सम्भव हो सकता है तथा वांछनीय भी है कि औद्योगिक विकास की गति को कुछ समय के लिए धीमा कर दिया जाय, ताकि बाहर से इतनी अधिक मात्रा में मशीनरी तथा कल-पुर्जों आदि का आयात न करना पड़े, लेकिन फिर भी हम आयात तथा विदेशी मुद्रा की आवश्यकता से अपने को वंचित नहीं कर सकते। दूसरी तरफ युद्ध की स्थिति तीव्र आर्थिक विकास तथा औद्योगिक क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के लिए अधिक-से अधिक दबाव डाल रही है।

गाँव जागे : दरिद्रता भागे

इसलिए, अधिक अन्न-उत्पादन के पक्ष में हम तिजारती फसलों की आवश्यकता को दूर नहीं कर सकते। *ग्रामीण की अपनी आय की वृद्धि के लिए* तथा देश की योजनाओं की पूर्ति के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता है, लेकिन हमें सन्तुलन लाने का प्रयत्न करना चाहिए और कौन प्राथमिक महत्त्व की वस्तु है, इसका स्पष्ट विचार रखना होगा। खाद्यान्न के *मामले में आत्मनिर्भरता* को हम बहुत समय से निरस्कृत करते रहे हैं। यह वह समय है, जब इसका प्राथमिक महत्व दिया गया है। इसके अलावा जितना अधिक तथा जितनी आवश्यकता की वस्तुएँ हैं, उन सबका उत्पादन किया जा सकता है और करना ही होगा। *प्रत्येक ग्रामदानी गाँव तथा अन्य गाँव*-समूह इस समस्या पर विचार करें। जो गाँव तथा

क्षेत्र अपने लिए पर्याप्त खाद्यान्न पैदा नहीं करते, वे यथाशीघ्र अधिक उत्पादन के लिए योजना बनायें।

इसको कार्यान्वित करने के लिए उन्हें तिजारती फसलों के उत्पादन में कटौती करनी होगी। दृढ़तापूर्वक इसपर अमल करना चाहिए। उत्पादन वृद्धि के लिए अधिक फसलें उगाने अर्थात् एक की जगह दो तथा दो की जगह तीन फसलें उगाने के आयोजन भी होने चाहिए। जमीन की उर्वरा शक्ति बढ जायगी तो खाद्य फसलें तथा अन्य फसलें पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न की जा सकती हैं। उन गाँवों तथा क्षेत्रों को, जो खाद्यान्न मे आत्मनिर्भर हैं, अधिक अन्न-उत्पादन तथा नयी फसलों को प्रारम्भ करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

ग्रामदानी गाँवों में अब भी ग्रामीणों की जोत की जमीन की मात्रा में बडी असमानता है। यह सम्भव है कि कुछ व्यक्ति, जिनके पास तुलनात्मक रूप से अधिक जमीन है, दूसरे ग्रामीणों को जमीन जोतने के लिए पट्टा पर देते हैं, लेकिन इन गाँवों में दूसरे गाँवों की तरह व्यवहार नही होना चाहिए, जहाँ काश्तकार बेदखल किये जाते हैं तथा ठगे जाते हैं, ताकि किसी काश्तकार के मन में असरक्षण की भावना न हो तथा वह उत्पादन की वृद्धि के लिए दिलोजान से प्रयत्न कर सके।

अच्छे बीज सुधरे तरीके

लेकिन, उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ और वस्तुओं की जरूरत है, जैसे—सिचाई की सुविधा, अच्छे बीज, मजबूत औजार, कीटाणु-नाशक दवाएँ, खेती के सुधरे तरीकों या ज्ञान आदि। राज्य सरकारों-द्वारा सामुदायिक विकास तथा अन्य विभागो के माध्यम से इस प्रकार की बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। हमें इनका अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए।

लेकिन, हमें अपने ही साधनो को अधिक बढाने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारा बहुत-सा समय बेकार जाता है। हमको इन बेकार घण्टो को श्रमदान या अन्य दूसरे तरीको से यथासम्भव उपयोग मे लाने की प्रतिज्ञा लेनी होगी। इस प्रकार हम नवीन सिंचाई की सुविधाएँ पैदा कर सकते हैं, जमीन की किस्म को सुधार सकते हैं तथा बेकार जमीन को खेती-योग्य बना सकते हैं। बचत की रकम जिन गाँवों के पास है, वह विकासकार्य के लिए ग्रामसभा को समर्पित की जा सकती हैं। हम अपना दिमाग इसमें लगायें तो नये-नये तरीके खोजने में समर्थ हो सकेंगे।

युद्ध के दिनों में सिपाहियों को दिन रात सजग रहना पडता है, अकथ कठिनाइयो तथा मृत्यु का भी सामना करना पड़ता है। उसी प्रकार की तत्परता की भावना प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए। प्रजातंत्र, स्वतन्त्रता तथा शान्ति की रक्षा के लिए प्रत्येक ग्रामसभा को एक मजबूत किले की तरह बनना होगा और उसके लिए सर्वोत्तम प्रयत्न करना होगा।

●

आप एक नये समाज के बनानेवाले हैं—गांधीजी के स्वप्नोंवाला समाज। यह समाज, जिसके बनाने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन बिता दिया और जिसकी नींव के लिए अन्त में उन्होंने अपना खून तक दे दिया, उसी के लिए जिये और उसी के लिए मरे, वह समाज, जिसमें कोई किसी का मुँह न ताके, कोई किसी पर जोर-जबरदस्ती न करे, मुहब्बत, प्रेम, अहिंसा और सहयोगवाला समाज, वह समाज, जिसका धुंधला-सा नकशा आज एक भटकती-दुखियारी दुनिया की रही-सही उम्मीद है। आप जान जायें कि आप इस समाज के बनानेवालों में हैं तो आपका बल १८ हजार गुना बढ़ जाय और ये ख्वाब हकीकत बन जायें। कैसा अच्छा हो, जो ये विश्वास आपके दिल में जम जायें। —डाक्टर जाकिर हुसैन

●

फिर सादगी की
ओर
क्यों न मुड़ें ?

•

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

१९२० की बात है।

आन्दोलन का तूफानी दौर। गिरफ्तारियाँ चल रही थीं। अँग्रेज सरकार राजनीतिक कैदियों के बारे में कोई नीति निर्धारित नहीं कर पा रही थी कि उनके साथ क्या व्यवहार करे ? परेशानी यह थी कि देश के सर्वोच्च लोग भी जेल में थे और अत्यन्त साधारण भी। कई उलट-फेर के बाद सरकार ने लखनऊ-जेल को नेताओं के लिए 'स्पेशल जेल' बना दिया।

पण्डित मोतीलाल नेहरू उसी जेल में रह रहे थे। उत्तर प्रदेश के चुने हुए लोग तो वहाँ थे ही, दूसरे प्रान्तों के भी कम लोग न थे। एक दिन पण्डित मोतीलाल-नेहरू के पास बैठे लोग गप-शप कर रहे थे कि लखनऊ की मिठाइयों का जिक्र चल पड़ा। बातों-बातों में मद्रास के श्रीनिवास आयंगर ने कहा—"अरे पण्डितजी, शान ही बघारते रहोगे या नमूना भी दिखाओगे उन मिठाइयों का !"

अपने शानदार स्वभाव के कारण पण्डित मोतीलाल ने कहा—"जनाब, नमूना नहीं, भर पेट।" और पण्डितजी ने सौ रुपये का नोट वार्डर को देकर कहा—"जाओ, बढ़िया मिठाई लाओ।"

जिन्होंने पण्डित मोतीलालजी को पास से देखा है, वे जानते हैं कि पण्डितजी इतने रोबीले आदमी थे कि उनसे बात करना साधारण आदमी के बस की बात न थी। वार्डर को भी यह हिम्मत न हुई कि वह पूछे—"कितनी मिठाई लाऊँ ?" बाजार पहुँचकर उसने अक्ल दौड़ायी कि इतने आदमी पण्डितजी के पास बैठे थे, दो-चार बढ़ भी सकते हैं, और वह दस रुपये की मिठाई ले आया।

उस जमाने में दस रुपये की काफी मिठाई आती थी। बड़ी टोकरी में मिठाई देखकर पण्डितजी खुश हो गये, पर वार्डर ने जब वे रुपये सामने किये तो भौंचक हो पूछा—"ये कैसे रुपये ?"

"आपने सौ रुपये का नोट दिया था सरकार।"

"नोट दिया था, तो मिठाई नहीं लाये ?"

"सरकार दस रुपये की मिठाई, बाकी नब्बे रुपये !"

पण्डित मोतीलाल नाराज हुए और जरा तीखे होकर बोले—"तुमने हलवाई से यह क्यों कहा कि मिठाई मोतीलाल ने मँगवाई है ?"

"सरकार ! मैंने आपका नाम नहीं लिया, मैं तो मिठाई लेकर चला आया।"

"चुप रहो, झूठ बोलते हो, तुमने मेरा नाम जरूर लिया। उस भले आदमी ने तभी तो रुपये लौटाये। मैं यह पसन्द नहीं करता कि कोई आदमी मेरी मुहब्बत की वजह से नुकसान उठाये।"

वार्डर सकपका गया। वह समझ ही न सका कि पण्डित मोतीलाल कहाँ उलझे हुए हैं। पण्डित कृष्णकान्त-मालवीय भी वहीं बैठे थे। उन्होंने पण्डितजी को पूरा समझाया, तो उन्होंने तीन बार उन रुपयों को माथे से छुआकर कहा—"लो आज पहली बार जाना कि रुपये वापस भी आते हैं।" और वे नब्बे रुपये उन्होंने उस वार्डर को ही बख्शिश में दे दिये। बात यह थी कि पण्डितजी को बाजार का क्या पता होता, अपने घर के रुपयों का ही पता न था। ऐसा वैभव था पण्डित मोतीलाल नेहरू का, जिसमें जवाहरलाल नेहरू ने आँखें खोलीं।

१९२१ की बात है

मुजफ्फरनगर में राजनीतिक कार्फ्रेंस हो रही थी। कर्मवीर सुन्दरलाल सभापति थे। एक बत्तीस साल का नौजवान भाषण देने को उठा—बेहद हसीन सूरत; पर वेश ? घुटनों को छूता सफेद मोटी खादी का कुरता, नीचे दो पाट की सिली मोटी खादी की धोती, सिर पर गांधीकैप और कन्धे से पुट्ठे तक झूलता थैला। दर्शकों ने देखा तो देखते ही रह गये।

सभापति ने उठकर युवक के कन्धे पर हाथ रखा और शंख-जैसी गूँजती आवाज में कहा—"यह जवाहरलाल है, जो अपने बादशाह बाप का इकलौता बेटा है, और थोडे दिन पहले राजकुमारों की तरह रहता था। पब्लिक में अफवाह है कि इसके कपडे पेरिस से धुलकर आते थे और यह सेण्ट में नहाया करता था। अब यह देश के वालण्टियर की ड्रेस में आपके सामने है। जब से इस पर गांधीजी की छडी फिरी है, यह देश का दीवाना बन गया है।'

मैंने उस दिन पहली बार जवाहरलाल को देखा था, पर उनके जीवन-परिवर्तन में, जो ज्वाला थी उसने उस दिन जाने कितनी जिन्दगानियों में आग लगा दी थी। कार्फ्रेंस से लौटते समय स्वामी नारायणानन्द सरस्वती ने कहा था—'बुद्ध और महावीर राजभवन छोडकर फकीरी में आये थे और जवाहरलाल भी राजभवन छोड-कर फकीरी में आया है। उन्होंने समाज में उथल-पुथल की थी, यह भी करेगा। मालूम होता है अँग्रेजी राज्य का समय समाप्त हो गया है।" मैंने बहुत बार सोचा है कि स्वामीजी ने उस दिन कैसी भविष्यवाणी की थी।

१९२७ की बात है

पूरा नेहरू-परिवार अपनी विदेश-यात्रा के बीच पेरिस में ठहरा हुआ था। पण्डित मोतीलाल नेहरू किसी काम से एक दो दिन के लिए लन्दन जा रहे थे। उन्होंने अपनी छोटी बेटी कृष्णा से पूछा—'तुम्हारे लिए क्या लाऊँ ?"

कृष्णा बहुत दिन से चमडे के एक कोट के लिए तरस रही थी। हाथ में पैसे थे, पर जवाहरलाल उसे विलास की चीजें समझते थे और उसके खरीदने की चर्चा होते ही गरम हो जाते थे। बाप ने पूछा तो कृष्णा ने झट कोट की बात कह दी। पण्डित मोतीलाल जब लन्दन की मशहूर दुकान पर कोट खरीदने पहुँचे, तो उन्हें यह भूल मालूम हुई कि वे कोट का नाप लेना भूल आये हैं। मोतीलालजी बादशाह आदमी थे। उनकी मनोवृत्ति थी—मेरी हरेक इच्छा पूर्ण हो। उन्होंने मैनेजर से कहा कि वे अपने यहाँ काम करनेवाली ऐसी लडकियों को एक लाइन में खडा कर दें, जिनकी लम्बाई पाँच फिट दो इंच के लगभग हो और उन्हें कोट पहनाकर देखा जाय कि मेरी लडकी के लिए कौन-सा कोट फिट रहेगा। शर्त अजीब थी, पर कोट के मुँहमाँगे दाम और लडकियों को इनाम भी तो साथ था। पण्डितजी की बात मान ली गयी।

पेरिस से लौटकर उन्होंने कोट खरीदने का किस्सा सुनाया, तो बेटी कृष्णा और बहू कमला ने उसमें खूब दिलचस्पी ली, पर जवाहरलाल ने सुना तो उबल पडे इस 'गलत और शानदार' बात पर —"पिताजी का केवल इसलिए कि,वह ऐसा कर सकते थे और उन्हें कोई रोकनेवाला न था, इस तरह की हरकत करना बडा गलत था।" बात यह थी कि जवाहरलाल में वैभव शान के प्रदर्शन की जगह फकीरी की सादगी रच-पच रही थी।

१९३७ की बात है

भारत के भाग्यविधाता आमचुनाव का दौर-दौरा था। कांग्रेस-अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू तूफानी दौरा कर रहे थे। वह हमारे जिले का दिन था। कार्यक्रम के अनुसार पहाडी क्षेत्र का दौरा कर दिन में तीन बजे वे सहारनपुर स्टेशन आये। अब शाम तक वे लिए वे मेरे चार्ज में थे। सिर मुँडाते ही ओले पडे की कहावत सुनी थी, पर यहाँ 'राष्ट्रपति नेहरू' का चार्ज लेते ही गोले बरस पडे। ज्योंही नेहरूजी रेल के डिब्बे में चढे, गरम हो गये।

डब्बा सेकेण्ड क्लास का था। साधुमना श्री शिवदत्त-उपाध्याय उनके निजी सचिव थे। वे पहाडी क्षेत्र के दौरे में साथ नहीं गये थे, हमारे साथ ही थे। उनकी तरफ मुखातिब होकर नेहरूजी उबले—"आपके दिमाग में यह नवाबी क्यों है ? सेकेण्ड क्लास ! शान में रहना है, तो कांग्रेस से रिश्ता छोडिए और बाहर धूम मचाइए।'

मैंने तोप का मुंह उपाध्यायजी की तरफ से अपनी तरफ कर लिया—"पण्डितजी इसमें उपाध्यायजी का कोई कसूर नहीं है। मैं फर्स्ट क्लास के टिकट ले रहा था, उपाध्यायजी के मना करने पर सेकेण्ड के ले लिये। इसमें कोई भूल है तो मेरी है।"

उबाल कुछ कम पड गया, फिर भी—"जनाब क्या कुछ कम हैं ! लेखक हैं, लेकिन दिमाग में शान है। हमारे मुल्क मे लेखक शानदार जिन्दगी नहीं जीते।"

मैंने तोप के मुंह में एक महकता फूल रख दिया—"जी, लेखक नहीं जीते, पर हमारे राष्ट्रपति तो शानदार हैं।" पण्डितजी का चेहरा मीठा पड गया—"जी हाँ !" इस बातचीत के कुछ देर बाद देवबन्द की आम सभा में मैंने सभापति पद से पण्डितजी का परिचय देते हुए कहा—"१९२१ में मैंने पण्डितजी को वैभव के सिंहासन से उतरकर फकीरी के आसन पर बैठते देखा। आज सहारनपुर के स्टेशन पर देखा कि वे तप कर अब सन्त हो गये हैं—भारत की भाषा में राजर्षि।"

फरवरी १९३१ और उसके बाद

५ फरवरी को लखनऊ में पण्डित मोतीलाल नेहरू की मृत्यु हो गयी और नेहरू-वंश का कल्पतरु सूख गया। जेब में रुपये होते गरीबी में जीवन बिताना बडी बात है पर मीठी बात है। जेब में रुपये न होते गरीबी में खुश रहकर जीवन बिताना बडी बात है, पर सख्त बात है। इन दोनों के साथ ही यह भी कि वैभव में बरसों जीने के बाद जेब में रुपया न होते और उसकी जरूरत रहते भी, अपनी जगह हिम्मत से टिके रहना बहुत सख्त होते हुए भी बहुत बडी बात है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू और उनका परिवार अब इसी हालत से गुजर रहा था और हिम्मत के साथ एक सख्त जिन्दगी जी रहा था। अपने नेता जवाहरलाल को समझने के लिए जरूरी है कि हम उस सख्त जिन्दगी को समझें।

निर्धनता से सख्त जिन्दगी में

पण्डित मोतीलाल नेहरू की गोद में राजकुमारों-जैसी जिन्दगी जीने के बाद जवाहरलाल कैसी सख्त जिन्दगी जी रहे थे।

११ मार्च १९३४ को श्रीमती कमला नेहरू ने श्री जमनालाल बजाज को लिखा था—"मैंने उस दिन जिक्र किया था। पन्द्रह सौ रुपये, जो फिक्स डिपाजिट थे, वे खर्च हो गये और दूसरी फिक्स डिपाजिट थी वह भी घर में ही खर्च होगी, तो इन्दु के (खर्च) में जो कमी थी वह पूरी नहीं हो सकेगी। हमारे मकान की छत फट गयी है। उसकी मरम्मत में भी काफी रुपया लगेगा।"

इसी पत्र में आगे—"सन्तानम् ने लक्ष्मी इन्श्योरेंस में, जो ५० शेयर थे, वे जवाहर के नाम कर दिये हैं। उनका सूद २५ से वही दिया है। मैंने लाडके भाई से कहा है कि उन्हें लिखकर मँगा लें। शायद पांच सौ रुपये होंगे।"

घर का गड्ढा इतना छोटा नहीं था कि वह इस तरह की उलटा पलटी से भर जाये। पासबुक ने जवाब दिया, तो हाथ आस-पास घूमा और नौबत उस जेवर को बेचने पर पहुँची, जो श्रीमती स्वरूप रानी और श्रीमती कमला के लिए पण्डित मोतीलाल नेहरू ने धन खर्च करके नहीं, धन बिखेरकर बनवाया था। बेचारे जवाहरलाल को क्या पता जेवर के मोल-तोल का ? फिर अपना जेवर बाजार में बेचने जाना और उसका भाव-ताव करना, हत्या की ऐसी नहर खोदना है कि आदमी उसके किनारे खडा होकर ही उसमें डूब जाये।

गिरी पडी के यार मुकन्दा, जो काम किसी से न हो, उसे करें जमनालाल बजाज। तो बेचने के लिए हीरे का लाकेट जमनालालजी को भेजा गया। हाय रे, अर्थी 'अर्थी दोषान्न पश्यति'—गरज का बावला दोषों को नहीं देखता। लाकेट को निकालते-भेजते समय किसीने *ध्यान से नहीं देखा। उस समय की मानसिक दशा का,* दिमागी अस्तव्यस्तता का कितना सूक्ष्म चित्र है यह। बाप रे, जमनालाल बजाज ! दाने-दाने पर नजर रखने-वाले थे। लाकेट को देखते ही उन्होंने जवाहरलाल का ध्यान एक बडे ही बारीक मुद्दे पर खींचा।

२९ दिसम्बर, १९३२ को जवाहरलाल ने उन्हें जो पत्र लिखा, उससे वह मुद्दा स्पष्ट होता है—"पूछा है कि जो हीरे का लाकेट है (मेरी तसवीर का) वह तसवीर के साथ बेचा जा सकता है या नहीं? वह लाकेट पापा ने माताजी को दिया था और तसवीर खास उनके लिए बनवायी थी। उस तसवीर को वह रखना चाहती हैं और मैं भी नहीं चाहता कि वह बेची जाय। इसलिए कृपा करके तसवीर को न बेचें, खाली हीरे के लाकेट को अलग करें।"

१९२१ की बात है

मुजफ्फरनगर में राजनीतिक कार्फ्रेंस हो रही थी। कर्मवीर सुन्दरलाल सभापति थे। एक बत्तीस साल का नौजवान भाषण देने को उठा—बेहद हसीन सूरत, पर वेश ? घुटनों को छूता सफेद मोटी खादी का कुरता नीचे दो पाट की सिली मोटी खादी की धोती सिर पर गांधीकैप और कन्धे से पुट्ठे तक झूलता थैला। देखा तो देखते ही रह गये।

सभापति ने उठकर युवक के कन्धे पर हाथ रखा और दाख जैसी गूंजती आवाज में कहा— यह जवाहरलाल है जो अपने बादशाह बाप का इकलौता बेटा है और थोड़े दिन पहले राजकुमारों की तरह रहता था। पब्लिक में अफवाह है कि इसके कपड़े पेरिस से धुलकर आते थे और यह सेण्ट में नहाया करता था। अब यह देश के वालण्टियर की ड्रेस में आपके सामने है। जब से इस पर गांधीजी की छड़ी फिरी है यह देश का दीवाना बन गया है।

मैंने उस दिन पहली बार जवाहरलाल को देखा था, पर उनके जीवन-परिवर्तन में जो ज्वाला थी उसने उस दिन जाने कितनी जिन्दगानियों में आग लगा दी थी। कान्फ्रेंस से लौटते समय स्वामी नारायणानन्द सरस्वती ने कहा था— बुद्ध और महावीर राजभवन छोड़कर फकीरी में आये थे और जवाहरलाल भी राजभवन छोड़कर फकीरी में आया है। उन्होंने समाज में उथल-पुथल की थी यह भी करेगा। मालूम होता है अंग्रेजी राज्य का समय समाप्त हो गया है। मैंने बहुत बार सोचा है कि स्वामीजी ने उस दिन कैसी भविष्यवाणी की थी!

१९२७ की बात है

पूरा नेहरू-परिवार अपनी विदेश-यात्रा के बीच पेरिस में ठहरा हुआ था। पण्डित मोतीलाल नेहरू किसी काम से एक दो दिन के लिए लन्दन जा रहे थे। उन्होंने अपनी छोटी बेटी कृष्णा से पूछा— तुम्हारे लिए क्या लाऊँ ?

कृष्णा बहुत दिन से चमड़े के एक कोट के लिए तरस रही थी। हाथ में पैसे थे पर जवाहरलाल उसे विलास की चीज समझते थे और उसके खरीदने की चर्चा होते ही गरम हो जाते थे। बाप ने पूछा तो कृष्णा ने झट कोट की बात कह दी। पण्डित मोतीलाल जब लन्दन की मशहूर दुकान पर कोट खरीदने पहुँचे तो उन्हें यह भूल मालूम हुई कि वे कोट का नाप लेना भूल आये हैं। मोतीलालजी बादशाह आदमी थे। उनकी मनोवृत्ति थी—मेरी हरेक इच्छा पूर्ण हो। उन्होंने मैनेजर से कहा कि वे अपने यहाँ काम करनेवाली ऐसी लड़कियों को एक लाइन में खड़ा कर दें जिनकी लम्बाई पाँच फिट दो इंच के लगभग हो और उन्हें कोट पहनाकर देखा जाय कि मेरी लड़की के लिए कौन-सा कोट फिट रहेगा। शर्त अजीब थी पर कोट के मुँहमाँगे दाम और लड़कियों को इनाम भी तो साथ था। पण्डितजी की बात मान ली गयी।

पेरिस से लौटकर उन्होंने कोट खरीदने का किस्सा सुनाया तो बेटी कृष्णा और बहू कमला ने उसमें खूब दिलचस्पी ली पर जवाहरलाल ने सुना तो उबल पड़े इस गलत और शानदार बात पर — पिताजी का केवल इसलिए कि वह ऐसा कर सकते थे और उन्हें कोई रोकनेवाला न था इस तरह की हरकत करना बड़ा गलत था। बात यह थी कि जवाहरलाल में वैभव-शान के प्रदर्शन की जगह फकीरी की सादगी रच-पच रही थी।

१९३७ की बात है

भारत के भाग्यविधाता आमचुनाव का दौर-दौरा था। कांग्रेस अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू तूफानी दौरा कर रहे थे। वह हमारे जिले का दिन था। कार्यक्रम के अनुसार पहाड़ी क्षेत्र का दौरा कर दिन में तीन बजे वे सहारनपुर स्टेशन आये। अब शाम तक के लिए वे मेरे चार्ज में थे। सिर मुंडाते ही ओले पड़े की कहावत सुनी थी पर यहाँ राष्ट्रपति नेहरू का चार्ज लेते ही गोले बरस पड़े। ज्योंही नेहरूजी रेल के डिब्बे में चढ़े गरम हो गये।

डब्बा सेकेण्ड क्लास का था। साधुमना श्री शिवदत्त उपाध्याय उनके निजी सचिव थे। वे पहाड़ी क्षेत्र के दौरे में साथ नहीं गये थे हमारे साथ ही थे। उनकी तरफ मुखातिब होकर नेहरूजी उबले— आपके दिमाग में यह नवाबी क्यों है ? सेकेण्ड क्लास! शान से रहना है तो कांग्रेस से रिश्ता छोड़िए और बाहर धूम मचाइए।

मैंने तोप का मुंह उपाध्यायजी की तरफ से अपनी तरफ कर लिया—"पण्डितजी इसमें उपाध्यायजी का कोई कसूर नहीं है। मैं फर्स्ट क्लास के टिकट ले रहा था, उपाध्यायजी के मना करने पर सेकेण्ड के ले लिये। इसमें कोई भूल है तो मेरी है।"

उबाल कुछ कम पड गया, फिर भी—"जनाब क्या कुछ कम हैं! लेखक हैं, लेकिन दिमाग में शान है। हमारे मुल्क में लेखक शानदार जिन्दगी नहीं जीते।"

मैंने तोप के मुंह में एक महकता फूल रख दिया—"जी, लेखक नहीं जीते, पर हमारे राष्ट्रपति तो शानदार हैं।" पण्डितजी का चेहरा मीठा पड गया—"जी हाँ!" इस बातचीत के कुछ देर बाद देवबन्द की आम सभा में मैंने सभापति पद से पण्डितजी का परिचय देते हुए कहा—"१९२१ में मैंने पण्डितजी को वैभव के सिंहासन से उतरकर फकीरी के आसन पर बैठते देखा। आज सहारनपुर के स्टेशन पर देखा कि वे तप कर अब सन्त हो गये हैं—भारत की भाषा में राजर्षि।"

फरवरी १९३१ और उसके बाद

५ फरवरी को लखनऊ में पण्डित मोतीलाल नेहरू की मृत्यु हो गयी और नेहरू-वंश का कल्पतरु सूख गया। जेब में रुपये होते गरीबी में जीवन बिताना बडी बात है पर मीठी बात है। जेब में रुपये न होते गरीबी में खुश रहकर जीवन बिताना बडी बात है, पर सख्त बात है। इन दोनों के साथ ही यह भी कि वैभव में बरसों जीने के बाद जेब में रुपया न होते और उसकी जरूरत रहते भी, अपनी जगह हिम्मत से टिके रहना बहुत सख्त होते हुए भी बहुत बडी बात है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू और उनका परिवार अब इसी हालत से गुजर रहा था और हिम्मत के साथ एक सख्त जिन्दगी जी रहा था। अपने नेता जवाहरलाल को समझने के लिए जरूरी है कि हम उस सख्त जिन्दगी को समझें।

निर्धनता से सख्त जिन्दगी में

पण्डित मोतीलाल नेहरू की गोद में राजकुमारों-जैसी जिन्दगी जीने के बाद जवाहरलाल कैसी सख्त जिन्दगी जी रहे थे!

११ मार्च १९३४ को श्रीमती कमला नेहरू ने श्री जमनालाल बजाज को लिखा था—'मैंने उस दिन जिक्र किया था। पन्द्रह सौ रुपये, जो फिक्स डिपाजिट थे, वे खर्च हो गये और दूसरी फिक्स डिपाजिट थी वह भी घर में ही खर्च होगी, तो इन्दु के (खर्च) में जो कमी थी वह पूरी नहीं हो सकेगी। हमारे मकान की छत फट गयी है। उसकी मरम्मत में भी काफी रुपया लगेगा।"

इसी पत्र में आगे—"सन्तानम् ने लक्ष्मी इन्श्योरेंस में, जो ५० शेयर थे, वे जवाहर के नाम कर दिये हैं। उनका सूद २५ से बही दिया है। मैंने लाडन्जे भाई से कहा है कि उन्हें लिखकर मँगा लें। शायद पाँच सौ रुपये होंगे।"

घर का गड्ढा इतना छोटा नहीं था कि वह इस तरह की उलटा पलटी से भर जाये। पासबुक ने जवाब दिया, तो हाथ आस-पास घूमा और नौबत उस जेवर को बेचने पर पहुँची, जो श्रीमती स्वरूप रानी और श्रीमती कमला के लिए पण्डित मोतीलाल नेहरू ने धन खर्च करके नहीं, धन बिखेरकर बनवाया था। बेचारे जवाहरलाल को क्या पता जेवर के मोल-तोल का? फिर अपना जेवर बाजार में बेचने जाना और उसका भाव-ताव करना, हत्या की ऐसी नहर खोदना है कि आदमी उसके किनारे खडा होकर ही उसमें डूब जाये।

गिरी-पडी के यार मुकन्दा, जो काम किसी से न हो, उसे करें जमनालाल बजाज। तो बेचने के लिए हीरे का लाकेट जमनालालजी को भेजा गया। हाय रे, अर्थी अर्थी दोषान्न पश्यति—गरज का बावला दोषों को नहीं देखता। लाकेट को निकालते भेजते समय किसीने ध्यान से नहीं देखा। उस समय की मानसिक दशा का, दिमागी अस्तव्यस्तता का कितना सूक्ष्म चित्र है यह। बाप रे, जमनालाल बजाज! दाने-दाने पर नजर रखने-वाले थे। लाकेट को देखते ही उन्होंने जवाहरलाल का ध्यान एक बडे ही बारीक मुद्दे पर खींचा।

२९ दिसम्बर, १९३२ को जवाहरलाल ने उन्हें जो पत्र लिखा, उससे वह मुद्दा स्पष्ट होता है—"पूछा है कि जो हीरे का लाकेट है (मेरी तसवीर का) वह तसवीर के साथ बेचा जा सकता है या नहीं? वह लाकेट पापा ने माताजी को दिया था और तसवीर खास उनके लिए बनवायी थी। उस तसवीर को वह रखना चाहती हैं और मैं भी नहीं चाहता कि वह बेची जाय। इसलिए कृपा करके तसवीर को न बेचें, खाली हीरे के लाकेट को अलग करें।"

यह सिलसिला जारी रहा। उसमें कितने उतार-चढ़ाव आये, इसका पता उस पत्र से चलता है, जो जवाहरलाल ने १० अक्तूबर १९३३ को जमनालालजी को लिखा—'आप हमारे लिए जो कुछ कर रहे हैं, उसके बारे में यदि मैं आपके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करूँ तो आशा है आप इसे अनुचित समझेंगे। आप कहेंगे कि दोस्तों और भाइयों के बीच ऐसी जाहिरदारी नहीं होनी चाहिए। कुछ हद तक यह सही है, मगर फिर भी कमला और मैं दोनों महसूस करते हैं कि इसमें कोई जाहिरदारी की बात नहीं है और हमें आपके प्रति उस तमाम प्रेम, चिंता और ध्यान के लिए, जो आप हमारी सहायता के लिए और हमें अपने कुछ चिंताभार से छुड़ाने के लिए काम में ला रहे हैं, अपनी कृतज्ञता दिखानी ही चाहिए।'

यह सिलसिला टूटा नहीं और जेवर का बक्स खाली हो चला। अब उसमें हाथ डालने का मतलब था शून्य हो जाना। नारी के लिए जेवर विहीन होने की कल्पना ही दुखद है। मुझे याद है, श्रीमती सरोजनी नायडू बुढ़ापे में भी अपना लाकेट बड़ी शान से पहनती थीं। श्रीमती कमला की मनोवृत्ति का पता उस पत्र से चलता है, जो जवाहरलाल ने २८ दिसम्बर १९३५ को विदेश से जमनालालजी को लिखा—"जेवर के बारे में जो आपने पूछा, उसका जिक्र मैंने कमला से कुछ दिन हुए किया था। उसने कुछ साफ जवाब नहीं दिया। अच्छा होगा, अगर आप इस सवाल को अभी अटका रखें। मेरी वापसी पर बातचीत हो जायगी।"

कैसी बेबसी है—'उसने कुछ साफ जवाब नहीं दिया'—क्या जवाब दे कमला? परिस्थितियों का तकाजा है जेवर बेचा जाय, पर मनस्थितियों का तकाजा है इतना तो बच ही जाय। दो महीने की उधेड़-बुन में परिस्थितियाँ जीत गयीं मनस्थितियाँ हार गयीं। १० फरवरी १९३६ को लोजान से जवाहरलाल ने जमनालालजी को लिखा—" लेकिन, मैं सोचता हूँ कि उसको बच देना ही ठीक होगा। यहाँ खर्च की तो कोई इंतहा ही नहीं है और स्विटजरलैण्ड तो खास तौर से महँगा मुल्क है। मरीज के इलाज में जो कुछ खर्च होता है वह तो है ही, लेकिन जब नर्सें रखनी पड़ती हैं, तो यह दुगना तिगुना हो जाता है। आजकल और अरसे से कमला की हालत ऐसी है कि दो नर्सों की जरूरत है। मालूम नहीं, कबतक यह सिलसिला जारी रहे। इसलिए यह बेहतर है कि और रुपयों का इन्तजाम जल्दी से कर दिया जाय। जो जेवर यहाँ हैं उनको मुनासिब दाम पर बिकवा दीजिए।'

वैभव में पले और स्वभाव से अपनी इच्छाओं के राजकुमार जवाहरलाल के लिए पैसे का यह दबाव, मृत्यु की ओर बढ़ती पत्नी के साथ उस दबाव पर सलाह और विदेश का अकेलापन कितना उत्पीड़क रहा होगा, इसे जवाहरलाल-जैसा भावुक होकर ही हम अनुभव कर सकते हैं।

१२ अप्रैल १९३७ को जमनालालजी ने जवाहरलाल को लिखा—"श्री कमला बहन के और तो सब जेवर बिक चुके हैं। मोती की कण्ठी भी बेच दी। केवल हीरे की चूड़ियाँ रह गयीं। हाल में २२५०) से ज्यादा में 'लेवाल' नहीं है।" अन्त में जमनालालजी ने २५००) में शायद अपनी बहू के लिए स्वयं ही खरीद लिया और इस तरह कमला की मृत्यु के कुछ दिन बाद उनके जेवरों की बिक्री का काम भी पूर्ण हो गया। कितनी मर्मान्तक थी यह पूर्णता? उफ, स्वर्गीय पत्नी के जेवरों की बिक्री आर्थिक परेशानियों के कारण! राष्ट्रीय संग्रहालयों में रखने लायक चीजें साधारण जौहरियों की कसौटी पर!"

जरूरत के गड्ढे किसी की परेशानी को कहाँ देखते हैं? वे अब भी गहरे थे, भूखे थे और माँगने के शिकार। २६ मई १९३८ को जवाहरलाल ने लिखा था—"गणेशन ने मेरी आत्मकथा के तमिल-संस्करण के लिए कुछ भी रकम अदा नहीं की। मैंने उसे लिखा कि मैं उसके खिलाफ कार्रवाई करूँगा। तब कहीं उसने मुझे हिसाब भेजा कि उस पर मेरे ५००) से अधिक लेना निकलते हैं। उसने मुझे यह रकम १५ मई तक भेजने का वादा किया था। उसने वह वादा पूरा नहीं किया। यह हिसाब सही है या नहीं, इसका भी कुछ पता नहीं।"

कितना बोझ था दिमाग पर कि जवाहरलाल ने अपने प्रकाशक को मुकदमे की धमकी दी, उसके द्वारा ५००) मिलने की बेकरार इन्तजार की, और हिसाब के ठीक होने में शक किया—यानी, ये रुपये ज्यादा

होते। किताबों ने उस गरीबी में बहुत साथ दिया और चलते रहने में मदद की, फिर भी श्रीमती कृष्णा हठीसिंह के शब्दों में स्थिति यह थी—"हमारी आर्थिक हालत अब इतनी अच्छी न थी। हममें से किसी के लिए भी जीवन सुखी या आसान न था।"

बस, इस मुश्किल जिन्दगी की एक तसवीर और श्रीमती कृष्णा हठीसिंह की ही कलम से—' (इलाहाबाद स्टेशन पर गाडी से उतरकर) हम घर गये। अब की बार मोटर पर नहीं, इसलिए कि अब हमारे पास कोई मोटर नहीं थी। हम एक पुराने तांगे पर घर गये, जो इलाहाबाद की खराब सडकों पर रेंगता-सा जान पडता था। आखिर हम आनन्द भवन के दरवाजा में से दाखिल हुए। इस बार मैंने वहां जो कुछ देखा, उससे बिल्कुल भिन्न था, जो मैं देख चुकी थी। अब न तो वहां ज्यादा रोशनी थी, न इधर-उधर दौडनेवाले नौकर-चाकर। पूरे कमरे में अंधेरा था, सिर्फ बाहर के दरवाजे पर एक बत्ती धीमी धीमी जल रही थी और एक कमरे में कुछ रोशनी दिखाई दे रही थी। हमारा घर उदास, उजडा हुआ और खामोश दिखाई दे रहा था। मुझपर भी गम और उदासी छाई हुई थी और मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं किसी ऐसी जगह आ गयी हूं, जिससे मैं वाकिफ नहीं हूं, और नहीं जानती कि आगे चलकर क्या दिखाई देगा।'

ऐसी कठोर जिन्दगी जी रहे थे जवाहरलाल, अपने प्यारे देश की आजादी के लिए!

सख्त जिन्दगी से शान के मंच पर

पण्डित मोतीलाल नेहरू की शाही गोद में पलने-पनपने के बाद जवाहरलाल नेहरू और उनका परिवार गरीबी की, तप की, साधना की जो सख्त जिन्दगी जी रहा था, श्रीमती कृष्णा हठीसिंह की कलम से उसकी एक भावुक झांकी यह है—

'एक बडा भारी पुराना मकान, आदमियों से भरा हुआ, इसमें वे सारे सामान मौजूद हैं, जो अच्छी तबीयत और दौलत, दोनों मिलकर जमा कर सकते हैं।

"कुछ साल बाद। मकान वही था, पर वहां की शान-शौकत सब गायब हो चुकी थी। कुछ साल पहले वहां, जो ठाट-बाट दिखाई दिया करता था, उसकी जगह अब सादगी ने ले ली थी, पर मकान में रहनेवाले वही पुराने लोग थे और मकान के मालिक के दिल से निकली हुई हंसी अब भी घर भर में गूंजती थी, और जिनके दिल पर कुछ उदासी छायी हो, उनका दिल बढाती थी। इस मकान में और उसमें रहनेवालों में, जो फर्क हुआ था, वह किसी मुसीबत या बदनसीबी से नहीं हुआ था, बल्कि उसका सबब यह था कि लोगों के दृष्टिकोण में और राजनीतिक विश्वासों में तबदीली हो गयी थी।

"कुछ साल और निकल गये। पुराने मकान के करीब ही अब एक नया मकान और बन गया था। नया मकान क्या था, एक सपना था, जिसे एक प्रेमी पिता ने अपने प्रिय पुत्र के लिए मकान का रूप दे दिया था, पर इसके रहनेवाले को उससे सुख बहुत कम, और दुख बहुत ज्यादा मिला।

'मैंने एक सुनसान घर देखा। जिसमें अब हंसी-खुशी नाम को थी। यह मकान एक बाग के बीच में था पर बाग की अब देखभाल नहीं होती थी। मकान के अन्दर एक कमरे में उस घर का बेटा बैठा हुआ था। वह अपनी मेज के पास बैठा काम कर रहा था। हमेशा काम करते रहना उसकी आदत थी। उसकी जिन्दगी आराम की जिन्दगी नहीं थी और न उसे आगे चलकर कोई खास सुख या आराम मिलने की आशा थी, क्योंकि उसने अपने लिए एक सीधा और तंग रास्ता अख्तियार किया था और उस रास्ते से पीछे फिरने का सवाल ही पैदा नहीं होता था।"

निष्कर्ष भी उसी कलम से

जीवन की अनिश्चितता जो हमारे कुटुम्ब के हिस्से में आयी है और जो हमारे और बहुत से देशवासियों के हिस्से में भी आयी है, ऐसी चीज है, जो इनसान को धीरे धीरे थका देती है। मैं इस आशा पर जीती हूं कि फिर सब कुछ ठीक होगा, फिर अजीज एकसाथ मिल बैठेंगे, फिर सुख-शांति के दिन आयेंगे, फिर हमारा देश

सम्पन्न होगा; पर सच तो यह है कि भविष्य अभी इतना रोशन नजर नहीं आता।

जवाहरलाल, जो थकानेवाली सख्त जिन्दगी जी रहे थे, उसकी सबसे सख्त बात यह थी कि उसे आगे चलकर कोई खास सुख या आराम मिलने की आशा न थी और सच तो यह है कि भविष्य अभी इतना उज्ज्वल दिखाई न देता था।

इसी आशा विहीन, पर दुखनापूर्ण स्थिति में १९४२ की क्रान्ति तक का समय बीत गया। क्रान्ति ने अपना काम किया, विश्व युद्ध ने अपना। क्रान्ति ने भारत को ताकतवर बनाया, विश्वयुद्ध ने इंगलैण्ड को कमजोर। क्रान्ति ठण्डी पड चली थी, पर उसके दूसर उभार को झेलने की ताकत अँग्रेजों में न थी। इसके विरुद्ध गाधीजी में क्रान्ति का नया उफान उठाने की पूरी ताकत बाकी थी और यही भारत की स्वतन्त्रता का अंकुर उगा-पनपा था। जून १९४५ में जवाहरलाल जेल से बाहर आ गये थे और वाइसराय केवल भारत की स्वतन्त्रता का ताना-बाना पूर रहे थे।

जब दमित सुखेच्छा ने पहली अँगड़ाई ली

इस बीच की एक घटना ने जवाहरलाल की वैभव में जनमी, पली और गरीबी के सख्त माहोल में जूझती जिन्दगी को एक पहला शानदार स्पर्श दिया। यह घटना थी भारत के वाइसराय द्वारा जवाहरलाल को भारत के पडोसी वर्मा-लका-क्षेत्र घूमने में सहयोग देना और वहाँ उनका उस क्षेत्र के सेनाध्यक्ष श्री माउण्टबैटन के घर अतिथि होना। वहाँ उन्होंने शानदार जिन्दगी का वही प्रवाह देखा, जो बचपन में अपने पिता के जीवन में, रहन-सहन में देखा था। मैंने अक्सर सोचा है कि जवाहर-लाल ने उस जीवन में साँस लेते समय मन-ही-मन सोचा होगा— ओह, यह जीवन! और उनकी बरसो से शमित-दमित सुखेच्छा ने पहली अँगडाई ली होगी उस दिन।'

इसके कुछ दिन बाद वे लम्बी बातें आरम्भ हुई, जिनमें जवाहरलाल को बराबर और बार बार वाइसराय-भवन के वातावरण में जाना आना और घुलना मिलना पडा जिससे सुखेच्छा की उस अँगडाई ने कामना का रूप लिया। गीता की सूक्ति है—संगात् संजायते कामः —संग से इच्छा उत्पन्न होती है। १२ अगस्त १९४६ को वेवल ने उन्हें अस्थाई सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया और २ सितम्बर १९४६ को जवाहरलाल भारत के प्रधानमंत्री बन गये। अब शानदार जिन्दगी कल्पना की नहीं, व्यवहार की थी और वे शाही शान के बीच थे, जैसे उनके पिता का समय फिर लौट आया हो।

हिन्दुस्तान अब भी गुलाम था, पर उसकी गुलामी को खतम करने की बातचीत जोरों से चल रही थी। यह बातचीत आजादी और बँटवारे को एकसाथ मिला रही थी और अँग्रेजी कूटनीति ने कांग्रेस को एक ऐसी चौकी पर ला बिठाया था, जिसके एक तरफ था बँटे हुए आजाद हिन्दुस्तान का शानदार तख्त और दूसरी तरफ एक लम्बे ज्वालामुखी संघर्ष का हवन-कुण्ड। गाधीजी का मन हवन-कुण्ड की ओर था, पर वर्मा-यात्रा में जवाहरलाल के मन में वैभव का, आराम का, शान का, जो बीज पडा था वह इतने महीने प्रधानमंत्री रहने के बाद अंकुरित हो पौधा बन गया था और अब उस ज्वालामुखी-लम्बे संघर्ष के हवनकुण्ड में कूदने का चाव जवाहरलाल में न था। इतिहास का कैसा मजाक है कि कांग्रेस का सबसे अधिक संघर्षशील व्यक्ति जवाहरलाल ही सबसे पहले आजादी और बँटवारे के प्रस्ताव से सहमत हुआ। उनके बाद सरदार पटेल, और तब १५ जून १९४७ को कांग्रेस ने इन पर स्वीकृति की मुहर लगायी और १५ अगस्त १९४७ को जवाहरलाल स्वतन्त्र भारत के प्रधानमंत्री हुए।

गरीबी के बोझ में दमित और शमित वैभव की इच्छा के उस नये पनपे पौधे का अब क्या हाल था? वह अब वृक्ष हो गया था और उसे हमने देखा उस दिन, जिस दिन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने लिए कमाण्डर इनचीफ करियप्पा से अपने रहने के लिए त्रिमूर्ति भवन खाली कराया और उसे नये ढग से सजाया गया। अब वे यों जी रहे थे कि जैसे जीवन-पुस्तक में पण्डित मोतीलाल के वैभव और प्रधानमंत्री नेहरू के वैभव के बीच गरीबी की सख्त जिन्दगी का जो अध्याय है, उसे निकालकर उस पुस्तक का नया राज-संस्करण कर रहे हो। राष्ट्रमण्डल के प्रधानमंत्रियों के प्रथम सम्मेलन में वे शामिल हुए, तो इतने शानदार विदेशों में थे कि भारत के प्रधानमंत्री से अधिक वे इंगलैण्ड के ड्यूक

जँच रहे थे। उस रूप में उनका फोटो भारत के पत्रों में छपा, तो उसकी काफी कड़वी आलोचना हुई।

जवाहरलाल भीड़ को प्रभावित करते थे, भीड़ से प्रभावित होते थे, इसलिए वह सूट उन्होंने फिर कभी नहीं पहना, पर वह था उन्हें बहुत प्रिय। उसे पहनकर उनके मन में शायद अपने शाही पिता के उस सूट की इन्द्रधनुषी झाँकी झलक आती थी, जो उन्होंने सन् १९११ के दिल्ली-दरबार में पहना था और जो पण्डित मोतीलाल को इतना प्रिय था कि १९२० में जब नेहरू-परिवार के विदेशी वस्त्रों की होली जलाने के लिए कपड़ों का ढेर लगाया गया तो उस सूट को उन्होंने हाथ बढ़ाकर उठा और रख लिया था।

इसके बाद तो शान की, वैभव के प्रदर्शन की, और उपभोग की आँधियाँ उठ गयीं। शान के खर्चीले जीवन ने जवाहरलाल को गांधीजी से लाखों कोस दूर कर दिया। यहाँ, जवाहरलाल की शान में गांधीजी का दम टूट गया और वे जीने का चाव खो बैठे। गांधीजी के अतिथि अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर को नाश्ते में श्रीमती जीवराज मेहता ने कुछ बढ़िया चीजें परस दी थीं और गांधीजी ने उन्हें साधारण से बहुत ज्यादा गहरी झाड़ पिलायी थी, पर नेहरू-सरकार ने शाही भोजों का तांता बाँध दिया।

गांधीजी का कहना था कि हमारे मंत्री-मिनिस्टर उसी सादगी से रहें, जिससे वे अपने घरों में मंत्री बनने से पहले रहते थे, पर नेहरू-सरकार के मंत्रियों का जीवन कहाँ था, इसका उदाहरण पण्डित गोविन्द वल्लभ-पन्त ने दिया। वे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री का पद छोड़कर केन्द्रीय गृहमंत्री के रूप में नयी दिल्ली आये, तो अपनी कोठी में उनका मन नहीं रमा, तब एक इंजिनियर लखनऊ गया और उनकी कोठी की सज-सज्जा का पूरा नक्शा बना लाया। बाद में दिल्ली की उनकी कोठी बिलकुल उसी रूप में सज्जित की गयी और इसमें लगभग ५० हजार रुपये खर्च हुए।

संविधान में महामहिम राष्ट्रपति का वेतन दस हजार रुपये महीना रखने पर जब सदस्यों ने गांधीजी का नाम लेकर आपत्ति उठायी, तो जवाहरलाल ने साफ शब्दों ने कहा कि राष्ट्रपति की शान के लिए यह आवश्यक है। बाद में एक राजा ने राष्ट्रपति को हाथी भेंट कर दिया और उसपर लोकसभा में चर्चा हुई तो जवाहरलाल ने कहा—"उसे बेचना हटाना राष्ट्रपति की शान के खिलाफ है।"

१९४६ की जुलाई में गांधीजी से लुई फिशर ने कहा था—"आपने कहा था कि पाल ने ईसा के उपदेशों को विकृत कर दिया। क्या आपके साथ वे लोग भी ऐसा ही करेंगे?" गांधीजी ने उत्तर दिया था—"उनके भीतर क्या है, वह मुझे दिखाई देता है। हाँ, मैं जानता हूँ कि शायद वे भी ठीक वैसा ही करने का प्रयत्न करें।" गांधीजी की यह भविष्यवाणी सच निकली और जवाहरलाल के मन में व्यक्तिगत वैभव की दमित इच्छा राष्ट्रगत रूप में इस तरह फल फूल उठी कि हम जड़ को भूल पत्तों के फैलाव में उलझ गये। गांधीजी की समाधि पर बेमतलब लाखों रुपये लगानेवालों ने खुलेआम कहा—"रैनबसेरों के निर्माण के लिए रुपयों का अभाव है।" देश में कारों की चमक पाँच-सात गुनी बढ़ गयी, पर बेकारों और गरीबों का जीना दूभर हो गया।

गांधीजी ने कहा था—'बचाओ' पर नेहरू-सरकार का सूत्र हो गया—'बहाओ।' समाजवाद के नारे गूँजते रहे और नये लखपतियों की संख्या बढ़ती रही। कलश प्रदीप्त हो उठे, नींव कानखजूरों से भर गयी। कृषि की दशा बिखरी-की-बिखरी रही, पर कृषि-भवन ८ मंजिल ऊँचा हो गया। भारत युद्ध-विरोधी संसार के निर्माण में जुटा रहा और चीन-पाकिस्तान उसका मुँह थपथपाते रहे। संक्षेप में देश में धन-वैभव के मूल्य बढ़ गये और नैतिकता के मूल्य शून्य हो गये। इससे भी बढ़कर यह हुआ कि गांधीजी के द्वारा जिस समाज-दृष्टि से समाज की रचना हुई थी, वह व्यक्तिवादी हो गयी। हरेक को अपनी पड़ गयी।

जवाहरलाल ईमानदार और नेक इनसान थे। वे अनुभव करते थे कि भूल हो गयी है। उस भूल से बचना चाहते थे, पर बच न पाते थे। झुँझलाते थे, गुर्राते थे और शान्त हो जाते थे। नागालैण्ड की रचना के समय मुख्यमंत्री आओ से उन्होंने कहा था—"शान से बचना, हम तो उसमें उलझ ही गये हैं।" ओह, कितना दर्द था उस वाक्य में!

भारत की आत्मा के रवि रवीन्द्रनाथ ने मुष्टिबद्ध हाथ उठाकर अपनी पूरी शक्ति के साथ देशवासियों से कहा था—"ओ मेरे बन्धुओ! अपनी सादगी की स्वेत पोशाक में अभिमानी और शक्तिशाली के सामने खड़े होने पर तुम्हें लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे सिर पर मुकुट हो और तुम्हारी आजादी का अर्थ हो आत्मा की आजादी। अपनी निर्धनता और अभावों पर प्रतिदिन भगवान का सिंहासन बनाओ और गांठ बांध लो कि जो विशाल दिखाई देता है, वह महान नहीं है।"

जीवन का जो आदर्श देश के सामने रखा गया, उससे प्रभावित हो, भारत अपनी महानता का यह पथ छोड़, विशालता के उस पथ पर चल पड़ा, जिसमें अमेरिकी जीवन के पूरे दोषों का समावेश है और गुण एक भी नहीं लिया गया। यहाँ, ऊँचे विचार का दृष्ट हम भूल गये, ऊँची रहन-सहन हमारी अभीष्ट हो गयी। यह वो राह है, जिसपर अन्त तक जाने के बाद पश्चिम भटक रहा है, सोच रहा है, परेशान हो रहा है, और एक शोषक रिक्तता अनुभव कर रहा है। क्या यह सर्वोत्तम समय नहीं है कि हम अपनी अबतक की प्रगति और अगति पर गहरी छानबीन करें और संसार के अनुभव का लाभ उठाते हुए शान के इस दौर से फिर सादगी की ओर मुड़ें?

●

असली लड़ाई किससे?

—विनोबा

१९६२ के बाद बंगाल में २५ दिसम्बर को पण्डित जवाहरलालजी से मेरी आखिरी मुलाकात हुई थी। दो-ढाई घण्टे खानगी बातें हुईं। उसके बाद जाहिर सभा में अपने भाषण में उन्होंने कहा कि चीन के साथ हमारा मुकाबला हो रहा है; लेकिन वह कोई कठिन बात नहीं। उसके कब्जे में, जो जमीन है, उसे तो हम वापस ले सकते हैं, लेकिन असली लड़ाई हमें गरीबी के साथ लड़नी है; और उसके लिए ग्रामदान ही उत्तम उपाय है। तुम सबलोग इस काम में लग जाओ। मैं समझता हूँ कि आज उनका यह विचार मेरे साथ घूम रहा है।

प्रशिक्षण केन्द्रों के भीतर कुछ; बाहर कुछ

•

त्रिलोकीनाथ अग्रवाल

प्राय प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद शिक्षक पाठ-संकेत नहीं बनाते। यद्यपि प्रशिक्षण-काल में वे पाठ-संकेत बनाने के बाद ही कक्षा में पढ़ाते हैं, और उनके प्राध्यापक करते हैं उनके पढ़ाने की समालोचना। इस प्रकार प्रशिक्षण-काल में इस क्रियात्मक पहलू पर अधिक ध्यान दिया जाता है। छात्राध्यापक पाठसंकेत बनाने, और अपने पाठों को पढ़ाने में बहुत ध्यान देते हैं। वे प्रयत्न करते हैं कि उनका पाठ सरल हो, विद्यार्थियों को प्रत्येक तथ्य सरलता से समझ में आ जाय। वे सहायक सामग्री का भी अधिक उपयोग करते हैं। पुस्तक का कक्षा में कम-से-कम प्रयोग होता है।

किन्तु, जैसे ही वे परीक्षोत्तीर्ण होकर विद्यालयों में जाते हैं यह सब भूल जाते हैं। कितना विषम प्रश्न है? ऐसा क्यों? क्या प्रशिक्षण विद्यालयों का यह सारा कार्य-क्रम मिथ्या आदर्श है? अगर यह सच है कि वह वास्तविकता से दूर है, तो ऐसे प्रशिक्षण से लाभ क्या? लगता है इसमें कुछ-न-कुछ सचाई है अवश्य।

प्रशिक्षण विद्यालयों का शिक्षण वास्तविकता से दूर क्यों है? विद्यालयों की कार्यप्रणाली इस प्रकार की है कि अध्यापक का ध्यान पाठसंकेत की ओर न होकर *स्कूल के अन्य कार्यों की ओर विशेष होता है।* विद्यालय के कार्यों में अध्यापक इतना उलझ जाता है कि उसके पास इतना समय नहीं होता कि वह शिक्षण उन आधारों पर दे, जिनको वह प्रशिक्षण केन्द्र से सीखकर आया है।

रजिस्टर भरना

विद्यार्थी जब प्रशिक्षण-विद्यालय में होता है तो उसे केवल अध्यापन का ही कार्य करना होता है, परन्तु विद्यालय में कार्य करने पर उसे उपस्थिति लेखा का कार्य करना होता है। उसे फीस एकत्र करनी होती है। उसका हिसाब रखना होता है। विद्यालय के अन्य कार्यालय-सम्बन्धी कार्यों में भी सहयोग देना होता है। इस प्रकार दिन का बहुत-सा भाग ऐसे ही कार्यों में निकल जाता है। फिर इसी रजिस्टर को महीने की अन्तिम तिथि को पूरा करना होता है, जिसमें उसको विशेष समय लगाना पड़ता है।

सहायक क्रियाएँ

विद्यालय में सहायक क्रियाओं का विशेष महत्व है। इन क्रियाओं में अध्यापक लगा रहता है, जिससे उसे पूरा समय नहीं मिल पाता। यद्यपि सहायक क्रियाओं का अपना महत्व है, परन्तु शिक्षक पर इतना कार्यभार हो जाता है कि वह शिक्षण पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता।

शिक्षण-कार्य

आदर्श और वास्तविकता में भेद यह है कि विद्यालय का मूल्य उसके परीक्षाफल पर निर्धारित किया जाता है। अगर परीक्षाफल ९० प्रतिशत या अधिक है तो पढ़ाई अच्छी है, चाहे विद्यार्थी कितने ही अनुशासनहीन क्यों न हों! इसलिए प्रधानाचार्य और अध्यापक का एक ही दृष्टिकोण

रहता है कि परीक्षाफल उत्तम कोटि का हो। फलत इसके लिए वे विद्यार्थियों को हर प्रकार से तैयार करना ही अपना चरम लक्ष्य मानने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

और, विद्यार्थियों का भी दृष्टिकोण केवल परीक्षा उत्तीर्ण करना ही है। इस प्रकार शिक्षा का ढांचा मँज-मँजाकर कुछ ऐसा बन गया है कि परीक्षा, पाठ्यक्रम और निरीक्षण के बन्धनों के कारण अध्यापक उन आदर्शों को, जिनको उसने प्रशिक्षण-केन्द्र में सीखा है, उपयोग में नहीं ला पाता।

इतना ही क्यों, आज जितने भी विद्यालय देश में चल रहे हैं वे व्यापारिक केन्द्र हैं। इनमें अध्यापक व विद्यार्थियों के अनुपात का प्रश्न ही नहीं उठता। एक-एक कक्षा में ५० से ६० तक विद्यार्थी रहते हैं। चाहे उनके बैठने की उचित व्यवस्था हो या न हो। कभी-कभी तो अध्यापक के पढ़ाने के लिए भी कठिनाई से स्थान मिल पाता है।

आजकल प्रत्येक विद्यालय में चाहे, वह सरकारी हो या गैरसरकारी, सदा एक या दो अध्यापकों का स्थान रिक्त रहता है। उनका कार्य भी अन्य अध्यापकों को करना होता है। जब यह प्रश्न प्रधानाचार्य या व्यवस्थापकों के सामने रखा जाता है तो वे अपनी विवशता प्रकट करते हैं और कहते हैं कि सरकार से आर्थिक सहायता नहीं प्राप्त हो रही है। अधिक कहा जाय तो कहते हैं कि अगर आप एक या दो घण्टे प्रतिदिन अधिक पढ़ा ही देंगे तो क्या होगा! आपको कार्य ही क्या करना होता है! अगर आप इस प्रकार से कार्य नहीं करना चाहते तो आप छोड़कर जा सकते हैं, आप से भी योग्य अध्यापक मिल जायेंगे, आदि-आदि।

यह सच है कि अध्यापक मिल जायेंगे, पर वे क्या पढ़ाते हैं या पढ़ायेंगे उसका प्रत्यक्ष प्रभाव हम आज विद्यार्थी-वर्ग पर देख रहे हैं। प्रत्येक स्थान पर यही प्रश्न है कि विद्यालयों में शिक्षण नहीं होता, अध्यापक नहीं पढ़ाते, परन्तु कभी किसी नेता ने या शिक्षाशास्त्री ने विश्लेषण किया है क्या, कि शिक्षा का स्तर क्या गिर रहा है?

इसके अतिरिक्त कुछ और बातें हैं, जिनसे आँख मूँदी नहीं जा सकती। क्या प्रशिक्षण-केन्द्रों में पाठसंकेत लिखने की बतायी गयी विधि दोषपूर्ण या अपूर्ण नहीं होती? क्या इसमें शिक्षकों की घरेलू परेशानियाँ या उनकी काहिली नहीं है? क्या इसमें शालेय निरीक्षण की दोषपूर्ण परिपाटी का हाथ नहीं है? क्या इनमें पाठशालाओं में प्रधानाध्यापक अपनी जिम्मेवारी के प्रति उपेक्षा भाव नहीं बरतते हैं? आदि अनेक-अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनपर हमें गहराई से विचार करना होगा और शिक्षकों की कठिनाइयों को अविलम्ब दूर करना होगा, तभी शिक्षण प्रशिक्षण की गाड़ी सही दिशा में मोड़ ले सकेगी। ●

बच्चे और वैज्ञानिक वृत्ति

•

रुद्रभान

हम जिस जमाने में हैं वह विज्ञान का जमाना है। हमारी जिन्दगी के हरेक हिस्से पर विज्ञान का असर पड रहा है, और वे दिनो दिन विज्ञान के रग में रँगते जा रहे हैं। जिन्दगी के अनेक हिस्सो की तरह स्कूली तालीम पर भी विज्ञान का गहरा असर पडा है। पिछले कुछ वर्षों में स्कूल के पाठयक्रम में विज्ञान के विषयो को जितनी अहमियत मिली है उसकी १०-१५ साल पहले से कोई तुलना नही हो सकती। विद्यालयो में, जो इज्जत पहले अंग्रेजी या गणित पढानेवाले अध्यापक को हासिल थी वह अब अनचाहे विज्ञान के शिक्षक को मिल रही है। इसी तरह घर, परिवार और समाज म उस विद्यार्थी की ज्यादा कद्र होती है, जो विज्ञान की पढाई में तेज हो। इतना कुछ हुआ है, लेकिन आज भी हमारे भीतर उस वैज्ञानिक वृत्ति की बेहद कमी है, जो वैज्ञानिक तरक्की की रूह है। अक्सर लोग विज्ञान का मतलब कुछ नियम और फार्मूले मान बैठते हैं और कुछेक यात्रिक साधनों को ही विज्ञान का कुल हिस्सा समझते हैं।

विज्ञान की तालीम का मतलब विज्ञान पढना नही, बल्कि विज्ञान जानना है। विज्ञान का गुर समझने मे उसकी सिलसिलेवार जानकारी से ज्यादा जरूरी चीज है वैज्ञानिक वृत्ति या साइटिफिक नजरिया। बच्चे में विज्ञान सीखने की सही समझ और काबिलियत पैदा करने के लिए सबसे पहले यह वैज्ञानिक वृत्ति आनी चाहिए।

ये साज-सामान या दिमागी थकाने ?

यह वैज्ञानिक वृत्ति है क्या चीज ? वैज्ञानिक वृत्ति का मतलब है किसी चीज को समझने की सौ फीसदी सही दिमागी तैयारी। मिसाल के लिए बच्चे के दिमाग में यह बात आ जानी चाहिए कि जबतक कोई पक्का सबूत न मिल जाय तबतक अपनी जानकारी को कच्ची समझे। वह घटनाओ के बारे में नयी-नयी बातें जानने को उत्सुक रहे और जब यह मालूम हो कि उसकी जानकारी अधूरी है तो उसे सुधारने को तैयार रहे। वह यह समझे कि कोई घटना यो ही नही घटती, वह प्राकृतिक कारणो से घटती है, इसलिए अंधविश्वासी बनने के बजाय उन कारणों को जानने की कोशिश करे। इस वृत्ति के विकास के लिए सही नाप-जोख, दूसरी चीजो से मिलान, खुद प्रयोग करके नियमो की परख, और हमेशा छानबीन जारी रखने की जरूरत होती है।

कोई घटना क्यो और कैसे होती है यह जानना विज्ञान का विषय है, लेकिन इसके लिए शरीर की सभी इन्द्रियो को सही-सही इस्तेमाल करने की आदत डालनी पडती है। वैज्ञानिक साज-सामान इस काम में मददगार होते हैं, लेकिन उनको ठीक इस्तेमाल करने की उन्ही लोगो में कूवत आती है जिनकी सही दिमागी तैयारी हो।

विज्ञान के इस पहलू की तरफ पालको और शिक्षको का उतना ध्यान नही जाता। वैज्ञानिक नियमो की तफसील की जानकारी और कुछ वैज्ञानिक औजारो के इस्तेमाल को ही विज्ञान की तालीम का पूरा हिस्सा मान लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि उनके पढाये हुए विद्यार्थी विज्ञान के कुछ नियमो के जानकार होते हुए भी अपने

नजरिये में अवैज्ञानिक ही बने रहते है। उनके लिए विज्ञान भी गणित, साहित्य और भूगोल जैसा एक विषय-मात्र रह जाता है, जिसकी जानकारी वे चाहे-अनचाहे अपने दिमाग में भरते चले जाते है।

ध्यान से विज्ञान आसान

बुद्धि को वैज्ञानिक-वृत्ति के संस्कार म ढालने का सबसे मौजूँ अवसर है, विद्यार्थी का बचपन। बचपन में नयी-नयी चीजो के बारे में जानने की बच्चा में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। शुरु शुरू में यह जिज्ञासा कुतूहल पूर्ण यानी ऊपरी जानकारी पाने की भूख तक सीमित रहती है। किसी चीज के बारे में थोडी-सी जानकारी मिलते ही बच्चे का ध्यान दूसरी चीजो की ओर मुड जाता है। बालक अपने स्वभाव के अनुसार चीजो को सरसरी तौर पर देखकर ही या उनके किसी पहलू के बारे म ऊपरी जानकारी पा लेने पर ही खामोश न हो जाय, बल्कि वह कुछ देर नजर टिकाकर देखे उसके मन में जो सवाल या नयी जिज्ञासाएँ उठ उनका उत्तर ढूँढने की कोशिश करे और अगर उसे उत्तर न मिले तो अपने ऊपर के लोगो से उसकी चर्चा करे। बच्चा में वैज्ञानिक वृत्ति पैदा करने का यह आसान तरीका है।

विज्ञान की त्रयी

आँकना, करके देखना और फिर उसे जाँचना यानी प्रेक्षण प्रयोग और परीक्षण—यह वैज्ञानिक वृत्ति की त्रयी है। बचपन म बच्चो के दिमाग में इस त्रयी की बुनियाद पड जाने पर आगे चलकर उसपर नये-नये अनुभवो और परीक्षणो की तह बनती जाती है। ऐसे विद्यार्थी की जिन्दगी का तौर-तरीका रुख और बरताव करने का ढग पूरी तरह वैज्ञानिक हो जाता है। दिमाग में वैज्ञानिक वृत्ति का यह बीज उस समय ही डालना चाहिए, जब बच्चा एकदम शुरू में दुनिया का अनुभव लेना आरम्भ करता है। वही ठीक समय है जबकि बच्चे की आरम्भिक जिज्ञासाओं की भूख को शान्त करते हुए उसे धीरे धीरे और व्यापक बनाया जाय उसकी रुचियो को पनपाते हुए उसके दिमाग को वैज्ञानिक रुख अख्तियार करने का मौका दिया जाय।

अपनी पैदाइश के बाद से ही बच्चा अपने इद गिर्द की चीजो को जानना पहचानना शुरू कर देता है। शुरू-शुरू म वह जो कुछ जानकारी हासिल करता है वह एक दूसरे से अलहदा होती है। एक जानकारी और दूसरी जानकारी के बीच, जो लगाव होता है, उसे वह नहीं समझ पाता। जैसे-जैसे बच्चे का अपने इर्द गिर्द का तजरबा बढता जाता है, वह अपने एक तजरबे का दूसरे तजरबे से ताल्लुक जोडना सीखने लगता है।

बचपन का मनोविज्ञान

जानकारो का कहना है कि पैदाइश के वक्त बच्चे में आवाज के सुनने की काबिलियत नही होती। वह आवाज सुनने की काबिलियत धीरे धीरे हासिल करता है। जब यह काबिलियत कुछ हद तक हासिल हो जाती है तो वह किसी आवाज के सुनने पर उस ओर देखना शुरू करता है, जिधर से आवाज आती है। इसका मतलब यह होता है कि बच्चा आवाज और उसकी जगह का ताल्लुक समझने लगता है यानी वह जान जाता है कि आवाज किस ओर से, कहाँ से आती है। कुछ और समय बीतने के बाद वह यह भी जानने लगता है कि आवाज किस चीज से उठ रही है। लेकिन, बच्चे को हासिल होनेवाले इन तजरबो में कोई सिलसिला नहीं होता।

अपना तजरबा बढाते जाने का बच्चे का, जो कुदरती ढग है उसे पालको और शिक्षको को सँवारना है और यह कोशिश करनी है कि बच्चा का तजरबा हासिल करने का ढग सिलसिलेवार और व्यवस्थित हो। बच्चे को रोजमर्रा की इद गिर्द की चीजो को देखने समझने का ठीक ढग आये और इसके सहारे वे एक से दूसरी चीज का ताल्लुक समझ सकें। बच्चे को इस तरह के कुदरती मौके मुहय्या करना पालको और शिक्षको की खास जिम्मेदारी है। घर और पास-पडोस की चीजो को जानने-पहचानने के साथ-साथ उन्हें ठीक ढग से तजरबा हासिल करने के नये-नये मौके देने चाहिए। आगे हम एक ऐसी ही मिसाल दे रहे हैं।

बाल विज्ञान

बच्चो को क्यारी में उगनेवाले पौधो के बीज बोने से लेकर उगने और बडे होने तक की पूरी सिलसिलेवार प्रक्रिया देखने की सहूलियत मिलने पर वे देखगे कि

कैसे सबसे पहले बीज से नन्हा-सा अँखुआ निकलता है। धीरे धीरे यह अँखुआ पतले तने में बदल जाता है और उसमें से नन्हीं-नन्हीं पत्तियाँ बाहर निकलती हैं। फिर छोटी शाखाएँ, फूल और सबसे आखिर में फल। फल को बाहर से और भीतर से भी खूब अच्छी तरह देखने की दिलचस्पी तसवीरें और चित्र बनवाकर बढ़ायी जा सकती है। देखी हुई चीजों का चित्र बनाने के पहले उन्हें गौर से देखने की जरूरत पड़ती है। इससे बच्चों में चीजों को ध्यान से देखने की आदत पड़ेगी। बच्चे इतना तो जान ही जायें कि फल के अन्दर उसका बीज रहता है।

सभी बच्चे एक ही ढंग के पौधे की जानकारी हासिल करें, इससे कहीं अच्छा होगा कि अलग-अलग बच्चे अलग-अलग किस्म के पौधे का अनुभव प्राप्त करें। कोई बच्चा साग-सब्जी, कोई फूल, कोई अनाज, और कोई लता-वाले पौधे को ले सकता है।

शुरू से ही बच्चे को हर पौधे के बारे में जिन बातों पर ध्यान देने की जरूरत होगी वे ये हैं—

- बीज बोने के कितने दिन बाद अँखुआ निकला ?
- कितने दिन बाद पत्तियाँ, शाखाएँ, फूल और फल दिखायी पड़े ?

ठीक-ठीक तारीखें या दिन न याद रह सकें तो भी उन्हें हफ्ते या महीने का अन्दाज मिलना चाहिए।

अपने-अपने तजरबे या अनुभव बच्चे एक-दूसरे को सुनायेंगे। पालक और अध्यापक उन्हें निम्न लिखित नतीजे तक पहुँचाने में सहायक बनें—

- सभी पौधों में जड़ें, टहनियाँ और पत्तियाँ होती हैं। बड़े और पुराने वृक्षों को दिखाकर बच्चों को यह समझाया जा सकता है कि समय के साथ वे कैसे बढ़ते गये हैं।
- पौधों की कई किस्में होती हैं, जैसे—पेड़, लता आकाश-बेल।
- मौसमी पौधे एक-दो वर्ष में समाप्त हो जाते हैं बड़े पेड़ वर्षों तक बढ़ते और कायम रहते हैं।
- कुछ पौधे जड़वाले, कुछ तनेवाले, कुछ फूल वाले और कुछ फलवाले होते हैं।
- कुछ पौधे खाने के काम में आने लायक और कुछ न खाने लायक होते हैं। ●

मैं नास्तिक तो हूँ नहीं !

●

काका कालेलकर

कहते हैं, बगदाद में जुनैद नाम के सूफी महात्मा रहते थे। एक दिन अपने घोड़े को पानी पिलाने के लिए वे सवार होकर चल पड़े। किसी हौज के पास अथवा नदी के किनारे उन्हें जाना था। वे घर से कुछ दूर गये तो घोड़े ने शहर से बाहर का एक रास्ता लिया। घोड़े को रोककर नदी की ओर ले जाने की उन्होंने बहुत कोशिश की, किन्तु जानवर माने ही नहीं।

जुनैद ने सोचा—घोड़ा शरारती है नहीं, आज नहीं मानता, इसमें कोई भेद है। देखूँ तो सही, वह जाता कहाँ है! उन्होंने घोड़े को अपनी इच्छा के अनुसार जाने दिया। घोड़ा जंगल में गया और एक जगह पर ठहरा। वहाँ एक आदमी रो रहा था।

जुनैद घोड़े से उतर पड़े और उन्होंने उसके दुख का कारण पूछा। पता चला कि वह आदमी ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते-करते निराश हो गया है, और अपने दुर्दैव को कोस रहा है। जुनैद ने उसकी हालत पहचान कर योग्य सलाह दी।

साधक को रास्ता मिल गया। उसने जुनैद के चरण छूकर धन्यवाद दिया और प्रसन्नता से अपना रास्ता लिया। जाते-जाते जुनैद ने कहा कि अगर फिर कभी कोई कठिनाई पैदा हुई तो बगदाद में मेरे पास आ जाना। मेरा नाम जुनैद है। किसी से भी पूछने पर मेरे घर का पता मिल जायगा।

साधक ने हँसकर कहा—"मुझे क्या गरज ? मैं नास्तिक तो हूँ नहीं !"

जुनैद ने आश्चर्यचकित होकर साधक की ओर देखा। तब उसने फिर कहा—"सच्ची कठिनाई पैदा होने पर भगवान स्वयं किसी-न किसी को मेरे पास भेज ही देंगे।" ●

शिक्षा-द्वारा नये मानव

और

नये समाज का निर्माण

•

मिलापचन्द्र दुबे

प्रत्यक शिक्षा-योजना के पीछ समाज निमाण उसका एक प्रमुख उददेश्य होता है। समाजशास्त्र का अध्ययन भी इसी ओर सकेत करता है कि सृष्टि म मानव के दो काय रहते आये है—

१ प्रकृति की देन का सुख और समृद्धि-हेतु उपयोग तथा

२ समाज सगठन।

अतएव किसी भी उपयोगी शिक्षा-योजना म इन दोनो उददेश्या की पूर्ति के तत्त्व समाविष्ट रहने चाहिए।

चहारदीवारियो में वन्दिनी शिक्षा

विकास की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध है। जहाँ शिक्षा को समाज के विकास से पृथक् कर केवल व्यक्ति के ही विकास का साधन मान लेते हैं वहाँ यह सिद्धान्त समाजशास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र दोनो के ही प्रतिकूल हो जाता है, क्योकि एकओर जहाँ समाज और व्यक्ति के विकास का सामजस्य नहीं होता वहाँ दूसरी ओर सामाजिक शून्यता में व्यक्ति का भी विकास नही हो पाता। मनुष्य अपनी आनुवशिक परम्परा लेकर जन्म लेता है और सामाजिक परम्परा में ही विकास पाता है, अर्थात मनुष्य के आचरण की प्रयोगशाला समाज ही है। शिक्षा-शास्त्री जान ड्यूवे के मतानुसार भी सामाजिक प्रवृत्तियो में भाग लेते हुए अपने अनुभवों का पुनर्निर्माण करते रहना ही शिक्षा का काय माना गया है। इसीलिए वह शिक्षालय को समाज का लघुरूप-मात्र ही न कहते हुए स्वय समाज ही कहते थे।

जीवन को टुकडे-टुकडे होने से बचाये

आचार्य विनोबा ने अपनी पुस्तक 'जीवन और शिक्षण' में इसी शीषक के अन्तर्गत बडे मार्मिक शब्दो में लिखा है कि आज के शिक्षण की विचित्र पद्धति के कारण जीवन के दो टुकडे हो जाते हैं। उम्र के पन्द्रह-बीस वर्षों में आदमी जीने की झझट में न पडकर सिफ शिक्षा प्राप्त करे, बाद में शिक्षा को बस्ते में लपेटकर मरन तक जिये। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है। इसीलिए जीवन और विचारो का मेल नही बैठता। यह नीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है यानी विचारो का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने पर विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार शून्य बन जाता है। उपाय इसका यही है कि एक ओर से मदरसे में घर का प्रवेश हो और दूसरी ओर घर में मदरसा घुस जाय।

श्रम को हेय मानकर समाज बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवी दो बडे भागो में विभक्त हो गया। इसमें एक को बुद्धि ही का काम व श्रम से उपराम, और दूसरे को श्रम ही मे काम बुद्धि को विश्राम। इसे मानव समाज

के सिर व धड़ अलग-अलग हो गये। ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियों का पारस्परिक मेल न होने से सम्पूर्ण सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण न हो सका, इसलिए बुनियादी शिक्षा में उद्योग के माध्यम से शिक्षा देने में यह परिकल्पना है कि बुद्धिजीवी श्रम की उपासना करें और श्रमजीवी बुद्धि की आराधना करें, जिससे सन्तुलित व्यक्तित्व निर्माण होकर समाज में समता की प्रस्थापना हो।

व्यक्ति तथा समाज की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए दोनों के पारस्परिक विकास के लिए समाजशास्त्र का कथन है कि शासन-यंत्र एवं उत्पादन-यंत्र का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। उत्पादक उद्योगों के वास्तविक माध्यम से शिक्षा तथा शिक्षालय का समाज के रूप में संगठन उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति का उत्तम साधन है। इस योजना-द्वारा अधिक-से-अधिक स्वावलम्बन, कम-से-कम परावलम्बन तथा सामाजिक जीवन-द्वारा परस्परावलम्बन की स्वस्थ परम्परा-द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों ही विकसित होते हैं।

गाँवों की उपेक्षा नहीं चलेगी, नहीं चलेगी

दूसरा प्रश्न समग्र समाज रचना का है। हमारा देश ग्रामों का देश है, जिसमें अट्ठासी प्रतिशत जनता गाँवों में ही रहती है। भारत की ही नहीं, मानव की मूल संस्कृति ग्रामीण रही है और अधिक काल तक इसका विकास भी गांवों में ही होकर वहाँ ही अक्षुण्ण रहती आयी है। नगरों के अस्तित्व के पूर्व भी ग्राम ही थे और इसके पश्चात् भी ग्राम ही रहेंगे। ग्रामों का जीवन प्राकृतिक है और नगरों का कृत्रिम। इसलिए राष्ट्र-विकास की शिक्षा-योजना में गाँवों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। और, न भेद-नीति ही अपनायी जा सकती है।

परिस्थितियों के अनुसार सामान्य हेर-फेर के साथ शिक्षा की योजना भी समान ही होनी चाहिए। ग्रामों को नगर तो नहीं बनाना है, किन्तु शुद्ध, स्वच्छ, स्वस्थ सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण कर नगरों और ग्रामों के बीच स्वस्थ आदान प्रदान की परम्परा द्वारा वहाँ के जीवन को ग्रहणीय बनाना है। इसीलिए समग्र समाज रचना और नयी तालीम को साथ-साथ चलाने की परिकल्पना इसी सामाजिक क्रान्ति की पृष्ठ-भूमि पर आधारित है।

युग की आवश्यकता : सर्वधर्म-समन्वय

तीसरा अंग इसका धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण है। समाज के संघटन एवं विघटन में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण हाथ रहता आया है। कहीं तो धर्म की विशालता न केवल मानवता-मात्र की पूजा तक सीमित है, वरन् 'सीय राम मय सब जग जानी' की भावना-द्वारा चर अचर की व्यापक उपासना के क्षेत्र तक विस्तीर्ण हो गया है। इसके विपरीत कहीं धार्मिक संकुचितता ने मानव को मानव से, न केवल दूर करने का, अपितु उसे दानव के रूप में परिवर्तित कर मानवता का अभिशाप बना दिया है। क्या पाश्चात्य, क्या पौर्वात्य, इतिहास के पृष्ठ इस तथ्य के साक्षी हैं। भारत में विशेषकर धर्म का प्रश्न एक राष्ट्रीय महत्त्व का है। दुनिया के अनेक धर्म इस भूमि पर आकर फैले हैं। अतएव राष्ट्रीय संगठन की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है कि सभी धर्मावलम्बी मिलकर एक विशाल धर्म-कुटुम्ब का निर्माण करें।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सबमें धार्मिक सहिष्णुता के संस्कार होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब सब धर्मों के उज्ज्वल स्वरूप को सामने रखा जाय और धर्म-समन्वय का वातावरण बने। इसीलिए नयी तालीम में सामूहिक प्रार्थना-द्वारा धार्मिक सहिष्णुता की भावना का पोषण किया जाता है और उसमें सर्व-धर्म-समभाव के संस्कार परिपुष्ट होते हैं, जो कालान्तर में सारे विश्व को अपनी परिधि में आबद्ध कर लेने की शक्ति रखते हैं। यह समाज-संगठन को दृढ़ करने की एक मजबूत कड़ी है।

उद्योग के नाम पर नाटक नहीं चलेगा

चौथा बिन्दु है उत्पादक उद्योग को योजना में प्रमुख स्थान देने का। इसका उद्देश्य केवल उद्योग से परिचित कराना मात्र ही नहीं, अपितु उसकी प्रक्रियाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग करने का है। इसीलिए नयी तालीम को कर्म के साथ ज्ञान की साधना कहा गया है। प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण को जोड़ने के लिए बीच की कड़ी का काम देता है उद्योग। यह तभी सम्भव है, जब उद्योग को सीखने सिखाने का काम ज्ञान-बुद्धि से किया जाय। जहाँ यंत्रवत् केवल कर्म-बुद्धि से

काम होता है वह कारखाना है, और जहाँ ज्ञान-बुद्धि से काम होता है वह शिक्षालय है। इस उद्योगमय वातावरण में बालक आत्मनिर्भयता, सहकारिता, उत्तरदायित्व आदि सामाजिक गुणो का प्रत्यक्ष पाठ सीखकर सामाजिक जीवन की कला मे निपुणता प्राप्त कर सकते है, और इस श्रम-साधना-द्वारा श्रम मे गौरव और सामाजिक सहकारी जीवन-द्वारा सेवा मे आनन्द के आचरण से सामाजिक गुणो के सस्कार परिपुष्ट होते है।

ऐसे ही शिक्षालयो में शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक शक्तियो का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। मनुष्य में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत, स्वहिताय तथा जनहिताय दोना प्रकार की भावनाएँ काम करती रहती है। एक का प्राबल्य होने से वह स्वार्थी व दूसरे का प्राबल्य होने से वह परमार्थी कहलाने लगता है। सन्तुलित जीवन के लिए चाहिए इन दोनो का समन्वय। इसी को कहा जाता है स्वार्थ के आटे को परार्थ के नमक से सलोना कर लेना।

शिक्षा और नये मानव का निर्माण

मनुष्य साधारण धर्मा पशु है। कर्तव्य करने से वह मनुष्य और निस्वार्थ सेवा करने से देवता हो जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखते हुए व्यक्तिगत उत्थान को समष्टिगत उत्थान में लीन करने की यही योजना है। बाल्यकाल से ही इन विचारो को आचरण मे परिणत करने के लिए सामाजिक प्रयोगशाला के रूप में ही शिक्षालयो को आयोजित करने की आवश्यकता है, जिससे बालको के आचरण परिपुष्ट हो, सस्कारो का रूप लें और नये मानव तथा नये समाज का निर्माण हो सके। अत शिक्षण-कला के रूप में वहाँ औद्योगिक प्रक्रियाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप मे आती है, उसी प्रकार समाज-व्यवस्था के समस्त कार्यक्रम शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग में लाये जा सकते है।

अतएव, यह स्पष्ट है कि नयी तालीम जहाँ एक-ओर शिक्षणकला के रूप में समादृत है, वहाँ उसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक प्रवृत्तियो के माध्यम-द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत गुणो का विकास कर उसे समाजोपयोगी मानव बनाकर समाज का नव निर्माण करना है। ●

बिहार में ग्रामदान तूफान

११ सितम्बर १९६५ से विनोबाजी बिहार का दौरा कर रहे हैं। उनके आगमन से बिहार मे ग्रामदान की लहर आ गयी है। पूरी-की-पूरी पचायतें ग्रामदान में आ रही है, और हो सकता है कि किसी ब्लाक या जिले के भी पूरे-के-पूरे गाँव ग्रामदान में आ जायें।

नीचे हम आँकडो में आन्दोलन की झाँकी दे रहे है –

भूदान-प्राप्ति मार्च '६४ तक	२१,३२,७७२ एकड
भूमि-वितरित—	२,७७,६६० एकड
खारिज भूमि—	१०,४६,३३२ एकड
वितरण के लिए भूमि—	८,०८,७८० एकड
पुराने ग्रामदान—	२४८
मई '६५ से ११ सितम्बर '६५ तक—	७७९
नये ग्रामदान ११ सितम्बर से १७ अक्तूबर '६५—	४३७
कुल	१४६४
११ सितम्बर '६५ तक प्राप्त दान	१,६५,६१२ रु०
शान्तिसेना केन्द्र—	४००
शान्तिसैनिक (अगस्त ६५ तक) बने	४,३९४
खादी और ग्रामोद्योगो पर निर्भर लोग—	५,५०,०००
खादी उत्पत्ति—	३ करोड रु०
ग्रामोद्योग उत्पत्ति—	१० करोड रु०

●

विज्ञान के जमाने में सियासत और मजहब टिक नहीं सकते

•

दरबारीलाल अस्थाना

जवाहरलालजी विश्व शान्ति कायम रखना चाहते थे। देश की गरीबी और बेकारी दूर करना चाहते थे। ऊँच-नीच का भेद दूर करके समाज में समता लाना चाहते थे। वे मानते थे कि समाजवाद के द्वारा देश में समता पर आधारित समृद्ध समाज की रचना सम्भव है। अपनी मान्यता के बारे में उनके अपने शब्द विचार करने लायक हैं—

मैं स्पष्ट स्वीकार करता हूँ कि मैं सोशलिस्ट हूँ, और जनतन्त्रवादी हूँ। हमें इसे समझना चाहिए कि समाजवाद का दर्शन पूरी दुनिया के सामाजिक ढाँचे में धीरे-धीरे घर बनाता जा रहा है। भारत को भी उसी दिशा में बढ़ना होगा, अगर उसे अपने यहाँ से गरीबी और असमानता दूर करना है। यह हो सकता है कि हमारा समाजवाद लाने का तरीका अपना अलग हो और उस आदर्श को अपनी मिट्टी और तासीर के अनुसार हम अपनायें।

धरती अपनी . विचार अपने

नेहरूजी के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। सामाजिक *समता और समृद्धि लाने का भारत का तरीका* अपनी परम्परा और परिस्थितियों के अनुसार अलग हो सकता है। नेहरूजी के समाजवाद के साथ जनतन्त्रवाद अर्थात डेमोक्रेसी की शर्त जुड़ी है। डेमोक्रेसी में जोर जबरदस्ती का स्थान नहीं है। उसमें तानाशाही के बजाय लोक-सहमति को आधार माना गया है। नेहरूजी अन्तरदेशीय अन्तरप्रदेशीय, अन्तरजातीय तथा सभी प्रकार के मतभेदों को सैनिक शक्ति के बजाय सदभावपूर्ण आपसी बातचीत-द्वारा तय करने के पक्ष में थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सहअस्तित्व के हिमायती थे, संघर्ष के नहीं। अहिंसा का इससे बढ़कर व्यावहारिक रूप क्या हो सकता है?

नेहरूजी के नेतृत्व में देश ने जब समाजवाद और प्रजातन्त्रवाद को अपना लक्ष्य माना, तब विनोबाजी ने कहा था कि डेमोक्रेसी की शर्त के साथ समाजवाद हो तो वह सर्वोदय विचार के निकटतम है। ऐसे समाजवाद *और सर्वोदय में ब्यौरे में ही थोड़ा बहुत अन्तर* हो सकता है बुनियादी सिद्धान्त में नहीं। फिर नेहरूजी यह भी मानते थे कि अपनी परम्पराओं और अपने 'जीनियस' के अनुसार भारत का समाजवाद लाने का तरीका अपना अलग हो सकता है।

कौन सही, कौन गलत ?

दोनों विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद मेरा मत है कि 'उद्योगीकरण' के प्रश्न को छोड़कर नेहरूजी गांधीजी के विचारों से पूरी तरह सहमत थे।

उद्योगीकरण के जरिये वे अपने जीवन में ही भारत को शीघ्रातिशीघ्र पश्चिमी जगत के समृद्ध देशों की श्रेणी में खड़ा कर देना चाहते थे।

इस बारे में गांधीजी का यह विश्वास था कि उप निवेशवाद और अन्तराष्ट्रीय संघर्ष उद्योगवाद से ही उत्पन्न हुए हैं। दूसरे केन्द्रित बड़े बड़े उद्योगों, मिलों और कारखानों के कारण गांववासी अपनी जमीन और परिवार से बिछुड़कर शहर की गन्दी बस्तियों में स्वस्थ तथा सुखद जीवन नहीं बिता पाते। यदि गांव गांव में छोटे छोटे उद्योग धन्धे खोले जायें तो थोड़ी पूंजी से अधिक लोगों को काम दिया जा सकता है और वे अपने परिवारों के साथ रहकर खेती की पैदावार बढ़ाने में हाथ बँटा सकते हैं। मुझे प्रसन्नता है कि अबतक के अनुभवों के आधार पर भारत सरकार का ध्यान इस ओर मुड़ा है।

ये मजहब टिक नहीं सकते !

जीवन के मूल सिद्धान्तों में नेहरू, गांधी और विनोबा तीनों का एक मत है। इस सन्दर्भ में बोलते हुए अन्तिम दिनों में नेहरू ने कहा था— 'इधर कुछ अरसे से विनोबाजी एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात दुनिया के सामने रख रहे हैं। उनका कहना है कि विज्ञान के इस जमाने में सियासत (राजनीति) और मजहब नहीं टिक सकते, क्योंकि ये दोनों ही लोगों को एक दूसरे से जुदा करते हैं। उनका यह भी कहना है कि जब राजनीति की जगह रुहानियत (आध्यात्मिकता) लेगी तब दुनिया अपने मसले हल कर सकेगी। मैं उनकी इस राय से पूरी तरह सहमत हूँ और महसूस करता हूँ कि विज्ञान और अध्यात्म का मेल बहुत जरूरी है। वही दुनिया को बचानेवाला होगा।

इस तरह जीवन और मानव समाज के कल्याण सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों में नेहरूजी के समाजवाद और सर्वोदय में कोई बुनियादी फर्क नहीं है।

●

सच्ची घटना

रिक्शेवाला

बात है १३ अक्तूबर '६५ की। मैं जा रहा था कार्यालय। मदनपुरा के पास एक रिक्शा तेजी से आता हुआ दिखा। रिक्शेवाले की असावधानी से एक छात्र को हल्की चोट लग गयी।

रिक्शे पर सवार व्यक्ति फुरती से उतर पड़ा और छात्र के पास जाकर उसने स्नेह भरे स्वर में पूछा— 'देखूं बेटे, चोट कहाँ लगी ?"

लड़के ने उस व्यक्ति को एक बार गौर से देखा और कहा—"मुझे चोट नहीं लगी है।" और वह चल पड़ा।

"जल्दी चलिए बाबूजी।"—रिक्शेवाले ने कहा। शायद वह डर रहा था, क्योंकि दो-चार राहगीर रिक्शेवाले की असावधानी देख चुके थे।

"तुम जाओ, मैं तुम्हारे रिक्शे से नहीं जाऊँगा।"

"क्यों बाबू ?"

'इसलिए कि तुम्हारे मन में छोटे बच्चों के प्रति भी सावधानी नहीं है। और, यह लो पैसे।"

रिक्शेवाले की गरदन झुक गयी। वह कुछ सोचने लगा। और, मैं भी सोचने लगा—कितना शिष्ट है यह व्यक्ति, जो रिक्शेवाले को एक शब्द भी नहीं कह रहा है। तभी उस व्यक्ति ने पुनः कहा—"क्यों भाई, पैसे तो ले लो।"

"नहीं बाबू, मैं आपसे पैसे नहीं लूंगा।"

"क्यों नहीं लोगे ?"

"आपने मुझे बहुत बड़ी नसीहत जो दी है।"—और वह उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना तेजी से बढ़ गया। मैं उसे जाते बहुत देर तक देखता रहा और सोचता रहा—"हर व्यक्ति के अन्दर भगवान है, लेकिन शायद सो गया है। आवश्यकता है उसको जगाने की।' —शिरीष
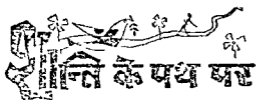
अहिंसा का चमत्कार : नीग्रों का उद्धार

•

कुमारी कैथी लैंग

अलाबामा की अध्यापिका कुमारी लैंग आजकल इगलैण्ड में शोधकार्य कर रही हैं। श्री मार्टिन लूथर-किंग के नेतृत्व में निकली सेल्मा की पदयात्रा में शामिल होने के लिए आप लन्दन से विमान-द्वारा वहाँ पहुँचीं। अहिंसात्मक प्रयोगों-द्वारा अमेरिका में वर्ण-भेद को किस प्रकार मिटाया जा रहा है, अध्ययन किया। यही है उनके इस लेख का वर्णित विषय।—सम्पादक

बर्मिंगहैम के नीग्रो बाजार के सामने लकड़ियों के तंग मकानों में रहते हैं। वहाँ किसी गोरे को जाने का प्रयोजन नहीं पड़ता और उन्हें वहाँ जाने की मनाही भी है। नीग्रो किसी दुकान में विक्रेता का काम नहीं कर सकते, किन्तु उन्हें दुकानों तथा दफ्तरों की सफाई के लिए रखा जाता है। लिफ्ट चलाने तथा होटलों में बैरे का काम दिया जाता है। उनकी दुकानें भी अलग ही होती हैं, क्योंकि वे गोरों के साथ लेन-देन का व्यवहार नहीं कर सकते।

क्या यही है अमेरिकी विकास ?

एक-दो बड़े सिनेमागृहों में उन्हें शनिवार-सन्ध्या को बाल्कनी के टिकट खरीदने की अनुमति दी जाती है। पाखानों तथा पानी पीने की जगह 'केवल गोरों के लिए', 'नीग्रो के लिए' लिखा होता है।

मेरे पिता का रुख भी किसी दक्षिणी इलाके के सम्पन्न अमेरिकी की भाँति है। उनका कहना है—"नीग्रो हममें नीच हैं। कठिनाई में उनकी सहायता करनी चाहिए, किन्तु उनका विश्वास नहीं किया जा सकता, उन्हें इज्जत नहीं दी जा सकती। किसी भी हालत में उन्हें जिम्मेदारी अथवा अधिकार नहीं दिया जा सकता।'

जब मैं छोटी थी तब मुझसे कहा गया था कि किसी अपरिचित नीग्रो से बातचीत नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे बच्चों को भगा ले जाते हैं। नीग्रो पर किसी पालतू जानवर जितना ही प्रेम किया जाता है। इस अपमानित व्यवहार के अलावा अमेरिका के दक्षिणी इलाकों में कुक्लुक्स क्लैन नाम का एक गिरोह है, जो युवा नीग्रो को बधिया कर अपना मनोरंजन करता है।

दो साल पहले मैंने उनके प्रदर्शन में भाग लिया था। उस समय उनके चेहरों पर घृणा तथा हाथों में छुरे और बोतलें देखकर घबरा गयी थी। उस समय पुलिस ने उन्हें कुत्तों की सहायता से तितर बितरकर बड़े की गाड़ियों में भरकर जेल भेज दिया था।

ऐसे थे हमारे रक्षक सैनिक !

इसीलिए, मैं सेल्मा की व्यवस्थित तथा शान्तिपूर्ण-पदयात्रा की कल्पना कर नहीं सकी थी। मैं पदयात्रा के चौथे दिन वहाँ पहुँची। अपनी गाड़ी में कुछ पदयात्रियों को मैं ले जा रही थी। हमारी रक्षा के लिए भेजे गये सैनिकों ने जब मेरी गाड़ी में नीग्रो को बैठे देखा तो मुझे 'कुतिया'—'कुतिया' कहकर आवाजें कसने लगे। सच, हमसे तथा हमारे उद्देश्य से घृणा करनेवाले सैनिक हमारी किस प्रकार रक्षा करते ?

मण्टगुमरी से सेल्मा तक का रास्ता दलदल से भरा हुआ है तथा बिल्कुल निर्जन। हमारे पदयात्रियों की

कठिनाइयों का अन्दाजा लगाया जा सकता था। मेरी गाड़ी मे बैठे हुए लोग काफी चिन्तित थे। कुछ पादरी मुझे पुलिस की गाड़ी से आगे जाने की मनाही कर रहे थे; क्योंकि उन्हें भय था कि वे हमे रोक देंगे।

अन्त मे अपनी गाड़ी शिविर मे छोड़कर मैं आखिरी चन्द मील की यात्रा में भाग लेने दूसरे पदयात्रियो के साथ चली गयी। कई हजार पदयात्री और सबसे आगे श्री मार्टिन लूथर किंग, माइक्रोफोन मे कह रहे थे—"सब कुछ ठीक चल रहा है, आज जितना उत्साह मुझमे पहले कभी नहीं हुआ था।"

मार्टिन लूथर किंग

जब पहली बार समानता का अनुभव हुआ!

अधिकांश पदयात्री नीग्रो थे; किन्तु उनका साथ देनेवाले गोरों की संख्या देखकर आश्चर्य लग रहा था। उनमें अधिकतर विद्यार्थी, पादरी तथा सामाजिक कार्यकर्ता थे। उस रात हमारा डेरा मण्टगुमरी के बाहर एक बड़े वैयक्तिक अस्पताल में था। उस अस्पताल ने यहाँ की नीग्रो जनता को दवाइयाँ तथा शिक्षा देने का कार्य अपने हाथ में लिया था।

उस समय यह जगह किसी शरणार्थी कैम्प की तरह लग रही थी। कुछ अव्यवस्था के बावजूद सभी लोग प्रसन्न लग रहे थे। वर्षा के कारण चारों तरफ कीचड़ हो रहा था; किन्तु इसकी किसीको चिन्ता न थी। अपना-अपना गुट बनाकर लोग कुछ-न-कुछ खेल रहे थे। कुछ लोग हँसी-मजाक में लगे थे। लोग थके-हारे तथा चिन्तित थे; फिर भी पूरी छावनी मे एकता तथा संकल्प का अनूठा वातावरण था। कई नीग्रों को पहली बार ही इस प्रकार समानता का अनुभव मिल रहा था और वे विश्वास ही नहीं कर रहे थे कि हम उनकी इज्जत करते हैं, उन्हें अपनी तरह मनुष्य समझते हैं।

जैसे-जैसे रात बीतने लगी हजारों की संख्या मे लोग आ गये। भीड़ बढ़ती गयी। लोगों को पेड़ों पर चढ़ना पड़ा। थकावट तथा गरमी के कारण कुछ औरतें बेहोश हो गयी। हमे उन्हें अस्पताल ले जाना पड़ा। अखबारों ने अन्दाज लगाया था कि ३०,००० लोग थे, किन्तु जहाँतक मेरा ख्याल है ५०,००० से कम लोग नहीं थे। मुझे यही खेद था कि मैं पहले दिन से ही इस पदयात्रा में क्यों नहीं शामिल थी।

भीगी रात और गीत का जादू

हमारे रक्षार्थ आये हुए बेचारे सैनिक परेशान थे कि यदि कुछ उपद्रव हुआ तो किस प्रकार इतने लोगों को सँभाल पायेंगे; किन्तु उन्हें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि पूरा समुदाय पूर्णतया शान्त था।

थोड़ी ही देर में सब-कुछ व्यवस्थित हो गया था और उस दिन के सांस्कृतिक कार्यक्रम का आरम्भ हुआ। देश के कई प्रसिद्ध कलाकारों ने अपना अमूल्य समय देकर उस दिन हमारा मनोरंजन किया था। उस भीगी तथा शान्त रात्रि में 'जोनवायेज' के गीतों ने जादू-सा लग रहा था। सभी कलाकारों ने स्वयं उस रात के अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। अलबामा की वह रात सचमुच ही अनूठी थी और पदयात्रियों के बीच उपस्थित रहकर मैं अपने आपको धन्य समझने लगी।

उस रात बड़े खेदपूर्वक मैंने एक नीग्रो महिला तथा उसकी लड़की का उनके घर पर सोने का न्योता अस्वीकार किया; क्योंकि इसमें मेरे साथ उनको भी खतरा था। लोग इतने अधिक हो गये थे कि उनके सोने का प्रबन्ध कुछ नीग्रो-गिरजों में करना पड़ा था।

गोरे चेहरे . काली नजरें

जब मैं अपनी गाडी में कुछ नीग्रो तथा कुछ गोरों को लेकर वहाँ छोडने जा रही थी तब मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारे सैनिक इन गिरजों की रक्षा करने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहे थे। वे तो पहले से ही तय की हुई जगहों पर खडे थे। यह स्पष्ट था कि वे हमारी रक्षा करना नहीं चाहते थे। छावनी में लौटते समय कुछ कुक्लुक्स क्लैन-जैसे लोगों ने मेरा पीछा करके आवाज कसी और उसी समय मैंने दुबारा लौटने का निश्चय कर लिया।

दूसरा दिन इस पदयात्रा का अन्तिम दिन था। हम राजधानी से अभी चार मील दूर थे। उस दिन हल्की बूँदा बाँदी हो रही थी और पदयात्री अपने छाता के नीचे गाते हुए चल रहे थे। सबसे आगे थे श्री मार्टिन-लूथर किंग तथा दूसरे नेता।

पहले हम नीग्रो के मकानों से गुजरे, जिन्होंने हमें हर्षध्वनि से उत्साहित किया। उसके बाद बाजार से गुजरे, जहाँ कैमरे लिए हुए कठोर गोरे चेहरे हमें क्रुद्ध दृष्टि से घूर रहे थे। हम छः लोगों की कतार बाँधे चल रहे थे। फिर भी कहना होगा कि दोनों तरफ काफी संयम था।

जब सडक भी झूम उठी

जैसे ही हम राजधानी के पास का अन्तिम पहाड चढ पाये, हमने देखा उस ओर हजारों सैनिक कतार बाँधे खडे थे। इस ओर की सडक असंख्य पदयात्रियों के कारण चमकती हुई नजर आ रही थी। हम वहीं बैठकर राजधानी को देखने लगे। सैनिकों के पीछे लोगों की भीड भी जमा हो गयी थी। दफ्तरों में काम करनेवाले खिडकियों से झुककर देख रहे थे, किन्तु गवर्नर वाल्स कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे।

हमारी पदयात्रा साढे तीन बजे समाप्त होनेवाली थी। इसका मतलब अभी तीन घण्टे बाकी थे। इन तीन घण्टों में कुछ भाषण हुए। एक वक्ता ने बताया कि किस प्रकार उनके शहर में नीग्रो भाइयों को मतदान के लिए नाम लिखवाने नहीं दिया जाता। अक्सर नाम लिखनेवाले दफ्तर दिन में दो या तीन घण्टे के लिए ही खोले जाते हैं। उस समय नीग्रो भाई हमेशा अपने काम पर होते हैं। यदि कोई समय निकालकर आ भी जाते हैं तो उन्हें बताया जाता है कि दफ्तर बन्द है।

अन्त में श्री मार्टिन लूथर किंग का भाषण हुआ। उनके पीछे खडा एक आदमी बीच-बीच में 'जी हाँ, ठीक है' कहता जा रहा था, जिसका अनुकरण शीघ्र ही अन्य लोगों ने कर लिया। चारों ओर प्रसन्नता फैल गयी। पदयात्रियों को अपनी पदयात्रा यशस्वी लगने लगी, मानो उनकी सभी माँगें पूरी हो गयी हों।

मीठा कोकाकोला कडुई घूँट

प्रदर्शन समाप्त होने पर थकी हारी मैं एक पेट्रोल-पम्प पर कोकाकोला लेने गयी। वहाँ खडे कुछ दुष्ट गोरों ने मुझसे कहा कि कोकाकोला खतम हो चुका है। साथ-साथ उन्होंने मुझसे यह भी कहा कि मैं अच्छी औरत नहीं हूँ। फिर न जाने कैसे उन्होंने एक पत्रकार को कोकाकोला दे दिया, हालांकि वे जानते थे कि वह मेरे लिए ही खरीद रहा है।

मेरे पिता सचमुच मानते हैं कि नीग्रो हमसे नीचे हैं। अगर वे अपनेको प्रतिष्ठित समझने लगे तो ये छोटे-मोटे काम कौन करेगा? सच, श्री मार्टिन लूथर किंग को नोबल शान्ति-पुरस्कार देकर उन्होंने बडी गलती की है। पुरस्कार का अपमान कर दिया है। नीग्रो स्वभाव से ही सुस्त और अयोग्य होता है। यदि हमें जबरदस्ती काम देने को कहा गया तो उद्योग धन्धे का सर्वनाश हो जायेगा। और हाँ, अपने ये विचार घर के नौकरों को मत बताना।"

और, मैं मण्टगुमरी के उस छोटे से चमत्कार के बारे में सोचती हूँ। बचपन से ही मैंने देखा है कि संसार की सबसे बडी विषमता गोरे और नीग्रो के बीच है। पदयात्रा में एक नेता मुझपर विशेष स्नेह रखते थे। आज मुझे उनके बारे में सब-कुछ याद था। उनका नाम, पेशा, गाँव उनकी दाढी और जूते—सब कुछ भली-भाँति याद था, किन्तु बहुत याद करने पर भी उनका वर्ण याद नहीं आ रहा था। इसकी याद मुझे तब आयी, जब मैंने अपने खिंचे हुए फोटो धोये। ●

चरैवेति, चरैवेति

•

कान्तिबाला

रात बीत गयी। सूरज आया रोज की तरह। सुबह के स्वागत में पक्षियों का कलरव गान उसी तरह फूट पड़ा। फिर भी आज का प्रभात कुछ वैशिष्ट्यपूर्ण लगा। किसके लिए? क्या किसी राष्ट्र-विशेष के लिए? क्या किसी जाति विशेष और सम्प्रदाय विशेष के लिए? क्या पुरुष वर्ग के लिए? स्त्री समुदाय के लिए? या इन सितारों के जत्थे के लिए, या धूल के फूल उन नन्हें-मुन्नों की टुकड़ियों के लिए? दिन का वैशिष्ट्य किसके लिए? मैं आज निरंतर जिसके पास गयी, यह प्रश्न साथ रहा उत्तर की तलाश में।

रेडियो में विशेष कार्यक्रम है, विभिन्न संस्थाओं में विशेष कार्यक्रम है, नेताओं के मन में विशेष कार्यक्रम है। फिर वही प्रश्न, यह वैशिष्ट्य किसलिए?

विद्यार्थी कहेगा—प्रिंसिपल का आदेश है इसलिए। शिष्य (फालोअर) कहेगा—नेता का आदेश है इसलिए। नेता कहेगा—हमारा कर्त्तव्य है इसलिए।

कर्त्तव्य—कर्त्तव्य—क्या है यह कर्त्तव्य?

आश्रमवासियों की प्रार्थना और सामूहिक कताई किस कर्त्तव्य के प्रतीक हैं? नौजवानों के संकल्प किस कर्त्तव्य के प्रतीक हैं? आखिर है क्या आज? प्रकृति की ओर दृष्टि गयी। सृष्टि में कहीं कोई परिवर्तन नहीं। जो परिवर्तन है वह सतत है। फिर आज है क्या?

भावों की इन्हीं उच्छल तरंगों में चित्त तरह-तरह के चित्र बना और बिगाड़ रहा था। तभी जोश पैदा कर देनेवाली एक ध्वनि गूंज उठी—टन्-टन्-टन्-टन् टन् टन्-टन् टन।

चल पड़ी उस ओर।

"क्या जी, यह पुकार कैसी है?"

सामने से जाती हुई बहन ने उत्तर दिया—"शाला की पढ़ाई चलती है, उसी का कुछ होगा।" कुछ भूला हुआ याद आया, तो मुड़कर बोली—"आज ३० जनवरी है। कहीं समूह कातना होगा।"

वैशिष्ट्य की पुष्टि इस निरपेक्षता से हुई नहीं। पैर आगे बढ़े, चलते चलते रुके वहाँ, जहाँ हिलते-डुलते कुछ सिर नजर आ रहे थे।

"आज के समूह-कातन में आप चलेंगी?"

'क्या आप चलेंगी?"

'ना बहन।"

हर 'ना के साथ उत्सुकता बढ़ती गयी।

"आप क्या समूह-कातन में जाने की तैयारी कर रही हैं?

'हाँ बहन, जाना तो चाहिए, लेकिन कोई नहीं जाता तो अकेले इतने पुरुषों में बैठना अच्छा नहीं लगता।"

"जाना तो चाहिए से साहस हुआ"—और बहनें क्या नहीं जाती? मैंने पूछा।

"क्या जाने? पहले तो हर शाम प्रार्थना में जाती थी। अब तो यहाँ कोई सभा होती है, उसमें भी कोई नहीं जाता। हम अपने पुराने दिन याद करते हैं, जब अहमदाबाद की कैलिको मिल में रहते थे। उन दिनों कान में जरा

खबर पढ़ी कि आज अमुक स्थान पर सभा है, प्रार्थना का आयोजन है कि बस, घर का सारा काम-काज जल्दी-जल्दी पूरा कर समय पर कार्यक्रम में भाग लेते थे। बहुत खुशी होती थी। अड़ोस पड़ोस की बहनों को भी ले जाते थे, लेकिन अब जबसे यहाँ संस्था में आकर रहने लगे, कौन जाने क्या हो गया है कि कुछ भी होता रह, भाग लेने का उत्साह ही नहीं रह गया।"

"कौन जाने क्या हो गया है?"—"कौन जाने क्या हो गया है?" की ध्वनि के साथ एकरूप होने की मेरी कोशिश चल रही थी। अन्दर की कोशिश वेदना मिश्रित-आश्चर्यपूर्ण स्वर में "ऐसा है क्या?" के माध्यम से अनजाने ही प्रकट हो गयी।

बहन ने पकड़ लिया शब्दों को। "हाँ बहन, ऐसा ही है। लगता है, माना अब हम स्वर्ग में आ गये तो फिर कुछ करने की क्या जरूरत है?"

मैं और कुछ सुनने की तैयारी में नहीं थी। पता नहीं, दिल की धड़कन से एक स्वर अनायास फूट पड़ा—"अच्छा, तो मैं कताई में भाग लेने जा रही हूँ।"

अन्दर चौक में न जाकर बाहर द्वार के चबूतरे पर बैठी। चरखा खोला। चरखे की ध्वनि और 'स्वर्ग' मिल गये। दोनों शब्दों की ध्वनियाँ परस्पर टकराती रहीं, टकराती रहीं—चरखा और स्वर्ग! स्वराज्य और स्वर्ग! संस्था और स्वर्ग! आश्रम और स्वर्ग! कार्यकर्त्ता और स्वर्ग! नेता और स्वर्ग! देश और स्वर्ग! देश के लाखों-लाख, करोड़ों-करोड़ लोगों की आवाज और स्वर्ग! सब आ-आकर टकराते रहे! टकराते रहे!!

समूह-कताई के बाद सभा का आयोजन। आयोजित सभा में जाने की इच्छा कैसे न होती! स्वर्ग का आकर्षण किसे नहीं होता! बस, उसी दिशा में चल पड़ी। बहनों की अलग मण्डली जमी थी। उन्हें प्रार्थना में चलने के लिए कहा। बारी-बारी सबने इनकार किया—"बच्चा रोता है, खाना बनाना है आदि-आदि।"

साढ़े पाँच बजने में पाँच मिनट बाकी थे। देखते-देखते शिक्षकों, विद्यार्थियों और प्रशिक्षणार्थियों से स्थान भर गया। आचार्य महोदय ने आसन ग्रहण किया। अपना मन अपनी मण्डली के पास ही था—"क्या आज के दिन के लिए भी भोजन में देरी संस्था का कार्यकर्त्ता-शिक्षक *सहन नहीं करेगा? क्या ये-ये स्वर्ग के निवासी हैं!*' —आँखों न देखा, कानों ने सुना— आज तो बहनें आ रही हैं।

एक महाशय उठे, बहनों के बैठने की व्यवस्था की। इतने में ५ मिनट भी पूरे हुए। शान्ति मंत्र के साथ पलकें आपस में मिल गयीं। रामधुन के साथ आँखें खुलीं तो *मैंने अपने को घिरा पाया माताओं से।* अधिकांश की गोद में बच्चे थे। रंग बिरंगी साड़ी और सिर के जूड़े में लगे फूलों की सुगन्ध ने पुनः स्मृति दिलायी भले बिसरे स्वर्ग की। और, याद आ गयी दिन के वैशिष्ट्य की!

सन्ध्या का यह स्वर्ग, बन गया प्रातः से चल रहे विशिष्ट प्रश्न का उत्तर! सन्ध्या का यह स्वर्ग, सुबह-सी प्रभापूर्ण ताजगी और लाली का रूप कितने बलिदानों के बाद लेगा, पता नहीं? निश्चित है अनन्त पथ पर अनन्त राही चलते जाते हैं। अनन्त समय तक, अनन्त समय तक। पथ कभी पूरा होता नहीं। बस चलते जाना, चलते जाना। चरैवेति, चरैवेति।

●

रक्षा के लिए शान्तिसेना और शिक्षा के लिए ग्राम-जीवन। शिक्षा और रक्षा ऐसे चिन्तन के ख्याल से दो पहलू हो जाते हैं; पर *अहिंसा में शिक्षा और रक्षा दोनों एक ही चीज बन* जाते हैं। जबतक ये दो चीजें अलग-अलग मानी जायेंगी तबतक अहिंसा अपना पूर्णरूप नहीं दिखा सकेगी। शासन-मुक्त समाज का अर्थ ही है—शिक्षण-मुक्त समाज। नयी तालीम की एक-एक कला प्रस्फुटित हो रही है। हमारे शिक्षकगण उसके ग्रहण में पिछड़ न जायें, यह देखने की बात है।

—आचार्य विनोबा

●

ये रोजगार-दफ्तर
और
समस्याएँ

विजय कुमार

कभी-कभी समाचारपत्रो के शीर्षक ऐसे होते हैं, जो विद्युत् स्पर्श-सा झटका देते हैं। एकबारगी मन मे सैकडो प्रश्न उठ आते हैं, उत्तर एक का भी नही मिलता। और कभी कभी जो उत्तर मिलता है वह सही भी है, इसका एहसास नहीं होता। आइए देखें, एक ऐसा ही शीर्षक—'देश में शिक्षित बेकार।' किसी देश की जिन्दगी के लिए पढाई बहुत जरूरी है। देश के आर्थिक, सामाजिक और नैतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए शिक्षा बडी निर्णायक भूमिका निभाती है, किन्तु उस देश का क्या होगा, जहाँ पढे लिखे लोग बेकार हैं? मतलब, जिन्हें अपने ज्ञान का कमाल दिखाने का अवसर नही मिल रहा है! जो पढ लिखकर भी स्वय के लिए भार बने हैं!! अपने लिए भी रोजी नही कमा पा रहे हैं!!!

उपर्युक्त शीर्षक के नीचे, जो ब्योरा है उसे भी पढ लें तो स्थिति और भी साफ हो जायगी।

३० जून १९६५ को कामदिलाऊ दफ्तर (सेवा-योजना-कार्यालय) के चालू रजिस्टर में दर्ज पढे लिखे बेकारो की सख्या ८,४०,८२२ थी। इस सख्या को विभिन्न तरह के स्नातको में बाँटा गया—

क इजीनीयरिंग स्नातक २५९१,
ख डाक्टरी स्नातक ५३३,
ग अन्य विषयो के स्नातक ६५,९३४ और
घ स्नातक से ऊँची शिक्षा प्राप्त १०,२०६।

पढे लिखे इनसानो की यह सख्या और उनके दायरे में आनेवाले विभिन्न तरह के स्नातक क्या कुछ गम्भीर प्रश्न नही पूछते हैं? और, क्या हम भी स्वय इस समस्या के बारे में प्रश्न नही उठा सकते? आखिर इस देश में, जो अभी-अभी आजाद हुआ है, जिसके निर्माण की समस्या सामने है, लाखो-लाख पढे लिखे लोग काम का अवसर नही पा रहे हैं—ऐसे लोग, जो इजीनियरिंग जानते हैं, जो सडक, पुल, नहरो और अनेक तरह के इजीनियरिंग के काम कर सकते हैं उन्हें बेकारी का सामना करना पड रहा है, ऐसे लोग, जो रोग के विरुद्ध अभियान चला सकते हैं, अपनी डाक्टरी की बदौलत हजारो स्त्री पुरुष और बच्चो को रोग के क्रूर हाथो से बचा सकते हैं, वे भी 'रोजी' की इन्तजार में हैं!

पैंसठ हजार अन्य स्नातको में साहित्य, कृषि, समाजशास्त्र आदि के स्नातक होगे। क्या इनके ज्ञान का उपयोग यह देश नही कर सकता? क्या लगभग साढे आठ लाख पढे लिखे लोगो के ज्ञान के उपयोग की आवश्यकता इस देश को नही है? एक उत्तर तो यह हो सकता है कि यदि आवश्यकता होती तो इतने लोगो को बेकारो के रजिस्टर पर क्यो नाम दर्ज करावर रखना पडता?

इसके चलते एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि क्या इनका ज्ञान ऐसा नही है, जो स्वय इन लोगो को अपने पैरो पर खडा कर सके और वे स्वय अपनी जीविका कमा सकें तथा अपने ज्ञान से देश की धारा पलट सकें। लेकिन, यदि ये पढे लिखे लोग भी यह प्रश्न करें कि क्या देश में शासन और चन्द व्यवसाइयो और उद्योगपतियो ने कोई ऐसा क्षेत्र छोड रखा है, जिसमें हम अपने निजी प्रयास से कुछ कर सकते हैं?

जब इन आंकड़ों के आईने मे राज्यो का मुखड़ा देखते हैं तो कुछ और रूप सामने आता है। राज्यों के आधार पर ब्योरा इस प्रकार है—

१	पश्चिम बंगाल	१,४४,२८८
२	उत्तरप्रदेश	१,१५,१३४
३	मध्यप्रदेश	५६,८०२
४	बिहार	४२,३०२
५	दिल्ली	४०,५७२
६	पंजाब	३५,६८२
७	राजस्थान	३४,१८३

ये आंकड़े पूर्ण सत्य के पास हैं, ऐसा दावा सरकार के रोजगार दफ्तर नही कर सकते। मैं उनसे इस बारे में विवाद भी नही करना चाहूँगा। मैं इन साढ़े आठ लाख लोगो की समस्या को ही बहुत गम्भीर मानता हूँ—खास करके अपने देश मे, जहाँ आर्थिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है, जहाँ आर्थिक विषमता है, जहाँ रोग से अकाल मृत्यु होती है, जहाँ कृषि उत्पादन बराबर गिर रहा है और हमें अमेरिकी गेहूँ के लिए हाथ पसारकर तरह-तरह के दबावों का सामना करना पड़ रहा है। सोचना यह है कि इसका उत्तर क्या है?

आप शिक्षकों से हमें तीन अपेक्षाएँ हैं। पहली, नयी तालीम के सामाजिक और नैतिक आदर्शों में एकनिष्ठा और अविचल विश्वास की। दूसरी, कार्यकुशलता की, क्योंकि किसी-न-किसी जीवनोपयोगी उत्पादक उद्योग या प्रवृत्ति में प्रवीणता के बिना कोई भी नयी तालीम का शिक्षक नहीं बन सकता। तीसरी, जिज्ञासा-वृत्ति और निरन्तर चलनेवाले अध्ययन के अभ्यास की। —ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम्

नयी तालीम परिसंवाद—३

(पिछले दो अंकों में सर्व-सेवा-संघ की ओर से आयोजित राष्ट्रीय विचार-गोष्ठी की संक्षिप्त रिपोर्ट प्रकाशित की गयी है। नीचे उसी का शेषांश दिया जा रहा है। सं०)

श्री वासुदेव

जब हम इम्तहान की बात सेकेण्डरी एजुकेशन की कन्वेन्शनल टाइप की सोचते हैं तो हमारे बच्चों के मानस की तैयारी, परीक्षा की तैयारी और बुनियादी शिक्षा के बुनियादी सिद्धान्तों पर धक्का नहीं लगेगा?

श्री राधाकृष्ण

हम अपनी पद्धति की युनिवर्सिटी का विकास करें या आज के रूरल इंस्टीट्यूट से अपने को जोड़ें? मेरे विचार से हम किसी को इनकार न करें। हमें छात्रों को किसी लाइन में जाने में मदद करनी चाहिए। उसके बाद अलग युनिवर्सिटी बनाने के लिए न तो हमारे पास धन की शक्ति है, न मनुष्य की शक्ति।

श्री देवप्रकाश

भविष्य में पोस्ट बेसिक एजुकेशन के क्षेत्र में ज्यादा दिक्कत नहीं रहनेवाली है; क्योंकि रूरल इंस्टीट्यूट को

यनिवर्सिटी का स्टेटस मिल गया है। सेकेण्डरी शिक्षा के सरकारी और गैरसरकारी उद्देश्यों में कोई विशेष फर्क नहीं है। इस दिशा में शोध-कार्य होने चाहिए।

श्री करण भाई

पोस्ट बेसिक के काम को हम मजबूत करें और उससे आगे की शिक्षा और उसके स्पेशलाइजेशन के लिए सरकार से आग्रह करें। पोस्ट बेसिक विद्यालयों को, जिस रूप में वे हैं, उसी रूप में मान्यता मिलनी चाहिए।

श्री चन्द्रभूषण

जनरल शिक्षा को राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। उत्तरबुनियादी-शिक्षा सर्वथा उसके अनुकूल है। अस्तु, इसे व्यापक करने की योजना बननी चाहिए। परीक्षा-पद्धति पर भी हमें सोचना चाहिए।

इस परिसवाद को विद्यालय के आन्तरिक मूल्यांकन पर बल देना चाहिए। शिक्षा के सार को बनाये रखने की दृष्टि से विभिन्न सेवाओं और उच्च शिक्षा में प्रवेश-हेतु प्रमाण-पत्र अथवा डिग्री की योग्यताएँ हटाकर जाँच का आधार रखना चाहिए।

श्री मनमोहन चौधरी

हम अपना दुराग्रह छोड़कर प्रयोग के लिए सक्रिय और व्यापक दृष्टि रखें। कहीं कुछ होता है तो उसे अपने से बाहर की चीज घोषित करने की जगह पर उसे अपना मान कर चलें।

परीक्षा एक वस्तुस्थिति है। अगर ऊँची शिक्षा में जाना है तो परीक्षा देनी ही होगी। हाँ, अलग से इस परीक्षा-पद्धति में परिवर्तन करने की कोशिश जरूर होनी चाहिए, लेकिन छात्रों के आगे जाने का रास्ता बन्द नहीं होना चाहिए।

श्री वी. एन. पाण्डे

पोस्ट बेसिक की शिक्षा पूरे देश में लगभग एक जैसी होगी, इसलिए सहूलियत की दृष्टि से सेण्ट्रल बोर्ड से पोस्ट-बेसिक को एफिलिएट कर लेना चाहिए।

श्री देवप्रकाश

आज का समाज गांधीजी की कल्पना के समाज को नहीं मानता; इसलिए उस समाज के लिए नागरिक तैयार करनेवाली बुनियादी शिक्षा को भी वह स्वीकार नहीं करता। इतना होते हुए भी बुनियादी शिक्षा का आज भी महत्व है; क्योंकि यह शिक्षा आज की नयी आकांक्षा के सामाजिक लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए भी उपयुक्त है। समाज का परिवर्तन करनेवाली शिक्षा को स्वयं भी परिवर्तित होते रहना होगा। इस दृष्टि से शिक्षा में निरन्तर स्वतन्त्र प्रयोग करने की स्वतंत्रता का अत्यधिक महत्व है; क्योंकि शिक्षण-पद्धति जहाँ एकओर मान्य समाज-व्यवस्था के लिए नागरिक तैयार करने का कार्य करती है वहीं वह क्रान्तिकारी समाज रचना की भी प्रेरक-शक्ति बनती है।

श्री ढेबर भाई

एक ऐसा गैरसरकारी इंस्टीट्यूशन बनना चाहिए, जो बेसिक और पोस्ट बेसिक एजुकेशन के सम्बन्ध में शोध करे। विभिन्न स्थानों के अनुभव और कार्य का आकलन और मूल्यांकन करे, ताकि शिक्षण-प्रशिक्षण की विभिन्न पद्धतियों के साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन और इसकी समग्र व्यावहारिकता के सम्बन्ध में गहराई से काम चल सके।

श्री गोपीनाथ मेनन

हमें जनता के राजनीतिक शिक्षण के बारे में कार्य करने के लिए कुछ उपाय सोचने चाहिए। जनता की राय बनाने और उसे अनुकूल दिशा में प्रभावित करने के लिए एक ऐसी संस्था बननी चाहिए, जो इस कार्य को अच्छी तरह कर सके।

श्री ई० डबल्यू० आर्यनायकम्

हममें से समझदार लोगों को विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा से इनकार करना चाहिए। हमारे सभी बच्चों के लिए विश्वविद्यालय तक की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा मिलनी ही चाहिए, मैं यह नहीं मानता।

आज बुनियादी शिक्षा के मार्ग में राजनीतिज्ञों-द्वारा नहीं, बल्कि सचिवालय-द्वारा बाधा पहुँच रही है।

तो हम क्या करें ?

जाडे का दिन। मीठी धूप। कक्षा लगी हुई थी खुले मैदान में। शिक्षक ने श्यामपाट पर कुछ लिख दिया था। लडके देख-देखकर लिख रहे थे। मेरी निगाह श्यामपाट पर जा पहुँची। देखा, टेढ़े-मेढ़े अक्षरो में ८–१० वाक्य लिखे हुए हैं। जरा गौर किया तो कई गलतियाँ !

मैंने शिक्षक को अलग बुलाकर कहा—"मास्टर साहब, इसमें कुछ शब्द अशुद्ध लिख गये हैं।"

शिक्षक की त्योरी चढ़ गयी और पेशानी पर रेखाएँ उभर आयीं। उसने मुझे तेज निगाहो से देखकर कहा—"बताइए न, क्या गलत है ?"

मैंने गलत शब्दो की ओर सकेत किया तो वह हँस पड़ा, शायद मेरी नाजानकारी पर। और, उसने एक किताब मेरे सामने रख दी, जिसमें वे दोनो शब्द वैसे ही लिखे थे, जैसा शिक्षक ने श्यामपाट पर लिखा था।

"इस किताब में भी गल्त लिखा है मास्टर साहब।"

"मैं कैसे मान लूँ कि किताब में गल्त लिखा है ? जब किताब के लिखे पर भी आपको विश्वास नहीं तो मैं आपकी बात को सही कैसे मानूँ ?"

"शब्दकोश तो होगा ही आपके पास ?"

"नहीं साहब, यह प्राइमरी पाठशाला है, इसमें शब्दकोश क्यों होने लगा ?"

"क्यों नहीं, शब्दकोश तो होना ही चाहिए; क्योंकि गलतियाँ अक्सर छोटे-मोटे शब्दो में ही होती हैं। रही बात किताबों की, यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे प्रकाशक इस दिशा में पूरी-पूरी सावधानी नही बरतते।"

उसने विश्वासपूर्वक कहा—"तो हम क्या करें ! मैं तो आप ही से चाहूँगा कि ऐसे शब्दा की सूची बना दें, जिन्हें लिखने में अक्सर भूलें हो जाया करती हैं।"

मुझे शिक्षक की बात पसन्द आ गयी और मैंने कुछ शब्दा की एक तालिका बना दी, जो इस प्रकार है—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
आरोग्यता	आरोग्य	आवश्यकीय	आवश्यक
आलस्यता	आलस्य	उन्नतशील	उन्नतिशील
कृतघ्नी	कृतघ्न	पक्षीशावक	पक्षिशावक
यौवनावस्था	युवावस्था	सन्मुख	सम्मुख
श्मसान	श्मशान	हुवा	हुआ
दुखदाई	दुखदायी	मनहर	मनोहर
मान्यनीय	माननीय	औषधि	औषध
सन्चार	सचार	सम्वत्सर	सवत्सर
परतु	परन्तु	इक्किस	इक्कीस
घनिष्ट	घनिष्ठ	सशकित	सशक
न्याई	न्यायी	विजई	विजयी
बिल्कुल	बिलकुल	इसलिये	इसलिए
मुहल्ला	महल्ला	फुर्सत	फुरसत
अगीठी	अँगीठी	अगूठा	अँगूठा
अन्ताक्षरी	अन्त्याक्षरी	हिरण्यकश्यप	हिरण्यकशिपु
अक्सर	अकसर	तस्वीर	तसवीर
अगुवा	अगुआ	अमचुर	अमचूर
अर्दली	अरदली	आलता	अल्ता
आइना	आईना	मस्जिद	मसजिद

मैंने शब्द-तालिका शिक्षक को दी और उन्हें यह आश्वासन देकर चल पडा कि अगर भविष्य में आवश्यकता होगी तो सेवा करता रहूँगा। .. —रामजनम

इस सन्दर्भ में देखिए दूसरा लेख—वर्ष १२ अक ७

अनुक्रम

•

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
•
सर्व-सेवा-संघ की मासिकी

राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू अपनी विद्वता, चारित्र्य राष्ट्र-भक्ति स्वराज्य-सेवा और गांधी-न्याय की अनन्य निष्ठा के कारण सारे राष्ट्र के लिए पूज्य थे।

—आचार्य काका कालेलकर—

हमारा राज्य धर्मनिरपेक्ष है; परन्तु इसका मतलब यह न समझ लिया जाय कि यह ईश्वर-विहीन राज्य है, या आचार-नीति से परे है। इसका वास्तविक अभिप्राय इतना ही है कि राज्य की दृष्टि मे सभी धर्म समान हैं और इनमें से किसी विशेष धर्म को वरीयता नही दी जा सकती इसलिए कि वह किसी समुदाय-विशेष का धर्म है, वह समुदाय छोटा हो या बडा। परन्तु, इसका मतलब यह भी नही है कि सत्य और असत्य, भले और बुरे के बीच, जो विभाजक रेखा है, उसका ज्ञान भी न कराया जाय, जिसे सभी धर्म समान रूप से स्वीकार करते हैं। निश्चय हो, धर्म मे अश्रद्धा या अविश्वास तो हमे अपनी नयी पीढ़ी मे बोना ही नही चाहिए।

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

वर्ष : चौदह

अंक : पांच

जय जवान ! जय किसान !!

पाकिस्तान के आक्रमण पर भारत में देशभक्ति की भावना जागरित हुई है, ऐसा कहा जाता है। लेकिन, यह भक्ति किसकी, किसके लिए, और क्यों ? जब चीन ने हमला किया था उस समय भी मुल्क के अन्दर कुछ भावनात्मक उभार दिखायी दिया था । ऐसे सामयिक उभार के अवसरों पर हर एक को शान्ति से विचारने की जरूरत है।

हमारे जवानों ने अत्यन्त हिम्मत और वीरता के साथ मुल्क की रक्षा की है—वे बहादुर हैं, जिसका बखान गली-गली, मैदान-मैदान, और देश के हर कोने में हो रहा है । लेकिन, इस शौर्य की प्रेरक शक्ति क्या केवल देशभक्ति है ? हमने पिछले विश्व-युद्धों में देखा था कि अँग्रेजी साम्राज्य की ओर से लड़ने में भारतीय जवानों ने इससे कम वीरता का प्रदर्शन नहीं किया था । कहते हैं, उस लड़ाई में अँग्रेजों की जीत हुई थी, भारतीय सिपाहियों के ही भरोसे । क्या उस समय के जवानों के शौर्य की प्रेरक शक्ति देशभक्ति थी ? निस्सन्देह, ऐसा नहीं था। प्रेरक शक्ति देशभक्ति नहीं थी, शौर्य-भावना थी ।

कोई भी मनुष्य या दूसरा प्राणी हारना नहीं चाहता। 'लड़ाई में जान चली जाय; लेकिन जीत हमारी हो', यह प्राणि-मात्र की बुनियादी वृत्ति है। इस वृत्ति के साथ अगर थोड़ा देशात्म बोध भी जुड़ जाता है तो उसमें से विशिष्ट कृति निकलती है। पाकिस्तान के हमले पर जवानों की, जो विशिष्ट कृति प्रकट हुई थी उसका मूल आधार यही जिगीषा (जीतने की इच्छा) और स्वदेशी भावना थी, ऐसा समझना चाहिए।

देश के सभी राजनीतिक दलों ने परस्पर संघर्ष को स्थगित कर दिया है; साम्प्रदायिक झगड़े नहीं हो रहे हैं। इसके लिए भी देशात्म बोध ही एकमात्र प्रेरक शक्ति है क्या? अगर देशात्म बोध की प्रेरणा इस मिलन का आधार हुई होती तो हमला वापस होने पर यह जारी रहती, हमें इस तथ्य को समझना होगा।

जगह-जगह जनता के जलूस निकल रहे हैं, जवानों को जलपान कराया जा रहा है, उपहार भेजे जा रहे हैं। सुरक्षाकोष में लोग चन्दा दे रहे हैं। संकट की घड़ी पर जनता-द्वारा ये सारे प्रदर्शन शुभ चिह्न जरूर हैं; लेकिन उसकी प्रेरक शक्ति देशात्म बोध है या आत्मरक्षा की सनातन उत्कण्ठा, इस पर भी गहरायी से विचार करने की जरूरत है।

देशभक्ति शाश्वत वृत्ति है, आपद्धर्म नहीं। तात्कालिक आत्मरक्षा के लिए, जो कुछ किया जाता है वह अगर राष्ट्र की अन्तर्निहित स्थायी वृत्ति नहीं है तो वह देशात्म बोध की भावना है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जवानों की देशभक्ति का परिचय-क्षेत्र लड़ाई का मैदान नहीं, उनके घर का पड़ोस है। देशभक्त चाहे वह सिपाही हो, राजनीतिक पक्ष का सदस्य हो, किसी सम्प्रदाय को माननेवाला हो, स्कूल या कालेज का विद्यार्थी हो, या किसान और मजदूर हो, उसकी वृत्ति मुल्क को बढ़ाने और बनाने में कुछ-न-कुछ करने की होती है। वह समाज में देश के लिए कुछ-न-कुछ त्याग किया करता है। उसकी चिन्ता का विषय मुल्क का विकास होता है। गहराई से सोचने की जरूरत है कि हमले के कारण आज जो देशव्यापी उफान दिखायी देता है उसमें उपर्युक्त गुणों का आभास है क्या? निस्सन्देह ऐसा नहीं दिख रहा है।

देश के प्रधानमंत्री ने नारा दिया है—'जय जवान, जय किसान'। मुल्क की लाखों तरुणाइयाँ प्रधान मंत्री के स्वर में स्वर मिलाकर 'जय जवान' तो कहती हैं, उनकी प्रतिष्ठा में जगह-जगह तसवीर बिठाती हैं, उन्हें उपहार भेजती हैं, मिठाई खिलाती हैं और उनके दर्शन के लिए रेलवे प्लेटफार्म पर बड़ी संख्या में एकत्र होती हैं; लेकिन क्या किसी ने यह भी देखा है कि देशभर की तरुण-तरुणियाँ अपनी सुख-सुविधा की इमारतों को छोड़कर, जिन्दगी के आरामों को कुछ देर तक स्थगित रखकर; किसानों की जय के लिए देहात-देहात में पहुँच-

फर उनकी कुदाल और हल को छू रही है ? उनके खेतों की सिंचाई में मदद कर रही हैं, या और कुछ कर रही हैं ? आज तो पढ़ी-लिखी तरुण-तरुणियाँ 'जय किसान' के उद्‌घोष के साथ-साथ किसानों को देखकर नाक भों सिकोड़ने की परिपाटी भी नहीं छोड रही हैं, फिर देशभक्ति किसकी, किसके लिए और कहाँ पर ?

सब जानते हैं कि उनके खाने के लिए किसानों को भूखे रखकर भी अनाज प्राप्त किया जायगा, उनके लिए राशनिंग की व्यवस्था की जायगी । जरूरत पड़ने पर जैसे-तैसे किसी भी शर्त पर बाहर से अनाज आ जायगा, उनको भूखों नहीं रहना पड़ेगा । फिर खेत, खेती और खेतिहर की फिक्र की जरूरत क्या ?

आज की इस परिस्थिति में देश के नेता और जनता गम्भीरता के साथ विचार करे । आपत्तिकाल के लिए ही सही, आज देश में चेतना का कुछ सचार हुआ है, मेल मिलाप की कुछ भावना बनी है, लेकिन उसके आधार पर मुल्क में देशात्म बोध का उद्‌बोधन कैसे हो ? मुल्क की समस्याएँ क्या हैं, उन्हें हम देखें, सब पक्ष के लोग जिस तरह मिल-जुलकर प्रतिरक्षा की बात सोचते हैं उसी तरह देश की सुरक्षा की बात भी सोचें । प्रतिरक्षा की समस्या एक चीज है, और सुरक्षा दूसरी चीज । प्रतिरक्षा बाहरी हमले के मुकाबले के लिए की जाती है, लेकिन सुरक्षा के लिए मुल्क की भीतरी चुनौतियों का मुकाबला करना होता है ।

प्रतिरक्षा के लिए मजबूत करना होता है जवानों को, और सुरक्षा के लिए मजबूती चाहिए लोकशक्ति की । राष्ट्रशक्ति को मजबूत करने के प्रयास क बिना, केवल सैनिक शक्ति को मजबूत करने की चेष्टा क्या वास्तविक देशभक्ति होगी ? और, लोकतन्त्र की मान्यता के सन्दर्भ में पूरे राष्ट्र को मजबूत किये बिना, सिर्फ सैन्य शक्ति का सगठन तथा सैनिक प्रतिष्ठा का उद्‌बोधन करना देशभक्ति के विपरीत कार्रवाई नहीं है क्या ? क्योंकि अत्यन्त सुप्रतिष्ठित, सुसंगठित तथा सुसम्मानित फौज के साथ अगर लोकशक्ति कमजोर बनी रहती है तो लोकतंत्र समाप्त होकर सैनिकतंत्र कायम होने में कितनी देर लगेगी ?

अतएव, नेता और जनता को वर्तमान लोक-चेतना का लाभ मुख्य रूप से राष्ट्र-शक्ति बढ़ाने में लेना चाहिए । किसी भी राष्ट्र की रीढ़ उसके बच्चे और तरुण होते हैं । आज अगर खाद्य की समस्या उत्कट है तो उसका भी हल वही कर सकेंगे; और अगर भ्रष्टाचार है तो उसके निराकरण की जिम्मेदारी भी उन्हीं पर हो ।

अतः राष्ट्र का मुख्य ध्यान इस भावी नागरिक को राष्ट्रीय समस्या के सन्दर्भ में निर्माण करने की ओर जाना चाहिए । आज चाहे सुरक्षा के लिए, चाहे प्रतिरक्षा के लिए, मुख्य समस्या खाद्य की है । उसका हल कैसे होगा ? 'जय किसान' का नारा लगाने-मात्र से नहीं हल होगा, हल होगा उत्पादन में वृद्धि से । देश में जमीन का रकबा नहीं बढ सकता,

और न पूँजी की ही वृद्धि फिलहाल हो सकती है। अगर वृद्धि की गुंजाइश है तो वह विज्ञान की है। आज जो जमीन है, जो श्रमशक्ति है उसी में अगर विज्ञान जोड़ा जाय, तभी मुल्क की मुख्य समस्या का हल हो सकता है। वह तभी हो सकता है जब तरुण वैज्ञानिक खेती के काम में लगें और खेतिहर वैज्ञानिक बनें।

१९४५ में जेल से निकलकर महात्मा गांधी ने कहा था कि अगर देश में नयी तालीम की परिपाटी चलती होती तो बंगाल में इतना बड़ा दुर्भिक्ष न हुआ होता। इसीलिए उन्होंने कहा था कि देश के प्रत्येक बच्चे को उत्पादन के माध्यम से शिक्षित करने की जरूरत है, और नयी-तालीम की मारफत हर शिक्षित व्यक्ति को उत्पादन-निष्ठ बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। अगर ऐसा हुआ होता तो इन १८ सालों की अवधि में देश की सभी तरुण-तरुणियाँ ज्ञान विज्ञान को साथ लेकर उत्पादन के काम में लगी होतीं, तब हमको अमेरिका या रूस के गेहूँ का मुँहताज न रहना पड़ता तब देश का किसान मजबूत होता, मजदूर मजबूत होता और आम जनता भी मजबूती के साथ लोकतंत्र की रक्षा कर सकती थी। तब प्रतिरक्षा भी आसान होती, अपराजेय होती, और तब शायद बाहर की किसी शक्ति को हमला करने की हिम्मत भी नहीं होती।

लेकिन, यह अबतक नहीं हुआ। अब भी ज्यादा कुछ बिगड़ा नहीं। आज भी अगर हिम्मत के साथ देश के नेता उत्पादन और शिक्षा का अनुबन्ध साधेंगे तो वह दिन दूर नहीं, जब पूरे राष्ट्र की जनता ज्ञान विज्ञान के साथ समृद्धि का निर्माण करके राष्ट्र को अजेय बना सकेगी।

आज चीन के नेता इस बात को समझ रहे हैं। वे पूरे शिक्षा-जगत् को आधे समय उत्पादन और आधे समय शिक्षा में लगा रहे हैं। उनकी यह योजना यन्त्रवत् है, सचेतन नहीं। फिर भी उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा और उत्पादन का, जो दोनों काम करना चाहते हैं, उन्होंने सही दिशा को पकड़ लिया है और वे आगे बढ़ रहे हैं।

गांधीजी को इतने से सन्तोष नहीं था। वे उत्पादन के माध्यम से शिक्षण की योजना बनाने को कहते थे। उत्पादन के साथ शिक्षा और उत्पादन के माध्यम से शिक्षा में फर्क है।

उत्पादन के साथ शिक्षा चलेगी तो वह अचेतन होगी। उसमें मनुष्य उत्पादन के साथ समरस नहीं होगा, लेकिन अगर शिक्षा का माध्यम उत्पादन होगा तो वह उत्पादन सचेतन होगा, उसमें समरसता आयेगी। परिणामतः पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होगा। क्या भारत की जनता, नेता तथा विचारक गांधीजी से अत्यन्त प्रगतिशील विचार पाने के बावजूद चीन से पीछे रहेंगे? अगर इसमें पीछे रहे तो सुरक्षा की शक्ति में भी पीछे ही रहेंगे।

—धीरेन्द्र मजूमदार

सच्ची शिक्षा की स्वाभाविक राह—२

•

विनोबा

अब फिर से तालीम की माँग हो रही है, यह बहुत अच्छा है। लोग तालीम चाहते हैं, हर जगह तालीम चाहते हैं। अभी मैंने कल देखा कि दान से एक कालेज का मकान खड़ा कर लिया है। इतनी विद्या की रुचि भारत में पैदा हो गयी, यह बड़ी खुशी की बात है; लेकिन इस विद्या-प्राप्ति के उद्देश्य क्या हैं?

बंगाल में मैं घूम रहा था। वहाँ एक जगह कुआँ बन रहा था। मैंने सोचा कि मैं भी कुछ देर काम करूँ। १५-२० मजदूर काम कर रहे थे। मैं वहाँ गया। मैंने टोकरी उठायी। १०-५ मिनट मैंने मिट्टी ढोने का काम किया। उसके बाद मैं वहाँ से जाने लगा। लोगों ने कहा—"बाबा जरा ठहरिए, आप से कुछ कहना है।"

फिर एक बूढ़ा आदमी सामने आया। उसका एक जवान बच्चा था। उसे भी साथ ले आया। उसने कहा—"बाबा, मैंने इस बच्चे को पेट काट करके तालीम दी है। मैट्रिक तक पढ़ाया है। मैं तो बचपन से ही यही काम करता आ रहा हूँ। इसे नौकरी नहीं मिली। अब मजबूर होकर यह मेरे साथ-साथ काम कर रहा है।"

उसको इस बात से बड़ा दुःख हुआ कि मैं तो मजदूरी कर ही रहा हूँ, मेरा बेटा तो इससे बचता। इसलिए उसने अपने बेटे को तालीम दिलायी पेट काटकर। अब यह दूसरी बात है कि उसे काम करना पड़ता है।

श्रम का अवमूल्यन : देश का पतन

आज तालीम चाहते हैं, लेकिन वे चाहते इसलिए हैं कि शरीर-श्रम से बचा जाय। एक बहुत बड़ी किताब लिखी गयी है गिबन-द्वारा—दी फाल आफ रोमन एम्पायर (रोमन एम्पायर कैसे गिरा)। वह इसलिए गिरा कि वहाँ के लोगों में शान-शौकत आ गयी और शरीर-श्रम से घृणा हो गयी, और शारीरिक श्रम से जब घृणा हो गयी तो रोम राष्ट्र का पतन हो गया। इससे हमको सबक लेना चाहिए और अपने बच्चों को मजबूत बनाना चाहिए। उन्हें काम मिलना चाहिए और ज्ञान भी। अभी बात हो रही है—"अरे, हिन्दुस्तान के विद्यार्थी पर कितना बोझ आयेगा! अभी हिन्दीवालों को तमिल या तेलुगु सीखनी होगी। अंग्रेजी, हिन्दी और एक भाषा और, यानी तीन भाषाएँ सीखनी होंगी। ये तीन भाषाएँ वे कैसे सीखेंगे?"

मैं था वेलूर जेल में। और, मैंने वहाँ की चार भाषाएँ एकदम सीखना शुरू किया—तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम्। किसी ने पूछा कि चार भाषाएँ सीखना एकदम आपने क्यों शुरू कर दिया? मैंने कहा कि चार भाषाएँ मैंने एकदम इसलिए शुरू किया कि वहाँ पाँच भाषाएँ थीं नहीं। अगर पाँच भाषाएँ होतीं तो मैं एकदम पाँच भाषाएँ शुरू कर देता। भाषाओं का एक शास्त्र है। एक भाषा की दूसरी भाषा से तुलना करने का ज्ञान जिसको हो गया, अपनी भाषा का समग्र ज्ञान, जिसको हो गया वह तुलना से दूसरी भाषा झट सीख लेगा; उसे बहुत कठिनाई नहीं होगी। इसलिए अगर हमारे उत्तर भारत के लोगों

है, लेकिन जो खतरा कम्युनिस्ट के राज में होगा, वही जनसंघ के राज में होगा और वही खतरा दूसरों के राज्य में भी।

इस प्रकार सारे राज्यों की तालीम का अधिकार जब सरकार के हाथ में गया तो बहुत बड़ा खतरा है। यह खतरा भारत में पहले नहीं था। भगवान कृष्ण को उनके पिता ने समझा कि अब इसको जरा लिबरल एजुकेशन देना होगा। यद्यपि वह पराक्रम कर चुका था, फिर भी स्कूल भेज दिया। उन्हें भेजा गया था सन्दीपन के आश्रम में। सन्दीपन ने उन्हें एक गरीब ब्राह्मण के साथ रखा और दोनों को काम दिया था जगल से लकड़ी काटकर लाने का। उन्होंने यह नहीं सोचा कि राजा का बेटा है तो उसे दूसरी तालीम देनी है और जो गरीब ब्राह्मण का बेटा है उसके लिए दूसरी तालीम।

मैं कह रहा था कि विद्यार्थियों को खतरे इन सगठनों से है, और इन सगठनों के कारण विद्यार्थियों के दिमाग की आजादी नहीं रहती। उनको अध्ययन करना चाहिए और भिन्न भिन्न पहलुओं से अध्ययन करना चाहिए, लेकिन अपना दिमाग छोटा नहीं रखना चाहिए। हमारी निगाह पूरी दुनिया पर रहनी चाहिए। दुनिया हमारे सामने एक छोटा-सा दृश्य है—विद्यार्थियों को ऐसा सोचना चाहिए। आज का ऐसा जमाना है कि कुत्ते भी पृथ्वी छोड़कर आठ सौ मील उठ रहे हैं। आज के जमाने में जब कुत्ते भी ऊपर उठ रहे हैं तो विद्यार्थी अगर अपने सगठनों में गिरफ्तार रहे तो उनकी अपनी ताकत नहीं बनेगी।

नये संघ, नये रंग

आज लोग अपना इण्टरेस्ट (हित) सँभालने के लिए अपना सघ बनाना चाहते हैं। मजदूर-सघ बने हैं, विद्यार्थी-सघ बने हैं, अनेक प्रकार के सघ अपना-अपना हित कायम करने के लिए बने हैं। एक ही सघ बनाना अब बाकी है भारत में, उसे भी बनाना चाहिए। अखिल भारत बेटा-सघ और अखिल भारत बाप-सघ। अगर ये बन जायें तो हिन्दुस्तान का काम सुन्दर हो जायगा। बेटे अपना हित सँभालेंगे बापों के खिलाफ, और बाप अपना हित सँभालेंगे बेटों के खिलाफ। उसमें मुश्किल तब होगी जब एक ही आदमी बेटा भी होगा और बाप भी। तब सवाल उठेगा कि वह किसमें दाखिल हो? इसका फैसला करना बड़ा कठिन काम होगा। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मैंने कैसी अद्भुत बात कही आपसे; लेकिन ऐसी बेकार की चीजें इगलैण्ड में होती हैं। यह अच्छा है कि अपने देश में ऐसा नहीं होता।

एक हजार साल पहले की बात है। इगलैण्ड में भाइयों और बहनों की जोरदार लड़ाई चली। एक बाजू सारी बहनें और दूसरे बाजू सारे भाई। पतियों के विरुद्ध पत्नियाँ और पत्नियों के विरुद्ध पति, बहनों के विरुद्ध भाई और भाइयों के विरुद्ध बहनें। सवाल था कि क्या बहनों को वोट का अधिकार मिलना चाहिए? इगलैण्ड के लार्ड लोगों ने तय किया था कि वोट का अधिकार बहनों को नहीं मिल सकता। पार्लियामेण्ट में जाकर, जैसाकि उनका तरीका है, जैसी उनकी सभ्यता है, भाइयों को बहनों ने, पतियों को पत्नियों ने अण्डे फेंककर मारे। उसके बाद बहनों को अधिकार मिला वोट का। भारत में बहनों को वोट का अधिकार देने के लिए ऐसा कुछ भी नहीं करना पड़ा।

मैं आपसे एक महत्त्व की बात कहना चाहता हूँ कि राजनीतिशास्त्र में हिन्दुस्तान योरप से बहुत आगे है। (जोरदार तालियाँ) ताली बजाने की बात नहीं, अभिमान की बात नहीं, समझने की बात है।

योरप में एक-एक भाषा का नेशन बनाया है। एक नेशन से दूसरे नेशन में जाने के लिए पासपोर्ट और वीसा की जरूरत रहेगी। और, वहाँ की भाषाएँ बहुत-सारी एक ही लिपि में लिखी जाती हैं। रूस को अगर छोड़ दें तो सभी भाषाओं की लिपि एक है। उनमें एक ही धर्म चलता है—ज्यादातर क्रिश्चियन धर्म। उन भाषाओं में कितना फर्क है! यह मैंने आपको बता दिया कि १८ दिन में मैंने जर्मन सीखी। क्योंकि मैं इगलिश और फ्रेंच जानता था। इसलिए अगर किसी फ्रेंच मैन को जर्मन सीखनी है तो १५ दिन से ज्यादा समय की जरूरत नहीं, और अगर किसी जर्मन को फ्रेंच सीखनी है तो उसे भी १५ दिन से अधिक की जरूरत नहीं। जैसे हमारे यहाँ गुजराती, मराठी, हिन्दी सीखनी हो तो आसानी से १५ दिन में सीख सकते हैं। यह सब है, लेकिन फिर भी उनके बीच जोरदार लड़ाइयाँ चलीं,

और यह लड़ाइयां मिलिटरी नहीं मानी गयी। नाटक वार मानी गया इम्परलिस्ट वार मानी गयी। कहाँ गंगा-जमुना ! कहाँ वोल्गा-टेम्स !!

हमारे यहाँ राजपूतों के साथ मराठों की लड़ाइयां हुई उत्कलवालों की आन्ध्रवालों के साथ लड़ाइयां हुई तमिलवालों की कन्नडवालों के साथ लड़ाइयां हुईं। ऐसी लड़ाइयां भिड़ाइयां भारत के इतिहास में हैं लेकिन हिंदुस्तान का यह गौरव है कि वे लड़ाइयां हिंदुस्तान की सिविल वार मानी जाती हैं लेकिन योरप में नहीं मानी जाता। जर्मनी और फ्रांस में कोई बहुत भारी पहाड़ रहा है और यही है उनका अद्भुत झगड़ा। उनका कहना है— बड़े दुख की बात है कि हमारे दो राष्ट्रों के बीच कोई पहाड़ नहीं है। फिर उन्होंने सिगफ्रिड लाइन बना दी यानी बहुत बड़ी दीवार बना दी—पहाड़ के समान लम्बी और उसमें बनायी मैजिनो लाइन। बिना पहाड़ के दो देश अलग कैसे होंगे ? इसलिए पहाड़ बना दिया। दरअसल दोनों में कोई खास भेद नहीं है। एक हो सकते हैं लेकिन बात यह है कि वे कामन मार्केट भी नहीं कर पा रहे हैं सारा योरप तो एक करने की बात दूर रही। और, यह सारा जब उनको सूझेगा तो वे वोल्गा का पानी कंधे पर लन्दन में स्नान करने के लिए ले जायेंगे और टेम्स नदी का पानी लेकर मास्को में आयेंगे और सारे योरप की एकता करेंगे, उसके बाद उनकी और भारत की पालिटिक्स की बराबरी होगी।

नयी ज्यामिति पुराने आधार

यह खूब समझने की बात है कि हमने १५ भाषाएँ इकट्ठा रखी हैं और इतनी भाषाओं के साथ उतने धर्म भी इकट्ठा रखे हैं। इतनी भाषाएँ और इतने धर्म इकट्ठा रखना भारत की बहुत बड़ी चीज है और भारत इस मामले में योरप से बहुत आगे है।

इसवास्ते हमारे विद्यार्थियों का दिल बड़ा होना चाहिए, उदार होना चाहिए। जबकि हमारी संस्कृति ने व्यापक भावना दी है। क्या यह अंग्रेजों ने किया ? अगर वे यह काम करते तो यहाँ जो चलता रहा है वह टूटा नहीं। पाकिस्तान टूट सकता था उसको अलग कर ही दिया सीलोन को अलग कर सकते थे, अलग कर ही दिया, बर्मा को भी अलग कर सकते थे, कर ही दिया। मैंने तो कई दफा कहा है कि हमको अगर कुल दुनिया के साथ शान्ति का सम्बन्ध रखना है तो विश्वशान्ति की भी स्थापना करना ही है।

अगर हमें भारत की आजादी को मजबूत करना है तो हम नयी ज्यामिति सीखनी चाहिए। यह ज्यामिति मैंने कश्मीर में सिखायी थी। वहाँ लोग क्या कहते थे— जे० एण्ड के०। हमने कहा कि इंगलिश भाषा जानते हो क्या ? ज० के० के साथ ए० आता है। तो आपको कहना चाहिए—जे० ए० के० एस०, लेकिन कहते हैं जे० के०, जे० के०। लद्दाख तुम्हारा था, लेकिन उसका कभी स्मरण नहीं आता। बस जम्मू एण्ड कश्मीर—जे० के०, जे० के० याद रहा। लद्दाख खतम, यह मैंने कश्मीर में कहा था। इसके बाद उनके ध्यान में आया कि लद्दाख भी उनकी चीज है और उसकी भी रक्षा उन्हें करनी होगी। इत्तिफाक से चीन के साथ यह मालूम भी हो गया।

लेकिन मैं कहना चाहता था कि मैंने वहाँ नयी ज्यामिति सिखायी। मैंने कहा—देखेंगे 'ए-बी-सी इज ए ट्रेंगिल।' बताओ तुमने (लड़कों से) क्या समझा ? नहीं समझे ? अफगानिस्तान, बर्मा, सीलोन एक ट्रेंगिल है। जब यह ट्रेंगिल हो जायेगा तो इससे हिंदुस्तान की रक्षा होगी। यह नयी ज्यामिति है पुरानी नहीं।

अब भारत को बहुत कठिन काम करना है। मेरा मतलब यह नहीं कि ये सारे प्रदेश एक हुकूमत में आ जायँ। इसकी कोई जरूरत नहीं, लेकिन मैं जो ए-बी-सी ट्रेंगिल है, एक है। उसमें तिब्बत का भी भाग आता है। और अफगानिस्तान बर्मा, सीलोन हिंदुस्तान, पाकिस्तान यह जो सारा हिस्सा है वह एक कानफिडरेशन में आ जाय तब विश्व में शान्ति होगी। यह तो मैंने सहज आप विद्यार्थियों के सामने रखा। आपका नजरिया व्यापक होना चाहिए विशाल होना चाहिए। छोटी मोटी बातों में नहीं पड़ना चाहिए। छोटे-मोटे मसलों के लिए लड़ाई-झगड़ा चल रहे हैं। उसमें विद्यार्थियों को हरगिज नहीं पड़ना चाहिए। विद्यार्थियों को कहना चाहिए कि हम तो सारे विश्व के दायरे में सोचनेवाले,

हैं, हम तो विश्व-व्यापक दृष्टि से सोचेंगे, चाहे भले काम गाँव में करेंगे, चाहे किसी घर में काम करेंगे, लेकिन हम तो घर को विश्व का प्रतिनिधि मानकर काम करेंगे।

लेना-देना देना-लेना

किसी गाँव में काम करेंगे और गाँव को विश्व का प्रतिनिधि समझकर काम करेंगे तो विद्यार्थियों का दृष्टिकोण व्यापक और विशाल बनेगा, तब विद्यार्थी अपने देश का सन्देश सारी दुनिया में प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे। लोग कहते हैं, सारी दुनिया के विचार भारत में आ रहे हैं, तो मैं कहता हूँ कि विज्ञान के जमाने में देश देश के बीच दीवारें नहीं खड़ी की जा सकती। उधर के विचार जरूर इधर आयेंगे और उन्हें आना चाहिए, लेकिन आपको समझना चाहिए कि वह 'वनवेट्रैफिक' नहीं होगा। हिन्दुस्तान के अपने भी विचार होंगे और वे भी हिन्दुस्तान के बाहर जायेंगे।

आपको अपना यह मिशन ध्यान में रखना चाहिए कि दुनिया भर का भाग हम लेने के लिए तैयार हैं, लेकिन अपनी खूबी सारी दुनिया में फैलाने के लिए भी प्रस्तुत हैं। हमको देना भी है और लेना भी है यह हमारे ध्यान में रहना चाहिए। नहीं तो भारत सोचेगा जो कुछ विचार है हमें लेना है। पालटिक्स हम वहीं से सीखें समाजशास्त्र वहीं से सीखें। वहाँ से जो सीखने लायक चीज है सीखते हैं नहीं। वहाँ सीखने लायक चीज है विज्ञान। उसे सीखे बगैर वहाँ के नावेल पढ़ेंगे वहाँ की सोशियालाजी पढ़ेंगे। यह मैं नहीं कहना चाहता कि वहाँ कुछ भी लेने लायक नहीं है। वहाँ और भी लेने लायक चीजें पड़ी हैं लेकिन भारत की अपनी चीजें हैं जिनके कारण भारत एक रह सका है और वह चीज सारे योरप को भारत से सीखनी है। जब योरप भारत से सीखेगा तो योरप में वह सारी दृष्टियाँ आयेंगी, जो भारत की सभ्यता में हैं।

●

अन्न-संकट का सामना कैसे करें ?

यह मानकर चलना चाहिए कि हमको अनाज के संकट का सामना करना पड़ेगा। ऐसी हालत में हमको नीचे लिखी बातें तो फौरन शुरू कर देनी चाहिए—

- हर एक आदमी को अपनी खाने-पीने की जरूरत कम-से-कम कर लेनी चाहिए। वह इतनी होनी चाहिए कि तन्दुरुस्ती कायम रह सके।
- शहरों में जहाँ दूध, साग-सब्जी, तेल और फल मिल सकते हैं, वहाँ अनाज और दालों का इस्तेमाल घटा देना चाहिए।
- साग-सब्जी भी मौज-मजे और स्वाद के लिए नहीं खानी चाहिए। खासकर ऐसी हालत में जब कि लाखों लोगों को वह बिलकुल नसीब नहीं होती और अनाजों और दालों की कमी की वजह से भूखों मरने का खतरा पैदा हो गया है।
- हर एक आदमी, जिसे पानी की सहूलियत मिल सकती हो अपने लिए कुछ-न-कुछ खाने की चीजें पैदा करे।
- फूलों के तमाम बगीचों में खाने की चीजें उगायी जानी चाहिए।
- जहाँ मुमकिन और जरूरी हो सिंचाई के लिए और पीने के पानी के लिए सरकार को गहरे कुएँ खुदवाने चाहिए।
- सबसे जरूरी चीज यह है कि चोरबाजारी का और बेईमानी व मुनाफाखोरी का तो बिल्कुल खात्मा ही हो जाना चाहिए और जहाँ तक आज के इस संकट का सवाल है, सब दलों के बीच दिली सहयोग होना चाहिए। ●

—महात्मा गांधी

सुरक्षा का अभिनव प्रयाण : अन्नोत्पादन-अभियान

o

मनमोहन चौधरी

आज हमें अन्न-उत्पादन पर अपना पूरा जोर लगाना चाहिए, क्योंकि अन्न का उत्पादन बढ़ाना एक बहुत जरूरी मुद्दा बन गया है। यह खुशी की बात है कि इस मुद्दे पर राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री से लेकर सभी जिम्मेदार लोग बहुत जोर दे रहे हैं, लेकिन इस समस्या को हल करने के बहुत-से तरीके हो सकते हैं, और उन तरीकों में आपस में बहुत मतभेद भी हो सकता है।

उदाहरण-स्वरूप एक विचार यह है कि अन्न-उत्पादन बढ़ाने का सबसे अच्छा उपाय यह होगा कि बड़े-बड़े फार्म धनाढ्य लोगों को दे दिये जायें, जो उनमें काफी पैसा लगा सकें। इसलिए राजस्थान में इस तरह का एक प्रस्ताव उठाया गया है कि वहाँ पाइलट प्रोजेक्ट के रूप में ४-५ हजार एकड के कई निजी मालकियतवाले फार्म खोले जायँ।

दूसरा सुझाव भारत-सरकार की तरफ से आया है कि राज्य-सरकारें इस तरह के भूमि-सुधार-सम्बन्धी कानून अमल में ला सकती हैं, जिनमें जमीन के मालिकों को इस बात का आश्वासन रहे कि उनका मालिकाना हक भविष्य में भी कायम रहेगा, जिससे वे विश्वास के साथ अन्न का उत्पादन बढ़ाने के काम में लग सकें।

किसी भी चीज को पेश करने का यह अजीब तरीका है। जैसा कि हर आदमी जानता है कि अधिकतर राज्यों में, जो भूमि-सुधार-कानून बने हैं, वे बहुत ही कमजोर हैं और उनसे छोटे किसानों और भूमिहीन लोगों को नाम-मात्र का ही लाभ हो सका है। ऐसी हालत में इस प्रकार के सुझाव का अर्थ यही होगा कि भविष्य में भूमि-सुधार के लिए कोई प्रयत्न नहीं होगा और आज जो स्थिति है, वह आगे भी ज्यों-की-त्यों जारी रहेगी।

यह सम्भव है कि इन तरीकों से एक प्रकार की आत्मनिर्भरता आ जाय। कोरापुट (उड़ीसा) हमारे यहाँ 'माडेल' है। अभी तक अन्न उत्पादन के बारे में उड़ीसा 'सरप्लस' (बढ़ोत्तरी) वाला राज्य रहा है। कोरापुट से दूसरे जिलों को काफी अन्न जाता रहा है, लेकिन मैं बता दूँ कि कोरापुट जिले के कम-से-कम ६० प्रतिशत लोग तो निश्चय ही एक साधारण स्वस्थ व्यक्ति के लिए जितना अन्न जरूरी है उसका आधा भी नहीं पाते। ऐसा कैसे होता है?

बात यह है कि गरीब किसान और साझेदारी के हिसाब से खेती करनेवाले लोगों से जमीन-मालिक और महाजन लोग तरह-तरह के तरीकों द्वारा उनका अधिकांश गल्ला छीन लेते हैं और बेचारा उत्पादक जंगल की जड़ी-बूटियों और फलों से अपनी क्षुधा मिटाता है। देश के बहुत-से अन्य जिलों का भी ऐसा ही हाल है। हमारे देश में ऐसे अभागे लोगों की संख्या का, जो गोल-मोल अन्दाज लगाया गया है वह यह है कि देश में २० प्रतिशत आबादी ऐसे ही लोगों की है। प्लानिंग-कमीशन के आँकड़ों के अनुसार इसमें की आधी जनता प्रतिदिन २३ पैसे से कम पर गुजर करती है और आधी ३० पैसे से भी कम पर गुजर करती है।

पिछले वर्षों में भिन्न भिन्न नगरो और कस्बो में कितनी ही बार गल्ले के लिए दगे और प्रदर्शन हुए, लेकिन जनता के इस अभागे पचमाश ने कभी कोई आवाज नहीं उठायी। ये लोग यह मानकर ही चुप रहते है कि उनकी किस्मत में ही ऐसा बदा है। आजादी के इन १८ सालो में कानून ने भी उनकी बहुत ही कम मदद की है। यह हालत आगे भी इसी तरह जारी रहने का खतरा है। अधिकारी लोग नगर-निवासियो को सतुष्ट करके शान्ति की साँस ले सकते है, पर देहात में ये लोग इसी तरह उपेक्षित पडे रहेंगे कोई भी उनकी खोज-खबर न लेगा।

यह सही है कि सिंचाई की सुविधा, सुधरे हुए औजार, खाद, उत्तम बीज, कुशल मजदूर आदि खेती के सुधार के विभिन्न साधनो के लिए काफी पैसा लगाने की जरूरत है और गरीब लोगो के पास प्राय ऐसे साधन नही रहते, लेकिन इसके साथ ही यदि अधिक नही तो बराबर महत्त्व का मुद्दा यह भी है कि गरीब किसानो और भूमिहीनो के साथ भी उचित न्याय होना चाहिए। ऐसा करने पर ही हमारा राष्ट्र शक्ति सम्पन्न हो सकेगा। यदि भारत वर्तमान विश्व की चुनौती का डटकर सामना करना चाहता है तो हमें विषमता, शोषण और दकियानूसी विचारो पर खडे अपने सामाजिक और आर्थिक ढाचे को बदलना पडेगा।

ग्रामदान-आन्दोलन ने यह दिखा दिया है कि सम्पन्न लोग (हैब्स) विपन्न लोगो (हैवनाट्स) के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल सकते है और उनकी देखभाल शुरू कर सकते है। उसने एक रास्ता दिखा दिया है जिसके जरिये गाँव के सभी साधनो का उसके विकास के लिए इकट्ठा किया जा सकता है और बाहर से जो साधन प्राप्त हो उनका भी सारे गाँव के लिए उपयोग किया जा सकता है। ग्रामदान में सम्पन्न लोग विपन्नो का शोषण करके अन्न का उत्पादन नहीं बढाते, बल्कि वे अपनी जमीन, अपना ज्ञान, अपने औजार और अपने बीज, सबम उनके साथ हिस्सा बटाते है। ग्रामदान ने भारत के कुछ नगरो और गाँवो में सर्वहारा लोगो के लिए आधार-स्तम्भ का काम किया है। हमारा विश्वास है कि ग्रामदान ही एकमात्र वह मार्ग है जिसके जरिये हम अन्न का उत्पादन बढा सकते है और भुखमरी तथा अन्याय का एकमात्र निवारण कर सकते है।

इसीलिए यह बहुत जरूरी है कि आज के ग्रामदानी गाँव जमीन के वितरण और उत्पादन-वृद्धि की योजना तयार करने आदि में पूरी ताकत से लग जायें। इसके साथ ही ग्रामदान-आन्दोलन लाखो गाँवो में जितनी तेजी से फैल सके, फैलाया जाय।

ग्रामदान-तूफान का काम और ग्राम निर्माण का काम साथ-साथ चलना चाहिए। यह काम आसानी से हो सकता है, बशर्ते कि ग्रामदानी गाँवा के निवासी इन दो कामो के लिए सक्रिय बन। जब लाखो मस्तिष्क और लाखो हाथ सक्रिय बनते है तो असम्भव भी सम्भव बन जाता है। इस उद्देश्य को अपने सामने रखकर पश्चिमी बगाल और उडीसा के सर्वोदय-कार्यकर्त्ताओ ने बडे पैमाने पर प्रशिक्षण शिविर खोलने की व्यापक योजनाएँ बनायी है।

इन शिविरो में ग्रामदानी गाँवो के निवासियो को और उनसे महानुभूति रखनेवाले लोगो को ट्रेनिंग दी जायगी। गाधी स्मारक निधि, कस्तूरबा-ट्रस्ट, अभय-आश्रम नवजीवन मण्डल, खादी सस्थाएँ आदि रचनात्मक काम करनेवाली सभी सस्थाएँ इस काम में सहयोग कर रही है।

इन शिविरो में विश्व इतिहास, सामाजिक आन्दोलन, राजनीति अर्थशास्त्र आदि विषयो का सामान्य ज्ञान भी कराया जाता है। वर्तमान युग में ज्ञान की वृद्धि बहुत तेजी से हो रही है और विश्व का कोई भी कोना, समस्त विश्व से अलग नही रह सकता। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि मौजूदा ज्ञान का स्पर्श दूर देहात में रहनवालो को भी प्राप्त हो सके और वे विशाल विश्व की जानकारी प्राप्त कर सक। यह सही है कि ५-७ दिन के भीतर यह काम समुचित रूप से नही हो सकता, किन्तु ये शिविर तो लोगो में ज्ञान पिपासा का मार्ग खोलने के लिए होते है। ये शिविर छ माह या एक वर्ष के अन्तर पर सतत होते रहने चाहिए। अन्य राज्यो में भी इस तरह का कार्यक्रम चलाने का प्रयत्न हो रहा है। स्थानीय, राज्य अथवा जिला सर्वोदय-मण्डल अपने-अपने क्षेत्र के लिए इस तरह की योजनाएँ बनायग।

विकास के ज्योति-चरण
ये स्वावलम्बी विद्यालय

•

श्रीनिवास शर्मा

स्वावलम्बी पाठशाला-योजना का श्रीगणेश वाराणसी-मण्डल में हुआ है। थोड़े ही समय में इस योजना की, जो प्रगति हुई है वह आशाप्रद और उत्साहवर्द्धक है। मैंने इस योजना के अन्तर्गत चलनेवाले कतिपय विद्यालयों का निरीक्षण भी किया है और इनके लिए ग्रामीण जनता में, जो उत्साह और भावना देखी है उससे आशा हो रही है कि यह योजना, न केवल इस प्रदेश के लिए, अपितु अर्थाभाव से ग्रस्त समस्त भारत के लिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। बलवन्तसिंह स्याल शिक्षा-निदेशक
उत्तर प्रदेश लखनऊ

भारत सरकार, प्रान्तीय प्रशासन एवं स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक की यह प्रबल इच्छा है कि प्राइमरी शिक्षा का तीव्र गति से विकास हो, ताकि ६ से ११ वर्ष तक की अवस्था के प्रत्येक बच्चे को शीघ्रातिशीघ्र प्राथमिक शिक्षा की सुविधा प्राप्त हो सके। राज्य-सरकार-द्वारा पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अनेक स्कूल खोले गये हैं तथा शिक्षा प्रसार की दिशा में आशातीत प्रगति भी हुई है। फिर भी इस वय के सभी बच्चों की प्राथमिक शिक्षा की समस्या अभी हल नहीं हुई है, क्योंकि संख्या विशाल है, और साथ ही राज्य-सरकारों के साधन भी सीमित हैं। इस दृष्टि-कोण से प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वावलम्बन-द्वारा कार्य प्रारम्भ करना अत्यावश्यक ही नहीं, वरन समय की पुकार भी है। उन सभी क्षेत्रों में, जहाँ आज शिक्षा की माँग व्यापक पैमाने पर हो रही है स्वावलम्बन का सहारा लेना एकमात्र मार्ग प्रतीत होता है।

योजना की रूपरेखा

'स्वावलम्बी पाठशाला' से हमारा तात्पर्य ऐसी पाठशालाओं से है, जो स्थानीय जनता के सहयोग पर मूलतया निर्भर होंगी और जिनका आर्थिक भार पूर्णत या अंशत स्थानीय जनता उठायेगी। अबतक प्राथमिक शिक्षा का लगभग शत प्रतिशत कार्य जिलापरिषदों, नगरपालिकाओं और नोटीफाइडएरिया आदि स्वायत्त-शासन विभाग के अन्तर्गत कार्य करनेवाली संस्थाओं द्वारा हो रहा है। इसके लिए प्राय सम्पूर्ण व्यय शासकीय कोष से ही प्राप्त होता है। अत प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्वावलम्बन-द्वारा बृहत पैमाने पर कार्य करने की यह योजना अपनी तरह की एक नयी कल्पना है।

राज्य के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में अनेकानेक जूनियर हाईस्कूल, हाईस्कूल इण्टर एवं डिग्री कालेजों का संचालन सार्वजनिक सेवा-संस्थाओं द्वारा हो रहा है, जिनमें कुछ तो सहायता प्राप्त हैं, परन्तु बहुतों को अभी कोई सहायता नहीं मिली है। यदि इन अत्यधिक व्यय-साध्य संस्थाओं का संचालन, जिनके लिए प्रभूत एवं सुरक्षित कोष के रूप में एक लम्बी धनराशि की भी आवश्यकता होती है, थोड़े-से शासनीय अनुदान से

अथवा बिना अनुदान के ही स्वावलम्बन-द्वारा हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि प्राथमिक शिक्षा की दिशा में यह महत्वपूर्ण कदम न उठाया जाय। आज प्राथमिक-शिक्षा सभी को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो सके, इसकी जागरूकता सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो चुकी है तथा केवल केन्द्रीय शासन या राज्य-सरकारों-द्वारा किये जानेवाले प्रयासों की ही वर्षों तक प्रतीक्षा करते रहना अब जनता के लिए सम्भव नहीं है। अपनी आगेवाली पीढ़िया की शिक्षा की व्यवस्था स्वय करने के हेतु उसमें अपार उत्साह है। वह हाथ-पर-हाथ धरे सरकार की सक्रियता की बाट जोहते रहना नहीं चाहती। उसे केवल शासन का हल्का सा सहारा और इशारा मात्र चाहिए। इस मौलिक सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए इस मण्डल के प्रत्येक जिले में अधिकाधिक सख्या में स्वावलम्बी पाठशालाओं की जहाँ-जहाँ आवश्यकता है, स्थापना की जा रही है।

प्रारम्भिक कार्य

प्रारम्भ मे पाँचो जिलो (वाराणसी, गाजीपुर, मिर्जापुर, बलिया और जौनपुर) के परिषदो के अध्यक्षो से सम्पर्क करके उन्हें इस योजना से अवगत कराया गया तथा उनकी पूर्ण सहमति के पश्चात प्रत्येक जिले के निरीक्षक-वर्ग को स्वय सम्बोधित करते हुए योजना का महत्व एव प्रारूप स्पष्ट किया गया तथा प्रत्येक उप-विद्यालय निरीक्षक को अपने विकासखण्ड में कम से-कम पाँच स्वावलम्बी पाठशालाओं की स्थापना के लिए निर्देश किया गया।

प्रारम्भ मे कुछ उपयुक्त स्थल छाँटकर स्वयं जाकर जनता को सम्बोधित कर ऐसी पाठशालाओं को प्रारम्भ कराया गया। इस प्रकार इस दिशा में कार्य प्रारम्भ हो गया और पाँचो जिलो में स्वावलम्बी विद्यालयों की स्थापना हो चुकी है, जिनमे विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे है। अबतक की प्रगति एव प्रयोगों-द्वारा भविष्य के लिए मार्गदर्शन मिला है, कठिनाइयों को निकट से समझने का अवसर मिला है तथा उनके निराकरण-हेतु विविध प्रकार के समाधान भी उपलब्ध हुए है।

इस प्रयोग से यह स्पष्ट हो गया है कि इस दिशा में सम्यक् प्रयास किया जाय तो योजना की सफलता मे कोई सन्देह नहीं है तथा इस योजना के माध्यम से उन सभी स्थलों पर प्रारम्भिक पाठशालाओं के खोलने और प्राथमिक शिक्षा के प्रसार को आगे बढाने की दिशा में पर्याप्त बल मिलेगा, जहाँ ऐसी पाठशालाओं की नितान्त आवश्यकता है। यदि प्रत्येक उप विद्यालय निरीक्षक एक वर्ष में केवल पाँच स्कूलों की स्थापना कर सके तो एक मण्डल मे इस प्रकार के ५०० से ६०० तक स्कूल खुल सकगे। उसी प्रकार, यदि यह योजना राज्यस्तर पर लागू की जाय तो सम्भव है कि केवल एक वर्ष मे ४००० से ५००० तक स्वावलम्बी विद्यालय सरलतापूर्वक खुल जायें।

इन विद्यालयो द्वारा शिक्षा प्रसार की गति तो बढेगी ही, साथ ही प्रति वर्ष जिलापरिषदो-द्वारा खोले जानेवाले स्कूलों की सुदृढ भूमिका भी तैयार हो सकेगी तथा इनके माध्यम से शिक्षित बेकार नवयुवको को ग्रामीण क्षेत्र में समाज-सेवा का भी अनुपम अवसर मिल सकेगा। साथ ही गाँववालो, जिलापरिषदों के सदस्यो, क्षेत्र विकास समिति के सदस्यो, निरीक्षक-वर्ग तथा समाज-सेवा में रत अन्य कार्यकर्त्ताओ के हृदय मे आत्मविश्वास की भावना भी जागरित होगी। अधिकाश ग्रामों में हाईस्कूल एव इण्टरमीडिएट पास बहुत से नवयुवक बेकार बैठे हुए है, जो इस प्रकार का कोई भी कार्य करने के लिए उत्सुक हैं, परन्तु समुचित मार्ग-निर्देशन के अभाव एव अपने योग्य समुचित कार्य-क्षेत्र न प्राप्त होने से उनको निराशा का ही सामना करना पड रहा है।

अत इनकी सेवाओ का उपयोग स्वावलम्बी-पाठशालाओ के सचालन में सरलता से किया जा सकता है। इस प्रकार के नवयुवक कार्यकर्त्ता अपने ही क्षेत्र में कम पारिश्रमिक पर भी कार्य कर सकते है, यदि साल-दो साल की सामाजिक सेवा के पश्चात उनके अनुभव को देखते हुए उनका भविष्य का मार्ग प्रशस्त हो सके।

इस योजना में कार्यान्वयन से कतिपय घनी आबादी-वाले क्षेत्रो में द्विपाली योजना की समस्या का भी समाधान हो सकेगा और स्थानीय आवश्यकताओ को देखते हुए आस-पास के गाँवो में इस प्रकार की स्वावलम्बी-

पाठशालाओं को स्थापित कर एक ही पाठशाला पर बढ़ते हुए मस्ता-भार को कम किया जा सकेगा। इस योजना का कार्यक्रम इस प्रकार होगा।

१. भवन

प्रत्येक विकासखण्ड में ऐसे क्षेत्रों का चयन करना चाहिए, जहाँ के लोग पाठशाला की स्थापना के लिए उत्कट अभिलाषा व्यक्त कर रहे हों। इसके सम्बन्ध में क्षेत्रीय जन-नायक, खण्डविकास-अधिकारी, अध्यक्ष, जिलापरिषद एवं क्षेत्रीय निरीक्षकों से बार-बार वार्तालाप करते रहते हैं और अपने ग्राम में विद्यालय की स्थापना के निमित्त साग्रह निवेदन भी करते रहते हैं। ये ही हमारे कार्यक्रम के उपयुक्त स्थल हैं। ऐसी आशा है कि ऐसे स्थानों पर स्थानीय व्यक्ति ऐसे भवन दे सकते हैं, जिनमें अस्थायी रूप से एक स्वावलम्बी पाठशाला का शुभारम्भ किया जा सके।

जब वे इस पाठशाला को स्थायी रूप से जिला-परिषद के प्रबन्ध, सचालन एवं नियन्त्रण में देना चाहेंगे तो उन्हें शनैः-शनैः विद्यालय-भवन का निर्माण करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जा सकेगा। कई स्थलों पर मात्र-मान्यता प्रदान कर देने पर लोगों ने अस्थायी भवनों का निर्माण भी कर लिया है, जो और भी आशा का प्रतीक है। एक या दो बीघा भूमि प्रायः सभी स्थलों पर विद्यालय-हेतु प्राप्त होती जा रही है। इतनी भूमि का जन-उत्साह के इस प्रथम चरण में ही प्राप्त कर लेना सुलभ है और इसे अवश्य कर लेना चाहिए।

२ सहायता का स्वरूप तथा उपाय

ऐसे क्षेत्रों की जनता को विद्यालय के प्रारम्भिक संचालन-हेतु कुछ आर्थिक त्याग करने के लिए भी तत्पर किया जाना आवश्यक है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है—

(क) स्वालवन-द्वारा

१. फसल के समय एक हल के पीछे १० सेर अनाज देकर प्रबन्ध-समिति का सदस्य बनकर;

२. पाठशाला के संचालन के निमित्त प्रति मास एक रुपया नकद या दो सेर अन्न देकर विद्यालय की प्रबन्ध-समिति का सदस्य होकर;

३. अपने बच्चों का प्रतिमास ५० पैसे शिक्षा-शुल्क देकर (इन विद्यालयों में भी निर्धन छात्रों को दी जानेवाली अर्द्ध निःशुल्कता तथा पूर्ण निःशुल्कता की प्रणाली विद्यमान रहेगी।);

४. प्रति मास प्रति छात्र एक सेर अनाज देकर;

५. ग्राम के उन सम्पन्न व्यक्तियों से विद्यालय के सहायतार्थ एक अच्छी धनराशि प्राप्त कर, जो ग्राम-क्षेत्र के बाहर कार्य कर रहे हैं तथा पर्याप्त धन उपार्जित कर रहे हैं। क्षेत्रीय-उप विद्यालयनिरीक्षक ऐसे व्यक्तियों की नामावली तैयार करेंगे तथा इस योजना से अवगत कराते हुए योगदान करने के लिए उनसे पत्र-व्यवहार करेंगे;

६. क्रमानुसार एक-एक अध्यापक को अपने घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित करके या सीधा भेंट के रूप में एक दिन की खाद्य-सामग्री अध्यापक को दान देकर;

७ सम्बन्धित गाँव के प्रत्येक घर में अन्न इकट्ठा करने के लिए दान-पात्र रखकर और प्रति मास एकत्र करके विद्यालय के हितार्थ दान प्राप्त करके; और

८. ग्राम-सभा से उपयुक्त सहायता लेकर।

(ख) राजकीय सहायता-द्वारा

१. उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त दो प्रकार की और सहायताएँ इन पाठशालाओं को उस कोष से उपलब्ध हो सकती हैं, जिसे सरकार खण्डविकास-अधिकारी के माध्यम से विकास-बजट में पहले से खर्च कर रही है।

(क) विकासखण्ड के बजट में प्रौढ़-पाठशाला के अध्यापक के लिए प्रति मास १० रुपये का एवं ग्राम-सभा के बजट में प्रति मास ५ रु० का प्राविधान है। इस १५ रुपये की धनराशि का उपयोग उस अध्यापक को दक्षिणा के रूप में देकर किया जा सकता है, जो स्वावलम्बी पाठशाला के बच्चों को दिन में और प्रौढ़ों को रात में पढ़ायेगा। कुछ क्षेत्रों में इसका प्रयोग

किया जा चुका है, जो पूर्ण सफलतापूर्वक चल रहा है।

(ख) इन प्रौढ़-पाठशालाओं को पुस्तकें, स्लेट एवं श्यामपट्ट आदि निःशुल्क वितरित करने के लिए विकासखण्ड के बजट में प्राविधान है। इन उपकरणों का उपयोग एवं व्यवहार दिन में स्वावलम्बी पाठशालाओं के हित में भी हो सकता है और रात में प्रौढ़ पाठशालाओं के लिए, जैसा कुछ क्षेत्रों में खण्ड-विकास-अधिकारियों ने किया है।

२ राज्य-सरकार कुछ पाठशालाओं की सहायता शुल्क की क्षतिपूर्ति करके कर सकती है, जैसाकि विभिन्न राजाज्ञाओं में पहले से ही प्राविधान है। फिर भी यह अभी विचाराधीन है तथा इसे प्रयोग में नहीं लाया गया है। सावधानीपूर्वक कहीं-कहीं इस विधि का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(ग) जिलापरिषद-द्वारा सहायता

१ निःशुल्क रजिस्टर आदि देकर, और
२ यदि सम्भव है तो कुछ अनुदान देकर, जो शिक्षा-कोष की बचत से दिया जा सकता है।

(घ) व्यक्तियों और क्लबों द्वारा सहायता

प्रत्येक पाठशाला को सहायता के रूप में १० या २० रुपये देकर। इसे लायंस क्लबों और रोटरी क्लबों के माध्यम से एवं कतिपय धनी व्यक्तियों की सहायता से कार्यान्वित किया गया है।

योजना की सफलता के स्तम्भ

१. उचित क्षेत्र का चयन

जहाँ लोगों में शिक्षा के लिए अदम्य एवं तीव्र इच्छा है और विद्यालय प्रारम्भ करने के लिए भवन सुलभ है वे ही स्थल इस प्रयोग के हेतु उपयुक्त स्थान हैं।

२. सुयोग्य अध्यापकों की भरती

इस सम्बन्ध में जनपद या विकासखण्ड के स्वेच्छया इस प्रकार के कार्य करनेवाले सभी लोगों की सूची तैयार की जाय। उन्हीं में से उनकी शैक्षिक योग्यताओं एवं अन्य मौलिक क्षमताओं के आधार पर चुनाव किया जाय। जिलापरिषद के अध्यक्ष, तथा उप विद्यालयनिरीक्षक-द्वारा केवल इसी सूची से नियुक्तियाँ की जायें, ताकि अयोग्य अध्यापकों के कारण इस योजना के असफल होने की सम्भावना दूर की जा सके और इस प्रकार चुने गये अध्यापक बाद में अपनी समाज-सेवा की वरीयता के आधार पर एच० टी० सी० में प्रवेश पाने के लिए एक योग्य अभ्यर्थी के रूप में उपलब्ध हो सकें, यदि उन्होंने कम-से-कम एक वर्ष तक इस प्रकार की समाज सेवा की है।

राज्य-सरकार का इस हेतु आश्वासन देना आवश्यक है कि यदि अन्य बातें समान हैं तो चुनाव में नियमानुसार ऐसे ही अभ्यर्थियों को वरीयता प्रदान की जायगी। यदि हाईस्कूल पास अभ्यर्थी दो वर्ष से अधिक इस प्रकार की समाज-सेवा कर लेंगे तो केवल एक ही वर्ष में प्रत्याभिस्मरण पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) एच० टी० सी० का प्रमाणपत्र प्रदान किया जा सकेगा।

३ मान्यता

ऐसे विद्यालयों को, ज्यों ही वे सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित ढंग से स्थापित हो जाते हैं तथा निरीक्षण-अधिकारी उनके कार्यों का निरीक्षण कर उन्हें उच्चस्तरीय पाते हैं, मान्यता प्रदान करनी होगी। इन विद्यालयों को, आर्थिक क्षेत्र को छोड़कर, प्रत्येक अन्य क्षेत्र में हर प्रकार से परिषद के अन्य विद्यालयों के समकक्ष मानना आवश्यक होगा। इन संस्थाओं को भी परिषद की ही इकाई के रूप में मानना उचित होगा, भले ही वे बिना किसी प्रकार की सहायता के या थोड़ी-सी परिषद की सहायता से चल रही हों।

परिषद को इन पाठशालाओं के लिए छात्र प्रवेश-उपस्थिति-पंजिका, प्रमाणपत्र-पंजिका एवं इसी प्रकार की उन सभी आवश्यक पंजिकाओं का प्रबन्ध करना होगा, जिनकी मान्यता-प्राप्त विद्यालयों में आवश्यकता होती है। निरीक्षक-वर्ग भी मान्यता प्राप्त संस्थाओं की तरह ही

इन पाठशालाओं का निरीक्षण और परीक्षा आदि का निर्गमन सचालन करेंगे।

४ निरीक्षक वर्ग के लिए प्रेरणा

निरीक्षक-वर्ग निश्चय ही इस योजना में एक सजीव तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा। इसलिए उनके अन्दर यह भावना भरी जानी आवश्यक है कि इस क्षेत्र में उनका कार्य राष्ट्र की सच्ची सेवा है तथा इसकी प्रशसा और मल्यांकन भी होगा, एव प्रति वर्ष उनकी गोपनीय आख्या म इस कार्य में प्रयास का स्पष्ट उल्लेख भी होगा। इस दिशा मे उदासीनता अथवा सक्रिय सहयोग का अभाव, उत्तम कार्यकर्त्ता के रूप में मिलनेवाले सम्मान स उन्हें वचित कर देगा। पूर्ण विचारविमर्श के पश्चात इस कार्य के लिए दक्षता-प्रमाणपत्र से पुरस्कृत करने की परम्परा भी चलायी जा सकती है।

५ आवश्यक राजाज्ञा

इस योजना के यथोचित द्रुत विकास के लिए कतिपय राजाज्ञाओं का होना परमावश्यक होगा, क्योंकि जनता इस प्रयास को ठोस और प्रामाणिक तबतक नहीं मानेगी जबतक सरकार की मुहर इस पर नहीं लग जाती और यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि इस योजना को शासन का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त है। हमारी प्रादेशिक सरकार एव शिक्षानिदेशक उद्यत हैं और शीघ्र ही इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने का आश्वासन प्राप्त हो चुका है। शासन के निर्देश निम्नलिखित विषयों में आवश्यक होंगे —

१ शिक्षानिदेशक, अध्यक्षा, उप शिक्षानिदेशक, जिला विद्यालय निरीक्षकों तथा उप विद्यालय-निरीक्षकों को यह आश्वासन दिया जाय कि इस योजना को शासन का आशीर्वाद प्राप्त है तथा इस क्षेत्र मे अच्छे कार्य की सदव प्रशसा की जायगी।

२ जिलापरिषद के अध्यक्षों एव अधिकारी वर्ग को यह आदेश प्रदान किया जाय कि जो स्वावलम्बी विद्यालय एक वर्ष या इससे अधिक समय तक भलीभाँति कार्य कर चुके होंगे और जहाँ भूमि और भवन की समुचित व्यवस्था हो चुकी होगी, उन विद्यालयों को परिषद के अन्तर्गत लिये जानेवाले विद्यालयों में प्राथमिकता दी जायगी।

३ शिक्षानिदेशक आदेश दे कि समान श्रेणी की योग्यता होने पर स्वावलम्बी पाठशालाओं में अधिक समय तक समाज-सेवा किये हुए अभ्यर्थियों को एच० टी० सी० के चुनाव में वरीयता प्रदान की जायगी।

४ ऐसी स्वावलम्बी पाठशालाओं के लिए यथा-किंचित् आर्थिक अनुदान की व्यवस्था भी होनी चाहिए, जिससे इनके विकास को प्रोत्साहन मिलता रहे।

५ जिलापरिषदों के अध्यक्षों को आदेश दिया जाय कि अस्थायी अध्यापकों की नियुक्ति में भी स्वावलम्बी पाठशालाओं की समाज-सेवा के आधार पर अभ्यर्थियों को चुनाव में प्राथमिकता दी जाय।

निष्कर्ष

उपर्युक्त योजना की रूपरेखा के अनुसार यह योजना प्रयोगावस्था में चल रही है। आशा है, ज्यों-ज्यों प्रयोग आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों कठिनाइयाँ एव अवरोध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होंगे तथा उनपर विजय पाने के उपाय भी ढूँढ़ निकाले जायेंगे। अत समय समय पर इस योजना में कृत प्रगति, अर्जित ज्ञान एव प्राप्त परिमाणा से सभी सम्बद्ध वर्गों को अवगत कराया जाता रहेगा।

●

हमारे देश में जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ चल रही हैं—पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी (करोड़ों-करोड़ की) उनमें सब-कुछ का विकास और योजन बड़ा-से-बड़ा है; पर उसमें आदमी नाम की चीज का योजन और विकास हमें सूझता नहीं है।—डॉ० सम्पूर्णानन्द

क्या प्रतिष्ठा-निरपेक्ष शिक्षण-परम्परा असम्भव है ?

•

वचन पाठक 'सलिल'

पिछले सप्ताह 'लायंस इण्टर नेशनल' की जमशेदपुर शाखा ने 'शिक्षक दिवस' का आयोजन किया। बिहार के राज्यपाल महामहिम श्री अनन्त शयनम् आयंगर मुख्य अतिथि थे। लायंस क्लब ने चुने हुए १६ शिक्षकों को पुरस्कृत कर उनका सम्मान किया। इस अवसर पर कई विद्वानों और अधिकारियों के प्रवचन हुए, जिन्हें सुनकर एक जिज्ञासु के नाते मेरे मन में कुछ प्रश्नों और शंकाओं का जन्म हुआ। प्रवचनों के सारांश रखने के बाद आपके सामने मैं अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करूँगा।

प्रारम्भ में जेवियर श्रम-कल्याण-संस्थान के निर्देशक एवं प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षाशास्त्री रे० फादर टोम ने कहा—

शिक्षकों में आदर्श और अनादर्श का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक शिक्षक आदर्श होता है। एक डाक्टर का कर्तव्य रोगियों को नीरोग करना है; एक वकील अपने मुवक्किल की रक्षा करता है, एक शासक नियमों का पालन कराता है, पर एक शिक्षक पढ़ाता है, अनुशासन की शिक्षा देता है, भविष्य के लिए सुयोग्य नागरिक तैयार करता है एवं पूर्ण मानव का निर्माण करने की दिशा में प्रवृत्त होता है। अगर वह ये काम नहीं करता तो शिक्षक नहीं है और करता है तो आदर्श शिक्षक है। उक्त चुनाव के सम्बन्ध में आपने बताया कि हमने योग्यता का विशेष आधार नहीं माना। केवल १६ शिक्षकों को प्रतीक रूप में चुनकर उन्हें सम्मानित करने के बहाने समूची शिक्षक जाति का सम्मान किया।

क्लब के संस्थापक, सभापति तथा टाटा कम्पनी के आवासिक निर्देशक श्री रामसिंहासन पाण्डेय ने कहा—

हमारे देश में शिक्षकों की प्रतिष्ठा बढ़नी चाहिए। आज उन्हें समाज वह प्रतिष्ठा नहीं देता, जिसके वे अधिकारी हैं। उन्होंने अपना एक उदाहरण दिया कि जिन दिनों वे दण्डाधिकारी थे, उन दिनों न्यायालयों में अँगरेजी सभ्यता का अधिक बोलबाला था। एक दिन वे अपने न्यायालय में वकीलों की बहस सुन रहे थे कि उन्होंने देखा कि उनके पण्डितजी, जिन्होंने प्राथमिक शाला में पढ़ाया था, आये हैं। पाण्डेयजी गये और अपने पण्डितजी को ले आये, उन्हें कुरसी पर बिठाया, तब आगे की कार्रवाई प्रारम्भ की। पण्डितजी देहाती वेशभूषा में थे, उनके पैरों में जूते नहीं थे। कई लोगों ने पाण्डेयजी को दकियानूसी कहा, पर उन्होंने ध्यान न दिया। पाण्डेयजी ने विश्वास किया कि समाज के नेता, अधिकारी और अग्रणी जब इसी प्रकार शिक्षकों का सम्मान करेंगे तो शिक्षण-व्यवसाय गौरवप्रद बनेगा और शिक्षक अधिक आदर्श बनकर अपना काम कर सकेंगे।

महामहिम राज्यपाल ने कहा—

भारत में शिक्षकों की आर्थिक अवस्था ठीक

नहीं है। अधिकांश तौर विवश होकर शिक्षण में आते हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि शिक्षकों की रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाया जाय। तभी उनमें अपने पेशे के प्रति अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होगा।

उक्त व्याख्यानदाता और विचारक अपने अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध व्यक्तित्व है। उनके कथन में मुझे आशिक सत्य का आभास भी मिला पर कतिपय प्रश्न भी मन में उठे जिनमें से कुछ ये हैं—

१ क्या सचमुच आदर्श शिक्षक की योग्यता का मानदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता ?

२ क्या समाज का तथाकथित उच्च वर्ग शिक्षकों का मौखिक और औपचारिक सम्मान देने लगे, तो शिक्षण-कार्य आकर्षक हो जायगा ? एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट करूँ। एक ग्रेज्एट शिक्षक को माध्यमिक विद्यालयों में सत्तर रुपये मासिक वेतन मिलता है। उसी योग्यता के एक श्रम-व्यवस्थापक को किसी लोहे या जूते की कम्पनी में सात-आठ सौ रुपये मिलते हैं। अगर शिक्षक को छात्रों के अतिरिक्त उनके अभिभावक, वकील, बैरिस्टर, नेता-गण आदि नमस्ते करने लगें तो क्या कोई शिक्षक अवसर पाने पर किसी कम्पनी में नहीं जायेगा या किसी कम्पनी का श्रम-व्यवस्थापक प्रतिष्ठा के लिए शिक्षक बन सकेगा ?

३ अगर शिक्षकों की रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाय तो वे आदर्श शिक्षक हो जायेंगे ? एक और उदाहरण लीजिए। बिहार में सरकार-द्वारा सचालित एवं निजी क्षेत्रों-द्वारा सचालित प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों के वेतन क्रम में एक-चार का अनुपात है। तो क्या ग्रामीण शिक्षकों से कम्पनी-शालाओं के शिक्षक चार गुने आदर्श हैं ?

उस दिन जहाँ मच से वक्तागण बोल रहे थे मेरे पास बैठे शिक्षक आपस में आलोचनाएँ कर रहे थे। उक्त १६ शिक्षकों के सम्मान से अधिकांश शिक्षक प्रसन्न नहीं थे। उनका कहना था कि इनका चुनाव पक्षपात पर हुआ है। वे यह भी कह रहे थे कि दो-तीन सम्मानित शिक्षकों और शिक्षिकाओं का शिक्षण-काल दो वर्षों का भी नहीं है। बीस-बीस वर्ष की सुदीर्घ अवधि के अनुभवी शिक्षकों को छोड़कर इन्हें कैसे आदर्श माना गया ?

कुछ शिक्षकों का कहना था कि सम्मानित शिक्षकों में पचास प्रतिशत ऐसे थे, जो प्रति मास पाँच सौ रुपया तक की प्राइवेट ट्यूशन करते हैं। शिक्षकों का यह आरोप भी था कि प्रत्येक विद्यालय से प्रधानाध्यापक ने दो नाम भेजे थे। प्रधानाध्यापकों ने जानकर ऐसे शिक्षकों के नाम नहीं भेजे, जो ईमानदार हैं, शिक्षकों के प्रतिनिधि हैं और समय पड़ने पर प्रबन्ध-समितियों की आलोचना करते हैं।

मुझे ऐसा लगा कि आज का शिक्षक प्रतिष्ठा का बहुत भूखा है। मैं स्वय शिक्षक हूँ और नहीं कह सकता कि इस दोष से सर्वथा रहित हूँ। इसका कारण यही हो सकता है कि शिक्षक में हीनता की भावना घर कर गयी है। वह दूसरे व्यवसाय के समान पैसा नहीं पा सकता, उसकी रहन-सहन का स्तर किसी डाक्टर, वकील या इजीनियर के समान नहीं हो सकता। उसकी ख्याति किसी राजनीतिक नेता या अभिनेता की तरह नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में वह सोचता है कि हमारे आस पास का समाज मेरी प्रतिष्ठा क्यों न करे ? यह प्रतिष्ठा की पिपासा तब और बढ़ जाती है जब देश के नेता उसे राष्ट्रनिर्माता कहते हैं और उसकी प्रतिष्ठा के लिए अपील करते हैं—(वैसे उन नेताओं का चपरासी एक शिक्षक से अधिक वेतन पाता है और भले लोग उसकी खुशामद करते हैं।)

प्रश्नों और समस्याओं के इस अम्बार से आप ऊबने लगे होंगे। मैं भी अपनी बात को सक्षेप में निवेदित करूँगा।

सुप्रसिद्ध विचारक श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने आदर्श समाज में सरकार की स्थिति पर विचार करते हुए 'दण्ड निरपेक्ष-समाज' की कल्पना की है। मैं भी 'प्रतिष्ठा निरपेक्ष शिक्षण परम्परा' की परिकल्पना अपने समवर्गीय शिक्षकों के सामने रखता हूँ। शिक्षक को आर्थिक सुविधाएँ मिलें, उसे समाज प्रतिष्ठा भी दे, पर हम शिक्षक उस समाज प्रदत्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा क्यों करें? मर्सी हास्पीटल (करुणा चिकित्सालय) में तपेदिक या कुष्ठ रोगियों की सेवा करनेवाली किसी परिचारिका ने सभ्यता और नगर

से दूर रहकर क्या किसी सम्मान की अपेक्षा की है ? सीमान्त पर लड़कर वीरगति पानेवाले किसी जवान ने सोचा है कि समाज मेरी क्या प्रतिष्ठा करेगा ? स्वातंत्र्य आन्दोलन में देश से निर्वासित होनेवाला और मृत्यु को वरण करनेवालों ने राष्ट्र और समाज से क्या अपेक्षा की थी ?

मैंने जिन अचर्चित आदर्श शिक्षकों को देखा है वे न तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, न उनके लिए ख्याति का द्वार खुला है और न उन्होंने कुछ प्रतिष्ठा की अपेक्षा की है। उन्होंने शिक्षण को अपना धर्म माना है और लगन से उसमें जुटे हैं।

मिशनरी स्कूलों के शिक्षकों की बातें छोड़ दीजिए। उन्होंने तो जीवन-दान ही दे दिया है, पर और भी कई कर्मठ अध्यापक मिल सकते हैं। सिंहभूम (बिहार) में हल्दीपोखर एक पिछड़ी जगह है। यहाँ केवल आदिवासी रहते हैं, जिनकी शिक्षा में कोई रुचि नहीं है। आज से आठ-दस साल पहले यहाँ कोई विद्यालय नहीं था। श्री तड़ित बसु नामक एक सज्जन आये और एक उच्च-विद्यालय खोल बैठे। सरकार का सहयोग न मिला, पर छात्रों और ग्रामीणों के श्रमदान से उन्होंने विद्यालय-भवन, क्रीडांगन और बालोद्यान बनवाया। पथरीली मिट्टी काटकर 'खुला रंगमंच' बनवाया, जहाँ १५०० दर्शक बैठ सकते हैं। पशु-पालन, मछली-पालन तथा कई उद्योगों का श्रीगणेश किया एवं छात्रावास भी बनवाया। आज भी उन्हें प्रतिदान में कुछ न मिला, पर वे निश्चिन्त हैं।

जमशेदपुर महिला-महाविद्यालय की प्राचार्या ने ८ छात्राओं से एक कालेज प्रारम्भ किया। बारह वर्षों में इस कालेज में ८ सौ छात्राएँ हैं। प्रारम्भ में सरकार और जनता का सहयोग न मिला, पर पीछे सभी लोगों ने उनकी महत्ता समझी।

आज आवश्यकता है क्षेत्र-सन्यास लेकर लोकशिक्षण में रमनेवाले शिक्षकों की, जिन्हें धन और प्रतिष्ठा की अपेक्षा न हो। अगर आज ऐसे दस-बीस शिक्षक होंगे तो अगली पीढ़ी में उनके प्रभाव से सैकड़ों ऐसे शिक्षक बनेंगे। ●

जीवन-पद्धति के मूल्य

●

आचार्य श्री तुलसी

आत्मसाहस ही मनुष्य का प्रमुख हथियार है। केवल युद्ध के मोरचे पर ही नहीं, अपितु समस्त जीवन में भी। आत्मसाहस उसी व्यक्ति में रह सकता है, जिसका जीवन पवित्र और नैतिक हो। अनैतिक व्यक्ति स्वयं ही नष्ट नहीं होता, बल्कि अपने राष्ट्र का भी नाश कर देता है। राजतंत्र के युग की जीवन-पद्धति के निम्न प्रमुख तत्त्व हैं—

- परावलम्बन,
- दूसरे के श्रम का अधिक व्यय उठाना,
- असमानता को मान्यता देना,
- विलास या आरामतलबी,
- स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुविधा को अधिक महत्त्व।

जनतंत्र में ये सारे तत्त्व बदल जाते हैं। इनके प्रतिपक्षी तत्त्व विकसित होते हैं।

- स्वावलम्बन,
- अपने श्रम का लाभ प्राप्त करना,
- समानता को मान्यता देना,
- श्रमपूर्ण जीवन, और
- सुविधा की अपेक्षा स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व देना।

यह जीवन-पद्धति और उसके मूल्यों का नया प्रारम्भ है। इससे परिचित होने तथा इसे प्राप्त करने के लिए भारतीय जनता को काफी परिवर्तन करना होगा।

परिवर्तन का पहला चरण है विचार-परिवर्तन, और दूसरा है स्वभाव-परिवर्तन। अभी भारतीय कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं, इसलिए कि उनके विचार और स्वभाव हैं राजतन्त्र के युग के, और वे जी रहे हैं जनतंत्र की छाया में। जनतंत्र के युग में जनतंत्र के विचार और स्वभाव को लेकर जीनेवालों के लिए कोई कठिनाई नहीं है। ●

ये पूजावाले फूल इन्हें मत छूना

•

विवेकी राय

कल रामजीवनजी आये। बातें हुई और भरपूर आनन्द आया। 'पूजावाले फूल' की कल्पना बहुत जाग्रत रही। उसकी गूंज कान से होकर अब मन में उतर गया है। एक नवीनता और स्फूर्ति का अनुभव कर रहा हूँ।

सहृदय जनों की बातचीत के बीच अनेक रास्ते निकलते हैं। एक हृदय के अनुभव के चिराग से दूसरे के दिल की बुझी बत्ती रोशन होती है। एक की विचार-धारा दूसरे के सूने मन को हरा करती है। यही यहाँ हुआ।

आज के जमाने में अध्यापक के जीवन का अर्थ है घनघोर निराशा, उत्साहहीनता, बलिदान, थकान, उदासी, दुर्बलता, अपमान, चिन्ता, निर्जीवता, घुटन, पीडा, असन्तोष, दासता, गरीबी, हीनता, उपेक्षा, अयश, शोषण, लाचारी, लक्ष्यहीनता और मूक मौन। सब मिलाकर एक घना अन्धकार उसके जीवन के ऊपर छाया है। राजपुरुषों के भाषणों से जब-तब क्षण भर के लिए अँजोर होता है, लेकिन पुनः सामने वही मारक कज्जलगिरि का गहन गर्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि कहीं से प्रकाश की कोई किरण मिलती है तो वह कितनी कीमती है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

रामजीवन ने कहा—'एक पाप होते-होते बच गया।'

'कैसा पाप ?'—मैंने पूछा।

'हड़ताल।'

'हड़ताल ? कैसी हड़ताल ? कहाँ पर ?'

'हमारे स्कूल पर।'

'किसके द्वारा ?'

'बच्चों के द्वारा, और अध्यापकों के द्वारा।'

'अच्छा ! तुम्हारे यहाँ तो यह हवा नहीं थी। क्या हो गया ?'

'हवा बन जाती है। स्कूल मिल हो गये हैं, और अध्यापक मजदूर। ऐसी अवस्था में जब शोषण का बाजार गर्म है फिर हड़ताल होना क्यों नहीं स्वाभाविक है ?'—रामजीवन ने उत्तर दिया और एक मिनट तक खामोशी रही।

'तो इसी हड़तालरूपी पाप को आपने बताया कि टल गया ?'—मैंने पूछा।

'हाँ, यही पाप।'

'तो फिर टल गया ? क्या फिर होगा ?'

'यदि फिर होगा तो मेरे ऊपर उसका उत्तरदायित्व नहीं होगा।'

'तो क्या आप ही थे लीडर ?'

'हाँ, असन्तोष की आग मेरे ही दिल में अधिक तेज थी। अपमान और उपेक्षा के गरल से मैं ही विकल था, जिसमें घुटता जीवन छुन-छुन करता था। उफ ! शिक्षा के स्तर गिरने की बात जो करते हैं वे किसी

मक्कार हैं या मूर्ख। यदि यही शिक्षा हो तो उसके स्तर के गिरने और न गिरने की बात की जाय। यहाँ तो शिक्षा है ही नही। यहाँ तो है शुद्ध व्यवसाय। एकदम खुला व्यवसाय। नीचे से ऊपर तक। जिस वय में राष्ट्र के भावी कर्णधारो के जीवन की शैली और चरित्र-निर्माण के सोपान बनने है उस अवस्था में वे किस प्रकार जड़पदार्थ की भाँति स्कूल के कारखाने में हारे-थके और मरे-मुरदे अध्यापको के हाथों मे सौंप दिये जाते हैं। किस प्रकार उनके निर्माण मे असमर्थ अध्यापक...!'

'मगर इन बातो से और हड़ताल से क्या सम्बन्ध?'—मैंने बात काटकर पूछा।

'क्या सम्बन्ध है? क्या इतना सरल है कि तुम्हें झट मे बता दूं? अँग्रेज गये, परन्तु उनका शासन अभी ठीक उसी प्रकार मौजूद है। वही कोड और वही ताजी-राते हिन्द। वही साहबियत और वही शोषण। स्वतत्रता का सच्चा रूप वही नही। स्कूलो में दासता का नग्न रूप है। जहर का घूंट जोर-जबरदस्ती गले से उतारा जाता है। जिस कला से अँग्रेज भारतीयो को दबाये रखते थे वही कला जब स्कूल में अधिकार-सम्पन्न लोगों ने अपनायी तो आग लगी और प्रतिकार के रूप में मालूम हुआ कि उसकी लपटें अपनी लपेट मे सबको लेकर जला देंगी।'

'चलो, खुशी की बात है कि हड़ताल टल गयी। इन विद्यालयों के रोग का यह लक्षण हो सकता है; परन्तु उपचार कभी नही? क्या आप लोगो ने लडको को बरगलाया था?'—मैंने पूछा।

'बरगलाया! हम लोग क्यो बरगलाते? वे ही स्वयं उत्तेजित थे। वास्तविकता छिपाने का प्रयत्न तो किया जाता है; परन्तु ज्यो-ज्यों यह प्रयत्न होता है त्यो-त्यो वह खुलती जाती है। जाने दें, क्या कीजियेगा वह कथा सुनकर कि किस प्रकार बालकों के भविष्य को दाव पर रखकर अपने स्वार्थों की सिद्धि होती है।'—रामजीवन ने कहा और उसका मुँह तमतमा गया।

'ठीक है। यह नहीं सही, परन्तु वह बात जरूर जानना चाहूँगा, जिसके प्रभाव से यह हड़ताल टल गयी।'—मैंने कहा।

'वह मेरे ही हृदय की प्रेरणा थी। दुनिया इस वास्तविकता से पलायन भले ही करे; परन्तु मैं इसे जब सिद्धान्त-रूप से उचित समझता हूँ तो इसे व्यवहार में उतारना भी अनिवार्य है।'—उन्होंने कहा।

'यही तो आज के संसार की मुख्य समस्या है। सिद्धान्त पूरब की ओर जा रहा है तो व्यवहार पश्चिम की ओर। दोनों का मेल नही होता। अच्छा, अब आप अपनी बात बतायें।'—मैंने आतुरता से पूछा।

'सुनिए, हड़ताल कल होनेवाली थी। यह बात परसों की है। सन्ध्या के समय छुट्टी के बाद सारी बातें तय होनेवाली थी। प्रमुख लड़को और अध्यापको की सभा हुई। उत्तेजनापूर्ण शब्दो को खूब हाथ माँज-माँज-कर मुँह से निकाला गया। बालको को देश का रखवाला कहा गया और बताया गया कि तुम अजेय हो। जो अन्याय करता है उसकी गरदन मरोड़ दो।...यह निश्चित हो गया कि कल कक्षाओ में कोई नही जायगा। छात्र स्कूल के बाहर नदी तट पर, जहाँ मैदान है, सभा करेंगे। फिर नारा लगाते जुलूस लेकर घूमेंगे।...रात को मुझे नीद नही आयी। एक भारी बोझ-सा सिर पर आ पड़ा था। घृणा के जहर से शिराएँ फट रही थीं। लड़कों के नारे कान फाड़ रहे थे। जो लड़के कक्षा में अध्यापक के सामने बैठे रहते हैं वे उन्ही के सामने उछल-उछलकर स्कूल को गाली देंगे! मन के किसी कोने से आवाज आयी कि लड़कों को भड़काकर अच्छा नही किया गया।... प्रात. काल एक झपकी आ गयी और मैंने देखा एक अद्भुत सपना।'

'सपना! क्या था वह?'

'बता रहा हूँ। मैंने देखा कि मै किसी बीहड़ जंगल में रास्ता भूलकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। बडी हैरानी है। इसी बीच आकाश से एक शुभ्रवसना देवी उतरती है। मैं उनके चरणो पर गिर पड़ता हूँ। उस देवी ने बडी कृपापूर्वक मेरे मस्तक पर अपना हाथ फिराया और जब मैंने सिर उठाया, तो उन्होंने मेरी ओर कुछ फूल बढाये। मैंने उठाकर दोनों हाथो से उन फूलो को ले लिया और श्रद्धा से पुन. मेरा मस्तक झुक गया। इसी बीच यह कहते हुए कि 'ये पूजावाले फूल है, इन्हें

वसुधा पर बरसना शुरू हो गयी। मन आकाश की ओर आँख उठाया। बालक के अंजलि के फूल उड़कर बालकों के चेहरों के रूप में परिवर्तित होने लगे। एक दो दस बीस तीस सौ फिर कई सौ। मुझे यह देखकर भारी अचरज हुआ कि यह सब मेरे ही विद्यालय के बालक हैं जो आसमान में चिड़िया के समान चहकते और क्रीड़ा करते अपनी मस्ती में मँडरा रहे हैं। मैं अधिक नहीं देख सका और चक्कर खाकर गिर गया। तभी मंदिर में प्रभात का घण्टा घड़ियाल बज उठा। और मैं अपने बिस्तर पर था।

स्वप्न ही प्रभावशाली और प्रबल स्वप्न रहा।

हाँ, इसने मुझे एकदम बदल दिया।

तब इसी का प्रभाव था कि तुमने हड़ताल रोक दी?

हाँ और मेरे दृष्टिकोण में एकदम परिवर्तन हो गया। उफ् मास्टर! पता नहीं तुम क्या-क्या कल्पना कर रहे हो? कितनी स्वास्थ्यदायिनी है यह कल्पना कि बालक फूल हैं। स्कूल वाटिका है। मैं मास्टर नहीं भगवान का पुजारी हूँ। मैं पढ़ाता नहीं पूजा करता हूँ। यह विधान न किसी सरकार का है और न किसी व्यक्ति का। यह ईश्वरीय विधान है। देवी की यह आज्ञा! इन्हें कलुषित मत करना। अवश्य मैं इन्हें इन स्वार्थमय हाथों से छूने का हकदार नहीं हूँ। पैसे के लिए देवता के प्रसाद को और पवित्र प्रेम को कलंकित नहीं करना है मास्टर! काश मेरा दिल इतना विशाल हो जाता कि वह विश्व के समस्त अध्यापकों के दिल में समा जाता और मैं सबको इस विचार पर झुका पाता कि बालक ईश्वर के पूजावाले फूल हैं। इन्हें अपवित्र हाथों से मत छूना! मत छूना!! मत छूना!!!
—रामजीवन कहते-कहते एकदम भावमग्न हो गये।
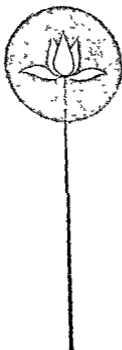
रामजीवन जो आज चले गये मैं सोच रहा हूँ कि कितने रहस्य की बात बता गये! कितना महान काम करके हम कितनी तुच्छ मजूरी के लिए दिमाग को विचारों के जहर से भर रहे हैं। सोने की लूट और कोयले पर मुहर!

ईश्वर का काम सुख की शैया पर सोकर नहीं होता। हमें कोई क्या देगा? हमारा काम ही हमारा इनाम है। मैं कौन हूँ? क्या एक साधारण तुच्छ अध्यापक? नहीं मैं ईश्वर की एक विशाल समाज-वाटिका का माली हूँ जिसमें अलौकिक फूल हैं! किरणों की काया स्वर्गीय सुघरता निर्मल हास के प्रतिरूप! खबरदार ये पूजावाले फूल हैं।

ओ मास्टर!
अंजलि भर भर सुमन-अर्घ्य दे
अपने प्राण जुड़ाओ
मधुर प्रेम की दिव्य आरती
पूजा-थाल सजाओ
तुम वरदाता के अभिलाषी
पूजा के अधिकारी
मनस्ताप हो शमित
मिले सुख दूना!
ये पूजा के फूल
इन्हें मत छूना!!

●

कैसी जीत ! कैसी हार !!

•

विनोबा

इस साल पाकिस्तान ने हिन्दुस्तान पर दो बार आक्रमण किया। इनमे एक तो कच्छ के रन में किया, लेकिन वह निपट गया। बीच-बचाव हो गया और दोनो पक्षो ने उस समझौते को मान्य कर लिया कि कड़ुवा-मीठा जैसा भी फैसला होगा, मान लेंगे। इतने में पाकिस्तान दोबारा आक्रमण करेगा, ऐसा किसी को अन्दाज नही था। कुछ लोगो को हो सकता है, जिनका सम्पर्क वहाँ से रहता हो, लेकिन हमें नही था, सारे देश को नहीं था।

नयी घुस-पैठ, घिसीपिटी ऐंठ

उसने दूसरा हमला चोरी से किया, जिसे घुस पैठ कहते हैं। हिन्दुस्तान के लोग कहते है कि यह घुस है, पाकिस्तान के लोग कहते हैं कि यह 'पैठ' है। घुस यानी जबरदस्ती से घुसना, पैठ यानी प्रेमपूर्वक प्रविष्ट होना। उधर से कश्मीर में लोग घुसकर आ गये, शस्त्रास्त्र लेकर सादा लिबास में। कुछ ने उनका स्वागत भी किया होगा, उतनी मात्रा में पैठ मानी जायेगी। कुछ ने विरोध किया होगा तो वह घुस मानी जायेगी। मैं मानता हूँ कि प्रवेश दोनो प्रकार का था, लेकिन ज्यादातर घुस था। क्योंकि वहाँ लोगो ने सिपाहियो को जाकर इसकी इत्तला दी।

एक नया मसला खड़ा हो गया। फिर लड़ाई छिड़ गयी। अब लड़ाई जरा रुकी है, तो सारे भारत में खुशी मनाते हैं। आनन्द है सबको कि भारत ने अच्छी तरह मुकाबला किया। भारत ने एक पराक्रम किया, वीरकार्य किया, लेकिन इसमें बहुत ज्यादा आनन्द मनाने की बात नही है। यह ठीक है कि लाचारी से लड़ना पडा, तो डटकर लड़े। सब पार्टीवाले एक हो गये, भारत के अन्दर एकता कायम रही। सबसे ज्यादा खुशी की बात यही थी कि आम जनता में और पार्टियो में एकता रही।

कैसी खुशी, कैसा आनन्द ?

लड़ाई में फतहवाली जो बात है, उसमे क्या फतह और क्या हार ? दोनो को नुकसान ही हुआ। यह कहा जाता है कि हिन्दुस्तान का नुकसान कम हुआ, पाकिस्तान का ज्यादा। पर, ज्यादा व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो नुकसान हमारा ही हुआ। हम ही इधर हैं और हम ही उधर। भाई-भाई अलग होने के बाद झगड़ते हैं, इसमे खुशी की क्या बात ? आनन्द की बात बस एक ही थी कि अन्दर की एकता कायम हो गयी और डटकर मुकाबला किया, गड़बड़ाये नही।

लेकिन, कुल मिलाकर यह आनन्द की बात नही है। आनन्द की बात तो तब होगी, जब भारत, पाकिस्तान और सभी पड़ोसी देश, जैसे—चीन, नेपाल, बर्मा, अफगानिस्तान प्रेम से रहें, तब दीवाली मना सकते हैं, फाग मना सकते हैं या दोनो मना सकते हैं। खुशी का मौका तभी होगा, जब ये सारे देश मिलकर प्रेम से रहे और यह निश्चय कर लें कि जो भी मसला होगा, बातचीत से तय कर लेंगे, लड़कर नही। आपस में प्रेम से व्यापार-व्यवहार करते रहेंगे। यह सब जो किया गया, वह तो तात्कालिक इलाज है। सिर पर प्रहार हो रहा है, भारत लड़ना नही चाहता, पर सिर फूटे, यह भी पसन्द नही। इसलिए हाथ ऊँचा कर दिया, ताकि सिर पर प्रहार न हो। जब एक-दूसरे पर प्रहार करने की जरूरत ही

महसूस न हो और एक-दूसरे के साथ सहयोग हो, तभी कहा जायगा कि हमारी मान्यता सही है और हमने विज्ञान युग के लायक काम किया है। वही सच्चे आनन्द का मौका होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत मसले सुलझायें

इसलिए यह जरूरी है कि सारी दुनिया एक बने। हमारा यह विचार है कि सारी दुनिया एक बने या कम से कम पास-पड़ोस के देश एक बन जायें। हमने यह देखा कहा है कि ए बी सी एक ग्रुप है—अफगानिस्तान, बर्मा और सीलोन इस ग्रुप के अन्दर, जो देश हैं कम-से-कम वे तो एकरूप बन जायें। इससे विश्वशान्ति के लिए ताकत बनेगी।

इस बार पाकिस्तान ने बहुत गलत काम किया, इसमें शक नहीं। इसीलिए इस लड़ाई में मैंने भारत सरकार का समर्थन किया। मैं मानता हूँ कि यह लड़ाई हिन्दुस्तान पर लादी गयी। अगर मैं इसका समर्थन न करता तो एक तरह से हिंसा का ही समर्थन हो जाता, लादी गयी हिंसा का। मेरा मानना है कि भारत सरकार का समर्थन कर मैंने अहिंसा के बचाव के लिए ही मदद दी।

लेकिन, हमारा-आपका काम तो यह है कि ऐसी जनशक्ति खड़ी करें कि सारे अन्तर्राष्ट्रीय मसले उससे हल कर सकें। उसके पहले यह बहुत जरूरी है कि आन्तरिक मसले तो हल कर ही लें। उनके लिए पुलिस या मिलिटरी की जरूरत न पड़े। इतना हम कर लेते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जनशक्ति के प्रयोग का मौका आ सकता है। पड़ोसी देशों का मसला भी हल हो सकता है।

पीले साफे नये करतब

इसके लिए यह बहुत जरूरी है कि हिन्दुस्तान के हर गाँव में १५-२० पीले साफे (शान्तिसैनिक) हों। पीला साफा तो सिर पर बाँधा जाता है, लेकिन उसके लिए पाँव मजबूत होने चाहिए। पर वे मजबूत तभी होंगे जब ग्रामदान होगा और ग्रामदानी गाँव ही पीले साफे वालों को खड़ा करें। नहीं तो पीला साफा ऊपर होगा और पाँव रखने के लिए धरती नहीं रहेगी। आज भी जो सेना खड़ी हुई है उसके पीछे आम के वोट का बल है, लोकमत है, इसीलिए वह सेना, सेना है, नहीं तो डाकू कहलायेगी। सेना को लोकमत का आधार है। इसी तरह पीले साफे को आधार चाहिए। नीचे मजबूत जमीन चाहिए, ग्रामदान और ग्रामस्वराज्य की भूमिका के आधार पर ही हमारे शान्तिसैनिक खड़े हो सकते हैं। वे अधर में लटके रहें, यह नहीं हो सकता। उन्हें जनता का आधार चाहिए और वह है ग्रामदान।

दिन-ब-दिन आबादी बढ़ रही है और खेती के लिए जमीन का रकबा कम होता जा रहा है। खेती में सबको साल भर काम मिल सके, यह सम्भव नहीं। इसलिए उद्योग देने होंगे। इस तरह गाँवों में उद्योग बढ़ें। फिर शिक्षा का भी प्रबन्ध करना होगा। यह काम भी जनशक्ति से करने का है।

'प्रखण्ड' दान : नया अभियान

हमें जब ग्रामदान मिलते हैं, और हम सर्वेक्षण करते हैं तो अंगूठे ही अँगूठे दिखायी पड़ते हैं। ज्यादातर लोग कम पढ़े लिखे हैं, लेकिन जितना कम पढ़े हैं, उतना ही ज्यादा काम करते हैं, पर पढ़े-लिखों का भी असर पड़ना चाहिए। अच्छे-अच्छे गाँव भी ग्रामदान में आने चाहिए। इसलिए हमने कहा कि छिटपुट ग्रामदान की बात छोड़ दो, पूरा 'प्रखण्ड' दान में हासिल करो।'

ध्यान रखें कि ग्रामदान लानेवाले हम होते कौन हैं? भगवान ही इसे लायेगा। गीता में उन्होंने कहा है कि—

'हे अर्जुन! सब मर चुके हैं। मैं सबको खतम कर चुका हूँ। तुम्हें खाली निमित्त-मात्र बनना है।' इसी तरह हमें भी समझना चाहिए कि सर्वोदय की विरोधी शक्तियाँ दुनिया में खतम हो चुकी हैं। जहाँ जरासंध के दो टुकड़े हुए, वहीं वह खतम हो गया।

जरासंध के टुकड़े-टुकड़े

आज पूँजीवादी राष्ट्रों के दो टुकड़े हो गये हैं—कुछ 'पूँजीवादी' हैं तो कुछ 'वेलफेयरिस्ट' (कल्याणवादी)। कम्युनिस्ट राष्ट्रों में भी दो टुकड़े हो चुके हैं—एक है चीनवादी तो दूसरा रूसवादी। जब जरासंध के टुकड़े हो गये तो कहना होगा कि कि धम जानेगा, भीम जीतेगा। सोचो तो, सर्वोदय के मुकाबले में ये ही दो ताकतें थीं—पूँजीवाद और साम्यवाद। पर आज दोनों टूट रही हैं, उनका विचार डगमगा रहा है।

कम्युनिस्टों का विचार था कि हम सारी दुनिया में शस्त्रों के बल पर साम्यवाद ले आयेंगे, पर आज वह डिग रहा है। वे समझते थे कि दुनिया को हिंसा के जरिये मुक्त कर देंगे, लेकिन अब वे समझ रहे हैं कि हिंसा से काम नहीं होगा। पर, कुछ ऐसे भी हैं, जो मानते हैं कि हिंसा से यह हो सकता है। इस तरह उनके भी दो टुकड़े हो गये। यही हाल पूंजीवाद का है। कुछ पूंजीवादी 'फैसिज्म' वाले हैं, जो कहते हैं कि नीचेवालों से कसकर काम लेना चाहिए।

दूसरे कहते हैं कि हमें उनको कुछ सुविधा देनी चाहिए। मजदूरों को शिक्षण तथा सुविधाएँ आदि देकर ज्यादा समर्थ बनाना चाहिए। इस तरह उनमें भी दो टुकड़े हो गये हैं। जहाँ सामनेवाले टूट गये, वहाँ सर्वोदय के लिए मौका मिल जाता है।

संख्या और गुण का विरोध क्यों ?

लेकिन, सर्वोदयवाले चाहते हैं कि क्वालिटी की सँभाल करें, मानो उन्हें विश्वास नहीं कि हम सारी दुनिया की सँभाल कर सकेंगे।

पर, संख्या और गुण का यह विरोध मेरी समझ में नहीं आता। मुंगेर और भागलपुर में गंगा छोटी है और गंगासागर में बहुत बड़ी। लेकिन, क्या गंगासागर की गंगा कम पवित्र मानी जाती है ? आयतन बढ़ने पर पवित्रता कम क्यों हो ? वह तो और बढ़नी चाहिए।

सर्वोदयवाले डरते हैं कि अगर ज्यादा ग्रामदान हासिल हागे तो न मालूम क्या होगा ? लेकिन, हम जो ग्रामदान हासिल करते हैं, उसमें कोई जबरदस्ती नहीं करते, बल्कि उसका अपना एक खास तरीका है, जिसमें सच्चाई है, प्रेम है, करुणा है। यह कहना कि आकार बढ़ाने पर बुराई बढ़ने का डर होता है छोटी या कम चीज अच्छी होती है, पुराने ढंग का चिन्तन है। यह आज के वैज्ञानिक युग के अनुकूल नहीं।

पुराने जमाने में विज्ञान हमारे पास नहीं था। ऋषि छोटे से क्षेत्र में प्रयोग करते थे और आदमी तैयार करके बाहर भेजते थे, परिव्राजक बनकर वे स्वयं घूमते थे। लेकिन, अब विज्ञान हमारे साथ है तो संकोच की जरूरत नहीं। हमें बड़े पैमाने पर काम फैलाना चाहिए। आज वह जमाना आया है कि हमें संख्या और गुण का विरोध मिटा देना है। जितना गुण बढ़े, उतनी ही संख्या बढ़े, और जितनी संख्या बढ़े उतना ही गुण बढ़े। दोनों का सुमेल होना चाहिए। गुण विरुद्ध संख्या विज्ञान युग से पहले की बात है।

"मास्टर साहब, हमारा उत्तर प्रदेश तो बाजी मार ले गया ! आपको नहीं मालूम, आज रेडियो में समाचार आया था कि प्रदेश के अध्यापकों को, सरकार लाखों रुपए ..."

'सुना है मैंने। बकवास मत करो ! सरकार ने खैरात थोड़े ही दिया है।"

'हमारे दादाजी कहते थे न मास्टर साहब, विद्या का दान ही करना चाहिए। मगर ऐसा होता कहाँ है अब ! आप लोग तो विद्या के बदले तनख्वाह भी लेते हैं। दादाजी कहते थे, आज की विद्या 'डालडा' बन गयी है, और डाक्टर साहब कहते थे, डालडा का बायकाट सरकार को तुरत कर देना चाहिए।"

बच्चों की आवाज

•
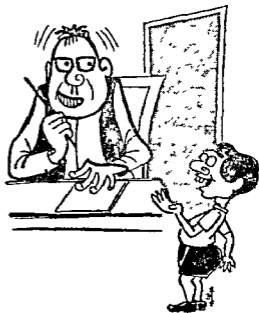
सैयद मुहम्मद टोंकी

बच्चे हँसते-खेलते हैं। जब बहुत से एक जगह इकट्ठा हो जाते हैं तो इस खुशी में देर तक खेलते रहते हैं। जब अपने-अपने घरों को लौटते हैं तो खेल की बातें बहुत जोश से सुनाते हैं और अपने साथियों के खेल की बड़ी तारीफ करते हैं जिन्होंने अपने खेल में उनकी खुशी को दुबाला किया। वह चाहते हैं कि ऐसे अच्छे दिन आते रहें जिनमें वह मगन होकर अपने साथियों से मिल कर, काम किया करें और खेला करें।

लेकिन, कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता। उनके खेल में रुकावट पड़ जाती है। वह किसी बात पर लड़ जाते हैं। तू-तू, मैं मैं होती है। कभी तो झगड़ा ऐसा हो जाता है कि आपस में कटम-कटउवा हो जाती है, बातचीत नहीं रहती, पर कुछ ही दिन के लिए। अच्छे खेल याद आते हैं। दिल नहीं मानता। एक घर से निकलता है और खेलने लगता है। दूसरा निकलता है और खेलने लगता है। फिर तो बहुत से मिलकर खेलते हैं और खेल में बिलकुल भूल जाते हैं कि कभी लड़ाई भी हुई थी।

कुछ दिन हुए उन्होंने सुना कि तोपों से गोले बरसे। एक-दो नहीं, बहुत से घर गिर गये। बच्चे जानते हैं कि घरों में बड़ों के साथ बच्चे भी रहते हैं। उनका दिल धक्-से हो गया। उनके हँसते खेलते साथी क्यों मार दिये गये। वे बिगड़े कि हम ऐसे लोगों बच्चों को मारनेवाले से बदला लेंगे। ठण्डे हुए तो अपनी आपस की कट्टम-कटउवा का ध्यान आया, जिसमें कुट्टी हो गयी थी उन साथियों की याद आयी। गोया, लड़ाई तो अच्छी नहीं है।

दुनिया के सभी बच्चे यह बात जानते हैं कि लड़ाई तो अच्छी नहीं है। हमें आपस में लड़ना नहीं चाहिए। इंगलिस्तान का एक भाग वेल्स है। कई साल हुए वहाँ के बच्चों ने अपने रेडियो से ब्राडकास्ट किया था। सुनिए, क्या ही प्यारे बोल हैं—

यह वेल्स है! वेल्स के लड़के-लड़कियाँ एक बार फिर तमाम क़ौमों के लड़कों और लड़कियों को पुकार रहे हैं।

हम जानते हैं कि हम जिस दुनिया में रहते हैं, वह डर और ख़तरे से भरी है। हमने डरावने एटम बम की बात भी सुनी है जो दुनिया से सहजीव को मिटा सकता है। लेकिन, हमारा विश्वास है कि इसी दुनिया में दुनिया भर को बरबाद कर सकनेवाले हथियारों से ज्यादा बड़ी और शक्तिशाली चीजें भी हैं। वे हैं आदमियों के दिमाग। उनकी आत्मा। उनका विश्वास। उम्मीद और मुहब्बत।

हमको इसकी ख़ुशी है कि दुनिया में आज भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो मानव के हौसलों को पुकारती हैं। बहुत-सी ताक़तें निडर और अख़लाक़ी (आचारिक) बातें। हम उन तमाम नयी ताक़तों का स्वागत करते हैं, जो तमाम जातियों को अपने पास रखना चाहती हैं, जैसे वह सब एक ही घराने के हों। हम वेल्स के बच्चे ख़ासतौर से युनेस्को का स्वागत करते हैं। हम जानना चाहते हैं कि इस तरह के उस बड़े काम में, जो यह सारी दुनिया के नौजवानों में आपस की दोस्ती, दुनिया की तमाम क़ौमों में आपस के तआउन (सहकार) के लिए कर रही है हम किस तरह उसका हाथ बटा सकते हैं और उसकी मदद कर सकते हैं।

तमाम कौमों के लड़कों और लड़कियो! आओ, हम करोड़ों ऐसे बनें कि जब बड़े हो तो दोस्त सभी के हों, दुश्मन किसी के नहीं।"

उन बच्चों की प्यारी बातें आपने पढ़ ली। अब एक जापानी बच्चे के सुरीले बोल सुनिए। अब से बीस बरस पहले, जो भयानक लड़ाई ख़त्म हुई, उसमें जापान

पर एटम बम गिराया गया था, जिसने हजारों नन्हे नन्हे हँसते-खेलते बच्चों को मिनटों मे जलाकर राख कर दिया। जापान पर बम फेंकनेवाले जहाज आस्ट्रेलिया के अड्डे से जाते थे। इन्ही में से एक जहाज ने गोला फेंका। 'हाई डी की इनोरा' का घर बरबाद हुआ। सीधा हाथ भी जल गया। गोले की आग ने इसका हाथ तो जला दिया, पर मन की मस्ती को भस्म न कर सका, मानो प्रेम का ज्वालामुखी फूट पडा। उसने खत लिखा आस्ट्रेलिया में किसी लडकी के नाम—

मुझे डर है कि तुम इस चिट्ठी को लेना और इसका जवाब देना पसन्द न करोगी, क्योंकि मैं जापानी हूँ। पर, मैं आशा करती हूँ कि शायद ऐसा न हो। मैं तुम्हारी दुश्मन नहीं हूँ। शायद हमें एक-दूसरे को समझने में मदद मिले—अगर मैं तुम्हें बताऊँ कि मैंने मुसीबत झेली है, मेरा घर तो जल गया है, मेरे तीन भाई सो रहे हैं (मर गये)।

उस बडे जुल्म, नफरत और खोट के बाद भी क्या हम ऐसा ढोल नहीं डाल सकते कि दुनिया के तमाम देशों में अमन-शान्ति हो? खुशहाली हो? मैं चाहती हूँ, ऐसा ही हो। लडाई से झुलसे हुए देश में—जैसाकि मेरा भी है—बहार तो एक दिन जरूर आयेगी। वह तो अभी आती दिखाई देती है। अब बेरियों में फूल और दूसरे पेडों में फल लगे हैं। इनसे खुशी और जिन्दगी की गरमी ही पैदा होगी, नफरत की ठण्डक नहीं। हम ऐसा ढोल कैसे डालें कि यह बहार किसी एक मुल्क में नहीं दुनिया भर के मुल्कों में आये।

क्या तुम मेरी बात मानोगी कि मैं यह खत कलम से नहीं, अपने दिल से लिख रही हूँ?

इसको पढ़िए। दिल को टटोलिए। इसमें प्रेम है या जलन। प्रेम अपने कुनबे अपने ही देश से नहीं, दुनिया भर के देशों और उनके रहनेवालों से। सभी तो सब सुख चैन से रह सकते हैं।

इस खत को फिर से पढ़िए 'यह खत कलम से नहीं। अपने दिल स लिख रही हूँ।'

●

एक एक छात्र एक एक पौधा

राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बद्ध पचसूत्री कार्यक्रमों के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के सभी स्तर के विद्यालयों में एक नये नारे के साथ खाद्यान्न-वृद्धि की दिशा में व्यापक रूप से रबी-अभियान आरम्भ करने के निर्देश शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश की ओर से निर्गत हो चुके हैं। नया नारा है, 'एक-एक छात्र एक-एक पौधा।' प्रदेश के सभी विद्यालयों और शिक्षाधिकारियों का ध्यान राष्ट्र की वर्तमान सकटकालीन परिस्थितियों की ओर आकृष्ट करते हुए निवेदन किया गया है कि देश की सुरक्षा में खाद्यसामग्री की सुदृढ स्थिति का वही महत्व है जो सैनिक शक्ति का। सत्य ही कहा गया है कि मोर्चे पर जवान और खेत में किसान।' अतएव यह परमावश्यक है कि जहाँ एक ओर हम अपने देश की एक-एक इच भूमि की रक्षा के लिए अपने सैनिक-बल के विकास में सलग्न हैं, वहीं हमें दूसरी ओर अपने देश की एक एक इच भूमि को खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में लगाकर अपनी खाद्यस्थिति भी शीघ्रातिशीघ्र सुदृढ बनानी है, जिससे हम इस दिशा मे स्वावलम्बी बन सकें। इस दिशा में शिक्षा-सस्थाओं के प्रत्येक विद्यार्थी का कर्तव्य है कि वह खाद्य-सामग्री के उत्पादन में अपना पूरा-पूरा योगदान दें। अत प्रत्येक विद्यार्थी को सब्जी या अन्न का कुछ-न कुछ उत्पादन अवश्य करना है। एक छात्र-द्वारा एक पौधे की उपज मात्रा में बहुत कम हो सकती है, किन्तु हमें भूलना नहीं है कि 'कन-कन जोरे मन जुरे।' लाखों छात्रों का न्यूनतम प्रयास भी मिलकर खाद्यान्न का पहाड खडा कर सकता है। इसीलिए प्रत्येक छात्र-द्वारा एक-एक पौधा लगाने पर बल दिया गया है। साथ ही उत्पादन सम्बन्धी इस योजना की सफलता के लिए स्थानीय जनता के सहयोग पर विशेष बल दिया गया है। आशा है कि इस योजना के उत्साहपूर्ण कार्यान्वयन से विद्यार्थियों का एक नयी दिशा में जागरण होगा और खाद्यान्न-वृद्धि की समस्या उत्तरोत्तर हल होती जायेगी।

—शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश

संस्मरण

गांधीजी की बातें

●

रामवचन सिंह

अप्रैल १९६५ में अध्ययन-यात्रा के लिए मुझे बस्ती के नायनगर ग्राम में एक सप्ताह रहना पड़ा था। ग्राम का भगत नाम का चपरासी हमारी व्यवस्था में रहा। मुझे खादी का कपड़ा पहने देखकर भगत कहने लगा—'क्या आप गांधीजी के चेले हैं, या सरकारी आदमी ?'

मैंने भगत से कहा— गांधीजी का ही चेला बनना चाहता हूँ।'

इतना कहने पर भगत और भी अनौपचारिक रूप से बात करने लगा।

उसने मुझसे फिर पूछा—'क्या आपने गांधीजी का दर्शन किया है ?'

मैंने उसे बताया—"हाँ, कई बार।"

वह कहने लगा—'आप बड़े भाग्यवान हैं।"

मैंने कहा— गांधीजी महात्मा थे ?

भगत बीच में ही बोल उठा—"वह तो भगवान थे।'

भगत की गहरी निष्ठा भावना देखकर मेरे मन में जिज्ञासा हुई कि मैं भी भगत से कुछ प्रश्न करूँ। एक सहज वातावरण का निर्माण हो चला था। एक विद्यार्थी-सी उत्सुकता से मैंने भगत को सम्बोधित करते हुए कहा—' भगत, क्या आपने गांधीजी को देखा है ?"

उसने श्रद्धा से भरी हुई गम्भीर वाणी में कहा—"मैंने गांधी बाबा का १९२१ में दर्शन किया है।"

"कहाँ ?"

"गोरखपुर में।"

भगत गद्‌गद होकर कहने लगा—"४० मील से पैदल चलकर दर्शन करने गया था। सभा में लाखों की भीड़ थी। उनके साथ उनकी पत्नी, शौकतअली, मुहम्मद-अली वगैरह थे। गांधीजी ने हाथ जोड़कर संकेत किया। भीड़ बैठ गयी।'

मैंने पूछा—'गांधीजी ने क्या भाषण दिया ?"

भगत ने बताया—'बाबू उन दिनों लाउडस्पीकर नहीं था। फिर भी गांधीजी की बात को किसी ने बड़े जोर से दुहराया।"

मैंने फिर पूछा—"तुमने क्या सुना ?"

"बाबू मैंने सुना ही नहीं, उन्होंने तो सबके हृदय में घुसकर मंत्र बता दिया।"

'कहो भगत, क्या बताया ?"

'सभा में जो आये थे सभी कहते गये—"अब जीवन में सच बोलेंगे। चोरी नहीं करेंगे। मिलकर रहेंगे। दूसरे की मदद करेंगे। सभी भाई भाई की तरह रहेंगे। ये बातें दिल में घुस गयीं और अब भी पड़ी हुई हैं। मैं उनका व्रत के रूप में अब भी पालन करता हूँ। सभा से जाते समय लोग कहते हुए गये कि यदि कोई दूसरे का सामान चोरी करके ले जायेगा तो वह सिर पर चिपक जायगा। अब भी वही आस्था और निष्ठा बनी हुई है मेरी। मेरा तो जीवन बन गया। तब से आज तक किसी का अनभल नहीं किया मैंने। जिन्दगी उनके आशीर्वाद से बड़े आनन्द से बीत रही है। लड़के भी कमाने लायक हो गये हैं। चारों धाम कर लिया हूँ। यह सब गांधीजी का प्रताप है, उनके दर्शन का फल है। भगत प्रातः स्नान ध्यान करके ही अपना काम शुरू करता है।

इस घटना से पता चलता है कि साधारण व्यक्ति के जीवन को भी गांधीजी ने किस प्रकार स्पर्श किया था।

गांधीजी साधारण मनुष्य के जीवन में सत्य का प्रयोग करना चाहते थे सत्य को सामाजिक मूल्य के रूप में अधिष्ठित करना चाहते थे और इसमें उन्हें भरपूर सफलता भी मिली। ●

प्रेरणा के स्रोत फ़ैज़अहमद 'फ़ैज़'

•

सतीशकुमार

नयी जिन्दगी और नयी प्रेरणा का अबाध स्रोत बहानेवाली अनगिन कविताओं के रचयिता, शाअर तथा साहित्यकार श्री फ़ैज़अहमद 'फ़ैज़' से मिलने की उत्कण्ठा से लाहौर (पाकिस्तान) पहुँचने पर वे अनुपस्थित रहे। पाकिस्तान से अनेक देशों की यात्रा के बाद हम (लेखक और प्रभाकर मेनन) ग्रेट ब्रिटेन पहुँचे। ३० अक्तूबर १९६३ के दिन मैं बी० बी० सी० के रेडियो स्टेशन पर अपनी यात्रा-कथा रिकार्ड कराने गया। काम पूरा हो जाने पर रिकार्डिंग करानेवाली महिला ने मेरी थकान और परेशानी को समझकर सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा–'क्या आप एक कप काफी पसन्द करेंगे ?" मानो मेरे मन की बात उस महिला ने कह दी हो। मैंने तुरत हाँ कर दी। हम दोनो जा पहुँचे रेस्तराँ में।

मैं और मेरी मेज़बान महिला काफी तथा सैण्डविच लेने के लिए बफे की लाइन में खड़े हो गये। इस तरह के रेस्टोरेण्टो में सेल्फसर्विस चलती है। हमने तश्तरी उठायी। प्लेट, कप और चाकू उठाया, शेल्फ में रखे हुए सेण्डविच लिये, काफी टेक की टोंटी खोलकर कप को भर लिया। रेस्तराँ की व्यवस्थापिका महिला ने हमारी ट्रे का सामान देखकर बिल बनाया और हम आगे बढ़े।

तभी मेरे साथ की महिला ने कहा—"क्या आप पाकिस्तान के मशहूर शाअर फ़ैज़साहब को जानते है ?"

मैं एकदम अचकचा गया। मैंने कहा–"मैं उन्हें शाअरी के माध्यम से जानता हूँ, लेकिन कभी साक्षात्कार नही हो सका है।"

इस पर उस मेज़बान अंग्रेज तरुणी ने मुझसे कहा— "चलिए, मैं आपको उनसे मिला दूँ। वे अकसर हमारे स्टूडियो में आया करते है। देखिए, वे सामने बैठ हैं। उनके साथ बैठकर काफी पीने का आनन्द भी दुगुना हो जायगा। साथ ही एक पाकिस्तानी और एक हिन्दुस्तानी को एक ही टेबल पर लाने में मुझे खुशी होगी।"

निश्चय ही तरुणी के अन्तिम वाक्य में एक प्रकार का व्यग्य छिपा हुआ था, पर मैने उसकी तरफ ध्यान नही दिया। फ़ैज़साहब से मिलने की खुशी के मारे मैं कुछ सोच नही पाया और तुरत मैंने कहा—"यह तो बहुत अच्छी बात है, चलिए।" और, हम चल पड़े फ़ैज़साहब से मिलने। अकस्मात् मुझे उनका एक शेर याद आ गया, जिसकी अनुगूंज मेरे ख्यालों में घूम गयी। मेरे सामने फ़ैज़साहब की जिन्दगी का एक-एक धुंधला सफ़हा खुद-ब-खुद खुलने लगा। वह शेर है—

> मगर ये तल्खी ये सितम हमको गवारा,
> गम है तो मुदावाये अलम करते रहेंगे।

जब हम फ़ैज़साहब की टबल पर पहुँचे तो वे अपने एक पाकिस्तानी मित्र से बातें कर रहे थे। पहुँचते ही मेरे साथवाली महिला ने कहा—"क्या हम आपके साथ बैठकर काफी पीने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते है ?"

"अवश्य।"—फ़ैज़साहब ने कहा।

हमने सामने की खाली कुरसियो पर अपना आसन

जमाया। मेरी मेज़बान ने बातचीत शुरू करते हुए कहा—'देखिए फ़ैज़साहब, आज मैं आपकी मुलाकात एक बड़ा ही दिलचस्प हिन्दुस्तानी से कराना चाहती हूँ, जो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच दोस्ती तथा शान्ति कायम रखने की वकालत करते हैं। ये युवक अपने एक मित्र के साथ शान्ति का प्रचार करते हुए दिल्ली से पैदल लन्दन तक पहुँचे हैं।"

"ओह! इनके बार में तो मैं 'दी गार्डियन' में पढ़ चुका हूँ।"—ऐसा कहते हुए फ़ैज़साहब खड़े हो गये। हमने हाथ मिलाया और बैठ गये। मैं पसोपेश में था कि बात कहाँ से शुरू करूँ कि मेरे साथवाली अँग्रेज़ तरुणी ने कहा—'हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आपसी मसले किस तरह हल हो सकेंगे फ़ैज़साहब?'

मैं इस सवाल का कोई उत्तर देना नहीं चाहता था। मुझे उस महिला के सवाल में जिस व्यंग्य के दर्शन हो रहे थे उसमें उलझना व्यर्थ था, परन्तु फ़ैज़साहब ने उस तरुणी को समझाते हुए कहा—

"हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का मसला बहुत ही मसनूई ढंग से खड़ा किया गया है। उसके पीछे सियासी खुदगरज़ी ज्यादा है। इसलिए उनको सुलझाने में दिक्कतें पैदा हो रही हैं। अगर महदूद सियासत के नज़रिये अलग रखकर हम सोचें तो दोनों मुल्कों के बीच की समस्याएँ बड़ी आसान दिखायी देंगी।"

मैंने फ़ैज़साहब की इस बात पर अपनी रज़ामन्दी जाहिर की। यह सिलसिला समाप्त करके मैंने फ़ैज़साहब से पूछा—

"१९३६ में आपने साहित्य में एक नये आन्दोलन की बुनियाद डाली थी। क्या आप मुझे उस सम्बन्ध में कुछ बता सकेंगे?"

फ़ैज़साहब ने कहा—"बिना मकसद के लिखे हुए साहित्य को मैं ज्यादा अहमियत नहीं देता। अगर साहित्य के पीछे कोई ऊँची तहरीक न हो या कोई एक मखसूस नज़रिया न हो तो वह साहित्य पढ़नेवालों का दिलबहलाव करने के एक मामूली दायरे से आगे नहीं बढ़ सकता। १९३६ में भी, उसके बाद भी, और आज

भी मेरे यही खयाल हैं। मेरे इन्हीं ख्यालों की परछाई १९३६ के अदबी तहरीक में थी।"

फ़ैज़साहब के इन विचारों ने मेरे दिमाग़ में कुछ खलबली पैदा की। मैंने उनसे पूछा—"आप जिस आदर्श की बात करते हैं वह आदर्श यहीं सीमित घेरों में बँध जाय तो उसकी क्या हालत होगी? मेरा मतलब संकुचित सियासी घेरों से है।"

मेरी उलझन को ठीक तरह से समझते हुए वे बोले—"सियासत से घबराने की या उससे नफ़रत करने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि आज क़ौमी तथा बैनुल-कौमी जिन्दगी में सियासत दूध में चीनी की तरह घुल-मिल गयी है। मगर, यह महदूद खुदगर्ज़ी से भरी सियासत नहीं होनी चाहिए, बल्कि मुकम्मिल इनसानियत की तरक्की की सियासत होनी चाहिए। हुकूमत हासिल करने के मकसद से चलनेवाला मुकाबला तो सियासत के साथ खिलवाड़-जैसा ही है। मैं नज़रियों को किसी तनजीम के साथ जरूरी तौर पर नहीं जोड़ता, क्योंकि बहुत सी तनज़ीमें मैंने देखी हैं, जहाँ सबसे ज्यादा नज़रियात की ऊँची-ऊँची बातें कही जाती हैं, मगर वहीं पर सबसे ज्यादा उन नज़रियात का कत्ल होता है। मेरा ख्याल है कि बेमकसद लिखना या तो नामुमकिन है या फ़िज़ूल।"

फैजसाहब बहुत धीरे-धीरे अपनी बात कह रहे थे; परन्तु उनके शब्दों में बहुत वजन था। उनकी बातें जोशीली तथा तर्कपूर्ण थीं। बाहर से भोले प्रतीत होनेवाले फैज भीतर से कितने चतुर हैं, यह मैं आसानी से समझता जा रहा था। उन्होंने कुछ क्षण चुप रहकर कहा—"हम अपने अदब से भौतिक जिन्दगी के सवालात अलग नहीं कर सकते। रूहानियात, मजहब और दूसरी दुनिया के ऊँचे तसव्वुर गढ़नेवालों ने जिन्दगी के जीते-जागते सवालों को जिस तरह नजरअन्दाज किया है उस नजरअन्दाजी को खत्म करने की जिम्मेदारी आज के साहित्यकारों पर है। इस जिम्मेदारी के एहसास का आन्दोलन ही हमारी तहरीक है।"

फैज को उनके प्रशंसकों ने साहित्य-सम्राट् की पदवी दी है, इसलिए मैंने विनोद में कहा—"लेकिन, मैं साहित्य-सम्राट् से यह पूछना चाहता हूँ कि आज उर्दू साहित्य में क्या एक गत्यवरोध-जैसा नहीं पैदा हो गया है ?"

फैज ने हँसते हुए कहा—"मुझे तो ऐसा नहीं लगता।"

"क्या आप किन्हीं ऐसे तीन साहित्यकारों के नाम बता सकते हैं, जिनकी चीजें देखकर ऐसा इतमीनान हो कि आज भी उर्दू साहित्य कुछ जानदार चीजें दे रहा है ?" —मैंने पूछा।

"जरूर। आप हैदर की लिखी हुई चीजें पढ़िए, या फिर आप शौकत तथा साहिर की तसनीफात का मुताअला कीजिए। इन लोगों ने नसूरनवीसी को एक नया मोड़ दिया है तथा नावेल को एक नया रास्ता दिया है। इन दिनों कुछ चीजें सामने आयी हैं, इसलिए मुझे कतई नाउम्मीदी नहीं है।

फैज के साथ काफी पीने का यह सौभाग्य पाकर सचमुच मैं खुशी से खिल उठा था। इस मुलाकात में मुझे एक ही बात का खेद रहा कि उनकी अंग्रेज पत्नी नौस्ता एलीस के दर्शन न हो सके। श्रीमती एलीस भी बहुत अच्छा लिखती हैं।

उन दिनों फैज लन्दन में ही रह रहे थे। पाकिस्तान में कम्युनिस्ट करार देकर उन्हें अप्रतिष्ठित किया गया, उन्हें जेलों की भी हवा खानी पड़ी। मास्को में जब उनको लेनिन-शान्ति-पुरस्कार दिया गया तब तो उनपर और भी ज्यादा सन्देह किया जाने लगा। उनके नाम के साथ विद्रोही होने की बात बड़े पैमाने पर फैला दी गयी है।

फिराक़ गोरखपुरी ने फैज की मशहूर नज्म 'रकीब' की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"

उर्दू कवियों ने रकीब के बारे में बहुत कुछ लिखा है और उसे अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है, किन्तु फैज ने रकीब को जिस ढंग से देखा है वह अभूतपूर्व है। रकीब को लोग गाली देते थे, उसके भाग्य से ईर्ष्या करते थे; लेकिन प्रेमी से वह कितना निकट है, वह उसके कितना समान है तथा दोनों के हृदय एक दूसरे को कितना समझते हैं, यह व्यक्त करना फैज का ही काम था। अभूतपूर्व करुणा और संवेदना देकर रकीब की धारणा को बिलकुल नयी भाववत्ता से मण्डित करना फैज का ही हिस्सा था।

रूढ़ियों को उर्दू के सभी छोटे-बड़े कवियों ने प्रयुक्त किया है; लेकिन इनके प्रयोग या उपयोग की क्षमता उर्दू कवि की कसौटी है। आज के युग में इन शब्द-रूढ़ियों को आधुनिक सन्दर्भ देने का कार्य जितनी अधिक मात्रा और सफलता के साथ फैज ने किया है, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। कहने की जरूरत नहीं कि इनके लिए आधुनिक बोध और उर्दू काव्य-परम्परा का सम्यक् ज्ञान तथा ऊँची कवित्व शक्ति की आवश्यकता है।

काफी के प्याले खाली हो चुके थे। हमने इस बातचीत को यहीं समाप्त करने का फैसला किया। फैज को कहीं दूसरी जगह जाना था। हम विदा हुए और मैं उनका यह शेर दुहराता बी० बी० सी० भवन से ट्रफालगर स्क्वायर की ओर चल पड़ा—

बर्क सौ बार गिर के खाक हुई,
रवनके खाके आशियाँ है वही। ●

ग्राम-विकास

की

नयी तसवीर

○

शालिग्राम 'पथिक'

● ग्रामसेवा नाम का, जो काम आज तक चला है वह तो केवल एक अनाथाश्रम या पिंजरापोल-जैसी ही चीज है। गांधी की बातें लोगों ने पढ़ीं। टैगोर को सब जानते हैं। यूनान, मिस्र, रोम मिटे। क्यों मिटे, यह भी किसी से छिपा नहीं। फिर भी देश की बड़ी-से-बड़ी आँखों पर मैकाले महाराज की तालीम का इतना गहरा रंग है कि कोई भी कभी राष्ट्रपिता की ओर देखता तक नहीं।

● ग्रामसेवा का समूचा काम आज जिन तरीकों से हो रहा है—चाहे वे सरकारी हों या गैर सरकारी, वे सब अपंग, अधूरे और बहुत ही सीमित साबित हुए हैं। आज का युग है—आटोमोबाइल (?) युग। ग्राम-सेवा के काम में भी इसी 'आटोमोबाइल' प्रिंसिपल का प्रादुर्भाव होना अत्यन्त आवश्यक है। वह होगा 'एण्टी-मेकाले शिक्षापद्धति' (?)।

● हमारे ग्रामीण विद्यालय होने चाहिए—योजना-भवन गांव का हर एक घर, हर एक परिवार की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक योजना हमारे स्कूलों की 'मूल प्रवृत्ति' हो। शिक्षक-परिवार का जीवन-मान और उसका सांस्कृतिक स्तर 'ऊँचा-से-ऊँचा' असम्भव भी सम्भव हो, यही हो रियल डिमांस्ट्रेशन (आर डी) का नया अर्थ। स्कूल-द्वारा उसी का हो एक्सटेंशन (प्रसार)। अब गांवों में ग्रामसेवक रखने का रिवाज खत्म हो जाय और स्कूल हो असली 'ग्रामयोजक', स्कूल हो असली ग्रामसेवक। वानर-सेना से लंका-विजय का नया बड़ा प्रयत्न!

● अब गांव के 'इलिट' (बुद्धिशाली) होने चाहिए ग्राम-शिक्षक। गांव के 'एक्सटेंशन आफिसर' (प्रसार-सेवा-अधिकारी) हों शिक्षक। गांव-योजना-आयोग के चेयरमैन (अध्यक्ष) हों ग्राम-गुरु और ग्राम-शिक्षा का मूल उद्योग हो ग्राम-योजन।

● गांव के हर एक परिवार को 'बिना शोषण एक हजार रुपया महीना किस तरह कमवाया जा सकता है, इसकी खोज और इसका अध्ययन, समूची योजना का लक्ष्य हो।

● हर एक घर में आनन्द, हर एक घर में योगासन, हर एक घर में मनमानी कला, सौन्दर्य और फूल, हर एक घर में अधिक-से-अधिक श्रद्धा, सदाचार और समाज-सेवा की होड—ऐसी हो तफसील हमारे इस नये 'बुनियादी उद्योग' की।

● हर एक गांव के हर एक स्कूल का हर छात्र अच्छा-से-अच्छा 'इनलाइटेंड अनारकिस्ट' होने की तालीम-व-तरबियत पाये और उसके द्वारा गांव-सभा 'डाइरेक्ट डिमोक्रेसी' (प्रत्यक्ष लोकतंत्र) की जीती-जागती, कदम-कदम आगे बढ़ती मिसाल बन जाये।

यह एक बड़ा-से-बड़ा 'चैलेंज' (चुनौती) और बड़ी-से-बड़ी 'अपरचुनिटी' (सुअवसर) आज इस भारत को हासिल है। इस नयी सृष्टि के 'नये प्रजापति' तैयार करना ही है नयी तालीम। और, यही हुआ ग्राम-सेवा का अन्तिम स्वरूप। यही हुआ पंचायतीराज प्रशिक्षण की आखिरी तदबीर। इसी में से उदय होगा सही-सही अर्थ में 'को-आपरेटिव' (सहकारिता) भी, 'कामन वेल्थ' (सार्वजनिक सम्पत्ति) भी।

"यूगोस्लेविया देश के ४५०० प्राइमरी ग्रामीण स्कूलों के छात्रों ने अपने-अपने गांवों के जीवन को दूध और मधु से भरपूर बना दिया है। मनमाने फलफूल, तरकारियों के ढेर, जो पहले कभी इस पूरे देश में हुए नहीं। असम्भव सम्भव!"

यह रही हमारी इस समूची परिकल्पना की एक जीती नजीर। ग्राम निर्माण और ग्राम-विकास की एकदम नयी तसवीर।

●

बच्चों की चाह कुछ, बड़ों की राह कुछ

•

क्रान्तिवाला

थामणा (गुजरात) का बालमंदिर ३० जून को शुरू हो सका। यह गाँव श्री बबल भाई मेहता की प्रयोग-भूमि रहा है। अत अशिक्षित कहा जानेवाला वर्ग भी बालमंदिर की महत्ता को समझता है।
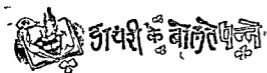
लगभग साढ़े तीन हजार की आबादी का मुख्य रूप से पाटीदारो का गाँव, हरिजनो खिस्तियो की भी बस्तियाँ, लेकिन विरल, शिक्षित लोग अधिक, करीब-करीब समान आकाक्षावाले, आगे बढ़ने की हविस, ऊँचे उठने की उमग। इसीलिए जब लोगो ने सुना कि बच्चा को लाने, पहुँचाने, बालमंदिर में झाड़ू लगाने, नाश्ता के बाद बरतन साफ करने, महीने के प्रारम्भ में फीस उगाहने के लिए टेडागर बाई (दाई) नही रखी जायगी तो यह चर्चा उठी—"आखिर, यह सब कौन करेगा ?" आश्चर्य मिश्रित चिन्ता प्रकट की गयी।

बच्चे जबतक अकेले आने-जाने न लगें, घर के बडे-बूढे उन्हें बालमंदिर पहुँचायेंगे, शिक्षक और बच्चे मिलकर झाड़ू लगायेंगे, बरतन साफ करेंगे, ऐसा तय हुआ।

उक्त बातो से उच्च और सभ्य कहे जानेवाले पटेल वर्ग में खलबली मची। लोगो ने नये सिरे से सोचना शुरू किया। आखिर, ८-१० बच्चो से ही बालमन्दिर की शुरुआत हुई। सुबह ४ घण्टे का बालमंदिर, शाम को ३ घण्टे परिवार-सम्पर्क, और रात को दो घण्टे पडोसियों से गप, ऐसा एक नियमित कार्यक्रम सा बन गया। परिवार-सम्पर्क और गप का असर तत्काल बालमंदिर की उपस्थिति पर पडा। जल्द ही सख्या २० तक पहुँच गयी। सख्या बढी उसके साथ ही दबे सवाल भी उभर आये।

प्रारम्भ में हमने आधुनिक तडक भडक के उपासकों की माँग के अनुसार बालमन्दिर का वातावरण बना रहने दिया। शान्ति और व्यवस्था के नाम पर निर्मित अपरिचित प्रवृत्तियाँ और कृत्रिम वातावरण नये आनेवाले बच्चो को आकृष्ट नही करता, बल्कि उन्हें घबरा देता है। वे अपने को कैद समझकर चिल्ला उठते हैं और उनमें भी मध्यम वर्ग के बच्चे तो मजदूर वर्ग के बच्चो की तुलना में अपने को बिलकुल असहाय महसूस करने लगते हैं। घरेलू प्रवृत्तियाँ और सहज वातावरण हो, तो इतनी घबराहट न हो, पर लोगो को इस विचार तक लाने में भी समय लगेगा न! असहाय केवल मानसिक दृष्टि से ही नही, माँ, दादी, बहन और भाई की गोद से छूटकर तो वे शारीरिक दृष्टि से भी पगु नजर आते हैं।

खेल या दौड में शरीक होंगे, या सीढ़ियो पर चढ रहे होंगे, तो सहमे-सहमे, डरे-डरे उनके कदम बढेंगे। प्रकृति प्रदत्त शक्तियो की अभिव्यक्ति से वंचित रखनेवाला पारिवारिक वातावरण और शाला या शिक्षण उन्हें एकदम असमर्थ बना देता है और वे विवश होने

है—एकमात्र पैसे को अपनी जिन्दगी का आधार बनाने के लिए। उनके बच्चों की आँखों में भी निरीह वैभव का वह विभत्स रूप झाँक-झाँक उठता है।

मजदूरों के बच्चे क्रियाशील अधिक होते हैं। तूफानी और शरारती बच्चे भी शाला में चहकते रहते हैं। हठी और लाडले बच्चे शान्त और सुशील जरूर दिखाई देते हैं लेकिन प्रसंग भण्डाफोड़ कर देता है। वास्तव में ये ही जटिल समस्या हैं। वे एक वस्तु या व्यक्ति से चिपटे रहते हैं, पर ये शरारती? इनका चित्त तो सतत गतिमय रहता है, हर क्षण नयी वस्तु तथा घटना के स्वागत के लिए खुले दिमाग नजर आते हैं। एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी प्रवृत्ति की ओर बढ़ना ही उनका स्वभाव होता है।

स्वभाव का यह उतावलापन शिक्षण के अभाव में उतावलापन बन जाता है। बालकृष्ण और शैलेश शोशिया में पानी भरते समय भूल ही जाते हैं कि पानी अन्दर भर रहा है या बाहर गिर रहा है। चक्की चलाते समय अनाज उसके मध्य में ही पड़ना चाहिए, इसकी अनिवार्यता पीयूष और पक्षा नहीं महसूस कर पाते। वर्षा और नयना के पौधे सदैव सूखे ही रह जाते हैं, उनकी फ्राक ही भीगा करती है। बस, एक ही चीज चलती रहती है—क्रिया क्रिया क्रिया!

क्रिया में सुघड़ता और क्रमबद्धता की ओर ध्यान जाना ही स्थिरता है। किसने कितनी देर क्या किया, यह गौण है, जो किया वह सही ढंग से किया, यह मुख्य है।

स्नायुओं पर ज्यों-ज्यों बच्चों का काबू बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों उनका चित्त स्वयमेव प्रवृत्तियों के साथ एकरूप होता जा रहा है।

कुछ बच्चे परिवार के वियोग में सदैव रोते ही रहते हैं। उनका वर्ग ही अलग कर देना ठीक लगा, क्योंकि उनका रुदन हँसते-खेलते बच्चों को भी प्रभावित कर लेता है।

अलग होने पर भी ये बच्चे रोते अवश्य हैं, पर उनकी निगाहें चक्की से निकल रहे चावल, चलनी से गिर रहे आटे, शीशी में भर रहे पानी और ऐसी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों पर टिकी होती हैं। कुतूहल-मिश्रित आनन्द का एक भाव उनकी आँखों में झलकता है। अवतक चाहे जैसे भी हो, उनकी रुलाई बन्द कराने के प्रयास में हम अपनी ही बात कहते रहते थे, न तो हम बच्चों के मन पढ़ते थे और न वे चुप होते थे। वर्ग अलग करने से इसकी स्पष्ट अनुभूति हुई।

हमने नोट किया—रामचन्द्र के स्वर में धीमापन है पानी भरी बाल्टी और बोतलें देखकर, अमरेश का मन खिंच उठता है चीया की टोकरी की ओर, किरीट को आकृष्ट करती है चित्रपोथी, महेश और राजेश की निगाहें बरबस अटक जाती हैं कुदाल और खुरपी पर। आँख और कान इस व्यापार में लगे हैं, पर रोना चालू है। साधना और प्रवृत्तियों को ही बच्चों के पास ला दिया, बिना एक भी शब्द कहे। दूसरे बच्चों की तरह ये भी प्रवृत्तियों में लग गये। फिर तो थोड़ी ही देर में रोना भूल गये और हठात् क्रियाशील हो गये।

उपेक्षा भी उतनी ही अनिवार्य है जितना कि प्रोत्साहन, लेकिन उपेक्षा किसकी? बालकों की? नहीं, उनकी रुलाई की। रोते बालकों का अवलोकन तो उसी तरह अनिवार्य है, जिस तरह हँसते-खेलते बच्चों का।

बालक के अन्दर—जो है, उसे दबाया नहीं जा सकता। वह तो प्रकट होना ही चाहता है। उसे सहज रूप में होने ही देना चाहिए। बस, अभिव्यक्ति के लिए अनुकूलताएँ चाहिए, और सहानुभूति इसकी पहली और सर्वाधिक महत्त्व की शर्त है। ●

बच्चों में वैज्ञानिक वृत्ति

लाने की

पूर्व तैयारी

•

रुद्रभान

विज्ञान की तालीम का मतलब विज्ञान पढना नही, बल्कि विज्ञान जानना है। इसके लिए एक खास ढग की दिमागी तैयारी की जरूरत होती है। बच्चो के भीतर वह दिमागी तैयारी कैसे पनपे-बढ़े और उसकी दिलचस्पी गहरी होती जाय, इसके लिए कुछ घरेलू और आसान किस्म के प्रयोग आगे दिये जा रहे है। ये मामूली-से लगनेवाले प्रयोग दरअसल दिमाग को वैज्ञानिक वृत्ति (साइंटिफिक नजरियात) के अपनाने में मदद पहुचायेंगे।

बच्चे कुदरत और उसके नियमो को पहचानें, दिनादिन उनकी जिज्ञासा बढे, इन प्रयोगो के पीछे यही मकसद है। जैसे बच्चे छुरी की धार रगडकर तेज करते हैं वैसे ही वे अपने कुदरती कुतूहल या जिज्ञासा को भी तेज करते जायें, यह निहायत जरूरी है। इसके अभाव में विज्ञान की कुल पढ़ाई एक रूखी-सूखी जानकारी भर रह जाती है जिसका बच्चे के नजरिये और जिन्दगी पर कोई छाप नही पडती।

शिक्षको, बाल-सेविकाओ और पालको को इस सम्बन्ध में एक खास बात यह ध्यान में रखने की है कि कुदरत की छिटपुट जानकारी बच्चो में कुछ कुतूहल और आश्चर्य की भावना जरूर पैदा करती है, लेकिन उतने से उनका वैज्ञानिक नजरिया नही बनता। इसके लिए बच्चो में कुदरत के नियमो को समझने-परखने की कूवत आनी चाहिए। यह कूवत अपने-आप नही आती। इसके लिए कुछ कसरत यानी प्रेक्षण (आब्जर्वेशन) और प्रयोग का मौका जरूरी है। जबतक बच्चो को इसका भरपूर मौका नही मिलेगा तबतक उन्हें विज्ञान को गहराई से समझने की सिफत नही हासिल हो सकेगी।

पहला अभ्यास

श्यामपाट या फर्श पर कुछ बराबर दूरीवाली लाइनें नीचे दिये ढग से खींची जायें।
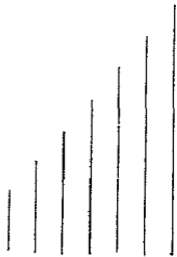
बच्चो को ये लाइनें दिखाकर उनसे पूछा जाय कि इन लाइनो को बायें से दायें या दायें से बायें देखें तो क्या फर्क दिखायी पड़ता है। इनमें एक-दूसरे के बीच कितनी दूरी है और वह कैसी है। इसे समझाने के लिए नीचे बताये गये ढग से दो किस्म की लकीरें खीचकर दिखायी जायें, जिनमें एक में रेखाएँ असमान दूरी पर और दूसरे की समानान्तर है—

- बच्चो से कहा जाय कि वे अपने देखे हुए पेड़-पौधों का नाम उनकी बढ़ती हुई ऊँचाई के हिसाब से लिखें ।

- इसी तरह उनसे कहा जाय कि वे कीट-पतंगो, चिड़िया और जानवरो के भी नाम तीन हिस्सो में लिखें। वे अपने दर्जे के बच्चो के नाम भी उनकी ऊँचाई के क्रमानुसार लिखें।

अभ्यास की पुष्टि

- बच्चा से कहा जाय कि वे अपनी कापी या जमीन पर खाका नम्बर एक और दो खुद बनायें।

- बच्चों को कई लम्बाइयो की रस्सी, बड़े तार या लकड़ी के टुकड़े देकर उन्हें क्रमानुसार रखने को कहा जाय ।

दूसरा अभ्यास

- बच्चों को कंकड़-पत्थर के कुछ टुकड़े देकर उनसे कहा जाय कि वे उसे उनके आकार के हिसाब से पहले दो और इसके बाद क्रमश तीन, चार, पाँच, छ या जितनी हो सके उतनी ढेरियो में अलग रखें ।

- इसी तरह अलग-अलग अनाज के दाने, इमली के बीज और पीठे को देकर अलग-अलग आकार के हिसाब से ढेरियाँ लगाने को कहा जाय ।

- कंकड़ बालू और मिट्टी को मिलाकर और फिर उसे हिला हिलाकर अलग करने को कहा जाय ।

- उन्हें समझाया जाय कि कैसे कई अनाजो, सूखे फल और मसालो को मिलाकर फिर अलग किया जाता है ।

अभ्यास की पुष्टि

- हर एक बच्चे को एक थाली या कोई बड़ा पत्ता और अन्दाजन बीस की संख्या में बटन या किसी चीज के बीज देकर कहा जाय कि वे उन्हें आकार के क्रम से कम-से-कम ४ हिस्सों में छाँटकर उनसे अपनी पसन्द की डिजाइन बनायें। बच्चे जितनी देरतक और जितनी किस्म की डिजाइन बना सकें, बनाने देना चाहिए।

- बच्चो से कहा जाय कि वे अपने हाथ, पैर या चेहरे के छोटे से बड़े हिस्सो का नाम बतायें या लिखें।

- बच्चा से कहा जाय कि वे अपने घर, परिवार या पास-पड़ोस में होनेवाले उन कामो या धंधो को बतायें, जिनमें छोटी छोटी चीजो को जोड़कर, मिलाकर नयी चीजें बनायी जाती हैं—जैसे खाना पकाना, सीना पिरोना, मकान बनाना इत्यादि ।

तीसरा अभ्यास

बच्चो को थाली या पत्तल पर रखकर कई मिली-जुली चीजें दी जायें, जैसे—कंकड़-पत्थर के टुकड़े, पत्तियाँ, किस्म किस्म के बीज, बटन, मिट्टी, पथरी या चीनी मिट्टी के टूटे बरतन आदि। उनसे कहा जाय कि वे—

- कंकड़-पत्थर के टुकड़ो को, गोल, तिकोने, चिपटे या नुकीलेपन के हिसाब से छाँटकर अलग करें।
- पत्तियो को उनकी गोलाई और लम्बाई के आकार में अलग-अलग छाटे ।
- बरतन के टुकड़ों को अर्द्ध गोलाई, गोलाई, चौकोर या कई कोनेवाले आकार की ढेरी में अलग करें।

- बच्चे अपनी कापी या बालूवाली जमीन पर ऐसे आकार बनायें, जो एक-दूसरे से अलग किस्म के हों। बाद में वे उनमें से कुछ आकारों को एकसाथ मिला-कर कुछ नयी डिजाइनें बनायें।

- तार के कुछ टुकडे लेकर उनके जरिये भी अपनी पसन्द की डिजाइनें बनायें।

- बच्चे दफ्ती, कागज, या टिन को काटकर अपनी पसन्द के मुताबिक डिजाइनें बनायें। वे एक तरह के दो-दो, तीन-तीन या चार-चार नमूने बनायें।

- किसी अखबार, पत्रिका या कैलेण्डर में छपे चित्र को लेकर उसके अलग-अलग आकार —जैसे, तिकोना, चौकोर, टेढ़ा-मेढ़ा, चन्द्राकार—के टुकडे काट दिये जायें। उन्हें एक में मिला दिया जाय और बच्चो से कहा जाय कि वे उन्हें जोडकर फिर से पूरा चित्र तैयार करें।
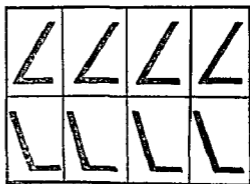
चौथा अभ्यास

कागज के एक टुकडे पर बिन्दु से बननेवाली कुछ आसान डिजाइनें ली जायें और उन्हें दो, तीन और चार के क्रम में कई प्रकार से दिखाया जाय।

अभ्यास की पुष्टि

- बच्चे अपनी-अपनी स्लेट पर बिन्दुओ से अपनी पसन्द की नयी डिजाइनें बनायें, जो दिखाये गये नमूनो से मिलती-जुलती हो।

- दफ्ती के टुकडो पर रंगीन कागज की छोटी-छोटी चिप्पियाँ काटकर डिजाइनो के लिहाज से चिप-कायी जायें। बच्चे एक से लेकर ८ या १० तक चिप्पियाँ आसानी से चिपका सकते हैं।

- जिन बच्चों को दो-तीन अदद की सख्याओ का ज्ञान हो चुका हो वे रंगीन बटन या प्लास्टिक के मोती सख्या के अनुसार अलग-अलग ढेरियो में रखें।

- श्यामपाट या फर्श पर गणित की सख्या या ज्यामिति की विभिन्न आकृतियाँ बना दी जायें और बच्चे उनके अनुसार रंगीन बटनो और मोतियो को सजायें।

१ २ ४ ८ १६ ३२ ६४

१ ३ ५ ७ ९ ११ १३

यह जरूरी नही है कि हर एक अध्यापक या पालक हूबहू वही सिलसिला अपनायें, जो ऊपर दिया गया है। अपनी सूझ-बूझ या बच्चो की स्थिति देखते हुए वे हेरफेर भी कर सकते हैं।

सीख-सबक के ये माध्यम !

•

नीरजा

सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेत् चत्वारि कुक्कुटात् ।
वायसात् पंच शिक्षेच्च षट्शुनस्त्रीणि गर्दभात् ॥

नीति शास्त्र के महा पण्डित आचार्य चाणक्य का है यह श्लोक, जो इतिहास के निर्माता हो चुके हैं। जिनके एक संकेत पर राज्यों की सीमाएँ बन और बिगड़ चुकी हैं। बड़े-से-बड़ा नरेश जिनकी विद्वत्ता और कूटनीति का लोहा मानता था और शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त करना अपने लिए सौभाग्य की बात समझता था।

- आचार्य ने ऊपर के श्लोक में बताया है कि मनुष्य को चाहे छोटा कार्य करना हो या बड़ा, उसे सम्पूर्ण निष्ठा और लगन से करना चाहिए। यह सीख हमें सिंह से लेनी चाहिए।
- देश, काल और अपनी शक्ति का सही-सही मूल्यांकन करने के बाद ही तन्मयतापूर्वक अपने प्रयास में जुटना चाहिए। फिर सफलता तो स्वयं चरणों पर लोटेगी। मनुष्य को यह सीख बगुले से लेनी चाहिए।
- मुर्गे में चार गुण होते हैं—
  १ नियमित समय से उठना,
  २ प्रतिद्वन्द्वी का डटकर मुकाबला करना,
  ३ भोजन-सामग्री का उपयोग बन्धु-बान्धवों के साथ हिल-मिलकर करना, और
  ४ स्वयं परिश्रम-द्वारा अर्जित वस्तु का ही उपयोग करना।

इन चारों बातों की सीख मुर्गे से लेनी चाहिए।

- कौवे में चार गुण होते हैं—
  १ एकान्त में सुरत करना,
  २ यों ही किसी का विश्वास न करना,
  ३ सदैव सावधान रहना,
  ४ धैर्य-धारण, और
  ५ सुअवसर देखकर ही संग्रह करना।

इन पाँचों बातों की सीख कौवे से लेनी चाहिए।

- गधे में तीन गुण होते हैं—
  १ थक जाने पर भी बिना किसी चूँ-चरा के बोझ ढोते रहना,
  २ सरदी-गरमी की बिना परवाह किये अनवरत काम में जुटे रहना, और
  ३ हर हालत में सन्तुष्ट रहना।

ये तीन बातें मनुष्य को गधे से सीखनी चाहिए।

- कुत्ते में छः गुण होते हैं—
  १ खूब भर पेट खाना,
  २ थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जाना,
  ३ अच्छी नींद लेना, लेकिन उसमें पूर्णतया जाग रूक रहना,
  ४ स्वामि भक्ति, और
  ५ शूरता।

ये पाँच बातें मनुष्य को कुत्ते से सीखनी चाहिए।

इस प्रकार आचार्य की मान्यता है कि पाठशाला में कुछ अक्षरों को सीख लेना ही शिक्षा नहीं है, बल्कि सच्ची-शिक्षा तो वह है, जो मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से बचाये। जहाँ भी अच्छी चीज मिले, उसे सीखना ही शिक्षित का लक्षण है। उनका कहना है कि मनुष्य को पशु-पक्षियों तथा छोटे बच्चों से भी सीख-सबक लेना चाहिए। ●

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया

●

जमनालाल जैन

साधना केन्द्र काशी में श्री दादा धर्माधिकारी ने अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया पर जनवरी-फरवरी'६० में लगातार एक माह तक भिन्न भिन्न पहलुओ से अपने विचार प्रस्तुत किये थे। अहिंसा के विकास क्रम को तथा विश्व की बहुमुखी परिस्थितियो में अहिंसक क्रान्ति और उसकी प्रक्रिया को समझने-समझाने का प्रयास विश्व के विचारको ने किया है। हजारो वर्षों के काल-प्रवाह में अहिंसा-विषयक चिन्तन कहाँतक पहुँचा है, और उसने अनेक-अनेक समाजो तथा राष्ट्रो को कितनी गति दी है, इसे दादा ने बडे ही सरस और ज्ञानवर्धकरूप में प्रस्तुत किया है।

'अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया' ग्रन्थ का यह दूसरा सस्करण है। यह सशोधित और परिमार्जित रूप में प्रकाशित हो रहा है। दादा ने स्वय इसमें अनेक उपयोगी सुधार किये हैं।

ग्रन्थ के अन्त में चार प्रकार की शब्द सूचियाँ भी जोडी गयी हैं—

- प्रमुख शब्दो की सूची
- प्रमुख व्यक्तियो की सूची,
- ग्रन्थो की सूची, और
- अँग्रेजी शब्दो की सूची।

दादा की अपनी एक अनोखी अनुभूति है और उसे वे ऐसे शब्दा तथा शैली में व्यक्त करते हैं, जो मौलिक होती है। अनुभूतिपूर्ण मौलिक और वजनदार शब्दो से विचार समृद्ध होते हैं। व्यक्तिया की सूची में ग्रन्थकारो का और ऐसे मनीषियो का उल्लेख है, जिनका अहिंसा की दिशा में विश्व को कुछ-न-कुछ देन है। ग्रन्थकारो के ग्रन्थो की सूची भी साथ-साथ दी गयी है। दादा ने इनका जो उपयोग अपनी रचना में किया है, उसकी एक विशिष्ट छाप मन पर पडती है। दादा ने कुछ अँग्रेजी शब्दो का भी प्रयोग किया है। इन शब्दो को समझना विचार-समृद्धि में बडा उपयोगी होगा। दादा ने, इन अँग्रेजी शब्दो के जो हिन्दी अर्थ बताये हैं, वे हिन्दी भाषा की श्री-वृद्धि करते है।

इस प्रकार अब यह ग्रन्थ अहिंसक क्रान्ति का सन्दर्भ-ग्रन्थ बन गया है।

आशा है, अध्ययनशील पाठको तथा शिक्षण-सस्थानो में इस ग्रन्थ का यथेष्ट स्वागत होगा।

सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य है मात्र ५.००, और अजिल्द ४.००।

यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–१ से।

●

अनुक्रम

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तक की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

बच्चो की कला म सहजता का प्राधान्य होता है। उनकी कल्पनाआ पर अस्वाभाविकता का दबाव नही रहता। व यश प्राप्ति क बाझ स भी मुक्त होते है। बशर्तेकि बच्चो की कला का मूल्याकन करने की हमारी क्षमता हो। ३ वप स १५ वप तक का उम्र के बच्चो-द्वारा बनाये गय ६६ चित्रो को सामने रखकर इस पुस्तक मे एक कलाकार ने बच्चो की कला का अध्ययन और मूल्याकन प्रस्तुत किया है।
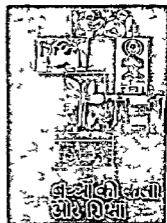
शान्तिनिकेतन के सुप्रसिद्ध कलाविद विनोदबिहारी मुखोपाध्याय लिखत है—"बच्चो की कला के विषय का सब समस्याओ—दाशनिक, मनोवैज्ञानिक और सौन्दयबोध के पहलुओ के बारे म, जो चर्चा इसमे की गया है, जितना मेरा ज्ञान है, वह दशी भाषाओ मे अभी तक नही हुई है।"

डा० जाकिर हुसैन लिखते हैं—"एक पुराने थक हुए शिक्षक होने के कारण मुझे फख है कि एक हिन्दुस्तानी शिक्षक ने ऐसी सुन्दर, ऐसी रोशनी देने-वाली, ऐसी दिल को गरम करनेवाली किताब अपने साथियो के लिए लिखी।"

लब्धप्रतिष्ठ कलाकार नन्दलाल बसु लिखते है—"इस पुस्तक के द्वारा कलाकार और साधारण लोगो का प्रभूत उपकार होगा।"

सव-सेवा-सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी द्वारा प्रकाशित २०४ पृष्ठो एव ६६ बालचित्रोवाली इस पुस्तक का मूल्य है मात्र आठ रुपये।

—सतीशकुमार

लाइसेंस नं० ४६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भजने की अनुमति प्राप्त
दिसम्बर '६५ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

बापू के सपने

"बहुत खुश नजर आ रही हो प्रतिभा, बात क्या है।"

"हाँ पिताजी, यह तो बताइए कि देश की सबसे बड़ी आवश्यकता अन्नोत्पादन की है न ?"

"हा, है तो।"

"और इसमे बच्चो को भी लगना चाहिए न ?"

"यह भी ठीक।"

"तो पिताजी, आज हम सभी बच्चे उत्पदान बढाने का सकल्प लेगे। हर बच्चा एक-एक पौधा लगायेगा। पूरी जिम्मेदारी होगी उसकी। सीचना, गोडना, खाद देना तथा उसकी सुरक्षा, सबकुछ वही करेगा। देखते-ही-देखते हम बच्चो के एकसाथ कितने ही पोधे लहरा उठेंगे पिताजी।"

"लेकिन, यह सोडा-वाटरी जोश टिकेगा कबतक ?'

"हमेशा। अब तो हम लोगो को खेती के काम के लिए छुट्टियाँ भी हुआ करेंगी। और, अन्नोत्पादन का कुछ-न-कुछ काम करना हम सभी के लिए अनिवार्य होगा।"

'अगर ऐसा हो जाय तो निश्चय ही बापू के सपने साकार हो उठेंगे। हमारा देश अन्नोत्पादन ही नही, हर दिशा में स्वावलम्बी हो जायगा।"

—शिरीष

आवरण-मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७,१०० इस मास छपी प्रतियाँ २७,१००

सर्व-सेवा-सघ की मासिकी

•

प्रधान सम्पादक : धीरेन्द्र मजूमदार

आचार्य काका कालेलकर साहब एक मनीषी हैं, जिन्होंने अपने मौलिक चिन्तन, विद्वत्ता तथा विविध रचनात्मक प्रवृत्तियों-द्वारा भारतीय संस्कृति और लोक-जीवन को समृद्ध किया है।

हमारा अध्यात्म, हमारी वेदान्त-विद्या विश्व-समन्वय के लिए शुरू से अनुकूल है; किन्तु हमारे समाज-विज्ञान, वर्ण और जाति-व्यवस्था में यह अध्यात्म-निष्ठा नहीं पायी जाती। हमारी समाज-व्यवस्था में उच्चता का अभिमान, उपेक्षितों के प्रति तिरस्कार और एकांगिता के आग्रह नहीं आते, यदि हमारी अध्यात्म-निष्ठा सम्पूर्ण और गहरी होती। विश्वात्मैक्य के बिना हमें सन्तोष नहीं होना चाहिए। सबका स्वीकार, सबके साथ आत्मीयता और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति देखने की दृष्टि, यही होगी भविष्य की संस्कृति की बुनियाद। हमारी बुनियादी शिक्षा को इसी बुनियाद को मजबूत करना है।

दिवंगत प्रिय प्रधान मंत्री

कौन मानना चाहता है कि शास्त्रीजी नहीं रहे ! फिर भी वे हैं नहीं। कौन कह सकता था कि लालबहादुर शास्त्री कभी विश्व के वृहत्तम लोकतंत्र के प्रधान मंत्री होंगे ? फिर भी वे हुए।

अगर नहीं हुए होते तो भारतीय लोकतंत्र 'वृहत्तम' के साथ-साथ 'महानतम' भी कैसे बनता ? लोकतंत्र का मूल तत्त्व लोक-प्रतिष्ठा है। लालबहादुरजी-जैसे अत्यन्त सामान्य व्यक्ति का प्रधान मंत्री होना ही इस बात को साबित करता है कि भारत केवल वृहत्तम लोकतंत्र ही नहीं है; बल्कि महानतम भी है। और, शास्त्रीजी अपनी दृष्टि, वृत्ति और कृति-द्वारा इसे साबित भी कर गये।

यह सही है कि शास्त्रीजी के अकस्मात् निधन से पूरा देश स्तब्ध है। लेकिन, प्रथम शोक की समाप्ति पर मुल्क को उनके चले जाने के प्रकार के इंगित को भी समझना होगा–समझना होगा कि वे क्या संकेत करके गये।

उनका संकेत ताशकंद-समझौता है। वही मुल्क के लिए उनका आखिरी सन्देश है।

१८ माह की छोटी-सी अवधि में वे जिस प्रकार मुल्क के नेताओं तथा जनता के दिल में घर कर गये थे उस दृष्टि से पूरा देश एक होकर उनके इस आखिरी सन्देश को पूरा करने में जुट जायगा, ऐसी आशा है। यही होगी अपने प्रिय नेता के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि।

शिक्षा बदले : समस्या सुलझे

देश जब आजाद हुआ तो उत्तर प्रदेश के सन्त बाबा राघवदास ने कहा था कि भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अनाज से खेली जायेगी। यह कहकर उन्होंने प्रदेश में व्यापक पैमाने पर 'तालाब-खोदाई'-आन्दोलन चलाया था।

पंचवर्षीय योजना-आयोग के प्रारम्भ में ही विनोबाजी ने सदस्यों से कहा था कि सारी योजना अगर कृषिमूलक नहीं होगी तो देश भूखा रहेगा। इस देश का यह दुर्भाग्य था कि नेता सन्तों की बातों को किनारे टालकर योरप के ढाँचे में देश को ढालने के प्रयत्न में लग गये।

लेकिन, देर से ही सही, अगर नेता यह समझ गये हैं कि मुल्क की सुरक्षा तथा अस्तित्व अनाज पर है तो उन्हें मुल्क की अर्थनीति तथा शिक्षानीति कृषि के आधार पर ही सगठित करनी होगी। इस दृष्टि से उत्तर प्रदेशीय सरकार की यह योजना कि प्रदेश का हर विद्यार्थी अनाज का कम-से-कम एक पौधा लगाये, शुभ चिह्न है, लेकिन यह शुभ चिह्न मात्र ही है। इस प्रक्रिया से लोगों के मानस को अन्न-उत्पादन की अहमियत की ओर आकृष्ट किया जा सकता है लेकिन इससे अन्न-समस्या का हल नहीं निकाला जा सकता।

अभी सोचा जा रहा है कि हर विद्यार्थी हायर सेकेण्डरी की शिक्षा समाप्त करने के बाद और स्नातक कक्षाओं में प्रवेश के पूर्व एक वर्ष तक फौजी शिक्षण के साथ समाज-सेवा और सामान्य ज्ञान की शिक्षा अनिवार्यतः प्राप्त करे। अगर सुरक्षा की दृष्टि से सरकार यह समझती है कि जवान और किसान का महत्व समान है तो यह कानून क्यों नहीं बन सकता कि अमुक परीक्षा के बाद हर विद्यार्थी को खेत में काम करना पड़ेगा।

आपत्ति-काल में उसी काम के लिए अनिवार्यता का कानून बनाया जाता है जिस काम के लिए लोगों की रुचि नहीं होती। क्या पढ़े-लिखे नौजवानों में फौज में काम करने से अधिक रुचि खेत में काम करने के लिए मौजूद है? फौज में काम करना ऐच्छिक होने पर भी शिक्षित युवक और युवतियाँ उसमें शामिल होंगी, लेकिन ऐच्छिक होने पर किसान के लड़के भी खेत में काम करना नहीं चाहेंगे। ऐसी हालत में अनिवार्यता का कानून अगर बनाता है तो खेती के लिए बनाना चाहिए, न कि फौजी शिक्षा के लिए।

हर विद्यार्थी खेती का काम कर सके, इसकी योजना भी कृषि की आवश्यकता के आधार पर बनानी होगी। अगर सरकार और शिक्षाशास्त्री यह कबूल नहीं कर पा रहे हैं कि उत्पादन के माध्यम से ही शिक्षण पद्धति बनानी है, तब भी आज की परिस्थिति में इतना तो करना ही होगा कि साल में चार बार दो बार फसल की बोआई और दो बार कटाई के समय शिक्षण संस्थाओं का हर विद्यार्थी किसानों के साथ पूरा समय उत्पादन-प्रक्रिया में शामिल रहे, और यह कार्यक्रम शिक्षा के अभ्यासक्रम में शामिल होना चाहिए। जबतक ऐसा नहीं होगा तबतक देश की खाद्य-समस्या का समाधान नहीं हो सकता। केवल प्रतीक के रूप में एक एक पौधा लगाने से समस्या का समाधान नहीं होनेवाला है।

मुझे आशा है, सरकार तथा नेता इस अत्यन्त आवश्यक प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

—धीरेन्द्र मजूमदार

लोकतांत्रिक समाजवाद : शिक्षा और तीन अंकुश

•

विनोबा

प्राचीन काल में हमारे यहां तालीम की कमी नही थी और जो तालीम थी वह बहुत अच्छी थी। उपनिषद में एक राजा अपने राज्य का वर्णन कर रहा है— 'न मे स्तेनो जनपदे' मेरे राज्य में कोई चोर नही है। 'न अनाहिताग्नि न अविद्वान्' कोई आचारहीन नहीं, कोई अपढ नही, कोई अशिक्षित नही, और यह बात सही है। जब योरप में अज्ञान था तब यहां 'प्रथम साम-रव तव तपोवने' वेद की ध्वनि तपोवनो में गूंजती थी। भारत मे अध्ययन वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, तीनों वर्गों का धर्म था।

ब्रह्मचर्य-आश्रम अध्ययन के लिए ही था। गृहस्थ के लिए अध्ययन जरूरी माना था। वानप्रस्थ में अध्ययन होना ही चाहिए। अवश्य ही सन्यास में अध्ययन से मुक्ति थी, क्योकि उसमे चिन्तन होता था। आत्म-चिन्तन के लिए ही वह आश्रम था। इसलिए उसमें अध्ययन की जरूरत नहीं मानी गयी। इस तरह तीनों वर्णों और तीनो आश्रमो मे अध्ययन जरूरी माना गया था। एक छोटा सा वर्ग रहा, जिसे वेद का अध्ययन नहीं था, फिर भी दूसरा अध्ययन था ही। ऐसी थी यहां शिक्षा की रचना।

बड़ा कौन . शकराचार्य या शिक्षामंत्री ?

आशय यह है कि आज शिक्षा पर सरकार का अधिकार बडा जुल्म है। टेकनिकल शिक्षा या साइंस की शिक्षा सरकार-द्वारा दी जाय तो कोई हर्ज नही है, लेकिन जिसे लिबरल एजुकेशन (उदार शिक्षण या सामान्य शिक्षण) कहते हैं, वह भी सरकार-द्वारा दिया जाय, तो जिस रग की सरकार होगी उसी रग मे वह रँग दिया जायगा। दिमाग एक ही ढांचे में ढाला जायगा, यह बहुत बडा खतरा है।

हमारे यहाँ है भी ऐसा ही। शिक्षा विभाग के मंत्री को जितना अधिकार दे रखा है, उतना अधिकार तुलसी-दास और शकराचार्य को भी नही था। महान पुरुषो को भी जो अधिकार नही दिया गया, वह आज के शिक्षा-विभाग को प्राप्त है। तुलसीदास ने रामायण लिखी, जो आज घर-घर पढ़ी जाती है, लेकिन तुलसीदास ने किसी को उसे पढने के लिए मजबूर नही किया। जिसे इच्छा होती, वह पढता। शकराचार्य ने भी कई किताबें लिखी, पर उन्हें पढने की किसी पर जबरदस्ती नही की, लेकिन शिक्षा विभाग के मत्री, जो किताब तय करेंगे, उसे हर एक को पढ़ना ही होगा। पढकर उसकी परीक्षा देनी होगी। परीक्षा म ३३ प्रतिशत अक पाने होगे, और यह नही किया तो वह फेल हो जायगा। मालूम नहीं, कितना अद्भुत दिमाग बना है उनका, जिनके सामने तुलसीदास, शकराचार्य-जैसे महान पुरुष भी फीके पडते है!

शिक्षा सरकार की : दीक्षा अधिकार की

आज लोग भी यह चाहते है कि सरकार शिक्षा का इन्तजाम करे। वे सरकार के पास शिक्षा के प्रबन्ध की मांग करते हैं। छोटा मोटा घर बना देते है और बाकी प्रबन्ध की अपेक्षा सरकार से रखते है। शिक्षक सरकार का, शिक्षा-पद्धति सरकार की, परीक्षा सरकार की, और

अपने प्यारे लड़के सौंप देते हैं उनके हाथों में। इधर लोक-तंत्र में वोट का अधिकार दिया गया है जिसके लिए दिमाग का स्वतंत्र होना अत्यावश्यक है, लेकिन उधर वह इस तरह एक निश्चित ढांचे में ढाला जा रहा है। होना तो यह चाहिए कि लोग ही शिक्षा पद्धति तय करें, शिक्षा की व्यवस्था करें हर साल उसे गांव की ओर से कुछ अनाज मिले थोड़ी जमीन भी उस दें, फिर सरकार से थोड़ी मदद मिले तो पर्याप्त है, लेकिन शिक्षा पर सरकार का अंकुश न हो। लोकशाही में न्यायाधीश पर सरकार का अंकुश नहीं रहा। आज माना गया कि निरंकुश न्याय चलेगा। वैसे ही मानना चाहिए कि शिक्षा भी शासन मुक्त हो लेकिन यह बात आज न तो लोग मानते हैं और न सरकार ही मानती है।

लेकिन अब उन दोनों के पीछे चीन और पाकिस्तान शनि मंगल लग गये हैं, इसलिए पचास प्रतिशत कटौती की सोची जा रही है लेकिन एक बात उनके ध्यान में नहीं आयी। शिक्षा तो उनको सौ प्रतिशत देने की ही योजना करनी होगी। अभी तो २० प्रतिशत शिक्षा है। बीस प्रतिशत के बदले १०० प्रतिशत की शिक्षा दें और १०० प्रतिशत खर्च करने के बदले ५० प्रतिशत खर्च करें ऐसा कोई तरीका निकाल सके तभी समस्या सुलझेगी। वह तरीका यही है कि लोगों द्वारा शिक्षा का सारा प्रबन्ध हो और सरकार का उस पर अंकुश न हो। तभी लोगों की प्रतिभा जागृत होगी। फिर किसी जगह संस्कृत में प्रवीण लोग निकलेंगे किसी जगह व्याकरण का अच्छा अध्ययन होगा कहीं विज्ञान बहुत पनपेगा। नये-नये नमूने देखने को मिलेंगे। नहीं तो वही स्टीरियो टाइप (विशिष्ट सांचे में ढली) शिक्षा चलती रहेगी।

विचित्र विज्ञप्ति सर्वत्र आपत्ति

आज शिक्षक नौकर की हैसियत में आ गये हैं। जो गुरु थे वे नौकर बन गये। मान लीजिए हमारे जीवन में कोई मुश्किल अवसर आया तो हम सलाह के लिए किसके पास जायेंगे? माँ की सलाह लेंगे पिता की सलाह लेंगे मित्र की सलाह लेंगे, कभी नेता की सलाह लेंगे, लेकिन शिक्षक के पास नहीं जायेंगे। किसान को कभी सलाह लेने का मौका आये तो क्या वह अपने नौकर से सलाह लेगा? शिक्षक तो नौकर है। आज शिक्षक और विद्यार्थी का क्या सम्बन्ध है! विद्यार्थी या तो शिक्षक की प्रशंसा करेंगे या निन्दा, लेकिन सलाह लेने नहीं जायेंगे। शिक्षक और विद्यार्थियों में वह सम्बन्ध है ही नहीं, बल्कि उल्टा हो गया है। पंजाब सरकार ने तो एक विज्ञप्ति ही निकाली है कि शिक्षक को विद्यार्थियों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए, क्योंकि शिक्षक विद्यार्थियों को बिगाड़ते हैं।

अल्हड़ शिक्षक : अटपटी शिक्षा

आज तो शिक्षक होते हैं तरुण। यह भी प्राचीन पद्धति के खिलाफ है। उस पद्धति के अनुसार गृहस्थ शिक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि उस पर गृहस्थी का बोझ रहता है। ब्रह्मचारी शिक्षक हो नहीं हो सकता, क्योंकि उसको विद्यार्जन करना है। सन्यासी भी शिक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि वह आत्मपरायण है। तो जो वानप्रस्थी है, जिसने १०-२० साल जीवन में पुरुषार्थ किया है जो राजनीति व्यापार, सेना या अन्य किसी क्षेत्र में प्रवीण हो गया है वही वासनामुक्त होकर पत्नी के साथ गुरु बनकर शिक्षा क्षेत्र में आता था। यह थी हमारी प्राचीन पद्धति।

लेकिन आज क्या हो रहा है? बिलकुल टटका, विलायत से लौटा बिलकुल अल्हड़ युवक वाणिज्य का प्रोफेसर बनता है। फल यह होता है कि वह विद्यार्थियों को १०००० के १५००० करने के बदले ५००० करना सिखा देता है। अगर समाज में वानप्रस्थाश्रम रूढ़ होता और वानप्रस्थी को ही शिक्षक बनाने का नियम होता तो घनश्यामदास बिड़ला आज व्यापार नहीं करते। उनको वाणिज्य विद्यापीठ का प्रिंसिपल बनना पड़ता। पं० नेहरू सक्रिय राजनीति में नहीं रहे होते, राजनीति-शास्त्र के प्राध्यापक बने होते।

आज बिलकुल अल्हड़ लोग शिक्षक बनते हैं। और कौन कौन शिक्षक बनते हैं यह भी समझने की बात है। जो मनुष्य सभी विभागों में अर्जियां दे-देकर असफल हो जाता है, वह लाचारी से आकर शिक्षक का धन्धा स्वीकार करता है।

फिर आज शिक्षा भी कैसे दी जाती है? मैं कहा करता हूँ कि आज के शिक्षक को चतुर्मुख ब्रह्मा बनना

पड़ना है। छोटे-छोटे देहात में एक शिक्षकीय शालाएँ चलती हैं। लोग स्कूलों की बहुत माँग करते हैं तो एक-एक गाँव को एक-एक शिक्षक दे दिया जाता है। फिर उसी एक शिक्षक को चार-चार कक्षाएँ पढ़ानी पड़ती हैं। जब उसे चार मुख होंगे तभी वह ऐसा करने में समर्थ हो सकेगा।

रटन उत्पादन की : चलन शराब का

दूसरी बात यह है कि आज उत्पादन बढ़ाओ की रटन चलती है, लेकिन प्रत्यक्ष बढ़ा क्या है? बढ़ी है सिगरेट और शराब। और घटा क्या है? अनाज, दूध और तरकारी। प्रति व्यक्ति के हिसाब से ये घटे हैं, वैसे ही वे बढ़े हैं। आज बिहार में प्रति व्यक्ति ढाई औंस दूध है। उसी में से मिठाई बनती है, घी बनता है और फिर बच्चों को दिया जाता है। इतने दूध से सारे देश के शरीर का संगठन कैसे बनेगा? अनाज में देश को स्वावलम्बी बनना ही चाहिए, लेकिन इसकी कदर हमने १८ साल में कभी नहीं की, जिसका फल आज भुगतना पड़ रहा है।

तीसरी बात, हमने मान लिया कि बाहर से देश पर हमला होगा ही नहीं और सरक्षण के बारे में १८ साल तक असावधान ही रहे। इस तरह १८ सालों में हमने शिक्षा, अन्न धान्य और सरक्षण की अत्यन्त उपेक्षा की। आज जो लोग शासन चला रहे हैं उनकी आलोचना करके मैं चुनाव के लिए खड़ा हो जाऊँ, यह मेरा धन्धा नहीं। इसलिए किसी को निन्दित करने के इरादे से मैं यह आलोचना नहीं कर रहा हूँ। इसे तो मैं अपनी ही आलोचना मानता हूँ।

तीन अंकुश : तीपक सुधार

इसलिए, अब हमें सचेत हो जाना चाहिए। अगर हम लोकतांत्रिक समाजवाद की बात करते हैं, गरीबों का उत्थान और आज़ादी कायम रखना चाहते हैं तो हमें एक के बाद एक तीन अंकुशों का इन्तज़ाम करना होगा।

जैसे फासिज्म या दूसरी राज्य पद्धतियों में सेना का सरक्षण का साधन माना गया है वैसे ही लोकशाही में भी माना गया है। इसलिए सेना पर सरकार का अंकुश होना चाहिए। वह न रहे तो खतरा रहता है। दूसरे देश के आक्रमण से बचने के लिए हमने सेना रखी है तो यह सवाल खड़ा हो जाता है कि सेना से हमें कौन बचाये? उसी प्रकार सरकार पर जनता का और जनता पर नैतिक मूल्यों का अंकुश होना चाहिए, यानी—

१ नैतिक मूल्यों की सत्ता जनता पर चलेगी,

२ जनता की सत्ता सरकार पर चलेगी, और

३ सरकार की सत्ता सेना पर चलेगी, तभी लोकतांत्रिक समाजवाद चल पायेगा। एक भी अंकुश ढीला पड़ा तो लोकशाही नहीं टिकेगी।

पर यह मामूली बात नहीं है। इसके लिए सरकार भी कुशल होनी चाहिए और ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि सरकार से लोग भी सन्तुष्ट रहें। कभी मौका आने पर सैनिकों और सेना की प्रतिष्ठा भले बढ़े, लेकिन यह नहीं होना चाहिए कि सरकार का सेना पर अंकुश ढीला पड़ जाय। इसलिए सतर्कता जरूरी है। मैं आज की बात नहीं कर रहा हूँ आप के सामने राजनीतिक तत्त्वज्ञान (पोलिटिकल फिलासफी) रखता हूँ।

दूसरी बात, आज 'प्रातिनिधिक लोकतंत्र' (डेलीगेटेड डिमोक्रेसी) चल रहा है। हम प्रतिनिधि चुनकर भेज देते हैं और वे जो करेंगे उसे प्रमाण मानते हैं। इसलिए लोक-जागृति नहीं रही तो सरकार पर अंकुश नहीं रह पायेगा। आज वही चल रहा है।

फिर लोगों पर अंकुश नहीं रहे और अनैतिक विचार फैल गये तो लोग भी सरकार पर अंकुश नहीं रख सकेंगे।

ये तीन अंकुश रहें तभी राज-व्यवस्था अच्छी चलती है, यह मैं आपके सामने राजनीति विज्ञान (पोलिटिकल साइंस) रख रहा हूँ।

डेमोक्रेसी में विविध अंकुशों की जरूरत होती है। अगर सरकार पर जनता का और जनता पर नैतिक मूल्यों का अंकुश रखना है तो दोनों बातें ग्रामदान से सधती हैं। व्यक्ति पर नैतिक मूल्यों का अंकुश तभी बना रहेगा जब व्यक्तिगत स्वार्थ पर अंकुश रहेगा और वह ग्रामदान में ही सम्भव है। ●

अनिवार्य सैनिक शिक्षा

और

समाज-सेवा

•

उद्धव आ० आसरानी

केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने अपने चण्डीगढ़ के भाषण में अभी हाल में ही (३० अक्तूबर ६५ को) कहा है कि सरकार हायर सेकण्ड्री की शिक्षा समाप्त करने के बाद, स्नातक कक्षाओं में प्रवृष्ट होने के पूर्व एक वर्ष तक सैनिक शिक्षा के साथ समाज-सेवा और सामान्य ज्ञान की शिक्षा को अनिवार्य करने की सोच रही है। इस विचार का सामान्य उद्देश्य प्रशंसनीय है, लेकिन मैं इसी उद्देश्य की एक दूसरी पद्धति बताऊँगा, जिसका व्यय अत्यल्प होगा और सम्भवतः परिणाम भी अधिक अच्छे होंगे।

प्रश्न एक : उत्तर अनेक

हमारी सेना में सिपाहियों की अनिवार्य आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में हमें कोई ऐसी पद्धति नहीं अपनानी चाहिए जो न्यूनाधिक मात्रा में अनिवार्य भरती-जैसी हो। हर एक बालक की बौद्धिक क्षमता और ग्रहण शक्ति भिन्न भिन्न होती है। केवल शारीरिक शिक्षा और राइफल प्रशिक्षण भी दूसरी बात है, लेकिन विद्यालयों का प्रत्येक युवक विद्यार्थी कष्टसाध्य योद्धा-जीवन के योग्य नहीं होगा। इसलिए क्या यह अधिक उत्तम नहीं होगा कि स्कूल और कालेजों में प्रवेश देते समय 'मिलिटरी कैडेट कार्प्स' में भाग लेना ऐच्छिक रहने दिया जाय, जैसा कि आज है।

इसके अतिरिक्त सभी लड़कियों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे सैनिक विभाग में जायेंगी ही। उनके अपने कार्य हैं जो इस संकट काल में सुरक्षा जैसे ही महत्वपूर्ण हैं। हमारी जनसंख्या काफी बड़ी है और हमारे विद्यालयों में छात्र-संख्या भी उसी अनुपात में ज्यादा है (करीब १२ लाख विद्यार्थी प्रतिवर्ष स्नातक कक्षाओं में प्रविष्ट होते हैं)। इसलिए स्वेच्छा से भरती होने पर भी हमारे लिए सैनिकों और अफसरों की कमी नहीं पड़ेगी। थल जल, और नभ-सेना में वेतन काफी आकर्षक है और रोजगार के अन्य मार्ग अधिक प्रशस्त नहीं हैं, इसलिए लोग अधिक से-अधिक संख्या में सेना में जाने की ओर प्रवृत्त होंगे ही।

गरीब देश धनी सेवा

शिक्षा मंत्री के अनुमान से सैनिक शिक्षा देने के लिए एक छात्र पर प्रतिवर्ष ५०० रुपये सरकारी व्यय होगा। इसका अर्थ हुआ कि १२ लाख विद्यार्थियों पर ६० करोड़ रुपये व्यय होंगे। यदि सेना में इतने अफसरों की वार्षिक खपत न हो सकी या यदि इन शिक्षितों में से कुछ विद्यार्थी सेना के लिए अयोग्य हुए तो इन नौजवानों का सारा समय और कर-दाता का मूल्यवान धन बरबाद ही तो होगा।

समाज-सेवा और सामान्य ज्ञान दोनों थोड़ी ही भिन्न भूमिका पर आधारित है। शिक्षित नौजवान को ज्ञान-क्षितिज का विस्तार करने के लिए सामान्य ज्ञान आवश्यक है और समाज-सेवा चरित्र निर्माण के लिए मूलभूत। हमारा देश गरीब है। अतः प्रत्येक स्नातक को न केवल शीघ्रातिशीघ्र स्वावलम्बी होने की चिन्ता करनी चाहिए, अपितु मानवता के भौतिक तथा सांस्कृतिक मलधन में मूल्यवान वृद्धि करनी चाहिए। अपने स्वार्थों के पोषण के साथ-साथ उसको अपनी मातृभूमि के प्रति

भी कर्तव्य है, जिसके करों-द्वारा उसकी शिक्षा मे मदद मिली है । इसीलिए छात्र छात्राओं के मन पर यह कर्तव्य भावना अंकित करने और अपने राष्ट्र के प्रति समर्पण-वृत्ति को हृदय में पैठाने के लिए समाज-सेवा आवश्यक है।

ऐसा होने हुए भी इन दो उद्देश्यो के लिए ही आव श्यक नही है कि पूरा एक साल दिया जाय। समाज-सेवा को विद्यालयो मे कक्षा ८ तक के पाठ्यक्रम का एक भाग बना देना चाहिए, जिसमें श्रमदान के घण्टे समय-विभाग-चक्र में तय होने चाहिए। यह बुनियादी शिक्षा-योजना में सामाजिक अध्ययन के लिए अनुबन्ध की नीवें बनेगी। केवल पुस्तको को रटने के बजाय शैक्षणिक यात्राएँ सामाजिक सर्वेक्षण, समाज-सेवा और श्रमदान की भूमिका पर इन विषयो का ज्ञान आधारित हो, तो इतिहास, भूगोल, विशेषतया नागरिक शास्त्र का ज्ञान अधिक अच्छी तरह दिया जा सकता है तथा और अधिक रुचिकर व सजीव बनाया जा सकता है।

समाज की सेवा : स्कूलो का मेवा

समाज-सेवा के ठोस उदाहरणो से नैतिक मूल्य और राष्ट्रीय वृत्ति बहुत प्रभावशाली ढग से मस्तिष्क में बिठायी जा सकती है। इन विषयो के लिए टाइम टेबुल में दिये हुए समय का परिपूर्ण लाभ मिलेगा। वह न केवल विद्यार्थियो की स्मृति में स्थित विशेष ज्ञान के रूप मे आयेगा, बल्कि उनके जीवन भर काम आयेगा, केवल परीक्षा तक ही नहीं। समाज मे, जो अल्प-शिक्षित और अल्पपोषित हैं उनके लिए भी सहानुभूति-वृद्धि के रूप मे होगा। ऐसा काम उठाने से पाठशालाओ और समाज में एक नया वातावरण उत्पन्न होगा। साधारण जनता पाठशाला के शिक्षको और विद्यार्थियो की सेवा की प्रशसा तथा आदर करेगी और उन पाठशालाओ को अपना मानेगी। इसके अतिरिक्त सामाजिक सम्पर्क शिक्षको और विद्यार्थियो को विशाल परिधि मे लायेगा। शैक्षणिक सस्थाओ की कूपमण्डूकता के वाता वरण में भी सुधार होगा।

समाज-सेवा की वह भावना, जो कक्षा ८ तक विद्यार्थियो में उत्पन्न की गयी है, उसे आगे की कक्षाओं में भी पोषण प्राप्त होना चाहिए, लेकिन अब उसे टाइम-टेबुल में रखने की आवश्यकता नही होगी। यह स्वय विद्यार्थियो-द्वारा खुशी से ग्रहण किया हुआ पाठ्येतर विषय होगा। प्रत्येक हाई स्कूल, हायर सेकेण्ड्री स्कूल, इण्टर कालेज, डिग्री कालेज और विश्वविद्यालय के पास अपने-अपने निर्धारित ग्रामीण और शहरी क्षेत्र होने चाहिए, और कुछ समाज-सेवा के ऐसे निरीक्षक होने चाहिए, जो प्राकृतिक, सामाजिक या शैक्षिक कार्यो का मार्गदर्शन, और मूल्याकन भी करेगे। विशेष पुरस्कार, उत्तम विज्ञापन, आर्थिक सहायता, तथा पाठ्यक्रम, बाह्य कायक्रम में बडे अधिकारियो और नेताओ के भाग लेने से हमारी उच्चतर शैक्षणिक सस्थाओ मे छात्र समाज-सेवा के प्रति आकृष्ट होगे।

अनिवार्यता का भूत . अनास्था का दूत

अच्छे काम मे भी अनिवार्यता कार्य को बोझिल बना देती है। उत्साह को बढाने के बजाय क्षीण कर देती है। इसके साथ ही प्रत्येक छात्र यह पसन्द करेगा कि उसका एक वर्ष, जिसको कि सरकार इन तीन उद्देश्यो में लगाना चाहती है, किसी तरह बच सके। सन्ध्याकाल, रविवार, अवकाश और दीर्घावकाशो का कुछ भाग इस पाठ्येतर कार्यक्रम के लिए लगाया जा सकता है। प्रकृति और जीवो का उसके वास्तविक रूप में दर्शन तथा कुछ अच्छे काम करने का चसका, किसी भी समय मनोरजन तथा वक्त गुजारने का अच्छा तरीका है। इसके बजाय हमारे नौजवानो का फुरसत का वक्त बद सिनेमाहालो में सिनेमा देखने, उपन्यास पढने, सिगरेट पीते हुए मीडमरी सडको पर घूमने तथा खेलने मे व्यतीत होता है। इस प्रकार यह पर्याय योजना, जिसका सुझाव ऊपर दिया गया है, सरकारी योजना से कही अधिक अच्छी ठहरती है।

सामान्य ज्ञान द्वारा विद्यार्थियो के बुद्धि विकास के लिए यह पर्याप्त होगा कि प्रत्येक हाई स्कूल और कालेज नवीन विषयो पर भाषण तथा पत्रिका प्रकाशित करने की व्यवस्था करे। सामान्यत विद्यार्थियो से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे भाषण में उपस्थित रहेगे, पत्रिका पढेगे तथा इसके साथ-साथ दैनिक समाचार पत्रो के प्रमुख समाचारो पर ध्यान देंगे। हाई स्कूल और कालेजो मे एक ऐच्छिक सामान्य ज्ञान का प्रश्नपत्र या

प्रतियोगिता अथवा दोनों का ही प्रबन्ध किया जा सकता है। जो श्रेष्ठ साबित हो उन्हें वार्षिक समारोह में जनता के बीच पुरस्कृत किया जाय।

सभी राजकीय प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में सामान्यज्ञान की जाँच होती है जिसके कारण एक अच्छा वातावरण तैयार हो गया है। स्कूल और कालेज इसको बढ़ा सकते हैं। यह पर्याप्त होगा। अनिवार्यता या अनिवार्य प्रश्नपत्र सामान्य ज्ञान पर आधारित होने से विद्यार्थी पास होने के गुर और गेस-पेपर की निस्सारिता को अपनाने लगेंगे और इस प्रकार यह बात शिक्षा-योजना-निर्माताओं की कल्पना से बहुत भिन्न हो जायगी।

बढ़ता शिक्षण घटता अनुशासन

शिक्षा मंत्री ने यह भी कहा है कि अनिवार्य राष्ट्र-सेवा प्रशिक्षण से अनुशासन में सहायता मिलेगी। ब्रिटिश काल में अपनी बैरकों के बाहर सैनिक जनता के प्रति अभद्र व्यवहार करते थे और अनुशासनहीन हो जाते थे। एक स्थान का कड़ा अनुशासन दूसरे स्थान पर ठीक विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है। १९४२ के आन्दोलन में बनारस विश्वविद्यालय की 'यूनिवर्सिटी ट्रेनिंग कोर्प्स' ने अपने अँग्रेज अफसरों के प्रति विद्रोह कर दिया और विश्वविद्यालय को ९ दिन तक एक स्वाधीन राज्य की तरह बनाये रखा। इस प्रकार सैनिक अनुशासन विरोधी रास्ते पर भी जा सकता है। हम वास्तव में केवल शारीरिक अनुशासन नहीं चाहते बल्कि उससे भी अधिक चाहते हैं। मानसिक अनुशासन तथा राष्ट्र के हितार्थ समर्पण की भावना। ●

हम चाहते क्या हैं ?

क्या शिक्षा में सैनिक-प्रशिक्षण के लिए कोई स्थान है ? इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हम चाहते क्या हैं, हमारे बच्चे क्या बनें ? हम उन्हें कारगर हत्यारे बनाना चाहते हैं, तो जरूर सैनिक-प्रशिक्षण आवश्यक है। अगर हम उनके मन को एक साँचे में ढालना और एक विशिष्ट अनुशासन के आदी बनाना चाहते हैं, अगर हम उन्हें राष्ट्रीयवादी और इसलिए विश्वसमाज के प्रति गैर-जिम्मेवार बनाना चाहते हैं, तो सैनिक-प्रशिक्षण उसके लिए अच्छा साधन है। अगर हम मृत्यु और विनाश को पसन्द करते हैं तो सैनिक-प्रशिक्षण महत्वपूर्ण है। सेनानायकों का कार्य युद्ध की योजना बनाना और उसको अमल में लाना है, इसलिए अगर हम चाहते हैं कि हममें और हमारे पड़ोसियों में अविरत युद्ध हो, तो अवश्य ही हमें ज्यादा सेनानायक चाहिए।

अगर हम अपने ही अन्दर और दूसरों के साथ भी अनन्त संघर्ष बनाये रखने के लिए जीते हैं, अगर हम रक्तपात और दुख को स्थायी बनाना चाहते हैं तो हमें अधिक सैनिकों, अधिक राजनीतिज्ञों और अधिक शत्रुता का निर्माण करना होगा—और हो भी यही रहा है। आधुनिक सभ्यता हिंसा पर आधारित है, और इसलिए वह मृत्यु का वरण कर रही है; लेकिन अगर हम शान्ति चाहते हैं, मानव-मानव के बीच अच्छा सम्बन्ध चाहते हैं—चाहे वह ईसाई हो, चाहे हिन्दू, चाहे रूसी, अगर हम अपने बच्चों को सच्चे इनसान बनाना चाहते हैं तो साफ है कि सैनिक-प्रशिक्षण बिलकुल ही बाधारूप है, वह एकदम गलत रास्ता है। ● —जे० कृष्णमूर्ति

मौत और मुहब्बत

मेरे घर ने मुझसे कहा—"मुझे न छोड़ कि तेरा माजी (अतीत) मुझमें आबाद है।"

और मेरे रास्ते ने मुझसे कहा—"मेरे पीछे-पीछे चला आ कि मैं तेरा मुस्तक़बिल (भविष्य) हूँ।"

लेकिन, मैं अपने घर और रास्ते दोनों से कहता हूँ—

"मेरा न कोई माजी है, न कोई मुस्तक़बिल। अगर मैं ठहरूँ तो मेरा ठहरना ही गोया मेरा चलना है और अगर मैं चलूँ तो मेरा चलना ही गोया मेरा ठहरना है। इसलिए कि मौत और मुहब्बत में हर एक यह कूवत रखती है कि हर चीज को बदल दे।"

खलील जिब्रान

काल-गणना में जागतिक एकता और अँग्रेजी कैलेण्डर

काका कालेलकर

अँग्रेजो के आने के पहले भारत में जगह-जगह पर अलग-अलग पचाग चलते थे। काल-गणना और सवत्, शक आदि भी अलग-अलग थे। उत्तर में विक्रम सवत्, दक्षिण मे शालिवाहन शक, बगाल में बगाब्द, ज्योतिषियों का युधिष्ठिर शक, मुसलमानो का हिजरी; पारसियो का अलग; चन्द सरकारो का फसली शक।

काम किसी तरह चल तो जाता था, लेकिन आज के इतिहास-सशोधक जानते है कि पुराने पत्रो की पुरानी तिथियाँ या तारीखें देखकर समय तय करना कितना कठिन होता है!
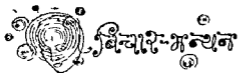
कही शक : कही सौर

अँग्रेज आये। उनका राज्य आसेतु हिमाचल चला और उन्होंने ईसाई शक चलाया, जिसे हम ईसवी सन् कहते है। सारे भारत पर अँग्रेजो का राज्य होने से सर्वत्र काल-गणना एक-सी हुई, यह एक बडी सहूलियत हुई। लोग अपने-अपने शक चलाते रहे। महाराष्ट्र में शिवाजी के राज्याभिषेक का शक चला। आर्यसमाजियो ने दयानन्दाब्द चलाया। उत्तर के चन्द लोगो ने सौर पचाग चलाया, लेकिन यह सारे चन्द लोगों के सन्तोष के लिए, कुछ दिन के लिए ही चले। सार्वभौम हो गयी ईसवी सन् की गणना। योरप-अमेरिका में यही ईसाई-काल-गणना है। जापान में महीने तो जनवरी, फरवरी आदि ही चलते है, वर्षों की गणना उनकी अपनी अलग जरूर है। तो भी अब हम कह सकते हैं कि सारी दुनिया में ईसवी सन ही चल रहा है। ईसा मसीह का नही, योरपीय लोगो का यह सारा पुरुषार्थ है।

अब यह सार्वभौम काल गणना सर्वांग सुन्दर न होते हुए भी केवल योरप-अमेरिका की पुरुषार्थी प्रजा के कारण ही सर्वत्र चल रही है। इसकी जगह कोई पुरानी काल-गणना चलाना अब व्यर्थ होगा। दुनियाभर के इतिहास-ग्रन्थ और अखबार सब ईसवी सन् ही चलाते हैं। ईसवी शब्द धर्मसूचक है, इसलिए चन्द लोग उसे छोड़कर माडर्न कैलेण्डर या प्रचलित काल-गणना कहते हैं।

सुधार के प्रयास जिद का जोर

इसमें सुधार के कई प्रयास हो चुके है और अब भी हो रहे है, लेकिन पश्चिम के लोग अपनी बात चलाने में जितना जोर करते हैं उतना उसे सुधारने में नही करते। इसमें अधिक-से-अधिक अपरिवर्तनशील है अँग्रेज। सारी दुनिया ने मीटरिक गणना-पद्धति चलायी तो भी अँग्रेज उसको स्वीकार नही करते।

हम मानते है कि पश्चिम की ईसवी सन पद्धति में इस वक्त सुधार नही हो रहा है तो भी 'युनेस्को' या 'युनो'-द्वारा जागतिक परिवर्तन होने की सम्भावना अब दिखती है। इसीलिए ईसवी सन् में सुधार करने की, जो दो-तीन बाते आयी है, यहाँ समझने की कुछ कोशिश करेंगे।

ऐसा करने के पहले आम जनता की दृष्टि से क्या-क्या इष्ट है, यही बतायेंगे।

जिसे हम २४ घण्टे का दिन कहते हैं, वह है पृथ्वी के अपने ही आस-पास के भ्रमण पर निर्भर। उजाले और अँधेरे के कारण दिन के स्वाभाविक विभाग बनते हैं। (हमारे देश में और उष्ण कटिबन्ध में, मोटे तौर पर, दिन और रात एकसमान होते हैं। पृथ्वी के उत्तरी विभाग और दक्षिणी विभाग में इस बारे में, जो कठिनाइयाँ हैं, उनकी बात हम छोड़ दें।) दिन के बाद आता है महीना। यह तो चन्द्र के इर्द-गिर्द घूमने से पैदा होता है। अँग्रेजी मन्थ शब्द मून यानी चन्द्र से ही बना है। इसीलिए महीने के स्वाभाविक दो विभाग होते हैं—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, जिन्हें लोग कहते हैं—सुदी और वदी।

इसके बाद आता है वर्ष, जो सूर्य के भ्रमण से पैदा होता है। (सचमुच सूर्य का भ्रमण नहीं, किन्तु पृथ्वी का सूर्य के इर्द गिर्द ३६५ दिन का एक भ्रमण होता है, उस पर वर्ष तय होता है।) वर्ष शब्द का सम्बन्ध वर्षा यानी बारिश से है यह तो सभी जानते हैं।

अनेक झंझट : एक उपाय

पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, इनकी गति का गणित सूक्ष्म है। ज्योतिषी लोग ही उसका हिसाब करें। हम लोगों ने, साठ घटिका अथवा आठ प्रहर का एक दिन, पन्द्रह दिन का पक्ष, दो पक्ष का महीना, बारह महीनों का वर्ष, ३६० दिन का वर्ष, ऐसा स्थूल हिसाब लगाया है। लेकिन, इसमें समय-समय पर अगर परिवर्तन नहीं किया तो वर्ष का सम्बन्ध ऋतुचक्र से नहीं रहेगा। महीने का सम्बन्ध अमावस्या-पूर्णिमा के साथ नहीं बैठेगा, और दिन का सम्बन्ध भी सूर्योदय-सूर्यास्त के साथ रखना मुश्किल हो जायगा।

हमलोगों को हिन्दू पंचांग में तिथि-क्षय और तिथि-वृद्धि का झंझट क्या मोल लेना पड़ता है, इसका विवरण यहाँ नहीं करेंगे। तिथि का हिसाब भी नहीं समझायेंगे, किन्तु इतना तो समझाना ही होगा कि महीनों का सम्बन्ध तीन सौ पैंसठ दिन के ऋतुचक्र के साथ बराबर नहीं बैठता, इस दोष को सुधारने के लिए हम ढाई वर्ष के बाद एक अधिक मास 'पुरुषोत्तम मास' बढ़ा देते हैं।

इन सारे झंझटों के कारण ही हमारे पंचांग सार्वभौम नहीं हो सके। अब हमें महीनों का हिसाब चन्द्र के साथ नहीं रखना चाहिए, और वर्ष ३६० दिन का न हो, किन्तु ३६५ या ३६६ दिन का मंजूर करना चाहिए।

अटूट आस्था : जंगली व्यवस्था

आज की गणना में, जो कठिनाइयाँ हैं उनका पहले विचार करें।

तारघर में या रेलवे स्टेशन पर दिन के घण्टे मध्य रात से मध्य रात तक चौबीस गिने जाते हैं। यह अच्छा हिसाब है। मध्य रात से दोपहर के बारह तक के घण्टों को ए एम कहना और दोपहर के बारह से मध्य रात के बारह तक के घण्टों को पी एम कहना व्यर्थ का झंझट है। जेबघड़ी में बारह घण्टों की ही गुंजाइश है, इसलिए यह सारी कठिनाइयाँ बरदाश्त करनी पड़ती हैं। मनुष्य चाहे तो घड़ियों में सुधार हो सकता है। अब अँग्रेजी महीनों का तो कोई ठिकाना ही नहीं। चन्द महीने ३० दिन के, चन्द ३१ दिन के और फरवरी तो किसी साल २८ दिन का, किसी साल २९ दिन का होता है। यह सारी जंगली व्यवस्था पश्चिम के लोगों ने क्योंकर बरदाश्त की, यह समझना मुश्किल है।

तीन नियम : तेरह प्रपंच

योरप में जब रोमन लोगों का प्रभाव सबसे अधिक था तब उनका वर्ष दस महीने का ही था। सितम्बर, अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर, इनके मानी हैं—सातवाँ, आठवाँ, नवाँ, और दसवाँ महीना। जब उन लोगों को सूझा कि बारह महीने का वर्ष ही सही है, तब उन्होंने अपने बादशाहों के नाम जुलाई और अगस्त बढ़ा दिये। तब से सितम्बर से लेकर दिसम्बर तक के चार महीनों के नाम अन्वर्थक न रहे।

पश्चिम की गणना भी स्थूल ही है। बहुत बरसों तक जब थोड़ी-थोड़ी गलतियाँ एकत्र हुईं तब पोप के कहने से दिनों की संख्या बढ़ायी गयी। इंगलैण्ड का इतिहास पढ़नेवाले जानते हैं कि इस पर वहाँ की जनता ने बड़ा होहल्ला मचाया था। फरवरी के २८ दिन में एक दिन किस साल बढ़ाया जाता है, इसके तीन नियम सब जानते हैं।

सही नक्षत्र : गलत नवग्रह

अब रही वार की गणना की बात। सात वार का सप्ताह कब, किसने शुरू किया, यह कहना आसान नहीं

है। हमारे यहाँ पहले यह वार-गणना नहीं थी। हमारा काम नक्षत्र से चलता था। आश्चर्य की बात है कि सात वार की प्रथा अब सारी दुनिया में एक-सी चलती है और मामूली लोगों को इसकी सहूलियत पसन्द आयी है। दो सप्ताह का एक पक्ष होता है। चार सप्ताह का करीब महीना। सात वार का सप्ताह फल ज्योतिष के कारण तैयार हुआ है। आकाश के नव ग्रहों में से राहु-केतु तो काल्पनिक है। बाकी रहे सात। इनको एक-एक दिन दिया गया है। (इसमें सूर्य और चन्द्र आज के ख्याल से नहीं है, इस बात को हम भूल जायें।)

इतनी जानकारी देने के बाद प्रचलित काल-गणना में जो सुधार बताये गये हैं उनपर हम आ जायें।

पूरे सप्ताह, अधूरा पक्ष

सात दिन का सप्ताह सारी दुनिया में चलता है। यह कब से शुरू हुआ और कैसे सर्वत्र फैल गया, कौन कह सकता है? हमने कहा है कि चन्द्र की गति के कारण शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष कुदरती तौर पर मुकर्रर हुए और एक पक्ष का आधा हो गया सप्ताह। दो सप्ताह मिलाकर पूरा पक्ष नहीं होता है। इस कठिनाई के कारण तिथि और वार का नियमित सम्बन्ध न रहा।

हो सकता है कि फल-ज्योतिषवालों ने सात दिन का सप्ताह मुकर्रर किया हो। यहूदी व ईसाई मानते हैं कि भगवान ने यह सृष्टि छः दिनों में पैदा की और सातवें दिन आराम किया। जब सृष्टि नहीं थी, सूर्य-चन्द्र की स्थिति भी नहीं थी, फिर दिन का हिसाब कहाँ से आया, ऐसे सवाल नहीं पूछने चाहिए। जिस दिन भगवान ने आराम किया वह दिन कौन सा था? कुछ कहते हैं शनिवार था, दूसरे कहते हैं रविवार था।

जब योरपीय इस देश में आये तब उन्होंने अपने धार्मिक रिवाज के कारण रविवार की छुट्टी चलायी। और हम भी उसके पूरे आदी बन गये। योरप में आज भी गाँवों में हर सप्ताह ही तनख्वाह दी जाती है। उनके लिए रोजमर्रा के व्यवहार में सात दिन का सप्ताह स्वाभाविक एकम हुआ है।

कैसी अमावस्या! कहाँ की पूर्णिमा!!

हमारे यहाँ सप्ताह का महत्त्व था नहीं। हम लोग अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्थी, एकादशी आदि तिथियों का ही ख्याल रखते थे। किसी ग्रन्थ का सात दिन में पारायण पूरा करने का रिवाज बाद में आया है। हमारे यहाँ जैसे भागवत के सप्ताह चलते थे वैसे महाभाष्य के नवाह्निक भी थे। इसलिए हमें सात दिन के सप्ताह की व्यवस्था छोड़ने में कोई धार्मिक कठिनाई आनेवाली नहीं है।

पुराने लोग अभी भी अमावस्या, पूर्णिमा का ख्याल और हिसाब रखते हैं। कुदरत के साथ सम्बन्ध रखने वाले किसान, पदयात्री, मुसाफिर, खलासी और उत्सव-प्रिय लोग अमावस्या और पूर्णिमावाली काल-गणना की सहूलियत समझते हैं। लेकिन अमावस्या, पूर्णिमा हर पन्द्रह दिन के बाद आयेगी ही, ऐसी बात नहीं है। पन्द्रह के कभी चौदह होते हैं और कभी सोलह। आइन्दा इन झंझटों से मुक्त होने के लिए ये चन्द्र-मास छोड़ ही देने होंगे। आज भी व्यवहार में वार, तारीख, महीना और साल अंग्रेजों का चलाया हुआ हम चलाते हैं। अब अमावस्या और पूर्णिमा कब आती है, कोई देखता ही नहीं।

और महीने भी जैसे आते हैं वैसे आते हैं।

इतनी जानकारी पूर्व-तैयारी के तौर पर देने के बाद अब हम काल-गणना की नयी सूचनाओं पर विचार करें।

आसान व्यवस्था, सुन्दर इलाज

एक सूचना है कि सात वार का सप्ताह अच्छा एकम है। उसे कायम रखकर चार सप्ताह का यानी अट्ठाईस दिनों का महीना हम बना दें। ऐसा करने से वार और तारीख का सम्बन्ध जुड़ जायगा। पहली तारीख, आठवीं तारीख, पन्द्रहवीं और बाईसवीं, इन तारीखों को हमेशा रविवार ही हो, ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं। तारीख सुनते ही वह कौन-सा वार है, हम आसानी से कह सकेंगे।

अगर हम चार सप्ताह के महीने की व्यवस्था कबूल करते हैं तो तेरह महीनों का एक वर्ष होगा। इसमें तीन सौ चौंसठ दिनों की व्यवस्था हो गयी, लेकिन हमारा वर्ष तो तीन सौ पैंसठ दिन का है। इसका क्या किया जाय? काल-गणना-सुधारक कहते हैं कि इसका इलाज भी सुन्दर है।

वर्ष के प्रारम्भ के दिन को कहेंगे वर्षारम्भ दिन। उस दिन न होगा कोई वार, न तारीख, न महीना। अगले

वप का अन्तिम दिन अगर शनिवार है तो वर्षारम्भ के दिन के बाद नया महीना शुरू होगा। उसी दिन पहली तारीख होगी और वार होगा रवि। बाकी वर्षारम्भ के दिन छुट्टी ही होगी।

लीप इयर के हिसाब से हर चार साल में एक दिन बढ़ाना होगा। उसके लिए छ महीने के अन्त में प्लुत दिन आयेगा। उस दिन भी वार तारीख महीना स्थगित होगा।

यह व्यवस्था बड़ी आसान है। सप्ताह टूटते नहीं और हिसाब आसानी से होता है।

दस दिन का सप्ताह तीन दशाह का मास

इसमें बड़ी खामी है तेरह महीने की। जब बारह महीने का वर्ष होता है तब वर्ष के दो भाग छ–छ महीने के आसानी से होते हैं। तीन भाग करना चाहें तो भी चार चार महीने के हो सकते हैं। चार भाग करना है तो भी आसान है। बारह का आंकड़ा ही है सहूलियत का। तेरह में यह सहूलियत नहीं है।

दूसरा एक पक्ष कहता है कि सात वार के सात नाम तो हैं। उनमें राहु केतु और कुबेर ऐसे तीन नाम बढ़ाकर दस दिन का सप्ताह बनाइए और ऐसे तीन दशाह का एक मास बनाइए। फिर तो तीन सौ साठ दिनों का एक वर्ष मिलेगा। इस व्यवस्था में भी तारीख से वार तुरंत मिल सकेगा। राहु केतु और कुबेर ये नाम मन दिये हैं। सूचना करनेवाले ने 'यूरेनस' ड अथवा प्रजापतिवार' नेपच्यून ड अथवा वरुणवार' और प्लूटो ड अथवा कुबेर वार ऐसे नाम दिये हैं। प्लूटो है—यमराज का नाम। वही नाम दिया है सबसे दूरवाले ग्रह को।

मैं उसे प्रान्तक वार कहता हूँ। यमराज का एक नाम है अन्तक और प्लूटो है सूर्य की प्रदक्षिणा के आखिरी प्रांत का ग्रह इसीलिए प्रान्तक नाम प्लूटो के लिए अच्छा है।

काल गणना के गणित में तीन पांच छ और दस आंकड़ों की सहूलियत होती है। दस दिन का दशाह सात दिन के सप्ताह की अपेक्षा अच्छा है।

दस दिन का दशाह तीन दशाह का महीना और बारह महीने का वर्ष यह व्यवस्था हिसाब करने के लिए सुलभ है। हर साल नया कलेण्डर छपवाना नहीं पड़ेगा प्लुत वर्ष के लिए एक अधिक पृष्ठ रखना काफी है।

अब रही तीन सौ पैंसठ दिन की बात। पांच साल में पचीस दिन कम पड़ते हैं तो पांच साल के अन्त में एक अधिक मास जोड़ दिया तो काम चल सकता है। फिर तो लीप इयर का झंझट नहीं रहेगा।

हमने शुरू में कहा है कि कोई व्यक्ति ऐसे सुधार अमल में नहीं ला सकता यह तो जागतिक सुधार है। यूनस्को के द्वारा ही यह सुधार हो सकता है। फिर तो हर एक देश की सरकार को उसको स्वीकार करना पड़ेगा।

भारत की स्वराज्य-सरकार ने पश्चिमी कलेण्डर में सुधार नहीं किया किन्तु विक्रम संवत शालिवाहन शक बंगाब्द सौर पंचांग हिजरी और फसली आदि सब काल-गणना की जगह एक सर्वसामान्य काल-गणना निश्चित किया है लेकिन उसके पीछे स्वयं भारत-सरकार ने भी अपना जोर नहीं लगाया है।

जागतिक एकता का महत्व जो लोग जानते हैं वे जागतिक कलेण्डर के लिए जरूर सोचें।

•

• किसी जमाने में लड़ायक वृत्ति की प्रधानता होती थी, किसी जमाने में तपस्या की। किसी जमाने का पुरुषार्थ मुसाफिरी, तिजारत और नये-नये प्रदेश ढूँढ निकालने में प्रकट होता था, तो कोई जमाना मानवी मन की गूढ़ शक्तियों का आविष्कार करने में धन्यता का अनुभव करता था।

इस जमाने का सार्वभौम जागतिक पुरुषार्थ युद्ध के प्रसंग टालने के बारे में है। लोभ महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या, चतुराई मक्कारी और बदला लेने की वृत्ति इस जमाने में काम नहीं आयेगी। उदारता, क्षमा सर्वहित-दृष्टि और संगठन-क्षमता इत्यादि गुणों के द्वारा मानवी जीवन—आन्तरराष्ट्रीय जीवन—संगठित करने का यह जमाना है। इस जमाने की जीवन सिद्धि के लिए नये ही ढंग का पुरुषार्थ आजमाना होगा। विराट पैमाने पर लोकोत्तर हिम्मत बताये बिना अब नहीं चलेगा।

—काका कालेलकर

अनोखा दण्ड

•

विष्णु प्रभाकर

वह क्षण भर ठिठका, फिर बोला—"आज मैं आपको एक घटना सुनाने जा रहा हूँ, जो इतनी अद्भुत और इतनी पवित्र है कि शायद आप उसपर विश्वास नहीं करेंगे। इस अद्भुत घटना का सम्बन्ध बंगाल के एक सपूत हाजी मोहम्मद मुहसिन से है। वह तलवार के धनी थे। उनके शरीर में बहुत बल था। विद्वता में उनसे टक्कर लेनेवाले बहुत कम लोग थे और उनके अक्षर इतने सुंदर थे कि उनकी लिखी हुई क़ुरान की प्रतियाँ १००० रु० प्रति के मूल्य पर बिकी थीं। वह धनी थे, दानी थे, दयालु थे। सच तो यह है कि वह क्या नहीं थे।

"एक रात की बात है। जब वह सो रहे थे तब धन के लालच से एक चोर उनके कमरे में घुस आया। वह अभागा अभी कुछ देख भी न पाया था कि हाजी साहब जाग उठे। दूसरे ही क्षण एक निडर सिपाही की भाँति उन्होंने चोर को पकड़ लिया, लेकिन जैसे ही प्रकाश में उन्होंने उस अभागे का मुँह देखा, वह चकित रह गये। वह उनका पड़ोसी था। कुछ बुरी आदतों के कारण अपना सब कुछ लुटा चुका था और अब एक शैतान या आवारा जीवन बिता रहा था। उसे देखकर हाजी साहब क्रोध से तमतमा उठे—"तुम! तुम मेरे घर डाका डालने आये हो?"

"पड़ोसी ने सिर झुका लिया।

"वह कहते रहे—"तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम इतने गिर गये हो। तुम्हें अपनी जाति, अपने कुल और अपनी इज्जत का कोई ख़याल नहीं है?"

"उनका क्रोध बढ़ रहा था और अपराधी के प्राण काँप रहे थे। वह रोने लगा और उसने हाजी साहब के पैर पकड़ कर कहा—"मुझे माफ कर दो। मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

"माफी!" उन्होंने कड़ककर कहा—"तुम्हें माफी माँगते शर्म नहीं आती? तुम माफी के योग्य नहीं हो। तुम्हें दण्ड मिलेगा।"

यह कहकर वह उठे। उन्होंने बक्स में से रुपये निकाले और चोर के काँपते हुए हाथ में देकर उसे दरवाजे तक छोड़ने आये। बोले—"आज से मैं तुम्हारा अभिभावक हूँ। तुम्हें वही करना होगा, जो मैं कहूँगा, समझे? जाओ, अब जाकर आराम से सो जाओ।"

"और उस चोर को कुछ सोचने, कुछ कहने का अवसर मिले, इससे पहले वह किवाड़ बन्द करके अन्दर लौट चुके थे।"

यहाँ आकर वह ठिठका। बोला—"मुझे आशा है, आपको उस चोर से ईर्ष्या हो रही है। होनी ही चाहिए, लेकिन क्या आप उस चोर को जानते हैं?"

वह फिर रुका—"आप नहीं जानते। मैं जानता हूँ। वह चोर मैं ही हूँ। मैं ही उस रात हाजीसाहब के घर डाका डालने गया था।"

यह सुनकर सभा स्तब्ध-चकित अपने प्यारे वक्ता को देखती रह गयी। •

स्वतंत्र देश : परतंत्र शिक्षा

•

डा० मोती सिंह

देश की स्वाधीनता के बाद हमारे सामने इसके नव निर्माण सम्बन्धी जो समस्याएँ उपस्थित हुई हैं उनमें शिक्षा का सबसे अधिक महत्व समझा जाना चाहिए। स्वाधीनता के बाद हमने देश के विकास के लिए योजनाबद्ध विकास पद्धति अपनायी। प्रथम और द्वितीय योजनाओं में मुख्य रूप से उत्पादन बढ़ाने पर अधिक जोर दिया गया, क्योंकि नीति के निर्धारण करनेवालों को देश में आर्थिक सम्पन्नता लाना सबसे पहला कर्तव्य प्रतीत हुआ। कोरी राजनीतिक स्वाधीनता खोखली सिद्ध होगी यदि उसके साथ साथ आर्थिक स्वाधीनता की स्थापना नहीं हो पाती। इस कार्यक्रम से किसी भी विचारक और समाज के हितैषी का कोई विरोध सामान्यतः नहीं हो सकता, किन्तु राजनीतिक या आर्थिक आजादी मात्र से ही हमारी बहुमुखी समस्याओं का सम्पूर्ण समाधान नहीं हो सकता।

शिक्षा का प्रयास : व्यक्तित्व का विकास

इसलिए इन योजनाओं के कार्यान्वयन के आरम्भ से ही इस बात की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ कि देश में सभ्य और सन्तुलित नागरिक बनाने के लिए शिक्षा के रूप और उद्देश्य में भी आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। किसी भी समाज की नयी रचना करने में सबसे अधिक महत्व वहाँ के नागरिकों में एक ऐसे उदार और सहकारपूर्ण दृष्टिकोण के उदय होने का है जिसके द्वारा न केवल प्रत्येक व्यक्ति की अन्तर्निहित मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक शक्तियों का ठीक ठीक तरीके से विकास हो सके, बल्कि साथ-ही-साथ वह विकास इस प्रकार का हो कि प्रत्येक व्यक्ति सन्तोष और तृप्ति का अनुभव करते हुए समाज के बृहत्तर कल्याण में भी सहायक हो सके।

शिक्षा मनुष्य में ऐसा संस्कार उत्पन्न करे जिसके द्वारा वह प्रसन्नता और स्वेच्छा से अपने अधिकार और साधनों को समष्टि के लिए अर्पित कर सके। इसे हम पुनः दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे व्यक्तित्व का विकास करना है जिसका अन्तर्विकास समष्टि के कल्याण की उपलब्धि में साधक हो सके। सम्पूर्णानन्दजी के शब्दों में शिक्षा एक प्रकार का आत्मसाक्षात्कार है जिसके द्वारा मनुष्य उस तत्व का अनुभव कर सके जिसके द्वारा समाज में वह अपना अस्तित्व और जीवन के औचित्य को जान सके।

कैसा साँचा ! कैसा ढाँचा !

शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए हम बहुत दार्शनिक और सूक्ष्म पिष्टपेषण में नहीं जाना चाहते। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि हमने समाज की रचना का लक्ष्य लोकतान्त्रिक समाजवाद या समाजवादी ढाँचा माना है। अतः हमारी शिक्षा पद्धति इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिसके द्वारा हम इस लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें। यदि देश इस लक्ष्य को सामने रखकर अपने समाज की रचना करना चाहता है तो उसे शिक्षा को जीवन के यथार्थ पर आधारित करना होगा। शिक्षा का सूत्र और नीतियाँ उन विशेष सामाजिक आदर्शों से अनुस्यूत होनी चाहिए जिनको हम अपने समाज में प्राप्त करना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नही कि हमारी दूसरी और तीसरी पचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा-पद्धति में यद्यपि कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हो पाया है, किन्तु इसके कार्यक्रम का विस्तार खर्च की दृष्टि से हुआ है। शिक्षा-सेवियो और देश-निर्माण की अन्तर्दृष्टि रखनेवालो की यह शिकायत अवश्य है कि केवल पचवर्षीय योजनाओं में थोडी धनराशि बढा देने मात्र से शिक्षा के महान लक्ष्यो की पूर्ति नही हो सकती।

बढा व्यय : घटी उपलब्धि

इन दिनो हमारा शिक्षा पर व्यय का विस्तार पहले की अपेक्षा यद्यपि बढ़ा है, फिर भी हम उसे एक लोककल्याणकारी समाज के लिए पर्याप्त नही मानते। यदि शिक्षा पर व्यय होनेवाली इस रकम से हम सन्तोष करना चाहें तो वह भी निराशा में परिणत हो जाता है, जब हम यह देखते है कि हमारे देश की शिक्षा का ढाँचा आज भी उन्ही अंग्रेजो-द्वारा बना-बनाया है जिन्होने हमारी आत्मा, सस्कार और राष्ट्रीयता को एकदम कलुषित कर रखा है।

आज स्वतत्र भारत मे प्राय हर कोने से शिक्षा के आधुनिक ढाँचे के विरोध की आवाज आ रही है। सभी इससे असन्तुष्ट हैं। प्राय सभी का यह विचार है कि शिक्षा के इस ढाँचे से हम जिस ओजस्वी और तप पूत राष्ट्रीय आत्मा का निर्माण करना चाहते हैं, वह असम्भव है। तो भी इस ढाँचे को छोड़कर इसके स्थान पर शिक्षा का नया आधार ढूँढना और इसे प्रतिष्ठित करने का दृढ प्रयास कही नही दृष्टिगोचर हो रहा है। करीब अठारह साल आजादी के बाद हमने बिताये। शिक्षा की सर्जनकारी शक्ति और उसकी प्रभावशालिता का सभी को बोध है, फिर भी हमारी मानसिक क्लीवता या सकल्प की शिथिलता के कारण हम शिक्षा के ढाँचे में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के लिए बढते हुए नही दिखाई पड रहे हैं, जिसमें लोकमानस सहज रूप से लोकशाही से सम्पृक्त समाजवादी ढाँचा बनाने की ओर सहजभाव से उन्मुख हो सके।

राष्ट्रीय शिक्षा . लक्ष्य की परीक्षा

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक हमारे सामने राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य और उसका लक्ष्य ही नही उभरा है। आज की शिक्षा को देखकर क्या हम कह सकते हैं कि हमारी शिक्षा देश में सच्चे लोकतत्र की प्रतिष्ठा के अनुरूप है? इसका उत्तर हमें नकारात्मक ही मिलेगा। यह सही है कि शिक्षितों की सख्या देश में बढी है। जो शिक्षा एक वर्ग तक सीमित थी वह आज देश के बहुत बडे जन-समुदाय के लिए सुलभ हो गयी है। यह शिक्षा अक्षरज्ञान, गणित, या दूसरी ज्ञान विज्ञान की जानकारी करा देने के लिए भले ही पर्याप्त हो, लेकिन इसके द्वारा देश की सच्ची प्रतिभा का विकास नहीं हो रहा है। ऐसे चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्व का सर्जन नही हो रहा है, जो बौद्धिक ज्ञान को एक साधन मानकर समता और भ्रातृत्व के आधार पर सामाजिक कर्तव्य को अपना लक्ष्य समझे।

नयी दिशा . पुराने सकेत

गाधीजी ने शिक्षा को एक नयी दिशा दी, जिसे हम बुनियादी तालीम या बेसिक शिक्षा कहते हैं। शिक्षा के ढाँचे में मौलिक परिवर्तन करने का यह पहला साहस-पूर्ण प्रयास था, जो कार्यान्वित होने के पहले ही दफना दिया गया। डा० जाकिर हुसैन जिनकी अध्यक्षता में यह सारी योजना तैयार हुई थी और जो इसके विशेषज्ञ समझे जाते रहे हैं, उन्होने अभी एक-दो महीनें पूर्व इसके प्रस्तुत रूप को मूल उद्देश्य और स्वरूप का एक उपहास-मात्र बतलाया है।

इस बुनियादी तालीम की तीन मुख्य विशेषताएँ थी—

(१) विद्यार्थी का शिक्षण किसी हस्तकौशल के ऊपर आधारित होना चाहिए जो उस समाज या स्थान मे प्रचलित हो। उसका शब्दज्ञान और उसके व्यक्तित्व का विकास उसी कौशल पर आधारित होना चाहिए।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) शिक्षा यथासाध्य कम खर्चीली हो और भरसक हस्त कौशल द्वारा अर्जित धन से चलायी जाय।

गाधीजी की इस योजना के द्वारा हमारी शिक्षा जीवन की वास्तविक परिस्थिति के अनुरूप और इसके समीप हो गयी। साथ ही शिक्षा की सबसे बडी उपलब्धि अर्थात् मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियो का इस प्रकार से स्वस्थ उत्प्रेरण जिससे उसका व्यक्तित्व सामाजिक

और राष्ट्रीय आदर्शों की सिद्धि में सहायक हो सके, सम्भव होता है।

उद्योग का आधार . एकता का सचार

गाधीजी की बमिक शिक्षा का आदर्श सही मान म राष्ट्रीय कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी तीनो विशेषताएँ राष्ट्रीयता के गुणो का विकास करने में सहायक थी। हस्तकौशल को माध्यम बनाने स और अगा के साथ ही विद्यार्थी में न केवल शारीरिक मानसिक और बौद्धिक प्रौढता आती है नैतिक गुणो का विकास होता है बल्कि उस प्रान्त की विशेष हस्तकला के साथ बालक की भावात्मक एकता के सचार होने से उसका अपनी भूमि और प्रदेश के साथ रागात्मक एकीकरण का योग भी सुलभ होता है।

गाधीजी न शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हुए एक जगह कहा था-- द एजुकेशन मस्ट रिजल्ट इन इण्टीग्रेटेड परसनालिटी अर्थात् सम्यक व्यक्तित्व का विकास शिक्षा का परिणाम होना चाहिए। यह इसी पद्धति क अनुसरण से बहुत अशो मे सिद्ध हो सकता था।

कुण्ठित कर्तृत्व खण्डित व्यक्तित्व

हम अपन देश की लोकतात्रिक व्यवस्था को यदि सफल बनाना चाहते है तो हमें एसी ही पद्धति अपनानी होगी जिसके द्वारा बच्चो में अपनी धरती सामाजिक जीवन और नैतिक आदर्शों के प्रति सच्ची आस्था को बल मिले। आधुनिक शिक्षा तथाकथित शिक्षितों को जीवन और यथार्थ से अलग करनेवाली है। इससे खण्डित व्यक्तित्व बौद्धिक दम्भ और बिखराव की ओर ले जानवाली प्रवृत्ति पैदा होती है। नयी पीढी को देश के स्वाभाविक वातावरण मे हाथ-पैर से काम करते हुए अपने बुद्धि विवेक का समाज-सेवा के निमित्त विकास करना होगा। आवश्यकता पडन पर सुन्दर सुन्दर भवनो और खर्चीले उपकरणो का भी परिहार करना होगा। वास्तविक जीवन से ही उन परिस्थितियो का विकास करना होगा जिसम भारतीय मस्तिष्क विवेक और नैतिक मान्यताओ से समृद्ध हो सके।

राष्ट्रीय शिक्षा के लिए मातृभाषा का माध्यम होना निहायत जरूरी है। यह सर्वथा अकल्पनीय है कि हम मातृभाषा के बिना राष्ट्रीय शिक्षा का स्वप्न देखे। शिक्षा का धरातल कभी भी व्यापक और उदार हो नही सकता, जबतक मातृभाषा के द्वारा विद्यार्थी की शक्ति और प्रतिभा का ठीक नियोजन नही किया जायगा। अँग्रेजी के माध्यम स एक ऐसे अल्प-सख्यक वर्ग का हमारे देश में उदय हुआ है जो सास्कृतिक और मौलिक दृष्टि से भी अपने को भारतीय समाज से पृथक और श्रेष्ठ मानता है, जो अपने कल्पित बडप्पन को देश के ऊपर लादना चाहता है। इस अल्पसख्यक वर्ग ने देश की मानसिक और सास्कृतिक गुलामी को कायम रखने में मदद की है। अँग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाना या उसे अनिवार्य विषय बनाना भारतीय मेधा को कुण्ठित करना है शक्ति और समय का घोर अपव्यय करना है और हमारी राष्ट्रीयता के लिए अपमान और कलक का सूचक है। यदि हमारी शिक्षा का उद्देश्य देश के राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन है तो हमें विदेशी भाषा के बोझ से अपने बच्चो को मुक्त करना होगा, जिससे सहज भाव से मुक्त वातावरण में बच्चो का विकास हो सके। हमारी आधुनिक शिक्षा का सबसे बडा अभिशाप अँग्रेजी की अनिवार्यता है जिसके कारण होनेवाली चिन्तनीय असफलता और शक्ति का अपव्यय प्रत्यक्ष है।

अँग्रेजी की हिमायत स्वार्थ की हिदायत

पर हिसाब लगाया जाय तो प्रति वर्ष हमारे देश में पचास प्रतिशत से अधिक विद्यार्थियो का बौद्धिक विकास अँग्रेजी के कारण अवरुद्ध और कुण्ठित हो जाता है। उनकी शिक्षा अधूरी रह जाती है। समाज को अनावश्यक धन का अपव्यय करना पडता है। देश की शक्ति का क्षय होता है। अँग्रेजी के हिमायती एक बहुत ही नगण्य अल्प सख्यक वर्गवाले हैं जो अपने निहित स्वार्थों के कारण अपन कृत्रिम आभिजात्य को जीवित रखना चाहते है तथा देश में लोकतन्त्र और समाजवाद का विकास रोकना चाहते है, क्योकि लोकतात्रिक समाजवाद का लक्ष्य है देश में राजनीतिक स्वाधीनता के साथ ही आर्थिक और सामाजिक समानता लाना। राजनीतिक स्वाधीनता से अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक स्वतत्रता है जो लोकतत्र की आधार-शिला है।

हमारी शिक्षा हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप तब हो सकती है जब हम बच्चा म स्वस्थ नैतिक या आध्यात्मिक मान्यता के विकास को प्रोत्साहित करें और उसपर दुराग्रह, एकांगिकता या हठधर्मिता का प्रभाव न होने दें। शिक्षा हमारे संस्कारो का इस प्रकार परिमार्जन करती है कि जिससे हमारी उदार मानवीय चेतना पूर्णरूप से प्रस्फुटित हो सकती है। धार्मिक, साम्प्रदायिक या दूसरे प्रकार की मतवादी कट्टरता इस उदार शिक्षण-पद्धति के शत्रु हैं। जिस देश की शिक्षण-पद्धति में किसी भी प्रकार की असहिष्णुता या एकांगिता आ जाती है उसमें जिस सम्यक व्यक्तित्व की चर्चा ऊपर की गयी है उसका विकसित होना न केवल कठिन है अपितु असम्भव है।

नैतिकता बढ़े दुराग्रह घटे

हमारे देश की राष्ट्रीयता के स्वरूप के साथ एक और विशेषता जुड़ी है जिसे हम धर्म निरपेक्षता के नाम से पुकारते हैं। धर्म निरपेक्षता ठीक तरह से उस वैचारिक सत्य को व्यक्त करती है या नहीं जिसे हम सेकुलरिज्म कहते हैं ऐसा कहना कठिन है। धार्मिक होते हुए भी साम्प्रदायिक न होना मेरी दृष्टि में धर्म निरपेक्षता है। अध्यात्म और आत्मशक्ति म आस्था रखते हुए भी उपचार और वाह्याचार से विरक्त होना धर्म निरपेक्षता है। हमारी शिक्षा-पद्धति को कुछ इसी प्रकार से ढालना पड़ेगा कि उसमें आत्मशक्ति पर आधारित आध्यात्मिकता या नैतिकता का स्वस्थ विकास हो सके। उसी के द्वारा चरित्र में सहिष्णुता, उदारता और सहकार आता है किन्तु साथ ही अंधविश्वास, दुराग्रह और अलगाव भी नहीं चाहिए।

*आज के इस युग म, जहाँ मानवता एक ओर बुद्धि-*वाद के अनियंत्रित विकास के कारण अपनी आत्मा को खो-सी चुकी है और बाहरी स्वस्थता की समृद्धि के बावजूद आन्तरिक शून्यता के कारण जैसे कुछ बेचैन है यदि हम अपने देश में शिक्षा के माध्यम से इन मान्यताओं का विकास कर सके, जिसमें आत्मा और बुद्धि-तत्त्व दोनो का समन्वय हो तो हम शायद न केवल अपने देश और समाज बल्कि समस्त मानवता की बहुत मूल्यवान सेवा कर पायेंगे। ●

सम्पादक के नाम चिट्ठी

पाकिस्तानी घुसपैठ और राष्ट्रीय संकट

प्रिय बन्धु

पाकिस्तानी घुसपैठ के कारण आज राष्ट्र संकट-कालीन स्थिति से गुजर रहा है। ऐसी हालत में हमारे लिए जरूरी है—

- समाचार पत्रों को पढ़ना और गाँववालों को सुनाना,
- सही जानकारी के आधार पर जनता का मनोबल बढ़ाना,
- साम्प्रदायिक तथा अराजक तत्त्वों से सावधान रहना,
- अफवाहों से सतर्क रहना,
- राष्ट्रीय भावना को (सभी सम्प्रदायों में) प्रोत्साहित करना,
- सुरक्षा और शान्ति-स्थापन के लिए शान्ति-सैनिकों को तैयार करना,
- असंयम वृत्तिवालों तथा चोरबाजारी की भावनावालों से सावधान रहना,
- पैदावार बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करना, और
- ग्रामोद्योगों को बढ़ावा देना।

—प्रभुनारायण सिंह
सेवापुरी, वाराणसी,

कश्मीर की घाटी :

समस्याओं का पहाड़

•

जयप्रकाश नारायण

कश्मीर के वाद तीन और प्राणघातक निर्णय लिये गये जिन्होने हमारे देश की नैतिक प्रतिष्ठा को और शान्ति के लिए लडन के अपने दावे को वडी ठेस पहुँचायी—

१ हगरी का मसला राजनीति की चूक

पहला निर्णय था हगरी के वारे में। पेरिस में निकोलस नवोकोव के घर पर कहे गये अलवट कैमस के ये शब्द आज भी मेरे कानो मे गूँजते हैं—'नहरूजी ने, जो अभी तक हमारे नेता थ हम सबको बहुत नीचे गिरा दिया।' वाद मे निश्चय ही पण्डितजी ने यह स्वीकार किया कि हगरी मे जो हुआ वह शुद्ध राष्ट्रीय चेतना थी, वह पश्चिमी साम्राज्यवाद की करतूत नही थी। पर, राजनीति में तो मौके की वात होती है। मौका चूके तो गये।

२ तिब्बत का सवाल उत्तर की प्रतीक्षा

दूसरा मामला था तिब्वत का। इतिहास वताता है कि तिब्वत कभी भी चीनी राज्य या चीनी प्रदेश नही रहा। वह सदैव स्वतत्र साम्राज्य रहा है। दलाई लामा चीन के सम्राट के गुरु और पुरोहित थे। तव कुछ दिनो तक पेकिंग का एक प्रतिनिधि ल्हासा मे रहता था। लार्ड कर्जन सरीखे साम्राज्यवाद के पुजारी तक मानते थे कि तिब्वत 'सवैधानिक मिथ्या कथा' थी और यह 'दोनो पक्ष की सुविधा के लिए' वनाकर रखी गयी थी। १९११ के वाद से तिब्वत पूर्ण स्वतत्र रहा। तव से ल्हासा में न कोई चीनी प्रतिनिधि रहता था, न तिब्वत की भूमि पर कोई चीनी सैनिक ही रहता था।

इतिहास के इन निर्विवाद तथ्यो के वावजूद जवाहरलालजी ने पेकिंग को तिब्वत की भेट चढा दी। कुछ तो शायद इसलिए कि उन्हे आशा थी कि चीन से हमारी दोस्ती हो जायगी और कुछ इस झूठी आशा से कि चीन की कम्युनिस्ट सरकार तिब्वत के स्वशासन का आदर करेगी। इस दुखद घटना का सवसे दुखद पहलू यह है कि पश्चिम की ताकतो ने भी भारत-जैसा ही रुख अख्तियार किया। भारत अगर ऐसा न करता तो शायद पश्चिमी शक्तियाँ भी कुछ और ही रूप ग्रहण करती। ऐसा होने से चीन का दमन करने के लिए रास्ता खुल गया।

वचाया शीत युद्ध वुलाया गरम युद्ध

अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि क्या तिब्वत को वचाने के लिए हिन्दुस्तान कुछ कर सकता था? मुझे विश्वास है कि अवश्य कर सकता था। स्मरण रहे कि अकेले होने पर भी तिब्वत ने नवम्वर १९५० में चीनी आक्रमण का प्रश्न सयुक्त राष्ट्रसघ में उठवा सकने में सफलता प्राप्त की थी। एल सल्वाडोर ने यह सवाल उठाया था, लेकिन जव सयुक्त राष्ट्रसघ की जनरल कमेटी ने इस पर विचार करना चाहा तो भारतीय प्रतिनिधि जाम साहव के कहने पर वह वापस ले लिया गया। ब्रिटिश प्रतिनिधि श्री केनेथ यगर ने भी उसका समर्थन किया था।

ऐसा इसलिए किया गया कि भारत ने कमेटी को आश्वासन दिया कि मामला शीघ्र ही शान्तिपूर्वक सुलझ जाने की आशा है। यदि भारत ने तिब्बत के प्रस्ताव का समर्थन किया होता तो सयुक्त राष्ट्रसघ की असेम्वली मे वह निश्चय ही स्वीकृत हो जाता। चीन उस समय कोरिया की लडाई मे लगा था और आक्सफोर्ड के एक विशेषज्ञ ने सुझाव दिया था कि यदि उस मौके पर थोडे-से भी शस्त्र दे दिये जाते तो चीन को रोका जा सकता था

और तिब्बत को कुछ मोहलत मिल जाती, जिससे वह चीन के खिलाफ लड़ने की पूरी तैयारी कर लेता। उसके अलावा ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत होने से तिब्बत को प्रभु-सत्तासम्पन्न स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया होता। ऊपर से कुछ भी कहता, लेकिन भीतर से रूस भी इस पर खुश होता। जवाहरलालजी अपने यहाँ 'शीत युद्ध' नहीं लाना चाहते थे, लेकिन इस प्रकार उन्होंने उत्तर से 'गरम युद्ध' के आने का द्वार खोल दिया।

जीवित प्रश्न : सजीव सन्दर्भ

फैले हुए दूध पर रोने से क्या? तिब्बत आज भी एक जीवित प्रश्न है और भारत का कर्त्तव्य है कि इस विषय में अपनी भूल का सुधार करे। चीन ने तिब्बत में मानवीय अधिकारों का उल्लंघन किया है, इसकी निन्दा करना ही काफी नहीं होगा। भारत शायद आज इसके लिए तैयार होगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दो बार ऐसे प्रस्ताव किये हैं। तीसरी बार भी ऐसे प्रस्ताव से कोई लाभ होनेवाला नहीं है। आज भारत को इस प्रश्न पर गम्भीरता से सोचना चाहिए और उसके साथ ही दलाई लामा के राजनीतिक स्तर के प्रश्न पर भी सोचना चाहिए। भूतान और सिक्किम के स्तर पर भी विचार करना चाहिए और सोचना चाहिए कि क्या कोई राज्यसंघ (कान्फेडरेशन) बन सकता है?

ऐसा सवाल किया जाता है कि अगर हम चीन के बारे में अपनी नीति में कोई महान परिवर्तन करें, तो क्या चीन क्षुब्ध होकर हमपर हमला नहीं कर देगा और क्या समझौते की सारी आशाओं पर पानी नहीं फिर जायगा? जो लोग चीनी शासन की प्रकृति नहीं जानते, वे ही इस तरह की भ्रामक कल्पनाएँ करते हैं। इस मामले में हमारी सरकार खुश करने की नीति का यह कहकर विरोध करती है कि इससे लोभ और लालच को बढ़ावा मिलता है, लेकिन चीन के मामले में उसने तिब्बत की भेंट देकर देख लिया कि उतने से उसका पेट नहीं भरा। हमारी कमजोरी से उसको आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिला। यह ऐसा मामला है जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और राष्ट्रीय हित, दोनों आपस में मेल खाते हैं। यहाँ मैं चीन के खिलाफ लड़ने की नीति का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। यह तो तात्विक रूप में शुद्ध शान्ति की नीति है। चीन के बारे में अपनी बदली हुई नीति के साथ हम अपने और उसके संयुक्त मित्रों के द्वारा चीन को सरहदी मामले का शान्तिपूर्ण हल कर लेने के लिए सुझा सकते हैं। उस मौके पर इस क्षेत्र में चीन के शुद्ध स्वार्थों पर भी विचार किया जा सकता है।

३. गोवा की कमाई : सैनिक कार्रवाई

तीसरी घटना, जो जरा दूसरे ढंग की थी, वह थी गोवा में पुर्तगालियों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई। इसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और मुख्यतः पश्चिम में भारत की शान्तिप्रियता की तसवीर को और धूमिल बना दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य होने के नाते हम इस बात के लिए वचनबद्ध थे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अन्य सदस्य के खिलाफ हम सैनिक शक्ति का उपयोग नहीं करेंगे, लेकिन हमने अपने इस वचन को इस ढंग से भंग किया कि लोग चौंक पड़े। देर-सबेर गोवा को हिन्दुस्तान में शामिल होना ही था, परन्तु इस पूरे मामले पर दूसरे ही ढंग से कार्रवाई करनी चाहिए थी और संयुक्त-राष्ट्रसंघ की उपनिवेश-विरोधी ताकतों से ऐसी प्रार्थना की जाती, जिससे संयुक्त राष्ट्रसंघ के राजपत्र का उल्लंघन न होता। आज तो विश्व-शान्ति के लिए एकमात्र राष्ट्रसंघ ही आधार रह गया है।

नैतिक सिद्धान्त : राष्ट्रीय उत्थान

आलोचक कहेंगे कि परराष्ट्र-नीति के लिए एक ही मापदण्ड हो सकता है, और वह है—राष्ट्रीय हित, मेरी तरह नैतिक सिद्धान्त नहीं। मैं ऐसा नहीं मानता। मैं समझता हूँ कि नैतिक दृष्टि से सही रास्ते पर चलने से किसी भी राष्ट्र को हानि नहीं हो सकती। साथ ही यह निर्णय करना आसान नहीं है कि कौन बात राष्ट्रीय हित में है और कौन नहीं! भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों के नेता और दल अपनी-अपनी दृष्टि से राष्ट्रीय हित की विवेचना करते हैं। जिन मुद्दों पर चर्चा की गयी, उनसे जाहिर है कि राष्ट्रीय हित में जो बात सही मानी गयी, वह गलत निकली। इस देश ने और इस देश के बड़े नेताओं ने अपनी नैतिक प्रतिष्ठा तो खोयी है, यह स्वयं में बड़ी भारी हानि हुई, शान्ति की शक्ति को भी ठेस

लगी और तिब्बत के बारे में तो भारत को बड़ी हानि सहनी ही पड़ी।

खोखली तटस्थता : खो रही घनिष्ठता

हाल में संसद के भीतर और बाहर तटस्थता की नीति पर काफी चर्चा हुई है। भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से टीकाएँ की हैं। मेरी दृष्टि से तटस्थता की नीति पर किया गया हमला और उसका बचाव, दोनों ही अवास्तविक हैं। आज 'तटस्थता' शब्द का कोई अर्थ नहीं रह गया है। वह केवल उभाड़नेवाला शब्द है। जब दो विरोधी गुट थे, तब इस शब्द का कोई अर्थ हो सकता था और वह शान्ति की नीति का प्रतीक हो सकता था।

परन्तु, आज तो कई विरोधी गुट हैं। आज तो हर देश परराष्ट्रीय मामलों में अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने पर जोर देता है। गुटों के ढीले पड़ने का मूल कारण यह है कि आन्तरिक स्थिरता और औद्योगीकरण के विकास से राष्ट्रीय साम्यवाद का उदय हुआ। इस विकास के कारण परराष्ट्र-नीति में लचीलेपन और स्वतंत्र निर्णय लेने की सम्भावना अधिक बढ़ गयी। इस स्थिति का यह लाभ उठाया जा सकता है कि अभी तक जिन शक्तियों की उपेक्षा की गयी है उनके साथ, जैसे जापान और फ्रांस के साथ, अधिक घनिष्ठता के सम्बन्ध स्थापित किये जायँ।

विश्व की आज जो नयी स्थिति है, उसमें पहले की अपेक्षा कहीं अधिक भटकने की गुंजाइश है; किन्तु यदि हम शान्ति और न्याय, इन दो बातों पर ध्यान रखें तो हमारी परराष्ट्र-नीति हमें केवल शक्ति ही नहीं देगी, संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर भी और बाहर भी विश्वशान्ति के ताने-बाने को अधिक शक्तिशाली बनायेगी।

वियतनामी विडम्बना : चीनी चंगुल

यदि यह नीति, उदाहरण के तौर पर वियतनाम पर लागू की जाय तो यह देश विश्वशान्ति को एक महत्वपूर्ण देन दे सकता है। अमेरिका इस बात का दावा करता है कि वह वहाँ आजादी और लोकतन्त्र के लिए युद्ध कर रहा है। वस्तुस्थिति बिलकुल उलटी जान पड़ती है। ऐसा लगता है कि यदि दक्षिण वियतनाम में स्वतंत्र चुनाव हों तो वियतकांग बहुत बड़ी तादाद में विजयी होगा। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के नाम पर वियतकांग से लड़ने का अमेरिका का कौन-सा औचित्य है?

ऐसा कहा जाता है कि वियतकांग के लोग कम्युनिस्ट हैं। यह नहीं सकता कि यह बात कहाँ तक ठीक है; परन्तु ऐसा हो भी तो, यदि वहाँ के निवासी स्वेच्छापूर्वक कम्युनिज्म को स्वीकार करते हैं तो किसी को उन्हें ऐसा करने से रोकने का क्या अधिकार है? यदि वियतकांग के नेतृत्व में दक्षिण वियतनाम और हो-चि मिन्ह की अध्यक्षता में उत्तरी वियतनाम आपस में मिल जायँ तो मैं नहीं मानता कि एशिया या दुनिया पर बहुत बड़ा संकट आ जायगा! मैं नहीं मानता कि संयुक्त वियतनाम चीन का पिछलगुआ बन जायगा। एक राष्ट्रीय कम्युनिस्ट-राज्य कुछ अधिक नुकसान नहीं पहुँचा सकता। दूसरी ओर, अमेरिका की वर्तमान नीति अवर्णनीय क्षति पहुँचा रही है और शायद उत्तरी वियतनाम को धक्के दे-देकर चीन के चंगुल में डालती जा रही है। कैसी विडम्बना है! ऐसा लगता है कि इसका प्रभाव अमेरिका की नीति को विफल बना रहा है।

हिन्द-पाक : दुर्विपाक

जहाँ तक हिन्द-पाक-संघर्ष की बात है, दूसरे गांधीवादियों की भाँति मैंने भी सरकार की कारवाई का समर्थन किया है। हमने ऐसा इसलिए किया कि हमें यह बात जँच गयी कि पाकिस्तानी आक्रमण होने पर भारत सरकार के पास देश की रक्षा के लिए आक्रमण करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रह गया था। पाकिस्तान ने पहले छिपे तौर पर सशस्त्र घुसपैठ की और उसके बाद वह छम्ब में अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के पार घुसा और फिर उसने सामूहिक हमला कर दिया।

इतना कहने के बाद, मैं नम्रता से यह भी कह देना चाहता हूँ कि मुझे इस बात का भरोसा नहीं है कि इससे पहले सरकार ने पाकिस्तान के साथ अपने झगड़ों के शान्तिपूर्ण निबटारे के लिए हर तरह का प्रयत्न कर लिया था। अभी ऐसा कहा जा रहा है, मानो झगड़ों को बनाये रखने की बदनामी सदैव पाकिस्तान के मत्थे

रही है। ऐसा कहकर लोग खुश भले ही हो जायें; लेकिन असलियत ऐसी है नहीं। कई बार ऐसा हुआ है कि हिन्दुस्तान ने स्थिति बिगाड़ी है। हम हाल की ही दुखद घटना को लें—मैं ऐसा नहीं मानता कि कश्मीर राज्य के संघराज्य के साथ वैधानिक एकीकरण के लिए कानून बनाने की कोई जरूरत थी। यह ऐसी बात नहीं है जैसे यह कहना कि अगर यह कदम नहीं उठाया गया होता, तो पाकिस्तान ने हमला नहीं किया होता। मैं कहना चाहता हूँ कि यह ऐसा कदम नहीं था, जिससे प्रेमपूर्ण समझौते में कुछ सुविधा मिलती। वस्तुत पाकिस्तान को ऐसा लगा कि मैत्रीपूर्ण वार्ता का इस तरह से दरवाजा धमाके के साथ बन्द कर दिया गया।

आह कश्मीर: वाह कश्मीर

इस समय तक हमारी सरकार का रुख ऐसा ही था कि हम पाकिस्तान के साथ कश्मीर के मसले पर सम्मानजनक और न्यायसगत समझौता करने के लिए तैयार हैं। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि कराची में हमारे प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति अय्यूब खाँ के बीच जो वार्ताएँ चलीं, उनमें यह मुद्दा नहीं था। अब सरकार का रुख बदल गया है और इसमें मैं पूरे तौर से सरकार के साथ हूँ। युद्ध-काल में अपने एक वक्तव्य में मैं यह बात जाहिर कर चुका हूँ। जब पाकिस्तान इस बात पर खुलकर आमादा हो गया कि जिस चीज को वह कूटनीति से नहीं प्राप्त कर सका, उसे वह जबरन अपनी ताकत से प्राप्त करेगा—विशेष रूप से जिस चीज को वह हथियाना चाहता है उसे पाने का न तो उसे नैतिक अधिकार है न कानूनी अधिकार—ऐसी स्थिति में भारत सरकार का समर्थन करना ही उचित था।

यहाँ एक बात और कह दूँ कि मैं यह मानता हूँ कि पाकिस्तान ने आक्रमण करके उस अधिकार को खो दिया है, जो ऐतिहासिक घटना क्रम से कश्मीर के भविष्य के बारे में बोलने का उसे प्राप्त हो गया था। वहाँ मैं यह भी मानता हूँ कि यह विश्वास करना राजनीतिक दृष्टि से भयकर भ्रम है और नैतिक दृष्टि से बिलकुल गलत है कि कश्मीर में अब सुलझाने के लिए कोई भी समस्या बाकी नहीं रही। समस्या अब भी है और वह है भारत सरकार और कश्मीर की जनता के बीच। वह केवल अमन और कानून की समस्या है ऐसा मान बैठने से यह भी वह सुलझ नहीं सकती। यह राजनीतिक ढंग की समस्या है और मैं आशा करता हूँ कि युद्ध-स्थगन दृढ़ होने के बाद, दोनों ओर की सेना हटने के बाद, घुसपैठ करनेवालों को वापिस बुला लेने या निष्कासन के बाद, जम्मू और कश्मीर के राज्यनेता और दूसरे कश्मीरी नेता, जिनमें से कई लोग अभी जेल में बन्द हैं, और भारत सरकार के लोग गोलमेज पर बैठकर बात करेंगे और ऐसा हल निकालेंगे, जो सबको स्वीकार हो।

झूठी समस्या मिथ्या प्रश्न

जहाँ तक हल निकालने का सवाल है उसके लिए जरूरी है कि दोनों ओर से पूरी राजनीतिक सूझ-बूझ से काम लिया जाय और हाल की घटनाओं ने जो पाबन्दियाँ लगा दी हैं उनपर भी भली भाँति विचार किया जाय। कुछ महीने पहले तक मेरा विचार था कि एक हल यह हो सकता है कि कश्मीर घाटी का एक स्वय शासित, तटस्थ और सैनिक राज्य स्थापित किया जाय। लार्ड एटली ने हाल में ही एक सुझाव दिया था कि स्वतंत्र कश्मीर का एक राज्य बना दिया जाय। इस देश में लार्ड एटली के प्रति बड़ा आदर और प्रेम है परन्तु हाल की पाकिस्तान की घटनाओं से, कश्मीर को हड़पने के लिए किये गये उसके बार-बार के आक्रमणों से यह बात साबित हो गयी कि यदि यह मजूर भी कर लिया जाय कि कश्मीर में स्वय शासित सरकार हो अथवा कश्मीर स्वतंत्र रहे, तो पाकिस्तान उसे उस रूप में रहने नहीं दे सकता।

तो, इस प्रकार कुछ सीमाओं की समस्या का मैत्रीपूर्ण और उचित हल निकालना होगा। कश्मीरी नेताओं को यह मानकर चलना होगा कि कश्मीर को भारत के अंग के रूप में ही रहना है। उधर भारत-सरकार को यह समझना होगा कि दमन के द्वारा वह अपने ढंग की सरकार और केन्द्र के साथ अस्वीकार्य सम्बन्ध कश्मीर की जनता पर नहीं लाद सकती है। यदि दोनों पक्ष घटनाक्रम द्वारा उपस्थित इन सीमाओं को मान कर चलें तो कश्मीर की समस्या का सुखद रूप में समाधान हो सकता है और दुनिया के लिए यह अध्याय हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है। ●

—मैसूर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण से

नयी ज़बान

•

ख़लील जिब्रान

अपनी पैदाइश के तीन दिन बाद जब मैं रेशमी झूले में पड़ा अपने चारों तरफ एक नयी दुनिया को हैरत से देख रहा था तो मेरी माँ ने अन्ना से पूछा—"कैसा है मेरा लाल ?"

अन्ना ने जवाब दिया—'मुहतरिमा, बच्चा बहुत अच्छा है। मैंने इसे तीन बार दूध पिलाया है। मैंने आजतक ऐसा बच्चा कभी नहीं देखा, जो इस कदर खुशमिजाज हो।"

मैं बेकरार होकर चिल्ला उठा—"माँ, यह सच नहीं। क्योंकि मेरा बिछौना सख्त है और मैंने जो दूध पिया है वह मेरी ज़बान को कड़ुवा लगा है और मेरी अन्ना की छातियों की बू मेरे लिए बड़ी तकलीफदेह है। मैं बड़ा दुखी हूँ।"

लेकिन, मेरी बात न मेरी माँ समझ सकी, न मेरी अन्ना। क्योंकि मैं जिस ज़बान में अपनी बात कह रहा था वह इस दुनिया की ज़बान नहीं थी। वह तो उस दुनिया की ज़बान थी, जिस दुनिया से मैं आया था।

इक्कीसवें दिन हमारे यहाँ मुल्ला आया और उसने मेरी माँ से कहा—"तुम्हें खुश होना चाहिए, क्योंकि तुम्हारा बेटा पैदाइश ही से मज़हब का पैरव (अनुयायी) है।"

उसकी बातें सुनकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। मैंने मुल्ला से कहा—"पर तुम्हारी मरहूम (मरी हुई) माँ को अफसोस होना चाहिए, क्योंकि तुम पैदाइश से ही मज़हब के पैरव नहीं थे।"

लेकिन, वह मुल्ला मेरी ज़बान को समझ न सका।

सात माह बाद मुझे एक ज्योतिषी ने देखा और माँ से कहा—"तुम्हारा बेटा बहुत बड़ा सियासतदाँ (राजनीतिज्ञ) होगा और दुनिया के लोगों के लिए एक बहुत बड़ा रहनुमा होगा।"

यह सुनकर मैं चीख पड़ा—"यह पेशेनगोई (भविष्य-वाणी) बिलकुल झूठ है। क्योंकि मैं एक गवैये के अलावा कुछ भी नहीं बन सकूँगा।"

लेकिन, उस उम्र में भी मेरी बात को कोई न समझ सका। मुझे बेहद ताज्जुब हुआ और अब मेरी उम्र ३३ साल की है और मेरी माँ, मेरी अन्ना और मुल्ला साहब मर चुके हैं। लेकिन, वह ज्योतिषी अभी तक जिन्दा है और मुझे कल मन्दिर के पास मिला। जब हम एक-दूसरे से बातें कर रहे थे तो उसने कहा—"मैं शुरू से ही जानता था कि तुम एक गवैये होगे। मैंने तुम्हारे बचपन में ही यह पेशेनगोई की थी।"

मैंने उसकी बात पर एतबार कर लिया। क्योंकि अब मैं खुद अपनी पहली ज़बान को भूल चुका हूँ।

लोग मुझसे कहते हैं—"अगर तू खुद को पहचान ले तो तमाम आदमियों को पहचान लेगा।"

और मैं उनसे कहता हूँ—"जबतक मैं तमाम लोगों को न पहचान लूँ, खुद को नहीं पहचान सकता।"

कल शाम मैंने फिलसफियों (दार्शनिकों) का एक गिरोह देखा, जो टोकरियों में अपने सर रखे शहर के बाजारों में आवाज लगाते फिर रहे थे—'फिलसफा ले लो ! फिलसफा ले लो ! !"

आह, ये भूखे फिलसफी ! पेट पालने के लिए अपने सरों की तिजारत करते हैं ! ! •

बाल-विकास और उत्तरदायित्व

•

मिलापचन्द्र दुबे

बच्चा भगवान की एक बडी देन है। वह दैवी शक्ति की एक ज्योति किरन है। वह हमारे घर में एक देव दूत बनकर आता है। क्या ऐसा भी कोई परिवार है, जिसने बालक के आगमन का स्वागत नही किया है! बालक ही तो मानव-समाज का मूलभूत आधार है। कौन नही चाहता कि उसके घर मे पलना बँधे और उसका आँगन किलकारियो से गूँज उठे?

घर के प्रत्येक बडे-बूढे का यह दायित्व है कि वह इस देवदूत के स्वाभाविक विकास में किसी प्रकार की बाधा न आने दे, बल्कि जितना हो सके उसकी शक्तियों के सर्वांगीण विकास में एक कुशल माली की तरह उसकी आवश्यकता के अनुरूप पोषण देकर अपने ढग से बढने देने मे अनुकूलताएँ और सुविधाएँ जुटा दे। इस भावना स न केवल हम एक भौतिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, वरन् आध्यात्मिक भावना की भी तुष्टि व पुष्टि करते है।

आवश्यकताएँ कुछ . अपेक्षाएँ कुछ

शिक्षा शास्त्रियो की मान्यता है कि बालक अपने लिए स्वतन्त्रता चाहता है स्वावलम्बन चाहता है, स्वय-स्फूर्ति से काम करने की अनुकूलता चाहता है और जिस नयी दुनिया में प्रवेश करता है उसका अधिक-से-अधिक चाहता है बोध करना। सबमे हिल मिलकर रहना पसन्द करता है। अपनी अनुभूति को यथार्थ रूप मे प्रकट करना उसे स्वभाव से प्रिय है। वह स्वभाव मे दयालु भी होता है। उसके मन में ऊँच-नीच तथा अपने-पराये का ध्यान नही होता है। निर्मलता तथा निर्भयता उसका जन्मजात गुण है। छोटी-बडी वस्तु तथा घटना से सस्कार ग्रहण करने की शक्ति उसको जन्म के पहले ही दिन से प्राप्त है। वह व्यवस्था प्रिय भी होता है।

अतएव बालक का लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा करनेवाले बाल-पूजा रत जिज्ञासुओ का यह दायित्व है कि वे बाल-व्यक्तित्व के इन पहलुओ का गम्भीर चिंतन कर, उसकी यथार्थ पूजा के लिए उन सब साधनो को यथा-शक्ति जुटाने का प्रयत्न करें जिससे इस दैवी शक्ति का स्वाभाविक विकास हो सके। आज के युग की यही होगी बाल-कृष्ण की यथार्थ पूजा।

स्वतन्त्रता का अपहरण अनुत्तरदायी वातावरण

सबसे पहला आघात, जो बाल-जीवन अपने ऊपर अनुभव करता है वह है उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण। प्राय उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप में रोक-टोक ही लगी रहती है। वह अपनी सहज प्रकृति के अनुसार जब दूसरो को काम करते देखता है तो अनुकरण करने की नैसर्गिक शक्ति के अनुसार, जो उसको ईश्वर की ओर से सीखने सिखाने के लिए प्राप्त है वह स्वय भी काम करना चाहता है। वह घर के प्रत्येक काम मे बडो की तरह भाग लेना चाहता है, किन्तु इन सब कामो के लिए नासमझ शिक्षको तथा अभिभावकों-द्वारा रोक-थाम का ही नारा बुलन्द होता रहता है।

परिणाम यह होता है कि बालक की काम करने की सहज प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। वह घर के कामो से अनमना और उदासीन होकर निकम्मा बन जाता है। परिणाम-स्वरूप अवस्था प्राप्त करने पर बडो को उसका

यह निकम्मापन अखरने लगता है और एक दूसरे के प्रति दूषित भावना से विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। किन्तु ऐसे कितने पालक हैं जिन्होंने यह सोचा हो कि बालक को इस प्रकार पगु तथा परमुखापेक्षी बनाने का उत्तरदायित्व उनका स्वय का ही है ?

चाह स्वावलम्बन की राह परावलम्बन की

दूसरी बाधा बालक के विकास मे उसको स्वावलम्बी जीवन बिताने के अवसर का न दिया जाना है। दैनिक जीवन के कार्य—खाना-पीना नहाना पहनना ओढना, सफाई करना आदि भी दूसरो की भांति बालक स्वय करना चाहता है। इन सब कामो में उसकी स्वाभाविक रुचि होती है। यदि उसको दैनिक जीवन के ये कार्य करने को मिल तो उसे आनन्द आता है हिम्मत बढती है शक्ति का विकास होता है और स्वावलम्बन-द्वारा आत्मनिर्भरता आती है। किन्तु प्राय घरो में सब काम केवल बडो की ही दृष्टि से होत हैं जैसे कि उन घरो में बालक का अस्तित्व ही न हो। कतिपय ही भाग्यवान घर होगे जहा की व्यवस्था बालको की सुख-सुविधा तथा अनुकूलता को ध्यान म रखकर की जाती हो।

बाल-जीवन के स्वाभाविक विकास के लिए ईश्वरीय देन के उत्तराधिकारी होते हुए भी उनको दूसरो का ही मुँह ताकना पडता है। पीने का पानी इतने बडे बरतन में इतनी ऊँचाई पर रखा जाय जो उनकी पहुँच के बाहर हो। भोजन भी बडी बडी आलमारियो म बन्द रखा होता है तीसरे आसमान पर और कपडे टाँगने की खूटियाँ उनके आकार से चौथे आसमान पर ! बडे बडे पलग व भारी-भारी ओढने बिछौने आदि तो होते ही है। एक भी व्यवस्था ऐसी नही होती जिससे सिद्ध हो कि हम बच्चो का घर मे होना स्वीकार करत हैं। पग पग पर बालक परतत्र एव परमुखापेक्षी होता है। अपनी प्रत्येक आव श्यकता के लिए वह बडो पर निर्भर रहता है और भीख-सी माँगता रहता है। कभी कभी यह भीख उसको बहुत महँगी पड जाती है और बदले में निरपराध बालक को मार भी हाथ लगती है। यह है बाल-जीवन की करुण कथा का नग्न चित्र। आवश्यकता यह है कि समझदार पालक इन तथ्यो के प्रति जागरुक हो।

जिज्ञासा भरे प्रश्न : निराशा भरे उत्तर

स्वतत्रता तथा स्वावलम्बन की भांति स्वय-स्फूर्ति भी उसमें सहज भाव से रहती है। यदि स्वय-स्फूर्ति से उसको काम करने के अवसर मिलते रहें तो उसमे शरीर के स्वास्थ्य, चित्त की चैतन्यता और चारित्र्य की पवित्रता का सहज विकास होता रहता है। यदि माँ बाप चाहते है कि बडे होने पर उनका बच्चा अधिक सुखी, सम्पन्न तजस्वी, पुरुषार्थी, सेवा भावी और कर्मठ बने तो उनका कर्तव्य हो जाता है कि उसमें सुरुचि का निर्माण करें तथा रुचिपूर्ण कार्यों के करने मे सहयोग प्रदान करें, जिससे बालक की जिज्ञासा वृत्ति नष्ट न हो और उसमें भरपूर उमग व उत्साह बना रहे।

बालक अपनी नयी दुनिया से अधिक-से-अधिक परिचित होना चाहता है। उसके प्रश्न जिज्ञासा से भरे होते है। उसके प्रश्नो का समझदारी और शान्ति से सही-सही उत्तर मिलना चाहिए। ऐसा करने से उसकी जिज्ञासा-वृत्ति की तुष्टि होगी।

बच्चो की जिज्ञासा को तृप्त करने के प्रयास में हम स्वय भी जिज्ञासु की भांति अध्ययनशील रहकर नवीनता, उमग और उल्लास का अनुभव करेंगे। हर घर में इस बालकृष्ण के पदार्पण के पहले प्रत्येक माता पिता का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने ज्ञान और अपनी जानकारी को पढ़कर, सुनकर, समझकर, देखकर, सोचकर इतना बढा ले कि समय पर बालक के प्रश्नो का सन्तोषजनक समाधान किया जा सके।

यद्यपि शिक्षा-शास्त्रियो ने बाल-जीवन तथा बाल-मानस का गम्भीर चिन्तन कर, शिक्षा के क्षेत्र मे बालक को ही प्रधानता दी है तो भी घर, समाज तथा पाठशाला में बडो के बाद ही बालक का विचार करने की परम्परा जकडती जा रही है। अत बालक को अपने व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करने का अवसर आज के लोक-जीवन मे नही मिल रहा है। इसलिए मनुष्य समाज की सुख और समृद्धि की आकाक्षा रखनेवालो का यह कर्तव्य है कि बाल-जीवन की इन मूलभूत समस्याओ की ओर जागरूक रहकर उनका गहरा चिन्तन करें और उनके जीवन में सहज विकास की ओर अग्रसर होने में अनुकूलता लाने के भरसक प्रयत्न करें। ●

एक मामूली आदमी

●

गुरुशरण

पं० चक्रपाणि पाण्डे उन देहातियों की कोटि में हैं, जिन्होंने 'मसि कागद कलम छुओ नहिं हाथे।' चौड़े कन्धोंवाला लम्बी काठी का भरा-पूरा शरीर, साठ से ऊपर उम्र, मूंड पर मुंडासा (साफा), घनी मूंछें, बस एकटक देखता ही रह गया। इस उम्र में भी वे अपने इलाके के सबसे मेहनती किसान माने जाते हैं। उनको देखकर यह बात तो समझ में आती थी, पर उनका कवि होना सचमुच आश्चर्यजनक था।

"आपने कविता करना किससे सीखा?"—सहज ही उनसे पूछा तो उनका उत्तर था—"गाँव की माटी से, उसकी सोंधी-सोंधी सुगन्ध से, बगल में बहती चम्बल से, कल-कल नाद करते उसके जल से, उजली धूप और पुरवैया बयार से। मुझे एक-दो से नहीं, पूरे गाँव से भर-भर अँजुरी स्नेह मिला है। यही स्नेह मेरी सबसे बड़ी सम्पत्ति है और है सबसे बड़ी कविता।"

"तब भी कुछ तो?"—मैंने फिर जिज्ञासा प्रकट की।

"कुछ तो क्या? मैं उस आदमी को सबसे ज्यादा गरीब और मोहताज मानता हूँ, जो अपना वक्त काटने के लिए दूसरों का मुंह जोहता फिरे। अपना भी वक्त बरबाद करे और दूसरों का भी। मैं तो अपने से ही खुश हूँ और अपने से ही राजी। मेहनत करता हूँ और मस्त रहता हूँ।"

"बतरस भी तो एक रस होता है।"—मैंने उन्हें फिर छेड़ा।

"होता होगा कुछ लोगों को, लेकिन मुझे तो फुदकते हुए बछड़ों, खिलते हुए फूलों और सवेरे के उगते हुए सूरज को देखकर असीम आनन्द मिलता है। हारे-थके घर आकर बच्चों के बीच बच्चा बन जाने में, बल्कि उनको पीठ पर बैठाकर घोड़ा और हाथी बन जाने में, जो आनन्द है वह त्रिभुवन में कहीं अन्यत्र नहीं। किसी नन्हें बच्चे को कन्धे पर बैठाइए, किसी शिशु को पैरों पर झुलाते हुए बन्तक थैयाँ करके आप एक अद्भुत आनन्द से अभिभूत हो उठेंगे।"

"क्या आपको कोर्ट-कचहरी कभी नहीं जाना प[illegible]?"—मैंने आखिरी प्रश्न पूछा।

"अरे, राम भजो भइया। कानून से समाज बढ़कर है। मिलकर रहना, बांटकर खाना, यही अपना धर्म है; और न किसी से ऐसी गुड़भरी दोस्ती की, जिसमें चींटे लगें और न काहू से बैर।"

"पाण्डेजी आपसे मिलकर बड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ। धन्य हैं आप—"—सुनते ही बोल उठे—"देखो बेटे, दुनिया में सबसे बड़ा ज्ञान है शरीर का। कहते हैं कि परमात्मा का वास आत्मा में रहता है, तो यह आत्मा भी बिना शरीर के नहीं रहती। इसलिए शरीर-धर्म की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसे अधिक आराम देना काहिल व निकम्मा बनाना है, और उससे शक्ति से ऊपर काम लेना उसे दुर्बल बनाना है। दोनों ही बातें गलत हैं। शरीर की संभाल के लिए प्रकृति के नियमों की जानकारी रहे और उसके मुताबिक चलने का धीरे-धीरे अभ्यास होता जाय तो फिर कभी पछताने की स्थिति नहीं आती। अक्षर-ज्ञान का भी बहुत बड़ा महत्व है, पर वह भी शरीर को भूलकर प्राप्त करने से अधिक सुखदायी नहीं होता।" ●

शिक्षा

नयी दिशा : नये संकेत

"अपने बौद्धिक विकास के प्रयास में रत छात्रों को अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए पहले से अधिक शान्त वातावरण प्राप्त रहेगा तथा उन्हें कम-से-कम भावनात्मक और मानसिक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा 'कल का स्कूल' में। और, इसमें प्रत्येक छात्र पर पहले से भी अधिक ध्यान केन्द्रित रहेगा। उसका लक्ष्य शिक्षा को छात्र की रुचि और आवश्यकता के अनुसार ढालना होगा, न कि छात्र को एक विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति के अनुकूल ढालना। . . सभी से यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि 'कल का स्कूल' विद्युदणु-यन्त्रों से सज्जित ऐसी जादू-नगरी होगा, जिसमें शिक्षा प्रदान करने के लिए गणक-यन्त्रों, टेलिविजन-सेटों, व्यक्तिगत ज्ञानोपार्जन तथा टेक्नालाजी के अन्य चमत्कारों का व्यापक रूप में उपयोग किया जायगा।

—डा० जेम्स ई० एलन

अमेरिका में कुछ प्रमुख शिक्षाशास्त्री, शिल्पी, इंजिनियर, डिजाइनर और संचार-साधन विशेषज्ञ परस्पर मिलकर कल के स्कूल की रूपरेखा निर्धारित करने का प्रयास कर रहे हैं। ये 'कल का स्कूल' न केवल स्कूल जाने योग्य उम्र के बालकों को—जिनकी संख्या तेजी के साथ बढ़ती जा रही है, बल्कि प्रौढ़ व्यक्तियों को भी शिक्षा प्रदान करने में समर्थ होंगे।

साठ हजार छात्र : एक स्कूल

शिक्षा शास्त्रियों की टिप्पणियां और विचारों को ध्यान में रखते हुए शिल्पियों ने पूर्णतः विकसित और आत्मनिर्भर स्कूल की डिजाइन तैयार की है। प्रस्तुत डिजाइन के अनुसार यह स्कूल एक ऐसे सामाजिक केन्द्र के रूप में प्रयुक्त हो सकेगा, जिसमें एकसाथ साठ हजार व्यक्तियों के बैठने के लिए स्थान की व्यवस्था होगी। इसमें प्राथमिक, माध्यमिक स्कूलों तथा कालेजों की सभी बातें और विशेषताएँ मौजूद रहेंगी। साथ ही घरेलू अध्ययन, पुस्तकालय, ललित कला-केन्द्र, संग्रहालय, स्वास्थ्य और मनोरंजन-केन्द्र, सेटेलमण्ट हाउस, नागरिक सभा-मण्डप तथा अन्य बहुत-सी सामुदायिक सुविधाएं सुलभ रहेंगी।

'कल का स्कूल'-भवन के सभी कक्षों का मौसम, रंग, प्रकाश और ध्वनि आदि पूर्णतः स्वनियंत्रित होगा। दरियों का उपयोग करके ध्वनि को काफी हल्का कर दिया जायेगा, फर्नीचर अत्यन्त उपयोगी और आरामप्रद होगा, कक्षाओं में भीड़ भाड़ नहीं रहेगी, आंखों पर प्रकाश का जोर नहीं पड़ेगा तथा छात्र सभी कुछ भली प्रकार सुन सकेंगे। इस प्रकार ईसवी २००० में ये स्कूल अधिक अच्छी तरह सुनने, अधिक अच्छी प्रकार अनुभव करने और अधिक अच्छी प्रकार ज्ञानार्जन करने में पालक की सहायता करेंगे।

कल के स्कूल में तीन टावर होंगे और कई इतर भवन, जो स्कूल की निचली मंजिल की छत पर स्थित होंगे। इनमें एक भवन प्रदर्शन और परीक्षण-केन्द्र होगा। इस भवन का उपयोग 'विद्युदणु-केन्द्र' में संग्रहीत किये जानेवाले दृश्य-श्रव्य कार्यक्रमों को टेपांकित करने के लिए किया जायेगा।

यन्त्रों का जादू : बोलते संकेत

'विद्युदणु-केन्द्र' स्कूल के पुस्तकालय के रूप में कार्य करेगा, लेकिन इसमें संचित सूचना और जानकारी पुस्तकों में नहीं, अपितु चुम्बकीय टेपों में निहित होगी। इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर 'पुस्तक' के किसी भाग का अविलम्ब अध्ययन करना सम्भव हो जायगा। प्रशिक्षण के लिए सुलभ प्रत्येक प्रकार की श्रव्य और दृश्य सामग्री किसी भी कक्षा अथवा परीक्षणशाला को सीधे 'रिले' की जा सकेगी।

'इण्ट्रोडक्शन सेण्टर' (परिचय-केन्द्र) में ३ वर्ष से लेकर ७ वर्ष की अवस्था तक के बालकों को इस प्रकार का वातावरण प्रदान किया जायगा, ताकि के घर के वातावरण से निकलकर सामुदायिक वातावरण में रहने के अभ्यस्त हो सकें।

'इकोलॉजिकल केन्द्र' में एक छोटा-सा संग्रहालय, जन्तुशाला, और वनस्पतिशाला होगी। शरीर रक्षा और स्वास्थ्य-केन्द्र में अवकाशकालीन गतिविधियों में पूरा परिवार भाग ले सकेगा। स्कूल में सभी प्रकार के मौसम के उपयोग में आनेवाला एक मण्डपाकार छतवाला क्रीडाँगन भी होगा। यह छत इस प्रकार की होगी कि आवश्यकता पड़ने पर पूरी तरह हटाई अथवा बन्द की की जा सके।

अन्य राज्यों से आनेवाले अतिथि छात्रों और शिक्षकों के निवास के लिए एक विशेष अतिथिशाला भी इसमें होगी।

'कल का स्कूल' में किण्डरगार्टन श्रेणी से लेकर उच्च कक्षाओं में पढ़नेवाले छात्र ही शिक्षा नहीं प्राप्त करेंगे, अपितु प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने की भी सन्तोषजनक व्यवस्था रहेगी। इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि ईसवी २००० तक अमेरिका में काम के सप्ताह की अवधि ४० घण्टे से भी कम रह जायगी।

आजकल के स्कूल वर्ष में नौ माह, सप्ताह में केवल ५ दिन, और प्रति दिन ८ या ९ घण्टे खुलते हैं, लेकिन 'कल का स्कूल' वर्ष में ५२ सप्ताह (अर्थात् ३६४ दिन) और २४ घण्टे खुला रहेगा। इसमें छात्रों के लिए ऐसे अध्ययनक्रमों और कार्यक्रमों की व्यवस्था की जायगी जिनका उद्देश्य छात्रों में उन समस्याओं और चुनौतियों का सामना करने की क्षमता उत्पन्न करना होगा, जो प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर उनके समक्ष उपस्थित होंगी। ये समस्याएँ और चुनौतियाँ सम्भवत इस प्रकार की होंगी—

- रोजगार-सम्बन्धी अवसरों के लिए प्रतियोगिता में भाग लेने की आवश्यकता,
- परिवार के मुखिया के रूप में उनके दायित्व, और
- उत्तम जन प्रतिनिध्यात्मक सरकार और विश्व-शान्ति को कायम रखने के सम्बन्ध में एक नागरिक की हैसियत से उनके उत्तरदायित्व।

अबाधित वातावरण शिक्षा का नया चरण

आज से ३६ वर्ष बाद छात्र अध्ययन के लिए जिन उपकरणों का उपयोग करेंगे उनमें सम्भवत सबसे अधिक उल्लेखनीय उपकरण होगा—अध्ययन-कक्ष (स्टडी-स्फियर)। यह एक वृत्ताकार उपकरण होगा, जिसका व्यास ६ फीट होगा और आधारभूत ज्ञानोपार्जन के लिए इसका उपयोग घर में भी किया जा सकेगा। छात्र इसमें प्रविष्ट होकर अपने को पूरी तरह बन्द कर लेगा, ताकि अध्ययन के समय उसे बाधारहित वातावरण मिल सके।

यह अनूठा अध्ययन-कक्ष एक स्पर्श-दण्ड (एण्टीना) से युक्त होगा, जिसकी सहायता से भीतर बैठा हुआ छात्र समस्त विश्व के रेडियो-संकेत (श्रव्य और दृश्य) प्राप्त कर सकेगा। इसमें चन्द्रमा से प्रतिबिम्बित होकर पृथ्वी को वापस लौटनेवाले संकेत भी शामिल होंगे। इस अनूठे अध्ययन-कक्ष के अन्दर एक छोटी-सी टेलिविजन और फिल्म स्क्रीन, एक माइक्रोफोन, टेपों को बजा कर सुनने की यान्त्रिक व्यवस्था, स्टीरियो स्पीकर यान्त्रिक-प्रणाली, इयर-प्लग रिसीवर-यन्त्र (कान पर लगाकर सुननेवाला यन्त्र), एक छोटा-सा गणक-यन्त्र, प्रकाश के प्रति संवेदनशील मेज, तुरन्त छपाई करनेवाली यान्त्रिक-विधि, टाइपिंग 'की' बोर्ड और इधर-उधर घुमाई तथा ऊपर-नीचे की जा सकनेवाली सीट इत्यादि यान्त्रिक सुविधाएँ मौजूद होंगी। —यू एस आई एस

पहले माथ मुड़ा लो

•

विवेकीराय

मेरे सामने एक पत्र है। यह एक विद्यार्थी का पत्र है जो देहात से हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर एक बडे शहर के कालेज में प्रविष्ट हुआ है। मुझे इस पत्र का उत्तर देना है। पत्र के साथ छात्र का एक चित्र भी है। छ-सात महीने मे ही कितना बदल गया है। पहचान में नहीं आ रहा है। गाँव पर स्कूल जाने के लिए नित्य पाँच छ मील रास्ता तय करना पडता था। कठिनाइयो का जीवन था। अत चेहरे पर कठोरता और दृढता थी। वहाँ छात्रावास मे रहता है। आराम है खाने-पीने की नियमितता है। अत चेहरे पर कोमलता और चमक आ गयी है। क्रान्तिकारी परिवर्तन है बालो में। यहाँ सिर के बाल शायद ही कभी कानो को छू पाते थे और वहाँ कान तो क्या नाक तक आ जायें तो ताज्जुब नही। किसी अच्छे सैलून म कटे है। आठ आने पैसे से कम कटाई नही लगी होगी।

मुझे याद है कि इतने ही पैसो के लिए इसका एक बार स्कूल में नाम कट गया था। तेल-साबुन भी ऊपर से बैठता होगा। शीशा भी खरीदना पडा होगा। अब क्या है? शहर की पढाई समझकर एक पत्र आने पर कर्ज काढकर, गहने गिरवी रखकर या बन्धक रखकर घरवाले गहरी रकम मनीआर्डर कर देते है। वहाँ एक से बढकर एक आकर्षण। चौडी सडकें, बिजली की रोशनी, रिक्शा, जलपानगृह, सिनेमा, खूब चहल पहल और रौनक। धँस गया बेटा एकदम। और छ महीने बीते कि यहाँ दर्जे में प्रथम आनेवाला वह, वहाँ छमाही परीक्षा मे फेल होते-होते बचा है। पत्र मे लिखा कि तबीयत ठीक नही रहती। मैंने सलाह दी कि यहाँ तो तुम्हारा सिर भी कभी दर्द नही करता, वहाँ क्या बात है? कसरत किया करो। अब जो उत्तर मिला, सामने है। लिखता है कि 'समय नही मिलता।' क्या सफेद झठ है!

चौबीस घण्टे म पन्द्रह मिनट का समय स्वास्थ्य रक्षा के नाम पर देने के लिए नही मिलता, परन्तु बालो में रोज साबुन लगाने के लिए तो समय मिलता होगा। स्नान के बाद बालो को काढने, सँवारने और शीशे के सामने देर तक खडे होकर सीधे-टेढे बनाने बिगाडने के लिए तो समय मिलता होगा? मैं इस छात्र को लिखना चाहता हूँ कि पढाई शुरू करने के पहले तुम अपने इन लम्बे-लम्बे, झबर झबर और सिर पर सँवारे गये बालो को उतार फेको। ये तुम्हें पढने नही देंगे। ये भारी बोझ हैं। ये बला है। तुम्हें अनुकरण उन लोगो का नही करना है जो आराम और विलास की जिन्दगी बिता रहे हैं। क्या ये तुम्हारे लम्बे-लम्बे बाल तुम्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में कुछ सहायता पहुँचाते हैं? कितना परिश्रम करते हो इनके ऊपर? कितना ध्यान देते हो और कितनी सावधानी बरतते हो इनके लिए? मैं तुम्हें सलाह देता हूँ—समय श्रम और पैसे की बचत के लिए मस्तिष्क को शुद्ध हवा आवश्यक है।

श्री योगानन्द सरस्वती की पुस्तक 'हम नीरोग कैसे रहें!' पढो तो तुम्हें पता चलेगा कि अध्ययन के लिए सिर मुडाना कितना लाभदायक है। इससे मस्तिष्क को विशुद्ध हवा मिलती है और मिलती है धूप। मैल नही बैठता। यदि बढ़िया तेल मस्तिष्क की ताजगी के लिए प्रयोग करना चाहते हो तो मला इन लम्बे-लम्बे

बालों के जंगल को पार कर वह कैसे जड़ तक पहुँचेगा ? छोटे-छोटे बाल हों तो कम तेल भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

इतने बढ़िया बालों की काट-छाँट जाननेवाले नाई तुम्हें हर जगह कहाँ मिलेंगे ? उधर मुण्डन तो ऐसी हजामत है जिसके बनानेवाले हर जगह हैं । तुम यह क्यों भूल जाते हो कि तुम गाँव के निवासी हो। वास्तव में मुण्डन ही हजामत का प्रकृत रूप है। हजामत के लिए यदि दर-दर भटककर सैलून खोजना पड़े तो यह कितनी खटकनेवाली बात है। एक-एक क्षण अनमोल है और यदि काफी समय एवं श्रम के साथ धन का व्यय भी हजामत जैसी चीज पर होने लगे तब तो पढ़ाई लिखाई को दूर से नमस्ते कर लेना ही उत्तम है। तुम कहोगे कि साथियों के बीच लाज लगेगी। क्या बताऊँ ? जमाना ही बदल गया। लाज लगनी चाहिए फेल होने में, बुरा होने में और लक्ष्यच्युत होने में। पवित्रता की राह लज्जाजनक नहीं है। मित्रगण एक दो दिन हँसेंगे, फिर तुम्हें इसी प्रकार देखने का उन्हें अभ्यास हो जायेगा। तुम अपनी भलाई स्वयं सोचो। ये हँसनेवाले तुम्हारे असली शुभचिन्तक नहीं हैं। बनावट और शृंगार मानवता तथा उन्नति के लक्षण नहीं हैं। दूसरों के शृंगार के लिए अपनी नाक नहीं कटायी जाती।

सोचो तो, तुम्हारी माँ एक आने के नमक में पन्द्रह दिन काम चलाती है और तुम आठ आने का साबुन इतने समय में व्यर्थ ही बालों पर रगड़कर उड़ा देते हो। सैलून की कटाई अलग। अरे, उन्हें साफ करा डालो। मैल जाता रहेगा। नहाने पर पानी भी जल्दी गिर जाया करेगा। पवित्रता का अनुभव करोगे। कहते हैं कि सिर मुड़ाने से गरदन मोटी होती है। लम्बे-लम्बे बालवालों की बगुले-सी गरदन देखकर हमें तो भारी दुख होता है। साधु संन्यासी लोगों को सिर साफ कराये देखकर कैसी महानता की भावना आती है। आज कोमलता का जीवन हमें नहीं चाहिए। आरामतलब आदमी उन्नति नहीं करता। क्या लम्बे-लम्बे सँवारे-काढ़े गये बालोंवाले लोग बोझा ढो सकते हैं ? बोझ ढोना या सिर पर कुछ रखना तो दूर रहा, ऐसे नाजुक लोग गरमी में भी सिर ढककर नहीं चलते कि बालों की सजावट बिगड़ जायेगी, सिर पर टोपी नहीं डालते।

बालवालों को बालों की चिन्ता में कितनी परेशानी होती है। एक उदाहरण से समझ सकते हो।

केन्द्रीय मनोविज्ञान-परिषद के सम्मुख एक छात्र ने बड़ा दिलचस्प बयान दिया कि किस प्रकार बालों के मोह ने उसे बरबाद कर दिया। उसने बताया कि वह सदा प्रथम श्रेणी का छात्र रहा। बी० ए० की परीक्षा के समय जिस दिन गणित के प्रथम प्रश्नपत्र की परीक्षा थी वह साइकिल से चला आ रहा था। रास्ते में अचानक एक झाड़ी से उलझकर उसके सँवारे हुए बाल अस्तव्यस्त हो गये। उसे बराबर खटकने लगा कि हमारे बाल कैसे भद्दे हो गये। उसे आशा थी कि किसी-न किसी प्रकार शीशा-कंघी उपलब्ध कर वह सँवार लेगा, परन्तु पहुँचते-पहुँचते घण्टा बज गया। कुछ साथियों ने आँखें उठायीं तो ऐसा लगा कि सभी उसके बालों पर हँस रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह पूरे तीन घण्टे तक बालों की उलझन से पिण्ड नहीं छुड़ा सका और परचा खराब हो गया। उसका परीक्षाफल द्वितीय श्रेणी में निकला और जीवन की सारी अभिलाषाओं पर पानी फिर गया।

इन लम्बे-लम्बे बालों से अपने को सुन्दर बनाकर दिखाने की भावना आयेगी। जानते हो, यह कितनी जहरीली भावना है ? इसका परिणाम भी सोचा है ? बाल अधिक बढ़ाये रखने पर पतले होकर झड़ने लगते हैं, जड़ें कमजोर हो जाती हैं। मुड़ाने से मजबूत होती हैं। बाल रखे हैं तो तेल लगाना जरूरी है। तेल भी काफी चाहिए। वह तेल तमाम तकिये, बिस्तर और कपड़ों को गन्दा करता है। तेल नहीं लगाये और संयोगवश शीशा-कंघी कहीं नहीं मिली तो फिर घासलों की तरह या अशिष्टों की तरह कैसी कुरूपता आ गयी। बालों में जुएँ भी पड़ जाती हैं। क्या कभी इस बात पर विचार किया है कि तुम्हारा दुश्मन तुम्हारे इन लम्बे बालों को हाथों से पकड़कर तुम्हें किस प्रकार किस सीमा तक विवश कर सकता है ! कभी-कभी मूर्ख नाइयों से पाला पड़ जाने पर किस प्रकार सीढ़ी की तरह या कौआनोच जैसा हास्यजनक रूप बालों का हो जाता है। मैं दावे के साथ कहता हूँ, तुम यह एक साधना कर डालो। इस एक छोटी-सी चीज को जीवन में उतार लो। देखो,

बड़े-से-बड़े प्रभाव किस प्रकार अपने आप आ जायेंगे। वह तो सब विदित ही है कि सिर मुडाने से आँखों की रोशनी बढ़ती है, स्मरणशक्ति बढ़ती है और आती है आदमी में स्फूर्ति।

पढ़ा होगा—'सादा जीवन उच्च विचार।' सादा जीवन का क-ख-ग यहीं से आरम्भ होता है। सिर साफ रखना सादगी है। कटे छटे बाल रखना इसका उलटा है। सिर साफ है तो बुद्धि स्वच्छ होगी। बाल रखते हो तो उसके अनुरूप ठाट-बाट भी बनाना पड़ेगा। और सोचो तो तुम पढ़ने गये हो न कि ऐश आराम करने या ठाट-बाट का भड़कदार जीवन बिताने? क्या भूल गये कि गांधीजी ने लिखा है कि जितनी ही हमारी आवश्यकताएँ कम होंगी उतनी ही मात्रा में हम सुखी और निश्चिन्त होंगे। यह शीशा-कंघी आदि की आवश्यकता घटाओ।

निश्चय ही तुम्हें साबुन तेल, कंघी शीशा और इनके संगम में व्यय होनेवाले समय श्रम सावधानी की रक्षा करनी है। पढ़ना तपस्या है, पढ़ना जीवन की क्रान्ति है। यह एक शुभ संस्कार है। भारतीय संस्कृति में संस्कारों के अवसर पर सिर मुडाने का विधान है। इसलिए तुम भी यह बोझ उतारो और इस प्रकार जो समय बचता है उसे व्यायाम में लगाओ। मैं यह हरगिज नहीं सुनना चाहता कि चौबीस घण्टे में तुम्हें व्यायाम के लिए पन्द्रह मिनट भी नहीं मिलते हैं। ●

बुनियादी विद्यालयों की

निर्देशिका

पलामू के बुनियादी विद्यालयों की ५५ पृष्ठों की निर्देशिका अच्छी जानकारी प्रस्तुत करती है। इसका प्रकाशन पलामू जिला-बुनियादी शिक्षक-संघ (डालटेनगंज बिहार) की ओर से हुआ है। मूल्य है ५० पैसे।

●

लघु कथा

शंकर महादेव कैसे बने?

उद्देश्य एक हुआ कि विरोधी भी सहयोगी बन जाते हैं। एक बार देवताओं और राक्षसों के बीच ऐसा ही हुआ। दोनों को दूर की कौड़ी सूझी। तय हुई समुद्र-मन्थन की बात। नया जोश, नयी लगन। जुट गये काम में। मथ डाला समुद्र को। दिन-रात के मन्थन का कितना उत्पीड़न सहता बेचारा सागर! उसने हार मान ली। भेंट रत्न दी उसने अपने गर्भस्थ बहुमूल्य १४ रत्नों को देव-दानवों के चरणों पर। सबके चेहरे खिल उठे।

अमृत की छीन-झपट बड़ी दिलचस्प रही। सभी ताक में थे, लेकिन बाजी मार ले गये देवता। बचा हलाहल। उसे कौन पीये। कठिन सवाल था।

अमृत का हाथ से निकल जाना दानवों को बहुत खला। शिराओं का रक्त खौल उठा। तय पाया कि अभी चलकर देवताओं को नष्ट कर दिया जाय। एक बूढ़े दानव ने कहा—"पागल हुए हो क्या? अमृत पीकर देवता अमर बन चुके हैं। तुम उन्हें मारोगे कैसे?"

बात पते की निकली। मूकता के सिवा इसका और उत्तर हो ही क्या सकता था!

हलाहल की दाहक गरमी बढ़ती जा रही थी। जीव-जन्तु तथा मनुष्य हाहाकार कर उठे। देवताओं ने सोचा—"अगर पशु-पक्षी, मानव और दानव नहीं रहेंगे, तो हम एकाकी करेंगे क्या? वह जीवन तो मृत्यु से भी भयावह होगा! और, अमृत पीने से तो हम चाहकर भी नहीं मर सकेंगे।"

विचित्र समस्या थी। विष भी समस्या! अमृत भी समस्या!!

भगवान शंकर से पशु-पक्षियों और मनुष्यों का कष्ट तथा देव-दानवों की यह मानसिक निरीहता देखी न गयी। वह उठे और पी गये हलाहल को। अमृत के प्रभाव ने हलाहल को कण्ठ के नीचे उतरने नहीं दिया। भगवान शंकर बन गये नील कण्ठ और बन गये महादेव (देवताओं के देवता)।

—रमाकान्त

सुरक्षा के लिए अन्न-स्वावलम्बन

•

काका कालेलकर

सत्तर-पचहत्तर वर्ष पहले जब हमलोग स्वराज्य की तैयारी करते थे तब सारे देश में स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षण की बात चलती थी। हमलोग कहते थे कि केवल राजनीतिक स्वराज्य से हमें सन्तोष नहीं होगा, हमें सांस्कृतिक स्वराज्य चाहिए। इसलिए स्वदेशी के माने केवल देशी उद्योगों को जगाने की बात नहीं है, सांस्कृतिक स्वदेशी भी हमें चाहिए।

आजकल स्वदेशी की बात खास सुनने में नहीं आती। उन दिनों हम कहते थे कि मनुष्य को सबसे अधिक जरूरी चीजें हैं अन्न और वस्त्र। इनमें से अन्न तो देश में काफी पैदा होता है। हमलोग भरपेट खाकर बचा हुआ अन्न इंगलैण्ड-जैसे परदेशों को भी भेजते थे। इसीलिए तो भारत के कवीन्द्र रवीन्द्र ने गाया है—

चिर कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश विदेशे वितरित अन्न।

अन्न के बारे में जैसे स्वावलम्बी हैं वस्त्र के बारे में भी उसी तरह स्वावलम्बी बनना चाहिए।

बढ़ती आबादी . घटती खेती

आज अंग्रेजों का राज्य नहीं है। देश की लूट बन्द हुई है तो भी हम अन्न के बारे में स्वावलम्बी नहीं हैं। इसके कारण दो हैं। हमलोगों ने धान्य की पैदाइश कम करके तम्बाकू, ईख, मूंगफली-जैसी चीजों की खेती बढ़ायी है, ताकि हम अधिक धन कमा सकें।

और, दूसरा कारण यह है कि भारत की और दूसरे देशों की भी लोकसंख्या एकाएक जोरों से बढ़ रही है।

जब कोई चीज एकदम फूट निकलती है और चिन्ता का विषय बनती है तब उसे स्फोट कहते हैं।

एक्स्प्लोसन आफ पापुलेशन के माने होते हैं लोकसंख्या का स्फोट। ऐसे स्फोट के कारण हमें करोड़ों दाम देकर भी परदेशों की खुशामद करनी पड़ती है।

स्वदेशी व्रत : सरकारी रक्षण

स्वराज्य होते ही स्वदेशी व्रत का पालन सरकार के द्वारा होने लगा। जो चीजें परदेश से आती थीं अब स्वदेश में बनने लगी हैं। हालांकि फिलहाल बहुत से उद्योगों और कल-कारखानों में करीब आधी पूंजी परदेशों की रहती है।

स्वदेशी हुनर उद्योगों को सरकारी रक्षण और प्रोत्साहन मिला सही लेकिन राष्ट्रमानस में, जो स्वदेशी की भावना थी वह करीब करीब गायब हुई। परदेश में बनी हुई चीजें जहाँतक हो सके न लेने का सकल्प, जो दूसरे देशों म स्वाभाविक है, हमारे यहाँ नहीं रहा।

सांस्कृतिक स्वदेशी में, जो भूतकाल की उपासना थी, उसका जाना जरूरी था ही। वह तो पूरी गयी नहीं, लेकिन उसकी जगह स्वदेशी संस्कृति को भविष्य के लिए व्यापक उज्ज्वल रूप देने का प्रयत्न आवश्यक था, वह कहीं दीख नहीं पड़ता।

आज तक ब्रिटेन का शिष्यत्व था, उसकी जगह अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम से योरप, अमेरिका का शिष्यत्व बढ़ रहा है—राजनीति में भी, सामाजिक आदर्श में भी। अब स्वदेशी का विचित्र आग्रह रहा है धर्माभिमान में और जातिनिष्ठा में।

कैसा स्वराज्य, जब घटा अनाज !

स्वदेशी की इस सारी विकृति का वर्णन कहाँ तक करें ? इस वक्त एक और घोर सकट की ओर ध्यान खींचना है। वह है अन्न के बारे में। क्या हिन्दुस्तान-जैसा कृषि प्रधान देश अन्न के बारे में पराव-

लम्बी हो जाय तो उसके स्वदेशी का दिवाला ही निकला समझना चाहिए। स्वराज्य होने के बाद ऐसी स्थिति हो गयी है। यह तो दुगुने दुख का विषय है। अगर हम अपनी जमीन में तम्बाकू-जैसी चीजें बोयें और परदेशी अनाज लायें तो यह अन्धी और आत्मघातकी नीति होगी। लोक-संख्या एकाएक बढ़ रही है, इसका भी राष्ट्रीय विचार होना चाहिए।

जब बच्चे पैदा होते हैं तब एक मुँह के साथ दो हाथ ले आते हैं यह बात सही है, लेकिन लोकसंख्या बढ़ने से अन्न उत्पादन की जमीन नहीं बढ़ती। मांसाहार और मत्स्याहार बढ़ाने के लिए भी भूभाग बढ़ना जरूरी होता है। योरपीयों ने लोकसंख्या बढ़ने पर उत्तर-दक्षिण अमरिका का प्रदेश कब्जे में किया। अफ्रीका में भी जाकर वे बसे। थोड़े भारतीय गिरमिट या मजदूर बनकर परदेश में जा बसे सही, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम थी और अब परदेश जाकर बसने का रास्ता गोरे लोगों ने औरों के लिए बन्द कर दिया है।

उत्पादन बढ़ायें : दुरुपयोग घटायें

ऐसी हालत में हमें अन्न के स्वदेशी का राष्ट्रीय नीति के तौर पर ख्याल करना ही चाहिए—

१ अधिक-से-अधिक जमीन खेती बढ़ाने के काम में लगा दें,

२ जमीन के हर एकड़ में से अधिक उत्पादन होता जाय, इसकी कोशिश करें,

३ अन्न का कहीं दुरुपयोग न हो, वह सड़ न जाय, चूहे आदि उसे खा न जायें, उसकी पूरी हिफाजत करनी चाहिए और

४ जबतक सारी लोकसंख्या को पूरा अन्न नहीं मिलता, हर एक आदमी अपने आहार पर भी थोड़ा-थोड़ा अंकुश रखे। ज्यादा संग्रह करके रखना अच्छा नहीं। संग्रह छोटा रहे, यही अच्छा। खर्चा कम हो यह भी अच्छा।

अगर हम अन्न के बारे में पूरे स्वावलम्बी न हुए और सदा के लिए हमारा अन्न-स्वावलम्बन न टिका तो हमारी आजादी और हमारी संस्कृति दोनों खतरे में आयेंगी। राष्ट्र के हर एक व्यक्ति को नागरिक धर्म समझकर अन्न को बचाना ही चाहिए। ●

बच्चों की यह उपेक्षा!

भारत में प्रतिवर्ष लगभग डेढ़ करोड़ बच्चे पैदा होते हैं। बाल कल्याण की समस्या इतनी विस्तृत हो गयी है कि आशावादी लोगों को शीघ्र ही विचार करना चाहिए। यद्यपि बाल-विकास के कुछ साधन पंचवर्षीय योजनाओं-द्वारा उपस्थित किये गये; लेकिन यू एन आई सी तथा अन्य संस्थाओं की सहायता तथा प्रयत्न ने समस्या का केवल किनारा छू पाया है। केन्द्रीय सामाजिक कल्याण-परिषद्-द्वारा गठित एक समिति ने स्पष्ट कहा है—"बाल-कल्याण के प्रोग्राम केवल प्रतीकात्मक कहे जा सकते हैं, सेवाओं का श्रीगणेश अभी भी विकसित होने को है।"

रिपोर्ट में बताया गया है कि बच्चों पर प्रभाव डालनेवाली परिस्थितियाँ भयावह हैं। कुल मृत्यु-संख्या का ४५ प्रतिशत बच्चों की मृत्यु-संख्या है। बाल-विवाह की प्रथा न केवल ग्रामीण, बल्कि शहरी क्षेत्रों में भी है। अधिकांश व्यक्ति बच्चियों को हीन मानते हैं। क्षय के अस्पतालों में हर दस मरीजों में एक मरीज बच्चा होता है। बच्चे का जन्म पुराने तरीकों से ही कराया जाता है। हमारा जन्म का हिसाब रखने का तरीका अपूर्ण और दोषभरा है। हमारे पास, अवैध, दत्तक तथा अन्य प्रकार से दूसरों के अधिकार में गये हुए बच्चों का कोई हिसाब नहीं है। बाल-अधिनियम किन्हीं-किन्हीं राज्यों में है ही नहीं, और जहाँ है भी, प्रभावहीन या साधारण।

अधिकांश अनाथालय रजिस्टर्ड नहीं हैं तथा उनकी परिस्थितियाँ भी अच्छी नहीं हैं। उनके लिए निरीक्षकों का प्रबन्ध तो है ही नहीं। बाल-कल्याण के प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की बहुत कमी है। खिलौनों का उद्योग व्यावसायिक है, बाल-आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। ● —साभार 'स्टेट्समैन' से

फूल-से कोमल

बच्चों पर

भय का शासन क्यों ?

•

रामचन्द्र 'राही'

"चाचा नेहरू तो मर गये न मास्टर काका ?"

"हाँ बटा !"

"तो फिर आज बाल-मेले में चाचा नेहरू जिन्दाबाद क्यों कहा जा रहा था ?"—पडोसी विद्यापति के कुछ ढीठ स्वभाववाले लाडले प्रेमकुमार ने अचानक आकर प्रश्न किया। मैं अचकचा कर क्षणभर उसकी ओर देखता रह गया। लगभग ५ साल की उम्र के इस बालक को मैं कैसे समझाऊँ कि चाचा नेहरू..... !

"आप रोने क्यों लगे, मास्टर काका ?"

"नही नही बेटा, मैं रोता कहाँ हूँ ?"

अपने चेहरे के भाव को उस बच्चे की आँखों से छिपाने की मैंने चेष्टा की। उस अबोध के प्रश्न ने स्मृतियों को कुरेद दिया था।

"चाचा नेहरू बच्चों को बहुत प्यार करते थे बेटा। जितना तुम्हारे बाबूजी प्यार करते हैं, चाचा नेहरू भी दुनिया के सब बच्चों को उतना ही प्यार करते थे। इसीलिए बच्चे 'चाचा नेहरू जिन्दाबाद' के नारे लगाकर उनको बराबर याद किया करते हैं।"—मैंने अपनी बात पूरी की।

"क्या सब मरनेवालों को नारा लगाकर याद किया जाता है ?"

"बेटा, जो सबको प्यार करता है, सब लोग उसको प्यार करते हैं, और मरने के बाद भी लोग उसे नहीं भूलते ! सब के दिल में वह जिन्दा रहता है, वह कभी मरता नहीं !"

"तो क्या चाचा नेहरू भी हमारे दिल में जिन्दा हैं ?"

"हाँ बेटा !"

"तब तो मैं उनसे रोज ही बात किया करूँगा मास्टर काका मेरी दादी कहती हैं कि तुमको पुलिस से पकडवा दूँगी। अब पुलिस आयेगी मुझे पकडने तो मैं नेहरू चाचा से कह दूँगा। वे पुलिस को भगा देंगे। पुलिस नेहरू चाचा के डर से भाग जायगी चाचा नेहरू जिन्दा हैं चाचा नेहरू दिल में हैं !" उछलता कूदता प्रेमकुमार अपने घर की ओर भागा। शायद अपनी दादी को चुनौती देने कि अब बुलाओ तो अपनी पुलिस को देखता हूँ क्या कर लेती है !

"भय की पुलिस, अबोध बालक और अभयदाता चाचा नेहरू !"

मेरी आँखें पुनः भर आयी !

कितने निष्ठुर हैं हम, हमारा समाज, हमारी मान्यताएँ और परम्पराएँ ?

बच्चों के फूल-से कोमल हृदय पर भय के पत्थर दे मारना हमारे लिए सहज है ही, अपने आदर्श, अपनी

कल्पनाएँ अपनी अपेक्षाएँ, अतप्त आकांक्षाएँ अपनी सन्तान पर लादना तो हमारा अधिकार भी है और सभ्यता की पहचान भी। हमारी प्यार की अग्नि व्यक्ति बच्चे की मौलिकता को लील जानेवाली होती है। संरक्षण की हमारी जिम्मेदारी उनकी क्रियाशीलता को, उनके पुरुषार्थ को दबा डालनेवाली होती है।

हम अपने ही जिगर के टुकडे को जिन्दगी को इस कदर रिक्त निस्तेज और मृतप्राय क्या बनाते चले जा रहे है? क्या कारण है इसका, कि हम अपने ही हाथों रोपे गये बीजों के अंकुर देखकर चिल्ला पडते हैं— कितना उच्छृंखल है यह? और अनुशासन के नाम पर उचित पोषण देने की जगह उसकी पत्तियाँ नोच डालते हैं पतली पतली टहनियों को तोड डालते है उसे अपने घेरे में डालकर खुश होते हैं— 'कितना खूबसूरत है यह?

आखिर क्यों? क्या हम करते हैं ऐसा?

शायद इसलिए कि हमारे जीवन की बुनियाद में ही, समाज की रचना में ही ये वृत्तियाँ जम गयी है। हम खुद मुक्त नही हैं और दूसरों को मुक्त देखना हमें पसन्द नही है। सचमुच, हम सब सर्कस के जानवर हैं रिंगमास्टर की चाबुक के भय से खेल दिखानेवाले सर्कस के जानवर! हम सब शेर हैं जो गुर्राते हैं, हम भालू हैं जो नाचते हैं हम बकरे हैं जो मिमियाते हैं! रिंग मास्टर अपनी चाबुक फटकारता है, और हम अपनी जगह क्रियाशील हो उठते हैं।

यह सेना, यह पुलिस ये कानून ये जेल की दीवाल रिंगमास्टर की चाबुक के विभिन्न रूप नही तो और हैं क्या?

बूढी दादी प्रेमकुमार को डरा धमकाकर सही रास्ते (जो बुढिया की निगाहो की सीमा में है) पर चलाना चाहती है, उसका बाप अपने आदर्श के साचे में उसे ढालना चाहता है और माँ अपने आँचल के साय में हमेशा-हमेशा के लिए सुरक्षित रखना चाहती है।

प्रेमकुमार कुछ भिन्न क्रिया करता है तो माँ कहती है— बेटा यह नही करते, ऐसा नही करते।

"क्यों?"

"क्योंकि यह गलत है, पाप है, इसमें खतरा है।"

बाप कहता है—'ऐसा करोगे तो हमारा-तुम्हारा रिश्ता टूट गया समझो!"

बूढी दादी कहती है—'बात नही मानते! अच्छा अभी पुलिस को बुलाती हूँ! वह तुम्हे पकड ले जायेगी!'

समाज का कानून कहता है— गलत आचरण करो वर्ना जेल की हवा खानी होगी, बेत की सजा भुगतनी होगी, फाँसी के तख्ते पर झूलना होगा फाँसी भगवान का कानून कहता है—'पाप करोगे तो नरक की यातनाएँ भुगतनी होगी "

उफ! भय का शासन दण्ड की शक्ति और कानूनी सभ्यता क्या परिवार, क्या पडोस, क्या स्कूल, क्या समाज, देश और दुनिया सबकी नियन्त्रण शक्ति एक ही, सचालक पद्धति एक, दण्ड शक्ति कानून कब वह दिन आयेगा, जब मनुष्य का गुणात्मक परिवर्तन होगा! रिंगमास्टर की चाबुक के भय से नही, वह अपनी सास्कृतिक चेतना से सचालित होगा।

चाचा नेहरू ने कहा था—'भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करनी है। उसे दुनिया को शान्ति का सन्देश देना है।

हम ऐसा करने के काबिल कब होंगे? हमारे अन्दर वह चेतना कब पैदा होगी? माना जाता है कि शिक्षण गुणात्मक विकास की प्रक्रिया है और लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा सह-अस्तित्व के लिए आज के मनुष्य में गुणात्मक परिवर्तन अनिवार्य है। दुनिया के सास्कृतिक नव निर्माण की जिम्मेदारी शिक्षण की है।

हम शिक्षक हैं हम यह जिम्मेदारी कब महसूस करेंगे? 'चाचा नेहरू जिन्दाबाद' के नारे के प्रति कब वफादार हो सकेंगे? और लोकतान्त्रिक समाजवाद का सपना कब साकार होगा?

●

बिहार की विषय-शिक्षक इकाइयाँ

•

तारकेश्वर प्रसाद सिन्हा

आजादी के बहुत दिन बीत गये तो भी सविधान में दिये गये सन्तव्या के अनुसार देश के किसी राज्य में भी अनिवार्य और नि शुल्क शिक्षा के उद्देश्य पूरे नही हो पाये। फिर भी यह तोप की बात है कि बिहार में इधर विद्यालया की सख्या मे काफी प्रगति हुई है, किन्तु विचार करने पर ऐसा लगता है कि जिस रफ्तार से शिक्षा में प्रगति हो रही है उसी अनुपात से उसके स्तर में गिरावट भी हो रही है। बहुत से शिक्षा शास्त्री यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि जब एक-ब-एक किसी चीज का विकास होता है तब उसके स्तर में गिरावट आती ही है, किन्तु मैं शिक्षा शास्त्रियो के इस विचार का कायल नही हूँ। क्योकि आज तो किसी भी उन्नतिशील देश में जहाँ एक भी व्यक्ति अपढ नही है वहाँ के शैक्षणिक स्तर में किसी प्रकार की गिरावट नही है।

खोजें विकास की राहें ह्रास की

आज शिक्षा-जगत में जब शिक्षा शास्त्री शिक्षा-पद्धति में अनेक प्रकार के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एव कलात्मक विकास सम्बन्धी नयी-नयी खोजें करते जा रहे हैं तब शिक्षा के स्तर में गिरावट होना आश्चर्य की बात-सी लगती है। देश के वर्तमान आर्थिक सकट के कारण नये विद्यालय कम ही खुलेंगे, किन्तु शिक्षा विभाग का यह प्रयास है कि जो विद्यालय चल रहे हैं उनमें शिक्षा का स्तर उठाया जाय। बिहार के शिक्षा मत्री के मार्ग-दर्शन में अनेक ऐसे सस्थान हैं जो प्राइमरी से लेकर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के शिक्षा-स्तर को उठाने में कटिबद्ध परिश्रम कर रहे हैं। बिहार की प्राथमिक शालाओ में शैक्षिक स्तर को समुन्नत करने के लिए शिक्षा-सस्थान शोधपूर्ण नय नये विचार दे रहा है। उस सस्थान में प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण विद्यालयो के प्राचार्य आचार्य निरीक्षक-वर्ग आदि की समय-समय पर गोष्ठियाँ होती हैं और उनके विचार को आधुनिकतम शिक्षण प्रणालियो में तरोताजा किया जा रहा है।

शोध-सस्थान नये प्रतिमान

इधर उच्च एव उच्चतर माध्यमिक विद्यालयो के शैक्षिक स्तर को उठाने के लिए पाठ्यग्रन्थ शोध-सस्थान एव परीक्षा शोध-सस्थान शोध के नये-नये विचारो द्वारा शिक्षा-स्तर में दिनादिन उत्थान कर रहे हैं। पाठ्यग्रन्थ शोध-सस्थान उच्च एव उच्चतर माध्यमिक विद्यालयो के आठ से दस सस्थाओ को मिलाकर विषय-शिक्षक-सगोष्ठी की स्थापना कर रहा है। इस प्रकार की सगोष्ठियो में आठ से बारह विद्यालयो के एक ही विषय के शिक्षक महीने में एक बार मिलते हैं और निम्नाकित काम करते हैं—

१ बारी-बारी आठवे से लेकर बारहवे वर्ग के पाठ्यग्रन्थो की भाषा, विचार, तथ्यो की नवीनता, बच्चो की उम्र स्थान आदि की दृष्टि से आद्यन्त अध्ययन करते हैं। वे अपने निर्णीत विचारो को पाठ्यग्रन्थ शोध-सस्थान के पास बुलेटिन के माध्यम से प्रत्येक माह भेजते हैं। उनके विचारो का पाठ्यग्रन्थ शोध-सस्थान में फिर से अध्ययन

किया जाता है और विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए विचार सम्बन्धी आँकड़ों की छानबीन करके प्रचलित पाठ्यग्रन्थ का संशोधन करने के लिए पाठ्यग्रन्थ-शोध-संस्थान प्रयास करता आ रहा है। इस प्रकार बहुत से पाठ्यग्रन्थों में संशोधन भी हो रहा है।

शिक्षकों के इस प्रयास का फल हो रहा है कि प्रकाशक वर्ग स्वयं भी अपने पाठ्यग्रन्थों में संशोधन करा रहा है, किन्तु शिक्षक संशोधन की इन्तजारी न कर अपनी समझ के अनुसार पाठ्यग्रन्थों में वर्णित तथ्यों को प्रासंगिक पुस्तकों के आधार पर अपने वर्ग में भाषा और व्याकरण की शुद्धता की दृष्टि से नवीनतम तथ्यों को पढ़ाते ही हैं। जैसे, आठवें वर्ग के भूगोल में वर्णित सौर जगत में आठ ग्रह के स्थान पर प्रासंगिक पुस्तक से शिक्षकों की इकाई ने १० ग्रहों को पाया। अतः अपनी बुलेटिन में १० ग्रहों का वर्णन किया है। यद्यपि इस इकाई का अध्ययन १९६० की प्रकाशित पुस्तक का ही था। हालाँकि इस पुस्तक का संशोधन गत वर्ष भी हुआ है और इस वर्ष भी हो रहा है, किन्तु जब मैंने इस केन्द्र को देखा तो मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई कि उस केन्द्र के सभी शिक्षक अच्छे अच्छे स्तर की प्रामाणिक पुस्तकें रखते हैं।

२ इस अवसर पर शिक्षक आपस में बारी-बारी आदर्श पाठ की व्यवस्था करते हैं तथा जिस विधि से पाठ दिया जाता है उस पर स्वतः पूर्ण, किन्तु संक्षिप्त टिप्पणी भी देते हैं।

३ अगर पुस्तक में कोई विचार किसी शिक्षक की समझ में नहीं आता है तो वह अपने साथियों की मदद से हल कर लेता है तब उसे वर्ग में पढ़ाता है। उदाहरण-स्वरूप गणित के कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं जिनको स्कूल के सभी शिक्षक समान दक्षता के साथ हल नहीं कर पाते। अतः यदि अपने साथियों की मदद से विषय शिक्षक-संगोष्ठी में हल कर लेते हैं तो वर्ग में पूरे उत्साह और भरोसे के साथ पढ़ाते हैं। अन्यथा यदि कोई छात्र विषय शिक्षण से सम्बद्ध कोई ऐसा प्रश्न पूछ बैठता है, जिसको वे नहीं बता सकते तो वर्ग में उनका व्यक्तित्व गिरता है।

विषय-शिक्षक इकाइयाँ : सुधार की दुहाइयाँ

पाठ्यग्रन्थ-शोध-संस्थान के तत्त्वावधान में इस समय लगभग ५४ 'विषय-शिक्षक इकाइयाँ' चल रही हैं। उनकी बैठकों को देखने से मुझे बड़ा सन्तोष हो रहा है कि शिक्षा में लगे हुए शिक्षक अब अधिक सचेष्ट हो रहे हैं तथा उनमें ऐसी भावना आ रही है कि वे ही अपने छात्रों को शुद्ध भाषा में नये-नये विचार दे सकते हैं। आज तक सभी प्रकार से उपेक्षित होने के कारण हमारे शिक्षक हतोत्साहित दीख पड़ते हैं। टेस्ट-पेपर, गेस-पेपर आदि उनके पवित्र स्थान को ले रहे हैं।

अभी मुझे एक प्रमुख दैनिक पत्र को पढ़कर सन्तोष हुआ कि बिहार की परीक्षा प्रणाली में एक विस्तृत सुधार होने जा रहा है। यह सुधार बहुत कुछ परीक्षा-शोध-संस्थान के कारण हो रहा है। अब उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के ग्यारहवें वर्ग में १० प्रश्न के बदले १०० प्रश्न होंगे। शायद सभी प्रश्न अनिवार्य होंगे और सम्पूर्ण पुस्तक के आधार पर पूर्ण रूपेण बँटे भी होंगे। अबतक प्रचलित परीक्षा-प्रणाली में परीक्षा की सफलता की जाँच कमजोरी और गलतियों की प्रणाली (फ्रेल एण्ड एरर मेथड) पर है।

परीक्षा नयी ढंग पुराना

कहने का मतलब यह है कि एक बड़ी-सी पुस्तक में १० १२ प्रश्न चुने जाते हैं। उसमें ६ सवाल के जवाब देने पड़ते हैं और उसपर ३० या २५ अंक उत्तीर्ण होने के लिए रखे जाते हैं। यदि कोई विद्यार्थी चुने हुए प्रश्नों में से एक से भी प्रभावित नहीं हुआ है तो वह असफल समझा जाता है। हो सकता है कि पुस्तक में वर्णित नये विचारों से वह प्रभावित हुआ हो, किन्तु परीक्षा प्रणाली के दोष के कारण वह असफल समझा जाता है।

एक बार मुझे परीक्षा शोध-संस्थान की एक बैठक में भाग लेने का मौका मिला। परीक्षा शोध-संस्थान के विशेषज्ञों ने बड़ी खूबी से शोध करके इस बात का पता लगाया था कि गणित के केवल चार ही प्रकार के प्रश्नों को हल करने से उत्तीर्ण के अंक प्राप्त हो सकते हैं। इस विचार को सुनकर मुझे अपना दिन याद आया कि हमलोग चक्रवर्ती की मोटी किताब, बीजगणित में बासु

सीह्व का अलजवरा और हाल साहब की ज्यामिति का आद्योपान्त अध्ययन करते थे। हमारे शिक्षक सभी प्रश्न का हल कराते थे। उस समय न तो इस प्रकार के टेस्ट-पेपर थे और न गेस पेपर। इनकी आवश्यकता भी नहीं समझी जाती थी। अब तो निचले वर्गों में भी हमारी पोती के पास प्रत्येक विषय की कुंजी है। मास्टर साहब के स्थान पर कुंजी आ गयी है। इस प्रकार पाठ्य-ग्रन्थ निर्जीव शब्दों का भण्डार बन गया और उनकी कुंजियाँ भी निर्जीव शब्दों के व्याख्यात्मक भण्डार हैं।

नयी दृष्टि : नयी सृष्टि

शिक्षा के दर्शन और उद्देश्य का निर्माण देश के दार्शनिक चिन्तक, मार्गदर्शक आदि करते हैं और उन्हें करना भी चाहिए। शिक्षकों को अपने पेशे में आने के पहले प्रशिक्षण-संस्थाओं में उन्हें, जो तालीम दी जाती है उसमें वे वर्तमान शिक्षा के दर्शन एवं उद्देश्यों से परिचित कराये जाते हैं।

इस प्रकार वे प्रशिक्षित होकर नयी दृष्टि के साथ अपने पेशे में जुट जाते हैं, किन्तु इसके बाद शिक्षा की अन्य प्रक्रियाएँ जिनमें शिक्षकों की राय लेनी चाहिए नहीं ली जाती। पाठ्यक्रम के निर्माण में प्राय शिक्षकों का हाथ नहीं रहता। अब सरकार का ध्यान इस ओर गया है। इसलिए अब पाठ्यक्रम अधिक वास्तविक बनता जा रहा है और जैसे जैसे पाठ्य-क्रम के निर्माण में शिक्षकों का हाथ होता जायगा वैसे-वैसे पाठ्यक्रम अधिक व्यावहारिक बनता जायगा। विषय शिक्षक-संगोष्ठी से यत्रतत्र पाठ्यक्रम की कमियों की चर्चाएँ सुनने में आती हैं और उनके सुझाव के अनुसार संशोधन भी हो रहे हैं।

शिक्षक जागें आलस त्यागें

पाठ्यग्रन्थों की रचना एवं समीक्षा में भी अधिकांश हाथ शिक्षकों का ही रहना चाहिए, क्योंकि यदि शिक्षक या निरीक्षक संस्था के वास्तविक शिक्षण से सम्बन्ध नहीं रखता तो पाठ्यग्रन्थ में दिये गये तथ्य छात्र की उम्र के अनुसार बोधगम्य नहीं हो पाते। भाषा में भी दुरूहता आ जाती है।

किसी नये पाठ्यग्रन्थ को वर्ग में आने पर कम-से-कम एक वर्ष का समय तो अवश्य लग जाता है। विज्ञान के इस युग में नये तथ्यों एवं विचारों में दुनिया बहुत तेजी से आगे बढ़ रही है, और इसी कारण उस रफ्तार से पाठ्यग्रन्थ में संशोधन सम्भव नहीं हो सकता। शिक्षक ही ऐसा एक व्यक्ति है जो इस रफ्तार के अनुसार अपने विचारों में परिवर्तन करके छात्रों को आधुनिकतम ज्ञान दे सकता है। बिहार में, जो पाठ्यग्रन्थ शोध-संस्थान के तत्वावधान में ५४ विषय शिक्षक इकाइयाँ चल रही हैं और जिनमें लगभग चार सौ उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय सम्बद्ध होकर काम कर रहे हैं उनमें यह काम बड़ी मुस्तैदी से हो रहा है। इन इकाइयों में शिक्षक प्रामाणिक पत्र पत्रिकाओं, पुस्तकों आदि के आधार पर वर्ग में प्रचलित पाठ्यग्रन्थ में संशोधन करके ही पढ़ाते भी हैं।

नूतन प्रयाण : अभिनय निर्माण

जहाँ-जहाँ इकाइयाँ चल रही हैं, मैंने देखा कि वहाँ के शिक्षक के पास नयी-नयी प्रामाणिक पुस्तकें पायी जाती हैं और उन पुस्तकों को पढ़ाने में वे बहुत उत्साह दिखलाते हैं। यदि पाठ्यक्रम के निर्माण एवं समीक्षा में अधिकतर हाथ शिक्षकों का रहे तो वे अपने कामों में अधिक उत्साह और जवाबदेही दिखलायेंगे। देश विदेश के शिक्षण शास्त्री अब इस बात को समझते हैं कि जबतक पाठ्यग्रन्थ शिक्षा में लगे हुए शिक्षकों द्वारा तैयार नहीं होगा तबतक वास्तविक शिक्षा हो नहीं सकती।

पाठ्यग्रन्थ के निर्माण एवं संग्रह में बड़े से बड़े दार्शनिक, लेखक, कवि आदि की रचनाएँ मूलरूप में ली जानी चाहिए और उनका संग्रह भी शिक्षकों द्वारा ही होना चाहिए। लेखक-समुदाय एवं समीक्षक समुदाय में दो तिहाई वास्तविक शिक्षक हों, एक तिहाई तो वैसे लेखक एवं समीक्षक रखे जायें जो ऊपर के वर्ग में पढ़ाने के काम करते हों। जैसे, अगर प्राथमिकशाला की कोई पुस्तक तैयार हो रही है तो उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में लगे हुए शिक्षक, निरीक्षक भी रहें और यदि उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यग्रन्थ

तैयार करने हो तो कालेज के व्याख्याता भी रखे जायँ, लेकिन कोई भी व्यक्ति यदि वह प्रशिक्षित नही है तो उसको उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यग्रन्थ लिखने एवं समीक्षा करने का अधिकार नही मिलना चाहिए।

किन्तु ऐसा लगता कि है पाठ्यग्रन्थो का महत्व धीरे धीरे घट रहा है। शिक्षा-जगत में इधर व्यावसायिक बुद्धिवाले प्रवेश पा गये है। इसलिए जिस काम में अधिक मुनाफे की गुंजाइश होती है उसी काम मे ये लग जाते हैं। जैसे मूल ग्रन्थ के प्रकाशन में लाभ की गुंजाइश कम है तो टेस्ट-पेपर और गेस पेपर निकलना शुरू हो गया है। छात्र वर्ग में ध्यान-पूर्वक शिक्षको के पाठ नही सुनते हैं क्योकि वे जानते है कि उनके पास कुंजी है जिसे वे घर पर पढ लेंगे। इधर सभी संस्थाओ की दक्षता का माप दण्ड परीक्षाफल ही है। इसलिए सभी शिक्षक किसी प्रकार पाठ्यग्रन्थ को पढाने में समय काटते हैं और परीक्षा नजदीक आने पर गेस पेपर के सहारे आनवाले प्रश्नो की अटकलबाजी कर अपने छात्रो को रटाने में समय बिताते हैं। इस प्रकार मूल पाठ्यग्रन्थ के प्रति न तो शिक्षको का और न छात्रो का ही ध्यान रहता है, बल्कि मूल पाठ्यग्रन्थ के स्थान में अब टीका-टिप्पणी के साथ छपी हुई पुस्तको की मान्यता अधिक बढ़ गयी है। यह स्थिति वास्तविक शिक्षा के लिए खतरे से खाली नहीं है।

परीक्षा में छोटे छोटे प्रश्नो की संख्या इतनी होनी चाहिए कि वे सम्पूर्ण पाठ्यग्रन्थ के ऊपर हो। अब शिक्षक को स्वयं सोचना है कि कहाँतक बालकों की शिक्षा को वे वास्तविक रूप में लाभप्रद बना सकते हैं। परीक्षा का भार भी पूरे तौर पर शिक्षको का ही रहना है। यदि शिक्षक, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यग्रन्थ को पूरा करने के जवाबदेह है तो छात्रो की सफलता की जाँच एवं मूल्यांकन के भी जवाबदेह वे ही होगे।

•

आदिवासी क्षेत्र में शिक्षा

•

कान्ता त्यागी

पिछले तेरह साल से मध्यप्रदेश के पश्चिम निमाड जिले में बसी बारला, भील और भिलाला आदिवासी जातियो के बीच में शिक्षण का कार्य कर रही हूँ, परन्तु रह रह कर सवाल उठता है कि क्या उन्हें सही शिक्षा दी जा रही है? क्योकि बीहड जंगलो में वास करनेवाले इन आदिवासियो की भी अपनी एक संस्कृति होती है। और, यह जरूरी है कि उनकी संस्कृति की रक्षा करते हुए, उन्हें ऐसी शिक्षा व संस्कार दिये जायँ, जो उनके जीवन को उच्च बनाये।

आजादी के १८ वर्षों में सरकार ने उनको शिक्षित बनाने के लिए करोडो रुपये खर्च किये और कर रही है, पर सोचना होगा कि उनके जीवन के लिए किस तरह की शिक्षा चाहिए। जो शिक्षा आज उन्हें दी जा रही है वह उनको अपंग व आलसी बनाती है। उससे उनके जीवन में नवचेतना, शक्ति व उमंग नही उपजती। नैसर्गिक जीवन के कारण इन लोगो में कठिन परिश्रम करने की मनोवृत्ति होती है। उनमें गरमी, सरदी और वर्षा सहन करने की शक्ति होती है। उन्हें बन्द कमरो मे बैठने की आदत नही होती। इसीलिए वही किताबी ज्ञान, जो तोता रटन्त मात्र है, आदिवासी बच्चो को रुचिकर नहीं लगता।

मैं जानती हूँ कि शिक्षा की भूख उनमें जग पड़ी है। जब आदिवासी-समाज में स्कूल खुलते हैं तो बच्चे उसमें टूट पड़ते हैं। उनके संरक्षक अपना सब काम बन्द करके उन्हें ले आते है। उनको लगता है कि उनके बच्चे नये समाज में कहीं पीछे न रह जायें। क्या नया ज्ञान

प्राप्त होगा क्या सीखेंगे, क्या करेंगे ?—यह सब उन्हें कुछ नहीं मालूम। उन्हें तो नयी चीज का आकर्षण-मात्र है, इसलिए खिंचे चले आते हैं, पर कुछ समय के बाद धीरे धीरे बच्चों की सख्या कम होने लगती है।

आदिवासी के मुकाबले जब श्रमविहीन, मनोरंजना-त्मकता से दूर, निराशावादी तडकीले-भडकीले वस्त्रधारी शिक्षक मुँह में सिगरेट दबाये, कुरसी पर अपनी टाँगें फैलाकर बैठते हैं तो आदिवासी को वह शाला किसी तहसील-कार्यालय से कम नही नजर आती। फिर गन्दा, गँवार, मूर्ख आदि के सम्बोधन तो हैं ही। आदि-वासियों के वस्त्र, बोलचाल की भाषा और रहन-सहन का मजाक उडानेवाले शिक्षक इनके दिल नही जीत सकते। यदि हमें उनको शिक्षा-द्वारा उन्नत करना है तो उनके रीति रिवाजों में बाधक न बनकर उनके साथ खेल-कूद कर, प्रेम से उनके साथ समरस होकर उन्हें शिक्षित करना होगा। उनकी स्वच्छन्दता में विघ्न न डालकर उनको अधिक-से-अधिक शक्ति प्रदान करनी होगी। उनकी भाषा सीखकर उनकी भाषा में ही बोलना पढाना होगा, यानी उनके प्रतिदिन के जीवन के साथ समरस होना होगा।

आदिवासियों के वस्त्र, बोलचाल की भाषा और रहन सहन का मजाक उडानेवाले शिक्षक उनके दिल नही जीत सकते। मेरी नम्र राय है कि यदि उनको शिक्षित बनाना है तो पहले हमें उनके दिल जीतने होंगे। उनमें सत्यवादिता, क्षमाशीलता, सादगी, सन्तोष, अपरिग्रह-वृत्ति कूट-कूटकर भरी है। शहरी वातावरण, भौतिक जीवन तथा राजनीति से दूर, श्रम की कमाई पर विश्वास रखनेवाले, दूसरो की कमाई का खाना पाप समझने-वाले, रूखी-सूखी रोटी और जगली पत्तियाँ खाकर पेट की अग्नि बुझानेवाले ये आदिवासी अत्यन्त सरल हृदय के होते हैं। सचमुच, हम इनके गुणो को परखें तो वे हमारी श्रद्धा के पात्र होने चाहिए। दिनभर के कठिन परिश्रम के बाद थकान मिटाने के लिए गादी-तकिये न लेकर कहीं भी पड जाना, न सुविधाओ की टोह करना, न भाग्य का कोसना। जब वे शिक्षकों को स्कूलों में अपने से भिन्न देखते हैं तो उनका भोला भाला मन उनको स्वीकार करने से रोकता है। ●

गाँव का विद्रोह

नया संस्करण . नयी साज-सज्जा

आचार्य राममूर्ति जनमे गाँव में, पढ़े लिखे शहर में और प्रोफेसरी भी की वहीं, लेकिन कुछ दिनों बाद अलविदा कहा प्रोफेसरी को और जा पहुँचे गाँव में। वहाँ उन्होंने देखा दुख देखी विषमता और देखा अन्याय, फूट और वैमनस्य देखा टूटा हुआ इनसान देखा, बिखरी हुई इनसानियत देखी, और देखा टुकड-टुकडे हो चुका ग्रामजीवन। काँप उठा उनका दिल, काँप उठा उनका दिमाग, और वे कूद पड़े गँवई गलियों मे क्रान्ति की मशाल जलाने के लिए और जुट गये जन-जन में विधायक विद्रोह जगाने के लिए। इस सन्दर्भ के प्राप्त अनुभवों और विचारों को उन्होंने कलम-बद्ध भी किया, जिसका परिणाम है यह पुस्तक–'गाँव का विद्रोह'। तीन महीने के अन्दर ही इस पुस्तक का दूसरा सस्करण दस हजार प्रतियों का हो चुका है।

पृष्ठ सख्या १३२, मूल्य मात्र—एक रुपया। चौरंगा आवरण। १४ रेखाचित्र। पुस्तक के लिए लिखिए सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन, वाराणसी–१ को।—सतीशकुमार

रजत जयन्ती अंक
महिला चर्खा समिति-पत्रिका का

महिला चर्खा समिति पत्रिका का २०८ पृष्ठो का रजत-जयन्ती अक अपना विशेष महत्व रखता है। छपाई साफ-सुथरी है। साज-सँवार के निखार से पत्रिका में विशेष आकर्षण आ गया है। सुश्री निर्मला देशपाण्डे की 'भारत को स्त्रियों की आध्यात्मिक देन', दादा धर्मा-धिकारी की 'आधुनिक सभ्यता और भारतीय नारी', श्री दिगम्बर झा की 'दिशाहीन जनजीवन और साहित्य-कार का दायित्व' आदि अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ बार-बार पढने लायक हैं। पता है–मत्री, महिला चर्खा-समिति, कदमकुआँ, पटना–३। —धर्मदेव

अनुक्रम

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहकसंख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती है।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

सर्व-सेवा-संघ का नया उपहार

आज़ादी की मंज़िलें

लेखक डॉ॰ मार्टिन लूथर किंग

अमेरिका के नीग्रो-वंश की मुक्ति का इतिहास समकालीन साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। १९५४ में मॉण्टगोमरी नगर में नीग्रो लोगों ने श्वेतांग समाज के दमन के विरुद्ध एक जबरदस्त बगावत की थी। काले-गोरे का भेदभाव बरतनेवाली बसों में बैठने से इनकार करके उन्होंने स्वाभिमान एवं मानवीय प्रतिष्ठा की रक्षा की थी।

उनको बस में चढ़कर जाने के अपमानभरे आराम से पैदल चलने का स्वाभिमानभरा कष्ट ज्यादा प्रिय लग रहा था। आखिर गोरे लोगों को अपनी जिद छोड़कर न्याय के मार्ग पर आना पड़ा। मॉण्टगोमरी की बसों से रंगभेद समाप्त हुआ। नीग्रो-वंश की मुक्ति की दिशा में यह सत्याग्रह एक लम्बी छलाँग साबित हुई।

इस बस-बहिष्कार-आन्दोलन का नेतृत्व किया एक युवा पादरी डॉ॰ मार्टिन लूथर किंग ने। उन्हें अहिंसा और सत्य के सिद्धान्तों पर चलने की प्रेरणा गांधीजी तथा भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन से मिली थी। डॉ॰ किंग ने मॉण्टगोमरी-सत्याग्रह की कहानी को 'स्ट्राइड टुवर्ड फ्रीडम' नाम की पुस्तक में बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है। वह पुस्तक अब भारतीय पाठकों के लिए हिन्दी में प्रस्तुत है। इसका अनुवाद किया है विश्व-पदयात्री सतीशकुमार ने, जो डॉ॰ मार्टिन लूथर किंग से मिल चुके हैं और नीग्रो-मुक्ति के आन्दोलन को निकट से देख चुके हैं। इसका मूल्य है मात्र चार रुपये।

—रमेश

नया तालीम, जनवरी ६६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भजने की अनुमति प्राप्त
लाइसेंस न० ४६ रजि० स० एल, १७२३

अन्तिम हस्ताक्षर

२७ मई '६४ का दिन। हवा का गर्म झोका आया। गुलाब मुरझा गया। पत्तियाँ बिखर गयी। पखुडियाँ झर गयी। बच गये काँटे—तीखे, नुकीले। पास ही खडी थी माँ। आँखें भरी हुई थी। अधरो पर था एक प्रश्नचिह्न।

एक नन्हा शिशु आगे बढा। उसने चुन लिया काटो को। पहन लिया ताज—काटो का ताज।

"यह क्या मेरे लाडले। कहाँ तुम्हारी कोमलता, और कहा यह काँटो का ताज!"
'लेकिन माँ, तुम्हारे वरदानो की शक्ति का ज्ञान है मुझे।"
मा ने कुछ सोचा। फिर 'एवमस्तु' कह दिया।

नन्हे-मुन्ने कदम बढ चले। ऊँचे ऊँचे पहाड मिले, चढ गये। गहरी घाटियाँ मिली, उतर गये। अडे जहाँ, अड गये।

समस्याओ ने करवट ली। उनके खूँखार पजे उठे। उन्होंने चाहा गला घोटना नन्हे शिशु का; लेकिन नवनीत-सी विनम्रता के पीछे निकली हिमालय-सी दृढता। उनकी एक न चली। थककर बैठने लगी।

तभी पडोस से एक बगूला उठा। सीमाओ के पत्थर उखडने लगे। हर घाटी कोलाहल से गूँज उठी। नन्हे शिशु का स्वाभिमान मचल उठा। साहस ने अँगडाई ली। कोने-कोने से एकता के स्वर उठे। पडोसी को होश आ गया। हवा थम गयी।

नन्हा शिशु दो-चार कदम और बढा। उसने बढा दिया दोस्ती का हाथ। पडोसी के भी हाथ बढे। हाथो से हाथ मिले, गलो से गले मिले और नन्हे शिशु ने कर दिया हस्ताक्षर—अन्तिम हस्ताक्षर। कली-कली खिल उठी। काम पूरा हो गया। ११ जनवरी '६६ को नन्हा शिशु सो गया माँ की गोद में। धरती पर है काँटो का ताज। माँ की आँखो में है आँसू, अधरो पर वही प्रश्नचिह्न।

आवरण-मुद्रक—वर्द्धमान प्रेस मानमन्दिर वाराणसी।

सर्व सेवा संघ की मासिक
प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
प्रमाक
ता. 1 MAR 1966
मूल्य

मैंने इन्दिरा को यहाँ (शान्ति निकेतन मे) बहुत नजदीक से देखा था और मुझे बडी खुशी है कि तुमने (जवाहरलालजी ने) उसे इस भांति पाला-पोसा है और शिक्षा दी है। उसमें तुम्हारे-जैसा चरित्र है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर—

देश के युवको से हमारी अपेक्षा है कि वे विज्ञान और टेक्नोलाजी का विशेष अध्ययन करे। हमारे देश के पिछडेपन का मुख्य कारण हमारे युवको मे विज्ञान और टेक्नोलाजी के ज्ञान की कमी है।

लोग सोचते हैं कि देश की ताकत उसकी सैन्य-शक्ति होती है, यह बात सही नही है। अगर सही है तो आंशिक रूप मे। बडी-से-बडी सेना ऐसे देश की रक्षा नहीं कर सकती, जिसकी जनता मूर्ख और पिछडी हुई है।

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

वर्ष : चौदह

अंक : सात

दिल्ली अब भी दूर है !

लोकतंत्र की एक बहुत बड़ी अच्छाई यह है कि वह छोटे आदमियों को बड़ा बनने का अवसर देता है, साथ ही यह बुराई भी है कि जो बड़े होते हैं उनके लिए छोटाई प्रकट करने का रास्ता साफ छोड़ देता है।

किसी भी तरह रामनाथ को बड़ा आदमी नहीं कहा जा सकता। कुल तीन-साढ़े तीन बीघा जमीन, पाँच-छः व्यक्तियों का परिवार, एक जोड़ी बैल, बचपन में ही पिता मरे और जो कर्ज छोड़कर गये वह अभी तक पटा नहीं, बेटी सयानी हो रही है, उसकी शादी की चिन्ता है, रामनाथ इसी उधेड़न में दिन-रात पड़ा रहता है, लेकिन उसकी मेहनत, बोली-बानी की मिठास, सबके सुख-दुख में उत्साह से शरीक होने की आदत, आदि ऐसी बातें हैं कि गाँव में कोई भी बैठक हो, लोग रामनाथ को बुला ही लेते हैं। उम्र उसकी अभी पैंतीस की भी नहीं है, लेकिन इज्जत बड़े-बूढ़े की मिली हुई है। गाँव के युवक कहते हैं कि इस बार चुनाव में उसे ही सभापति बनाया जाय।

उस दिन शाम को पुस्तकालय में गाँव के कई लोग रेडियो सुन रहे थे। जब से शास्त्रीजी की मृत्यु हुई शाम को रेडियो के पास भीड़ लग जाती है, और खबर सुनने के बाद लोग काफी देर तक टीका-टिप्पणी करते हैं। शास्त्रीजी की मृत्यु उन घटनाओं में है, जो ऐसे छोटे लोगों के दिमाग को भी झकझोर देती है, जो नून-तेल से अलग बहुत कम सोचते हैं।

जब से रेडियो ने यह कहा कि १९ जनवरी को प्रधान मंत्री के पद के लिए नेता का चुनाव होगा, रेडियो सुननेवालों के लिए चर्चा का एक अच्छा विषय मिल गया। एक दिन शाम को खबर के बाद रामरतन ने कहा—"लड़ाई गाँव में ही नहीं, दिल्ली में भी होती है।"

"फर्क इतना ही है कि यहाँ लड़ाई छोटी चीजों के लिए होती है, वहाँ बड़ी के लिए। जो दिल्ली में जीतेगा, वह देश का राजा होगा।"—नीलू बोला।

"मैं तो चाहता हूँ कि इन्दिराजी जीतें।"—फगू ने कहा।

"हाँ, नेहरूजी की बेटी हैं, लेकिन देश का काम बड़ा है, स्त्री के मान का नहीं है।"—नीलू ने सोचकर राय दी।

इसपर रामरतन ने कहा—'वह तो हुक्म देंगी, काम सब हाकिम लोग करेंगे। नेहरूजी राजा थे, अब उनकी बेटी को ही गद्दी पर बैठना चाहिए।"

"लेकिन भाई, मैंने सुना है कि मोरारजी भी अच्छे आदमी हैं, कड़े हैं, सादी चाल-ढाल है, पुराने हैं, अनुभवी हैं।"—सदाशिव ने कहा।

"तुमलोगों से राय कौन ले रहा है कि अपने मन की खिचड़ी पका रहे हो? रामनाथ, तुम कुछ नहीं बोल रहे हो।"—जरा गम्भीर होकर मनोहर बोला।

"क्या बोलूँ? हमारे गाँव में पंचायत के तीन चुनाव हुए, लेकिन अभी तक हमलोग बचते जा रहे हैं, किसी तरह मिलजुलकर तय कर लेते हैं।"

"पड़ोस के गोपालपुर को देखो क्या हाल हो रहा है? इनको उठाओ, उनको गिराओ, इसके सिवाय किसी को दूसरी बात ही नहीं सूझती। जहाँ एक बार हार-जीत की धुन मन में घुसा कि वहाँ खेती, वहाँ बारी। अभी तक दिल्ली कुछ ढकी-तोपी चली आती थी, लेकिन अब वह भी" " छोटों की छोटाई से बड़ों की छोटाई कहीं अधिक भयंकर होती है।"

"इसमें छोटाई की क्या बात है? जब चुनाव होगा तो लड़ाई होगी ही।"—स्कूल में पढ़नेवाले मोहन ने कहा।

"भाई, एक ही घर में रहकर लड़ने से अच्छा है अलग होकर लड़ना, अलग होकर लड़ना लड़ाई है, एक में रहकर लड़ना फूट। लड़ाई का घाव भर जाता है, फूट अन्दर-अन्दर खा जाती है।"—रामनाथ ने उत्तर दिया।

"कुछ भी हो, हमलोगों को क्या मिलनेवाला है? अब तक क्या मिला है, और आगे क्या मिलेगा? अपना काम है पाँच साल में एक बार वोट दे देना, उसके बाद बैठकर तमाशा देखना।"—जग्गू ने लम्बी साँस लेते हुए कहा।

"यह कैसे होगा? रोज-रोज रेडियो से खबरें आती रहेंगी तो हमलोग अपने दिमाग को कहाँ तक अलग रखेंगे?"—मनोहर ने शंका प्रकट की।

"नहीं रखोगे तो हाय हाय करते रहो, और करोगे क्या? इतना तो मानोगे न कि दिल्ली की देखादेखी अपने गाँव में भी उसी तरह का नाटक नहीं रचना है। अपने मन को ही नहीं, अपने गाँव को भी अलग रखना है। यह काम आसान नहीं है, लेकिन "

"भैया जग्गू, पहले का जमाना नहीं है कि दिल्ली में कुछ भी होता रहे और हमलोग अपने ढंग से अपनी राह चलते रहें। अब तो दिल्ली और हमारे पेट के बीच सीधी रस्सी बँधी हुई है।"—रामरतन फिर बोल उठा।

रामनाथ ने कहा—"बहुत पते की बात कही तुमने। जब बड़े अपनी छोटी बातों में लग जाते हैं तो हम छोटों की बड़ी बातों को कौन देखे, कौन सुने? लेकिन यह तो सोचो कि करोगे क्या? क्या यह अच्छा नहीं होगा कि हमलोग इन चीजों से अपना मन ही अलग कर लें और अपनी रोटी-दाल देखें?"

रामनाथ की इस अन्तिम बात के बाद उस दिन की चर्चा समाप्त हुई। उसकी सलाह लोगों को जँची भी। उसने वह कवच दे दिया, जो अन्तिम था, जो सचमुच हमारे देश की गरीब जनता का हमेशा से अन्तिम कवच रहा है। इस देश की गरीब जनता में अपने को चारों ओर की दुनिया से अलग कर लेने की विलक्षण शक्ति है। इसी बल पर वह आज नहीं, अनेक सदियों से जिन्दा है। पड़ें चाहे जितनी चोटें, मचें चाहे जितनी हलचलें, गरीब अपने को अपनी गरीबी में समेट लेता है और बच जाता है। जब जाति प्रथा ने हमारी समाज-व्यवस्था में गरीब और गरीबी को एक अलग और स्थायी स्थान दे दिया तो गरीब ने क्या किया? उसने अपना मन अलग कर लिया। उसने सोच लिया कि गरीबी को पूर्वजन्म का परिणाम और भावी जन्म की पूर्वतैयारी मानकर स्वीकार करना है।

उसी तरह जब जनता ने देखा कि अठारह वर्षों के इस नये स्वराज्य में उसका कोई स्थान ही नहीं है तो उसने अपना मन अलग कर लिया। क्या अन्न-संकट, क्या सुरक्षा, क्या एकता, कोई भी प्रश्न हो, हर एक से उसका मन अलग है। 'अधिक अन्न उपजाओ', 'देश के लिए सोना दो', 'पड़ोसी को भाई समझो' और 'देश की एकता को मजबूत करो' आदि नारे उसके कान में पड़ते हैं; लेकिन मन को नहीं छूते, क्योंकि उसने अपने मन को अलग कर लिया है। हमारी जनता, गरीब जनता समझती है कि यह सब एक नाटक है, जिसका एक दृश्य दिल्ली में हो रहा है, दूसरा लखनऊ में, जिसे वह देख सकती है; लेकिन जिसके पात्र कोई दूसरे हैं, उनकी दुनिया कोई और है।

सत्ता का खेल खेलनेवाले जिसे अपना बड़प्पन समझे उसीको अगर जनता छोटापन समझे और यह आशा ही छोड़ दे कि उसकी समस्याओं का हल उनसे कभी होगा, तो क्या होगा? क्या होगा अगर लोकतंत्र का 'लोक' यह मानने लगे कि जो नेता और अफसर 'तंत्र' के मालिक हैं उनसे अब उसकी समस्याएँ नहीं हल होंगी और उसे अपनी आशा और विश्वास का आधार कहीं दूसरी जगह ही ढूँढ़ना होगा। जहाँ सरकार में केवल गद्दी की होड़ हो, जहाँ बाजार में मुनाफा ही भगवान हो, जहाँ शिक्षा में परीक्षा जूए का दाँव हो, वहाँ की जनता क्या सोचे, क्या समझे? जब राजनीति में वोटर का नहीं, वोट का; अर्थनीति में कमानेवाले का नहीं, कमाई का; शिक्षानीति में पढ़नेवाले का नहीं, पास होने का महत्व हो; तो जनता कैसे माने कि देश के बड़े लोग छोटों के लिए भी सोच रहे हैं? जब नेताओं के प्रति भरोसा टूटता है तब जनता योद्धाओं का सहारा लेती है, इसी का नाम है तानाशाही।

गाँवों और दिल्ली—दिल्ली ही क्यों, सभी राजधानियों—की बढ़ती हुई दूरी लोक को तंत्र से दूर ले जायगी और लोकतंत्र की जगह तानाशाही के लिए रास्ता साफ करेगी।

राष्ट्रीय आकांक्षा और नयी तालीम

•

नारायण देसाई

राष्ट्रीय शिक्षा वही कही जायगी, जो राष्ट्र की आकांक्षा की पूर्ति करती हो। मान लीजिए कि पूरे-के पूरे राष्ट्र को कोई अनिवार्य प्रशिक्षण दे दिया गया। राष्ट्र का हर व्यक्ति तालीम पा चुका; लेकिन उससे पूरे राष्ट्र की आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती है, तो उसे राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कहा जा सकता, वह राष्ट्र-व्यापी शिक्षा हो सकती है। आज हमारे राष्ट्र की आकांक्षा क्या है, हम पहले इसे समझ लें।

राष्ट्र की आकांक्षा

मेरा ख्याल है कि राष्ट्र की आकांक्षा विशिष्ट घटनाओं और विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा व्यक्त हुआ करती है। पिछले महीने में, जो एक महान घटना हो गयी है उसके जरिये हमारे देश की आज की राष्ट्रीय आकांक्षा व्यक्त हुई है। वह घटना है ताशकन्द-वार्ता और उसके बाद का शास्त्रीजी का बलिदान। १८ महीने के अपने प्रधान मन्त्रित्व काल में मानो शास्त्रीजी ने गीता के १८ अध्याय ही गा लिये, और एक राष्ट्र की अन्तरतम आकांक्षा उनके व्यक्तित्व के जरिये प्रकट हुई।

कुछ महीने पहले अपना यह देश लघुताग्रन्थि में था। पण्डितजी के जाने के बाद सबको यह आभास हुआ था कि यह देश तितर बितर हो जायगा। आत्मविश्वास के लिए कोई आधार मालूम नहीं होता था, लेकिन शास्त्रीजी के जरिये राष्ट्रीय आत्मविश्वास हम सब लोगों के सामने प्रकट हुआ। शास्त्रीजी ने देश को खोया हुआ आत्मविश्वास वापस ही नहीं दिलाया; बल्कि कुछ आत्मसम्मान भी बढ़ा दिया।

आज अगर अपने देश को सबसे बड़ी किसी चीज की आवश्यकता और आकांक्षा है तो वह आत्मविश्वास की है। आत्मविश्वास की नींव आत्मनिर्भरता पर है। यूनाइटेड नेशंस में भारत के, जो बड़े-बड़े प्रतिनिधि गये, वे लौटकर यही सुनाते थे कि हिन्दुस्तान का कोई मित्र नहीं रहा। १८ वर्ष तक जिसने सब देशों को मित्र ही बनाने की कोशिश की, उसका यह रोना कि अब अपना कोई मित्र नहीं रहा, तो इस देश के लिए आत्म निरीक्षण की वेला आ गयी थी, यह समझ लेना चाहिए। कहीं-न-कहीं हम चूक कर रहे थे।

आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास

शास्त्रीजी ने हमें एक नयादर्शन कराया। बिना आत्मनिर्भरता के आत्मविश्वास असम्भव है। आत्म-निर्भरता पर आधारित, जो शिक्षा होगी वही राष्ट्रीय शिक्षा होगी।

चार-पाँच साल पहले इस्राइल की कुछ शिक्षण-संस्थाओं का निरीक्षण करने का मौका मिला था। उनकी शिक्षा की, जो संस्थाएँ हैं उनमें एक तत्त्व ऐसा मालूम हुआ, जो बहुत ही आकर्षक लगा। मैं १७ से १९ साल के लड़कों के हाई स्कूल में गया था। उस हाई स्कूल में मूल उद्योग में हवाई जहाज मरम्मत करना था। १८ साल का लड़का पूरा हवाई जहाज खोलकर उसे फिट कर सके, इतनी योग्यता प्राप्त कर लेता था। वे लोग ओल्ड टेस्टामेण्ट के माननेवाले यहूदी हैं। एक-एक घण्टा ओल्ड टेस्टामेण्ट के वर्ग भी होते थे। इसके साथ गणित और विज्ञान, तथा इतिहास और भूगोल आदि-जैसे विषय भी पढ़ाये जाते थे। हाई स्कूल का कोई ऐसा विषय वहाँ छूटा नहीं था, जो अपने देश में सिखाया जाता हो। विद्यार्थी जब हाई स्कूल से उत्तीर्ण होता था तो इस

आत्मविश्वास के साथ कि कम-से-कम हवाई जहाज वह चला सकता है। हमारे यहाँ विद्यालयों से निकले हुए स्नातकों में किसी काम को सांगोपांग करने का आत्मविश्वास नहीं होता। उद्योग आत्मविश्वास देता है, लेकिन वह तभी, जब कि एक उद्योग को पूरा-पूरा किया जाय। योजना बनाने से लेकर पूरा हुआ कि नहीं, उसकी जाँच तक की सारी क्रियाएँ जब परिपूर्ण रूप से होती हैं तब उसमें आत्मविश्वास निर्माण होता है। इस दृष्टि से हमारी नयी तालीम उद्योगों को किस प्रकार स्वीकार करती है, यह हमें देख लेना चाहिए।

नयी तालीम के गुण

आम तौर पर यह माना जाता है कि जितनी ऊँची इमारत होगी उसकी नीवें उतनी ही गहरी होनी चाहिए, परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा की, जो इमारत है उसकी नीवें सिर्फ गहरी ही नहीं, बल्कि व्यापक भी होनी चाहिए। यह नीवें जितनी अधिक व्यापक होगी, इमारत उतनी ही बुलन्द और अधिक व्यापक होनेवाली है। इसलिए इस राष्ट्रीय शिक्षा की एक अनिवार्य शर्त यह होनी चाहिए कि वह अत्यन्त व्यापी हो।

नयी तालीम इस दृष्टि से उपयोगी लगती है कि उसमें व्यापक हो सकने का गुण है। वह सुलभ है और उसके साथ-साथ समाज के सर्व-साधारण मानव तक विज्ञान को पहुँचा देने की शक्ति भी उसमें है। साधारण-से-साधारण बच्चे तक और साधारण से साधारण आदमी तक विज्ञान को पहुँचा देनेवाली, जो तालीम होगी वह नयी तालीम होगी। इसी गुण के होने के कारण नयी तालीम आज के स्वावलम्बन के सन्दर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक है।

उसका दूसरा गुण यह है कि वह एक ऐसा कमल है, जो जीवन के सरोवर से निकलता है। उसके लिए कोई दूसरे प्रकार के प्रयोग-क्षेत्र की आवश्यकता नहीं। जीवन ही उसका निर्माण होता है। नयी तालीम अपनी व्यापकता और सुलभता के कारण, सर्व साधारण के पास विज्ञान को पहुँचा देने की योग्यता के कारण और जीवन की स्वाभाविकता से प्रस्फुटित होने के कारण, आज के सन्दर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से उत्तम तालीम है।

नयी तालीम और तालीमी संघ

अन्त में एक लाल बत्ती दिखाना चाहता हूँ। मैं महात्मा गांधी के पास रहता था। एक प्रसंग यह उपस्थित हुआ कि मैं गांधीजी के साथ रहकर दफ्तर का काम करूँ या अलग रहकर नयी तालीम की शाला चलाऊँ। दोनों ही काम मेरे लिए अत्यन्त प्रिय थे, इसलिए मैंने गांधीजी से कहा कि आप जो आज्ञा दीजियेगा वह मुझे मंजूर है। उन्होंने उसके लिए विचार करने का समय नहीं माँगा और कहा कि 'उसका निर्णय हो चुका है। तुम्हें नयी तालीम में जाना है। लेकिन साथ-ही साथ यह भी कहा कि 'नयी तालीम माने 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' नहीं। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का जन्म उन्होंने ही दिया। उसको मजबूत करने के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के यहाँ से अध्यापकों को बुलाया और उसके हर प्रयोग के हर पहलू में उन्हें दिलचस्पी थी। फिर भी उन्होंने कहा कि तुम्हारे करने के लायक यह काम है, लेकिन इस संस्था के बन्धन में रहकर नहीं। नयी तालीम तालीमी संघ से अधिक व्यापक है, इसे हमें समझना चाहिए।

यदि नयी तालीम माने शिक्षा की एक पद्धति, समवाय की कुछ युक्तियाँ, या कुछ मिनटों का उद्योग, या झाड़ू लगाना—अगर इतना ही माना जायगा तो उसमें राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति करने की ताकत नहीं आयेगी। नयी तालीम तभी होगी जब राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ-साथ उसकी पद्धतियों में भी विकास होगा और वह नित्य विकासशील होगी। इस चीज की ओर बापू ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। इसलिए जब नयी तालीम एकमात्र शिक्षा की पद्धति हो सकती है, ऐसा सोचा जाता है तो यह लाल बत्ती दिखाने की इच्छा हो जाती है।

आग्रहमुक्त तालीम

नयी तालीम के साथ 'ही' कहना गलत है। 'ही' वाद जहाँ आया वहाँ नयी तालीम समाप्त हुई। नयी तालीम ही मात्र का जहाँ आग्रह होता है वहाँ इस आग्रह के साथ-साथ हम पद्धति को दाखिल करते हैं। जहाँ पद्धति दाखिल होती है वहाँ से जिन्दगी लुप्त होती है। इसलिए नयी तालीम में यदि जीवन रखना हो तो पद्धति के गौणत्व को स्मरण रखना चाहिए और आग्रह तत्त्व का होना चाहिए, पद्धति का नहीं। ●

परिवर्तित परिस्थितियों व परिवेश में

नयी शिक्षा : नयी दिशाएँ

•

रामनयन सिंह

पाश्चात्यीय शिक्षा का उददेश्य है व्यक्ति को ज्ञान देना और ज्ञान इस तरह देना कि उसमें सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण हो। व्यक्तित्व व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं तथा मांगों की आपसी प्रतिक्रिया और समन्वय का फल है। सामाजिक आवश्यकताओं और मांगों के परिवर्तनों के अनुरूप शिक्षा में भी परिवर्तन आवश्यक होना है। इसके लिए पाठ्य विषय वस्तु के स्वरूप और शिक्षण विधि में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। विधि की उपयुक्तता और विषय वस्तु का स्वरूप निर्धारित करने के लिए यह जानना होगा कि आज के नये समाज की क्या मांग है? आज हम जो भी विधि अपनाये विषय-वस्तु को जिस भी रूप में विद्यार्थियों के सम्मुख प्रस्तुत करें सबका एसिड टेस्ट यह है कि हम किस अंश में निम्न दिशाओं में बढ रहे है—

१ प्राधिकारी मनोवृत्ति के स्थान पर जनतान्त्रिक मनोवृत्ति का निर्माण

२ उत्पादक श्रम के लिए अनुकूल मनोवृत्ति का निर्माण और

३ वैज्ञानिक और आध्यात्मिक मनोवृत्तियों का समन्वय।

जनतान्त्रिक मनोवृत्ति के लक्षण

आज नये समाज की दिशा विशिष्टवाद या प्राधिकारवाद से जनवाद की ओर उन्मुख है। अधिकार सम्पत्ति और प्रतिष्ठा विशिष्ट व्यक्तियों में केन्द्रीभूत हो और जनसमुदाय उनकी मर्जी पर आश्रित रहे, यह जो पुराना सामाजिक ढांचा था वह दिनोदिन स्थान देता जा रहा है उस ढांचे को जिसमें अधिकार सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पर जन समुदाय का अधिकार हो। आज विश्व समाज के परिवर्तन की वही दिशा है—चाहे साम्यवाद के रूप में, चाहे जनतन्त्रवाद के रूप में। उपनिवेशवाद अब अन्तिम सांस ले रहा है। राजे महाराजे अब बूढ़ी दादी की कहानियों में ही रह गये हैं।

वास्तविक जनतन्त्रवाद तभी आ सकता है और टिक सकता है जब प्रत्येक जन जनतान्त्रिक हो अन्यथा जनतन्त्र के नाम पर कुछ विशिष्ट जनों का तन्त्र ही रह जायगा। जबतक जनतन्त्रवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को अपना निवास स्थान नहीं बनायगा तबतक समाज में उसका रूप नहीं आयगा। जनतन्त्रवाद व्यक्तित्व का अंग कैसे बनेगा इसके लिए प्रारम्भ शिक्षा के क्षेत्र में ही करना होगा। राज्य के नियम बनाने मात्र से काम नहीं होगा।

प्रश्न है कि शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व में किन शीलगुणों का विकास हो कि जनतान्त्रिक व्यक्तित्व बन सके? जनतान्त्रिक व्यक्तित्व के निम्नलिखित लक्षण होने चाहिए—

१ सहयोगिता २ सतर्कता ३ स्वावलम्बन ४ सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने की योग्यता ५ सहिष्णुता और ६ सहअस्तित्व।

शिक्षक और शिक्षाधिकारी क्या करें?

अब विचारणीय प्रश्न है कि शिक्षक और शिक्षाधिकारी क्या कर सकते हैं? यह तो निश्चित प्राय है कि विद्यार्थी अपनी परीक्षा अपने से पास करेगा, लेकिन ज्ञानार्जन में तथा स्कूल के अनेक कार्यों में इस प्रकार व्यवस्था लायी जा सकती है कि विद्यार्थी एक दूसरे से सहयोग करना सीखे। सहयोग करने से सहयोग करना आता है। स्कूल की बागबानी मेस का प्रबन्ध अच्छे विद्यार्थियों का पिछड़े विद्यार्थियों का ज्ञान बढ़ाना

अध्ययनगोष्ठी का सचालन आदि अनेक कायक्रमो की व्यवस्था इस तरह की जा सकती है कि विद्यार्थी एक दूसरे से सहयोग करना सीखे और सहयोग के महत्व को समझे।

सफल जनतन्त्र के लिए यह अति आवश्यक है कि लोग सतर्क हो। आज के भारतीय विद्यार्थी को प्रश्न पूछने की आदत नहीं और न तो अध्यापक को इसके लिए उत्साहित करने की फुरसत है। कोई विद्यार्थी यदि अधिक प्रश्न पूछनेवाला हुआ भी, तो उसे अनुशासनहीन करार दिया जाता है। यह प्राधिकारवादी समाज की देन है। किसी बात के साथ 'कहाँ' 'क्यो' 'कैसे' लगाना तो बडो का, वेद पुराण का अनादर समझा जाता है। नये समाज के विद्यार्थियो को आवश्यकता है स्वनायुक्त आलोचना त्मक दृष्टिकोण अपनाने की और किसी विचार तथा तथ्य को स्वीकार करने के पहले जानने की।

अध्ययन-विधि

चाहे छोटी कक्षा हो या बडी, आज पढाने की सामान्य विधि है नोट लिखाना, चुने हुए प्रश्नो का उत्तर लिखाना। यह विधि विद्यार्थी को परावलम्बी बनाती है। अध्यापन विधि ऐसी रखने की आवश्यकता है कि विद्यार्थी अपने से तथ्यो को इकट्ठा करना, उन्हें सगठित करना और उनके आधार पर निर्णय लेना सीखे। इससे उसमें स्वावलम्बन आयगा। स्वावलम्बन के लिए एक आवश्यक बात यह है कि व्यक्ति का परिश्रम में विश्वास हो और यह तभी होता है जब मूल्याकन में परिश्रम को उचित स्थान मिले। आज व्यक्ति को अपने श्रम पर विश्वास नहीं और न विश्वास है निर्णायक पर। हर काम के लिए सोर्स ढूंढने की बीमारी यहाँ सामाजिक होती जा रही है। आज स्कूल तथा उसके बाहर ऐसे वाता-वरण की आवश्यकता है कि व्यक्ति का विश्वास परिश्रम में हो सके।

जनतात्रिक व्यक्तित्व के लिए यह अति आवश्यक है कि वह समझे कि समाज के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व है। आज की शिक्षा व्यक्तिगत उपलब्धियो पर ही बल देती हुई प्रतीत होती है। स्वतन्त्रता-सग्राम में विद्यार्थियो का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इस निर्माण-काल म भी विद्यार्थियो का कुछ समय समाज के लिए रचनात्मक कार्यो मे क्यो न व्यय हो? ऐसी अनेक सामाजिक सेवाएँ है, जहाँ विद्यार्थियो से सहायता ली जा सकती है। इसके लिए आवश्यकता है एक सुनियोजित योजना की। इससे निर्माण कार्य तो आगे बढेगा ही, साथ ही विद्यार्थी का लगाव समाज के प्रति होगा। इसके अतिरिक्त स्कूल के विभिन्न कार्यों-द्वारा भी उत्तरदायित्व निभाने की बात सिखायी जा सकती है।

इसी प्रकार सहिष्णुता और सहअस्तित्व के शील-गुणो के विकास म भी शिक्षक का हाथ हो सकता है। सामूहिक निर्णय लेने में अनायास विद्यार्थी बहुमत की बात मानना सीखेगा, साथ ही अल्पमत का आदर करना भी। शिक्षक का व्यवहार और स्कूल का सामान्य वातावरण इस प्रकार का होना चाहिए कि जातिवाद, धर्मवाद-जैसी सकुचित मनोवृत्तियो को प्रश्रय न मिले। परस्पर विरोधी विचार रखते हुए भी वह मित्रा की तरह रह सके।

उत्पादक श्रम के लिए अनुकूल मनोवृत्ति

प्राधिकारवादी समाज की एक अत्यन्त खतरनाक देन है उस व्यक्ति को बडा समझने की, जो कोई शारीरिक श्रम न करे। विनोबाजी के शब्दो म आज जनता 'अन्धी' है। उसके पास 'हैण्डस है हेड' नहीं। दूसरी ओर शिक्षित 'लँगडे हैं, उनके पास 'हेड' है तो हाथ और पैर नही।' हेडवाला हैण्ड्सवालो को छोटा समझता है उनके श्रम का लाभ उठाता है। इस प्रकार वर्ग-विभेद रहते जनतात्रिक समाज कायम नही हो सकता।

शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक दोनो पक्षो का विकास हो। शिक्षा के कुछ स्तर तक दोनो पक्षो पर बल पडना चाहिए। आज की शिक्षा कुछ अधिक 'साफ्ट' है। शारीरिक दृढता की ओर भी शिक्षा को उन्मुख होना चाहिए। साथ ही कुछ उत्पादक श्रम भी होना चाहिए। लेकिन, जैसा कि डा० आर० वी० राव ने नयी तालीम की राष्ट्रीय विचारगोष्ठी में कहा है—"हमें बच्चो को औद्योगिक मजदूर नहीं बनाना है उनका व्यक्तित्व विकसित करना है, इसलिए उत्पादन विद्यालय के अभ्यास का लक्ष्य नही हो सकता, अधिक-से-अधिक आकस्मिक निष्पत्ति हो सकता है।" फिर भी शिक्षा म निरपेक्ष पक्ष

पर अधिक बल देने की आवश्यता है। आज भी शिक्षा सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक कम। कृषि-जैसा विषय पढ़नेवाला विद्यार्थी भी श्रम से दूर भागता है। इंजिनियरिंग का विद्यार्थी 'साहब इंजीनियर' बनता है, 'श्रमिक इंजीनियर' नहीं।'

इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि कुछ कार्य ऐसे हैं, जहाँ बुद्धि और मानसिक श्रम का काम अधिक है और कुछ ऐसे हैं, जहाँ शारीरिक श्रम का। इसके लिए उपयुक्त व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। फलस्वरूप शिक्षण विभेद रहेगा; लेकिन अध्ययन-काल का कुछ समय विद्यार्थी को समाज-सेवा-कार्य में देना ही चाहिए। सामान्य विद्यार्थी के लिए हेड और हैण्ड का सन्तुलित शिक्षण मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में चीन के हाफ-हाफ स्कूल, जिनमें आधे समय शारीरिक कार्य और आधे समय बौद्धिक कार्य करना होता है विचारणीय हैं। कुछ भी हो, आज की शिक्षा में क्रियाशीलता और परिश्रम के तत्त्व को प्रविष्ट करने की अति आवश्यक्ता है। उत्पादक श्रम के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति उत्पन्न होने में शिक्षा तबतक सहायक नहीं हो सकती जबतक वेतनक्रम में अनुकूल सुधार नहीं होता।

वैज्ञानिक और आध्यात्मिक मनोवृत्ति का समन्वय

आज का युग वैज्ञानिक है। विज्ञान ने सभ्यता और संस्कृति को नया मोड़ दिया है। ऐसे समय में हर व्यक्ति का विज्ञान से परिचित होना आवश्यक है। मेरा तो निश्चित मत है कि हर व्यक्ति को हायर सेकेण्डरी स्टेज तक विज्ञान पढ़ना आवश्यक कर देना चाहिए। आज वैज्ञानिक तथ्यों और नियमों से परिचित होना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि जीवन की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

लेकिन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस विधि से उत्पन्न नहीं होगा जिस विधि से आज स्कूल और कालेजों में विज्ञान पढ़ाया जाता है। कुछ इने गिने स्कूलों को छोड़कर अधिकांश में विज्ञान की प्रयोगशाला नहीं है और यदि है भी तो केवल नाम के लिए। कई जगह तो विज्ञान की पढ़ाई का ढंग है—एक लड़का खड़ा होकर विज्ञान की पुस्तक से पाठ पढ़ता है, मास्टर साहब और अन्य विद्यार्थी सुनते हैं। इस प्रकार की पढ़ाई का ही तो परिणाम है कि एक बी० एस० सी० पास छात्र को यह नहीं मालूम था कि सी० सी० का क्या तात्पर्य होता है। रोगी का तापक्रम नोट करने के लिए क्यों डाक्टरी थर्मामीटर का प्रयोग करते हैं, किसी अन्य थर्मामीटर का क्यों नहीं। गोल्ड लीफ इलेक्ट्रास्कोप देखकर एक बी० एस० सी० पास महोदय आश्चर्य से बोल उठे—"अरे यही गोल्डलीफ इलेक्ट्रास्कोप है!" तो ऐसी है विज्ञान की पढ़ाई। स्पष्ट है कि इस प्रकार की पढ़ाई से विज्ञान का परिचय तो दूर रहा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहाँ से उत्पन्न होगा? यह दूसरी बात है कि इस देश में रमन और नार्लिकर-जैसे वैज्ञानिक है, लेकिन देश का स्तर तो सामान्य व्यक्ति से निर्धारित होता है, न कि विशिष्ट व्यक्तियों से।

शिक्षा की उपयोगिता

एक बार नेहरूजी ने कहा था कि इस देश में उपाधिधारियों की कमी नहीं है; लेकिन शिक्षित व्यक्तियों की कमी है। इस देश में साक्षरता का प्रतिशत चाहे जो हो, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि किसी एक काम के लिए आप एक स्नातक माँगिए तो अनेक मिलेंगे। फिर शिक्षित व्यक्तियों की कमी क्यों? जाहिर है कि शिक्षित का तात्पर्य केवल ज्ञान या डिग्री का बोझा ढोनेवाले से नहीं है। स्कूल को तो एक बाग और फुलवारी की तरह होना चाहिए, जिसके पौधे हैं विद्यार्थी और माली हैं अध्यापक। जंगल में भी पौधे और वृक्ष होते हैं और बाग व फुलवारी में भी। जंगल में भय महसूस होता है, फुलवारी से हटने की इच्छा नहीं होती। क्यों? फुलवारी में भी तो वही पौधे हैं, जो जंगल में होते हैं, लेकिन यहाँ वे विशेष रूप से सँवारे गये हैं, काट छाँटकर रमणीय आकृति दी गयी है। यदि शिक्षित व्यक्ति पढ़ लिखकर जंगली पौधा ही रह गया तो पढ़ाई लिखाई का कोई अर्थ ही नहीं रहा। शिक्षित व्यक्ति में यदि अनुशासन और विनय नहीं उत्पन्न हुआ, त्याग और आपसी सहयोग की वृत्ति नहीं उत्पन्न हुई और मानवीय गुणों का विकास नहीं हुआ तो शिक्षा की उपयोगिता क्या रह गयी?

आज भारतीय समाज में असामाजिक व्यवहार की प्रचुरता है—घूसखोरी, चोरबाजारी, सरकारी टैक्स न

देना, अनैतिक संग्रह, मिलावट, बिना टिकट की यात्रा आदि-आदि। इन असामाजिक व्यवहारों को सामाजिक मान्यता मिलती जा रही है। घूस का नाम 'दस्तूर', या 'मेहनताना' हो गया है। ऐसे लोग सरकारी कानून के शिकंजे में नहीं आते। जनता और सरकार, दोनों हाथ मलकर रह जाते हैं। क्या इन असामाजिक व्यवहारों को कानून से दूर किया जा सकता है?

विज्ञान का तकाजा

आज यह आवाज सुनाई पड़ती है कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानवता को विनाश के कगार पर ला दिया है। विज्ञान ने मनुष्य के सामने नयी समस्या उपस्थित कर दी है, लेकिन जैसा आइंस्टीन ने कहा है कि पारमाणविक शक्ति की उपलब्धि ने कोई नयी समस्या नहीं उत्पन्न की है। इसने पहले से उपस्थित समस्या के हल ढूंढने के लिए केवल बाध्य किया है। वह समस्या है घृणा, द्वेष और अविश्वास की, जिसे मनुष्य स्वयं उत्पन्न करता है। यह समस्या आज की नहीं, हमेशा की है, लेकिन आज जितनी आवश्यकता मालूम पड रही है इसके उन्मूलन की वैसी पहले नहीं महसूस हुई थी। मनुष्य की दानवी प्रवृत्तियों के दमन, दिशानिर्देशन और उन्मूलन की आवश्यकता है। यह हो कैसे?

धर्म की शिक्षा

इन सभी समस्याओं का एक हल है--शिक्षा-द्वारा चरित्र निर्माण। चरित्र निर्माण के लिए आवश्यक है धर्म। धर्म व्यक्ति को मानवीय कर्तव्यों की याद दिलाता है, उसका पालन करने के लिए उकसाता है और उन्हें एकता के सूत्र में बांधता है। गांधीजी के अनुसार धार्मिक व्यक्ति वह है, जो सत्य, प्रेम और न्याय में पक्का विश्वास रखता है और इन दिशाओं में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। बिना धर्म का जीवन एक सिद्धान्तहीन जीवन होता है और सिद्धान्त के बिना जीवन वैसा ही है जैसा पतवार के बिना नाव या जहाज।

ये धार्मिक तत्त्व व्यक्ति के जीवन का आधार कैसे बनेंगे? इसके लिए आवश्यकता है विभिन्न दिशाओं से प्रयत्नशील होने की। उनमें पाठशालीय शिक्षा का अपना महत्व है। आध्यात्मिकता के पठन-पाठन, अभ्यास, अध्ययन और अन्वेषण की उतनी ही आवश्यकता है जितनी अन्य किसी विषय की। अध्यात्म को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा करने की आवश्यकता है।

क्या धार्मिक शिक्षा का प्रवेश पाठशालाओं में कराया जाय? राष्ट्रपिता गांधी का उत्तर स्पष्ट था,—हाँ। क्या धार्मिक शिक्षा से धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त पर कोई आँच आयगी? इस देश को धर्म निरपेक्षता की दिशा देनेवाले भी तो गांधीजी ही हैं। तो फिर विरोधाभास की गुंजाइश कहाँ? हाँ, जब इन दोनों बातों को एकसाथ सामान्य व्यक्ति के स्तर पर लाने की बात होगी तो कठिनाइयाँ अवश्य आयेंगी। गांधीजी ने स्वयं इन कठिनाइयों को महसूस किया था, लेकिन उनका मत था कि धार्मिक शिक्षा की बुराइयाँ वास्तविक धार्मिक प्रवृत्ति (सार्वभौमिक प्रेम और भ्रातृत्व भाव) के विकास के साथ समाप्त हो जायेंगी।

●

> निर्माण और विनाश, दोनों ही प्रकार के कार्यों से मनुष्य की शक्ति-सम्पन्न होने की इच्छा की परितृप्ति होती है। किसी चीज को बिगाड़ने की अपेक्षा उसे बनाना कठिन होता है। इसीलिए जो व्यक्ति निर्माण करता है उसे विशेष सन्तोष होता है। —बर्ट्रेण्ड रसेल

बालकों के खेल

●

जुगतराम दवे

किसी भी विवेकवान शिक्षक को यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि बालवाड़ी में किसी भी प्रवृत्ति के आध घण्टे तक अथवा अधिक-से-अधिक पौन घण्टे तक चल चुकने के बाद बालकों को तुरत उनके अनुरूप खेल खेलने के लिए भेज देना चाहिए। जब बालक २०-३० मिनट तक खेल-कूद लें, हँस-खेल लें और ताजे होकर लौटें, तो फिर उन्हें किसी दूसरी गम्भीर प्रवृत्ति में लगाया जा सकता है।

खेलों का चक्र

घण्टे-आध घण्टे तक उद्योग के वातावरण में रहने के बाद बालकों की इच्छा होती है कि वे दौड़कर क्रीडांगण में पहुँच जायें।

जिस तरह जीवन में जागने और सोने का एक चक्र चलता रहता है, उसी तरह बालवाड़ी में भी बालकों की प्रवृत्तियाँ और उनके खेलों का अपना चक्र बारी बारी से चलते रहना चाहिए।

इसलिए यह बहुत जरूरी है कि शिक्षार्थी को इस बात की कल्पना हो कि बालक्रीडांगण में बालकों के लिए कैसे-कैसे खेल चलने चाहिए और वहाँ खेल-कूद के कौन-कौन से साधन रखे जाने चाहिए।

बालकों की उम्र के अनुसार खेल

देशों में बड़ों के खेलों का जितना विकास हुआ है, उसकी तुलना में बालकों के खेलों का वैसा विकास नहीं हुआ है। बालक्रीडांगणों में हमें अधिकतर क्या देखने को मिलता है? बड़े बालक तो अपने लिए कोई-न-कोई खेल खोज ही लेते हैं, लेकिन उम्र में और शक्ति में छोटे बालक बड़ों की इस भाग-दौड़ से छूट जाना ही पसन्द करते हैं।

जब बालवाड़ी में नृत्य या 'गरबे' का कार्यक्रम होता रहता है, उस समय भी यही स्थिति पायी जाती है। उम्र और शक्ति में छोटे बालक गरबे के चक्र से हटकर अलग हो जाते हैं और किसी सुरक्षित स्थान में खड़े होकर या बैठकर चालू खेल देखते रहते हैं।

उस समय उनके चेहरों को देखने से ऐसा नहीं लगता कि इस तरह देखते रहने या बैठे रहने में उन्हें कोई मजा आता है। चूँकि उन्हें एक प्रकार की अभावपूर्ण स्थिति में रहना होता है, इसलिए उनके मन में एक तरह की अस्वस्थता बनी रहती है। यह समझिए कि उनके मन में एक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न होता है। असन्तोष इस बात का कि दूसरे तो खेल रहे हैं और हम खेलने को नहीं मिल रहा है, दूसरे आनन्द लूट रहे हैं और हमें सिर्फ बैठ रहना पड़ रहा है।

अगर बालवाड़ियों में बहुतेरे छोटे छोटे बच्चों को बराबर इस तरह की अस्वस्थ दशा में रहना पड़ता हो, तो निश्चय ही यह स्थिति बहुत चिन्ताजनक है और विचार संशोधन की अपेक्षा रखती है।

धन्धे की उलझन

अक्सर हम बड़े लोग बालकों को बड़ों के खेल खेलाने की कोशिश करते हैं, लेकिन इसमें हम बालकों की दिलचस्पी जगा नहीं पाते। इसके कारण को न समझ पाने की वजह से बहुतेरे लोग यही मान बैठते हैं कि उनके बालक ही अनुत्साही और मन्द हैं, लेकिन अगर हम

थोड़ा विचार करेंगे, तो हमें पता चलेगा कि हम बड़ो के खेल ही कुछ ऐसे होते है कि छोटे बच्चे उनमें शरीक होना पसन्द कर नहीं सकते, उलटे उनसे बचना चाहते हैं।

बड़ो के खेलों में दौड़ने, कूदने, छीना झपटी करने और अलग-अलग तरीकों से अपने शरीर का जोर लगाने की जरूरत होती है। चूंकि छोटे बच्चो के शरीर अभी पूरी तरह गठे नही होते, इसलिए वे उस उम्र में इस योग्य नहीं रहते कि इस तरह की ताकत दिखानेवाली हरकतें या हलचल कर सकें। उन्हें इस बात का डर भी बना रहता है कि कही इस धमाचौकड़ी में फँस गये, तो कुचल मरेंगे।

बड़ों के खेलो में पकड़ने, छूटने, ललचाने और फँसाने के जो दावँ चलते हैं, उनके लिए जिस तरह की चपलता और चालाकी जरूरी होती है, छोटे बच्चों के अविकसित शरीर अभी उनके लायक हुए नही होते। इसलिए उन्हें इस तरह की हलचलो में कोई मजा नही आता। उलटे उन्हें डर लगता है और वे इस फिक्र में पड जाते हैं कि कैसे इनकी चपेट से बचे।

बड़ो के खेलों में दोनों तरफ दो दल खड़े हो जाते हैं, सबको मिलकर एक लक्ष्य सिद्ध करना होता है, खेल के नीति नियमो को सख्ती के साथ पालना होता है, और ऊपर से हर एक खेल के लिए अलग-अलग प्रकार के साधनों या औजारो का उपयोग भी करना होता है। जैसे, गुल्ली-डण्डा, गेंद-बल्ला वगैरह। चूंकि अपनी इस उम्र में बालको के शरीर और मन इस तरह की कुशलताओ और कलाओ के लिए पर्याप्त रूप से विकसित नही होते, इसलिए उन्हें ऐसे खेलो में मजा नही आ सकता।

बड़ो के लोकप्रिय खेल गुल्ली-डण्डा, गेंद-बल्ला, कबड्डी, खोखो, नोनपाट, क्रिकेट, फुटबाल, और वाली-बाल आदि सब तरह प्रसिद्ध है। इन खेलों को बालको के सामने पेश करने से नतीजा उलटा ही आता है। बालक इनसे डरते हैं और बचना चाहते हैं। बच्चो के कुछ खेल नीचे दिये जाते है—

१ सयानी का घोड़ा

बालवाडी के बालको के लायक खेलो में एक खेल है—'सयानी का घोड़ा।'

इस खेल में दावँ देनेवाले का फैसला करने के लिए एक बालक की आँखें दबायी जाती हैं और उसे अपनी पीठ पर अँगुली रखनेवाले को पहचानना होता है। बड़ी उम्रवाले को लगेगा कि इसमें तो सारा वक्त जाया होता है और खेल का असल मजा भी नहीं आता, लेकिन छोटे बच्चो के शरीर और मन की रचना के लिहाज से उन्हें इसमें बहुत ही मजा आता है, और वे अपनी बारी की बाट बड़ी ही उत्सुकता से देखते रहते है। जिस बालक की बारी होती है वह अँगुली रखनेवाले बालक को पहचान पाता है या पहचानने में भूल करता है, इस चीज को हर बालक बड़ी दिलचस्पी के साथ देखता रहता है और हर मौके पर मारे खुशी के खिलखिला उठता है और नाचने लगता है। सयानी के घोड़े के छूटने से पहले सब बालक इधर उधर दौड़ जाते है और कही-न-कही छिप जाते हैं। इससे पहले कि छूटा हुआ घोड़ा उन्हें खोज निकाले, ज्यादातर बालक जहाँ-तहाँ से निकलकर शिक्षिका के पास दौड़े आते हैं और उसे छू लेते हैं। फिर भी कोई-न-कोई बालक घोड़े के हाथ में आ ही जाता है। अगर खेल का रूप ऐसा हो कि बड़ी देर तक कोशिश करने पर भी घोड़ा किसी को छू ही न पाये, तो फिर उस खेल में बालकों की कोई दिलचस्पी न रह जाये, और कोई घोड़ा बनने को राजी ही न हो। बार बार दावँ देना पड़े और नाकामी ही पल्ले पड़ती रहे, तो ऐसे खेल में किसी को लम्बे समय तक रस कैसे आ सकेगा?

इस तरह सयानी के घोड़े का यह खेल बालवाड़ी के बालको के लिए हर तरह दिलचस्प और उनके शरीर व मन की भूमिका के साथ मेल खानेवाला है।

२. साततालो

साततालो अथवा पकड़ापाटी का खेल भी बालवाडी के बालकों के लिए मजेदार होता है।

सात ताली बजने तक खेलनेवाले बालक कुछ दूर भाग सकते है। अधिक साहसी बालक पास ही रहकर अपनी बहादुरी दिखा सकते हैं। ताली देनेवाले में आँख बचाकर भागने का उत्साह रहता है और दावँ-देनेवाले को भी उसपर झपटने का मौका रहता है।

खेल के चलते दावँवाले के बचने के लिए इस खेल में बालकों को छूट रहती है कि वे बैठ जायें। इस सुन्दर

नियम के कारण ही पकडापाटी या सातताली का यह खल बडा का खेल न रहकर बच्चा का खेल बन गया है। इसमें बालको को बार-बार छटकने और बच जाने का आनन्द प्राप्त होता है और दाव देनेवाला को भी उनके बहुत थक जाने से पहले कोई-न कोई शिकार मिल जाता है, क्योकि इस उम्र के बालक बडा की भांति पूरी तरह एकाग्र और सावधान नही रह सकते।

अगर बडे इसी खल को खेलें, तो वे अपनी दौड की गति बढाकर साथी को पकडना पसन्द करेंगे और बैठकर बच जाने की बात को अपने लिए लज्जाजनक मानगे। वे कहगे – यह तो छोटे बच्चा का खल हुआ। किन्तु बालवाडी में तो हमें छोटे बच्चों के ही खल रखाने होते हैं, इसलिए जैसा कि ऊपर कहा गया है इस नियम के कारण बालको में खेल का रस और ब जाता है।

३ शेर-बकरी का खेल

लॅंगडी का खल एक बहुत ही सुदर खेल है और बालको के खलो में सम्मिलित करन लायक है, लेकिन अनुभव के कारण यह कबूल करना पडता है कि चार पाँच साल की उम्र म बालकों में एक पैर से कूदने की शक्ति का पर्याप्त विकास नही हो पाता। इसी तरह लॅंगडी के खल में बच निकलन के लिए जिस चपलता की जरूरत होती है, इस उम्र में बालका के अन्दर उसका विकास भी पूरा पूरा नहा हो पाता।

इसलिए बालको को लॅंगडी के खल के दिलचस्प पहलुओं का लाभ मिल जाय और वे अपनी शक्ति की सीमा में रहकर उसका आनन्द ले सक, एसा एक नया खेल बालवाडियो में शुरू करने लायक है। उसे हम शेर बकरी के खल का नाम दे सकते है।

एक गोल घरे में बकरियो को बन्द कर दिया जाता है। शेर बकरियो को पकडन के लिए निकलता है। चरवाहा अपने हाथ फैला फैलाकर बकरियो को बचाने की कोशिश करता है। बकरियाँ चार पैरो से दौडकर चरवाहे की बगल में घुसती जाती है।

खेल का नियम यह रहेगा कि जहाँ चरवाहा सामने होगा शेर वहाँ से बकरी को पकड नही सकेगा। वह चरवाहे के पीठ जाकर ही पकड सकेगा।

पाँच से छह साल की उम्रवाले बालकों में यह खेल अच्छा जम सकेगा।

४ गेंदमारी का खेल

बडी उम्र के लोग गेंद की मदद से तरह-तरह के खेल खेल सकते हैं। वे गेंद फेंक सकते है उसे सही निशाने पर फेंक सकते हैं जिस तरह चाहें उछाल सकते हैं। वे हाथो की मदद से भी गेंद के भाँति भाँति के खेल खेल सकते है और पैरो से भी खेल सकते है। छोटे बच्चों को गद का लुढकना और उछलना बहुत अच्छा लगता है, लेकिन उनमें फेंकने ठेलने या निशाना लगाने की शक्ति का विकास इस उम्र तक हो नही पाता। इसलिए वे बडो के खेलों का अनुकरण नही कर सकते, लेकिन वे एक तरह का गद मार खेल खेल सकते है।

चूँकि इस खेल में गेंद एक दूसरे को मारी जाती है, इसलिए इस खेल का पहला नियम यह होगा कि गेंद खब नरम और हल्की हो।

चूँकि छोटे बालक दूर का निशाना नही लगा सकते, इसलिए खेल में वे दौडकर बिलकुल पास पहुँचेंगे और फिर गेंद मारेंगे।

एक और नियम बढा देने से इस खेल के लिए छोटे बच्चो की दिलचस्पी बहुत बढ जायगी। नियम यह है कि जो बालक पीठ दिखाकर भाग रहा हो, गेंद उसी को मारी जाय। जो घमकर सामने खडा हो जाय, उस गेंद न मारी जा सके। इस तरह दौडते हुए बालक के पीछे दौडकर उसकी पीठ में गेंद मारने में मजा आयगा और जब दौडनेवाला बालक दौड दौडकर थक जायगा, तो तुरत घूमकर खडा हो जायगा और इस प्रकार गद की मार से बच सकेगा।

गेंदमारी के इस खेल में एक बालक दावँ दे और दूसरे सब भागें इसकी गुजाइश नही रहेगी। होगा यह कि जिसके पास गेंद पहुँचे वह उसे उठा ले और किसी भी बालक के पीछे दौडकर उसे गेंद से मारे।

इस खेल में बालकों को अपनी शक्ति के अनुसार दौडने, भागने और घूमकर खडे रहने की युक्ति से काम लेने के साथ ही सारे खेल के चलते जी भर हँसने का लाभ बराबर मिलेगा।

५ इसे पकड़ूँ, उसे पकड़ूँ, किसे पकड़ूँ ?

कबड्डी का खेल बड़ों के लिए कितना आकर्षक और आनन्दवर्धक होता है ? इसमें खिलाडी को अपने बल और कल दोनों के प्रदर्शन का अवसर मिलता है, लेकिन छोटे बालक इतने बल और इतनी चालाकी से काम नही ले सकते। कबड्डी में एक साँस से लगातार आवाज करना जरूरी होता है । छोटे बालक यह सब नही कर सकते, इसलिए बड़ों की कबड्डी का खेल उनके काम का नही होता।

बालकों के इस खेल में एक साँस से लगातार बोलना जरूरी नही रहता। इसमें पकड़ा वही जायगा, जो छाती सामने करके खडा होगा । जो पकड़ाना नही चाहता, वह चतुराई के साथ फौरन मुँह घुमा लेगा।

सामने खडे रहनेवाले को कमर की जगह से पकड़ कर उठा लेना और क्षेत्र के बाहर छोड आना होगा । इसी तरह अन्दरवाला भी बाहर से आनेवाले को कमर से पकडकर घेरे के बाहर ले जा सकेगा। दोनों में से जो ज्यादा चालाक होगा वह दूसरे का उठाकर बाहर ले जायगा।

कबड्डी मे सब बालक इकट्ठा होकर एक को घेरते और पकडते हैं। इसमें जो खींचातानी होती है, उससे बडों को तो बहुत मजा आता है, पर छोटे बालकों के लिए यह सब त्रासदायक हो उठता है । इसलिए छोटों के खेल में से खींचातानी को खत्म करना जरूरी है । दावँ देनेवाला अपने सामने की टुकडी में से एक बार में एक ही को पकड सकेगा और अकेला ही उसका सामना कर सकेगा। टुकडी के दूसरे बालक हँसकर और बोलकर उसके उत्साह को बढ़ाने का ही काम कर सकेंगे।

दावँ देनेवाला इस तरह बोलता जायगा —

"इसे पकडूँ ? उसे पकडूँ ? किसे पकडूँ ?" यही इस खेल का नाम रहेगा। कबड्डी के खेल में "कबड्डी, कबड्डी' की आवाज से खासी दिलचस्पी पैदा हो जाती है। इस युक्ति से इस खेल में भी यह चीज बनी रहती है, लेकिन एक साँस से बोलते रहने की जो बात बालकों के बस की नहीं है उसे इसमें से हटा दिया है। ●

विश्व-शान्ति और युद्ध-समर्थन

●

विनोबा

प्रश्न—इधर आप विश्व राज्य, विश्व-शान्ति आदि की कल्पना करते हैं और उधर पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का युद्ध हुआ तब उसमें भारत सरकार का समर्थन भी आपने किया, तो इन दोनों का मेल कैसे बैठता है ?

उत्तर—बहुत पेचीदा सवाल है, समाजशास्त्र का एक शार्ट रेंज व्यू होता है, जिसको अपने निकट का प्राप्त कर्तव्य कहते हैं और जो अन्तिम उद्देश्य है। यदि हम भारत सरकार का समर्थन नही करते हैं तो न्याय और अन्याय के बीच हम तटस्थ रहते हैं ऐसा अर्थ हो जाता है। मैंने देखा है कि यह लडाई भारत चाहता नही था। पाकिस्तान ने घुसपैठ आरम्भ कर दी और फिर भारत ने उसका प्रतिकार करने के लिए जहाँ से घुसपैठ होती थी वहाँ हमला किया। फिर पाकिस्तान ने 'सीज

फायर लाइन' तोडकर भारत पर हमला कर दिया। यह तो बिलकुल शरारतपूर्ण काम था, ऐसा ही कहना चाहिए। उस हालत में भारत सरकार ने, जो प्रतिकार किया, जिसमें उनको 'आफेंसिव' भी लेना पडा, लेकिन केवल 'डिफेंस' के लिए। उसका अगर हम समर्थन नहीं करते और ऐसे अन्याय को बरदाश्त करते, तो हम नहीं समझते कि विश्व राज्य सम्भव है।

विश्व राज्य तो तब होता है जब दो राष्ट्रों के बीच झगडे, वाद विषय तो हो, लेकिन दोनों तय करते हों कि हम हर हालत में शस्त्र प्रयोग नहीं करेंगे अपने-अपने उद्देश्य के लिए प्रयत्न करते रहेंगे। जैसाकि हमारे यहाँ अभी प्रान्तों का रिआर्गनाइज़ेशन हुआ। दो प्रान्तों के बीच प्रश्न खडे हुए। उनका समाधान अभी तक पूरा नहीं हुआ फिर भी प्रान्तवाले एक दूसरे के खिलाफ सेना नहीं भेजते, क्योंकि वैसा तय किया है। इसलिए झगडे होंगे तो भी बिना शस्त्र के मिटायेंगे।

अभी महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच गोवा बेलगाँव के लिए झगडा है। उधर बिहार और उडीसा के बीच भी झगडा है। फैसला हुआ तो दोनों ने मान्य किया, लेकिन उडीसावालों का पूरा समाधान नहीं हुआ। अगर पुराने जमाने में होता तो इन प्रान्तों की आपस में लडाइयाँ जरूर होतीं। महाराष्ट्र और कर्नाटक में कई कई लडाइयाँ हुई हैं। बिहार और उडीसा की भी हुई है।

अशोक ने उडीसा पर हमला किया था और उस की आदत थी कि जहाँ भी जाता था वहाँ वह जय पाता था, लेकिन उडीसावालों ने विलक्षण पराक्रम दिखाया लाखों लोग मारे गये। जब अशोक ने वह सारा दृश्य देखा तो उसको दया आयी। उसने पश्चाताप किया और फिर वह बन गया अशोक—अहिंसावाला। अगर शत्रु डरपोक होता और विरोध नहीं करता तो अशोक को जय मिलती उसका परिवर्तन नहीं होता, और वह दूसरे प्रान्त पर हमला करता, लेकिन उन्होंने विरोध किया, इसलिए यह परिवर्तन हुआ और उसने अहिंसा का प्रचार किया।

यह मिसाल इसलिए दी कि बिहार और उडीसा की भी लडाई चलती रहनी थी। ऐसी ही मिसाल तमिलनाड और आन्ध्र की मिलेगी। अभी भारत में मसले हैं, लेकिन प्रान्त प्रान्त आपस में लडते नहीं। अभी बिहार अनाज में 'डेफिसिट' है और मध्यप्रदेश 'सरप्लस' है और इस प्रान्त से उस प्रान्त में अनाज जाने में रुकावट है। अगर पुराने जमाने की हालत होती तो मेरा ख्याल है कि पटना का राजा जबलपुर पर हमला करता, लेकिन अभी वैसा नहीं होता। क्योंकि हमने सारे भारत का एक राज्य बनाया है और केन्द्र में सेना की सत्ता दे दी है। सब सवाल मिट गये हैं, ऐसा नहीं कहेंगे, लेकिन उनके हल के लिए चर्चाएँ करेंगे, युद्ध नहीं करेंगे। इस प्रकार सब राष्ट्र तय करेंगे कि हमारे आपस के जो सवाल हैं उनके लिए हम शस्त्र का उपयोग नहीं करेंगे उनका हल बातचीत से करेंगे, तब विश्व-राज्य बन सकता है लेकिन एक दूसरे पर हमला कर देते हैं तो वह विश्वराज्य के ही खिलाफ जाता है।

पण्डितजी ने पाकिस्तान के सामने कई दफा रखा था कि हम चर्चा करेंगे और 'नो वार पैक्ट' कर लेंगे, लेकिन उन्होंने माना नहीं। सवाल यह है कि जबतक लडाई का अधिकार कायम रखते हैं तबतक विश्व राज्य नहीं होगा। इसलिए अभी लडाई का जो समर्थन किया है वह निकट का अन्याय देखकर किया है। अगर आगे के लिए यू० नो० कहता है कि सेना मत रखो और उस समय भारत हिचकिचायेगा तो मैं भारत के खिलाफ जाऊँगा।

इसके लिए, हमारा पहली बात यह करनी होगी कि सब राष्ट्रों को उसमें शामिल होना होगा और फिर यू० नो० की सेना के लिए प्रत्येक राष्ट्र की ओर से पैसा देना होगा। उसका अर्थ यह होता है कि आपको अपनी आजादी पर पाबन्दी रखनी होगी, जैसाकि आज प्रान्तों में है।

●

मैं हिंसात्मक युद्ध में विश्वास नहीं रखता किन्तु फिर भी जिसका पक्ष न्यायसंगत है मेरी नैतिक सद्भावना तथा आशीर्वाद का वह अधिकारी है। —गांधीजी

मेरी शान्ति में दिलचस्पी क्यों?

●

जयप्रकाश नारायण

मैं शान्ति मे दिलचस्पी रखता हूँ इसलिए नहीं कि मैं 'गाधीवादी' हूँ। गाधीजी खुद कहते थे कि गाधीवाद-जैसी कोई चीज नही है। वे सत्य के शोधक थे, अन्त-अन्त तक। 'गाधीवाद'-जैसा कोई शब्द गाधीजी के क्षेत्र में नही चलता। गाधी विचार या 'सर्वोदय' चलना है। सर्वोदय विकसनशील विचार-पद्धति और कार्य-पद्धति है। मानव और समाज के विषय में सत्यशोधन से ही उसे मतलब है, किसी सिद्धान्तवाद से नही।

महात्मा गाधी सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित जीवन के कुछ मूल्यो में विश्वास करते थे। गाधीजी की हत्या को अभी थोडे ही दिन हुए हैं कि हमारे कुछ राजनीतिक नेता, जिन्हें जनता के नाम पर लोकसभा में बोलने का अधिकार प्राप्त है, गाधीजी-द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों को 'धर्म्यागत बीमारी' कहने लगे हैं और शान्ति-प्रयासों को 'राष्ट्रीय अपराध' बताने लगे हैं। देश में उत्तरोत्तर बढनेवाले युद्ध-ज्वर का ही यह एक लक्षण है। यह हम सबके लिए चिन्ता का एक विषय है।

मानव होने के नाते

शान्ति में मेरी रुचि है, इसलिए कि मैं एक मनुष्य हूँ। इसलिए नही कि मैं किसी दलविशेष का व्यक्ति हूँ अथवा मुझ पर कोई भूत सवार है। मनुष्य के लिए मानव होना बहुत कठिन है, पर आज मानव होने के पहले हम और सब कुछ हैं—भारतीय, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, ब्राह्मण, लिंगायत, कलाकार, विद्वान, वैज्ञानिक, समाजवादी, कम्युनिस्ट आदि। मानव होने का मतलब यह नही कि हम धर्म या विज्ञान या राष्ट्रीयता या आदर्श को न मानें। उसका मतलब है शुद्ध मनुष्य पर लपेटे हुए असार आवरणो को भेदकर उस तक पहुँचना।

मानव होने का अर्थ है मानव मात्र को अपना भाई मानना, विश्व-नागरिक बनना और यह चाहना कि प्रत्येक मानव को जीवन मिले, स्वतन्त्रता मिले और प्रसन्नता मिले। मानव होने का अर्थ है अन्याय और अत्याचार को अस्वीकार कर देना, युद्ध का तिरस्कार करना और उसका नैतिक विकल्प खोजना। मनुष्य जिस मात्रा में युद्ध से शान्ति की ओर बढता है, उसी मात्रा में वह सभ्य होने का दावा कर सकता है, फिर वह चाहे जिस धर्म का प्रतिपादन करता हो, विज्ञान या तकनीक में, सम्पत्ति में और तथाकथित संस्कृति अथवा छल-कपट में कितना ही बढा-चढा क्यों न हो।

युद्ध से समस्या हल नहीं होती

इसके अलावा शान्ति में मेरी रुचि इसलिए भी है कि मेरा इस बात में विश्वास है कि युद्ध से किसी समस्या का निराकरण नहीं होता। चाहे हिन्द-पाक संघर्ष की समस्या हो, चाहे हिन्द चीन संघर्ष की, युद्ध से कभी इनका हल नही निकल सकता। भयकर-से भयकर युद्ध के बाद भी शान्ति स्थापित करनी पडती है। महाभारत की समाप्ति भी शान्तिपर्व से ही होती है। मानव की स्थायी स्थिति शान्ति है, युद्ध नही।

साथ ही युद्ध से हमारे देश का सर्वनाश होगा, पाकिस्तान का सर्वनाश होगा, चीन का सर्वनाश होगा। विकास के लिए, उन्नति के लिए, भरपूर अन्न और वस्त्र पाने के लिए, अपने बच्चो को शिक्षित करने के लिए, रोगो का सामना करने के लिए और अकाल मृत्यु से बचने के लिए हमें शान्ति की आवश्यकता है।

शान्ति के लिए साहस

शान्ति के लिए काम करने का अर्थ कायरता नहीं है। उलटे, उसके लिए सर्वोच्च श्रेणी की नैतिकता और शारीरिक साहस की आवश्यकता पड़ती है। उसके लिए सद्‌बुद्धि और भावना की भी जरूरत होती है। इतिहास बताता है कि युद्ध करना सरल है, शांति स्थापित करना बहुत कठिन है। अतः हमारे देश का यह सौभाग्य है और हमारे लिए यह ईश्वरीय वरदान है कि हमने राष्ट्रपति के रूप में डाक्टर राधाकृष्णन-जैसे बुद्धिमान, साहसी और मानवतापूर्ण व्यक्ति को पाया है, जो पिछले महीना हमें बार-बार इस तथ्य का स्मरण दिलाते रहे हैं। हम उनके शब्दों से प्रेरणा लेनी चाहिए और विजय की खुशी के प्रवाह में बह नहीं जाना चाहिए।

शान्ति के दो स्तर

शान्ति की समस्या के निराकरण के दो स्तर हैं—एक है राजनीतिक और दूसरा है मानवीय। संयुक्त राष्ट्रसंघ राजनीतिक स्तर पर काम करता है। अधिकांश सरकारें और शान्ति-आन्दोलन इसी स्तर पर काम करते हैं। एक ओर पश्चिम के शान्तिवादी (पैसिफिस्टस) और दूसरी ओर भारत के गांधीवादी दोनों मानवीय स्तर पर काम करते हैं। ये दोनों स्तर सर्वथा भिन्न हों ऐसी बात नहीं। कहीं कहीं दोनों एक दूसरे में ही गुंथे हुए हैं।

हां दोनों स्तरों का एक भेद स्पष्ट है और वह यह कि राजनीतिक स्तरवालों के लिए यह जरूरी नहीं कि वे वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन में अहिंसा को आवश्यक मानें। दूसरे स्तरवालों के लिए अहिंसा एक अनिवार्य शर्त है।

राजनीतिक स्तरवाले निश्चित रूप से बहुपक्षीय हैं। वे भिन्न भिन्न सत्ताओं के बीच शस्त्र निर्माण पर नियंत्रण लगाने के लिए और शान्तिमय उपायों से झगड़े सुलझाने के लिए बहुपक्षीय समझौते कराते हैं पर दूसरे स्तरवाले मूलतः एकपक्षीय होते हुए भी बहुपक्षीय प्रयत्नों में भी योगदान करते हैं। गांधीजी इसके उत्तम उदाहरण थे। राजनीतिक स्तर पर भी शान्ति स्थापित कराते थे मानवीय स्तर पर भी। ऐसे कार्यों से कभी कभी भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है। कारण, राजनीतिक स्तर पर कभी-कभी, जो कार्य होता है वह मानवीय स्तर पर खरा नहीं उतरता।

भारत की तटस्थता-नीति

शांति की समस्या पर मैं दोनों ही स्तरों से विचार करना चाहता हूँ, वह भी केवल भावनात्मक रूप में नहीं, ठोस और व्यावहारिक रूप में भी। राजनीतिक स्तर पर जहाँ तक शांति का प्रश्न है पण्डित जवाहरलाल नेहरू हमारी परराष्ट्र नीति के निर्माता थे। उन्हीं की मूल नीति का अभी तक पालन हो रहा है। इस नीति की मुख्य विशेषता थी तटस्थता। आरम्भ में इस नीति को ग्रहण करने का कारण यह था कि यह ऐसा साधन है, जिसके द्वारा भारत अंतर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतन्त्र रूप से निर्णय ले सकेगा और विश्वशान्ति का एक साधन बन सकेगा, पर जब उन्होंने इसे ठोस समस्याओं पर लागू करना शुरू किया तब वह कमजोरी को नीति छिपाने की एक ढाल बन गयी और किसी अंश में उसने आक्रमण को प्रोत्साहन ही दिया। महान शक्तियों अथवा मुख्य दो महान शक्तियों को चोट पहुँचाने में सरकार को भय लगने लगा। एक मात्रा में उसने अमेरिका को तो स्वीकार कर लिया और रूस तथा चीन को प्रसन्न करने के लिए वह पीछे की ओर झुक गयी।

भारत की आजादी के अहिंसात्मक आन्दोलन और महात्मा गांधी के अद्वितीय नेतृत्व और व्यक्तित्व के कारण लोग भारत को एक असाधारण देश मानते थे और भारत से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह युद्धहीन विश्व के पुनर्निर्माण में विश्व का नेतृत्व करेगा। जवाहरलालजी को उक्त उत्तम नीति का प्रतीक माना गया। स्वभावतः उनका नैतिक प्रभाव और भारत का प्रभाव संयुक्त राष्ट्र-संघ में और विश्व के भिन्न भिन्न राज्यों में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त कर सका। यह ऐसी अमूल्य निधि है जिसकी तुलना अनेक डिवीजन सशस्त्र सेनाओं और लाखों डालर की सहायता से नहीं की जा सकती।

हमारी असहायता

हाल में जो युद्ध हुआ, उसकी सफलताओं को लेकर देश की जनता को आमतौर पर खुशी हुई, परन्तु इस बारे में गांधीवादियों की प्रतिक्रिया भिन्न रही। सैनिकों की हत्या पर तथा आपस में घृणा और द्वेष की भावना

बढ़ते देखकर उन्हें दुख हुआ और साथ ही उन्होंने इस बारे में अपनी असहायता महसूस की। न तो वे युद्ध को रोक सके और न वे बन्द करा सके। युद्ध जब शुरू हुआ तब हममें से कुछ लोगों ने संघर्ष के अहिंसात्मक प्रतिकार की सम्भावना पर कुछ विचार किया, परन्तु उसे व्यर्थ सा ही समझकर हमने 'खड़े रहकर प्रतीक्षा करो' को ही ठीक समझा। इसमें हमारी असहायता की भावना ही अधिक बढ़ी, क्योंकि इस मौके पर हम प्रभावशाली कदम नहीं उठा सके।

जहाँतक देश के भीतर हिंसा के भड़कने के मौके आये, वहाँ गांधीवादियों ने अपने को कभी असहाय महसूस नहीं किया। कभी तो उनके हस्तक्षेप से संघर्ष की सम्भावनाएँ रुक गयी हैं और कभी संघर्ष हुआ भी है तो वह जल्दी समाप्त हो सका है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष छिड़ने पर, जब उसमें भारत भी शामिल हो तब, वे लोग असहाय दर्शक मात्र बनकर रह गये हैं। यह जरूर है कि हमने युद्ध-ज्वर को कम करने की लगातार कोशिश की है और समझौते का द्वार बन्द न करने की बराबर सलाह दी है। गोवा के मामले में भी, १९६२ में चीन के हमला करने पर भी और इस साल भी ५ अगस्त के बाद हमने इस तरह के प्रयत्न किये हैं।

यह केवल मुट्ठी भर गांधीवादियों के लिए ही घोर चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए, बल्कि सारे देश के लिए भी होना चाहिए, जो कि महात्मा गांधी का 'राष्ट्रपिता' के रूप में सम्मान करता है और जिसने उनके नेतृत्व में अहिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की है। हमें सोचना चाहिए कि क्या यह सम्भव नहीं है कि हम उस आजादी को, उस सम्मान को और अपनी क्षेत्रीय एकता को अहिंसा के द्वारा सुरक्षित रख सकें? यह प्रश्न सारे राष्ट्र के लिए सोचने का तो है ही, गांधीवादियों के लिए विशेष रूप से सोचने का है।

पश्चिम के और अन्य स्थानों के भी शान्तिवादी लोगों ने हमारी अकर्मण्यता पर आश्चर्य प्रकट किया है। यों जब उनके देश में इस तरह के संघर्ष आये, तब वे भी उनके साक्षी मात्र ही रहे हैं। अपने समाज में वे अहिंसा की शक्तियों का विकास नहीं कर पाये। मैं उनकी टीका नहीं कर रहा हूँ। उस स्थिति में उनके लिए वैसा करना ही सबसे अच्छा था। उनके अनुभवों से लाभ उठाते हुए हमें अपना मार्ग खोजना है।

एकांगी प्रयत्न व्यर्थ

मेरे मन में इस सम्बन्ध में पिछले कई महीनों से ऐसे कुछ विचार आ रहे हैं—पहली बात तो यह कि विश्व के शान्तिवादी (मतभेद के रहते हुए भी) जिनमें गांधीवादी भी शामिल हैं, दूसरों के पापों का प्रायश्चित करने के प्रयत्न में अपने को असहाय नहीं, बल्कि हास्यास्पद बना लेते हैं। दूसरे लोग युद्ध के लिए तैयारी करते हैं और तब शान्तिवादी यह सोचते हैं कि हमारा यह कर्तव्य है कि हम युद्ध का प्रतिकार करें और उसे रोकें। मैं समझता हूँ कि यह बड़ी बेतुकी स्थिति है। जबतक यह स्थिति जारी रहेगी, तबतक शान्तिवादियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। महात्मा गांधी अवश्य कहते थे कि यदि कोई सच्चा सत्याग्रही' हो तो वह एक साम्राज्य के खिलाफ लोहा ले सकता है। सम्भव है ऐसा हो, लेकिन अभी ऐसे सत्याग्रही का जन्म नहीं हुआ। यहाँ मैं साधारण आदमी की बात कर रहा हूँ। ऐसे आदमी मेरे मत से उस समय तक युद्धहीन विश्व का निर्माण नहीं कर सकते, जबतक दूसरे लोगों के हाथ में राज्यों और सरकारों का संचालन रहता है।

शान्तिवादी और दूसरे लोग भी इस बात को मानते हैं कि युद्ध को समाप्त करने के लिए युद्ध की जड़ों में घुसना पड़ेगा, और उसको वहाँ से समाप्त करना पड़ेगा। यह बड़े खेद का विषय है कि अभी तक इस दिशा में विशेष कुछ नहीं हुआ है। पश्चिम में शान्त प्रतिकार, असहयोग या विरोध के तमाशाई कामों पर अधिक ध्यान दिया गया है। युद्ध की जड़ें मनुष्य के मस्तिष्कों में हैं, उनकी शिक्षा-पद्धति में है, उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों में है। जबतक शान्तिवादी और दूसरे जो लोग युद्ध-हीन विश्व का निर्माण करना चाहते हैं, सबके कार्यकलाप के व्यापक क्षेत्र की ओर अपनी दृष्टि नहीं डालते, तबतक उन्हें सफलता नहीं मिल सकती।

गांधी का समग्र चिन्तन

धन्यवाद है, महात्मा गांधी के नेतृत्व को कि इस देश में इन सब बातों को अच्छी तरह समझा जा रहा

है। गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम, और शिक्षा की पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन पर उनका जोर, ग्रामराज्य की भावना में व्यक्त आर्थिक और सामाजिक सत्ता और लोकशाही की बुनियादों के विकेन्द्रीकरण पर उनका अत्यधिक जोर, आत्मावलम्बन और आत्म विश्वास पर उनका जोर, सादे और नैतिकतापूर्ण जीवन पर तथा सभी धर्मों, जातियों, नस्लों की समानता पर उनका जोर और अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ साथ चलनेवाली उनकी राष्ट्रीयता की भावना आदि का एक ही अर्थ था—वे चाहते थे कि हम ऐसे विश्व का निर्माण करें, जिसमें हिंसा न रहे।

यह समाजवादी ढाँचा!

किन्तु, गांधीजी के जाने के बाद सामाजिक समस्या का उनका यह सर्वांगीण दृष्टिकोण उनके आन्दोलन में खो जाता रहा। इस आन्दोलन के राजनीतिक पक्ष ने सत्ता प्राप्त करते ही इसे नमस्कार कर दिया और सत्य, अहिंसा और सर्वोदय, जिसे कि उसने स्वराज्य का लक्ष्य माना था और आजादी की लड़ाई में जिस पर पूरा जोर दिया था, उसे उसने बदल दिया, और उसे एक भद्दा-सा नाम दिया 'सोशलिस्टिक पैटर्न आफ सोसाइटी'— 'समाज का समाजवादी ढांचा।'

हमारी कमी

हाँ, उसका रचनात्मक या सेवामय पक्ष विनोबाजी के नेतृत्व में गांधीजी के काम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता रहा है, परन्तु उसमें सर्वांगीणता की, पूर्णता की कमी है। उसने अपने को ग्रामीण भारत के साथ मुख्य रूप से सीमित कर दिया है। नगरी क्षेत्र को उसने प्रायः अछूता ही छोड़ दिया है, यद्यपि वहाँ शिक्षा और सांस्कृतिक जीवन के, जनमत निर्माण के, सरकार के व्यापार और वाणिज्य के केन्द्र रहते हैं। दैनिक सार्वजनिक कार्यों से पृथक रहने के कारण उन्हें कोई स्वरूप देने में और उन्हें प्रभावित करने में भी असफल रहे हैं। इसमें अपने सहयोगियों के साथ मैं भी दोषी हूँ।

इस आत्मालोचन का अर्थ यह है कि गांधीवादी लोगों को अपने आन्दोलन को इस प्रकार विकसित करना चाहिए कि वह सार्वजनिक नीति और राष्ट्रीय जीवन के हर अंग को प्रभावित कर सके। यह मुट्ठी भर गांधीवादियों के वश के बाहर की बात है। जबतक इसमें दिलचस्पी रखनेवाले सभी लोग शामिल नहीं होते, तबतक इस बात की सम्भावना है कि देश गलत रास्ते पर जा सकता है।

सामूहिक आन्दोलन जरूरी

यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि जबतक अहिंसा के लिए सामूहिक आन्दोलन न किया जाय, जिसमें सामाजिक क्रिया, परिवर्तन और नवनिर्माण भी शामिल रहे, तबतक सार्वजनिक नीति और सार्वजनिक मामलों पर प्रभावशाली जनमत का निर्माण नहीं होगा। प्रसन्नता की बात है कि विनोबाजी के ग्रामदान-आन्दोलन से और विशेषतः तूफान-आन्दोलन से ऐसा लगता है कि इस आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है।

ग्रामदान-तूफान

पिछले कुछ महीनों में बिहार, उड़ीसा, मद्रास और महाराष्ट्र में जो सघन कार्य किया गया है, उससे यह लगता है कि तूफान आन्दोलन में सफलता की शक्यताएँ हैं, परन्तु पूरे कार्य के लिए जितना प्रयत्न चाहिए वह अभी नहीं है। मैसूर इस मामले में बहुत पीछे है। क्या हम आशा करें कि शिक्षा के इस महान केन्द्र से इस शक्तिशाली आन्दोलन को प्रेरणा मिलेगी?

गांधीवादी और राजनीति

गांधीवादी लोग राजनीति में अधिक दिलचस्पी लें, जिससे सार्वजनिक नीति पर प्रभाव पड़े—इस तरह का प्रश्न कई बार उठाया गया है। कुछ गांधीवादियों ने भी समय समय पर इस तरह की नीति पर जोर दिया है। कुछ ने तो यह भी कहा है कि गांधीवादी लोग आज के वर्तमान एक या अधिक दलों में शामिल हो जायँ। स्मरण रहे कि इस समस्या पर गांधीजी दूसरे ढंग से सोच रहे थे और उसके लिए उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लिए अपना प्रसिद्ध मसविदा तैयार किया था, जिसमें कहा था कि कांग्रेस का विघटन करके 'लोक-सेवक-संघ' खड़ा किया जाय।

गांधीजी 'लोकसभा' के बजाय 'लोक' के पास, जनता के पास जाना चाहते थे। आचार्य विनोबा उन्हीं

के पथ पर चल रहे हैं। एक अन्तर है—गाधीजी के नेतृत्व म लोक-सेवक-सघ बहुत शीघ्र जन-आदोलन के रूप में विकसित हो सकता था और वह केवल जनता के प्रतिनिधियो के मत को ही प्रभावित नही करता, उनके चुनाव को भी प्रभावित करता। वोटदाताओ के शिक्षण और उनकी भरती पर लोक-सेवक-सघ का विशेष ध्यान था। यह भी निश्चित है कि गाधीजी होते तो वे ग्रामराज्य के आधार पर जन आदोलन चलाते।

दुर्भाग्य की बात है कि गाधीजी के बाद गाधीवादियो ने इस कार्यक्रम की उपेक्षा कर दी और उसे सरकार पर छोड दिया, जिसने उसे पचायती राज्य के भद्दे रूप में अमल में लाना शुरू किया। विनोबाजी ने ग्रामराज्य की नीवें शिला के रूप में ग्रामदान को स्थान दिया है। जहाँ पर ग्रामदान-तूफान चल रहा है उन क्षेत्रो में इस बात की सम्भावना है कि निर्वाचन क्षेत्र के अधिकाश ग्राम इस आन्दोलन में आ जायेंगे। उसका राजनीति पर निश्चय ही प्रभाव पडेगा।

—मैसूर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण से

सर्वोदय-सम्मेलन

आगामी १६ वाँ सर्वोदय-सम्मेलन हनुमानगज, बलिया में १५, १६, १७ अप्रैल १९६६ को होने जा रहा है। १२, १३ १४ अप्रैल को सर्व-सेवा-सघ का वार्षिक अधिवेशन होगा। जो लोग रेल्वे कन्सेशन प्राप्त करना चाहे, वे ५ रु० शुल्क के साथ इस पते पर लिखें—मत्री, १६ वाँ सर्वोदय सम्मेलन, सर्व सेवा-सघ, राजघाट, वाराणसी।
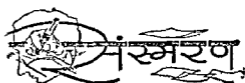
श्रद्धा भरी विनम्रता

•

—रमाकान्त

१९१२ की बात है। श्री गोपाल कृष्ण गोखले प्रवासी भारतीयो की स्थिति जानने अफ्रीका गये थे। उन दिनो गाधीजी भी वही थे। गाधीजी श्री गोखले को अपना गुरु तथा पथप्रदर्शक मानते थे।

श्री गोखले को कार्फेंस में जाना था। उनकी टाई पर शिकन आ गयी थी। इतना समय नही था कि उसे धोबी के यहाँ भेजा जा सके। गोखले की परेशानी देखकर गाधीजी ने कहा—'यदि अनुमति दें तो मैं आपकी टाई साफ करके स्त्रेहा कर दूँ।'

गोखले ने कहा—बैरिस्टर होने के नाते मैं तुम्हारे कानून के ज्ञान को तो स्वीकार कर सकता हूँ, पर तुम धोबी का काम भी बखूबी जानते हो, इस पर कैसे विश्वास कर लूँ?

गाधीजी ने पुन अनुरोध किया तो गोखले ने कहा—'भाई, यह रानाडे की भेट है। मैं इसे बहुत सँजोकर रखता हूँ।

पर, गाधीजी ने नही माना। उनकी टाई ली साबुन से साफ किया और उसपर साफ सुथरा लोहा कर दिया।

गाधीजी की सादगी और श्रद्धा भरी विनम्रता देखकर गोखले का हृदय आशीर्वाद से गद्‌गद् हो उठा।●

पारमाणविक शस्त्रविरोधी आन्दोलन के महारथी केनन कालिंस

•

सतीश कुमार

अपनी पैदल यात्रा का एक बहुत बडा हिस्सा पार कर लेने के बाद हमलोग (लेखक और प्रभाकर मेनन) लन्दन पहुँच चुके थे। हमारी इस पदयात्रा के पीछे जो उद्देश्य था उसे बलवान बनाने में ब्रिटेन के शान्ति आन्दोलन का बहुत बडा हाथ रहा है। जब हम 'पीस न्यूज'–जैसे साप्ताहिक पत्रों में यह पढा करते थे कि ब्रिटेन के पारमाणविक अनुसन्धान-केन्द्र आल्डर मास्टन से लन्दन तक हजारों लोगों ने पारमाणविक शस्त्रविरोधी आन्दोलन के आदर्श को लेकर पैदल यात्राएँ कीं तो हमारा उत्साह कई गुना बढ जाता था। उसी उत्साह का परिणाम था–विश्वशान्ति पदयात्रा पर निकल पडना। लन्दन पहुँच कर इस शान्ति-आन्दोलन के साथ हमारा निकट का सम्पर्क आया और शान्तिवादियों के जीवन एवम् कर्तव्य निष्ठा को देखकर हम अत्यधिक प्रभावित हुए।

शस्त्रविरोधी संस्था जनता की आस्था

ब्रिटन के पारमाणविक शस्त्रविरोधी आन्दोलन का सचालन करनेवाली संस्था 'कैम्पेन फार न्यूक्लीयर डिसआर्मामेण्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटेन के लोग इस संस्था को संक्षेप में सी० एन० डी० कहकर पुकारते हैं। यह संस्था इतनी अधिक मशहूर है कि ब्रिटेन का शायद ही कोई ऐसा जागृत नागरिक मिले, जो सी० एन० डी० के नाम से परिचित न हो। पूरे देश में इस संस्था की शाखाएँ हैं और व्यापक पैमाने पर कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। सी० एन० डी० के काम को आम लोगों का अधिक समर्थन प्राप्त भले ही न हो, पर लोगों में यह धारणा बडी गहराई के साथ जमी हुई है कि सी० एन० डी० वाले लोग अपने आदर्शों के पक्के हैं और जी-जान लगाकर अपने विचारों को चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हैं। किसी भी संस्था के लिए इस तरह की प्रतिष्ठा प्राप्त करना निश्चय ही सौभाग्य की बात होती है।

वैसे तो हम सी० एन० डी० के अनेक कार्यकर्ताओं तथा नेताओं से मिलें, लेकिन इस संस्था को १९५८ में स्थापित करने से लेकर १९६३ तक अध्यक्ष पद पर रहकर आन्दोलन को संचालित करनेवाले श्री केनन कालिंस के साथ हुई मुलाकात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १२ नवम्बर १९६३ को सवेरे ही यह तय हो गया था कि हम उनसे उनके घर पर दोपहर के भोजन के पहले ही भेंट करने के लिए जायेंगे, परन्तु उसी दिन सुबह हमारे लिए एक पत्रकार-गोष्ठी का भी आयोजन किया गया था इसलिए हमें श्री कालिंस के पास पहुँचने में थोडी देर हुई।

पत्रकार गोष्ठी से हमारे मेजबान मित्र ने कार से हम सेण्टपोल के कैथीड्रल पर पहुँचा दिया। यह कैथीड्रल लन्दन का एक मशहूर गिरिजाघर है। इसकी विशाल और खूबसूरत इमारत को देखने के लिए दूर दूर से लोग आते हैं। धार्मिक दृष्टि से इस कैथीड्रल का महत्व बहुत ही ऊँचा माना गया है। श्री कालिंस इसी कैथीड्रल के प्रधान पादरी हैं और उनका निवास भी कैथीड्रल के साथ ही लगा हुआ है। जब हम उनके खूबसूरत बँगले के द्वार पर जाकर खडे हुए तो हमारी आहट पाकर श्री कालिंस के ऊँचे कद तथा भूरे रंगवाले कुत्ते ने अपने ऊँचे स्वर से हमारा स्वागत किया। उसका स्वर श्री कालिंस को इस बात की सूचना भी दे रहा था कि उनके अतिथि दरवाजे पर खडे हैं।

स्नेहभरी आँख ममता भरे वचन

श्री कालिंस की निजी सचिव ने दरवाजा खोलकर हमारा स्वागत किया। अधरों पर गुलाबी रंग की लिपिस्टिक और आँखों पर नीले रंग के काजल के अलावा इस सचिव तरुणी ने और कोई शृंगार नहीं कर रखा था। उसने झुककर अभिवादन किया और कहा—आपलोग अन्दर चले आइए। हमने कुछ विलम्ब से पहुँचने के लिए क्षमा याचना करते हुए अन्दर प्रवेश किया। ठीक सामने ही एक बहुत बड़ी टेबुल के पीछे श्री का उस बैठे थे। कमरे में चारों ओर ईसाई धर्म से सम्बन्धित कलाकृतियाँ लगी थीं जो हमारे मन को आकृष्ट कर रही थीं। श्री कालिंस ने स्नेहभरी वाणी से स्थान ग्रहण करने का अनुरोध किया।

ज्यों ही हम आश्वस्त होकर बैठे श्री कालिंस ने कहा— आप लोगों की पदयात्रा के बारे में मैं पीस न्यूज में बराबर पढ़ता रहा हूँ इसलिए आपको साक्षात् भले ही इससे पहले न देखा हो पर आपके समाचारों से अवगत रहने के कारण और यदाकदा पत्र-पत्रिकाओं में फोटो देखते रहने के कारण आप मेरे लिए कतई अपरिचित नहीं हैं। मुझे ऐसा लगता है मानो मैं अपने किन्हीं पुराने मित्रों से ही मुलाकात कर रहा हूँ।

श्री कालिंस के इन शब्दों ने हमारे हृदयों में सन्तोष भर दिया। इस आनन्द के कारण हम उनसे और भी निकट हो गये। अब हमारी बातचीत के बीच किसी तरह की झिझक नहीं रह गयी। यात्रा के सम्बन्ध में कुछ देर बात होती रही। उसके बाद मैंने ब्रिटेन के शान्ति आन्दोलन के बारे में कुछ प्रश्न पूछे।

आन्दोलन की दीक्षा शक्ति की परीक्षा

श्री कालिंस ने कहा—"ब्रिटेन के लोग विचार स्वातन्त्र्यवादी हैं इसलिए हमारे शान्ति-आन्दोलन में भी अनेक तरह के विचार पाये जाते हैं। हमारे लिए यह आन्दोलन इस बात की अग्नि परीक्षा लेता है कि किस प्रकार हम सबलोग मिलजुलकर काम को आगे बढ़ायें। किसी एक ही कार्यक्रम को तय करने के लिए हम सप्ताहों तक बहस करनी होती है। अपने युवक साथियों को समझाने में तो हमें और भी ज्यादा ताकत लगानी पड़ती है। हमारे शान्ति-आन्दोलन में युवक

कैनन कालिंस
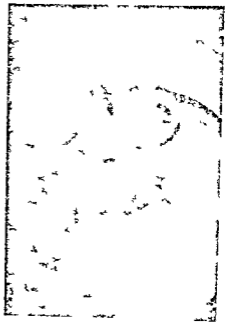
साथियों का बहुत बड़ा योगदान है। ये युवक साथी बजुर्गों की बात आँख मूँदकर नहीं मान लेते। वे हर तरह से अपनी युवकोचित गतिशीलता का प्रभाव आन्दोलन पर डालते हैं।

ब्रिटेन के आम लोग अपेक्षित मात्रा में इस आन्दोलन में शामिल क्यों नहीं हो रहे हैं? —मैंने श्री कालिंस से पूछा।

प्रश्न सुरक्षा का उत्तर पारमाणविक बम का

श्री कालिंस ने मेरे सवाल का उत्तर देते हुए कहा—'यदि अन्य देशों की तुलना में देखा जाय तो ब्रिटेन का शान्ति-आन्दोलन काफी बड़ा है और आमलोगों का सहयोग हमें काफी मात्रा में प्राप्त हुआ है। इस काम में लोगों ने आर्थिक सहायता भी काफी बड़ी मात्रा में पहुँचायी है परन्तु हम जितनी अपेक्षा रखते हैं उस परिमाण में लोगों का सहयोग नहीं मिला है। उसका कारण एक तो यह है कि ब्रिटिश लोगों के स्वभाव में कानून के प्रति बहुत प्रेम होता है। हमारी लोकसभा जो कुछ निर्णय करे उसे देश को मान्य करना ही चाहिए, इस तरह की एक परम्परा हमारे यहाँ जड़ तक जमी हुई है।

"हमारे देश के लोग परम्पराओं के प्रेमी रहे हैं और इसलिए वे कभी-कभी रूढ़िवादी भी कहे जाते हैं। अभी भी कई ऐसी रूढ़ियाँ हमलोग आँख मूँदकर निभा रहे हैं, जो दूसरे देशों में बड़ी वाहियात मानी जायेंगी, इसलिए जो कुछ आन्दोलन करना हो वह लोकसभा की चहारदीवारी के अन्दर ही करें और लोकसभा के सदस्य गण ही इन समस्याओं पर निर्णय लें, इस तरह की प्रवृत्ति ब्रिटेन के लोगों में अक्सर देखने को मिलती है। शान्ति आन्दोलन में अपेक्षित परिमाण में लोगों के न आने का यह एक कारण हो सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सरकारें लोगों के दिल में सुरक्षा का भूत खड़ा करके रखती हैं। अगर ब्रिटेन निःशस्त्रीकरण कर देगा तो फिर वह अपनी सुरक्षा कैसे करेगा, इस बात का डर लोगों के दिल में है। यही डर निःशस्त्रीकरण में सबसे बड़ी बाधा है। यह दिक्कत केवल ब्रिटेन की नहीं, बल्कि दुनिया के लगभग सभी देशों की है।"

विचारों की आजादी : विकास की मंजिल

'लेकिन, डिमोक्रेसी तथा विचार स्वातन्त्र्य के आदर्श को ब्रिटेन ने बड़ी दृढ़ता के साथ अपनाया है, इसलिए जनता को शान्तिवादियों के साथ शामिल होने में किसी प्रकार की हिचक क्यों होनी चाहिए ?'—मेरे इस तर्क पर श्री कालिंस ने कहा—'निश्चय ही यहाँ के लोग डेमोक्रेसी और विचार-स्वातन्त्र्य के प्रति गहरी निष्ठा रखते हैं। सम्भव है कि जितनी निष्ठा इन शब्दों के प्रति प्रकट की जाती है, उतनी निष्ठा व्यवहार में दिखाई न देती हो। इस निष्ठा का ही परिणाम है कि आज ब्रिटेन में नाना प्रकार के आन्दोलनों को प्रश्रय मिल रहा है। अफ्रीकी आजादी का आन्दोलन हो या अल्पविकसित देशों के लिए आर्थिक सहायता भेजने का काम हो या दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद के विरोध का काम हो या [illegible] के नीग्रो लोगों की समस्या हो या इटली के डेनलो डोलची को सहायता पहुँचाने का काम हो, सब तरह के कामों में मदद पहुँचानेवाली संस्थाएँ आपको इस देश में मिलेंगी। इस तरह विश्व दृष्टि के साथ काम करने की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है वह एक शुभ लक्षण है और मैं एक सुन्दर भविष्य के लिए आशावान हूँ।'

इस प्रकार बड़े विस्तार के साथ श्री कालिंस ने ब्रिटेन के शान्ति आन्दोलन का परिचय हमको दिया। ब्रिटेन में पारमाणविक शस्त्रों के खिलाफ सत्याग्रह करने, सविनय कानून भंग करने अथवा जेलों में जाने तक के लिए लोग तैयार रहते हैं, यह भी उन्होंने बताया। श्री कालिंस को ऐसी आशा थी कि अगर ब्रिटेन में मजदूर पार्टी का शासन होगा तो शायद निःशस्त्रीकरण के काम में कुछ अधिक प्रगति हो सकेगी।

शिक्षा की लगन : चेतना का स्फुरण

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करनेवाले श्री कालिंस उसी विश्वविद्यालय के एक कालेज में वाइस प्रिंसिपल का काम करते रहे। उसके बाद वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ओरियल कालेज के डीन बनकर शिक्षा के क्षेत्र में अपनी सेवाएँ देते रहे। वे शिक्षा को जीवन की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी मानते हैं तथा शान्ति, निःशस्त्रीकरण और धर्म के सभी कार्यक्रमों को शिक्षा के साथ जोड़ते हैं। उनके विचारों में अगर शिक्षा मानवीय मूल्यों पर आधारित हो तो समाज स्वाभाविक रूप से ही मानवीय मूल्यों पर खड़ा किया जा सकेगा। इसीलिए उन्होंने अपने आपको शिक्षा के क्षेत्र में एक लम्बे अरसे तक जुटाये रखा।

युद्ध के दिनों में वे वायुसेना के सैनिकों के लिए पादरी के रूप में काम करते रहे। उसी बीच उनको युद्ध के प्रति तीव्र घृणा हुई और यह लगा कि ईसाई धर्म तथा युद्ध के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता। एक ईसाई के लिए यह सबसे बड़ी लज्जा की बात है कि वह रक्षा के नाम पर मनुष्यों का खून बहाये। इसीलिए उन्होंने 'क्रिश्चियन एक्शन' के नाम से एक संस्था की स्थापना की और क्रिश्चियन धर्म के अनुयाइयों को यह समझाने में अपनी शक्ति लगायी कि युद्ध के कारणों को समाज से निकाल देना चाहिए। पिछले पन्द्रह सालों में उन्होंने शान्ति के लिए जनमत खड़ा करने में बहुत बड़ा नेतृत्व किया है।

लगभग घण्टे भर तक इस प्रकार ब्रिटिश शान्ति-आन्दोलन के एक उल्लेखनीय नेता के साथ हमारी हार्दिक बातचीत हुई। अन्त में उन्होंने अपना एक फोटो भी हमें भेंट किया तथा कभी भारत आने और यहाँ के शान्तिवादियों से मिलने की इच्छा जाहिर की। ●

[लेख या निबन्ध की शैली में प्रकट किये गये विचार उन्हीं लोगों के दिल व दिमाग पर असर डाल पाते हैं, जो शुरू से इसके अभ्यासी हों। गाँव के लाखों किसानों और उनमें काम करनेवाले हमारे कार्यकर्ताओं में से बहुत कम को निबन्ध की शैली सुगम हो पाती है। ऐसे लोगों के लिए प्रश्नोत्तर-शैली कहीं अधिक माकूल है, ऐसा अनुभव आया है। उसी शैली में लिखे गये इस लेख में यह बताया गया है कि गाँव के ग्रामदान की घोषणा के बाद उस गाँव की ग्रामसभा का गठन और आगे का कार्य-संचालन कैसे होगा।—रुद्रभान]

ग्रामदान से गाँव का जन्म

●

राममूर्ति

कार्यकर्ता—(गाँववालों से) आपलोगों ने समझ-बूझकर अपने गाँव के ग्रामदान की घोषणा की है। यह बहुत अच्छा काम हुआ। यह समझिए कि ग्रामदान से आपके गाँव का जन्म हुआ है। अब आगे का काम करने की बात सोचनी चाहिए।

गाँव का एक व्यक्ति—आप बताइए कि ग्रामदान के बाद हमलोगों को क्या करना है। हम अपने में क्या करें? लेकिन उससे पहले यह बताइए कि गाँव के जन्म होने की बात का क्या अर्थ है? गाँव तो पहले से था ही। हाँ, ग्रामदान तय हुआ है।

कार्यकर्ता—गाँव था या केवल घरों का समूह था?

गाँव का एक व्यक्ति—घरों से ही तो गाँव बनता है?

कार्यकर्ता—हाँ, बिना घरों का तो गाँव नहीं होगा, लेकिन जब हम यह कहते हैं कि यह हमारा गाँव है, तो उसका यह मतलब होता है कि गाँव में रहनेवाले हर आदमी के हृदय में भाईचारे की कोई ऐसी भावना है, जिसके कारण गाँव के लोग एक-दूसरे के सुख-दुख में शरीक होते हैं, और सब मिलकर सबकी उन्नति के लिए कुछ करते हैं, भले ही सबकी गृहस्थी अलग हो, खान-पान और कमाई अलग हो। क्या आपके गाँव में आपसदारी की ऐसी भावना है?

गाँव का एक व्यक्ति—नहीं, ऐसा तो नहीं है। हमारे गाँव में गरीबी है, बेकारी है, तरह-तरह के आपसी झगड़े और भेदभाव हैं, और हर परिवार अपने-अपने लिए सोचता है। पूरे गाँव के लिए कौन सोचता है? उल्टे दूसरे का सुख देखकर दुख होता है।

कार्यकर्ता—तब बताइए, ऐसी हालत में यही तो कहा जायगा न कि कहने को गाँव है, लेकिन ग्राम-भावना नहीं है। और, जब ग्रामभावना नहीं, तो गाँव कैसा? अब ग्रामदान से कुछ ग्राम भावना शुरू हुई है। आगे अब ग्रामदान के बाद के काम सही ढंग से होंगे तो वह भावना और बढ़ेगी, और एक दिन ऐसा आयगा कि पूरा गाँव अलग-अलग घरों में रहता हुआ भी आपस में

प्रेम से इस तरह रह सकेगा जैसे एक परिवार रहता है। यही सोचकर मैंने कहा कि आज के हमारे गाँव सचमुच गाँव नहीं हैं, केवल घरों के समूह हैं। अब उन्हें गाँव बनाना है। इसीलिए यह ग्रामदान-आन्दोलन है।

ग्रामसभा : नयी ग्राममाता

प्रश्न—(गाँववाले का) मैं समझ गया। सचमुच बात ऐसी ही है। हम चाहते हैं कि हमारा गाँव सही अर्थ में गाँव बने। आप बताइए कि ग्रामदान की घोषणा के बाद हमें क्या करना चाहिए?

उत्तर—(कार्यकर्ता का)—सबसे पहला काम है कि आपलोग अपना ग्रामदान पक्का कर डालिए।

प्रश्न—उसके लिए क्या करना होगा?

उत्तर—जल्द-से-जल्द किसी दिन शाम को गाँव के सब बालिगों को इकट्ठा कीजिए। स्कूल पर, समाज-सदन में, खाली-स्थान में, या बड़े पीपल के नीचे जहाँ आपलोगों को ठीक मालूम हो सबको बुला लीजिए। इस बैठक में ग्रामसभा बनेगी। आपलोगों ने जिस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये हैं उसमें, और ग्रामदान-कानून में भी, जिसे सरकार ने (कई प्रदेशों की) पास किया है, गाँव के सब बालिगों को, यानी जो इक्कीस साल या उसके ऊपर हैं, मिलाकर ग्रामसभा बनाने की बात कही गयी है।

प्रश्न—अच्छा है, जब सब बालिग ग्रामसभा में शामिल होंगे तो चुनाव का सवाल ही नहीं उठेगा। हमलोग ग्रामसभा का नाम लेकर पहली बैठक बुलायेंगे और उसी दिन से ग्रामसभा बन गयी, ऐसा मान लेंगे। लेकिन, यह तो बताइए कि क्या ग्रामसभा में स्त्रियाँ भी शामिल होंगी?

उत्तर—क्या वे बालिग नहीं मानी जायेंगी? जब आप उन्हें चुनाव में, जिसमें लड़ाई-ही-लड़ाई है, वोट देते हैं, तो ग्रामसभा से, जिसमें गाँव में प्रेम का राज कायम करने की बात है, उन्हें अलग रखने की बात आप के मन में क्या आती है? मेरी तो राय है कि अगर आप स्त्रियों को मौका देंगे तो देखेंगे कि वे कई सवालों को प्रेमपूर्वक हल करने के ऐसे उपाय बतायेंगी जो आप पुरुषों को नहीं सूझेंगे। स्त्री की जिस शक्ति से परिवार चलता है, उस शक्ति से ग्रामदान को ग्राम-स्वराज्य की ओर ले जाने में बड़ी मदद मिलेगी। इसलिए मेरी राय है कि आप स्त्रियों को गाँव की सेवा करने का अधिक-से-अधिक अवसर दें। हाँ, उनके जिम्मे वे ही काम सौंपें, जिन्हें वे आसानी से अच्छी तरह कर सकती हैं।

प्रश्न—मैं गाँव के लोगों के सामने यह बात रखूँगा। मैं खुद चाहता हूँ कि स्त्रियाँ सामने आयें और गाँव के जीवन में अपना उचित स्थान लें, लेकिन एक बात रह गयी। हमारे गाँव में चार परिवार ऐसे हैं, जिन्होंने अभी घोषणा-पत्र और समर्पण पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। क्या उन्हें भी ग्रामसभा में शामिल किया जायगा? मेरे ख्याल में उन्हें शामिल नहीं करना चाहिए। आखिर, यह ग्रामसभा ग्रामदान के आधार पर तो बन रही है।

उत्तर—बेशक, ग्रामदान के आधार पर बन रही है, लेकिन किसलिए बन रही है? इसीलिए तो बन रही है कि गाँव के सब लोग मिलकर आगे बढ़ें? और, हमलोग इस विश्वास के साथ काम कर रहे हैं कि हमारे जो पड़ोसी किसी कारण से आज ग्रामदान में हमारे साथ नहीं हैं, वे कल जरूर साथ आयेंगे। जब ग्रामदान में मालिक, मजदूर, महाजन, सबकी भलाई है, और बुराई किसी की भी नहीं है, तो क्या कोई गाँव से अलग अपनी खिचड़ी पकाना चाहेगा? अगर आप मानते हों कि मैं ठीक कर रहा हूँ तो क्या यह अच्छा नहीं होगा कि आप उन लोगों का भी ग्रामसभा में स्वागत करें, जिन्होंने घोषणा पत्र और समर्पण-पत्र नहीं भरे हैं?

क्या आप सोचते हैं कि गाँव के प्रेम और विश्वास का उनके हृदय पर असर नहीं पड़ेगा? और, अगर वे अपना स्वार्थ भी देखें, तो ग्रामसभा में रहने से सबके साथ जो स्वार्थ सधेगा वह अलग रहकर नहीं सधेगा। इसलिए खुले हृदय से ग्रामसभा में उन्हें स्थान दीजिए।

प्रश्न—जब आगे की बात सोचता हूँ तो उन्हें ग्राम सभा में शरीक कर लेना मुझे भी ठीक लगता है, और गाँव के दूसरे लोगों को भी एतराज नहीं होना चाहिए, लेकिन ग्रामदान की शर्तों का क्या होगा?

उत्तर—भाई, वे ग्रामदान में इसीलिए तो नहीं शरीक हुए कि तत्काल अपनी मालिकी ग्रामसभा को सौंपने

को तैयार नहीं थे? लेकिन, मान लीजिए कि यह काम आज नहीं हुआ तो कल जरूर होगा। आज के जमाने में ग्रामसभा की मालिकी से बढ़कर पक्की दूसरी कोई मालिकी हो नहीं सकती। बीघा-कट्ठा और ग्राम-कोष के लिए तो वे तैयार हैं ही। बस, इतने पर उन्हें ग्रामसभा का सदस्य बना लीजिए, और अगर वे इतने के लिए भी न तैयार हों, फिर भी उनके लिए ग्रामसभा का दरवाजा मत बन्द कीजिए। एक बात समझ लीजिए कि ग्रामदान का कानून पूरे गाँव पर लागू होगा, केवल उन्हीं लोगों पर नहीं, जिन्होंने घोषणापत्र और समर्पणपत्र पर अपने दस्तखत किये हैं। आपका पूरा गाँव ग्रामदानी गाँव माना जायगा, और ग्रामदान कानून पूरे गाँव पर लागू होगा।

प्रश्न—कानून में गैर ग्रामदानी लोगों को ग्रामसभा में शरीक करने के बारे में क्या लिखा हुआ है?

उत्तर—ग्रामदान-कानून ने साफ-साफ कहा है कि ग्रामसभा गाँव में रहनेवाले हर व्यक्ति की मानी जायगी, पर यह तो रही कानून की बात। इतना याद रखिए कि कानून किसी को दबाकर कोई काम भले ही करा ले, पर उसका दिल नहीं जीत सकता। ग्रामदान करना, ग्रामसभा बनाना, प्रेम के साथ रहना और मिलकर आगे बढ़ना—ये काम ऐसे हैं, जिनके लिए दिल का मिलना जरूरी है। इसलिए जो ग्रामसभा अपने काम में कानून का इस्तेमाल जितना ही कम करेगी वह उतनी ही मजबूत होगी और तेजी से उन्नति करेगी। प्रेम की शक्ति के सामने कानून की क्या शक्ति है? इसलिए जो लोग अभी ग्रामदान से बाहर हैं, उन्हें प्रेम से जीतने की कोशिश कीजिए। उन्हें ग्रामदान की किसी सुविधा से अलग रखने की बात मन में हरगिज मत लाइए।

प्रश्न—तब तो ग्रामसभा को पूरी प्रेमसभा ही मानना चाहिए। कठिन काम है।

उत्तर—कठिन नहीं, जरा तबीयत बदल देने की बात है। पुराने हृदय के साथ नया काम कैसे होगा?

प्रश्न—ठीक है। अब बताइए कि ग्रामसभा की व्यवस्था कैसे होगी?

उत्तर—ग्रामदान-कानून के अनुसार ग्रामसभा का एक सभापति होगा। ग्रामसभा बड़ी होगी, इसलिए नित दिन का काम करने के लिए सभापति को लेकर कम-से-कम ६ सदस्यों की एक छोटी कार्यसमिति होगी। काम की सुविधा के लिए ग्रामसभा एक सचिव (सेक्रेटरी) तथा दूसरे पदाधिकारी और कर्मचारी नियुक्त कर सकेगी। ग्रामसभा के क्या कर्तव्य होंगे, कैसे उसकी बैठकें होंगी, निर्णय किस तरह होंगे, आदि सब बातों का कानून और नियमों में समुचित व्यवस्था है। कई बातें ऐसी भी हैं, जिन्हें ग्रामसभा खुद तय करेगी।

प्रश्न—क्या व्यवस्था है, अभी कुछ बताइए।

उत्तर—ग्रामसभा का सभापति एक बार चुन लिये जाने पर तीन साल तक काम करेगा। वह कार्य समिति का भी सभापति होगा। कार्यसमिति में पाँच से अधिक सदस्य भी हो सकते हैं। कार्यसमिति के अलावा दूसरे कामों के लिए कुछ और समितियाँ भी बनायी जा सकती हैं। सभापति कार्यसमिति के सदस्यों तथा सचिव आदि सबका चुनाव ग्रामसभा में सर्वसम्मति से होगा, यह खास बात है।

चुनाव, लेकिन लड़ाई नहीं

प्रश्न—चुनाव का मामला यहाँ भी है? सभापति और कार्यसमिति के चुनाव को लेकर ग्रामसभा में मतभेद हुआ तो?

उत्तर—आप चुनाव के नाम से ही डर गये! डरना स्वाभाविक भी है। आज पंचायत से लेकर पार्लियामेण्ट तक जो चुनाव होते हैं उन्होंने गाँव-गाँव में इस बुरी तरह दलबन्दी और गुटबन्दी पैदा की है कि बचा-खुचा पड़ोसी-पन भी समाप्त होता जा रहा है। ऐसे चुनावों से उसी तरह बचना चाहिए जैसे आदमी साँप और बिच्छू से बचता है। इसलिए चुनाव की दूसरी पद्धति निकाली गयी है, जिसमें काम तो चुनाव का हो, लेकिन तरीका मनाव का हो, नामिनेशन, कन्वेसिंग, इलेक्शन और इलेक्शन के बाद पेटीशन, आदि बिल्कुल न हो। आपस के जीवन में लड़ाई के लिए स्थान नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—क्या चुनाव का कोई ऐसा तरीका हो सकता है, जिसमें लड़ाई न हो?

उत्तर—हां क्यों नहीं करना ? ग्रामसभा की बैठक बुलाइए। मान लीजिए कि आपने पहली बैठक बुलायी। उसी में आपको सभापति और कार्यसमिति आदि का चुनाव करना है। सोचिए, यह कैसे होगा। सभा में लोगों के सामने यह बात रखिए कि चुनाव करना है, लेकिन लड़ाई नहीं करनी है, एक राय होकर चुनना है। सभापति के लिए ऐसा नाम आना चाहिए, जो भेद भाव भूलकर पूरे गाँव की सेवा करनेवाला हो, ईमानदार हो, जो समय दे सके, और जिसे पूरा गाँव मानता हो। इस तरह गाँव के किसी सज्जन का नाम सामने आ जायगा।

प्रश्न—लेकिन एक नाम न आया, कई नाम आ गये तो ?

उत्तर—हो सकता है कि चार नाम आ जायें। ऐसी हालत में बार-बार इस बात पर जोर दीजिए कि चुनाव एक राय होकर ही करना है। हो सकता है कि प्रस्ताव करनेवाले अपने प्रस्ताव पर दुबारा सोचकर अपना प्रस्ताव वापस ले और एक ही व्यक्ति बच जाय। इससे भी काम न चले तो चारों सज्जनों से कहिए कि वे आपस में बात करके तय कर लें। उन्हें थोड़ी देर अलग जाकर आपस में बातचीत करने का मौका दीजिए। यह उपाय भी फेल हो जाय तो चिटठी डाल दीजिए। जिसका नाम निकल आये उसे स्वीकार कर लीजिए। अगर इतने पर भी मामला न सुलझे, और ऐसा लगे कि आपस में तनाव है, जो बढ़ सकता है, तो ग्रामसभा की बैठक स्थगित कर दीजिए। बीच में दो चार दिन का मौका मिलेगा, उसमें लोगों से अलग-अलग आपसी ढंग से चर्चा करके प्रश्न को हल करने की कोशिश कीजिए, ... न किसी हालत में चुनाव को लेकर गाँव में दलबन्दी मत होने दीजिए।

प्रश्न—अगर इतने पर भी मामला न हल हो तो ? कई बार ऐसा होता है कि बाहर के लोग गाँव के मामलों को लेकर आग में घी का काम करते हैं। वे हमेशा झगड़े लगाकर अपना उल्लू सीधा करने की ताक में रहते हैं, और गाँव में भी कुछ लोग नासमझी में उनके हाथ की कठपुतली बन जाते हैं। उस हालत में क्या किया जायगा ?

उत्तर—हां, ऐसा हो सकता है, लेकिन हमलोग यह देख रहे हैं कि अधिकांश गाँवों में चुनाव एक राय होकर हो जाता है। अन्तिम गाँठ चिट्ठी डालने से खुल जाती है। लेकिन, अगर किसी तरह गाड़ी आगे न बढ़े, और ऐसा लगे कि जिस ग्रामभावना से ग्रामदान हुआ वह भावना ही टूट रही है तो गाँव की बैठक तभी करनी चाहिए *जब गाँव का वातावरण अनुकूल हो जाय।* सम्भव है कि समय मन की गाँठ खोल दे। गाँव की बैठक रुक सकती है लेकिन चुनाव से फूट डालकर गाँव का जीवन नहीं तोड़ा जा सकता है। कुछ गाँवों में ग्रामसभा देर से बनेंगी और क्या होगा ?

प्रश्न—थोड़े से लोगों के लिए गाँव बैठा रहेगा ?

उत्तर—प्रश्न थोड़े या ज्यादा लोगों का नहीं है, प्रश्न है पूरे गाँव का। अगर ग्रामदान के होते ही सभापति, कार्यसमिति या पदाधिकारियों के चुनाव के कारण गाँव में दरार पड़ गयी या पुरानी दरारें पहले से भी ज्यादा चौड़ी हो गयीं, तो ग्राम स्वराज्य की यात्रा का पहला ही शकुन बिगड़ जायगा। आपस में प्रेम और सहकार की जिस शक्ति से गाँव को बनाने की बात ग्रामदान में है, वह प्रकट ही नहीं हो सकेगी। इसीलिए घोषणापत्र में सर्वसम्मति और सर्वानुमति की बात इतना जोर देकर लिखी गयी है। इसी में ग्रामसभा की सफलता की कुंजी है, और यही वह चीज है, जो ग्राम-स्वराज्य को पार्टीराज से अलग कर देती है।

●

ग्रामदान का कार्यक्रम विधायक कार्यक्रम है। वह हम सबको कुछ करने के लिए सामूहिक प्रेरणा प्रदान करता है। उसका रहस्य यही है कि वह दिलों को जोड़ने का काम करता है और हर आदमी की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता है। —विनोबा

साथ जोड़ दिया गया, जिससे राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए वैज्ञानिक खेती का महत्व स्पष्ट किया जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास के लिए गठित अमेरिकी समिति (ए० आई० डी०) ने इस विद्यालय के उपकरणों के लिए आर्थिक सहायता दी तथा अध्यापक भी दिये, जिससे विद्यार्थी कृषि शिक्षा के साथ साथ स्कूली शिक्षा (एकेडेमिक शिक्षा) भी प्राप्त कर सकें। १९६३ में यह पाठ्यक्रम प्रथम वर्ष के सभी छात्रों के लिए आवश्यक रखा गया। इसके बाद छात्रों के ऊपर यह निर्भर था कि वे इस पाठ्यक्रम को स्कूल के प्रमाण-पत्र-स्तर तक ले जायें या प्रथम वर्ष के बाद ही छोड़ दें।

इस कोर्स में छात्रों को कक्षा में बताये गये वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग विद्यालय के प्रयोग क्षेत्रों पर कराया गया। इसके साथ साथ खेती के औजारों तथा मशीनों के प्रयोग तथा उनकी उचित व्यवस्था के लिए निर्देश भी दिये गये।

विद्यार्थियों के निजी खेतों पर प्रयोग

पहले तो अभिभावकों और छात्रों में इस नये विचार को अपनाने की गति बहुत धीमी थी, लेकिन यह योजना जब विद्यार्थियों के अपने खेतों में प्रारम्भ की गयी तो वे अधिक रुचि लेने लगे। छात्रों को अपनी जमीन के अनुपयोगी हिस्से को व्यवस्थित करके विद्यालय में सीखे गये तरीकों से अन्न उपजाने को कहा गया। अध्यापकों ने विद्यार्थियों के खेतों का निरीक्षण किया तथा उनकी उपज की तुलना उन खेतों की उपज से की, जो पुराने ढंग से बोये गये थे।

यह योजना इतनी सफल रही कि अभिभावकों ने अपने खेतों के लिए छात्रों से चुने हुए बीज तथा उर्वरकों की माँग की।

विद्यालय क्षेत्र में, जो प्लाट नमूने के तौर पर बोये गये थे वे मुख्य सड़क के किनारे थे। इन प्लाटों में प्रचुर मात्रा में उपज—गेहूँ, बोरा, बन्दगोभी, मीठे आलू, टमाटर, प्याज तथा सुन्दर स्वस्थ मक्के, जो उस क्षेत्र के मुख्य भोजन थे—देखकर सड़क पर चलनेवाले यात्री बहुत प्रभावित होते थे।

कृषि-केन्द्रित पाठ्यक्रम

इस कृषि योजना में अनुभवी अध्यापकों ने एक विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार किया। शिक्षा-मन्त्रालय ने इस पाठ्यक्रम को कैम्ब्रिज सिण्डीकेट के पास मान्यता हेतु भेजा। सिण्डीकेट ने मान्यता स्वीकार कर ली तथा पाठ्यक्रम पर आधारित कृषि के सिद्धान्त और प्रयोग पर एक स्कूल-सर्टीफिकेट परीक्षा की व्यवस्था की।

प्रारम्भ में ही आधे से अधिक विद्यार्थियों ने खेती का पाठ्यक्रम विद्यालय के प्रमाणपत्र-स्तर तक अपनाने की स्वीकृति दे दी। गत वर्ष जब परीक्षा हुई तो २६ में से २४ विद्यार्थी सफल हुए। यह परीक्षाफल अन्य विषयों के अनुपात में कहीं ऊँचा था।

किन्तु, अभी यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रयोग पूर्णतया सफल रहा, क्योंकि छात्रों में प्रबन्धक होने की प्रवृत्ति बढ़ी है और वे मजदूरों के साथ कन्धा-से-कन्धा मिलाकर काम करने में हिचकते हैं। इसके परिणामस्वरूप शारीरिक-श्रम में आस्था का अभाव रह गया है।

ठीक इसी प्रकार का पाठ्यक्रम केनिया के अन्य ६ माध्यमिक विद्यालयों में शुरू किया गया। प्रत्येक विद्यालय के भवन-निर्माण-हेतु आर्थिक सहायता दी गयी।

छात्रावास-युक्त विद्यालय

ये स्कूल छात्रावास-युक्त हैं। इन में निजी खेतों पर जाकर शिक्षा लेने की योजना त्याग दी गयी और प्रयोग-क्षेत्र के लिए एक बड़ा भूखण्ड प्रत्येक विद्यालय को दिया गया है। इससे एक बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आयेंगे। यहाँ उन्हें नाना प्रकार की फसलों को देखने का अवसर मिल सकेगा, जो उनके क्षेत्र में नहीं होतीं। इसमें से कुछ स्कूल सहकारी ढंग पर विद्यार्थियों को काफी, चाय के उत्पादन और पशु-संवर्धन के लिए प्रेरित करेंगे और कुछ छात्रों को व्यक्तिगत क्षेत्रों में भी काम करने की स्वीकृति देंगे।

केनिया-सरकार यह समझती है कि इस तरह की शिक्षा द्वारा पृष्ठभूमि तैयार होगी, जिससे वे भी, जो खेती को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहते हैं, इस विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करके खेती के प्रति एक निश्चयात्मक दृष्टिकोण रखने लगेंगे, क्योंकि जितने ही अधिक-से-अधिक शिक्षित खेती और उससे सम्बन्धित विषयों को समझेंगे उतनी ही शीघ्रता से लोगों का झुकाव खेती की ओर होगा। ●
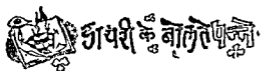
छात्रों की एक प्रार्थना-सभा में

•

विवेकी राय

हुआ यह कि ज्यों ही जगदीशपुर इण्टर कालेज के सामने पहुँचा, घण्टा घनघना उठा। इधर-उधर बैठे छात्रों में एक धीमी व्यस्तता आ गयी। सहज भाव से वे मैदान की ओर बढ़े। कक्षा-भवन से कल-कल-ध्वनि के साथ बालकों की एक धारा निकल कर बढ़ी। अब यह समझने देर न लगी कि यह इनकी प्रार्थना का समय है।

'प्रार्थना' शब्द में न जाने कौन-सा आकर्षण है कि वह हृदय को खींच लेता है। प्रभु के चरणों से हृदय को जोड़नेवाली यह मधुर क्रिया हृदय को कितना विशाल बना देती है और मनुष्य को कितना सहज-शान्त। तिसपर यह बालकों की प्रार्थना, राष्ट्र के कुसुमकुल की प्रार्थना, धरती के होनहार कण्ठों की प्रार्थना और एक भव्य रूप में एकत्र होकर, श्रद्धावनत होकर सरस्वती के पवित्र मन्दिर के सामने खुले मैदान की खुली धूप में। इतने पवित्र और भोले हृदयों की समवेत प्रार्थना, जहाँ से नित्य उठकर महाकाश में व्याप्त महाप्रभु के चरणोंमें अर्पित होती है, वह स्थान धन्य है। यही सच्चा तीर्थ है। यही ईशधाम है।

प्रार्थना अपने स्कूल में भी नित्य होती है। नित्य भाग लेने का सुयोग मिलता है, परन्तु आज न जाने मन किस पुनीत अवस्था में था कि जगदीशपुर कालेज के बालकों की प्रार्थना सभा ने मन को खींच लिया। यद्यपि शीघ्रता थी और दूर तक आगे जाना था, परन्तु क्षणभर रुककर इस दिव्य दृश्य का आनन्द उठाने की लालसा मन पर छा गयी।

एक क्षण में पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। कलकल की ध्वनि एकदम शान्त हो गयी। यह प्रार्थना सभा का आन्तरिक अनुशासन था। सबके मुखमण्डल पर गहरी शान्ति और नम्रता की सात्विक आर्द्रता छा गयी। सिर किंचित आगे की ओर झुक गये। हाथ आगे जुड़ गये। आँखें मुँदी अथवा अधमुँदी अवस्था में हो गयी। सारा दृश्य परम मनोहर, मानो विज्ञान-युग के विचार-बवण्डर के बीच धरती पर करीने से उगी हुई भक्तिभाव की कल्पनाएँ हैं।

कौन कहता है कि आज का छात्र-वर्ग विद्या और बुद्धि की दिशा में एकदम छिछला और बिगड़ा हुआ है? कौन कहता है कि आजकल छात्रों में उद्दण्डता और अनुशासनहीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है? वे आकर इन्हें इस रूप में एक बार देखें। ऊँचे दर्जे के छात्र ही नहीं, छोटे छोटे बच्चे भी कितने शान्त और अनुशासित हैं। हरगिज मारपीटकर इन्हें इतना शान्त नहीं बनाया जा सकता। यह प्रार्थना की अन्तःप्रेरणा है। यह ईश्वर की महिमा का प्रभाव है। भारतवर्ष में शिक्षा को भगवान और प्रार्थना से यदि पृथक कर दिया जाता है तो उसका खोखला हो जाना बहुत सम्भव है। प्रार्थना सभा की यह भाव-मग्नता यदि कक्षा भवन में नहीं रह जाती है तो शिक्षा की सफलता सन्दिग्ध ही रहेगी। पूरी शिक्षा में यदि श्रद्धा और किसी पूज्य भावना की अन्तर्तृप्ति काम नहीं करती है तो वह यांत्रिक और अधूरी होगी। क्या ही उत्तम होता कि हम अध्यापक सरस्वती मन्दिर को सचमुच विद्या का पूजनगृह बना पाते और प्रार्थना-

सभा की यह एकान्तप्रियता, एकरूपता, यह शान्ति और यह सुचारुता विद्यार्थियों के भीतर स्थायीभाव के रूप में भर पाते।

एक क्षण में ये सारे विचार मेरे भीतर आन्दोलित हो उठे। उसी समय आचार्यजी के संकेत पर प्रथम पंक्ति के दो छात्र आगे बढ़े और इसी सिलसिले में उस पंक्ति में खड़े बालकों पर मेरी दृष्टि गयी तो देखता क्या हूँ कि बीच में खड़ा एक छात्र जुड़े हुए हाथों को कुछ और झुकाकर मुझे नमस्कार कर रहा है। एक आत्मा दूसरी आत्मा को कितनी शीघ्रता से पहचान लेती है। स्पष्ट ही उसने मुझे प्रणाम किया। आशीर्वाद में मैंने भी हाथ उठा दिया और दूसरे क्षण आगे बढ़े दोनों बालकों ने प्रार्थना प्रारम्भ कर दी—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव।'

पावन कण्ठ-द्वय की मधुर ध्वनि असंख्य कण्ठों में गूंज उठी, मानो बालकों की इस फुलवारी में किरणों के अदेख सुनहरे भ्रमरों की गूंज गमक उठी, मानो देहातभर की समवेत बालसेना ने इस विद्यालय के प्रांगण में खड़े होकर भविष्य पर चढ़ाई करने का संकल्प घोष किया, मानो समुद्र मन्थन की मन्दध्वनि कुछ घट-छँटकर इस विद्यामृत मन्थन की पावन घड़ी के प्रारम्भ में थरथरा उठी, मानो विशाल आकाश रीझकर अपने शब्दगुण की एक धीमी, पर गम्भीर लहर के साथ मैदान में उतर आया। मानो 'शांताकारं भुजगशयनं' की परिभाषा में अपने स्वामी की प्रशंसा सुनकर अशेष समुद्र अपनी लहरों की मन्द मुखरता के साथ झूम उठा, मानो शरद के बाल मेघ मैदान में उतरकर शान्ति पाठ कर रहे हों। सचमुच वह गूंज कितनी सधी हुई और सुन्दर थी। सामने लगा कि अध्यापकों की पंक्ति बालकों के स्वर प्रवाह की कड़ियाँ जुड़ रही थी। जैसे कक्षा भवन के गुंजन और मौन-पाठ दोनों समन्वित होकर एक धारा में बह चले हों।

प्रार्थना समाप्त हुई। फिर गहरी शान्ति। आचार्यजी कुछ सामान्य आदेश दे रहे थे और फिर मेरा ध्यान एक बार उस छात्र की ओर गया जिसने प्रणाम किया था। निस्सन्देह वह बारहवीं कक्षा का छात्र है, क्योंकि सबसे अगली पंक्ति में खड़ा है। सबसे पिछली पंक्ति के लड़के बहुत छोटे-छोटे हैं। पुनः शारीरिक विकास पंक्ति पंक्ति में भिन्न होता गया है। बालक कक्षा के हिसाब से खड़े हैं। कक्षा छः से लेकर बारहवीं कक्षा तक के छात्र हैं यानी सात वर्ष का समय सामने खड़ा है। सात वर्ष का विकास क्रमबद्ध आँखों के सामने है। जो अगली पंक्ति में खड़े हैं, आज के सात वर्ष पहले पिछली पंक्ति में रहे होंगे। वे छोटे बच्चे सात वर्ष बाद इन बड़े लड़कों-जैसे हो जायेंगे। रूप रंग, शक्ल सूरत और चाल-ढाल में अन्तर आ जायगा। कोमलता प्रौढ़ता में बदल जायगी। भोलेपन का स्थान सजगता ले लेगी।

मैं उस छात्र को पहचान तो रहा था, परन्तु पता नहीं, कौन था? यह तो निश्चित रूप से स्मरण था कि इसे मैंने पढ़ाया है, पर कब, कहाँ, किस दर्जे में यह सब कुछ पता नहीं। वास्तव में यह एक भारी मुसीबत है कि जिन्हें बचपन में शिक्षा दी, बड़े होकर पहचान में नहीं आते हैं। वे उसी प्रकार प्रेम से धधाकर मिलते हैं और इधर संकोच खाये जाता है कि आखिरकार ये कौन, कहाँ के हैं? कहीं अत्यन्त निकट के न हों? सोचेंगे कि मास्टर साहब पहचानते भी नहीं हैं। वह बार-बार मेरी ओर देखकर प्रसन्न हो रहा था और मैं पूरी शक्ति से यह स्मरण कर रहा था कि यह कौन है?

उस पंक्ति में पचीस-तीस लड़के थे—मैंने देखा। एक प्रौढ़ता और एक व्यावहारिक शालीनता सबमें दृष्टिगोचर हो रही थी। इसी पंक्ति के लगभग सभी लड़के जूते पहनकर आये थे, औरों में यह बात नहीं थी, और उत्तरोत्तर घटते घटते कक्षा छः के छात्रों में इने गिने लड़के ही जूता पहनकर आये थे। यही दशा वस्त्रों की थी। इन लड़कों के वस्त्र साफ थे। कोट, कमीज और पैण्ट की कफ और कालर दुरुस्त थी। प्रायः जूते साफ थे। किसी किसी के जूते पर अभी टटकी पालिश चमक रही थी। स्नान की चमक चेहरे पर मौजूद थी। बाल कायदे से सँवारे गये थे। गाँव में स्कूल था पर गमछा किसी के कन्धे पर नहीं था और यह गमछा बाद वाली कतारों में क्रमशः बढ़ता हुआ कक्षा छः में पहुँचकर बहुत ध्यान को मिला। किसी किसी ने तो कुछ खाद्य-पदार्थ भी बाँध लिये थे। छोटे बालक हैं भूख का प्रबन्ध तो चाहिए ही। ये सात वर्ष में अगली कतारवालों की तरह ऊँचे होकर, तनकर खड़े होंगे।

शारीरिक और मानसिक विकास विकसित व्यक्तित्व में झलक उठेगा।

मैंने देखा, इन बड़े लड़कों में लगभग आधे धोतीवाले थे, परन्तु सबकी धोतियाँ साफ और नीचे तक थी, मानो इन्हें यह ज्ञान है कि धोतियों का घुटने तक रहना असभ्यता है। देहाती हैं तो क्या? कुछ की दाढ़ी मूँछ के बाल में सफाई है। सब मिलकर ऐसा लगा कि ये लड़के है, जिन्हें आधुनिक ज़बान में 'स्टैण्डर्ड मेण्टेन' करनेवाला कहा जायगा। क्यों नहीं? आवश्यकता भी है। विद्यालय की सबसे ऊँची कक्षा है। इसमें अध्यापकों की शिक्षा, सभ्यता और शील, स्वभावगत छाप स्पष्ट रूप में दिखनी ही चाहिए।

वास्तव में अब ये लड़के नहीं हैं। सोचने समझने की शक्ति से सम्पन्न है। ये 'पाये' हैं, जिनपर राष्ट्र की नीवें रखी जायगी। ये सेनानी हैं, जिनके सुदृढ़ कन्धा पर राष्ट्र की बन्दूकें रखी जायेंगी। विद्यालय ने इन्हें सीधे अनुशासित ढंग से खड़ा होना सिखला दिया। व्यक्तित्व प्रस्फुटित होकर निखर उठा। देखता हूँ तो प्रसन्नता से मन भर जाता है। यह हमारी नयी शिक्षित पीढ़ी है। नया खून है। संयमित उमंग है। मर्यादित जोश है। शान्त आँधी है। वज्र के फूल हैं। कोई परीक्षा, कोई डिग्री या कोई प्रमाण-पत्र इन्हें कुछ और नहीं बना सकता। मैं जो देख रहा हूँ वही सत्य है। वही प्रामाणिक रूप है। इसी रूप में वे स्वय सिद्ध उपयोगी हैं। किसी नौकरी की दृष्टि से इनका मूल्यांकन करना इन्हें छोटा कर देना है। किसी देश के नौजवान उसकी रीढ़ की हड्डी हैं। रीढ़ की हड्डी शरीर में छिपी है, पर कितना काम करती है। इनका अस्तित्व मात्र एक भारी प्रलोभन है।

इधर इन बातों में मैं उलझा था, उधर आचार्य महोदय की आज्ञा से छात्र-गण क्रमशः उसी प्रकार कक्षाओं में जाने लगे थे। वह कक्षा बारह की अगली कतार जा चुकी थी। दूसरे दर्जेवाले जा रहे थे। क्या ठाट से सब लड़के चल रहे थे। मस्ती और निश्चिन्तता है। ऐसा लगा कि आज से चार छ वर्ष पहले की अपेक्षा लड़के अधिक साफ और स्वस्थ तथा प्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे। स्वतन्त्रता के बाद देश के छात्रों के चेहरे पर चमक आ गयी है। गाँव के छात्र आज अपनी वेश भूषा पर ध्यान देने लगे हैं और अधिक तड़क भड़क तो नहीं, परन्तु एक सादगीपूर्ण स्वच्छता और औसत खर्चे का ढंग दिखने लगा है। माँ-बाप वही हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं है, परन्तु परिवर्तन इस नयी पीढ़ी पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

जब सभी लड़के जा चुके तो मेरा रास्ता साफ हो गया। मैंने साइकिल सँभाली और खुशी की बात थी कि वह नमस्कार करनेवाला छात्र जा चुका था। व्यर्थ ही कुछ देर तक अपरिचय के सकोच में डूबा-डूबा परिचित-जैसी मुद्रा बनाकर समाचार आदि पूछना पड़ता। ऐसे मौके पर बहुत बार प्रयत्न करता हूँ कि कह दूँ कि 'देखो भाई, ठीक से पहचान नहीं पा रहा हूँ, अपना परिचय बता दो', परन्तु साहस नहीं होता और कुछ देर तक उसी प्रकार साधारण पूछ-ताछ और कुशल-क्षेम के बाद जल्दी छुटकारा ले लेना होता है। वास्तव में इस सम्बन्ध मे भारत की पुरानी प्रणाली अच्छी थी। किसी को नमस्कार प्रणाम करते समय अपने नाम गाँव के साथ पूर्ण वश परिचय दे दिया जाता था। यदि इतना न भी हो तो छात्रों को यह बता देना चाहिए कि अपने किसी पुराने अध्यापक से मिलो तो बिना पूछे परिचय जरूर बता दो।

लेकिन, ज्यों ही साइकिल बढ़ायी, पीछे से दौड़ते हुए उसी छात्र को आते देखा और आह्लादपूर्ण खिल-खिलाहट के बीच सुना—'मास्टर साहब प्रणाम, पहचान नहीं रहे हैं?"

●

सभी भले लोगों के हृदय में शान्ति के प्रति गहरा प्यार होता है। हमें अपनी समस्याएँ सुलझाने के लिए भीतर और बाहर की शान्ति की आवश्यकता है। यदि सभ्यता के मूल्य चिरस्थायी रहने हैं तो हमें अपने पड़ोसियों से अच्छे सम्बन्ध बनाने होंगे और विश्वबन्धुत्व के लिए प्रयत्नशील होना होगा।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

ग्रामदानी गांवों-द्वारा सूखे का सामना

मनमोहन चौधरी

इस वर्ष देश के अनेक भागों में भयानक सूखा पड़ा है। फलस्वरूप कई प्रदेशों में अकाल की परिस्थिति निर्माण हो गयी है। अभी हाल में उड़ीसा के सूखा-पीड़ित क्षेत्रों के कुछ ग्रामदानी गांवों की मैंने यात्रा की थी। इन क्षेत्रों की परिस्थिति बहुत खराब है। फसल साधारण समय की फसलों की चौथाई हुई है। लोग अपने बरतन भांडे और पशु बेच रहे हैं, ताकि वे अपना जीवन निर्वाह कर सकें। उनके सामने उद्योग के किसी दूसरे क्षेत्र में कोई स्थायी आमदनी नहीं है और हजारों लोग नौकरी की तलाश में पास के औद्योगिक क्षेत्रों की ओर दौड़ रहे हैं, लेकिन उनमें से बहुतों को निराश होकर लौटना पड़ता है। प्रदेश की सरकारें गार्वजनिक उद्योगों में नौकरी देकर या तकावी के रूप में कर्जा देकर लोगों की मदद करने का प्रयत्न कर रही हैं। लोगों को समय पर काफी मदद करनी है, तो और अधिक प्रयत्न करना होगा।

ग्रामकोष का उपयोग

जिन ग्रामदानी गांवों की मैंने यात्रा की, वे ग्रामीणों की मदद के लिए खड़े हो गये हैं। ग्राम-सभाओं ने ग्राम-कोष से किसानों को कर्जे दिये हैं, और धान की भूसी निकालने के काम में रोजी देने की कुछ व्यवस्था की है। इसी उद्देश्य से ग्रामसभाएं अपने पैसे से कुएं और तालाब खुदवाने का काम प्रारम्भ करने के बारे में भी सोच रही हैं। इस प्रकार ग्रामवासियों को यह विश्वास है कि ग्रामदान के कारण संकट-काल का सामना करने के लिए वे पहले से अच्छी हालत में हैं।

ग्रामदानी गांवों में कम-से-कम परिस्थिति के सम्बन्ध में सामूहिक चिन्ता तो है। अच्छी हालतवाले लोग दूसरों की मदद करने की भरसक कोशिश कर रहे हैं। दूसरे गैर ग्रामदानी गांवों के बारे में यह बात आम तौर से नहीं कही जा सकती। अच्छी हालतवाले लोगों ने ऐसे संकट के समय लोगों की तकलीफों का फायदा उठाकर सस्ते में जायदाद इकट्ठा करने में ही चतुराई समझ ली थी। अभी भी यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि यह रुख समाप्त हो गया है। वास्तव में मैंने ऐसे चतुर लोगों-द्वारा परिस्थिति का लाभ उठाने के सम्बन्ध में अनेक कहानियां सुनीं, लेकिन ग्रामदानी गांवों में लोगों का यह विश्वास दृढ़ था कि उनके गांवों में ऐसी बातें कभी भी नहीं हो सकतीं।

उत्साहवर्धक प्रगति

पानीमोरा, जो कि दो हजार से अधिक आबादी-वाला एक बड़ा ग्रामदानी गांव है, वहां के लोगों का यह दावा है कि ग्रामदान के कारण उन्होंने आसपास के गांवों से अच्छी फसल पैदा की है। मेरे आश्चर्य में पड़ने पर उन्होंने बताया कि सामूहिक चिन्तन की आदत पड़ जाने के कारण सिंचाई आदि के सम्बन्ध में उन्होंने पहले से सामूहिक रूप से सोच लिया तथा सामूहिक परिश्रम भी किया, जिससे अधिक-से-अधिक फसल सूखने से बच गयी।

ग्रामदानी गांव महासागर में बूंद के बराबर हैं, किन्तु उन थोड़े से गांवों में इतना आत्मविश्वास पाना उत्साहवर्धक है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ग्रामदानी गांवों के निवासी बड़ी संख्या में तूफान का सन्देश आसपास के गांवों में पहुँचाने के लिए निकल पड़े हैं।

ये अभिभावक निम्न वर्ग के और अशिक्षित हैं। अब मध्यम और उच्च वर्ग के अभिभावकों पर भी दृष्टि पात कीजिए।

मिस्टर खन्ना प्रसिद्ध ठीकेदार हैं। प्रतिदिन शाम को उनके यहाँ नगर के सम्भ्रान्त लोग—वकील, इंजीनियर तथा अन्य सरकारी पदाधिकारी आते हैं। इसी समय बच्चे को पढ़ाने के लिए उसके मास्टर साहब भी आते हैं। कोई-न-कोई मि० खन्ना से पूछ बैठता है कि बण्टू, बेबी, बब्लू, स्वीटो या कुछ ऐसा ही, कहाँ है ? मि० खन्ना फरमाते हैं कि उसका ट्यूटर आया है पढ़ रहा है। फिर नौकर को बुलाने के लिए भेजते हैं। बण्टू आता है, उसके मास्टरजी आते हैं। बण्टू पहले सबको नमस्ते करता है फिर कोई अँग्रेजी-कविता 'रिसाइट' करता है। (इस समय उसके डेडी सिगरेट पीते रहते हैं और अक्सर लोग काफी उड़ाते रहते हैं। मास्टर साहब अपराधी की तरह सिर झुकाये खड़े रहते हैं।) कुछ देर बाद छुट्टी होती है। मास्टरजी को दूसरी जगह पढ़ाने जाना है, अतः वे भी खिसकते हैं। कभी-कभी उन्हें पढ़ाने के ढंग की ट्रेनिंग भी मि० खन्ना के दरबार में मिलती है।

श्री राघवन वकील हैं। वकालत ठीक चलती नहीं, पर 'स्टैण्डर्ड' तो रखना ही है। ट्यूटर *नहीं आता*, पर अपने भी समय नहीं दे पाते। मुन्नी काफी तेज है, पर पढ़ ही नहीं पाती। घर में एक नौकर है, जो बाजार गया है। किसी के आने पर वकील साहब कहते हैं—'बेटी, जरा चाय बनवाकर दे जाओ।' मुन्नी ही घर खर्च का हिसाब रखती है, धोबी को कपड़े देती है, प्रतिदिन पिता और भाइयों की कमीज में बटन लगाती है। माँ पुराने ढंग की है, अतः कुछ नहीं जानती। वह पढ़ाई लिखाई में भी सहायता नहीं कर सकती। मुन्नी को भाइयों, पिताजी और उनके दोस्तों के लिए स्वेटर भी बुनने पड़ते हैं। उसका गला अच्छा है, इसलिए जहाँ कोई सरकारी अधिकारी किसी सांस्कृतिक आयोजन में आते हैं, पापा के अनुरोध से उसे गाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में उसकी पढ़ाई किस हद तक सफलता-पूर्वक चलेगी सोचा जा सकता है।

आज केवल शिक्षकों को दोष नहीं दिया जा सकता। विद्यालयों में प्रतिवर्ग औसतन पचास छात्र होते हैं। एक शिक्षक कम-से-कम ५ वर्गों में प्रतिदिन पढ़ाता है। इस प्रकार वह प्रतिदिन दो सौ पचास छात्रों को पढ़ाता है। अगर प्रतिदिन उनकी उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच में वह पाँच मिनट प्रति छात्र खर्च करे तो कम-से-कम बीस घण्टे अतिरिक्त लगेंगे। शिक्षक को स्कूल में कम-से-कम छः घण्टे पढ़ाना है, फीस आदि का हिसाब रखना है, घर से स्कूल आना-जाना है। ऐसी अवस्था में वह आप के बच्चे से व्यक्तिगत रूप में किस मात्रा तक न्याय कर सकेगा, सहज अनुमेय है। यह तो हुई उच्च विद्यालयों की बात। महाविद्यालयों (कालेजों) में जहाँ प्रति वर्ग में कम-से-कम डेढ़-दो सौ छात्र रहते हैं, अगर शिक्षक व्याख्यान के बाद अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है, तो वह क्षम्य है।

कुछ अभिभावक यह चिन्ता नहीं करते कि उनका बच्चा घर पर पढ़ता है या नहीं। कुछ केवल इतना ही पर्याप्त समझते हैं कि लालटेन के पास या टेबुल लैम्प के पास कोई किताब लेकर बच्चा बैठा है। वे यह भी नहीं देखना चाहते कि लड़का (या लड़की) कोई सस्ता उपन्यास या कोई ऐसी ही दूसरी चीज तो नहीं पढ़ रहा है। यह ठीक है कि सभी अभिभावक काफी शिक्षित नहीं हैं, कइयों के पास समय का अभाव है पर अगर वे नियमित रूप से बच्चों को पढ़ते बैठे देखें, यदा कदा खाने की मेज पर ही सही, उनकी पढ़ाई का हाल चाल पूछें, शिक्षकों से कभी-कभी मिलकर विचार विमर्श करें, तो बच्चे की पढ़ाई और उसके चरित्र पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ेगा।

मैंने ऐसे कई अभिभावकों को देखा है, जो परीक्षा के दिनों में परीक्षकों के पास सिफारिश के लिए आते हैं। इससे घृणित और लज्जास्पद कार्य और क्या होगा ? पिछले साल मेरे पास एक सज्जन आये। उनके छोटे भाई ने बी० ए० की परीक्षा दी थी और वे उसी की सिफारिश में आये थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अमुक विषय में उत्तीर्णांक पाने के लिए मैं पाँच सौ रुपये खर्च कर सकता हूँ।

बात धीरे धीरे भ्रष्टाचार पर आयी। उन्होंने कहा कि आज शिक्षा महँगी हो गयी है। डाक्टरी पढ़ने के लिए काफी रुपये लगते हैं, इसीलिए ये डाक्टर लम्बी

पापा कहते हैं कि वे नहीं हैं

●

वचवन पाठक 'सलिल'

विद्यार्थियों की शिक्षा जिस त्रिकोण पर अवलम्बित है, उसके बिन्दु हैं अभिभावक, अध्यापक एवं सरकार या व्यवस्था-पद्धति। प्रस्तुत निबन्ध में मैं अभिभावकों का ध्यान कतिपय समस्याओं की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ।

अभी अभी मेरे यहाँ से एक अभिभावक गये हैं। उनकी पुत्री कालेज में पढ़ती है, बेटा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में। वे टाटा के कारखाने में एक जिम्मेदार पद पर हैं तथा कुल बारह-तेरह सौ रुपये मासिक पाते हैं। उनकी बातों से स्पष्ट था कि अपने पुत्र और पुत्री की पढ़ाई की समस्या से वे चिन्तित हैं।

बातों के क्रम में अभिभावक महोदय ने कहा कि आज स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई नहीं होती है। उन्होंने बताया कि मेरा पुत्र खेदरा में निबन्ध आदि लिखकर घर से ले जाता है और शिक्षक उसपर केवल हस्ताक्षर बना देते हैं। प्रत्येक पृष्ठ में हिज्जे की दर्जनों गलतियाँ रहती हैं, पर उनका सुधार नहीं होता। इस प्रकार घर के काम से क्या लाभ? उन्होंने अपनी पुत्री की पढ़ाई की चर्चा करते हुए कहा कि कालेज में प्रति मास कोई-न-कोई आयोजन लगा रहता है। कभी किसी का भाषण है तो कभी कोई प्रतियोगिता है। कभी कोई ललित-कार्यक्रम है तो कभी कोई शिक्षक ही नहीं आता। एक तो आजकल साल में केवल चार पाँच महीने पढ़ाई होती है और उस पर भी इतने सारे व्यवधान, क्योंकर प्रगति होगी?

उक्त अभिभावक महोदय की तरह मैं बीसियों अभिभावकों को जानता हूँ। प्राय सभी का रोना है कि विद्यालयों में पढ़ाई नहीं होती, छात्र सच्चरित्र और अनुशासन प्रिय नहीं होते, आदि आदि। अन्त में ये सारे अभिभावक अपना आक्रोश अध्यापकों और सरकार पर उतारते हैं।

कितने अध्यापक इस बात से सन्तुष्ट हैं कि कुछ अभिभावकों ने समय निकालकर पढ़ाई लिखाई के सम्बन्ध में उनसे कुछ सृजनात्मक बातचीत की है? कितने अभिभावक वस्तुत अपने बच्चों की पढ़ाई लिखाई में अभिरुचि रखते हैं? कतिपय उदाहरण लीजिए। लछुमन अहीर देहात में किसान हैं। उनका लड़का प्रतिदिन चार मील दूर कस्बे के हाई स्कूल में पढ़ने जाता है। शाम को आकर जलपान करने के बाद वह पढ़ने बैठता है तो आप फरमाते हैं—दिन रात पढ़ाई, पढ़ाई, पढ़ाई। स्कूल में भी पढ़ो और यहाँ भी। जाओ, किसी के खेत से चना उखाड़ लाओ या गन्ना तोड़ लाओ या गाँव से लौटते समय खोदकर दो चार प्याज लेते आना।'

रामलाल कारखाने के मजदूर हैं। आठ घण्टे के बाद आप घर आए हैं। लड़का गेंद लेकर बाहर साथियों के साथ खेलने जाना चाहता है। आप एक भद्दी गाली देकर उसे बुलाते हैं और कहते हैं—दौड़ा, दारू-मच्छी ले आना है।' बच्चा सिमकते हुए दारू मच्छी लाता है। कुछ दिनों के बाद उसकी झिझक दूर होती है, वह गालियाँ सीखता है दारू मच्छी के धन्धे में लगा रहता है और पियक्कड़ हो जाता है।

सर्व-सेवा-संघ की नयी तालीम-समिति ने हाल ही में भारत सरकार-द्वारा नियुक्त शिक्षा-आयोग के समक्ष एक स्मरणपत्र समर्पित किया है। स्मरण-पत्र में निम्न-लिखित प्रमुख बातों पर जोर दिया गया है—

शिक्षा ही एक ऐसी सामाजिक शक्ति है, जो एक समाजवादी लोकतन्त्र में विचार और मूल्य के परिवर्तन को प्रभावित करने का वाहन हो सकती है।

सुरक्षा, विकास और लोकतन्त्र की बुनियादी समस्याएँ अकेले राज्य के प्रयत्न से ही सफलतापूर्वक नहीं सुलझायी जा सकती। केवल राष्ट्रीय लोकशिक्षा ही लोकतान्त्रिक समाज के सामाजिक जागरण में सहयोग दे सकती है।

देश के लिए शिक्षा की व्यापक प्रणाली निम्नलिखित बातें ध्यान में लाये बिना आकार नहीं ले सकती—विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के बदलते हुए जगत की पार्श्वभूमि, राष्ट्रों की बढ़ती हुई विश्व परिवार की कल्पना, गाँवों में सर्वत्र फैली हुई और उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सुदीर्घ सांस्कृतिक परम्परा, भाषा, धर्म और जाति के कारण पैदा हुई उलझनें, लोगों का भीषण दारिद्र्य और बेकारी तथा शान्तिपूर्ण सामूहिक विकास के लिए लोगों में सच्ची आकांक्षा।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली राष्ट्र की महत्वपूर्ण समस्याओं का हल निकालने में असफल हुई है। इसकी योजनाओं और कार्यक्रम का जन-समूह की आवश्यकताओं, कल्पनाओं, इच्छाओं और लोकतान्त्रिक समाजवाद की माँगों से घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। इसने राष्ट्रीय एकीकरण में भी सहयोग नहीं दिया है।

गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा की योजना करीब तीन दशक पूर्व सामाजिक क्रान्ति के वाहक के रूप में उपस्थित की थी। शिक्षा को वे सामाजिक नव निर्माण के साध्य और साधन के रूप में ही देखते थे। बुनियादी शिक्षा जीविका की पराश्रयी वृत्ति को दूर करके सामाजिक सामंजस्य की स्थापना करती है तथा समाजोपयोगी उत्पादक कार्यों पर जोर देती है। यह बच्चे में आत्म-विश्वास बढ़ाती है, रचनात्मक वृत्ति पैदा करती है और नेतृत्व की शक्ति बढ़ाती है। यह बच्चे को सहकारिता और समाज-सेवा की ओर प्रवृत्त करती है और उसको लोकतन्त्र तथा अहिंसा के अनुरूप तैयार करती है। बुनियादी शिक्षा में सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी प्रगतिशील परिवर्तनों के साथ साथ बदलते रहने की क्षमता है, और यह विशेष रूप से कृषि उद्योगी समाज के लिए उपयोगी है, जो हमारे देश के लिए उपयुक्त है।

बुनियादी शिक्षा शिल्प शिक्षा नहीं है। इसे शिल्प-शिक्षा मानकर भूल की गयी है। उत्पादक शिल्प कार्यानुभव, प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण के साथ-साथ शिक्षा का एक माध्यम है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य बालक के समन्वित व्यक्तित्व के विकास का है। कुशलतापूर्वक और वैज्ञानिक रूप से किये हुए उत्पादक-शिल्प से जो कुछ भी आय होती है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है।

इसलिए भारत में बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए, न कि इसलिए कि यह महात्मा गांधी की हमारे लिए या विश्व के लिए एक अमूल्य देन है बल्कि इसलिए कि विशिष्ट शिक्षा शास्त्रियों ने विश्व की शिक्षा विचारधारा में इसे योगदान माना है।

यद्यपि शिक्षा जन्म से मृत्यु तक सारे जीवन चलते रहनेवाली है, फिर भी स्कूली शिक्षा का राष्ट्रीय स्वरूप तीन वर्ष पूर्वबुनियादी, आठ वर्ष बुनियादी और तीन वर्ष उत्तरबुनियादी के निश्चित समय के रूप में हो। शिक्षा सात वर्ष से चौदह वर्ष तक निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए और साथ ही उत्तर बुनियादी शिक्षा भी निःशुल्क होनी चाहिए।

पूर्वबुनियादी शिक्षा केवल छोटे बच्चों की ही

फीस लेते हैं। मैंने कहा कि परीक्षाओं में पास करने के लिए भी काफी रकम खर्च की जाती है। इसीलिए हाकिम भी घूस लेनेवाले हो रहे हैं। मैंने और भी चुटकी ली, वे रुआँसे होकर चले गये।

अभिभावकगण ट्यूशन प्रथा का भी जिक्र करते हैं। सचमुच यह एक भयंकर संक्रामक रोग है। मैं एक ऐसे शिक्षक को जानता हूँ, जो अपने वर्ग के पचास छात्रों में से बयालिस को ट्यूशन पढ़ाते हैं। प्रति छात्र वे तीस रुपये लेते हैं। मैंने दो एक अभिभावकों से कहा कि आपका बच्चा अगर सचमुच कमजोर है और उसे सहायता चाहिए, तो दूसरे शिक्षक के पास भेजिए। उक्त शिक्षक क्या पढ़ायेंगे? अभिभावकों ने कहा कि आप नहीं जानते। उक्त शिक्षक से प्राचार्य डरते हैं, अतः उनके यहाँ पढ़ने से बच्चा टेस्ट परीक्षा में पास हो जायगा। साथ ही उनकी पहुँच बोर्ड तक है। मैं और क्या समझाता?

आप अभिभावक हैं। प्रारम्भ से ही बच्चे पर ध्यान क्यों नहीं देते? याद रखिए, लाख दक्ष और प्रशिक्षित नर्स हों, पर वह माँ का वात्सल्य नहीं ला सकती। हजार योग्य शिक्षक हों, पर वह संतान के प्रति पिता की मंगल कामना नहीं ला सकता।

आप अपने बच्चे के लिए फल, बिस्कुट और दूध का प्रबन्ध करते हैं पर उसकी मानसिक खुराक के लिए कभी कुछ करते हैं? आज सुंदर सुंदर पत्रिकाएँ और पुस्तिकाएँ छप रही हैं उन्हें खरीदकर क्या नहीं देते?

क्या आपने इस बात पर विचार किया है कि आपके कमरे के चित्रों का बच्चे के मानस पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? प्रसन्न होने पर आप उसे रुपये तो देते हैं, किन्तु उन रुपयों का उपयोग क्या हुआ, कभी यह भी पूछा है?

आप शाम को क्लब, सिनेमा या कॉफी हाउस जाते हैं। कभी इसकी भी चिन्ता की है कि बच्चा कहाँ जाता है? बालकनजी बारी, किशोर-दल या सर्वोदय-मेला के समान किसी संगठन में उसे क्यों नहीं दे देते, जहाँ प्रति सामयकाल-आध घण्टा खेले कूदे और कुछ सीखें।

नगर में सिनेमा या नाटक आने पर स्कूल की ओर से उसे रियायती टिकट मिलता है। आप खुशी-खुशी उसे पैसे दे देते हैं। कभी सोचा भी है कि वहाँ क्या दिखाया जाता है? मास्टरों को तो चिन्ता नहीं है, छोड़िए, पर आप अपने बच्चे के लिए क्या करते हैं?

बच्चे की उपस्थिति में नौकरों या किसी अन्य पर बिगड़ते हुए क्या आप ध्यान रखते हैं कि आप अपशब्दों का प्रयोग तो नहीं कर रहे हैं? आप वस्त्र कैसे पहनते हैं? वस्त्रों के चुनाव में, रंग और छापे पर क्या आप ध्यान देते हैं? याद रखिए, आप यही रुचि अपने बच्चे में डाल रहे हैं।

मैं एक दिन एक अधिकारी से मिलने गया। एक सार्वजनिक सभा में मैंने उन्हें आड़े हाथों लिया था। वे मुझसे अप्रसन्न थे। मुझे अप्रसन्नता की चिन्ता नहीं थी, न मैं उनका कृपा कटाक्ष चाहता था। मेरी इच्छा थी कि उनके आगे तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दूँ। उनके यहाँ जाने पर मैंने घण्टी बजायी। नौकर रसोई बना रहा था। मैंने सुना अधिकारी महोदय पत्नी से बातें कर रहे थे। उनका सात वर्ष का बच्चा बाहर आया। उसने मेरा नाम पूछा। फिर आकर कहा कि पापा नहीं हैं। मैंने कहा कि मुन्ना, पापा तो अभी थे। उसने भोलेपन से उत्तर दिया कि पापा कहते हैं कि वे नहीं हैं। मैं हँस पड़ा। क्या आप भी इसी प्रकार अपने बच्चे में प्रारम्भ से ही झूठ के संस्कार जगा रहे हैं? याद रखिए, इस तरह की छोटी मोटी बातें भी आगे चलकर उसके जीवन में खतरनाक मोड़ ले सकती हैं।

अभिभावक होना गौरव की बात है, पर यह एक उत्तरदायी पद है। आपको इसकी गरिमा समझनी होगी। आप अपना उत्तरदायित्व सरकार या शिक्षक पर फेंककर निश्चिन्त नहीं हो सकते। हमारे देश में अभी सड़कों और नहरों के निर्माण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा है, किन्तु यह खेद का विषय है कि भारत के भावी नागरिकों के निर्माण के सम्बन्ध में रुचि नहीं दिखाई जा रही है। आप अभिभावक हैं, अपने महान उत्तरदायित्व को समझिए।

●

अगर हम चाहते हैं कि देश के नवयुवकों और विद्यार्थियों में उत्कृष्ट अनुशासन और सेवा भावना अंकुरित हो तो हमें उनके स्वयं [illegible] से निर्मित दलों और मण्डलों को लोकोपयोगी सेवा कार्य के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। —[illegible]

सर्व-सेवा-संघ की नयी तालीम-समिति ने हाल ही में भारत सरकार-द्वारा नियुक्त शिक्षा-आयोग के समक्ष एक स्मरणपत्र समर्पित किया है। स्मरण-पत्र में निम्न-लिखित प्रमुख बातो पर जोर दिया गया है—

शिक्षा ही एक ऐसी सामाजिक शक्ति है, जो एक समाजवादी लोकतत्र में विचार और मूल्य के परिवर्तन को प्रभावित करने का वाहन हो सकती है।

सुरक्षा, विकास और लोकतत्र की बुनियादी समस्याएँ अकेले राज्य के प्रयत्न से ही सफलतापूर्वक नही सुलझायी जा सकती। केवल राष्ट्रीय लोकशिक्षा ही लोकतात्रिक समाज के सामाजिक जागरण में सहयोग दे सकती है।

देश के लिए शिक्षा की व्यापक प्रणाली निम्नलिखित बातें ध्यान में लाये बिना आकार नहीं ले सकती—विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के बदलते हुए जगत की पार्श्वभूमि, राष्ट्रो की बढ़ती हुई विश्व परिवार की कल्पना, गाँवो में सर्वत्र फैली हुई और उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सुदीर्घ सास्कृतिक परम्परा, भाषा, धर्म और जाति के कारण पैदा हुई उलझनें, लोगो का शोषण दारिद्र्य और बेकारी तथा शान्तिपूर्ण सामूहिक विकास के लिए लोगो में सच्ची आकाक्षा।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली राष्ट्र की महत्वपूर्ण समस्याओं का हल निकालने में असफल हुई है। इसकी योजनाओं और कार्यक्रम का जन समूह की आवश्यकताओ, कल्पनाओ, इच्छाओ और लोकतात्रिक समाजवाद की माँगो से घनिष्ट सम्बन्ध नही है। इसने राष्ट्रीय एकीकरण में भी सहयोग नही दिया है।

गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा की योजना करीब तीन दशक पूर्व सामाजिक क्रान्ति के वाहक के रूप में उपस्थित की थी। शिक्षा को वे सामाजिक नव-निर्माण के साध्य और साधन के रूप में ही देखते थे। बुनियादी शिक्षा जीविका की पराश्रयी वृत्ति को दूर करके सामाजिक सामजस्य की स्थापना करती है तथा समाजोपयोगी उत्पादक कार्यों पर जोर देती है। यह बच्चे में आत्म-विश्वास बढाती है, रचनात्मक वृत्ति पैदा करती है और नेतृत्व की शक्ति बढ़ाती है। यह बच्चे को सहकारिता और समाज सेवा की ओर प्रवृत्त करती है और उसको लोकतत्र तथा अहिंसा के अनुरूप तैयार करती है। बुनियादी शिक्षा म सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी प्रगतिशील परिवर्तनो के साथ साथ बदलते रहने की क्षमता है, और यह विशेष रूप से कृषि उद्योगी समाज के लिए उपयोगी है, जो हमारे देश के लिए उपयुक्त है।

बुनियादी शिक्षा शिल्प शिक्षा नही है। इसे शिल्प-शिक्षा मानकर भूल की गयी है। उत्पादक शिल्प कार्यानुभव, प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण के साथ-साथ शिक्षा का एक माध्यम है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य बालक के समन्वित व्यक्तित्व के विकास का है। कुशलतापूर्वक और वैज्ञानिक रूप से किये हुए उत्पादक-शिल्प मे जो कुछ भी आय होती है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है।

इसलिए भारत में बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए, न कि इसलिए कि यह महात्मा गाधी की हमारे लिए या विश्व के लिए एक अमूल्य देन है-बल्कि इसलिए कि विशिष्ट शिक्षा शास्त्रियो ने विश्व की शिक्षा विचारधारा मे इसे योगदान माना है।

यद्यपि शिक्षा जन्म से मृत्यु तक सारे जीवन चलते रहनेवाली है, फिर भी स्कूली शिक्षा का राष्ट्रीय स्वरूप तीन वर्ष पूर्वबुनियादी, आठ वर्ष बुनियादी और तीन वर्ष उत्तरबुनियादी के निश्चित समय के रूप मे हो। शिक्षा सात वर्ष से चौदह वर्ष तक निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए और साथ ही उत्तर बुनियादी शिक्षा भी निःशुल्क होनी चाहिए।

पूर्वबुनियादी शिक्षा केवल छोटे बच्चो की ही

अनुक्रम

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहकसंख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती है।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा संघ की ओर से ... प्रेस, वाराणसी ... द्वारा प्रकाशित

सत्याग्रह-विचार और युद्धनीति

काका कालेलकर

गाधी-विचार और सर्वोदय-दशन के सशक्त भाष्यकार काका कालेलकर ने इस पुस्तक म आज के पारमाणविक युग की समस्याओ के परिप्रेक्ष्य में सत्याग्रह के विचारो का मूल्याकन किया है। बीसवी सदी के समकालीन चिन्तन की धारा में गाधी ने सत्याग्रह की एक नयी लहर पैदा की थी। विश्व के महान् चिन्तको की परम्परा मे गाधी ने इसी अद्भुत विचार के कारण स्थान पाया। उपनिवेशवाद के दलदल मे फँसे हुए एशिया तथा अफ्रीका के बाशिन्दो को गाधी ने सत्याग्रह का एक नया मार्ग दिया। काले गोरे के भेदभाव से पीडित अमेरिकी नीग्रो-समाज को गाधी ने सत्याग्रह की एक नयी राह दिखायी। सत्याग्रह के विचार को पूरी तरह से समझना और इस दिशा में नये-से-नये प्रयोग करना चाहनेवालो के लिए काका साहब का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ निहायत जरूरी है। मूल्य है तीन रुपये।

—सतीशकुमार

सर्व सेवा संघ प्रकाशन • राजघाट, वाराणसी-१

नयी तालीम, फरवरी '६६

पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त

लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल, १७२३

उदास दीवारें मुसकरा उठीं

"अब क्या होगा अम्मा ?"—शबनम ने रुआँसी होकर पूछा ।

"नाउम्मीद न हो बेटी । खुदा ने हमें अक्ल दी है और दी हैं दो बाहें । इनसे हम हर मुश्किल आसान कर सकते हैं ।"

"वह कैसे ?"—नसीम पूछ उठा ।

"वह देखो, सामने हरे-भरे पौधे लहरा रहे हैं ? उठाओ हँसिया, काट लाओ ।"

"इन पौधों का होगा क्या ?"

"हम इनसे बुनेंगे चटाई और इन्हीं से अपनी झोपड़ी बना लेंगे । फिर चटाई बुनकर बेचेंगे और फिलहाल अपना गुजर-बसर भी कर लेंगे ।"

"हाँ अम्मा, यह तो बड़ी अच्छी बात है, लेकिन ..."

"अब लेकिन-वेकिन क्या ?"

"यही कि हम बेगुनाहों पर बम क्यों बरसाये गये ?"

"भाई जब भाई का दुश्मन बन जाता है तो क्या नहीं होता ।"

"एक भाई अपने ही भाई पर बेपनाह जुल्म क्यों ढाता है अम्मा ?"

"उसे यह समझाये कौन ?"

"क्या वह इतनी मामूली-सी बात भी नहीं समझ पाता ?"

"नहीं समझ पाता बेटे , लेकिन आज नहीं तो कल समझेगा, जरूर समझेगा ।"

बात छोटी है, बड़ों की समझ में तुरत आये या न आये लेकिन शबनम और नसीम को समझ में आ गयी। उनकी नन्ही-मुन्नी उँगलियाँ जुट गयीं चटाई बनाने में। नयी जिन्दगी ने अँगड़ाई ली और पास खड़ी उदास दीवारें मुसकरा उठीं ।

—शिरीष

आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी ।

सर्व-सेवा-संघ की मासिकी
प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

भारत का परमाणु ऊर्जा-कार्यक्रम डा० भाभा की प्रेरणा और प्रयत्नो पर इस सीमा तक निर्भर रहा है कि उनके विचारो प्रयासो और आयोजनो के बिना उसके किसी पक्ष के विकास की कल्पना तक नही की जा सकती।

भारत के बहुत से हिस्सो मे पानी की कमी है। अगर सागर का पानी मीठा बनाया जाय तो इसका हल निकल सकता है। हम भारती वैज्ञानिको को यदि खारे पानी को मीठा पानी बनाना है तो यह सिद्ध होना चाहिए कि पानी सचय करने की पारम्परिक पद्धतियो से यह बहुत सस्ती है। हमारे देश मे तिरानवे प्रतिशत मानसून का पानी बहकर सागर मे चला जाता है।

हमारे यहाँ विद्युत शक्ति के बजाय परमाणु उपयोग करने की शक्ति निर्माण करनी होगी। यह स्थिति दिन ब दिन बढती जायगी। १९७० तक ५ प्रतिशत होगी, पर आगे यह सतत बढती ही जायेगी। इसका अर्थ है कि भविष्य मे हमको ठोस पारमाणविक कार्यक्रम रखना होगा।

वर्ष : चौदह
•
अंक : आठ

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

दल की दीवालें पहले कहाँ तोड़ी जायेंगी ?

प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की माँग है कि देश की खाद्य-समस्या को पार्टी की दृष्टि से न देखकर पूरे राष्ट्र की दृष्टि से देखा जाय। उनकी इस माँग को मान लेने से किसे इनकार होगा ? अगर देश गरीब है तो गरीबी से उठनेवाले सवाल पूरे देश के हैं, न कि किसी एक दल के। आश्चर्य यही है कि स्वराज्य के अठारह वर्ष बाद भी इतनी साफ बात को कहना पड़ रहा है!

नेता कहते हैं कि खाद्य-समस्या राष्ट्र की समस्या है। जब कालेजों और विश्वविद्यालयों में उपद्रव होते हैं तो वे कहते हैं कि शिक्षा भी राष्ट्र का सवाल है। जब देश पर आक्रमण होता है तो देश की प्रतिरक्षा राष्ट्र का सवाल बन जाती है। जब भ्रष्टाचार की चर्चा होती है तो कहा जाता है कि यह किसी एक दल या सरकार के वश की बात नहीं है। इसी तरह पंचायतों को लेकर भी कहा जाता है कि राजनीतिक दलों को पंचायत से अलग रहना चाहिए।

ऐसी हालत में यह सोचने की बात है कि अगर राष्ट्र के जीवन से प्रतिरक्षा, खाद्य, शिक्षा, गाँव का संगठन और नैतिक विकास को अलग कर दिया जाय तो बचता क्या है ? क्या कला और साहित्य को दलबन्दी चाहिए ? क्या पत्रकारिता को चाहिए ? अगर ये तमाम क्षेत्र दलबन्दी से अलग रखने लायक हैं तो फिर दलबन्दी है किसलिए ? केवल सरकार बनाने के लिए ? और संकटकाल में तो सरकार भी राष्ट्रीय हो जाती है। आज कौनसा ऐसा संकट है, जो हमारे देश पर नहीं है ? तो फिर सरकार को दल के दल-दल से निकालने में देर क्यों की जा रही है ?

पश्चिमी दुनिया के जिन देशों में एक से अधिक दल हैं उनमें दलों के आपसी भेद दिनोदिन कम होते जा रहे हैं। लोग यह महसूस कर रहे हैं कि जहाँ तक देश की प्रतिरक्षा और जनता के विकास का प्रश्न है, बहुत दूर तक देश में एकता होनी

चाहिए। राष्ट्र के जीवन की बुनियादी बातों को सभी दल मानते हैं और जहाँ मत-भेद ऊपर दिखाई देते हैं वहाँ अन्दर की इस एकता से ही काम चलता है। भले ही एक दल की सरकार हो या दूसरे दल की। यह कोशिश नहीं की जाती कि जनता के संकट को अपना अवसर बनाया जाय; बल्कि यह कोशिश रहती है कि जहाँ तक हो सके मिलकर काम किया जाय।

एशिया और अफ्रीका के देशों में एक के बाद दूसरे देश में तानाशाही सरकार बन गयी है और ऐसा लगता है जैसे इन देशों में लोकतंत्र कायम ही नहीं हो सकेगा। क्या इतने पर भी हमारी आँखें नहीं खुलनी चाहिए, ताकि हम देखें कि जरूर हमारे देश के जीवन में और पड़ोसी देशों के जीवन में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके कारण पश्चिमी ढंग का लोकतंत्र नहीं चल पा रहा है।

हमें यह मान लेना चाहिए कि हमारे और दूसरे पिछड़े हुए देशों की समस्याएँ विरोध और दलबन्दी की राजनीति से नहीं हल होंगी। जिस समाज में न्याय नहीं होता उसमें कानून का राज नहीं हो सकता। ऐसी हालत में जो भी कानून बनेगा वह किसी-न-किसी रूप में अन्याय का ही साधन बनेगा या कम-से-कम उसमें अन्याय को मिटाने की शक्ति नहीं होगी। विरोध की राजनीति में सरकारी दल केवल कानून बनाकर क्या करेगा? स्वराज्य के १८ वर्षों में हमारी सरकार ने कानून बनाने में कोई कसर नहीं रखी; लेकिन कानून के इस जंगल में न्याय का कहीं पता नहीं चल रहा है और ऐसा दिखाई देता है कि लोकतंत्र और समाजवाद की कोरी बातें रह जायेंगी। आज हालत ऐसी है कि राष्ट्र के जीवन के हर पहलू पर दलबन्दी की राजनीति हावी है। लोकतंत्र के विकास के लिए यह स्थिति सबसे अधिक प्रतिकूल है।

देश के जीवन को दलमुक्त करना कठिन नहीं है। अगर पूरे राष्ट्र को एकता के आधार पर संगठित करना हो तो शुरुआत गाँव से होनी चाहिए, जहाँ अस्सी प्रतिशत से ऊपर वोटर रहते हैं; जहाँ पेट के लिए अन्न और कल-कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा होता है, जहाँ के मजदूर देश का काम करते हैं और जहाँ के सिपाही देश की रक्षा। गाँव की जमीन गाँव की हो, पूरे गाँव को सामने रखकर विकास की योजना बने और गाँव के हर बालिग को लेकर ग्रामसभा बनायी जाय, जो गाँव की व्यवस्था और विकास के लिए जिम्मेदार मानी जाय, तो एकता के आधार पर गाँव का संगठन करना बिलकुल आसान है; और जब गाँव में इस तरह की ग्रामसभाएँ बन जायँ तो उनके प्रतिनिधियों को लेकर ब्लाक-सभाएँ और इसी तरह ऊपर की सभाएँ संगठित हो सकती हैं और बिना दल के राज्य और राष्ट्र की सरकारें बनायी जा सकती हैं।

लेकिन, यह होगा तब, जब हमारे नेता दल से ऊपर उठकर पूरे देश को सामने रखें। दल को सामने रखने का परिणाम यह हो रहा है कि देश अन्दर-अन्दर उनके हाथ से निकलता जा रहा है। दल की दीवालें पहले कहाँ तोड़ी जायेंगी—दिल्ली में या देहात में?

राममूर्ति

केन्द्रीय शिक्षामंत्री के नाम दो खुली चिट्ठियाँ

श्रीमान मंत्रीजी,

शिक्षा कमीशन,

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,

नयी दिल्ली।

महोदयजी,

यद्यपि मैं इस समय शिक्षण-कार्य नहीं कर रहा हूँ, परन्तु मैंने २१ वर्ष तक विद्याभवन-सोसायटी उदयपुर में शिक्षण का प्रत्यक्ष काम किया है और इस अवधि में से १५ वर्ष तक मैंने बुनियादी शिक्षा का प्रत्यक्ष काम करने तथा उसके विषय में यथासम्भव सोचने और लिखने में बिताये हैं। मैं सन् १९५४ में उन १८ व्यक्तियों में सम्मिलित किया गया था, जिनको भारत सरकार ने डेनिश शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करके उसपर अपनी रिपोर्ट देने के लिए विदेश भेजा था। शिक्षक की स्थिति में रहकर तो मैंने काम किया ही है, साथ-ही-साथ एक सामान्य नागरिक और एक पिता की दृष्टि से भी मैंने शिक्षा पर विचार करने का प्रयत्न किया है। मुझे याद पड़ता है कि शायद कमीशन की ही ओर से मुझे गवाही देने के लिए अजमेर में बुलाया गया था, परन्तु मैं किसी कारण वहाँ उपस्थित न हो सका। बहरहाल, मैं इस समय आपकी सेवा में विचारार्थ निम्न निवेदन करना चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि आप मेरी बातों पर उस मात्रा में गौर करेंगे, जिस मात्रा में ये विचार आपको (अर्थात कमीशन को) वजनदार प्रतीत हों।

१. भारतीय शिक्षा में शिक्षण के माध्यम के तौर पर अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किसी भी स्तर पर नहीं किया जाना चाहिए, न तो विज्ञान के लिए और न किसी भी अन्य विषय के लिए। अंग्रेजी की पढ़ाई एक वैकल्पिक विषय के रूप में कक्षा ८ में शुरू की जा सकती है और की भी जानी चाहिए; परन्तु वह केवल एक विषय की पढ़ाई ही रहे, न कि किसी भी अन्य विषय की पढ़ाई का माध्यम बने।

इसके कारण इस प्रकार है —

● जो भी विषय एक विदेशी भाषा में पढ़ाया जाता है उस विषय का छनाव (इनफिल्टरेशन) जनता में नहीं हो पाता। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षित लोग सामान्य जनता से पृथक एक वर्ग विशेष बन जाते हैं, और यह जनतंत्र का क्षय है। एक स्वाधीन और जनतान्त्रिक देश में यदि किसी भी स्तर पर शिक्षण का माध्यम विदेशी भाषा है तो यह मानना होगा कि वह देश जनतान्त्रिक है ही नहीं, उस देश में जनतंत्र एक धोखा या विडम्बना है।

● जो भी तालीम विदेशी भाषा के माध्यम से दी जाती है वह अवश्य ही विद्यार्थी के लिए सुपाच्य नहीं होती, बल्कि अत्यन्त गरिष्ठ हो जाती है, जिसके कारण विद्यार्थी की प्रतिभा का भारी अपव्यय होता है। आज भारतीय विद्यार्थी की शक्ति और प्रतिभा का भारी अपव्यय ही हो रहा है, जिसे रोकना आवश्यक है।

● अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा जब दी जाती है तो उसके मूल में भावना यह रहती है कि शिक्षा का लक्ष्य नौकरी है, शिक्षा का लक्ष्य शोषण का हथियार प्राप्त करना है। जब उच्च-से-उच्च और कठिन-से-कठिन विषय की शिक्षा देशी भाषा में दी जायगी तभी विद्यार्थी पर यह प्रभाव पड़ेगा कि शिक्षा जीवन के लिए है, जनता के लिए है और सेवा के लिए है।

● गांधीजी की महान देन बुनियादी शिक्षा, जिसे भारत सरकार ने एक प्रकार से असफल घोषित करके जबरदस्ती मार डाला है उसकी वर्तमान दुर्दशा का मूल कारण यह नहीं है कि बुनियादी शिक्षा की योजना में कोई दोष है, बल्कि उसका मूल कारण यह है कि देश में निहित स्वार्थवाले और ऊँचे पदों पर विराजमान वर्ग के लोग अपने निहित स्वार्थ की रक्षा करने के लिए येनकेन प्रकारेण शिक्षा के माध्यम के रूप में अँग्रेजी को आज भी बनाये हुए हैं, पर यह जनता को धोखा देना है, जनतंत्र का मखौल है। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं उसी प्रकार या तो आप शिक्षा में अँग्रेजी को महत्व दे सकते हैं या फिर उत्पादक कार्य को महत्व दे सकते हैं।

● बुनियादी शिक्षा इसलिए असफल रही कि देश ने अँग्रेजी के मोह को तो समाप्त नहीं किया और उत्पादक काम को पकड़ना चाहा। यह एकसाथ दो घोड़ों की सवारी कभी सफल नहीं हो सकती थी और यही कारण है कि बुनियादी शिक्षा असफल रही। बुनियादी शिक्षा को बुनियाद मानकर उच्चतर शिक्षा का महल नहीं खड़ा किया गया, बल्कि उच्च शिक्षा (अँग्रेजी के माध्यम से दी जानेवाली उच्च शिक्षा) को लक्ष्य मानकर तदनुसार निम्न कक्षाओं की शिक्षा को ढाला गया।

● देश में आज आर्थिक दृष्टि से जो अत्यन्त पिछड़ापन है जो गरीबी और खाद्यसमस्या है उसकी जिम्मेदारी वित्तमन्त्रालय या खाद्यमन्त्रालय पर उतनी नहीं है जितनी की शिक्षामन्त्रालय पर है। शिक्षा में अँग्रेजी का जो प्रमुखत्वपूर्ण वातावरण है, उसने उत्पादक श्रम के वातावरण को लुप्त कर दिया है, उत्पादक श्रम को हेय बना दिया है, लोग उपभोग करना जानते हैं, उत्पन्न करना नहीं, उपभोग स्तुत्य बन गया है, उत्पादन गर्हित बन गया है। स्कूलों में संस्कार यह पड़ रहा है कि माँ-बाप की गाढ़ी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाये जायँ, नये से-नये फैशन में होड़ की जाय, उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता में अग्रसर रहा जाय। यह सब क्या? केवल इसलिए कि शिक्षा के मूल में अँग्रेजी की शेखी है उत्पादक श्रम की नम्रता नहीं।

● मैं ऐसा मानता हूँ कि यह कहना कि अभी भारतीय भाषाएँ उच्चतम शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकतीं और इसलिए अँग्रेजी जारी रहनी चाहिए, यह गद्दारी से कम नहीं, यह ईमानदारी की कमी है। यह कथन उतना ही निरर्थक है जितना यह कहना कि भारतवासी स्वाधीनता के काबिल नहीं हैं और इसलिए अभी अँग्रेजी राज जारी रहना चाहिए। वास्तविकता यह है कि भाषाएँ पहले शिक्षा का माध्यम बनती हैं और बाद में उनका विकास होता है। संसार में ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसका विकास पहले हुआ हो और जो शिक्षा का माध्यम बाद में बनी हो। जिस प्रकार हमारे देश के लोगों पर स्वाधीनता की जिम्मेदारी आ पड़ने पर ही वे उस जिम्मेदारी के योग्य साबित हो सके हैं उसी प्रकार भाषाएँ शिक्षा का माध्यम बनने के योग्य भी तभी साबित होंगी, जब वास्तव में उनको शिक्षा का माध्यम घोषित कर दिया जाय और अँग्रेजी की मारफत किसी भी विषय की शिक्षा देना बन्द कर दिया जायगा।

२ मेरा दूसरा निश्चित मत यह है कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर (यानी केवल बुनियादी शिक्षा अथवा प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर ही नहीं) प्रत्येक विद्यार्थी को जैसी भी रुचि हो और वातावरण या परिस्थिति में जैसा भी सम्भव हो, कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष उपयोग का काम करना चाहिए और इस प्रकार विद्यार्थी को प्रत्येक स्तर पर समाज की एक सजीव, सक्रिय और रचनात्मक इकाई होना चाहिए। शिक्षा जीवन की तैयारी है, इस बात को भूलकर शिक्षा ही जीवन है, इस सिद्धान्त पर हमारी शिक्षा का ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए।

मेरे इस सुझाव के निम्नलिखित कारण हैं—

● आज के विद्यार्थी को स्कूलों में प्रकट रूप से तो विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है और सद्गुणों की मौखिक नसीहत भी कम नहीं मिलती, परन्तु उस शिक्षा के साथ साथ जो मौन संस्कार अचेतन रूप से पड़ता रहता है वह यह है कि शिक्षित व्यक्ति के लिए मेहनत करके कुछ भी पैदा करने की जरूरत नहीं है और उसका यह अधिकार है कि वह दूसरों की कमाई के सहारे मौज करे। यह शोषक वृत्ति शिक्षित व्यक्ति के स्वभाव में जड़ जमा लेती है और इसी से समाज में

सारी खराबियाँ पैदा होती है। यदि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर कुछ न-कुछ समाजोपयोगी उत्पादक कार्य, जो विद्यार्थियो की रुचि तथा सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल हो और जिस विशेष विषय की शिक्षा वे पा रहे हो उससे भी सम्बद्ध या अनुकूल हो, विद्यार्थियो द्वारा किया जाता रहे और यह कार्य उनकी शिक्षा का एक अविभाज्य अग रहे तो विद्यार्थियो की वृत्ति में शोषण के बीज नही जम सकेंगे।

● इस तरह की तालीम से देश की निर्धनता कम होगी। आज हो यह रहा है कि देश की कुल आबादी का एक बहुत बडा हिस्सा, जो विद्यार्थियो के रूप में है नितान्त अनुत्पादक, अत्यन्त खर्चीला और मुफ्तखोर बना हुआ है। और, जो वयस्क हैं या स्कूल नही जानेवाले बचे खुचे लडके-लडकियाँ हैं, वे ही उत्पादक इकाइयाँ हैं, और दिन-ब-दिन जैसे-जैसे शिक्षा का प्रचार बढ़ता जाता है वैसे-वैसे देश की आबादी का उत्पादक प्रतिशत तो घटता जाता है और अनुत्पादक और खाऊ आबादी का प्रतिशत बढता जाता है। नतीजा यह है कि आज वैज्ञानिक उन्नति की इतनी उच्चता प्राप्त हो जाने पर भी समृद्धि की दृष्टि से हम लोग देश के पुराने इतिहास के आगे गये-गुजरे हैं, जब कि विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। हमारे देश की समृद्धि और सम्पन्नता इस बात पर निर्भर है कि हम अपनी शिक्षा में उपयोगी आर्थिक उत्पादन का तत्त्व डाल पाते हैं या नही।

● यह सिद्ध बात है कि चरित्र में वही व्यक्ति अपनी उच्चता कायम रख सकता है जो स्वयं कुछ उत्पादक काम कर सकता हो। जो व्यक्ति स्वयं किसी जीवनोपयोगी काम को करके स्वावलम्बी नही रह सकता उससे चरित्र की आशा करना व्यर्थ है, उससे तो भ्रष्टता की ही आशा रहेगी। अतः यदि शिक्षित समाज को चरित्रवान रखना है और देश में सुरसा के मुँह की तरह फैलनेवाले वर्तमान भ्रष्टाचार को कम करना है तो यह आवश्यक है कि शिक्षा-द्वारा नागरिको में स्वावलम्बन और सादगी के सस्कार डाले जायें, और इस प्रकार उनमें आत्मनिर्भरता, निर्भयता और तेजस्विता पैदा की जाय। आज तो जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे लोगो में मुहताजी बढ रही है और वही हमारी भ्रष्टता की समस्या की जड है।

● हमारे विद्यार्थियो में आज जो उच्छृखलता, अनुशासनहीनता और आवारागर्दी पायी जाती है उसका मूल कारण यह है कि उनको खैरात की तालीम मिलती है, और वे माँ-बाप के पैसे पर ऐश करते हैं। जब विद्यार्थियो को कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष आर्थिक उत्पादन करना पडेगा तब उनकी यह सारी उच्छृखलता, अनुशासनहीनता, आवारागर्दी हवा हो जायगी और उनमें एक जिम्मेदार नागरिक बनने के लिए उपयुक्त सस्कार पडेंगे।

● आज शिक्षा के खर्चीलेपन के कारण वयस्क लोगो के लिए सन्तान पैदा करके माता-पिता का पद पाना एक अभिशाप बन गया है। छोटा परिवार, सुखी परिवार के नारे लग रहे हैं। वह ठीक हो सकता है, पर आखिर आबादी बढेगी और लोगो को माता-पिता का पद भी पाना होगा। तो क्या माता-पिता बनना एक अभिशाप ही बना रहेगा या बच्चे माता पिता के लिए एक राहत का अवसर बनेंगे? शायद ईश्वर तो इतना क्रूर नही था कि माता-पिता बनना एक अभिशाप ही; पर हमारी इस कृत्रिम शिक्षा-प्रणाली ने, जो हिंसा और शोषण के प्रतीक ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन है, माता पिता को एक दयनीय स्थिति में डाल दिया है। जबतक शिक्षा एक वर्ग विशेष की बपौती थी और जबतक उसका लक्ष्य एक वर्ग विशेष के निहित स्वार्थ की रक्षा करना था तबतक तो यह ठीक था कि विद्यार्थियो को कुछ भी उत्पादक काम करने से रोका जाय, ताकि कही उनमें यह भावना न पैदा हो कि वे भी मजदूर हैं, और उनमें अहकार बना रहे कि वे शासक और ठाकुर हैं तथा शेष जनता उनकी गुलामी करने के लिए है।

पर, जब हम वर्गों को मिटाना चाहते है, वर्गविहीन, शोषणविहीन जनतान्त्रिक समाज बनाना चाहते हैं तो शिक्षा को पहले ही की तरह अनुत्पादक ऐश के रूप में कैसे रख सकते हैं? या तो हमारा जनतत्र एक ढकोसला है, दिखावा और भुलावा है या फिर शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर उत्पादक काम (देश-काल मात्रा-

नुसार) प्रविष्ट होना चाहिए। जब यह स्थिति होगी यानी शिक्षा में उत्पादक श्रम की प्रतिष्ठा होगी तब माता पिता बनना आज की तरह एक दुर्भाग्य या अभिशाप न होगा, बल्कि जो नया मनुष्य जनमेगा वह माता पिता के लिए और देश के लिए भी एक राहत और सौभाग्य का प्रतीक होगा।

एक ओर तो हम अपनी गरीबी से परेशान हैं और उसपर आँसू बहाते हैं, उसको मिटाने के उपाय करते हैं, पर असफल होते हैं। और, दूसरी ओर शिक्षा के बहाने हमने देश में इस बात का व्यापक प्रबन्ध कर रखा है कि जो भी नया मनुष्य जन्म ले उसके दो हाथों को बेकार कर दिया जाय और उसके पेट को जनसाधारण की तुलना में और भी बड़ा कर दिया जाय। अशिक्षित जनता की आवश्यकताएँ कम होती हैं और वे देश के उत्पादक अंग होते हैं। शिक्षित जनता की आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं और उनसे आर्थिक उत्पादन होना बन्द हो जाता है। ऐसी दशा में यदि शिक्षा का प्रसार और नये मनुष्यों का जन्म दुर्भाग्य और अभिशाप न हो तो और क्या हो? कितने आश्चर्य की बात है कि जब एक पशु पैदा होता है तो वह एक आर्थिक लाभ माना जाता है, जब एक यंत्र बनकर कारखाने से बाहर निकलता है तो उसको भी एक आर्थिक लाभ माना जाता है, पर जब दो हाथ और एक पेट लेकर एक मनुष्य जनमता है तो वह एक आर्थिक हानि माना जाता है। तो यह दोष किसका है? प्रकृति में मूल है या हमारी शिक्षा में? वर्तमान शिक्षाप्रणाली यह सिद्ध करना चाहती है कि समाज उतना ही सुखी होगा, जितने बच्चे कम होंगे और इस तर्क को यदि अन्त तक पहुँचाया जाय तो सबसे सुखी समाज वह होगा, जिसकी आबादी घटते घटते शून्य तक आ पहुँचे।

● अब आबादी को जबरदस्ती और कृत्रिम साधनों से कम करने के दुष्परिणाम क्या होंगे, इसपर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय, क्योंकि हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली और सन्तनिनिरोध आन्दोलन का अनिवार्य सम्बन्ध है। जबरदस्ती और कृत्रिम उपायों से आबादी कम करने से देश की प्रौढ़ और काम लायक जनता में मानसिक रोगों की वृद्धि होगी, जैसा अमेरिका, डेनमार्क आदि पाश्चात्य देशों में हो ही रहा है। सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायों के प्रयोग से अन्त में समाज से गृहस्थ या परिवार-संस्था का उच्छेद हो जायगा और आज हर गरीब अमीर को, जो एक सुरक्षा, शान्ति और सन्तोष अपनी हर हालत में प्राप्त है वह समाप्त हो जायेगा, चाहे 'लोककल्याणकारी' राज्य के नाम पर आप जनता के लिए सरकार की ओर से कितना भी भौतिक सुख सुविधा क्या न जुटा दे, पर वह उस सुरक्षा, शान्ति सन्तोष और सुख प्रत्येक व्यक्ति को अनादि काल से चली आ रही 'परिवार संस्था' के कारण प्राप्त है, उसे तीन काल में भी सरकार अपनी लोक-कल्याण सुविधाओं से पैदा नहीं कर सकेगी। सन्तति नियमन के ये कृत्रिम साधन अन्त में परिवार संस्था के लिए अभिशाप साबित होंगे, जैसे कि वे पाश्चात्य समाज में हो रहे हैं।

● अन्त में अब तनिक राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के सन्दर्भ में सोचिए। हमारी वर्तमान शिक्षा पहले तो आर्थिक अभाव उत्पन्न करती है और बाद में मनुष्यों की कमी करती है, ताकि आर्थिक अभाव की समस्या से छुटकारा मिले। यह आत्मघातक तरीका है। जब देश पर किसी शत्रु देश का आक्रमण होता है तब प्रतिरक्षा के लिए हमको अर्थ और जनता की आवश्यकता होती है। विज्ञान की कितनी ही उन्नति क्यों न हो जाय और किसी देश के पास कितने ही भयंकर और आधुनिकतम हथियार क्यों न हों, जिस देश की आबादी अधिक है उस देश पर किसी भी दूसरे देश का शासन आज के युग में तो चल नहीं सकता। अर्थशक्ति और जनशक्ति जहाँ है वहाँ राष्ट्र की रक्षा भी की जा सकती है, पर जहाँ अर्थ और जन का अभाव है वहाँ स्वाधीनता की रक्षा भी कठिन है। अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो अर्थ और जनता को कम न करे, बल्कि उनको उपयुक्त बढ़ावा दे सके। मनुष्य राष्ट्र के लिए एक आर्थिक क्षति है, एक बाध्यता (लायबिलिटी) है और एक परिसम्पत्ति (ऐसेट) नहीं है। यह थियरी हमारी आधुनिक, किन्तु विकृत शिक्षा प्रणाली की देन है।

इस प्रकार मैंने प्रमुख रूप से केवल दो सुझाव दिये हैं,—एक तो शिक्षा को अँग्रेजी भाषा के माध्यम-रूप से

मुक्त करना और दूसरे शिक्षा में उत्पादक काम को दाखिल करना। असल में ये सुझाव दो नहीं हैं, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इनमें से एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आप यह कहेंगे कि तुम तो प्रच्छन्न रूप से बुनियादी शिक्षा की ही सिफारिश कर रहे हो। बेशक, मैं इस बात को मानता हूँ कि मैंने कुछ भी नया नहीं कहा है और जो कुछ मैंने राय दी है वह बुनियादी शिक्षा की ही सिफारिश है, पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं बुनियादी शिक्षा को सभी स्तर पर चाहता हूँ—केवल सात या आठ या पाँच वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा को बुनियादी शिक्षा नहीं बनाना चाहता।

आशा है कि कमीशन मेरे इन विचारों पर उतना विचार करेगा जितना कि उसकी राय में विचारणीय हो।

दयालचन्द्र सोनी

देवाली, उदयपुर

दूसरी चिट्ठी

महाशय,

गुजरात नयी तालीम संघ का ११ वां वार्षिक सम्मेलन दिनांक १,२ जनवरी १९६६ को विश्वमंगलम्—अनेरा (जि० साबरकाँठा) की संस्था में पू० श्री रविशंकर महाराज के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ था। उसके दो गुजराती प्रस्तावों के हिन्दी अनुवाद साथ में जोड़े जा रहे हैं।

प्रस्ताव न० ७ में बुनियादी संस्थाओं के गुजरात नयी तालीम संघ ने एक विशेष समिति-द्वारा जाँच की थी, उसका उल्लेख किया गया है। इस रिपोर्ट के आधार पर बुनियादी संस्थाओं की खामियाँ दुरुस्त करने की योजना हमारे संघ ने खादी कमीशन तथा गुजरात राज्य के शिक्षा-विभाग का सहकार प्राप्त करके बनायी है और आज अमल में लायी जा रही है। इस रचनात्मक योजना का नाम है—'घनिष्ठ नयी तालीम-योजना।'

प्रस्ताव न० ९, अंग्रेजी भाषा शिक्षा की नीति से सम्बन्ध रखता है। उसका भावार्थ अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी आजकल के वातावरण में विवादास्पद हो गया है। यह भारत देश के लिए और विशेषकर उसके विद्यार्थी वर्ग के लिए बहुत ही बड़ी कमनसीबी है।

मैं आपसे विनय के साथ अनुरोध करना चाहता हूँ कि अत्यन्त छोटे वय से अंग्रेजी की शिक्षा शुरू करने का और अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना देने का मोह देश में चल पड़ा है। इसको सही दिशा में मोड़ने में आप अपना सर्व प्रभाव खर्च करें और राष्ट्र को कायमी हानि से और प्रत्याघातों से बचा लें।

सेवक—

चीमनलाल प्रा० भट्ट

अध्यक्ष

गुजरात नयी तालीम संघ

संलग्न प्रस्ताव—७

देश में नयी तालीम का, जो काम चल रहा है वह दोषयुक्त और निकम्मा है, इस मतलब के उद्‌गार केन्द्र और राज्य सरकारों के जिम्मेदार मंत्रीगण और अधिकारीगण की ओर से सुनने में आते हैं। वे इस प्रकार की आलोचना करते रहते हैं, जैसे इस निष्फलता की जिम्मेदारी किसी और की हो। इसके प्रति यह सम्मेलन अत्यन्त खेद व्यक्त करता है। सम्मेलन मानता है कि बुनियादी तालीम की संस्थाओं में, जो दोष और त्रुटियाँ घुस गयी हैं उनकी जिम्मेदारी पूर्णतया सरकारी पदाधिकारियों और तंत्र की है। जिस तरह देश के प्रतिरक्षा मंत्री अथवा सेनापति युद्ध में पराजित होने पर तटस्थ बनकर ऐसी परिस्थिति की आलोचना करके सन्तुष्ट नहीं रह सकते; बल्कि परिस्थिति सुधारने के लिए अथक परिश्रम करने का उनका धर्म हो जाता है, उसी तरह शिक्षा-क्षेत्र की इस पराजय के बारे में तटस्थ आलोचना करना सरकारी पदाधिकारियों को शोभा नहीं देता है। उनको चाहिए कि इस पराजय को विजय में बदल देने का पुरुषार्थ करने में किसी प्रकार की न्यूनता न रहने दें।

विशेषतया सेवाभावी (अशासकीय) संस्थाओं की ओर से चलनेवाली नयी तालीम की पाठशालाएँ और अन्य शिक्षा संस्थाएँ ठीक सफल परिणाम बता रही हैं।

इस तथ्य के अलावा सरकार-द्वारा सचालित कई नयी तालीम की सस्थाएँ भी सफलता से चलती दिखाई देती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए सरकार के शिक्षा-तत्र के लिए इस प्रकार पराजय-स्वीकार के उद्गार निकालना अत्यन्त शोचनीय है।

बुनियादी शिक्षा-सस्थाओं में सुधार करने की गुजरात-नयी तालीम-सघ की 'घनिष्ठ योजना' को जो थोड़ा-बहुत सहकार मिला है उसका परिणाम उत्साहप्रद है, ऐसा यह सम्मेलन मानता है।

सम्मेलन मानता है कि बुनियादी शिक्षा के सचालन में जो त्रुटियाँ घुस गयी हैं, वे योजना के अन्तर्गत कोई दोष के कारण नहीं, बल्कि उनको चलानेवाले तत्र में रही हुई अश्रद्धा और कार्यकुशलता की कमी के कारण ही हैं, और ये सब 'घनिष्ठ योजना' जैसे रचनात्मक उपायों से इन्हें आसानी से दूर किया जा सकता है।

इसलिए सरकारी तत्र को निराशा और पराजय के स्वर छोड़कर रचनात्मक ढग से सारे देश में नयी तालीम के काम को सुधार कर मजबूत बुनियाद पर रखने का कार्यक्रम हाथ में लेना चाहिए, ऐसी इस सम्मेलन की सविनय सिफारिश है।

संलग्न प्रस्ताव—९

अंग्रेजी के बारे में गुजरात राज्य ने अपने प्रशासन के सभी स्तरों का काम गुजराती भाषा में चलाने का कदम गम्भीरता से उठाया है, इसलिए यह सम्मेलन बधाई देता है।

इससे लोगों के मन से अंग्रेजी का मोह कुछ अश में दूर होगा, ऐसी आशा सम्मेलन रखता है। अब सरकारी नौकरियों के लिए ली जानेवाली परीक्षाओं में अंग्रेजी के ऊपर बल देना तुरन्त बन्द कर देना चाहिए, ऐसी इस सम्मेलन की आग्रहपूर्ण माँग है।

देश में और गुजरात में भी बहुत लोग मोह में फँसी हुई प्रजा का लाभ उठाने के लिए प्रारम्भ से अंग्रेजी भाषा के माध्यम से चलनेवाली शालाएँ खोल रहे हैं। इसको यह सम्मेलन अत्यन्त उलटी दिशा की और प्रजाहित की घातक प्रवृत्ति मानता है।

अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अपर्याप्त रह जाने से गुजरात के विद्यार्थी नौकरी में पीछे रह जाते हैं, ऐसा जो तर्क उठाया जाता है वह तथ्य के विरुद्ध है। विद्यार्थियों को मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला है, और वे आसानी से अपने विषयों को समझ सकते हैं और दूसरों की अपेक्षा ज्ञान में अधिक प्रगति कर सकते हैं, ऐसा अनुभव सब जगह दिखाई देता है। इसके फलस्वरूप नौकरी में उनको लाभ ही मिलता है। इसके प्रति यह सम्मेलन गुजरात की जनता का ध्यान प्रेमपूर्वक खींचना चाहता है।

गुजरात में स्थापित होनेवाली नयी युनिवर्सिटियाँ मातृभाषा में ही शिक्षा प्रदान करने का आग्रह रखेंगी और पुरानी युनिवर्सिटियाँ भी प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त सारांश को स्वीकार करके विद्यार्थी का ज्ञान और समझने की शक्ति बढ़ा सकें, ऐसी हो अर्थात् मातृभाषा-द्वारा दी जानेवाली शिक्षा-पद्धति को स्वीकार करें, यह सम्मेलन उनसे विनयपूर्वक ऐसी प्रार्थना करता है। ●

लेखकों से

नयी तालीम का जून जुलाई-अंक विशेषांक के रूप में निकालने की बात सोची गयी है। विश्व तथा राष्ट्रीय विकास और शिक्षा। लेखकों से विशेष सहयोग का अनुरोध है।

—प्रधान सम्पादक

●

चिन्ता बढ़ती जा रही है

•

गुरुशरण

कल अमित की तीसरी साल-गिरह है। वह जैसे-जैसे बढ़ रहा है हम पति-पत्नी की चिन्ता दिन-दिन बढ़ती जा रही है। मेरा मानना है कि अभी उसके खाने-खेलने के दिन हैं। उसकी माँ और मौसी का कहना है कि उसे ढाई साल की उम्र से ही कन्वेण्ट स्कूल में पढ़ने चला जाना चाहिए था। मुझे लिखते देखकर वह लिखने का खेल करने लगा है। फाउण्टेनपेन लेकर कागज पर लड्डू बनाता है और कहता है अ··· था।

मेरा बचपन गाँव में बीता है। वे भी क्या दिन थे? वहाँ घने आमों की छाँव में 'कोड़ा जमाल शाई, पीछे देखे मार खाई' उड़ रही है, कभी आँख पर पट्टी बाँधे छुआ-छुई हो रही है। शाम हुई कि बस, बोल कबड्डी ताल-ताल, मेरी मूँछें लाल-लाल। हालांकि उस समय मूँछें आयी नहीं थी, फिर भी वैसे ही कहते रहते। पूरा गाँव परिवार-जैसा था। कोई काका, कोई ताऊ, कोई बाबा, कोई दादी। लँगोटिया यारों की जब याद आती है तो मन खुशियों से भर उठता है।

बचपन में सरदी, जुकाम, खाँसी मुझे तो कभी हुई ही नहीं और आज भी शरीर ऐसा है कि जाड़ा, गरमी, बरसात सब ऐसे ही कट जाते हैं। अमित महाशय, जिन्हें उनके बाबा बबलू कहा करते हैं, नहीं जानते कि नवाब कैसे होते हैं; पर वह रोज घर में सुना करते हैं 'पढ़ोगे लिखोगे होगे नवाब।' और मुझसे अपनी तोतली बोली में कहते हैं—'पापाजी हम नवाब हो गये?'
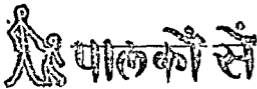
आज अगर लखनऊ, भोपाल, हैदराबाद जाकर पुराने नवाबों के घर देखे जायें तो उनके बच्चे काम करते और मेहनत-मजदूरी में लगे मिलेंगे। खुद नवाब साहब हाथ में झोला लिये बाजार में सब्जी खरीदते, बीते जमाने की दास्ताँ दूसरों को सुनाते मिलेंगे। कहेंगे कि "बदला है जमाने का रंग जमाने की हवा ने।" मैंने अपने छोटे-से इटावा शहर के चौराहे पर देखा है कि जिन रईसों के बड़े-बड़े बाग थे और जिनके यहाँ गाड़ियाँ भरकर आम आया करता था और टोकरी भर-भरकर मुहल्ले भर में बाँटा करते थे वही घटनों के लिए मोल-भाव करके चार पैसे के हरे आम खरीदा करते हैं। वे दिन हवा हुए, जब खलील मियाँ फाख्ता उड़ाया करते थे; लेकिन अफसोस है कि मेरे घर में आज भी अमित की माँ उसे मुहल्ले के बच्चों के बीच खेलते हुए पाकर उसे वहीं से कान पकड़कर लाती हैं और बसकर एक थप्पड़ रसीद करती हैं—इतना बड़ा हो गया, गन्दे लड़कों में खेलता है। धुली-धुलाई बुशशर्ट गन्दी कर दी। चल, बैठकर गिनती याद कर। वह उसे न खेलने देना चाहती है और न कोई घर का काम करने देना चाहती हैं। बस, चाहती हैं कि वह दिन-रात पढ़ता रहे। सुबह-शाम गिनती और ओलम याद करता रहे, पहाड़े घोटता रहे। हिन्दी के बजाय अँग्रेजी की नर्सरी राइम्स (प्रासगीत) सुनाता रहे 'ट्विंकिल ट्विंकिल लिटिल स्टार, हाऊ आई वण्डर ह्वाट यू आर।'

मैं प्रायः अमित के 'ह्वाट यू आर' पर चौंक पड़ता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि सारा घर, परिवार उसे 'एन अदर यू' बनाने की कोशिश में लगा हुआ है। मैं जब बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय में अध्यापक था तो मेरे एक छात्र ने मुझे एक सुन्दर फ्रेम में मढ़ी हुई पेंटिंग भेंट की थी। काले पेस्टल पेपर पर उसने मुरझाये फूलों को बिखराकर ऊपर एक तितली मारकर गोंद से लगा दी

थी और बगीचे में खिले ताजे फूल और चंचल तितलियों को देखकर वह सेरग भरे थे। इस चित्र को पाकर मुझे बहुत खिन्नता हुई। मेरे बचपन में घर पर ग्रामाफोन था। माँ को जब कोई भजन सुनना होता तो वह मेरे भाई-बहनों और पास-पड़ोस के मेरे नन्हे दोस्तों सब को बिठा लेती और कहती—हाथ जोड़ो। हम सब उनकी नकल करके झूम-झूमकर मीरा, सूरदास, नरसी मेहता आदि के भजन सुनते।

आज मेरे घर पर जब भी कोई मित्र या मेहमान आते हैं अमित की माँ ऊँचे से स्टूल पर अमित को बैठाकर कहती हैं—"हाँ, राजा बेटा अकल को सुनाओ तो ट्विंकिल ट्विंकिल " और वह भूलकर कह बह जाता है—"अकल अकल लिटिल स्टार" मित्र की पत्नी इस मजाक पर हँसने लगती हैं।

एक जमाना था कि योरप में मार-मारकर लेटिन और ग्रीक सिखायी जाती थी। चीन में कनफ्युशियस और रोम में होमर की कविताएँ जबरदस्ती रटायी जाती थी। अब इन देशों की मान्यताएँ बदल गयी हैं। वहाँ अब बालक को प्रौढ़ का छोटा रूप नहीं मानते और न प्रौढ़ता की तैयारी को बालक की शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। उन्होंने संगीत के एक ही सुर पर छड़ी लेकर लगातार ठोंक पीट को बन्दकर विविध सुरों को एक लय में बाँधकर नये जीवन-संगीत की शोध की है।

मैं अपने देश की तो नहीं जानता, पर अपने घर की बात जरूर जानता हूँ कि सवेरे-सवेरे ही अमित की पीठ पर धम-धम होती है, इस कल्पना से कि यह घण्टी सुनकर विद्यारानी छम-छम करती हुई उसके दिमाग में अवतरित होगी। मैंने इस मान्यता को बदलने की जब जब कोशिश की है मेरी अमित से दोस्ती पक्की होती गयी है। जब मैंने गिनती-ज्ञान के लिए शुरू-शुरू में उसे बताया कि 'आसमान में सूरज एक, नभ में चन्दा मामा एक' तो उसकी बड़ी जल्दी समझ में आ गया। फिर मैंने उसे 'गीत-गीत में गिनतियाँ' रंग बिरंगी छपी पुस्तक दे दी तो वह पढ़ना न जानते हुए पढ़ने का नाटक करता रहा। गाने की तरह वह दिन भर गाता रहा। बचपन तो गीतों का मौसम होता है। उनकी शब्द की अटकन को दूर करने के लिए बाजार से कुछ रंग बिरंगी तसवीर ले आए और उन तसवीरों के नाम उनके नीचे लिख दिये। इन बीस तसवीरों से बीस शब्दों की एक छोटी कहानी बन गयी। बिना अक्षर ज्ञान के वह तसवीर पहचानकर शब्द जान लेता और पूरी कहानी कह जाता। इन तसवीरों को एक कापी पर हम दोनों ने चिपकाया। अमितजी को यह किताब बड़ी प्यारी लगी, लेकिन दस-पाँच बार पढ़कर उनका मन भर गया। फिर मैंने एक-एक दिन उसमें एक-एक शब्द जोड़ना शुरू कर दिया और इस तरह उनकी कहानी की पुस्तक रबड़ की तरह खिंच-खिंचकर बढ़ती गयी। अब तो उन्हें सौ तक गिनती और वर्णमाला याद हो गयी है, पर स्कूल का नाम सुनते ही वह मिसकने लगते हैं और नहीं नहीं की रट शुरू हो जाती है। उनकी माँ ने सैकड़ों बार उनसे कहा है—"देखो, ज्यादा शरारत की तो स्कूल भेज दूँगी।" एक दिन घर की गाय खुल जाने पर वे मेरे साथ मवेशीखाने गये थे। वे स्कूल को भी कुछ वैसा ही बच्चा का कैदखाना समझते हैं।

अमितजी मेरी पहली सन्तान हैं। उन्होंने हम लोगों की दुनिया में आते ही पलने में हाथ पैर फटकारना शुरू किया तो हमने समझा कि करतब दिखा रहे हैं। वे तो इस तरह अपनी मांसपेशियाँ मजबूत कर अपने पर काबू पाने की कोशिश कर रहे थे। मैं उनकी इस नन्हीं उम्र में उनमें वैज्ञानिक का मस्तिष्क, कलाकार का हृदय और कारीगर की अँगुलियाँ पाता हूँ।

जब कभी मैं अमित को धूल में बैठे-बैठे पैर पर मिट्टी डालते और घर बनाते देखता हूँ तो लगता है कि इन्हीं दिवास्वप्नों ने पिरामिड, ताजमहल और अमेरिका की १२६ मंजिल ऊँची इमारतें बनाने की मानव को प्रेरणा दी है। मेरा मानना है कि अमित को खाने, पीने, सोने और कपड़े पहनने की तरह खेल भी जरूरी है। जिस प्रकार स्वाभाविक जल के प्रवाह को नहरों में डालकर खेतों तक पहुँचा देने से फसलें लहलहा उठती हैं, उसी तरह अमित और उनके दोस्तों की स्वाभाविक गति विधियों को श्रेष्ठ रूप देकर भावी भारत की आशाओं और अभिलाषाओं को लहलहाया जा सकता है। खेल और ज्ञान का अन्तर घट-घटकर मिटाया जा सकता है। ज्ञान ही खेल का पर्याय हो सकता है। बचपन से ही बच्चों में स्वतन्त्र विचार शक्ति का विकास हो सकता है।

गुरु नौकरी कर रहा है। शिष्य उसी नौकरी के लिए अभी एड़ी का पसीना चोटी पर चढ़ा रहा है। गुरु सुख से खाता-पीता नजर आता है, इधर शिष्य का भविष्य अन्धकार में है। गुरु ने जीवन में स्थिरता प्राप्त कर ली है।' उधर शिष्य का भविष्य बवण्डर में पड़ी पत्ती के समान उसे ले जाकर जाने कहाँ पर पटके! वास्तव में आज जब गुरु शिष्य दोनों नौकरी, अर्थ या जीविका के धरातल पर खड़े हैं तो गुरु की स्थिति शिष्य के लिए एक प्रतिद्वन्द्विता या चुनौती की है। यह वर्तमान हवा श्रद्धा की नहीं, खिंचाव की है; सेवा की नहीं, स्वार्थ की है; त्याग तपस्या अथवा सम्मान की नहीं, लेन-देन की है; इसीके फल को दुनिया के लोग अनुशासन-हीनता कहें अथवा शैक्षिक ह्रास। गुरु न वह पुराना गुरु है और न शिष्य प्राचीन काल का शिष्य। दोनों एकदम नये हैं। इसी कारण रामस्वरूपजी के सामने जब वह नया छात्र पुराने युग के छात्र की मुद्रा में खड़ा हो गया हो तो आश्चर्य होना स्वाभाविक था।

'संक्षेप में कहिए, क्या बात है? जरूरी काम कर रहा हूँ।' —रामस्वरूपजी ने कहा और पेंसिल किताब के बीच में रखकर उसे बन्द करते हुए टेबुल पर एक ओर सरका दी।

'आपसे क्षमा......माँ......ग......ने......।' छात्र पूरी बात नहीं कह सका। गला रुँध गया। किसी पश्चाताप के अधिक बोझ से उसकी आवाज बैठ गयी।

'क्या? कैसी क्षमा? यह कुरसी है। बैठ जाइए।'

'मुझे क्षमा कर दीजिए। बड़ी भारी गलती .....।'

छात्र टेबुल के पास फर्श पर बैठ कर रोने लगा। हिचकियों के बीच अश्रुधारा फूट पड़ी।

'यह क्या लड़कपन है? बैठो इस कुरसी पर और स्पष्ट रूप से कहो। मैं तो नहीं समझता कि तुमने कोई अपराध किया है।'

प्रोफेसर साहब ने उसे उठाकर कुरसी पर बिठा दिया। वास्तव में उनकी हैरानी की सीमा नहीं थी। उसका रोना बन्द ही नहीं होता था। अजीब लड़का है। उधर मानो बाँध टूट गया था। ऐंठन ढीली होकर गल रही थी। मैल धुल रहा था। अवचेतन मुक्त हो रहा था और नवजीवन की पवित्र भूमि पर पैर धीरे-धीरे टहलने लगे थे।

'आखिर कुछ बताओगे भी?'

'मास्टर साहब...।'—छात्र ने आँसे पोंछकर कहा।

'हाँ, सुन रहा हूँ।'

'आज सुबह... टहल कर आ रहे थे।..... हमलोगों का क्लास सुबह का होता है... मैं साइकिल से जा रहा था... आपने मेरी ओर एकबार देखा।'

'हाँ, तब?'

'साइकिल से उतरकर प्रणाम करना तो दूर .मैंने आपकी ओर देखा तक नहीं. जैसे आपकी-हमारी कभी की जान-पहचान नहीं ..जैसे अब मैं आपको कुछ नहीं समझता..जैसे अब मैं आपके बराबर तो क्या आप से बड़ा हो गया हूँ ..इस प्रकार मैं अपनी धुन में चला गया।'

'हाँ, तब?'

'मास्टर साहब यह आज ही नहीं, बराबर ही तो ऐसे होता है। सड़क पर, बाजार में, स्टेशन पर जहाँ कहीं आपको देखता हूँ, भगवान से निवेदन करता हूँ कि अन-पेक्षित सामना न हो जाय...कतराकर निकल जाता हूँ, एक झल्लाहट-सी होती है .... प्रणाम करने में अपनी हेठी-सी लगती है ..साथियों से कहता हूँ कि ये महाशय अपना शरीर सरे आम रास्ते में कभी-कभी खड़ा किये रहते हैं . आपके कान भले ही न सुनें, परन्तु कुछ साथियों के साथ रहने पर बगल से सर्र से निकल जाने पर हमारी जीभ आवाजें कसने में भी नहीं चूकती... कंजूस के धन की तरह हम अपने 'प्रणाम' को छिपाकर रखते हैं। यह गरदन पत्थर की तरह ऐसी कड़ी हो गयी है कि झुकने का कभी नाम नहीं लेती। क्या इस नीचता की कोई सीमा है? .. आज अबतक आप अपने मुँह से क्षमा प्रदान नहीं कर देते हैं मैं हिलने का नहीं... सुबह जबसे आपके वे उपकार याद आये हैं, मन अपने को धिक्कार रहा है। दो वर्षों तक अपने ज्ञान का अमृत पिला-पिलाकर मेरी आत्मा को पुष्ट किया। मुझे खड़ा होने लायक बनाया। मुझे याद है कि अक्तूबर के महीने में फीस के अभाव में मेरा नाम कट रहा था तो आपने अपने पास से फीस दी। उन दिनों जब नाटक का रात में अभ्यास होता था और अपने पुराने कम्बल के बीच मैं जाड़े के मारे मरता था तो आपने दस दिनों के लिए अपना एक कम्बल दे दिया। तब आपकी कुरसी के इर्द-गिर्द मुझे तीर्थ स्थानों की पवित्रता का भान होता था।

मैं सोच भी नहीं सकता कि इतना नीच कैसे हो गया ? यह उपेक्षा, अवहेलना की अशिष्टता कहाँ से आयी ? एक वर्ष में ही मैं क्यों इतना बदल गया ? वे सम्मान के भाव कहाँ गये ?. आप हमारे ऊपर कोधित होते होंगे . इतना ढीठ उस समय मैं नहीं था—क्या-क्या अण्ट-सण्ट बक रहा हूँ—सचमुच मैं बहुत नीच हूँ।"

"ठहरो, यह बताओ कि अचानक यह सब कैसे इतने दिनों बाद दिमाग में आया।"—रामस्वरूपजी बोले।

"आप की बगल से साइकिल निकालकर ऐंठता हुआ कालेज पहुँचा। आधा घण्टा लेट था। बर्नार्डशा पर प्रश्न चल रहा था। उनकी 'एण्टी रोमाण्टिक' विचारधारा पर मैंने ऐसा उत्तर दिया कि सभी चकित हो गये। मुझे अचरज था कि कैसे इतना सब कह गया।"

"हाँ, 'शा' पर तो कई दिन स्पेशल रूप से तुम्हें बताया था ? बहुत अच्छे ! सब तुम्हें याद रहा।"

'मैं एक-एक शब्द पी गया था ?"

"खैर, लो आज कोई विचार तो नहीं, पर चाय जरूर है। पिओ और क्षमा तुम्हें माँगना नहीं है। वास्तव में बालक या छात्र कभी अपराधी होते ही नहीं है।"

चाय आ गयी थी। रामस्वरूपजी ने छात्र की ओर प्याला बढ़ाया। सकोच के साथ उसे थामते हुए छात्र बोला—

"मगर मास्टर साहब, मेरा सन्ताप ज्यों-का-त्यों है। ऐसा लग रहा है कि मैं काफी परिश्रम करके भी कुछ पढ़ नहीं रहा हूँ। क्या हो गया है ? कौन-सी कमी मेरे भीतर आ गयी है ? अभी एक वर्ष पहले कैसी लगन और अध्ययनशीलता थी ! वह सब एकदम खोती-सी चली जा रही है। क्यों ?"

"अनुभव से स्वय समझ लोगे।"

"मगर देर लगेगी और तबतक कितनी हानि हो जायेगी।"

"तब दो चीजें तुम्हारे भीतर थी, अब नहीं है।"

"जरूर यह कोई महान कमी है, कृपा कर बताइए।"

"लेकिन दोनो युग-धर्म के विपरीत ह।"

"तो इससे क्या ? मैं व्यक्ति-धर्म में उन्हें उतारूँगा।"

"तो सुनो, पहली वस्तु है श्रद्धा और दूसरी है सेवा।"

●

लघु कथा

बिजूका

●

खलील जिब्रान

एक दिन मैंने एक बिजूके (आवारा पशु-पक्षियों से खेत की सुरक्षा के लिए लकड़ी का बनाया हुआ पुतला) से पूछा—"तुम इस वीरान खेत में खड़े-खड़े थक गये होगे ?"

उसने जवाब दिया—"जानवरों को डराने का मज़ा इस कदर भरपूर और मुस्तकिल है कि मुझे कभी थकान महसूस ही नहीं होती।"

मैंने एक पल सोचकर कहा—"यह सच है, क्योंकि मैंने भी इस किस्म के लुत्फ़ को महसूस किया है।"

उसने कहा—"हाँ, वही लोग, जिनके जिस्म में भुस भरा हो, इस किस्म के लुत्फ़ को महसूस कर सकते हैं।"

मैं यह सुनकर वहाँ से चल दिया, लेकिन मुझे यह खबर नहीं कि हकीकत में उसने मेरी तारीफ़ की या मेरा मज़ाक उड़ाया।

एक साल बीत गया और इस अरसे में वह बिजूका एक फिलसफी (दार्शनिक) बन चुका था; और जब मैं दूसरी बार उसके करीब से गुज़रा तो मैंने देखा कि उसके सर पर दो कौवों ने घोंसला बना रखा है।

●

वाँसुरी क वि शं क र कुरुप की

केरल का प्राकृतिक सौन्दर्य किसे नहीं मोह लेता ! उसी की गोद में पेरियार के नारिकेल-शोभित तट के समीप ही वसा हुआ है वायनाड़। इसी गाँव में ३ जून १९०१ को 'ओटक्कुपल' (वाँसुरी) के रचयिता शंकर 'कुरुप'-जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का जन्म हुआ। पिता का स्नेह बचपन में ही छिन गया। माँ ने लालन-पालन किया। अभी कुछ ही महीने पूर्व उनकी मृत्यु हुई है। कवि शंकर का निवास 'भद्रालयम्' पत्नी सुभद्रम्मा, पुत्र रवि और पुत्री राधा के स्नेह-सिक्त सहयोग से सदैव उत्प्रेरक वना रहता है। इस समय आप केरल-साहित्य समिति के अध्यक्ष हैं और 'तिलकम्' के सम्पादक भी। —शिरीष

भारतीय प्रतिमानों की प्रतिष्ठा

ज्ञानपीठ-पुरस्कार का महत्व इस बात में है कि यह केवल कृति-साहित्य पर दिया जायगा, शोध अथवा ज्ञान के साहित्य पर नहीं। दूसरे वह इसलिए भी महत्व का है कि वह सभी भारतीय भाषाओं को एक समान साहित्यिक मानदण्ड से मापने का प्रयत्न करता है, अलग-अलग भाषाओं को अलग-अलग प्रकार की रियायतें नहीं देता। ज्ञानपीठ मुख्यतया हिन्दी की और हिन्दी-क्षेत्र की संस्था है; इसलिए उसके द्वारा दिया गया यह पुरस्कार उस दायित्व के निर्वाह में पूर्णतया योग देता है, जो इतिहास ने हिन्दी को सौंपा है। मध्य देश की भाषा हिन्दी भारतीय संस्कृति की सभी धाराओं की वाहिका रही है और सभी अंचलों की प्रवृत्तियाँ हिन्दी में से छनकर दूसरे अंचलों में पहुँचती रही हैं। सभी भारतीय भाषाओं को एक ही मंच पर लाने और इस प्रकार भारतीय प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करने का काम हिन्दी के द्वारा सम्पन्न हो, यह सर्वथा उचित है। अन्य भाषाओं की उन्नति में हिन्दी का यह योग हिन्दी को भी सम्पन्नतर बनायेगा।'

—अज्ञेय

माँ कहाँ है ?

● शंकर

"कहाँ है, कहाँ है माँ ?
पिताजी ! आपकी आँखों से
क्यों बही जा रही है आँसुओं की धार
क्यों आप गालों को धो रहे हैं बार-बार ?"
—पूछ रहा है मुन्ना, इस तरह रो-रोकर
कि वज्र भी पिघल जाये !

लाल प्रवाल–जैसे होंठ प्रश्नाकुल हैं !
अस्त सागर के छोर पर पहुँचने के लिए
अत्यन्त उल्लास-विकल
सूर्य-शिशु
आह्लाद की किलकारियाँ भरता हुआ
निर्मल सन्ध्या के मनोरम आँचल को
बार-बार घसीटे जा रहा है !

दिनान्त हो गया है,
एक छोटा सितारा
अम्बर की ऊपरी मंजिल पर खड़ा है
अत्यन्त विपन्न और पीत-वर्ण,
क्योंकि
नहीं दिखाई दे रही है
कहीं भी उसे
अपनी माँ रात्रि !

वात्सल्य से विकल होकर
गोद में उठा लेने के लिए
जब आती है रात्रि
बाल-चन्द्र के साथ
तो सागर आनन्द-विह्वल होकर
लोट-पोट हो जाता है,

सिकताओं की प्रभापूर्ण शय्या पर !
भूमि और सागर के इन सभी प्रदेशों में
सदा ही माँ को खोजनेवाला बाल पवन
निराशा से पराभूत
और नितान्त दीन
बिलख-बिलख कर रो रहा है
"कहाँ है, कहाँ है माँ ?"

प्यारे मुन्ने !
तूने शोकाकुल होकर
जिस देवी को पुकारा है
वह तो स्वर्ग में निवास कर रही है,
देख तो,
वहाँ उसे कितने सारे नक्षत्रों को
निरन्तर पालना-पोसना है,
अपना प्यार देना है।

शंकर कुरुप : एक नदी

जि० शंकर कुरुप विकास और प्रगति के कवि हैं। वे तालाब की तरह कभी एक जगह नहीं ठहरे; बल्कि नदी की तरह नये-नये मैदानों में बहते रहे। ऐसी नदी की तरह, जो हर मैदान में अपनी चौड़ाई तथा गहराई बढ़ाती चलती है। कुछ लोग तो उन्हें 'कवियों का कवि' भी कहते हैं। असल में उन्हें 'मनुष्य का कवि' कहना उचित होगा; लेकिन वे पूर्व पाषाण काल के मनुष्य नहीं, वरन बीसवीं सदी के मनुष्य के कवि हैं, जिसने अपनी कहानी सभी क्षेत्रों में फिर से लिखी है और जो अन्तरिक्ष-युग में पदार्पण कर चुका है। —वेन्नी वासु पिल्लई

—साभार ज्ञानोदय से
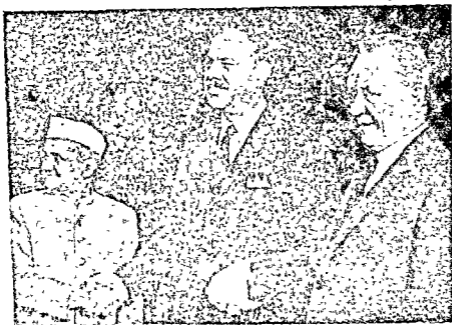
ताशकन्द-समझौता

जयप्रकाश नारायण

यह बड़ी खुशी की बात है कि जहाँ युद्ध के गीत गाये जाते थे, वहाँ आज शान्ति के गीत गाये जाते हैं। आप जानते हैं कि केवल तीन सप्ताह लड़ाई हुई। उसमें इस देश की क्या हालत हुई, और क्या हालत पाकिस्तान की हुई! तीन महीने लड़ाई चलती तो भगवान जाने क्या होता! हमारा एक बूँद पेट्रोल शायद नहीं रह जाता, न उनका रह जाता। फिर उसके बाद लड़ाई कैसे होती? और, कुछ और समय तक चलती तो शायद लाठियों से ही लड़ाई होती! उनका भी कारतूस खतम हो जाता और हमारा भी खतम हो जाता। क्या हमारे पास है, क्या उनके पास? भूखे, नंगे देश! और काहे के लिए लड़ाई हो रही है भगवान ही जानता है! लेकिन, शान्ति हो गयी।

अन्तिम लक्ष्य शान्ति

अब मैं आपसे इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि यह शान्ति रहे इसमें आपकी भी जिम्मेदारी है। हमारे देश में लोकतन्त्र है। जनता जो आवाज उठायेगी, अखबारों में इधर-उधर जो बातें कही जायेंगी, लोकसभा में जो कुछ लोग कहेंगे, उसका शासकों के ऊपर असर तो होगा ही। कुछ लोग इस देश में हैं, जो खास ढंग से सोचनेवाले हैं। वे कहते हैं कि भारत में सबको पेट भर खाने को अन्न भी देना चाहिए, पाकिस्तान के भी दाँत खट्टे कर देना चाहिए, लद्दाख-अक्साईचीन की एक-एक इंच धरती चीन से लड़कर ले लेनी चाहिए, एटम बम भी बना लेना चाहिए। अब सब कैसे हो जायगा, भगवान ही जाने। इनको गद्दी पर बिठा दीजिए, इसमें से एक काम भी कर सकेंगे कि नहीं, भगवान जाने! ये परस्पर विरोधी बातें हैं। यह देश नहीं कर सकता कि पेट भर हमको अनाज भी मिल जाय और ये सारा काम भी हम कर लें।

लेकिन, ऐसे लोग हैं, जो गैरजिम्मेदारी से बात करते हैं। वे अपना कहेंगे, प्रचार करेंगे, नारे लगायेंगे। इससे आम जनता का दिमाग साबित नहीं रहेगा, ठण्डा नहीं रहेगा। युद्ध और शान्ति इन दोनों के भेद आप नहीं समझेंगे, युद्ध कितना भी लम्बा हो। आखिर महाभारत

के १७ पर्व लिखने के बाद व्यास देव ने १८ वां पर्व कौन सा लिखा ? शान्ति पर्व लिखा। हर युद्ध के बाद शान्ति की ही स्थापना करने की कोशिश की जाती है। युद्ध से शान्ति नहीं होती है। युद्ध से युद्ध बढता है। युद्ध कितना भी हो, पाकिस्तान के साथ और चीन के साथ अन्त में शान्ति का ही मार्ग ढूंढना पडेगा, शान्ति का मानस तैयार करना पडेगा। इस बात का निश्चय करके चलना पडेगा कि इस भूखण्ड में, जिसमें पाकिस्तान और भारत है शान्ति रहेगी। शान्ति रहेगी तो कैसे रहेगी ? अगर भारत कहे कि हम जो कह रहे हैं वही पाकिस्तान को मानना चाहिए, वही चीन को मानना चाहिए। हमारा जो नक्शा है वही ठीक है। हमारी बात ही ठीक है। दूसरे की बात सोलह आने गलत है और शान्ति तभी हो सकती है जब हमारी बात दूसरा मान ले। इस तरह कभी शान्ति नहीं हो सकती। अगर शान्ति चाहते हैं— दो गांवों में, दो घरानों में, दो पट्टीदारों में दो परिवारों में, जहां लडाई हो रही है मुकदमबाजी हो रही है, तो यह तभी सम्भव है जब एक दूसरेकी बात मान ले और कह दे कि हमारी ही गलती थी। हाथ मिलाना होगा दूसरों से यह कहकर कि माफ कर दीजिए, माफ कर दीजिए।

हाजीपीर के नाम पर हंगामा क्यों ?

इसके लिए हमको तैयार रहना चाहिए कि अगर शान्ति होगी तो एक ही तरह से हो सकती है कि कुछ हमको छोडना पडेगा, कुछ उनको छोडना पडेगा। कुछ हमको दबना पडेगा, कुछ उनको दबना पडेगा। चाहे वे कोई हों चीनवाले हों, या पाकिस्तानवाले। ये कभी सम्भव नहीं है कि हम जो कहे उसी के ऊपर शान्ति कायम रहे। अब अगर जनता का मानस इसके लिए तैयार नहीं रहता तो यह कैसे होगा ? एक इंच धरती छोड दी गयी। बस, काली झण्डी वहां दिखायी जाय, तय हो गया। आवाज आने लगती है—कितना बडा धोखा हो गया, गद्दारी हो गयी, देश के साथ द्रोह हो गया, जैसाकि कुछ लोग कह रहे हैं।

ताशकन्द की घोषणा में लिखा है कि हाजीपीर से वापस आयेंगे और वापस आ भी रहे हैं। अब इसको लेकर हंगामा है कि यह क्या बात है ? क्या हम पीछे आ रहे हैं ? तो हाजीपीर हम गये थे किस लिए ? आपके ध्यान में है कि भारत की सेना हाजीपीर किसलिए गयी थी ? इसलिए नहीं गयी थी कि वह इलाका जीतकर भारत में मिला लेंगे और उसको फिर कभी छोडेंगे नहीं। हम युद्धविराम रेखा के आगे इसलिए गये थे कि जिन घाटियों से घुसपैठिए आते रहे हैं उन घाटियों पर कब्जा करके आगे के लिए घुसपैठ बन्द करादें, और लाल-बहादुर शास्त्रीजी ने कहा था कि हाजीपीर से कदम कभी पीछे नहीं हटायेंगे, जबतक इस बात का भरोसा न हो जाय कि आगे फिर घुसपैठ नहीं होगी। यह बात ताशकन्द के घोषणा पत्र में पूरी हुई।

ताशकन्द घोषणा में यह शर्त पूरी हुई कि आगे एक दूसरे के मामले में कोई दखल नहीं देगा और एक दूसरे के खिलाफ बल का प्रयोग नहीं करेगा। आगे पाकिस्तान की तरफ से घुसपैठ नहीं होगी। यह शर्त पूरी होती है। इसी उद्देश्य के लिए गये थे। इस उद्देश्य की पूर्ति हो गयी इसलिए हाजीपीर से वापिस आ रहे हैं।

नारा शान्ति का, प्रयास अशान्ति का, नहीं चलेगा

अगर भारत कहता कि हम हाजीपीर से वापस नहीं आयेंगे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह समझौता नहीं होता। अय्यूब खां कभी दस्तखत नहीं करते, तो समझौता नहीं होता। रूस भी किसको कहता कि तुम्हारा दोष है। एक रूस की मदद से कश्मीर का मुकदमा संयुक्त-राष्ट्रसंघ में कायम है, नहीं तो फैसला भारत के खिलाफ कबका हो गया होता। जब जब प्रस्ताव आता है रूस वीटो कर देता है याने नकार देता है, तब प्रस्ताव पास नहीं हो पाता। बराबर भारत का समर्थन किया उसने और उसकी वजह से भारत की लाज बाकी है दुनिया में। अब कोसिगिन के मनाने के बाद भी कहते लालबहादुर शास्त्री कि नहीं साहब एक इंच धरती से हम लौटनेवाले नहीं हैं तो क्या कहता कोसिगिन ? अच्छी बात है, अब हम तुम्हारी मदद नहीं करेंगे बाबा। तुम हिन्दुस्तानवाले शान्ति शान्ति का इतना नारा लगाते हो और अब शान्ति के लिए इतना भी त्याग करने को तैयार नहीं हो, जो त्याग भी नहीं है। तुम्हारी शर्त भी पूरी हो रही है और फिर भी यह करने को तैयार नहीं हो, तो ठीक है।

इतिहास के नये पृष्ठ का सौ-सौ स्वागत

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षापरिषद में पाकिस्तान जाता तो जानते हैं क्या पास होता? मैं यह कोई बनावटी बात नहीं कह रहा हूँ, यह बात कोसिगेन की तरफ से कही गयी। वहाँ यह प्रस्ताव पास होता कि भारत को युद्धविराम-रेखा से जितना आगे बढा है, वापस जाना चाहिए। वीटो नहीं होता रूस का। प्रस्ताव पास हो जाता तो संयुक्तराष्ट्र संघ के हुक्म के खिलाफ भारत जाता? और अगर जाने की सोचता तो क्या दुनिया में टिक सकता? यह भूखा-नंगा देश, जिसे भर पेट अनाज भी नहीं खाने को मिलता, खडा रह सकता? अमेरिका से अनाज, आस्ट्रेलिया से अनाज, कहाँ-कहाँ से अनाज आता है। रूस मदद करता है, कहाँ-कहाँ से मदद मिलती है तो हम किसी तरह देश को चला रहे हैं, और फिर संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुकाबला करके हम कैसे खडे रह पाते? अब इसके क्या माने कि काली झण्डियाँ दिखा रहे हैं और कह रहे हैं कि गद्दारी हो गयी। अरे बाबा, कितने सौभाग्य की बात है कि भारत पाकिस्तान इन दोनों पडोसियों के लिए ताशकन्द-समझौता ने आपस में मेल-मिलाप के लिए स्वर्ण अवसर पैदा कर दिया, जो गत १८ वर्षों में नहीं हो पाया था, वह बाधा भी दूर हो गयी। एक नया परिच्छेद, एक नया पन्ना उलटा गया है भारत-पाकिस्तान के सम्बन्धों के बीच। आज सारे देश की जनता को एक स्वर होकर इसका स्वागत करना चाहिए। खुशी की बात है कि वहाँ जयपुर में ताशकन्द के समझौते का समर्थन कांग्रेस ने कर दिया है, लेकिन वह कोई बडी बात नहीं है।

हमारे ये समाजवादी नेता!

हम दुःखी हैं कि हमारे समाजवादी नेता, हमारे साथी सुरेन्द्र द्विवेदी ने करीब-करीब वही बात कही है, जो अटलबिहारीजी वाजपेयी ने कही है। हमारे एस० एस० पी० के लोगों ने—लोहियाजी ने, मधुलिमये ने उसी तरह की बातें कीं। बाबा क्या है तुम्हारा यह समाजवाद? इस तरह का तुम्हारा संकीर्ण राष्ट्रवाद है! आक्रमणकारी राष्ट्रवाद है। यह है क्या? इसको हम क्यों नहीं समाजवाद कहते। ये हमारे साथी भाग बहक गये हैं। इन्होंने समझ लिया है कि जनता भेड-बकरी है। हम नारा देंगे राष्ट्रवाद का, देश की पवित्र धरती एक-एक इंच छीन लेंगे, इस तरह के नारे लगायेंगे, जनता हमको वोट देगी। इस तरह कांग्रेस हार जायगी, सोशलिस्ट पार्टी जीत जायगी, तो ये धोखे में हैं। भारत की जनता ऐसी बेवकूफ नहीं है, इतनी मूर्ख नहीं है, अगले चुनाव में पता लग जायगा। अगर इस ताशकन्द की बात को लेकर हमारे इन भाइयों ने आगे बढ़ना चाहा और इसको फैलाना चाहा तो जनता जरूर जवाब देगी अगले चुनाव में।

राष्ट्र दो और लोग एक

१८ वर्ष के बाद पहला ऐसा स्वर्ण अवसर आया है, जब सारा इतिहास बदल सकता है। हमारे देश के अन्दर, उनके देश के अन्दर आन्तरिक परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, हमारे दोनों के सम्बन्ध बदल सकते हैं। आखिर देश एक ही है न! टुकडा तो हो गया। क्या टुकडा हो गया? उस इतिहास को जाने दीजिए। देश तो एक है, हम एक ही लोग हैं, दो राष्ट्र हो गये हैं। एक हमारा पाकिस्तानी मित्र है। उसने कहा कि 'वी आर टू नेशंस बट वन पीपुल'। बहुत अच्छी बात कही उसने। दो राष्ट्र हम भले ही हैं, लेकिन लोग एक ही हैं। 'वी आर वन पीपुल'। अब पश्चिम बंगाल में और पूरब बंगाल में, क्या फर्क है? उनकी संस्कृति में, खान-पान में, भाषा में क्या फर्क है? पश्चिम पंजाब में और पूर्वी पंजाब में क्या फर्क है? एक ही लोग तो हैं।

इस सिलसिले में एक बात आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि आज दुनिया में शान्ति रह सके, चाहे भारत-पाकिस्तान की शान्ति हो, चाहे और कोई—उसके लिए एक साधन अन्तर्राष्ट्रीय कायम है, जिसको संयुक्त-राष्ट्रसंघ कहते हैं। मेरी अपील है कि उसकी जानकारी होनी चाहिए। यह एक ऐसा संगठन है, जो चाहता है कि अब दुनिया में युद्ध न हो, झगडे शान्ति से हल हों। संयुक्त राष्ट्रसंघ का हाथ कमजोर न हो, इसका प्रयत्न हमें करना है। साथ ही उसके दोषों को दूर करने की कोशिश भी की जाय। इसके लिए भी अध्ययन हो, चर्चा हो तथा कार्य हो। ●

—जयप्रकाश नगर (बलिया) के भाषण से।

ताशकंद और हम

● राममूर्ति

ताशकन्द समझौते से कुछ लोग बहुत खुश हैं, कुछ बहुत नाराज। लेकिन, चिन्तित दोना हैं। इसके अलावा देश में करोड़ो-करोड़ लोग ऐसे हैं, जिन्हें मालूम ही नहीं कि किस बात को लेकर इतनी खुशी और नाराजगी जाहिर की जा रही है।

वे सोचते ही नहीं कि उनकी खुशी और नाराजगी का ताशकन्द से भी कोई सम्बन्ध है। सोचने की बात है कि इस ताशकंद समझौते में क्या है, जिसने कुछ को खुश और कुछ को नाराज किया है?

जो खुश हैं वे यह सोचकर खुश हैं कि किसी तरह पडोसियों की लडाई खत्म हुई, क्योंकि यह लड़ाई हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दोनों में से किसी के लिए अच्छी नहीं थी। उनके और हमारे पास है क्या कि हम दोनों लडाई की बात सोचें? आदमी, पैसे और सामान की दृष्टि से लडाई इतनी खर्चीली है कि बडे बडे देश भी घर-फूंक-तमाशा देखने की हिम्मत नहीं कर सकते। एक ओर दोनों देशों ने सिर्फ इक्कीस दिन की लड़ाई में ४५ अरब रुपया खर्च किया और हजारों आदमियों की जान गवायी, जिनकी कीमत रुपये में आँकी नहीं जा सकती, और दूसरी ओर चीन हम दोनों की नासमझी से अपना उल्लू सीधा करने की ताक में था।

ताशकन्द समझौते से पड़ोसियों को सुलह के साथ रहने और बन्दूक की लड़ाई की जगह गरीबी से लड़ने का रास्ता खुल गया, इसलिए जो शान्ति और सुलह पसन्द करते हैं वे खुश हैं। वे कहते हैं—देखो, पाकिस्तान ने दुनिया के सामने वादा किया है कि अब वह हमारे घरेलू मामलों में दखल नहीं देगा। हमारे और उसके बीच जो भी मामले हैं उनके निबटारे के लिए हथियार नहीं उठायेगा, बल्कि बैठकर बातचीत करेगा और शान्ति के साथ निबटायेगा। तीसरे, कश्मीर में वह हमारी हद में नहीं घुसेगा और हम उसकी ओर नहीं घुसेंगे। पाकिस्तान को कश्मीर लेने की कितनी जिद है, फिर भी उसे लड़ाई न करने की बात कहनी पड़ी। कहाँ रही उसकी जिद? रूस के सामने मानी हुई शर्तों को अगर पाकिस्तान तोड़ेगा तो दुनिया के सामने दोषी साबित होगा।

समझौते के समर्थकों की निगाह में इससे बढ़कर सम्मान की दूसरी क्या शर्तें हो सकती थीं, जिन्हें पाकिस्तान मानता और जब उसने ये शर्तें मान लीं तो भारत क्या कहकर हाजीपीर, कारगिल और लाहौर के इलाकों को अपने पास रखता? और क्या पाकिस्तान हमारे छम्ब और राजस्थान के इलाकों को अपने पास रखता? जबरदस्ती लड़ाई भले ही चले और चलती ही है, लेकिन अगर बराबर चलती रहे तो सुलह कैसे होगी? और लड़ाई के बाद सुलह नहीं होगी तो और क्या होगा? इस दृष्टि से सुलह ने दुनिया में भारत की इज्जत बढ़ायी है, और यह साबित हो गया कि भारत झगड़ा नहीं चाहता, और उसे हथियार विवश होकर अपनी रक्षा के लिए उठाना पड़ा था।

इन बातों के खिलाफ, जो समझौते से नाराज हैं उनका यह कहना है कि समझौता करके हमने बड़ा खतरा मोल लिया है। पाकिस्तान की बातों का क्या भरोसा? वह अपनी जगह वापस पा गया और भारत की फौजें पाकिस्तान की भूमि से अलग भी हो गयीं। हमने क्या पाया? सुलह करने में यही तो उसकी चाल थी। जहाँ तक कश्मीर का सवाल है वह कहता ही आ रहा है कि जबतक कश्मीर का सवाल नहीं हल होगा तबतक शान्ति नहीं होगी। इसका यह मतलब है कि कश्मीर को लेकर झगड़े की गुंजाइश बनी ही रहेगी।

पाकिस्तान बात करेगा, लेकिन जब बात से कश्मीर का मसला नहीं हल होगा तो क्या गारण्टी है कि वह

हथियार नहीं उठायेगा, और कौन जानता है कि उसका, चीन और दूसरे देशों का क्या रुख हो? इसलिए विरोधियों का कहना है कि हाजीपीर आदि जगहें देकर भारत ने अपना हाथ कटवा दिया है और जिसे वह शान्ति समझ रहा है वह सचमुच पाकिस्तान की चाल है, जिसे भारत ने समझा नहीं और देश की रक्षा की दृष्टि से बहुत बड़ी भूल कर बैठा है।

समझौते से, जो खुश हैं उन्हें यह चिन्ता है कि वहीं ऐसा न हो कि किसी जरा-सी बात को लेकर फिर किरकिरी पड़ जाय और फिर दोनों देश एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जायें। जो नाराज हैं वे इसलिए चिन्तित हैं कि मालूम नहीं पाकिस्तान अकेले या चीन के साथ मिलकर क्या शरारत करे और भारत को न जाने किस जबरदस्त सामना करना पड़ जाय?

दोनों में से किसी की चिन्ता बिलकुल बेकार है, ऐसा कहना कठिन है। अगर कोई कहे कि दुनिया की हालत जो है और राजनीति में जिस तरह धामाधड़ी चल रही है उसे देखते हुए कोई किस वक्त क्या करेगा इस का कोई ठिकाना नहीं, तो उसकी बात मान ली जा सकती

कितनी आला[1] जर्फ[2] निकली सरज़मीने[3] ताशकन्द,
एक दिल की बात दो अह्ले नज़र[4] में रह गयी।
एशिया में थी लड़ाई एशिया में तय हुई,
शुक्र करता हूँ कि घर की बात घर में रह गयी॥
सारे शोले[5] प्रेम के साँचे में ढलकर रह गये,
जंग के अगारे[6] फूलों में बदलकर रह गये।
एक ही शह[7] में उलटकर रह गयी खूनी बिसात,[8]
चालिये सब अपनी-अपनी चाल चल कर रह गये॥
हल करेंगे बैठकर आपस में अपनी मुश्किलात[9]
दूसरों के घर न जाने देंगे अपने घर की बात।
फूटने तो दीजिये खुरशीद[10] की पहली किरन,
लेके हिचकी आप अपनी मौत मर जायेगी रात॥
वो हमारी हो कि उनकी, सबकी मुश्किल एक है,
काफिले दो हैं, मगर दोनों की मंजिल एक है।
सब हैं बेचैन एक मरकज़[11] पर पहुँचने के लिए,
दिल धड़कते हैं करोड़ों मकसदे[12] दिल एक है॥
जग जिससे मात खाकर रह गयी वो गुफ्तगू[13]
सारी दुनिया में करेगी हमको इक दिन सुर्खरू[14]
दस्तखत तो करनेवाला करके दुनिया से गया,
अब हमें रखना है उसके दस्तखत की आबरू॥
आये दिन मिलते रहें आपस की मिल्लत ज़िन्दाबाद।
दोनों देश और दोनों देशों की मुहब्बत ज़िन्दाबाद॥

नज़ीर बनारसी

१—उच्च, २—योग्यता, ३—विशेष भूमि, ४—दृष्टिवान ५—अग्निज्वाला, ६—अग्निखण्ड, ७—शतरंज की हद, ८—शतरंज का बस्ता। ९—कठिनाइयाँ, १०—सूर्य, ११—केन्द्र, १२—उद्देश्य, १३—वार्तालाप, १४—सफल, सम्मानित।

है। लेकिन, आखिर यह भी कैसे कहा जा सकता है कि एक बार झगड़ा हो गया तो हम झगड़े को बनाये रखेंगे और यह सोचकर कि दुश्मन दुश्मन है किसी हालत में हम उसके साथ सुलह नहीं करेंगे। दुनिया के दो सबसे बड़े देशों में से एक को साक्षी रखकर सुलह हुई है। शायद ही कभी कोई सुलह इससे बड़ी साक्षी में हुई है। रूस ने इस सुलह की पुरोहिती की है, और अमेरिका ने आशीर्वाद दिया है। इसका यह अर्थ है कि दोनों की नजर में अब पाकिस्तान का यह कहने का मुँह नहीं रह गया है कि कश्मीर में नये सिरे से मत-गणना (प्लेबिसिट) होनी चाहिए या इसलिए कि कश्मीर में मुसलमान अधिक हैं उसपर पाकिस्तान का कोई विशेष हक है, जो भारत का नहीं है।

पाकिस्तान ने कश्मीर का नाम लेकर लड़ने का हक खोया है और भारत ने कश्मीर को मिलाकर उसे साथ रखने का मौका पाया है। यह बात सुलह की शर्तों में लिखी हुई नहीं है, लेकिन अब दुनिया की नजरों में इतनी साफ हो गयी है कि उससे इनकार करना पाकिस्तान के लिए सम्भव नहीं है। ऐसी हालत में हमें पाकिस्तान

से कनई डर नहीं होना चाहिए। आखिर, कोई यह तो कहता नहीं कि अब सुलह हो गयी, इसलिए हम अपनी सेना तोड दें और चादर तानकर सो जायें और मित्रता के मीठे सपने देखते रहें।

होशियारी रखते हुए भी हमारी दो चिन्ताएँ होनी चाहिए। पहली यह कि सुलह कैसे बनी रहे और दोनों देशों की जनता एक दूसरे के करीब कैसे आये? हमें यह मानकर चलना चाहिए कि जनता बहुत दिनों तक लड़ाई के बुखार में नहीं रह सकती। इसलिए दोस्त बनकर रहने के नये तरीके ढूँढने चाहिए। हाला कि आना-जाना, कला और संस्कृति, आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं, जिनमें एक को दूसरे की जरूरत है। इन पहलुओं को ज्यादा-से-ज्यादा बढ़ाने की जरूरत है।

दूसरी बात, जो इससे अधिक महत्त्व की है वह यह है कि कश्मीर की ऐसी व्यवस्था की जाय, जिसमें वहाँ की जनता यानी लद्दाख के बौद्ध श्रीनगर घाटी के मुसलमान और जम्मू के हिन्दू सब सन्तुष्ट रहें। अगर हम कश्मीर को अपना मानते हैं तो हमें वहाँ की जनता को सन्तोष देने की जिम्मेदारी भी स्वीकार करनी पडेगी। अगर हम कश्मीरियों को अपना मानते हैं तो ऐसी हालत पैदा होनी चाहिए कि कश्मीरी भी हमें अपना मानें। हम यह नहीं कह सकते कि अगर हम तुम्हें अपना मानते हैं तो तुम्हें भी हमें अपना मानना ही पडेगा। 'पडेगा' की भाषा से हम किसी को अपना नहीं बना सकते, और जो पहले से हमारे हैं उन्हें भी हम खो बैठेंगे।

आज की दुनिया में हर एक इज्जत चाहता है, आजादी चाहता है। क्यों कश्मीरियों के मन में यह शंका पैदा होने दी जाय कि हमारे साथ रहने में उनकी इज्जत, या आजादी में बट्टा पड़ने का अन्देशा है। इसके लिए अब हमें सरकार से अलग हटकर स्वयं जनता से बात करनी चाहिए और अगर जनता शेख अब्दुल्ला को मानती है तो उनसे भी आदरपूर्वक बात करनी चाहिए। अगर हम भारत को अखण्ड रखना चाहते हैं तो हमें उसकी विविधता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। भारतमाता की गोद इतनी विशाल होनी चाहिए कि क्या कश्मीर और क्या नगालैण्ड, हर एक को उसमें अपना स्थान दिखायी दे। जो सवाल प्रेम और धैर्य से हल हो सकते हैं, उन्हें बिला वजह हम त्योरी चढ़ाकर बिगाडें न।

अब कश्मीर का सवाल कश्मीरियों के साथ बैठकर हमें हल करना है। कश्मीर पाकिस्तान का नहीं, हमारा सवाल है। ताशकन्द ने हमें बहुत बडा मौका दिया है। हम यह मान लें कि अगर हम इस मौके का लाभ उठाकर सम्मान के भूखे कश्मीरियों को मौका देंगे तो वे जरूर हमारे साथ रहना पसन्द करेंगे, बशर्ते हम और वे मिलकर ऐसी व्यवस्था सोच लें, जिसमें हम दोनों की एकता के साथ साथ उनकी 'इज्जत' भी बनी रहे।

ताशकन्द ने पाकिस्तान और चीन के गठबन्धन को लगभग तोड दिया है और हमारे और कश्मीर के बीच से पाकिस्तान को भी अलग कर दिया है अब हम हैं, और कश्मीरी हैं। दोनों के समझ-बूझकर साथ रहने में रुकावट नहीं होनी चाहिए, लेकिन पहल हमें करनी पडेगी। कश्मीर हमारी धर्म-निरपेक्षता और उदार लोकतंत्र के भविष्य की कुंजी बन गया है। ताशकन्द ने वह कुंजी हमारे हाथ में रख दी है। ●

ताशकन्द-समझौता न टिके तो?

एक एडवोकेट भाई ने मुझसे पूछा कि 'इस समझौते का भरोसा क्या? इससे पहले भी पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच समझौते हुए थे, लेकिन वे टिके नहीं, वे टूटे हैं, तो इसका भी क्या भरोसा? हमको तो अपने पर ही अपनी ताकत पर ही भरोसा रखना चाहिए।'

इसमें कोई शक नहीं कि अपने देश की ताकत हमको कायम रखनी चाहिए, उसे बढ़ाना भी चाहिए। लेकिन हमें यह भी समझना चाहिए कि ताकत का मतलब क्या है? हमारे सारे देश में हिन्दू, मुसलमान, सिख वगैरह तमाम जमातें हैं। व अगर आपस में लड़ती रहीं तो हमारी कोई ताकत पैदा नहीं होगी।

और जब तक पूरी सुलह नहीं होगी, तब तक सरक्षण-शक्ति भी रहेगी। गाफिल होने की बात नहीं है। हमें सावधानता कायम रखनी है। —विनोबा

छोटे बालकों के खेल–२

•

जुगतराम दवे

बालवाडी के बालकों का जो अनुभव हम है, उससे पता चलता है कि टुकडियों में बँटकर खेलने का आनन्द बालक छह-सात साल की उम्र में ही लूट सकते हैं। इससे कम उम्र में बालकों को टोलियों में बँधने और उनके साथ मिलें रहने से अच्छा नहीं लगता। यद्यपि पहले लेख में दिये गये खेलों से बल-बल और खींचा-तानी के तत्त्वों को बहुत कुछ हटा दिया गया है, फिर भी उनमें बालकों को काफी दौडना-भागना और जोर लगाना पडता है। चार-पाँच साल की उम्र के बालकों में अपना बल और अपनी चातुरी दिखाने का उतना शौक पैदा नहीं हो पाता। इसके लिए इस उम्र में उनके शरीर का पूरा विकास नहीं हुआ रहता। हाथ-पैर आदि अपने अवयवों पर भी उनका इतना काबू नहीं होता। अतएव उनका मन इस तरह काम नहीं कर पाता कि धक्का लगने पर वे उसका मजबूती से मुकाबला कर सकें और स्वयं अपनी ओर से धक्का मार सकें, उलटे उनके मन में गिर जाने या चोट खा जाने का डर बना रहता है। इसलिए जब इस प्रकार के खेल चलते हैं, तो वे उनमें से हट जाना चाहते हैं और अगर उनके इस रुख को न समझकर हम उन्हें जबरदस्ती खेल में खडा करते हैं, तो उनका मन नाराज हो जाता है, वे किसी-न-किसी बहाने हटना चाहते हैं और जब ज्यादा जोर पडता है, तो अक्सर रो देते हैं।

कम उम्र के बालकों का खेल

चार साल से कम उम्र के बालकों में इस डर और घबराहट का असर बहुत ही साफ दिखाई पडता है। इसलिए ३,४,५ साल की उम्र के बालकों के लिए खेल के दूसरे ही प्रकारों और साधनों की खोज करनी चाहिए।

पहली चीज तो यह है कि उनके खेल ऐसे होने चाहिए, जिन्हें बालक अकेले-अकेले खेल सकें, या दो मिलकर अथवा अधिक-से-अधिक तीन एकसाथ होकर खेल सकें। इस उम्र के बालक इससे बडी टोली या टुकडी को सह नहीं सकेंगे।

इन छोटे बालकों में किसी हद तक दौडने की ताकत आ चुकी होती है और कुछ समय के लिए दौडना-कूदना उन्हें अच्छा भी लग सकता है, लेकिन इन सब में वे दिलचस्पी तभी ले सकेंगे, जब उन्हें अकेले-अकेले दौडने को मिलेगा और दूसरों से टकरा जाने या उनके द्वारा गिराये जाने का कोई डर उनके सामने न होगा।

इस उम्र में बालक दौडने की मौज के लिए भी दौडता रहता है; लेकिन इस दौड में खेलने का रस बढाने की जरूरत होती है, जिसके लिए बालक के सामने कुछ-न-कुछ सादे साधन रखने होते हैं।

१. गाडी दौडाने का खेल

यदि हम बालक को नारियल की नरेटी, डिब्बा या पटिये का कोई टुकडा दें और उसमें छेद करके उसे रस्सी से बाँध दें, तो उसे गाडी दौडाने का एक खेल मिल जायगा और थककर चूर होने तक वह इस खेल को बिना ऊबे खेलता रहेगा।

तिकोने या पचकोने आकार के पटिये में छेद करके और उसमें डोर बाँधकर गाडी बना दी जाय, तो बालक अधिक खुश रहेगा और अगर पटिये में दोनो ओर छोटे पहिये लगवा दिये जायें, तो गाडी का खेल खेलने में उसका उत्साह और भी बढ जायेगा।

२. घोड़ा दौड़ाने का खेल

इसी तरह घोडा-दौडाने का खेल भी एक ऐसा खेल है, जिसे ३-४ साल की उम्र के बालकों को अकेले-अकेले खेलने में बहुत मजा आता है। इसके लिए सिर्फ एक डण्डे या लाठी की जरूरत होती है। बालक उसे अपनी दो टाँगो के बीच रखकर घोडा दौडाता रहेगा और दूसरे हाथ मे एकाध सरकट लेकर उसे चाबुक की तरह चलायेगा। कोई अधिक नाटकीय वृत्तिवाला बालक होगा, तो जबतक उसके सरकट के छोर पर डोर बाँधकर उसे सच्चे चाबुक का रूप नही दिया जायगा, तबतक उसे घोडे का यह खेल खेलने का सन्तोष नही होगा। इस खेल में दोनो टाँगो के बीच लाठी पकडकर घोडे की तरह ऊँचा-नीचा होकर जिस तरह दौडा जाता है, वह एकबार बालक को दिखा देना होगा और उसे घोडा दौडाने में एक-दो मत्र भी सिखा देने होगे—जैसे,'तबडक तबडक, तबडक !' अथवा 'चल मेरे घोडे, चल-चल-चल !'

खेल में और अधिक रस पैदा करने के लिए बालक अपने घोडे को किसी काल्पनिक नदी के किनारे ले जाकर उसे पानी पिलायगा अथवा अपनी कल्पना के किसी मैदान मे उसे चारा चरने के लिए छोड देगा।

गाडी और घोडे के ये दोनो खेल ऐसे है, जिनमे बालक को दूसरे किसी साथी की जरूरत नही पडती। वे इन्हें अकेले खेल सकते है। धीमा बालक, उतावला बालक, सभी अपनी-अपनी चाल के हिसाब से खेल सकते हैं, अपनी रुचि के अनुसार उसमें नाटकीयता की वृद्धि कर सकते है और सब अपनी-अपनी मरजी के अनुसार जब चाहें तब खेलना बन्द भी कर सकते हैं।

इस तरह इस खेल में बालक को साथियो की जरूरत नही पडती, फिर भी एकसाथ कई बालक अपने-अपने घोडो या गाडियो को लेकर मैदान मे उतर पडते हैं, तो खेल का रग जम जाता है एक हवा-सी बन जाती है।

इसमें सब बालकों को एक कतार में खडा करके एक-साथ दौडाने की कोशिश नही करनी चाहिए। हर एक बालक को जिस दिशा में दौडना होगा, वह दौडता रहेगा। एक यह ख्याल ही उसके मन में उत्साह को बढाने के लिए काफी है कि मैदान में उसकी तरह दूसरे भी कई बालक अपनी घोडा गाडी दौडाने का खेल खेल रहे है।

आमतौर पर इन खेलो में लगनेवाले साधनो को घरो में तो बालक यहाँ-वहाँ से प्रसगानुसार खुद ही खोज लेते है। इसीमें उन्हे मजा आता है; लेकिन बालवाडी-जैसी जगहा मे, जहाँ बालक बडी सख्या में होते हैं, इस तरह खोजने से चीजे मिल नही सकती, इसलिए वहाँ तो शिक्षिकाओ का इन खेलो के लिए आवश्यकतानुसार का तरह-तरह के साधनो सग्रह तैयार रखना ही मुनासिब होगा।

३. इक्का हाँकने का खेल

तीन-चार साल की उम्र के बालक दो-दो की जोडी मे भी इसी प्रकार के सादे खेल खेल सकते है। ऐसा एक खेल है, घोडे का इक्का अथवा बैल की गाडी दौडाने का। इस खेल में एक लम्बी रस्सी के अलावा दूसरे किसी साधन की जरूरत नही होती। एक बालक बैल या घोडा बनेगा और दूसरा हाथ में रस्सी पकडकर उसे हाँकेगा। बीच मे इक्का या गाडी कल्पना की ही रहेगी।

हाँ, घोडे या बैल को जोतने के अलग-अलग तरीके बालको को समझा देने होगे। बालक के कन्धो पर से रस्सी लेकर उसके दोना सिरो को हाथो की बगल में से निकाल लेने से घोडा जुत जाता है। न कोई गाँठ बाँधनी होती है, न कोई जुआ लादना होता है। जुतनेवाले बालक को भी इसमें किसी तरह की तकलीफ नही होती।

इस खेल मे भी बालक को गाडी हाँकने के कुछ मत्र सिखा देने होंगे। जैसे, "ऐ बाबू, पटरी से चलिए! गाडी जा रही है। ऐ बच्चो, दूर हटो, दूर हटो! ओ, अम्माजी! पटरी से चलो, पटरी से चलो!'

४. गाड़ी हाँकने का खेल

दो बैलों की गाडी अथवा दो घोडों की बग्घी का खेल भी बालक इतने ही आनन्द के साथ खेल सकेंगे, किन्तु इस खेल में तीन बालकों की जरूरत रहेगी। दो बालक दो बैल या दो घोडे बनेंगे और एक पीछे रहकर उन्हें हाँकेगा।

इस खेल में बालकों को यह सिखाना होगा कि बैलों या घोडों को किन-किन तरीकों से जोता जा सकता है। दो घोडों के पासवाले हाथों के बीच एक आडा डण्डा बाँधना होगा और लगाम के रूप में दोनों घोडों के बाहरवाले हाथों के पहुँचो पर रस्सी के सिरे बाँधने होंगे।

बैलगाडी में दोनों बैलों के कन्धों पर एक लम्बी लाठी अच्छी तरह जमाकर बाँधनी होगी। रास के सिरे दोनों बैलों के बाहरवाले पहुँचो पर बाँधने होंगे। इन दोनों खेलों में गाडी या बग्घी तो काल्पनिक ही रहेगी।

इस खेल में खेलनेवाले बालकों की संख्या बढती है, कुछ सामग्री या घटाटोप भी बढता है, इसलिए हो सकता है कि उम्र में कुछ बड़े बालक, समझिए कि चार या पाँच साल की उम्र के बालक, इसका आनन्द लूट सकेंगे। हो सकता है कि अधिक छोटे बालकों को इसमें परेशानी का अनुभव हो और खेल में उनकी कोई दिलचस्पी न रह जाय।

५. दो घोड़ों की बग्घी का खेल

तीन बालक एकसाथ खेल सकें, इस तरह के गाडी के कुछ दूसरे भी दिलचस्प खेल बालक खेलते पाये जाते है। अबतक की गाडियों में हाँकनेवाले ने गाडीवान या कोचवान के नाते मजा लूटा है। इस खेल में वह गाडी के सवार के रूप में रस ले सकता है।

घोडों को जोतने का तरीका बिलकुल आसान है। दो घोडे पास खडे रहकर बगल के दोनों हाथों की मजबूत घडी बना लेंगे अथवा एक-दूसरे के पहुँचो को पकड लेंगे। बस घोडे जुत जायेंगे। सवार एक पैर से गाडी पर चढ जायगा और एक पैर से कूदता रहेगा। वह अपने दोनों हाथ दोनों घोडों की गरदन पर लपेटे रहेगा।

घोडों को अपने पहुँचों में इतनी मजबूती रखनी पडेगी कि वे सवार का बोझ उठा सकें। इसी तरह सवार को भी घोडों की चाल के साथ कूदते रहने में काफी ताकत खर्च करनी होगी। बहुत कच्ची उम्र के बालक इतनी ताकत नहीं लगा सकेंगे, लेकिन पाँच साल की उम्र के बालक भी इस खेल में रसपूर्वक अपनी ताकत लगा सकेंगे।

पर, इस उम्र के बालक भी इस खेल में काफी थक जायेंगे। वे थोडी-थोडी देर के लिए गाडी दौडाकर बारी बदलते रहेंगे, तो अपनी थकान भी दूर कर सकेंगे और नये-नये पात्रों के रूप में खेल खेलने का लाभ मिलने से उनकी दिलचस्पी भी लम्बे समय तक बनी रह सकेगी।

६ पाल छकड़े का खेल

गाडी के खेलों में पहियोंवाला छोटा छकडा दाखिल करने से खेल में एक नया ही रंग जमाया जा सकता है।

बच्चों की ये गाडियाँ पटियों के टुकडों या नारियल की नरेटीवाली उन गाडियों के समान नहीं होती, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वे माप में छोटी होते हुए भी बहुत कुछ असल गाडियों-जैसी होती हैं। उनके पहिये अपनी धुरी पर भलीभाँति घूमनेवाले होते हैं, और धुरी तथा पहिये दोनों इतने मजबूत होते हैं कि आसानी से टूट न सकें। गाडी में एक छोटे बच्चे को बैठाया जा सकता है। उसके तीन ओर दीवारें होती हैं और वह इतनी मजबूत होती है कि वजन रखकर दौडायी जा सकती है।

इस बचकाने छकडे को मजबूत रस्सी बाँधकर दो-तीन बालक एक साथ खींच सकते है।

दो बालक जुए से जुडकर इस बचकानी गाडी को दौडाते हैं और इसके अन्दर सजीव निर्जीव सब तरह का माल अपनी इच्छानुसार भरकर भरपूर आनन्द लूट सकते हैं।

जब शिक्षिकाएँ या घर के लोग इस प्रकार की बचकानी गाडी-द्वारा या सचमुच की गाडी की मदद से ईंट, मरिये, रेती, मिट्टी या ऐसी ही दूसरी चीजें भरने और खाली करने का काम करते होंगे, तो उस समय बालक भी अपनी बचकानी गाडी लाकर उनके साथ काम में जुट सकेंगे और खेल के साथ काम का आनन्द भी लूट सकेंगे। ●

आ गया। इतने में स्टेशन आ गया। उसे लेकर निकला। इधर उधर टहला। सीटी बजी। लौट आया। इस सैर से उदयशंकर बहुत खुश हुआ। मुझे उस प्यार की आंखा से देखा, जिससे बच्चे ही देखते हैं। मैं खो सा गया। फिर आगे बढ़ा तो उसकी माँ दौड़ी। लेने को हाथ बढ़ाया। माँ को देखकर उसने मुँह फेर लिया, और उन्हीं मधुभरी आँखों से मुझे देखा। मैंने मस्ती में उसे प्यार किया और करता चला गया। मुझे प्रेम का रस ही नहीं मिला, समझ-बूझ भी मिली। बच्चा की दुनिया की समझ-बूझ।

× × × ×

बच्चा की दुनिया की समझ-बूझ। दूध पीते उदयशंकर की मधुभरी निगाहों ने बरसों का परदा उठा दिया। कोई पचास बरस पहले मैं घर के सामने खड़ा था कि मेरे छोटे भाई जुबैर और अहमद दौड़ते हुए आये और जोर से कहने लगे—'अहा हा! अहा हा!! दीवान साहब आये हमें गोद में लिया।

मैंने कहा—'बस, इसी पर फूल गये?'

तुरत बोले—हमें प्यार किया।

मैंने कहा—खट्टा खट्टा था।

कड़क के बोले—तुम्हारा खट्टा खट्टा होता है। वह तो मिठा मिठा था।'

मुझे बहुत ही बुरा लगा कि रोज तो मुझे घोड़ा बनाते और मेरे पेट पर कूदते हैं और आज अजनबी दीवान के प्यार को मीठा और मेरे प्यार को खट्टा बताते हैं।

अब पता चला कि बात तो ठीक ही थी। बूढ़े दीवान साहब तो दादा और नाना हो चुके थे। जब उन्होंने मेरे छोटे भाइयों को प्यार किया तो उनके बूढ़े होठों में उस मुहब्बत की गरमी थी, जो एक बूढ़े को हँसते-खेलते बच्चों से होती है और जो मेरे भाइयों के गालों से होती हुई उनके मन में उतर गयी। मेरे तो बच्चे थे नहीं। मैं उसको जानता भी न था। फिर मेरे प्यार में वह घुलावट कहाँ से आती!

जुबैर, अहमद, उदयशंकर ने कैसे-कैसे परदे हटाये!
मन की दुनिया में कहाँ पहुँचाया!!
बच्चे नादान!

●

एक परिशीलन

शिक्षा : अठारह साल का लेखा-जोखा

●

रामभूर्ति

'स्वतंत्रता के अठारह वर्षों में शिक्षा'—इस नाम से भारत सरकार ने एक पुस्तक निकाली है, जिसमें बताया गया है कि १९४७ से १९६१ तक के चौदह वर्षों में देश शिक्षा में कितना आगे बढ़ा है। हर चीज बढ़ी है—शिक्षा-संस्थाएँ, विद्यार्थी, खर्च और साक्षरता। १९६१ में सौ पीछे २४ व्यक्ति साक्षर हो गये थे, जबकि १९४७ में केवल १२ थे और १९६१ में कुल ३४ करोड़ रुपया खर्च हुआ जबकि १९४७ में केवल ७ करोड़ खर्च हुआ था। पुस्तक में इसी तरह के तमाम आँकड़े और विवरण दिये हुए हैं।

पुस्तक काम की है और जिसे आँकड़े अच्छे लगते हैं उसके पढ़ने लायक है, लेकिन जो आँकड़ों से आगे, जाकर समाज और देश के जीवन को देखना चाहता हो उसे कुछ दूसरी चीज चाहिए। हमने कितनी दवाएँ

खार्यी और उनपर कितना खर्च हुआ, केवल इतने से कितनी खुशी होगी ? खुशी की बात तो यह है कि हमारा रोग कितना घटा, हम स्वस्थ कितने हुए। असली कसौटी वही है।

इस सरकारी पुस्तक को पढने पर तुरन्त एक सवाल मन में यह उठता है कि देश स्वतन्त्र हो गया, हमारे नेता बदले, उनकी बातें बदली, झण्डा बदला, हमारी आशाएँ और आकाक्षाएँ बदली, लेकिन सरकार का ढांचा न बदला, शिक्षा का ढग न बदला। क्यो ? क्या यह सोचा गया कि जो शिक्षा गुलाम देश के लिए ठीक थी वह स्वतन्त्र देश के लिए भी ठीक रहेगी ? १९४७ म देश विदेशी शासन से मुक्त हुआ, अठारह वर्षों के बाद अब हम यह सुनना चाहते थे कि स्वय जनता कितनी मुक्त हुई। क्या आज के जमाने में यह बताने की जरूरत है कि देश का स्वतन्त्र होना एक बात है, और जनता का मुक्त होना बिलकुल दूसरी ? योजनाएँ चाहे जितनी भव्य हो, और आँकडे चाहे जितने बडे, उनका जादू बहुत टिकाऊ नही होता। जनता हर चीज को एक ही कसौटी पर कसना चाहती है—वह १९४७ के स्व-राज्य को भी इसी कसौटी पर कसना चाहती है—कि यह अभाव, अज्ञान और अन्याय से कितनी मुक्त हुई है। स्कूलो और कालेजो का जमाना गया, अब माँग मुक्ति की है।

हमारी शिक्षा ने हमें अभाव से मुक्त करने के लिए क्या किया है ? क्या किया है अज्ञान और अन्याय से मुक्त करने के लिए ? एक ओर वैज्ञानिक खेती और उत्पादन-वृद्धि के नारे लगाये जा रहे हैं और दूसरी ओर हमारी ये सस्थाएँ लाखो-लाख युवको और युवतियो को अनुत्पादक बना रही हैं। उँगलियो में कोई हुनर न हो, काम करने की न आदत हो और न इच्छा, किसी तरह पैसा कमाकर आराम की जिन्दगी बिताने और अनायास बडा कहलाने की आकाक्षा हो, बुद्धि ऐसी हो कि सकीर्ण स्वार्थ को सिद्धान्त का नाम दे सके—क्या ऐसे ही डिग्रीधारियो को पैदा करने के लिए यह गरीब देश स्कूलो, कालेजो और विश्वविद्यालयो पर करोडो खर्च करने के लिए विवश किया जा रहा है ? कहा जाता है कि ये सस्थाएँ आधुनिक ज्ञान विज्ञान तथा नये जीवन-मूल्यो और प्रेरणाओ के जीते-जागते केन्द्र हैं, लेकिन, जो स्थिति है उसे देखते हुए इन सस्थाओ को यह नाम देना शायद व्यग्य ही होगा। अगर यह बात सही हो—और, सही है इसे कौन नही जानता ?—तो भारत की सब सरकारो को मिलकर जवाब देना चाहिए कि ऐसा क्यों है और कबतक राष्ट्र के जीवन के साथ इस तरह खेलवाड होता रहेगा ?

बात यह है कि आज हमारी राजधानियो में जो लोग बैठे हुए हैं उनके दिमाग में शायद यह वहम घुस गया है कि लाखो गाँवो में रहनेवाले करोडो लोगो का बस इतना काम है कि पाँच साल में एक बार वोट दे दें और चुपचाप दूसरो के बताये रास्ते पर चलते रहे। क्या यही ढग है लोकतन्त्र और समाजवाद का ? क्या इसी तरीके से देश का विकास होगा ?

अब प्रश्न साक्षरता फैलाने और डिग्रियाँ बाँटने का नही है, अब सवाल है विकास का, लेकिन विकास किसका ? जनता से अलग करके राष्ट्र का नही, बल्कि राष्ट्र में रहनेवाले एक-एक नर और नारी का। यह काम जल्द से-जल्द होना चाहिए। कब होगा, कैसे होगा, हमे इन सवालो का जवाब चाहिए, न कि कोरे आँकडे और विवरण।

●

भारतीय परमाणु-ऊर्जा के संस्थापक

डा० होमी जहाँगीर भाभा

●

शुद्धोदन प्रसाद मिश्र

"तुमसे मिलकर खुशी हुई। मुझे खेद है कि मैं तुमसे पहले न मिल सका, क्योंकि बाहर चला गया था।"—डा० भाभा ने कहा था, जब उनसे मेरा पहला साक्षात्कार हुआ था। मैं एटामिक एनर्जी इस्टैब्लिशमेण्ट ट्राम्बे, बम्बई लगभग एक माह के लिए गया हुआ था और डा० भाभा से मिलने की इच्छा प्रकट करते हुए एक अनुरोध-पत्र उनके कार्यालय म छोड आया था। डा० भाभा जिस अपनत्व से मिले उससे प्रभावित हुए बगैर मैं न रह सका था। न जाने मैंने अपने अनुरोध-पत्र में क्या लिखा था, जिससे वे इतने प्रभावित हुए थे और मिलने की इच्छा प्रकट किये थे। मैंने सोचा था डा० भाभा-जैसे महान वैज्ञानिक का समय कितना अमूल्य होगा। उन्हें तो मुश्किल से फुरसत मिल पाती होगी, परन्तु मुझे ऐसा कुछ भी अनुभव नहीं हुआ था।

पहली मुलाकात के लगभग डेढ वर्ष बाद मैं पुन एक संगोष्ठी में भाग लेने बम्बई गया था, जिसका उद्घाटन भाषण डा० भाभा ने दिया था। भाषण के बाद काफी पीते समय अप्रत्याशित रूप से डा० भाभा ने मेरे कन्धे को स्नेहमय स्पर्श प्रदान किया था। उनकी स्मरण शक्ति को देख मैं स्तब्ध रह गया था।

कर्तृत्व-परिचय

सन् १९४७ मे भारत आजाद हुआ और उसी वर्ष 'भारतीय परमाणु-ऊर्जा-आयोग' का गठन हुआ और तब से मृत्युपर्यन्त डा० भाभा आयोग के अध्यक्ष रहे। उनकी विद्वत्ता एव कार्यकुशलता से 'भारतीय परमाणु ऊर्जा' के कार्यक्रम ने अत्यन्त सफलता प्राप्त की है। इसके ७ वर्ष बाद सन् १९५४ में 'परमाणु-ऊर्जा-विभाग' एव 'एटामिक एनर्जी इस्टेब्लिशमेण्ट ट्राम्बे' की स्थापना हुई, जिसमें वे क्रमश सचिव और निदेशक रहे। उन्हीं के नेतृत्व में अमेरिका की ओकरिज-स्थित परमाणु भट्ठी से मिलती-जुलती भारत की प्रथम परमाणु भट्ठी 'अप्सरा' की स्थापना ४ अगस्त, १९५६ को ट्राम्बे में हुई। उन्हीं के प्रयत्नो से दुनिया की महानतम रेडियो आइसोटोप-उत्पादक परमाणु-भट्टियो की श्रेणी में गिने जानेवाले 'कनाडा इण्डिया रिएक्टर' और 'जरलीन' आदि की स्थापना भी हुई। अब तारापुर (महाराष्ट्र प्रदेश), राणा प्रताप सागर (राजस्थान) एव महाबली-पुरम् (मद्रास)-परमाणु बिजलीघरो की स्थापना 'परमाणु ऊर्जा के शान्ति कालीन उपयोगों' के अन्तर्गत हो रहा है। यह सब उन्हीं का तो प्रयत्न था, वरना सम्भवत भारत का नाम दुनिया के ६ सर्वोच्च परमाणु ऊर्जा विकसित देशो में अभी न आया होता।

सन् १९४५ में डा० भाभा के सुझावो पर ही 'टाटा इस्टीट्यूट आफ फण्डामेण्टल रिसर्च बम्बई की स्थापना हुई थी, जिसका अब दुनिया में अपना एक स्थान है। डा० भाभा अपनी मृत्यु तक इस सस्था के सचालक एव सैद्धान्तिक भौतिकी के प्रोफेसर रहे। इस सस्था की तमाम वैज्ञानिक देन उन्हीं के प्रयत्नो का फल है।

जीवन-परिचय

जन्म, ३० अक्तूबर, १९०९। डा० भाभा की प्रारम्भिक शिक्षा बम्बई के कैथेड्रल हाई स्कूल, जॉन

दूसरी सूचना में यह मालूम हो कि डा० भाभा सिर्फ जख्मी हैं, मरे नहीं। मैं आस लगाये था; परन्तु वैसा न हो सका। मैं कुछ क्षण के लिए स्तब्ध था और पूरी सूचना की ओर गौर करने लगा। मन-ही-मन कह उठा—'काश! डा० भाभा ने एक दिन पहले ही अपने पूर्व निश्चित प्रोग्राम के अनुसार अपनी यात्रा आरम्भ की होती।

डा० भाभा वियना में होनेवाले 'अन्तर्राष्ट्रीय एटामिक एनर्जी एजेंसी' के एक अधिवेशन में भाग लेने जा रहे थे। वैसे वह २२ जनवरी के जहाज से ही जाना चाहते थे, जिसके लिए उन्होंने जगह सुरक्षित भी करा ली थी; परन्तु ऐन मौके पर उन्होंने २२ तारीख के बजाय २३ तारीख को जाना निश्चित किया। २३ जनवरी को 'कंचनजंघा' बम्बई से रवाना हुआ था और २४ जनवरी को १२.५० पर कुहरायुक्त माउण्ट ब्लाक की पहाड़ियों से टकराकर चकनाचूर हो गया। इस घटना ने हमारे देश के विश्वविख्यात वैज्ञानिक डा० भाभा को हमसे छीन लिया।

डा० भाभा का व्यक्तित्व सम्पूर्ण कार्यक्रम और उससे सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति पर इतनी गहराई तक परिव्यापक था कि उनकी मृत्यु का त्रासद समाचार सुनते ही 'एटामिक एनर्जी इस्टैब्लिशमेण्ट' के कर्मचारी फूट-फूट कर रो पड़े थे और सिसकियों के बीच सुनाई पड़ा—'इस्टैब्लिशमेण्ट आज अनाथ हो गया।' ●

नागरिकता की शिक्षा

●

रमेश किशोर शर्मा

प्रसिद्ध शिक्षा-समाज-विज्ञान-शास्त्री विलियम ईगर का कथन है कि "मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है; इसलिए उसने बहुत वर्षों के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यों का सम्यक् *विकास सामाजिक जीवन-द्वारा ही सम्भव* है।" एक अन्य विचारक ने इस कथन के प्रतिपादन में कहा है कि "समाज से अलग रहनेवाला व्यक्ति या तो देवता होगा या राक्षस।" इन कथनों से एक ओर मनुष्य की समाज-प्रियता प्रकट होती है, दूसरी ओर उसकी समाज पर निर्भरता ज्ञात होती है। समाज से परे उसका कोई अस्तित्व नहीं। मनुष्य अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति-हेतु समाज पर निर्भर रहता है; इसलिए समाज को व्यक्ति की सेवाएँ स्वीकार करने का अधिकार है और बदले में व्यक्ति को समाज के

प्रति अपने कर्तव्यों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। मानव-जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते है, जब मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए समाज हित को तिलाजलि दे देता है। इससे समाज की उन्नति अवरुद्ध हो जाती है, उसमें जडता आने लगती है। यह अच्छे नागरिक के कर्तव्य के विरुद्ध है।

सुनागरिक कौन ?

तो सुनागरिक किसे कहते है ? एक अंग्रेज विद्वान लार्ड ब्राईस ने आदर्श नागरिक में विवेक, आत्मसयम और सहानुभूति के तीन गुण होना आवश्यक माना है। इसी प्रकार ह्वाईट नामक एक अन्य विद्वान ने सुनागरिक के तीन गुण बुद्धि, ज्ञान और लगन बताये है। इस प्रकार हम सब मिलाकर एक अच्छा नागरिक उसे कहना पसन्द करेंगे, जिसे जीवन के महत्व का ज्ञान हो, विवेकपूर्ण सही और उचित निर्णय ले सके, विषम परिस्थितियो मे आत्मसयम से काम ले, सहनशील हो तथा मन-वचन कर्म से उसकी दृष्टि कल्याणकारी हो।

इसके लिए ऐसी शिक्षा-व्यवस्था हो, जो मानव में सामाजिक व्यवहार, सामाजिक रुचि, सामाजिक चेतना, सामाजिक कुशलता तथा सामाजिक हित के विचार पैदा करे। इस प्रकार के गुणो को उद्भूत करनेवाले राष्ट्रपिता महात्मा गाधी-द्वारा आविष्कृत बुनियादी शिक्षा राष्ट्र के लिए अनुपम देन है। नीचे हम उसकी कुछ ऐसी प्रवृत्तियो और अभ्यासो का वर्णन करेंगे, जो छात्रो को व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप में अच्छे नागरिक बनाने की कला में दक्ष करती है।

समता की जननी

गाधी-दर्शन सत्य, अहिंसा पर आधारित आध्यात्मिक, नैतिक और मानवतावादी दर्शन है। इसका व्यावहारिक और क्रियात्मक पहलू बुनियादी तालीम है। यह सत्य है कि बुनियादी शिक्षा की आत्मा भारतीय दर्शन है और इसका शरीर भारतीय सभ्यता और संस्कृति में पोषण और सरक्षण पाकर विकसित हुआ है। गाधीजी के अद्वैतवादी दर्शन की झलक बुनियादी तालीम मे स्पष्ट देखी जा सकती है। इसके अनुसार ससार का प्राणी ईश्वर का प्रतिरूप है। इस कारण सम्पूर्ण जगत को एक मानकर चला जाता है, फिर आपस में द्वेष, घृणा और असहिष्णुता व्यर्थ में क्यो ? इसके लिए बुनियादी विद्यालयो में नित्य दोनो समय सर्वधर्म की प्रार्थना, सर्व धर्मावलम्बियो के त्योहारो का मनाना, विभिन्न धार्मिक महापुरुषो की जयन्तियो के आयोजनो की व्यवस्था मे सत्य की साधना की जाती है। इस प्रसग मे एक प्रयोग का उल्लेख उपयुक्त प्रतीत होता है। गाधी-सप्ताह के अन्तर्गत प्रशिक्षण-सस्था में सर्व धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें शिक्षक, प्राध्यापक, प्रशिक्षार्थी एव जनता के कुछ विशिष्ट व्यक्ति और कुछ आमत्रित विद्वानो के जैन, हिन्दू, इसलाम, ईसाई और सिख-धर्म पर नित्य कुछ चुनिन्दा विषयो पर भाषण होते थे।

धर्मनिरपेक्ष बुनियादी शिक्षा

सत्य की साधना के मार्ग, उसकी प्राप्ति की विधियो, उसका लोककल्याणकारी स्वरूप, धर्म प्रवर्तक का जीवन-चरित्र, शिक्षा के क्षेत्र मे योगदान आदि प्रमुख विषय रखे गये। नित्य की चर्चाओ का साराश अगले दिन साइक्लो-स्टाइल करके उपस्थित लोगो मे वितरित करने की व्यवस्था थी। सायकाल भाषण-माला की समाप्ति पर बडे शात और सौम्य वातावरण में सर्व धर्म की प्रार्थना बडे सुमधुर वातावरण में होती रही। परिणामस्वरूप स्थानीय जनता और प्रशिक्षार्थी वर्ग, जो विभिन्न धर्मा-वलम्बी थे, उन्हें अन्य धर्मों का सम्यक् ज्ञान हुआ तथा उनके हृदय में यह अनुभूति हुई कि सत्य की प्राप्ति के लिए दूसरो के मार्ग भी सही हो सकते है। इसके साथ ही दूसरो के धर्म और विश्वासों को गहराई से समझने, उनके प्रति उदार भाव तथा दूसरो के दृष्टिकोण के प्रति सम्मान करने का भाव विकसित हुआ। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी परोक्ष रूप से सब धर्मों के मर्म से अवगत कराकर वह एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहानुभूति, आत्मसयम, सहिष्णुता और सहनशीलता उद्भूत और विकसित करती है। इन सद्गुणो की जागृति से व्यक्ति में समबुद्धि विकसित होती है। समबुद्धि से समरसता का भाव पैदा होता है। समबुद्धि और समरसता, दोनो मिलकर हृदय को वैर-विरोध विहीन बनाकर निर्मल करते है। इस प्रकार उनका मनोबल सशक्त

होता है। आत्मबल द्विगुणित होता है। भारत-जैसे विभिन्न धर्म, जाति, सभ्यता और संस्कृतिवाले देश के नागरिक के लिए धर्म निरपेक्ष बुनियादी शिक्षा ही एकमात्र सम्बल है।

सर्वे सुखिनः सन्तु

भारतीय संस्कृति में आदर्श नागरिक के तीन लक्षण सत्य शिव-सुन्दरम् माने गये हैं, जिनका अर्थ है कि कार्य के किये जायँ, जो सही हों, मंगलकारी हों तथा दूसरों को अच्छे लगें। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय समाजवाद में सर्व हिताय की भावना पर विशेष बल दिया गया है। बुनियादी शिक्षा-दर्शन का आधार ही यह है कि आश्रम प्रणाली-द्वारा छात्रों में ऐसे संस्कार पैदा करना, जिससे समाज में उचित स्थान ग्रहण करें और उसके कल्याण में अपना योग दें।

सामुदायिक जीवन के माध्यम से दी गयी शिक्षा वास्तविक अर्थ में व्यावहारिक और ठोस होती है। छात्र अपनी कक्षा, संस्था, आसपास के स्थल, ग्राम की सफाई आदि करते हैं। संस्था की रसोई में हाथ बँटाना, परोसना, स्वयं के बरतन तथा भोजनादि के बरतनों की सफाई में सहायता और सहयोग करते हैं। योजनाएँ बनाते हैं। उनपर साथ बैठकर सोचते हैं, साथ मिलकर कार्यान्वित करते हैं। इस प्रकार उनपर साथ मिलकर रहने, सोचने, कार्य करने से जाति, धर्म, सम्प्रदाय, गरीब अमीर, श्रमजीवी और बुद्धिजीवी की भेद भावना हमेशा के लिए तिरोहित हो जाती है। समाज में समता, समता से बन्धुत्व और बन्धुत्व से सामाजिक एकीकरण पैदा होता है। इस सन्दर्भ में, संस्था के दो प्रसंग यहाँ देना ठीक समझता हूँ।

छात्रावास के कमरा नं० ६ का प्रशिक्षार्थी श्री हरिशंकर पाण्डे हाईड्रोसील की शल्य चिकित्सा के लिए जिला चिकित्सालय गुना में, जो बजरंगढ़ से ८ किलो मीटर था, दाखिल हुआ। छात्रावास के साथी छात्रों ने स्वतः २४ घण्टे रोगी की सेवा शुश्रूषा के लिए ड्यूटी दी। रोगी की सफल शल्य चिकित्सा और स्वस्थ होने पर उनके पालकों को सूचना दी गयी। प्रशिक्षार्थियों की सहायता, सहयोग और सेवा, चिकित्सालय के सर्जन, महिला डाक्टर और डाक्टर, वार्डर ने सराहना की। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा में दीक्षित छात्र निस्वार्थ और स्वेच्छा से सेवा का पाठ सीखते हैं।

एक दूसरा प्रसंग श्री रामजीलाल प्रशिक्षार्थी का है। शिक्षा विभाग की संभागीय चयन-समिति ने उक्त छात्र को मेरिट के आधार पर प्रशिक्षण के लिए चुन लिया, किंतु जब प्रशिक्षार्थी प्रशिक्षण संस्था में प्रशिक्षण के लिए उपस्थित हुआ और साथियों को अपनी दीन-हीन दशा का हाल बताया तब छात्रों ने छात्रावास-अधीक्षक से परामर्श किया और निर्णय लिया कि छात्र की मेस निःशुल्क कर दिया जाय और संस्था-शुल्क के लिए आपस में चन्दा करके उसकी पूर्ति की जाय।

जीवन-कला की शिक्षा

बुनियादी शिक्षा जीवन की शिक्षा है। यह जीवन के प्रत्येक पहलू को कला की कड़ी से जोड़ देती है, जिससे समग्र जीवन कलामय बन जाता है। पूज्य बापू ने कहा भी था कि "नयी तालीम कोई पेशा सिखाने के लिए नहीं है। यह तो हाथों को कला देकर मनुष्य बनानेवाली है।" इस शिक्षा में औद्योगिक, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेशों के आधार पर व्यक्ति के मस्तिष्क, हृदय और हाथ, तीनों का सर्वोन्मुखी विकास किया जाता है। बुनियादी शिक्षा में करके सीखने के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक उद्योग को स्थान दिया गया है एवं उत्पादित वस्तु का लाभांश विद्यार्थियों और विद्यालय के लिए व्यय किया जाता है। इस क्रिया-केन्द्रित शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अष्ट वर्षीय शिक्षा की समाप्ति पर बालक उद्योग में कुशलता प्राप्त करके अर्थोपार्जन के लिए सक्षम हो जाता है। यह शिक्षा बालक को उसकी १५ वर्ष की अवस्था में एक कमाऊ पूत के रूप में उसके माता पिता के पास भेज देती है। इससे व्यक्ति जीविकोपार्जन-सम्बन्धी भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त रहता है एवं बुनियादी तालीम बालक को उस समाज के पूर्वाग्रह से भी मुक्त करती है, जो कुछ व्यवसायों को आदर की दृष्टि से देखती है और कुछ को हीन। बालकों की उनकी रुचि, प्रेरणा, वातावरण समाज और देश की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुसार उद्योग का प्रशिक्षण देकर उनमें आर्थिक और सामाजिक कुशलताएँ पैदा की जाती हैं।

●

गाँव-गाँव में शान्तिसेना

•

मनमोहन चौधरी

आजकल विनोवाजी ग्रामदानी गाँवो में शान्ति सेना पर बडा जोर दे रहे हैं। उनकी माँग है कि हर ग्रामदानी गाँव में कम-से-कम १० शान्ति-सैनिक या शान्ति-सेवक होने ही चाहिए। पीला साफा शान्ति सैनिक का प्रतीक है। विनोवाजी यह अपेक्षा रखते हैं कि उन्हें हर जगह सैकडो ही नहीं हजारो की तादाद में पीला साफा बाँधे हुए लोग दिखायी पडें।

त्रिविध कार्यक्रम में शान्ति-सेना भी एक है। ग्रामदान के बाद जो मुख्य काम करने हैं उनमें शान्ति सेना का प्रमुख स्थान है। ग्रामदान के हमारे महत्वपूर्ण उद्देश्यो में एक उद्देश्य यह भी है कि गाँव में स्थायी शान्ति रहे। सवाल यह है कि गाँव में शान्ति भंग के प्रमुख कारण क्या हैं।

गाँवों की अशान्ति के कारण

इसका एक प्रमुख कारण है गरीबी। गरीबी के कारण किसान लोग कभी-कभी अपने खेतों या जमीनों की सीमा दो-एक इंच आगे बढा लेते हैं। इस बात को लेकर लडाई झगडा तू-तू मैं मैं होती है और अदालतों में मुकदमे चलते हैं। गरीबी की ही वजह से ग्रामीण लोग अपने जानवरो और अन्य पालतू पशु-पक्षियों को भरपूर खाना नहीं दे पाते और उन्हें खुला छोड देते हैं। जब किसी का बैल किसी दूसरे के खेत में घुस जाता है या किसी की मुर्गी किसी दूसरे के अहाते में घुस जाती है तो लडाई-झगडा शुरू हो जाता है। ऐसे झगडे झंझट चलते रहते हैं। कभी-कभी खेतो में खडी फसल और पेडों पर लगे फल भी चुरा लिए जाते हैं।

इसके अलावा प्रमुख परिवारों में पुरानी रंजिश को लेकर भी अक्सर झगडे होते हैं। दूसरे गाँववालों की मदद लेकर ये लोग एक-दूसरे को परेशान करने की कोशिश करते हैं। इस तरह के झगडो से गाँव में बहुत ज्यादा तनाव और संकट पैदा हो जाता है और हर आदमी के लिए गाँव में रहना कष्टदायक हो जाता है।

आजकल गाँव के इन झगडो में राजनीतिक झगडे भी शामिल हो गये हैं। चुनाव के मौके पर किसी दल के लोग आकर गाँव के एक पक्ष की मदद माँगते हैं। तुरन्त दूसरा पक्ष किसी दूसरे दल के साथ जाकर मिल जाता है।

जातिवाद

जातिवाद भी एक बडा महत्व का मुद्दा है। कुछ राज्यों के प्रमुख राजनीतिक दल जातियों के आधार पर आपस में लडते हैं और उनकी यह लडाई गाँव के स्तर पर भी जा पहुँचती है और वहाँ पर पहले से ही फैली हुई जातिवाद की मनोवृत्ति को और अधिक बढावा देती है।

प्राचीन काल से भारतीय समाज का निर्माण जातिगत अन्तरो और ऊँच-नीच की विषमताओं के आधार पर हुआ। तथाकथित नीची जातिवाले हरिजन और दूसरे लोग बहुत दिनो तक दबाये जाते रहे हैं और उन्हें अनेक मानवीय अधिकारों से वंचित कर रखा गया है। उनसे यह अपेक्षा की जाती रही है कि वे सवर्णों के आदेशों का

पालन करेंगे। अभी तक वे नम्रतापूर्वक ऐसा करते भी रहे हैं, लेकिन अब वे जागृत हो गये हैं और समान अधिकारों की मांग पर जोर देने लगे हैं। कभी-कभी जब वे देखते हैं कि कोई आदेश उनके स्वार्थ अथवा स्वाभिमान के विरुद्ध जाता है तो वे उनका पालन करने से इनकार कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप, ऐसी परम्परा रही है कि कई जातिवाले लोगस वर्णों की बारातों की जूठन उठाते थे। कुछ लोग पालकियाँ उठाते थे। अब वे ऐसा काम करने से इनकार करते हैं। इसे वे अपनी शान के खिलाफ मानते हैं। कुछ जगहों पर ऐसी बातों से सवर्ण लोग नाराज हो जाते हैं और वे इन लोगों को परेशान करने की कोशिश करते हैं। एक गाँव में हरिजन मजदूरों को स्कूल के लिए श्रमदान करने के लिए कहा गया। उन्होंने कहा कि हम इस समय दूसरी जगह मजदूरी का काम कर रहे हैं। इस पर गाँववाले नाराज हो गये और उन्होंने हरिजनों के मकान जला दिये।

सम्प्रदायवाद

कभी-कभी ऊपर से मतभेद दिखायी नहीं पड़ते, किन्तु संगीन मौका पर वे भयकर रूप धारण कर लेते हैं। सामान्य तौर पर गाँवों में धार्मिक झगड़े नहीं होते और भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के लोग गाँवों में मिलजुलकर रहते हैं, लेकिन कभी-कभी शहरों और कस्बों में फैली हुई उत्तेजना गाँव में जाकर फैल जाती है और बड़े बड़े दंगे हो जाते हैं, जैसेकि पिछली बार उड़ीसा और बिहार में हो गये।

ग्रामदान में झगड़ों का अन्त

स्पष्ट है कि गाँव में शान्ति बनाये रखने के लिए दो तरह के काम करने होंगे—एक लड़ाई रोकना और दूसरा लड़ाई न होने देना। लड़ाई रोकने के कुछ काम गाँव के ग्रामदान होते ही पूरे हो जाते हैं। ग्रामदान को सम्भव बनाने के पहले गाँव के झगड़े खतम कर देने पड़ते हैं। उससे गाँववालों की विभिन्न दलों के प्रति, जो आस्था होती है वह समाप्त हो जाती है। छोटी मोटी चोरियाँ और दूसरे की जमीन में थोड़ी-बहुत घुसपैठ मिल-बाँटकर खाने की भावना से ही समाप्त हो जाती है। जातिगत भेद निस्सार बन जाते हैं। हरिजनों के प्रति नीची निगाह से देखना और जातिगत श्रेष्ठता की झूठी भावनाएँ भी जाती रहती हैं। इस प्रकार प्राय गाँववालों की जानकारी के बिना ही गाँव में उत्कृष्ट शान्ति अवतरित हो जाती है। कभी-कभी तो ग्रामदान के बाद अपने गाँव में छायी हुई शान्ति को देखकर स्वय उन गाँववालों को आश्चर्य होता है।

झगड़े मिटाने के लिए शान्तिसेना

फिर भी स्थायी शान्ति के लिए बहुत कुछ करना बाकी रह जाता है। गाँव की उपज और आय बढ़ाने के लिए ग्रामसभा, जो कदम उठायगी, इससे गरीबी के कारण पैदा हुई बहुत-सी बुराइयाँ मिट जायँगी। ग्रामसभा को अपनी यह जिम्मेदारी माननी चाहिए कि गाँव में उठनेवाले किसी भी झगड़े को प्रेमपूर्वक सुलझाना उसका कर्तव्य है। वस्तुत यह प्रत्येक ग्रामवासी का, हर स्त्री या पुरुष का कर्तव्य है कि वह झगड़ा उठते ही उसे शान्त कराने का प्रयत्न करे। गाँव की महिलाएँ इस काम के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती हैं। कम-से-कम एक गाँव के बारे में मैं जानता हूँ कि उड़ीसा के मुतामुदी नाम के ग्रामदानी गाँव में शान्ति-सेना का सगठन करने में महिलाओं ने नेतृत्व किया।

इसके अलावा गाँववाले मिलकर सम्मिलित रूप से निश्चय कर सकते हैं कि वे जाति, सम्प्रदाय, भाषा अथवा और भी किसी मामले में द्वेष, क्रोध और घृणा आदि से विचलित होकर कोई सघर्ष नहीं होने देंगे। देश विदेश में घटनेवाली घटनाओं की जानकारी वे प्राप्त करें। वे इस प्रकार सामूहिक पागलपन या आवेश के प्रवाह में बहने से अपने को बचाये रख सकते हैं। वे विश्व के प्रसिद्ध धर्मों के धर्मग्रन्थों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं और आधुनिक विज्ञान की शोधों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह वे मानव-जाति और मानव-संस्कृति की मूल एकता को समझ सकेंगे। ग्रामवासी लोग व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से दूसरों की सेवा कर सकते हैं। इस प्रकार सद्भाव और एकता की वृद्धि में वे योगदान कर सकते हैं।

इस प्रकार सभी गाँववाले—फिर वे छोटे हों या बड़े, शान्ति के कार्यकर्ता बन सकते हैं, और ऐसा उन्हें बनना भी चाहिए। क्या ही अच्छा हो कि प्रत्येक प्रौढ़ शान्ति-सैनिक बन जाय; लेकिन हो सकता है कि उनमें से कुछ लोगों को शान्ति की प्रतिज्ञा बहुत कड़ी मालूम हो और वे

उसपर हस्ताक्षर करने मे हिचकिचाएँ। मूल बात यह है कि वे शान्ति बनाये रखने की जिम्मेदारी की भावना महसूस करें। यदि अधिकाश ग्रामवासी इस भावना को महसूस करते है तो, यदि वे प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर न भी करें तोभी, विशेष हानि की बात नही है।

शान्ति-सैनिकों का प्रशिक्षण

किन्तु, कुछ विशेष प्रकार के और सगठित काम करने के लिए साधारण सगठन की आवश्यकता पडती है। वही छोटा-मोटा झगडा होता है तो कोई भी उसे सुलझाने का प्रयत्न कर सकता है, परन्तु मान लीजिए कि पास के ही किसी गाँव में बडी तनातनी और सकट पैदा हो गया। वही पर बडी भीड एकत्र है और झगडा करने पर उतारू है। ऐसी स्थिति को रोकने के लिए ऐसे आदमी की जरूरत रहती है, जो ऐसी स्थिति सँभाल सके। ऐसे लोगो को विशेष प्रकार का शिक्षण देने की आवश्यकता होती है। बडी-बडी सभाओ, मेलो का नियत्रण करने की जरूरत होती है। अग्निकाण्डो, तूफानो और सैलाबो का सामना करना होता है, दुर्घटनाओ की जाँच करनी होती है। इन सबके लिए शिक्षण और सगठन की आवश्यकता पडती है।

इसलिए यह जरूरी है कि कुछ लोग प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करके शान्ति-सैनिक बन जायँ। जो लोग शान्ति-सैनिक का प्रतिज्ञा-पत्र लेने में हिचकिचाते हो, उनके लिए शान्ति-सेवक की एक श्रेणी रखी गयी है, जिसकी प्रतिज्ञा भी इससे कुछ सरल है। इसमें सैकडो लोग भरती हो सकते हैं। १२ से १८ साल तक के किशोर 'किशोर-शान्ति दल' का सगठन कर उसमें भरती हो सकते है।

शान्ति केन्द्र

हर एक गाँव में एक शान्ति-केन्द्र होना चाहिए। उसमे सभी प्रकार की शान्ति-सेना का मुख्य दफ्तर रहेगा। यह केन्द्र हर तरह की सूचनाएँ इकट्ठी करेगा। जिला अथवा राज्य शान्ति-सेना कार्यालयो से सम्पर्क रखेगा। अध्ययन-वर्गों का, शिक्षण के कार्यक्रमो का, सेवा की योजनाओ का, उत्सवो का और इसी प्रकार की अन्य बातो का सगठन करेगा। शान्ति-सेना मण्डल ने इसके बारे में कई परचे छापे है। उनसे उपर्युक्त सारी जानकारी प्राप्त हो सकती है।●

एक भला काम

●

विष्णु प्रभाकर

एक सज्जन का चमडे का थैला बस में चढते समय गिर गया। बस रुकी नहीं। वह थैला मिला एक बालचर को। उस पर पूरा पता नहीं था। वह दौड पडा। अगले 'ठहराव' पर उसने उन्हें ढूँढ निकाला और कहा—"लीजिए, यह आपका ही तो है।"

"हाँ, मेरा ही है।"—उन सज्जन ने उत्तर दिया

वे सज्जन फिर बोले—"इसमें तीन सौ रुपये हैं।"

बालचर ने जवाब दिया—"जी, इसी में होंगे।"

तबतक वह सज्जन थैले को खोलकर उसके अन्दर की सब चीजों को जाँच चुके थे। मुसकराकर बोले—"हाँ प्यारे बच्चे! सब कुछ ठीक है।"

और, यह कहते हुए उन्होंने तीस रुपये के नोट बालचर की ओर बढ़ाये—"मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। लो, यह रुपये तुम्हारे लिए है।"

बालचर कुछ घबराया, बोला—"मेरे लिए! किसलिए?"

सज्जन—"इसलिए कि तुमने एक भला काम किया है।"

"तब ठीक है।"—बालचर ने प्रसन्न होकर कहा—"मैंने आज का अपना कर्तव्य पूरा किया। इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।"

और, फिर उनके उत्तर की राह देखे बिना वह बालचर उन्हें प्रणाम कर, जिस मार्ग से आया था लौट गया। हाथ में तीस रुपए के नोट लिए वह सज्जन उस ओर देखते ही रह गये।●

ग्रामदान से गाँव का जन्म

•

राममूर्ति

[इस लेख की पहली किस्त पिछले अंक में छपी है। यहाँ उसके आगे का अंश दिया जा रहा है। ग्रामसभा में चुनाव नहीं होगा, बल्कि सर्वसम्मति तथा सर्वानुमति से गाँव का काम होगा। इस लेख में सर्वसम्मति तथा सर्वानुमति का विचार स्पष्ट किया गया है।—सम्पादक]

प्रश्न—कृपया सर्वसम्मति और सर्वानुमति की बात जरा साफ कीजिए।

उत्तर—हाँ, यह बात अच्छी तरह समझ लेने की है। इसमें भूल हुई कि गाँव गया। तब तो गाँव के दूसरे झगड़ों के साथ मिलकर ग्रामदान स्वयं सबसे बड़े झगड़े का कारण बन जायगा। यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि ग्रामदान दिलों को जोड़ने का आंदोलन है, तोड़ने का नहीं।

देखिए, सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि ग्रामसभा के जो भी चुनाव हों, या बाद को निर्णय हों, वे सब सर्वसम्मति से हों, या सर्वानुमति से हों। कई मामले ऐसे भी होंगे, जिन्हें 'आम राय' (कंसेसस) यानी सौ में से लगभग नब्बे की राय से तय करना पड़ेगा, लेकिन जहाँतक चुनाव का सम्बन्ध है, उसमें तो सर्वसम्मति या सर्वानुमति की ही पद्धति लागू होनी चाहिए।

प्रश्न—क्या अन्तर है दोनों में ?

उत्तर—मिसाल लीजिए सभापति के चुनाव की। अगर ग्रामसभा एकराय होकर चुन ले, मानो सर्व की सम्मति हो, तो कहा जायगा कि 'सर्वसम्मति' से चुनाव हुआ; लेकिन अगर ऐसा हो कि जिस व्यक्ति का नाम सामने आया है उसे नब्बे व्यक्ति तो पसन्द करते हैं, लेकिन दस नहीं पसन्द करते, तो स्पष्ट है कि उस व्यक्ति के लिए सर्व की सम्मति नहीं है, लेकिन वे दस व्यक्ति सोच-समझकर यह कहते हैं—'भाई, हमारी राय भिन्न है, लेकिन जब इतने अधिक लोग एक राय के हैं तो हम नहीं चाहते कि जिद करें। हम अपनी अनुमति देते हैं। इस तरह अधिक की सम्मति और कुछ की अनुमति मिलाकर सर्वानुमति हुई। चाहे सर्वसम्मति हो, या सर्वानुमति हो, किसी हालत में विरोध नहीं रहना चाहिए।

प्रश्न—लेकिन, राजनीति में तो ४९ विरोध में हों और केवल ५१ पक्ष में हों तो मान लिया जायगा कि बहुमत पक्ष में है। कहाँ परवाह करते हैं बहुमतवाले अल्पमतवालों की ?

उत्तर—यही तो अन्तर है विरोध की राजनीति और सर्वोदय की लोकनीति में। जहाँ सर्व की सम्मति और सर्व की शक्ति से सब का हित साधन की बात है, वहाँ बहुमत को अल्पमत के सीने पर कैसे बिठाया जा सकता है ? सर्व का हित तो तब सधेगा जब बहुमत और अल्पमत का सवाल ही न रह जाय। बात ऐसी कहनी चाहिए और काम ऐसा करना चाहिए कि सब एकमत हो जायँ।

प्रश्न—लेकिन, क्या ऐसा हो सकता है ? कुछ भी हो, मतभेद तो रहेंगे ही।

उत्तर—मतभेद रहेंगे, और रहने चाहिए। मेरी समझ में इससे बढ़कर दूसरी खुशी हो नहीं सकती कि हमारे गाँवों में एक-एक व्यक्ति इतना जानकार, समझदार हो जाय कि उसका अपना मत हो, और वह निडर होकर

अपना मत रख सकें, लेकिन इसमें दो बातें हैं। एक तो यह कि यह जरूरी नहीं है कि मत का भेद हो तो मन का भी भेद हो जाय, ऐसा क्यों हो ? मत के भेद से प्रेम नहीं टूटता, प्रेम टूटता है मन के भेद से। अक्सर मनभेद तब होता है जब मन के भीतर दूसरी बातों को लेकर दुराव रहता है, गाँठें रहती हैं, जो मत की आड लेकर प्रकट होती हैं। जो मतभेद, विरोध और संघर्ष आप राजनीतिक दलों में देखते हैं वे वास्तव में सत्ता की होड और गद्दी की लडाई के कारण हैं। क्या ग्रामसभा भी राजनीतिक दलों की नकल करके गाँव-गाँव में सत्ता की लडाई छेड देगी ? *अगर यही करना हो तो ग्रामदान की क्या जरूरत थी ?* जाति की, धर्म की, दल और धन की लडाई क्या कम थी कि एक और लडाई शुरू की जाती ? आप देखेंगे कि एक बार सत्ता का रास्ता छोडकर ज्यों ही सेवा का रास्ता पकडेंगे, आपस के भेदभाव मिटने लगेंगे, और एक दूसरे से अलग करनेवाली दीवारें ढहने लगेंगी। सबको भर पेट अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, रहने को घर चाहिए, बीमारी में दवा चाहिए, बच्चों को स्कूल चाहिए, शादी और श्राद्ध के लिए रुपया चाहिए, सरकार के दमन और बाजार के शोषण से मुक्ति चाहिए। जब इस तरह के सवाल सामने आयेंगे तो ग्रामसभा के माथे से पसीना छूटेगा और उसके सोचने का ढग बदल जायगा। ये ऐसे सवाल नहीं हैं, जो मतभेद दलबन्दी और संघर्ष से हल हों। जबतक गाँव के सब लोग मिलकर अपनी पूरी बुद्धि और भरपूर शक्ति से काम नहीं करेंगे तबतक इनमें से एक सवाल भी हल नहीं होनेवाला है। आपसी विरोध को दूर करने का एक सरल उपाय यह है कि सबके जीवन के बुनियादी सवालों को हल करने में बुद्धि और शक्ति लगायी जाय।

मैं मानता हूँ कि जिस तरह के सवाल आज गाँव के सामने हैं उनपर मतभेद की गुंजाइश नहीं के बराबर है और अगर कहीं थोडा मतभेद हुआ भी तो विरोध और संघर्ष की नौबत हरगिज नहीं आयेगी। एक बात और याद रखिए। सही-से-सही बात हो, अच्छा-से-अच्छा काम हो, ५१ की शक्ति से उसे ४९ पर लादने की कोशिश मत कीजिए। लोगों को समझाइए, फिर समझाइए, बार-बार समझाइए, और उन्हें मनाकर राजी कर लेने के बाद ही कोई कदम उठाइए। बस, अपनी बुद्धि इस ढग से इन सवालों पर लगाइए, और देखिए कि लोगों के सोचने-समझने का ढग बदलता है या नहीं।

प्रश्न—जरूर बदलेगा, लेकिन समय लगेगा। क्या नहीं ?

उत्तर—क्यों नहीं ? समय लगेगा तो लगाइए। समय नहीं लगेगा, शक्ति नहीं लगेगी, साधन नहीं लगेंगे, तो गाँव बदलेंगे कैसे, और देश उठेगा कैसे ? लेकिन, मैं कहता हूँ कि जितना समय आप सोचते हैं उतना नहीं लगेगा। ग्रामदान के तूफान को जरा गाँव गाँव में पहुँचने दीजिए और हजारों-लाखों की संख्या में ग्रामदान होने दीजिए, तब देखिए कि सत्ता की छीना-झपटी की जगह सेवा और सहकार की कितनी शक्ति प्रकट होती है। देखते-देखते जनता का दिमाग बदल जायगा, सरकार और समाज का ढग बदल जायगा। हमारी जनता सदियों से दबी रही है। वह कुचली गयी है, चूसी गयी है और स्वराज्य के बाद भी कुछ ऐसा हुआ नहीं कि उसका दिल और दिमाग खुल सके, इसलिए हो सकता है कि ग्रामदान के बाद शुरू में एक बार लोगों की आपसी ईर्ष्या, एक दूसरे से आगे बढने की होड, विकास के अवसर से निजी स्वार्थ साधने की लालच, किसी गाँव में कुछ अधिक प्रकट हो, लेकिन अगर गाँव गाँव के समझदार लोगों ने धीरज और समझदारी से काम लिया तो बहुत जल्द कुएँ का पहला गन्दा पानी निकल जायगा और नीचे से साफ पानी ऊपर आ जायगा।

हमें इस श्रद्धा और विश्वास के साथ काम करना है कि हमारी जनता का हृदय अभी भी शुद्ध है, केवल समाज की परिस्थिति ने उसके ऊपर गन्दगी का पर्दा डाल रखा है। सोचिए, क्या हजारों की संख्या में होनेवाले ग्रामदान इस बात के सबूत नहीं हैं कि हृदय ठीक है ? ●

सर्वोदय-सम्मेलन

आगामी १६ वाँ सर्वोदय-सम्मेलन हनुमान गज, बलिया में १५, १६, १७ अप्रैल १९६६ को होने जा रहा है। वहीं १२, १३, १४ अप्रैल को सर्व-सेवा-संघ का वार्षिक अधिवेशन भी होगा।

एक महत्वपूर्ण उपलब्धि

गाँव का विद्रोह

हिन्दी जगत में पाकेटबुक्स की बाढ़-सी आ गयी है पर सब पुस्तिकाएँ अच्छी ही निकलती हों सो बात नहीं। गाँव का विद्रोह निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण पाकेटबुक है और तदर्थ उसके लेखक श्री राममूर्तिजी तथा प्रकाशक सर्व सेवा संघ बधाई के पात्र हैं।

लेखक ने जो कुछ लिखा है, अपनी अनुभूतियों के बलबूते पर लिखा है। उन्होंने सच्चे वैज्ञानिक पहलुओं का विश्लेषण किया है और बिना किसी रिआयत के अपनी सम्मति प्रकट कर दी है। उनकी लेख शैली चित्ताकर्षक है और वे सीधा-सादी जुबान में अपनी बात कह देने की असाधारण क्षमता रखते हैं। इस पुस्तिका में जगह-जगह पर बड़ी चुटीली उक्तियाँ पायी जाती हैं।

टोपी थैली और कुरसी की त्रिवेणी में स्नान करने वाले मुखिया का चित्रण लेखक ने बड़ी खूबी से किया है—टोपी नेता की थैली ठेकेदार की और कुरसी अफसर की। सरकारी योजनाओं की विफलता के कारणों पर भी लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है और वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि छोटा आदमी—खासकर पनिहर मजदूर घरेलू दस्तकार और छोटा किसान—आज पहले से कहीं अधिक मुहताज है।

तो फिर इलाज क्या है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश को एक नवीन क्रान्ति की आवश्यकता है और वह अनिवार्य भी है।

अब सवाल यह है कि वह क्रान्ति रूसी ढंग की हो अथवा बापू विनोबा की पद्धति की। एक बात निश्चित है—वह यह कि यदि हम इस क्षेत्र में जोर जबरदस्ती या खून-खच्चर को रोकना चाहते हैं तो हम दिलोजान से गांधी विनोबा के अहिंसात्मक प्रयोगों में भरपूर मदद करनी चाहिए। इसकी उपेक्षा करना सशस्त्र क्रान्ति को निमन्त्रण देना है।

हम यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस पुस्तिका को पढ़कर हमारे मन में एक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया। हम चार वर्ष तक बापू के आश्रम में रह चुके हैं और हिंसा के प्रति हमारे हृदय में एक स्वाभाविक घृणा है पर साथ-ही साथ वर्तमान समाज व्यवस्था के भी हम घोर विरोधी हैं। हमारा यह विश्वास दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है कि अगर पारस्परिक सहयोग समझान-बुझान और हृदय परिवर्तन का मार्ग असफल हुआ तो निश्चय-पूर्वक इस देश में शस्त्र क्रान्ति के लिए भूमि तैयार हो जायगी।

आवश्यकता इस बात की है कि राममूर्तिजी की तरह के व्यक्तियों को ग्रामों में निवास तथा कार्य करने की पूरी पूरी सुविधाएँ दी जायें।

लेखक एक मिशनरी हैं इसलिए मिशनरी लोगों की प्रचार-पद्धति उन्हें अपनानी पड़ी है।

वे नयी तालीम के समर्थक हैं और नयी तालीम के तीन रूपों का समर्थन उन्होंने किया है—

- क्रान्ति का वाहन—नयी तालीम
- निर्माण की प्रक्रिया—नयी तालीम और
- शिक्षा की पद्धति—नयी तालीम।

और, लेखक का कथन है कि नयी तालीम ही राज्य-वाद, पूंजीवाद तथा सैनिकवाद का खातमा कर सकेगी। यह किस प्रकार होगा, इसे समझाने के लिए लेखक को दूसरी पुस्तक लिखनी चाहिए।

राज्य, पूंजी तथा सेना के अधीन शासनों को चलते हुए सहस्त्रों वर्ष व्यतीत हो गये हैं, इसलिए उनकी चिन्तन प्रणाली निश्चित हो गयी है, जबकि अहिंसात्मक विद्रोह का इतिहास साठ वर्ष से अधिक पुराना नहीं। और, फिर एक सवाल यह भी उठता है कि यदि हम राज्यों को खतम करके पूर्ण विकेन्द्रीकरण लाना चाहते हैं तो कभी-न-कभी हमें अपने स्वदेशी शासन से टक्कर लेनी ही पड़ेगी। जिन्होंने सत्ता को हड़प लिया है, क्या वे बिना संघर्ष किये उसे छोड़ देंगे?

देश के विचारशील लेखकों तथा कार्यकर्ताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस पुस्तिका को अवश्य पढ़ें।

● —बनारसी दास चतुर्वेदी

पुस्तक-सूचना

श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत

मूल बंगाली भाषा में श्री महेन्द्रनाथ गुप्तजी के लिखे हुए इस अति प्रसिद्ध ग्रन्थ में रामकृष्ण परमहंसजी की अनुभव-युक्त, किंतु घरेलू बोलचाल की भाषा होने से इसकी अपनी मिठास अलग ही प्रकार की है। इस पावन ग्रन्थ का रस सबको चखने को मिले' इस ख्याल से स्व० डा० दातारजी ने मूल बंगाली भाषी ग्रन्थ को नागरी लिपि में छपवाया और मराठी भाषी अभ्यासकों को सुविधा हो; इसलिए अर्थ विवरण करनेवाली टिप्पणियाँ पूरी किताब में आखिर तक बिखरा दीं। इस सारे परिश्रम का कम-अधिक लाभ गुजराती और हिन्दी भाषी भी थोड़ी-सी मेहनत से ले सकेंगे। नागरी लिपि के कारण बंगाली भाषा सीखने का लाभ तो सभी को मिल सकता है।

इस ग्रन्थ का प्रथम भाग—पूर्वार्ध प्रकाशित हो जाने के थोड़े ही दिनों बाद डाक्टर साहब का देहान्त हो गया और आगे का काम अधूरा ही रहा। इस ढाई सौ पन्ने की किताब की मूल कीमत सवा दो रुपये हैं; किंतु जिज्ञासु पाठकों तक यह पहुँचे, इस दृष्टि से इसकी कीमत सवा रुपया रखी गयी है। सवा रुपया मनिआर्डर से भेजनेवालों को यह किताब पोस्ट से भेज दी जायेगी।

ब्रह्मसूत्र : शांकर भाष्य

बालकोबाजी भावे एक साधक हैं। विनोबाजी के छोटे भाई हैं और महात्मा गांधी के अनुयायी। वे शांकरभाष्य को अपना जीवन-ग्रन्थ मानते हैं। उनका कहना है कि हर साधक, बल्कि हर मनुष्य अपने जीवन में इस ग्रन्थ से मार्गदर्शन पा सकता है। इस दृष्टि से वर्षों के चिन्तन के बाद उन्होंने शांकरभाष्य से साधक-जीवन के लिए ऐसे उपयोगी सूत्रों को चुनकर उनका सुलभ भाषा में विस्तृत विवेचन किया है। ग्रन्थ में आरम्भ से अन्त तक यही दृष्टि रखी गयी है कि वह मनुष्य के नित्य व्यवहार में उपयोगी हो।

विषय-ग्रहण की सुलभता की दृष्टि से यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभाजित किया है और पहले दूसरा खण्ड, फिर तीसरा खण्ड और अन्त में पहला खण्ड इस क्रम से प्रकाशन की योजना है। द्वितीय खण्ड लगभग तैयार हो चुका है। मार्च के अन्त तक वह प्रकाशित हो जायगा। आगे के खण्ड करीब आठ-आठ माह के बाद प्रकाशित होंगे।

बढ़िया ग्लेज पेपर और कपड़े की जिल्दवाले इन तीन खण्डों में डेमी आकार के अन्दाजन एक हजार पृष्ठ होंगे। आज की हालत में इस ग्रन्थ का मूल्य २५ रुपयों तक हो जाता है; लेकिन इस ग्रन्थ के प्रचारार्थ कुछ सज्जनों से सहायता प्राप्त हो जाने के कारण यह पन्द्रह रुपयों में घर-पहुँच देना सम्भव हुआ है। जो सज्जन अप्रैल के अन्त तक अग्रिम पन्द्रह रुपये मनिआर्डर से भेजकर अपना नाम दर्ज करायेंगे, उनको ही यह रियायत दी जा सकेगी।

प्रतियाँ सिर्फ एक हजार ही छपी हैं। अतः सीमित ग्राहकों को ही यह सुविधा मिलेगी। साधक मित्र इसका लाभ तुरंत उठावें।

—व्यवस्थापक
परधाम प्रकाशन
पो० पवनार,
वर्धा (महाराष्ट्र)

अनुक्रम

●

नयी तालीम मासिकी का प्रकाशन-वक्तव्य

फार्म ४, नियम ८

प्रकाशन का स्थान — वाराणसी
प्रकाशन-काल — मासिक
मुद्रक व प्रकाशक का नाम — श्रीकृष्णदत्त भट्ट
राष्ट्रीयता — भारतीय
पता — 'नयी तालीम' मासिक, राजघाट, वाराणसी–१
सम्पादक का नाम — धीरेन्द्र मजूमदार
राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — 'नयी तालीम' मासिक, राजघाट, वाराणसी–१
पत्रिका के मालिक — सर्व सेवा संघ (वर्धा) राजघाट, वाराणसी–१
(सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट १८६० के सेक्शन २१ के अनुसार रजिस्टर्ड सार्वजनिक संस्था)
रजिस्टर्ड नं ५२

मैं श्रीकृष्णदत्त भट्ट, यह विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही है।

१ मार्च, '६६

—श्रीकृष्णदत्त भट्ट

●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

ग्रामदान :
शंका और समाधान

धीरेन्द्र मजूमदार

भारत गाँवो का देश है; लेकिन ये गाँव ह कहाँ ? इनकी आर्थिक-सामाजिक तथा सास्कृतिक स्थिति क्या है ? कितने लोग हैं, जो सही सही जानते हैं ? और, जो गिने-चुने जाननेवाले हैं भी, उनम कितने ऐसे हैं, जो गाँववालो के विकास की बात सही ढग से सोच पाते हैं ? कारण यह है कि इसके लिए आरम्भिक और अनिवार्य शर्त है गाँववालो के जीवन में अपने को घुला मिला देना।

किन्तु, आचार्य धीरेन भाई ने किसानो की जीर्ण शीण झोपडियो में अपने जीवन को अधिकाश बरसातें बितायी हैं, उन्ही के साथ गरमी और सरदी के सुख-दुख झेले ह। यही कारण है कि उनको समस्याओ के सम्बन्ध में वे बुनियादी ढग से विचार कर पाते है।

'ग्रामदान शका और समाधान' नाम की पुस्तिका मे उन्होन अपन छियासी प्रश्नोत्तरो क माध्यम से, ग्रामदान के तत्त्व विचार का, जो दिशाबोध कराया हैं, हर एक पढे-लिखे, बडे-बूढे और जवान के लिए, जो गाँव के बारे मे सोचना-विचारना चाहता है, जानना अत्यन्त आवश्यक है।

सर्व-सेवा सघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१ की इस कीमती देन का मूल्य है मात्र-एक रुपया। —अनन्त

नयी तालीम, मार्च '६६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
लाइसेंस न० ४६
रजि० स० एल, १७२३

क्या है इन पुलिन्दों में?

क्या है कागज के इन पुलिन्दो मे? इनमे लिखा क्या है? अगर इन्हे पढा जाय तो इनमें लिखा है कि बीघे मे एक कट्ठा जमीन गांव के भूमिहीन के लिए देंगे और अपनी जमीन की मालकियत ग्रामसभा को सौंपेंगे। खेती करेंगे, अनाज पैदा करेंगे और मन मे एक सेर, तीस दिन की मजदूरी मे से एक दिन की मजदूरी या जो कुछ भी कमाई होगी उसका एक हिस्सा गांव के खजाने में जमा करेंगे।

आज इस प्रकार के हजारो हजार कागज के पुलिन्दे तैयार हो रहे है। ये हैं गांव की मुक्ति के प्रतीक, यानी ग्रामदान के घोषणा-पत्र!

ग्रामदान कहता है कि सारे परिवार मिलकर परिवार-स्वामित्व की जगह ग्राम-स्वामित्व स्थापित करें। गरीब से उसकी मेहनत, जमीनवालो से जमीन, व्यापारी से उसकी कमाई लें और इन सारी शक्तियो को मिलाकर गांव की मुक्ति की योजना करें।

क्या शकल होगी उस मुक्ति की? मुक्ति मिल जाय सारी दासताओ से, सारे बन्धनो से, और देश पूरी तरह मुक्त हो जाय।

सारी विवशताओ से, बाहर के आक्रमण से, भीतर की भूख और आपस के झगडे मे समाज मुक्त हो जाय और मुक्त हो जाय एक-एक गांव।

—राममूर्ति
जयप्रकाश नगर के भाषण से

आवरण मुद्रक — खण्डेलवाल प्रेस मानमंदिर वाराणसी।

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
•
सर्व-सेवा-संघ की मासिक

ग्रामसभा से गाँव का पोषण,
गाँव का शिक्षण और
गाँव का रक्षण।
ग्रामसभा ही गाँव की सरकार होगी,
लेकिन चलेगी सहकार से,
कानून और
डण्डे से नही।

नयी तालीम की आकांक्षा है कि ज्ञान और कर्म, दोनों एक में जोड़ दिये जायँ। कुछ लोग शरीर-परिश्रम करते हैं, उन्हें अच्छी भूख लगे, लेकिन खाना नसीब न हो और कुछ लोगों को जरूरत से ज्यादा खाने को मिले, ओढ़ने को मिले, खाना ठीक से न पचे और डाक्टर उनके पीछे लगे रहें। पाचन-शक्ति-सम्पन्न भूखे लोग और पाचन-शक्ति-विहीन पेट भरे और सन्दूक भरे लोग—ऐसे दो भाग अगर देश में बन जायँ तो, न तो देश में संगीत रहेगा और न समाज में मेल रहेगा। आपस में विरोध होगा, कलह होगा, झगड़ा सतत कायम रहेगा, देश और दुनिया का भला नहीं होगा।

—विनोबा

६·०० वार्षिक
०·१८ एक प्रति

वर्ष : चौदह
•
अंक : नौ

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

क्रान्ति, क्रान्ति, क्रान्ति

'प्रशासन की व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है'।

अगर यह बात किसी विरोधी ने कही होती तो हम समझते कि विरोधी की आँख बुराई पर ही पडती है, और वह अच्छाई को देखकर भी नही देखना चाहता, लेकिन जब खुद प्रधान मत्री के मुँह से ये शब्द निकलते हैं तो सोचना पडता है कि बात सचमुच गहरी है।

अभी हाल मे प्रधान मत्री ने कहा कि जबतक प्रशासन की व्यवस्था मे परिवर्तन नही होगा तबतक विकास के काम में सफलता नही मिलेगी। इसी तरह राष्ट्रपति ने आर्थिक क्रान्ति की बात कही है, और उपराष्ट्रपति ने शिक्षा मे क्रान्ति की माँग की है। कुल मिलाकर आज देश के जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जिसमे क्रान्ति की जरूरत न महसूस की जा रही हो। अब से कुछ बरस पहले एक विदेशी पत्रकार ने कहा था कि भारत एक नही ६ क्रान्तियो के लिए पककर तैयार है, लेकिन आश्चर्य है कि एक भी नही हो रही है।

क्या सचमुच देश में क्रान्ति की चाह है ? और अगर है तो वह प्रकट क्यो नही हो रही है ? या, कही ऐसा तो नही है कि आज जो हालत है उससे ऊबकर लोग

क्रान्ति की बात कह लेते है, लेकिन उनके सामने क्रान्ति का कोई पूरा चित्र नही है, और न तो वे सचमुच क्रान्ति के लिए तैयार ही है। सामान्य जनता राहत चाहती है। उसके लिए परिवर्तन का शायद इतना ही अर्थ है, और वह चाहती है कि इतना परिवर्तन सरकार कर दे। सरकार नही कर पाती है तो उसे खीज होती है, वह निराश हो जाती है, और सोचने लगती है कि दुनियाँ जैसी है वैसी ही रहेगी, इसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। जो पढे-लिखे लोग है, और जिन्हे आज के समाज में दूसरो के मुकाबिले कुछ अधिक आदर और अधिकार का स्थान मिला हुआ है, चाहते है कि परिवर्तन ऐसा हो जिसमे उन्हे इतमीनान और आराम तो भरपूर मिले, लेकिन उनका जो स्थान है, और जिन्दगी का जो तर्ज बना हुआ है उसमें जरा भी हेर-फेर न हो। उधर सरकार के नेताओ और अधिकारियो को, जिसने सबके कल्याण की जिम्मेदारी ले रखी है, पूरा भरोसा है कि उनकी नीतियां और योजनाएँ तो बिलकुल सही है, लेकिन प्रशासन जरा ढीला है, विरोधी शरारती है, और जनता काहिल और जाहिल है, इसलिए कल्याण के काम में कमी रह जाती है। अगर वे क्रान्ति की बात करते है तो बताते क्यो नही कि उनके सामने क्रान्ति का क्या चित्र है ?

निश्चित है कि सोचने का यह ढग क्रान्ति का नही है। उल्टे यह कहा जा सकता है कि चाह सचमुच क्रान्ति की नही है, बल्कि जानबूझकर या अनजान में कोशिश यह है कि क्रान्ति किसी तरह टले और पैबन्द लगाकर काम जबतक चल सके चलता रहे। बस इतना है कि जो परेशानी झेलनी पड रही है उससे ऊब है, नया समाज बनाने के लिए विचार की जिस सफाई, हिम्मत और सगठन की जरूरत है उसे पैदा करने की तैयारी नही है। कहाँ है देश में यह प्रतीति कि अब देश को बुनियादी परिवर्तन की जरूरत है ? कहाँ है जनता की ओर से यह जानने की कोशिश, और नेताओ की ओर से यह बताने की कोशिश कि बुनियादी परिवर्तन का अर्थ क्या है ? प्रशासन में, खेती में, शिक्षा या और किसी चीज मे क्रान्ति अलग-अलग नही होती, बल्कि एक साथ देश के जीवन की जड़ में होती है, जिसका असर तुरत हर डाल और पत्ते में दिखाई देने लगता है।

देश के जीवन की जड़ कहाँ है ? वह है सत्ता और सम्पत्ति के ढाँचे में। सत्ता और सम्पत्ति के ही दो पैरो पर देश का जीवन खडा होता है। आज देश की सत्ता नेताओं

के हाथ में है, और सम्पत्ति मालिकों के हाथ में। ऐसी स्थिति में क्रान्ति का अर्थ यह है कि सत्ता और सम्पत्ति दोनों इनके हाथों से निकलकर जनता के हाथों में चली जायें। क्या यह दलबन्दी की राजनीति और पूंजीवाद की अर्थनीति के रहते हो सकेगा ? जो लोकक्रान्ति सत्ता पर से दलपति और सम्पत्ति पर से पूंजीपति की मालिकी हटायगी वह आज के प्रशासन, आज के बाजार, आज की शिक्षा आदि सबको लोकनिष्ठ बना देगी। वह लोकक्रान्ति सरकार की ओर न देखकर 'लोक' की ओर देखेगी, और तब सरकार की कल्याणनीति नहीं चलेगी, बल्कि 'लोक' की सहकार-रीति चलेगी।

ऐसी क्रान्ति करने की शक्ति कहां है ? अगर सरकार में होती तो क्रान्ति कब की हो गयी होती। नेताओं-द्वारा होनेवाली क्रान्ति का जमाना हमेशा के लिए खत्म हो गया। अब दो ही शक्तियां रह गयी हैं—एक सेना की शक्ति, दूसरी जनता की शक्ति। सेना में वह शक्ति है कि वह क्रान्ति को कुछ समय के लिए रोक दे और डाक्टर की सूई की तरह जनता को महसूस करा दे कि वह परिवर्तन की पीडा से बच गयी, दूसरी ओर जनता में वह शक्ति है कि वह अपने निर्णय से खडी हो जाय, और तत्काल अपने जीवन में क्रान्ति की योजना को लागू कर दे। अगर यह काम जल्द करना हो तो जनता और क्रान्ति के बीच म खड़ा होनेवाला कोई नहीं है—न सरकार का कानून, और न सेना की बन्दूक। इस देश क नेता और जनता चुनें कि वह कैसी 'क्रान्ति' चाहती है ?

विनोबाजी अपने ग्रामदान—अब पूरे ब्लाकदान की क्रान्ति में उसी बुनियादी परिवर्तन की लोकक्रान्ति की बात कह रहे हैं। लेकिन मुश्किल यह है कि जनता अभी अपनी क्रान्ति को ही नहीं समझ पा रही है। दूसरी ओर यह साफ नहीं है कि नेता किस क्रान्ति की बात कह रहे हैं। आजकल क्रान्ति की इतनी अधिक बात हो रही है कि शुबहा होता है कि कहीं ऐसा न हो कि अन्दर-अन्दर क्रान्ति से बचने की कोशिश हो रही हो।

शिक्षण : कुछ अशेष प्रश्न

•

जयप्रकाशनारायण

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान और ट्रेनिंग देना तो है ही उसका एक सर्वमान्य उद्देश्य है—मनुष्य को मानव बनाना, 'उत्तम मानव' बनाना। यह अत्यन्त कठिन काय है। मनुष्य का पर्यावरण बदलने के लिए तो बहुत कुछ किया गया है, परन्तु स्वय मनुष्य को समझने और बदलने के लिए बहुत कम काम किया गया है। प्राचीन काल में दूसरी ही बात थी। पर्यावरण को ईश्वर माना जाता था। उसे समझना और बदलना आवश्यक था, पर केवल उतना ही, जितना मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक था। सारा जोर इस पर दिया जाता था कि वस्तुत मनुष्य क्या है और कौन है इसे वह पहचान सके। इसे ज्ञान और प्रसन्नता का मूल उद्देश्य माना जाता था। दुर्भाग्य की बात है कि आज के शिक्षण में आत्मज्ञान की या सच्ची मानवता की ओर ले जाने की कोई धारा ही नहीं रह गयी है।

पिछले कुछ वर्षों से पूर्व और पश्चिम में भीतरी और बाहरी, भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान को जोडने का उत्तम समन्वय का प्रयत्न किया जा रहा है। जब यह प्रयत्न पूरा हो जायगा तो मनुष्य की बाहरी और भीतरी प्रवृत्तियो में सामजस्य स्थापित हो सकता है। आज यह सामजस्य दुर्लभ है। आज विज्ञान, व्यवसाय या राजनीति का 'आत्मा' के ज्ञान से कोई सम्बध नहीं रह गया है।

गाधीजी ने राजनीति को आध्यात्मिकता की दिशा म ले जाने की आवश्यकता पर जोर दिया था, पर वे राजनीति और अध्यात्म में कोई तर्कसगत सम्बन्ध स्थापित नही कर सके। गाधी के भारत में भी राजनीति का शिक्षण-अध्यात्म शिक्षण से भिन्न माना जाता है। आज के युग में तो 'राष्ट्र-सत्ता ही सबसे प्रबल हो रही है, जो मुझे मानवता के लम्बे इतिहास म बनी सबसे भयकर सस्था लगती है।

नैतिक मनुष्य : अनैतिक समाज

आज शिक्षित जनमत ऐसा मानता है कि राजनीति का कोई अभ्यासी यदि अपने आध्यात्मिक ज्ञान के अनुकूल चलने का प्रयास करता है तो वह अपने व्यवसाय के लिए नालायक और अव्यावहारिक माना जायगा। यों नैतिकता या आध्यात्मिकता की बात सभी राजनीतिज्ञ करते है, पर हर राजनीतिज्ञ की, हर राष्ट्र की नैतिकता या आध्यात्मिकता भिन्न होती है। आध्यात्मिकता से राजनीति का सम्बन्ध विच्छेद आश्चर्यजनक है। कारण, जैसा कि रिचर्ड क्रासमैन ने कहा है—सभी राजनीतिक निर्णय नैतिक धरातल पर लेने का प्रयत्न किया जाता है।' मानव-व्यक्तित्व का यह विभाजन तबतक ऐसा ही बना रहेगा जबतक 'नैतिक मनुष्य और अनैतिक समाज' के बीच का पारस्परिक विरोध सामजस्यपूर्ण ज्ञान के द्वारा दूर नहीं किया जाता और उसी ज्ञान के आधार पर शिक्षण नहीं दिया जाता।

कोई भी भौतिक या सामाजिक विज्ञान यदि सत्य पर दृढ नही रहता तो उसका विकास ही नहीं हो सकता, पर यही सत्य जब समाज पर लागू करने की बात आती है तो नैतिकता टूट जाती है। विज्ञान या उपयोग नैतिक कामों के लिए भी होता है और अनैतिक कामों के लिए भी। यह ठीक नहीं।

आत्मा की आवाज

छात्रों के सामने प्रश्न है कि वे खण्डित व्यक्तित्ववाले पुरुष बनेंगे या अखण्डित व्यक्तित्ववाले? क्या वे व्यक्तिगत जीवन में सदाचारी बनने का प्रयत्न करेंगे और सामाजिक जीवन में सदाचार को वैसा मूल्य नहीं देंगे? मुझे इसमें सन्देह नहीं कि यदि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचार को जैसा ऊँचा स्थान दें, वैसा ही सार्वजनिक या सामाजिक जीवन में भी देंगे। वे कहीं अच्छे अर्थशास्त्री, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, अध्यापक, राजनीतिज्ञ या कुछ भी बन सकते हैं। वे इतना भी कर लें तो अपने देश की महान् सेवा करने में समर्थ होंगे। उससे उनका अपना भी लाभ होगा। उन्हें प्रसन्नता और शान्ति मिलेगी। उनका तन भी स्वस्थ रहेगा, मन भी।

शान्ति का प्रश्न

अब मैं कुछ 'स्वयम्' की बात कहूँ। कई साल से शान्ति के प्रश्न से मेरा लगाव रहा है। आज हमारे देश के सामने भी यह बड़े महत्व का प्रश्न है। आज के विद्युत्-अणुयुग में उसकी आवश्यकता को कौन नहीं स्वीकार करता? मेरे मत से विश्वविद्यालयों में शान्ति के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए। उसका गहरा अध्ययन होना चाहिए। योरप और अमेरिका में शान्ति पर शोध के लिए कई संस्थान खुले हैं। प्रसन्नता की बात है कि अमरिका में कितने ही छात्र और अध्यापक शान्ति यात्राओं, शान्ति विरोधों आदि में भाग लेते हैं। युद्ध के संकट को देखकर विश्व के हृदय में शान्ति की भूख है।

पर, जहाँ युद्ध के साधनों और उपकरणों की शोध के लिए अरबों-खरबों रुपये खर्च किये जाते हैं, वहाँ शान्ति की शोध के लिए कुछ नहीं। क्या ही अच्छा हो कि विश्वविद्यालय के सामाजिक और भौतिक वैज्ञानिक शान्ति और सघर्ष निवारण के लिए कोई शोध-संस्थान खोलें।

युद्ध या शान्ति का प्रश्न छात्रों के लिए हमारी अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का है। इस प्रश्न का वे कैसा उत्तर देते हैं, इसी पर उनका और देश का भविष्य निर्भर करता है।

गांधीवादी आन्दोलन की सबसे कमजोर कड़ी यह है कि उसे बुद्धिजीवी वर्ग का पर्याप्त समर्थन प्राप्त नहीं है। छात्रों के माध्यम से मैं उच्च शिक्षण के अन्य केन्द्रों को भी कहना चाहता हूँ कि वे लोग सोचें कि क्या उनका यह कर्तव्य नहीं है कि वे लोग गांधीजी के जीवन और उनके उपदेश की ओर अधिक ध्यान दें और आज की समस्याओं पर गांधीवादी दृष्टि से विचार करें? क्या वे यह भी नहीं मानते कि युद्ध एक अभिशाप है और उसका उन्मूलन होना चाहिए? क्या वे यह नहीं मानते कि युद्ध से इस देश का सर्वनाश होगा और राष्ट्र के निर्माण के लिए हमें स्थायी शान्ति की जरूरत है? इसलिए क्या गांधीवादियों की तरह शान्ति की शोध करना और विश्व को युद्धहीनता की स्थिति की ओर ले जाना उनका कर्तव्य नहीं है? यदि हमारे बुद्धिजीवी इस चुनौती को स्वीकार करते हैं तो मुझे सन्देह नहीं कि अहिंसा को व्यर्थ की बात नहीं समझा जायगा।

चिन्तन की दिशा

तब अहिंसा एक महान् शक्तिशाली और क्रान्तिकारी विचारधारा का रूप धारण करेगी, राजनीति तथा समाज पर अपना प्रभाव डालेगी और जन-आन्दोलन के लिए जिस प्रेरणा की अत्यन्त आवश्यकता है वह भी प्रदान करेगी। आज तमाम विश्वविद्यालयों में गांधीजी के नाम पर शिष्टाचार के रूप में जो व्याख्यान मालाएँ चलती हैं, उनके बजाय सभी विश्वविद्यालयों में सामाजिक जीवन के आधार के रूप में अहिंसा की सैद्धान्तिक और अनुभवसिद्ध शोध होनी चाहिए।

हमारे पूर्वजों ने, विशेषतः जैनों ने व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा को अमल में लाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था, जिसके लिए वे अत्यन्त बारीकी में भी चले गये थे, परन्तु जब सामाजिक अहिंसा का प्रश्न आया, जैसे प्रत्यक्ष रूप में युद्ध और अप्रत्यक्ष रूप में आर्थिक शोषण, तो उसका विरोध और उन्मूलन करने के लिए नैतिक उपदेश के अतिरिक्त वे और कुछ नहीं कर सके। इस दिशा में बौद्धिक कार्य करने की एक व्यापक चुनौती हमारे आज के स्नातक-स्नातिकाओं, विद्वान अध्यापकों और अभिभावकों के सामने है।

—मैसूर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण से

चिन्तन-प्रवाह

प्रतिकार की गांधीनीति

●

काका कालेलकर

आज मनुष्य के सामने सबसे बडा सवाल है, अन्याय का प्रतिकार कैसे किया जाय ? अन्यायी मनुष्य किसी न-किसी दिन परिस्थितिवश या शुभचिन्तन के द्वारा सुधर तो जायगा ही, लेकिन हमारे सामने सवाल है अपने कर्तव्य का। हम अन्याय क्योंकर सहन करें ? उससे हमारा व्यावहारिक नुकसान तो होता ही है, किन्तु उसके साथ नैतिक अधःपात भी होता है। उसे टालने के लिए हम क्या करें ?

दुनिया कहती है कि अन्यायकारी के खिलाफ हम अपना बल चलायें अथवा सरकार के द्वारा सामाजिक बल का प्रयोग करें। लेकिन अनुभव यह नहीं है कि बल-प्रयोग से न्याय मिलेगा ही। शारीरिक बल न है नैतिक, न अनैतिक। जिसका बल अधिक और संगठन आदि का चातुर्य अधिक, उसकी जीत होती है।

सत्याग्रह : एक नैतिक युद्ध

गाधीजी ने देखा कि शारीरिक बल में हिंसा का दोष है, और अन्याय दूर होगा ही ऐसा विश्वास नहीं है। इसीलिए अन्याय के प्रतिकार के लिए नैतिक बल का प्रयोग करना चाहिए। केवल नसीहत या चर्चा से मनुष्य की न्याय-बुद्धि जाग्रत नहीं होती। स्वार्थ, लोभ, अभिमान, ईर्ष्या और सकुचितता, एकांगिता और पूर्वग्रह आदि दोषो के कारण मनुष्य न्याय की बात कबूल नही करता। उसमें सज्जनता का उदय नही होता। ऐसा उदय कराने के लिए नैतिक युद्ध ही करना चाहिए। उसी को गाधीजी ने नाम दिया—सत्याग्रह।

सत्याग्रह में सत्य के बल का प्रयोग किया जाता है जो अहिंसक होने के कारण कष्ट सहन और आत्मबलिदान करने से ही जाग्रत होता है और कारगर भी होता है। इसी बल का प्रयोग बडे पैमाने पर गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में किया और राष्ट्रीय पैमाने पर भारत में। इसी बल का प्रयोग अमेरिका के नीग्रो लोग सगठित रूप से आज अमेरिका मे कर रहे है।

इस नैतिक बल-प्रयोग की युद्ध-नीति का ही कुछ चिन्तन हमें करना है।

अन्यायकारी व्यक्ति जब किसी को दबाना चाहता है, तब पीडित व्यक्ति के सामने एक ही विकल्प रहता है—या तो अन्याय की शरण जाय या उसका प्रतिकार करते जो भी कष्ट सहन करना पडे उसके लिए तैयार हो जाय। सर्वस्व की हानि या प्राण-नाश तक मनुष्य की तैयारी होनी चाहिए।

महात्माजी हमेशा कहा करते थे कि सत्याग्रह मे उतरने के पहले सामोपचार के सब तरीके आजमाये जायें। समझौता करते समय कुछ छोडना पडता है, कुछ देना पडता है, उसके लिए भी तैयार रहना सामाजिक जीवन में जरूरी होता है। यह सब करने पर भी अगर विरोधी आदमी स्वार्थ के कारण, लोभ या ईर्ष्या के कारण, अथवा केवल उन्मत्त जिद के कारण अन्धा बन गया है और न मानता है, न समझता है, तो दुनिया के रास्ते जाकर अगर उसको हम सजा करें, उसका नुकसान करें, उसे लाचार बनायें, उसे सब तरह से हरायें और जबर-

दस्ती हमारी बात मानने को बाध्य करें तो इसमें बल-प्रयोग की ही सिद्धि होती है। विरोधी की उच्च भावनाएँ जाग्रत नहीं होतीं। और हम कैसे कहें कि हमारी जीत हुई तो वह न्याय की ही जीत थी? जिसका बल ज्यादा, जिसका चातुर्य ज्यादा, उसी की जीत होती है। हारनेवाले को न्याय की आशा ही नहीं रहती।

विरोधी का विरोध कैसे

गांधीजी ने दूसरा रास्ता बताया कि विरोधी को हम मारें नहीं, किन्तु उसका हम नैतिक साधनों से विरोध करें। इसमें भुगतना पड़ेगा हमें ही। हम वह सब कुछ सहन करेंगे, किन्तु अन्याय को बरदाश्त नहीं करेंगे। आखिरकार विरोधी अन्यायकारी को हमारा सत्पक्ष का आग्रह देखकर जाग्रत होना ही पड़ेगा। उसकी सद्भावना जाग्रत होगी ही। अन्याय करते वह शरमायेगा। उसके दिल में रही लोक-लाज की भी विजय होगी। और अन्त में वह मान जायगा।

इसमें भी वह दबता तो है, लेकिन मार खाकर, हारकर नहीं, बल्कि हमारी सहन करने की सात्विक तेजस्विता देखकर। ऐसा नैतिक दबाव जरूरी होता है।

तेजस्वी शक्ति का परिचय

सत्याग्रही जब विरोध करता है तब अन्यायकारी खुश थोड़े ही होता है? वह चिढ़ जाता है और सब तरह के विरोध आजमाता है। लेकिन सत्याग्रही की सात्विक तेजस्विता के प्रति, उसकी सज्जनता के प्रति उसके मन में आदर ही पैदा होता है। तेजस्विता का परिचय कराये बिना आदर उत्पन्न नहीं होता। और आदर के बिना विरोधी प्रतिस्पर्धी जाग्रत नहीं होता, अनुकूल नहीं होता। केवल सज्जनता, क्षमा और उदारता बस नहीं होती। तेजस्वी शक्ति का परिचय जरूरी होता ही है।

मामूली युद्धनीति में शत्रु के प्रति मन में द्वेष और हिंसा होती है। उसका अधिक-से-अधिक बुरा करने की नीति का ही स्वीकार होता है। सत्याग्रह में विरोधी का भला करने का ही हेतु होता है।

विनोबाजी की व्याख्या

इस एक बात को लेकर विनोबाजी कहते हैं कि सच्चा सत्याग्रह मारल रेसिस्टेन्स (नैतिक प्रतिरोध) नहीं, किन्तु मारल असिस्टेन्स (नैतिक सहायता) होना चाहिए। मामूली युद्ध भी एक तरह का असिस्टेन्स तो है ही। कुत्ता हमारी बात नहीं मानता, नहीं समझता, तब हम उसे मारते हैं। ऐसे समय पर मैं हमेशा कहता हूँ कि कुत्ता समझ सके ऐसी ही भाषा में मैं उससे बोलता हूँ। मैं कुत्ते को खत्म थोड़े ही करता हूँ? ऐसे व्यवहार में माननेवाले को कौन-सा शब्द अनुकूल है, यह नहीं देखना चाहिए। मार खानेवाला अगर मार को असिस्टेन्स कहे तब तो भाषा बराबर है।

सीधी बात यह है कि अन्यायकारी विरोधी को उसके अनुचित इरादे में निष्फल बनाने के लिए ही हम सत्याग्रह करते हैं। हम दुख सहन करते हैं—यहाँ तक कि अन्यायकारी भी मन का आराम छोड़कर अस्वस्थ और दुखी हो जाय। रेसिस्टेन्स को रेसिस्टेन्स ही कहना चाहिए। उसका फल असिस्टेन्स के जैसा हो जाय, वह बात इष्ट है।

सवाल भाषा का नहीं है

सत्याग्रह-शास्त्र के आद्य आचार्य महात्मा गांधीजी कहते हैं कि हम सब पर विश्वास रखकर ही चलते हैं। सीधी बात सौम्यता से, किन्तु आग्रहपूर्वक कहने से विरोधी अकसर मान जायगा। इसलिए तो गांधीजी पहले सौम्य इलाज अपनाते थे। उससे नहीं चला तो तेज इलाज काम में लाते थे। अन्तिम इलाज तेजाब के जैसा रहता था। वही था आत्म-बलिदान तक जानेवाला सत्याग्रह।

श्री विनोबा अब कहते हैं कि सत्याग्रह उत्तरोत्तर सौम्य सौम्यतर और सौम्यतम होना चाहिए। हम भाषा कौन-सी इस्तेमाल करें यह सवाल नहीं है। अन्याय, अत्याचार, अधर्म का विरोध हम करते जाते हैं। मानते हैं कि सौम्य इलाज से काम चल जायगा। वह नहीं चला तो हम अपना प्रयत्न छोड़ नहीं देते। पहले इलाज से अधिक कारगर दूसरे इलाज को अपनाते हैं।

अब, होमियोपैथी में दवा की मात्रा सूक्ष्म रहने से उसकी पोटेन्सी ताकत बढ़ जाती है। उसका वीर्य बढ़

जाता है। अनुभव से सिद्ध करने की बात है। जो दवा स्थलरूप में एक-दो तोले में हजम कर जाऊँ और उसका कुछ भी असर न हो, उसकी मात्रा सूक्ष्म करने से उसका असर अद्भुत होता है, कभी-कभी भयानक भी होता है। मुझे एक दफा नागपुर के होमियोपैथी के डाक्टर दफ्तरी ने उच्च पोटेन्सी की सूक्ष्म मात्रा की होमियोपैथिक दवा दी। उससे भयानक, असह्य वेदना होने लगी। मेरे साथी सेवक ने रात को दो बजे जाकर उनको जगाया और कहा कि वेदना असह्य है। उन्होंने कहा—मैंने बहुत ऊँची पोटेन्सी की—सूक्ष्म मात्रा की दवा दी थी। आश्चर्य नहीं कि दाह और वेदना हो रही है। इलाज आसान है। उन्हें कपूर सूंघने दीजिए, तुरन्त आराम होगा। मेरे साथी वहीं से कपूर ले आये। बस, कपूर सूंघते ही आधे क्षण के अन्दर, वेदना गायब हो गयी और मैं आराम से सो गया। रोग तो तुरत मिटा नहीं, लेकिन वह बात और है।

सत्याग्रह की कसौटी

गांधीजी ने जिस तरह सत्याग्रह के प्रयोग करके मानव जाति को अनुभव कराया, उसी तरह आज कोई सफलतापूर्वक अनुभव कराये कि सूक्ष्म से सूक्ष्मतम इलाज करना उत्तम सफलता मिलती है तो दुनिया राजी होगी। यह कोई दलील का सवाल नहीं है अनुभव का है। सत्याग्रही का प्रत्यक्ष अनुभव दिखाना चाहिए कि वहाँ कैसी सफलता मिली और अन्याय का प्रतिकार हो गया।

हिंसायुक्त इलाज स्थूल और अनैतिक होते हैं, और कहना पड़ता है कि 'दि रेमिडी इज वर्स दैन दि डिजीज' (मर्ज से तो इलाज ही बदतर है)। इसीलिए तो गांधीजी ने नैतिक इलाज आजमाकर देखा। सफलता ही हरेक प्रयत्न की कसौटी है किन्तु शत्रु की सफलता भी कम होती है, और परस्पर विरोधी एक-दूसरे के सहयोगी भी बन सकते हैं।

गांधीजी के बाद सत्याग्रह का व्यापक प्रयोग कर दिखाया अमरीका के नीग्रो नेता मार्टिन लूथर किंग ने। वह प्रयोग पूरा नहीं हुआ है लेकिन सफलता के आसार पूरे-पूरे दिखाई दे रहे हैं।

नये प्रयोग की दिशा

सत्याग्रह दार्शनिक चर्चा का विषय नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। गांधीजी ने जो प्रयोग किये उनपर से बोध लेकर नये-नये प्रयोग आजमाने की बात है। सौम्य प्रयोग करके अपने को ही विरोध के क्षेत्र से हटाना और शून्य बन जाना, यह भी तरीका हारे हुए लोगों का हो सकता है। इसे हारना भी क्या कहें ? जहाँ लड़े ही नहीं, और शरण गये, उसे शरण कह सकते हैं, हार नहीं।

भारत में गांधीजी के नेतृत्व में जिन लोगों ने उपसेनापति का काम किया, ऐसे लोग आज भी कम नहीं हैं। वे अगर दो ही काम हाथ में ले लें और सत्याग्रह के द्वारा सफलता प्राप्त कर दिखायें तो भारत की और मानवता की उत्तम सेवा होगी।

एक है अस्पृश्यता निवारण और दूसरा है घूसखोरी का इलाज। इसमें सफलता मिलने के बाद ही हिन्दू-मुस्लिम दिल सफाई और गोरक्षा के काम हाथ में लिए जा सकते हैं।

●

मैंने एक बात कही है। विरोधी को निर्दोष चिन्तन के लिए मदद करें। मदद इसमें कि वह अन्याय न करे, सही रास्ते चले। कभी कुछ रेमिडि करना भी हो तो इसी असिस्टेन्स के अङ्ग के रूप में करें।

लोग कहते हैं कि अधिकारी लोग अन्याय करते हैं। यदि वे कानून के खिलाफ करते हैं तो कानून के अन्तर्गत उनपर कार्रवाई करानी चाहिए। यह तो वैयक्तिक गलती है। पहले उसे समझकर उससे बात वगैरह करके देख लेना चाहिए। उससे काम न बनता हो तो कानून के हवाले करना चाहिए। उसमें वकील आदि की मदद लेनी होगी तो वह सब चलेगा। इसी को मैं झमेला कहता हूँ। हमारे पास कार्यकर्ता ज्यादा हों, तब तो बात अलग है, वरना बुराई की उपेक्षा करके अपने काम में लगे रहना ठीक है।

—विनोबा

बालकों के नाटकीय खेल

•

जुगतराम दवे

बच्चों के खेलों का एक प्रकार है जिसे नाटकीय खेल का नाम दिया जा सकता है। आमतौर पर खेलों में दौड़ने, कूदने, थकने और हँसने का जो मुख्य तत्त्व होता है, वह इसमें नहीं रहता। फिर भी चार-छह बालक मिलकर इस प्रकार के खेल खेलते हैं और वे बड़ी तल्लीनता के साथ लम्बे समय तक उन्हें खेला करते हैं।

घर के बड़े-बूढ़ों की कुछ बातें बालकों के मन को बहुत ही आकर्षित करती रहती हैं। बालक उन्हें नाटकीय खेलों के रूप में खेले बिना रह ही नहीं पाते।

१. घर-घर का खेल

बच्चों के ऐसे नाटकीय खेलों में एक है, घर घर का खेल।

एक बालक गृहिणी बनकर रसोई बनाता है और दूसरे बालक मेहमान के नाते भोजन करने आते हैं। गृहिणी रसोई बनाती और परोसती जाती है और मेहमान भोजन करते रहते हैं। बीच-बीच में गृहिणी आग्रह कर-करके लड्डू परोसती रहती है और मेहमान 'बस बस', 'नहीं-नहीं' कहते हुए लड्डू उड़ाते जाते हैं।

बालकों की कल्पना-शक्ति

इस खेल में बालक अपनी उम्र और कल्पना के अनुसार कई प्रकार की विविधताएँ खड़ी कर सकते हैं।

दीवार से सटाकर रखे गये पलंग या खाट की आड़ में जो एक तंग-सी गली बन जाती है इस खेल के लिए अक्सर बालक उसे ही अपना 'घर' बना लेते हैं। कुछ कल्पनाशील बालक दो-तीन खाटों, पेटियों या मेजों को ढंग से सजाकर अपने लिए एक अधिक विशाल घर बना लेते हैं। कुछ बालक इन पर पर्दा की आड़कर के घर के एकान्त को और बढ़ा लेते हैं।

अलग-अलग बालक अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार अपने लिए चूल्हा की अलग-अलग ढंगवाली रचनाएँ कर लेते हैं। कोई तीन छोटे कंकरों या पत्थरों की मदद से अपना चूल्हा रच लेते हैं, कोई गारा सानकर उसका चूल्हा बना लेते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो अपने माता पिता-द्वारा खरीदकर लाये गये खिलौना रूप चूल्हा का उपयोग करते हैं।

इन चूल्हों में वे अपनी कल्पना का ईंधन जलाकर उसकी आँच में रसोई तैयार करते हैं। अधिक अभिनय प्रिय बालक अपने चूल्हों में ईंधन की जगह सनकाठी रखते हैं और जबतक वे उसे बार-बार फूँक नहीं लेते, उन्हें सन्तोष नहीं होता। हो सकता है कि कुछ अधिक साहसी बालक सचमुच की आग जलाने को तैयार हो जायें। ऐसे समय बड़ों को सावधानी रखनी होगी।

अपने इस रसोईघर में बरते जानेवाले तवा, पतीली, थाली आदि बरतनों की व्यवस्था भी बालक अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार अलग-अलग ढंग से कर लेते हैं। वे ठीकरियों की पतीलियाँ बनाकर उनमें कल्पना की खिचड़ी पका लेते हैं और कोई-कोई तो ठीकरी का ही तवा बनाकर उसपर रोटियाँ सेंक लेने का खेल खेल लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो खिलौनों के अपने संग्रह में से नन्ही नन्ही पतीलियाँ, तवे और थालियाँ खोज लाते हैं और उन्हीं का उपयोग करते हैं। कुछ अधिक

ग्रामसभा

का

पहला काम

●

राममूर्ति

प्रश्न—ग्रामसभा को गाँव के सभी छोटे-बड़े किसानों ने अपनी भूमि की कानूनी मालिकी सौंपी है—यद्यपि बीघा-कट्ठा से बची भूमि पर पूरा अधिकार उन्हीं का बना रहेगा—और गाँव के सभी किसान, व्यापारी, मजदूर, नौकरी करनेवाले ग्रामसभा के खजाने में अपनी कमाई का एक भाग देंगे। जब सबने ग्रामसभा में इतना विश्वास रखा है तो सबको यह आशा रखने का अधिकार है कि ग्रामसभा दुर्गामाता की तरह समान रूप से सबकी रक्षा करेगी। यह तभी होगा जब ग्रामसभा अपनी ईमानदारी और सेवा-भावना से यह दिखा देगी कि उसका हृदय शुद्ध है। क्यों, है ऐसी बात न ?

उत्तर—बहुत बड़ी जिम्मेदारी है ग्रामसभा पर, लेकिन जितनी बड़ी जिम्मेदारी है, उतना ही बड़ा अवसर भी है। गाँव का ही नहीं, पूरे देश का भविष्य इन ग्रामदानी ग्रामसभाओं पर है। ये ही देश को लोकतन्त्र और समाजवाद के रास्ते पर चलायेंगी। इन्हीं से देश का इतिहास बदलेगा।

प्रश्न—ग्रामसभा बन गयी। गाँव के सब बालिग उसमें शामिल हैं। वह सबकी है। प्रेम उसकी शक्ति है, इसलिए वह सचमुच प्रेम-सभा है। आपने सर्व-सम्मति की जो बात कही उससे मैंने यह समझा कि काम से कहीं अधिक महत्व आपस के मधुर सम्बन्धों का है—सबको मिलाकर चलने का है। और आपसी सम्बन्ध मधुर तभी रहेंगे जब हम एक-दूसरे पर विश्वास करेंगे और सहकार से काम करेंगे। क्या मैंने ठीक समझा है ?

उत्तर—बिलकुल ठीक समझा है। ग्रामसभा का मुख्य काम है कि आज जो लोग एक-दूसरे के दुश्मन समझे जाते हैं, यानी मालिक, मजदूर और महाजन, उन्हें वह इस तरह मिला दे कि वे एक-दूसरे के मित्र बन जायँ, और सब मिलकर गाँव की सेवा करने लग जायँ। यह कैसे होगा, इस बारे में अधिक विस्तार के साथ चर्चा आगे करूँगा। अभी इतना मान लीजिए कि ग्रामसभा बन गयी। अभी आपसी ग्रामसभा बनी है, उसकी कानूनी मान्यता बाद को सरकारी कारवाई-द्वारा होगी। लेकिन तुरत काम शुरू करने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—कानूनी मान्यता जब मिलेगी तब मिलेगी, और जब कानून बन गया है तो मिलेगी ही, लेकिन काम तो हम लोगों को तुरत शुरू कर देना है। बताइए कैसे शुरू करें।

उत्तर—पहला काम है ग्रामदान को पक्का करना, यानी नींवें को मजबूत करना। अभी केवल घोषणा हुई है। समर्पण पत्र अधूरे भरे गये हैं। उन्हें तुरत पूरा करना जरूरी है। अगर ये कागज पूरे नहीं होंगे तो बाद को कानूनी कारंवाई में बहुत कठिनाई होगी।

प्रश्न—हमलोग समर्पण-पत्र के काम में लगेंगे, लेकिन कई जानकारियाँ सरकार के कर्मचारी (उ० प्र० में लेखपाल) से प्राप्त करनी होंगी। वे कैसे मिलेंगी ?

साहसी बालक ऐसे भी होते हैं जो घर के बरतनों में से छोटी-छोटी पतीलियाँ, कटोरियाँ और थालियाँ उठा लाते हैं और उन्हीं का उपयोग करते हैं।

भोजन की वस्तुओं में भी बालक अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार तरह-तरह की विविधताएँ लाते हैं। कोई कंकर और रेत से सन्तुष्ट हो जाता है। कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें खाने के लिए मूँगफली के दाने, चने, मुरमुरे, रेवडी, बतासे-जैसी चीजें मिलने पर उन्हीं को वे खेल में लड्डू, रोटी वगैरह का रूप दे देते हैं। दूसरे कुछ ऐसे भी होते हैं कि जबतक दाल चावल के दाने लाकर उन्हें अपनी ठीकरी रूपी पतीली में नहीं डालते, तबतक उनकी कल्पना शक्ति सन्तुष्ट नहीं होती। कोई गारे की रोटी बनाकर उसे ठीकरी के तवे पर सेंकता है, तो कोई सचमुच का आटा लाकर उसकी छोटी-छोटी रोटियाँ बनाता है—तभी उनका मन भरता है, उसे सन्तोष होता है।

खेल-खेल में नाटक

भोजन करनेवाले मेहमानों को अधिकतर तो कल्पना का ही भोजन करना होता है और पानी भी काल्पनिक ही पीना पडता है। लेकिन जब कुछ प्रगतिशील बालक मूँगफली के दानों और चना-जैसी चीजें ले आते हैं, तो मेहमानों को सचमुच का खाना भी मिल जाता है।

घर घर के इस खेल में बालक अपनी कल्पना शक्ति को सन्तुष्ट करने लायक विविधताएँ ला सकते हैं। यह नियमों से जकडा कोई खेल नहीं, एक प्रकार का नाटक है। कोई अपने इस खेल में झाडन-बुहारने, पानी भरने और घरों में चलनेवाले ऐसे ही दूसरे कामों को खासतौर से करता है तो कोई ऐसा भी होता है जो माथेपर घास का गट्ठर उठा लाता है और नहाने की जगह झूठ-मूठ का पानी रखकर नहाने का अभिनय करता है। कुछ होते हैं, जो भोजन के बाद बरतन माँजने और धोने का भी खेल खेलते हैं और कुछ जीम चुकने पर सो लेने का अभिनय करके अपने इस नाटक की पूर्णाहुति करते हैं।

बालकों के इन नाटकीय खेलों में बडे सम्मिलित हों या न हों? आमतौर पर तो बालकों के कामों और खेलों में बडे बालक बनकर भाग लेते हैं तो बालक उससे खुश ही होते हैं। जहाँ शिक्षिकाएँ बालकों के साथ घुलने-मिलने में शरमाती हैं और गम्भीर मुँह बनाकर बैठी रहती हैं या सिर्फ अपनी जबान का जोर लगाकर बालवाडी चलाने की कोशिश करती हैं, वहाँ बालकों को किसी भी काम में कोई रुचि पैदा नहीं होती। वे भी शरमाने और भारी मुँह लेकर बैठे रहने में ही बडप्पन मानने लगते हैं। इसलिए साधारणतया नियम तो यही होना चाहिए कि शिक्षिकाएँ उन्मुक्त भाव से बालकों की इन प्रवृत्तियों में सम्मिलित हों और लगभग बालक बनकर सम्मिलित हों।

बडों के लिए चेतावनी

यद्यपि हम बालक बनकर बालकों के साथ घुलमिल जाने की बात पर जोर दे रहे हैं, फिर भी इसकी अपनी कुछ प्राकृतिक मर्यादाएँ तो रहेंगी ही। बडे-बूढे बालक बनने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिन्हें वे कर ही नहीं सकते। उदाहरण के लिए, वे अपने शरीरों को बालकों के समान छोटा कैसे बना सकते हैं? इसी तरह जब बडे बालकों के खेलों में शरीक होते हैं, तो सहज ही उनकी यह अपेक्षा-सी रहती है कि खेल लम्बे समय तक चले, अखण्डित चले, कम-से-कम घण्टे-आध घण्टे तक तो चले ही। लेकिन जब बालक अकेले खेलते होते हैं, तो इतने समय में तो वे तीन चार अलग-अलग खेल-खेल चुके होते हैं और शायद इस बात को भूल भी जाते हैं कि उन्होंने कोई एक खेल शुरू किया था, और आश्चर्य नहीं कि खेलते-खेलते वे किसी दूसरे खेल में उतर जायँ और उसी में रम जायँ।

इसी तरह जब बडे बालकों में मिलकर खेलते हैं, तो वे बालक बनने की अपनी सारी कोशिशों के बाद भी खेलों पर कोई अंकुश रखे बिना रह नहीं पाते। जब बालक अंकुश में रहकर अपने-अपने हिस्से का काम भली भाँति नहीं करते, कुछ इधर उधर होने लगते हैं, तो बडे-बूढे अदृश्यरूप से उनपर अपना अंकुश लगाने के लालच को रोक नहीं पाते। जब बालक खुद ही खेलते होते हैं, तो वे खेल के नियम क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं और जितना समय खेलने में बिताते हैं, उससे अधिक समय नियम बनाने में और उन्हें तोडने में लगा देते हैं। ऐसी हालत में कई शान्तिप्रिय बालकों का मन उचट जाता है।

ऊपर जिन मैदानी खेलों का वर्णन किया गया है, जब बालक उन्हें खेलने में लगे हों, उस समय तो बड़ों का उनमें सम्मिलित होना अनिवार्य है, क्योंकि उनमें कई बालकों को एक साथ रखना जरूरी होता है और चाहे बिलकुल सादे ही क्यों न हों, पर कुछ-न-कुछ नियमों के अधीन रहकर खेल खेलना होता है । शिक्षिका की उपस्थिति में ही यह सारी व्यवस्था जम सकती है। असल में ये खेल उन खेलों में हैं, जिन्हें बालक खुद नहीं खेलते, बल्कि जो खेलाये जाते हैं।

बनी बनायी योजना नहीं चलेगी

लेकिन बालकों के नाटकीय खेलों का अपना एक अलग ही प्रकार है। उनकी न तो कोई बनी-बनायी योजना चल सकती है, न कोई निश्चित नियम हो सकते हैं और न कोई निश्चित समय ही रह सकता है। यदि घर-घर के खेल में शिक्षिका के सम्मिलित होने से खेल के एक चौखटे में बँध जाने का भय हो, उसके निश्चित नियम बन जानेवाले हों, तब तो उसका सम्मिलित होना खेल के हक में अच्छा नहीं माना जायगा। पहले चूल्हा, फिर रसोई, फिर मेहमान और फिर भोजन, चूँकि यह सिलसिला और इसकी ऐसी योजना बुद्धि को सहज ही जँचनेवाली है, इसीलिए स्वाभाविक रूप से शिक्षिका की यह इच्छा रहेगी कि खेल का सारा काम इसी क्रम से चले, यदि वह खेल के समय हाजिर रही। और बाद में जब भी कभी यह खेल खेला जायगा, तो वह इसी योजना के अनुसार उसे खेलने का आग्रह रखेगी। यदि इसमें कोई हेरफेर हुआ, तो उसके ख्याल से वह खेल खराब माना जायगा। *लेकिन जब इसी खेल को बालक खुद खेलते होंगे, तो वे* अपने बाल-स्वभाव के अनुसार इसकी योजना में और नियमों में अपनी इच्छा के अनुरूप परिवर्तन करते ही रहेंगे। वे कभी अपना खेल चूल्हे की रचना से शुरू करेंगे, तो कभी किसी बालक की अपनी तरंग के अनुसार पानी भरने से भी शुरू कर लेंगे। *वे कभी गारे का चूल्हा बनायेंगे,* तो कभी ककरों की मदद से बना लेंगे। अगर खेल के समय शिक्षिका हाजिर रहती है और खेल को व्यवस्थित बनाने लगती है, तो उसकी उस योजना में चूल्हे का एक प्रकार स्थिर हो जाता है। यदि गारा सान कर चूल्हा बनाने का नियम रहा, तो हर बार वैसा ही चूल्हा बनवाने का आग्रह रखा जायगा और कोई बालक दूसरी कोई कल्पना दौड़ाना चाहेगा, तो वह नियम भंग का दोषी माना जायगा और समझा जायगा कि उसने खेल बिगाड़ दिया।

शिक्षिका की खूबी

इसलिए बालकों के ऐसे नाटकीय खेलों में शिक्षिका को एक अलग ही ढंग से अपना योग देना होगा। यह *खेल में शरीक नहीं होगी, लेकिन खेलपर उसकी निगाह* जरूर रहेगी। वह जबतक खेल की खूबी बढ़ाने के लिए अपनी ओर से एकाध सुझाव पेश कर देगी। कहेगी—'वाह भाई वाह, आज तो तुम्हारे घर दादाजी मेहमान बनकर आये हैं। दादाजी के मुँह में दाँत तो है नहीं और तुम सबलोग मोटी-मोटी रोटियाँ बनाने में लगे हो। दादाजी खायेंगे क्या? उन्हें कुछ खिलाना हो, तो हलुवा बनाओ, हलुवा।' बालक इशारा समझ जायेंगे और रोटियाँ सेंकने के बदले हलुवा बनाने का अभिनय करने लगेंगे। दूसरी तरफ दादाजी बनकर आया बालक भी अपने पोपले मुंह से हलुवा खाने की चेष्टा करता दिखाई पड़ेगा।

इस खेल को खलने में लगे हुए बच्चों के बीच पहुँचकर शिक्षिका दूसरे किसी दिन उनसे यह नहीं कहेगी कि पिछली *बार तो दादाजी मेहमान बनकर आये थे, इस बार दादी* माँ कैसे आ गयी? अथवा यह कि इस बार के खेल में तो तुमने किसी मेहमान को न्योता ही नहीं दिया, इसलिए तुम्हारा यह खेल गलत हो गया।

कहने का मतलब यह कि बालकों के इन नाटकीय खेलों की खूबी इसी बात में है कि बालक इन्हें नित नये ढंग से सर्वतंत्र स्वतंत्र रहकर खेल सकें।

हाँ, यह सच है कि बालक घर घर के इस खेल को खुद तो पूरी आजादी के साथ ही खेलेंगे, लेकिन जब किसी उत्सव या सम्मेलन के अवसर पर उन्हें घर घर का यह नाटक खेलना होगा, उस समय तो एक निश्चित योजना के अनुसार ही सारा काम चलाना होगा। पहले से जैसा चूल्हा सोचा होगा, वैसा ही रखा जायगा, भोजन के लिए जो चीजें निश्चित की होंगी, वे ही लायी और

उत्तर—वे उसी से मिलेंगी। बी० डी० ओ० से कहना होगा। ग्रामदान के कार्यकर्त्ता मदद करेंगे। लेकिन जितनी जानकारी गाँव में मिल जाय उतनी फौरन ले लेनी चाहिए।

प्रश्न—कर्ज की जानकारी के बारे में विशेष कठिनाई होगी। कुछ लोग सकोचवश पूरी जानकारी नहीं देंगे, तो दूसरी ओर कुछ लोग यह सोच लेंगे कि ग्रामसभा उनका कर्ज चुका देगी।

उत्तर—दोनों बातें होंगी। धीरे-धीरे सकोच टूटेगा, और कर्ज के बारे में भी स्थिति स्पष्ट हो जायगी। रुपया रहने पर ग्रामसभा किसी सदस्य को कर्ज दे सकती है, लेकिन पुराने कर्ज को अदा करने की जिम्मेदारी उसी की रहेगी जिसने कर्ज लिया है। कर्ज के बारे में और बातें आगे होंगी।

यह तो रही कागज पूरा करने की बात। इसके अलावा वह काम होना चाहिए जिससे गाँव के सबसे गरीब और कमजोर भाइयों को मालूम हो कि गाँव में एक नयी भावना पैदा हुई है।

प्रश्न—वह क्या काम?

उत्तर—स्पष्ट है, बीघे में कट्ठा। बीघे में कट्ठा का यह अर्थ है कि गाँव में गाँव के लोगों की जोत की जो जमीन है उसका बीसवाँ हिस्सा भूमिहीनों को मिलना चाहिए। हर किसान जल्द-से-जल्द बीघे में एक कट्ठा निकाल दे।

प्रश्न—बँटवारा कैसे होगा?

उत्तर—बहुत आसान काम है। दाता खुद तय कर ले कि वह अपना दान अपने ही मजदूर को देगा या गाँव के किसी दूसरे भूमिहीन मजदूर को। वह अपने दान की जमीन खुद दे सकता है या ग्रामसभा से कह सकता है कि वह बाँट दे। अच्छा होगा कि दाता को जितने कट्ठे भूमि देनी है उसे इकट्ठा दे ताकि पानेवाला भूमिहीन, यानी आदाता उसे जोत-बो सके। अगर कई जगह बँटे हुए टुकड़े बहुत छोटे होंगे तो आदाता उनका सही इस्तेमाल नहीं कर सकेगा। इसी तरह कई मालिकों के दिये हुए टुकड़ों को ग्रामसभा अदल-बदल कर इकट्ठा कर सकती है। ग्रामसभा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिसे जमीन दी जा रही है उसे उस जमीन से कुछ मिले। अगर यह न हुआ तो इस देने-लेने का नतीजा क्या निकलेगा?

प्रश्न—लेकिन बीघा-कट्ठा से भूमि तो बहुत थोड़ी निकलेगी, वह कितने लोगों को दी जा सकेगी? मेरे गाँव में, और दूसरे भी बहुत से गाँवों में, अधिकांश भूमि बाहर के मालिकों की है, या गाँव में ही कुछ थोड़े से मालिकों की है। मैं हिसाब जोड़ता हूँ तो मेरे गाँव में बीघा-कट्ठा में कुल १० बीघा से ज्यादा भूमि नहीं निकलेगी, और भूमिहीनों की संख्या इससे कहीं अधिक है।

उत्तर—यह बात सही है कि बीघा-कट्ठा से इतनी भूमि नहीं निकलेगी कि सब भूमिहीनों का पेट भर जाय। ऐसी स्थिति में कई गाँवों ने यह तय किया कि जब भूमि देनी है तो सब भूमिहीनों को दी जाय। इसके लिए उन्हें बीघे में कट्ठे से ज्यादा देना पड़ा, और उन्होंने खुशी से दिया लेकिन यह तो गाँव के सोचने की बात है। ग्रामदान आन्दोलन की माँग तो बीघे में केवल एक कट्ठे की है—यानी बीसवाँ भाग। यह प्रेम की भेंट है जिसे भूमिवान भूमिहीन को देता है और इस भेंट के द्वारा दोनों ग्रामसभा में एक-दूसरे से जुड़ते हैं। ग्रामसभा में मालिक, मजदूर, महाजन, तीनों मिलकर सोचेंगे कि अगर बीघा कट्ठा के बाद भी पेट खाली रहता है तो उसे भरने का क्या उपाय किया जाय। अभी तुरत एक बात यह सोची जा सकती है कि भूमि की कमी धन्धों से पूरी की जाय। क्या धन्धे चलाये जायँ, इसकी पूरी योजना बनाकर कार्यसमिति ग्रामसभा के सामने पेश करेगी। लेकिन भूमि की समस्या का एक दूसरा रूप भी है जिसकी चर्चा मैं आगे करूँगा। उसी सिलसिले में बाहर के गाँव के बड़े मालिकों की चर्चा होगी।

प्रश्न—ठीक है, हम लोग बीघा कट्ठा का काम जल्द-से-जल्द पूरा कर देंगे। हाँ, यह बताइए कि क्या बीघा-कट्ठा की कुछ भूमि गाँव के किसी सार्वजनिक काम के लिए रखी जा सकती है?

उत्तर—नहीं भी, हाँ भी। नहीं इसलिए कि बीघा-कट्ठा पर पहला हक भूमिहीनों का है। उनका पेट काटकर दूसरा काम करना उचित नहीं है। आप ही बताइए जिसका पेट जल रहा हो, उसे क्या सन्तोष होगा कि उसके बच्चों के लिए स्कूल बन रहा है, या पुस्तकालय

बन रहा है जहाँ कुछ लोग शाम को बैठकर रेडियो सुनेंगे ? भाई मेरे, सबसे पहले गाँव के एक-एक आदमी के पेट और पीठ की बात सोचिए—पेट भरिए, पीठ ढँकिए। इतना कर लेने के बाद ही दूसरी ओर ध्यान ले जाइए।

प्रश्न—यह तो रही 'नहीं', अब 'हाँ' बताइए।

उत्तर—हाँ इसलिए कि कई गाँव ऐसे भी है जहाँ कोई भूमिहीन है ही नहीं, तो बीघा-कट्ठा की भूमि किसे दी जाय ? जो थोड़ी जमीनवाले है, वे ज्यादा जमीन लेकर अपना बोझ नहीं बढ़ाना चाहते। छोटे लोग सन्तोष में बड़े होते हैं। ऐसी हालत में ग्रामसभा चाहे तो बीघा कट्ठा की भूमि ग्रामकोष के लिए रख सकती है, या दाता की राय लेकर गाँव के हित में दूसरा इस्तेमाल भी कर सकती है।

प्रश्न—बीघा कट्ठा की बात तो खतम हुई। सके आगे ?

उत्तर—इसके आगे ग्रामकोष।

प्रश्न—ग्रामकोष का विचार बहुत अच्छा है, और हमलोग चालीसवाँ और तीसवाँ भाग देने को भी तैयार है, लेकिन कुछ कठिनाई महसूस हो रही है।

उत्तर—वह क्या ?

प्रश्न—ग्रामकोष में किसान को अपनी उपज में चालीस सेर-पीछे एक सेर देना है, मजदूर को तीस दिन की मजदूरी में एक दिन की मजदूरी, व्यापारी को मुनाफे के प्रति तीस रुपया पीछे एक रुपया, और नौकरी करने-वाले के वेतन का तीसवाँ भाग देना है। इसमें वेतनवाले का हिसाब सीधा है, लेकिन दूसरे लोगो का हिसाब कैसे लगाया जायगा ? कौन जाँचेगा कि किसान की कितनी उपज हुई, व्यापारी ने कितना मुनाफा कमाया, और मजदूर ने क्या मजदूरी पायी ? इसके अलावा हिसाब-किताब की झंझट रहेगी। कुल मिलाकर ग्रामकोष में बड़ी परेशानी दिखायी दे रही है, लेकिन यह बात भी समझ में आ रही है कि ग्रामकोष के बिना कुछ काम भी नहीं होगा, कृपया समझाइए यह सवाल कैसे हल होगा।

उत्तर—ग्रामकोष में पैसे का सवाल है, इसलिए ग्रामकोष बहुत बहुत नाजुक चीज है। ग्रामकोष को लेकर जहाँ एक बार गाँव के लोगों के मन में सन्देह पैदा हुआ कि बनी बनायी बात बिगड़ जायगी, इसलिए आपका विचार सही है कि ग्रामकोष के मामले में अधिक-से-अधिक सतर्कता बरतनी चाहिए।

प्रश्न—क्या सतर्कता बरती जाय ?

उत्तर—आप के सामने पहला सवाल है कि कैसे तय किया जाय कि किससे कितना लिया जाय ? मेरी सलाह है कि शुरू में, जबकि अभी आपसी विश्वास और सहकार का पहला पाठ पढ़ा जा रहा है, और लोगों के अन्दर पुराने संस्कार बने हुए हैं, लेने पर जोर न देकर, देने का वातावरण पैदा किया जाय।

प्रश्न—क्या मतलब ?

उत्तर—मतलब यह है कि किसान, व्यापारी और मजदूर अपनी जो उपज, मुनाफा और मजदूरी स्वयं बतायें उसे मान लिया जाय। उसकी बात पर अविश्वास न किया जाय। वह जो दे उसे खुले दिल से स्वीकार किया जाय।

प्रश्न—तब तो लोग कम-से-कम देने की कोशिश करेंगे ?

उत्तर—हो सकता है कि ऐसा हो, लेकिन आप-जैसे कुछ लोग तो ऐसे होंगे ही जो अपना पूरा भाग देंगे। मैं सोचता हूँ कि धीरे-धीरे लोग यह देख लेंगे कि उनके पैसे का गोलमाल नहीं होता, सही हिसाब रखा जाता है और नियमित रूप से पेश किया जाता है, पैसे का खर्च सबकी राय से होता है, और ऐसे कामो पर होता है जिनसे जरूरत में लोगो की मदद होती है, रोजगार मिलता है और आमदनी बढ़ती है आदि। जब लोग अपनी आँख से यह सब देख लेंगे तो मेरा ख्याल है कि लोग अपना उचित भाग ही नहीं देंगे, बल्कि अपनी पूरी कमाई ग्रामसभा के बैंक में जमा करेंगे और निश्चिन्त रहेंगे। कठिनाइयाँ तभी तक है जबतक विश्वास की कमी है, ज्योंही अविश्वास दूर हुआ कि कठिनाइयाँ अपने आप दूर हो जायँगी। यह काम ग्रामसभा और कार्यसमिति का है कि वे अपने काम से विश्वास पैदा करें।

प्रश्न—वह ही तो बड़ा सवाल है। क्या आप विश्वास पैदा करने के कुछ उपाय सुझा सकते हैं ?

उत्तर—हाँ ये कुछ उपाय हैं जो अभी सूझ रहे हैं। (१) जो अपनी जितनी उपज या आमदनी बताये उतनी मान ली जाय और उसके अनुसार जितना दे उतना सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लिया जाय, उसके साथ हुज्जत न की जाय, और प्राप्त रकम की बाकायदा रसीद दी जाय। (२) कुल जितना अनाज और नकद रुपया वसूल हो उनका बाकायदा हिसाब रखा जाय। अनाज को अनाज के रूप में रखना हो तो उस तरह रख दिया जाय, नहीं तो बेचकर रुपया ग्रामसभा के नाम से डाकखाने या किसी बैंक में जमा कर दिया जाय। (३) ग्रामकोष और उसके हिसाब की जिम्मेदारी स्वयं सभापति की तथा कार्यसमिति के एक मुख्य सदस्य की मानी जाय। जब रुपया निकालना हो तो इन दोनों के हस्ताक्षर से निकाला जाय। (४) आमदनी-खर्च का पूरा ब्योरा ग्रामसभा की मासिक बैठक में पेश किया जाय। (५) हो सके तो ६ महीने में एक बार नहीं तो साल में एक बार अवश्य आडिटर-द्वारा हिसाब की जाँच हो, और उसकी रिपोर्ट ग्रामसभा के सामने रखी जाय। (६) हर परिवार को बताया जाय कि साल भर में उसने कितना दिया, और कितना लिया।

मेरा ख्याल है कि अगर ग्रामसभा सेवा भाव से काम करेगी और सफाई के साथ हिसाब रखेगी तो धीरे-धीरे लोगों का मन साफ हो जायगा और हर एक का हाथ सहकार के लिए तेजी के साथ आगे बढ़ेगा।

प्रश्न—आपने बहुत काम की बातें बतायीं। इनमें से एक एक बात का ध्यान रखना जरूरी है। लेकिन यह सारी व्यवस्था धीरे-धीरे ही हो सकेगी, और ग्रामकोष भी धीरे धीरे ही इकट्ठा होगा।

उत्तर—धीरे धीरे तो होगा ही। जल्दी भी नहीं करनी है। ग्रामसभा के कामों का सही ढंग होना चाहिए 'धीरे धीरे जल्दी करो।' विश्वास और सहकार, इन दोनों का मेल मिलाकर चलने से ग्रामभावना दृढ़ होगी और ग्रामशक्ति के रूप में सामने आयगी। ग्रामशक्ति से ग्राम संगठन होगा, और ग्राम-संगठन से गाँव धीरे धीरे ग्राम-स्वराज्य की ओर बढ़ेगा।

●

चारुकथा

बड़ा आदमी

●

रावी

बात सन् ४४ की है। थियोसाफिकल सोसाइटी के कनवेन्शन में मैं बनारस गया था। उसके प्रेसिडेण्ट से मिलने की बड़ी अभिलाषा थी। मालूम हुआ कि वे इस वर्ष किसी को इण्टरव्यू नहीं दे रहे हैं, कुछ अस्वस्थ हैं और कार्य की अधिकता है।

मुझे यह सब बुरा लगा। ऐसा भी क्या बड़प्पन कि कोई इतनी दूर से आये और उसे पाँच मिनट एकान्त में बात करने को भी न दिये जायँ।

यथा अवसर पंडाल में उनका भाषण हुआ। मैं पीछे की एक बेंच पर बैठा था। भाषण समाप्त करके वे मंच से उतरे और श्रोताओं की अन्तिम पंक्ति में ठीक मेरे पीछे आकर बैठ गये। तीन-चार मिनट बैठे रहकर वे उठे और अपने निवास की ओर चल दिये। मैं पीछे चला। द्वार पर पहुँच कर उन्होंने मुझे अपने साथ आने का संकेत किया।

बड़े आदमियों से मिलने में मुझे तबतक एक विशेष प्रकार का भय लगा करता था। लेकिन उनके उस संकेत और कक्ष प्रवेश के साथ ही वह एकदम उड़ गया। मुझे अनायास ही लगा कि मैं भी उन्हीं की तरह एक बड़ा आदमी हूँ। उनके साथ जी खोलकर बातें कीं।

उस दिन मैंने बड़े आदमी की एक नयी परिभाषा पायी! वास्तविक बड़ा आदमी वही है जिसके सामने पहुँच कर हम स्वयं को भी बड़ा—उठा हुआ समझने लगें।●

नारी-जीवन

के

कुछ प्रस्तुत प्रश्न

•

क्रान्तिवाला

गुजरात विद्यापीठ के नियम के अनुसार बी० ए० के छात्र अपने दो चार शिक्षकों के साथ आठ-दस दिन के लिए कई संस्थाओं के प्रवास पर जाते हैं। वहाँ के जीवन में शामिल होने के साथ-साथ वहाँ के सभा, प्रवचन, चर्चा और गोष्ठी का भी क्रम रखते हैं। विभिन्न विषयों पर अनेक व्यक्तियों की राय इकट्ठी करके जाते हैं, फिर उनको एक निबन्ध लिखना होता है, जिसके नम्बर परीक्षा में जोड़े जाते हैं। इसी तरह की एक छात्र-टुकड़ी पिछले दिनों बोचासण भी आयी थी। उन्हें जब पता चला कि वहाँ सुरेन्द्रजी हैं तो उनके कार्यक्रमका समय तय करने के लिए शिक्षक आये। आने पर देखा कि कोई बहन भी है और परिचय होने पर जाना कि *क्रान्ति बहन हैं तो कुछ समय चर्चा के लिए रखने का* आग्रह किया। मेरे स्वभाव से ये सब चीजें मेल खाती नहीं, पर चूँकि एक वर्ष पूर्व भी इसी तरह की टुकड़ी से बातचीत करने का प्रसंग टाल नहीं सकी थी तो इस बार भी जाना पड़ा।

एक तरफ शिक्षकों का समूह, दूसरी तरफ युवक छात्रों का, और सामने थीं छात्राएँ। बातचीत शुरू हो सके, इतने के लिए तो कुछ कहना ही पड़ा। उस कहने में ही चर्चा का सिलसिला शुरू हो गया। चर्चा के बीच जो प्रश्न आये, संक्षिप्त रूप में वे इस प्रकार हैं—

- 'नारी नरक की खान' ऐसा शंकराचार्य मानते थे। आप मानती हैं या नहीं?
- तुलसीदास भी तो लिख गये कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' तो आप उससे सहमत हैं या नहीं?
- नर-नारी समान अधिकार में आप विश्वास रखती हैं या नहीं?
- पुरुषों को घर का काम करना चाहिए या नहीं?
- गांधीजी के प्रयोगों को अगर सारा समाज अपनाने लगे तो क्या भारतीय संस्कृति की रक्षा हो सकेगी?
- क्या नग्नता की सिद्धि को विकास नाम दिया जा सकता है।
- नारी सर्वोदय का काम कैसे करे?
- विवाहित और अविवाहित नारियों में से विकास के निकट कौन है?
- विवाहिता नारी को सहनशीलता की जो ट्रेनिंग मिलती है वह अविवाहिता को मिलती नहीं। बिना सहन किये भी विकास सम्भव है क्या?
- कोई ऊँचा लक्ष्य पाने में संकल्प मदद करता है या नहीं।
- बाहर काम करने के लिए निकलें तो घर या समाज का विरोध सामने आये उस समय क्या करना चाहिए?
- पति-पत्नी का आपस में नहीं जमता हो तो क्या करना चाहिए?

छात्राओं से जब यह कहा गया कि पति, पिता या गुरु के डर के कारण कुछ करना हो तो नहीं सहन करना चाहिए। देखना चाहिए कि सहन क्यों करना? हमारे पिता के विचार पुराने हैं, वह रूढ़ियों के तथाकथित पालन में विश्वास रखते हैं, इसीलिए सहन करना हो, पति अपने कब्जे में अपनी सम्पत्ति की तरह रखना चाहता है और आप अपने स्वमान को सामने रखकर जीना चाहती हैं, या समाज के जो संकुचित घेरे हैं उनके चौखटे में अपने को बन्द कर देने से समाज में इज्जत मिलती रहेगी, इस लालच से सहन करना हो तो कभी नहीं सहन करना चाहिए। क्योंकि इस सहन करने में भय है लालच है और दम्भ है।

विरोधी प्रशंसक कैसे बनेंगे ?

ठीक इससे भिन्न जब आप कोई नया कदम उठायें और परिवार तथा समाज के लोग विरोध करना शुरू करें, विरोध के अचूक अस्त्र चरित्र-पतन तक के आरोप लगायें और परिवार से प्राप्त होनेवाली सुविधा या समाज से मिलनेवाली प्रतिष्ठा से आपको वंचित करें तो इन कठिनाइयों को सहन करने की आदत डालनी होगी ।

समाज कब अनुकूल होगा कब प्रतिकूल, यह अपेक्षा रखे बिना अपना काम करते चले जायें तो उस करते जाने का ही परिणाम होता है कि प्रतिकूलताएँ अनुकूलताओं में बदल जाती हैं । विरोधों को बरदाश्त करने की ताकत मिलती है अपने ही अन्दर से। आपके, हमारे, सबके अन्दर वह ताकत है, पर प्रकट नहीं होती, क्योंकि हम अपनी कुल ताकत को एक साथ किसी एक दिशा में नहीं लगाते, उसे बिखरने देते हैं । एक साथ अनेक-अनेक इच्छाएँ रखते हैं, परिणाम देखते हैं कि एक भी पूरी नहीं हुई । और जो लोग अपना विश्लेषण कर देख लेते हैं कि उनके अन्दर की प्रबलतम् इच्छा क्या है, जिसके कारण उनको बेचैनी है, उस बेचैनी को दूर करने के लिए दूसरी सारी इच्छाओं को महत्व न देकर उस एक इच्छा को पूरी करने में ही अपनी ताकत लगाते हैं तो पता चलता है कि ताकत अपने ही अन्दर थी, बाहर ढूँढने की जरूरत नहीं । इस तरह सहनशीलता तो चाहिए पर ऐसी, जिससे दूसरों को रास्ता मिले और अपने को आनन्द हो । सहन भी किया, घुट-घुट कर मरे भी, भला यह भी कोई जीवन है ?

उपरोक्त व्याख्या बुजुर्गों को एकदम नाराज कर देती है । यहाँ भी वही हुआ । शिक्षक बोले—"लड़कियों को तो ऐसी बात सार्वजनिक रूप से नहीं करनी चाहिए, इससे उच्छृंखलता बढ़ती है । आजकल तो यों ही पश्चिम के प्रभाव ने भारतीय संस्कृति का लोप कर दिया है । आधुनिक शिक्षा प्राप्त नारियों को सहन करने की तालीम नहीं मिलती है यही कारण है कि दाम्पत्य जीवन छिन्न भिन्न होते जा रहे हैं । संयुक्त कुटुम्ब टूटने जा रहे हैं आदि-आदि ।"

लड़कियाँ, जिनके चेहरा पर क्षण भर पहले आनन्द का भाव था, अब उनपर कुछ अप्रिय रेखाएँ उभर आयी और लड़के, जो शान्त थे, उनमें कुछ हलचल शुरू हुई । शिक्षक के स्वर में स्वर मिलाकर वे भी अपनी कह गये । पुरुषों को घर पर काम करना चाहिए यह मैंने कहा था, उसपर उनका आक्षेप था कि नहीं करना चाहिए । वह तो नारी का ही क्षेत्र है । उसे अपना क्षेत्र छोड़कर बाहर आना ही नहीं चाहिए आदि आदि ।

नारी ही क्यों सहन करे ?

सहन न करने से स्वैराचार के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का भी लोप हो रहा है, यह मैं समझ नहीं सकती थी । पूछा—"भारतीय संस्कृति में यह तत्त्व कहाँ से दाखिल हो गया कि दो के बीच मसला हल नहीं होता हो तो किसी एक को खत्म करके मसला हल कर लिया जाय ? सहनशीलता के नाम पर आज नारी की जो स्थिति बन गयी है वह इनसान के योग्य है क्या ? क्या उसे जीवित मृत्यु नहीं कहा जा सकता ? पैसे से विवाह किये जाते हैं । जो माता पिता शोषण और लूट करने में दक्ष हैं खूब सम्पत्ति जुटा ली है, बाजार में उनका ही माल भारी कीमत पाता है, नहीं तो लड़की से उसके कम दहेज लाने का बदला लिया जाता है । क्यों वह उसे सहन करे ? क्या उसे मनुष्य की तरह जीने का हक नहीं है ? पति अगर कमाई में दूसरे भाई की तुलना में कम कमाता है तो उसका भी परिणाम पत्नी को भोगना पड़ता है, अगर सन्तान नहीं होती तो भी, या केवल बिटिया ही होती है, बेटा नहीं होता तो भी उसका दण्ड भोगना होता है । आखिर क्यों ? और अगर बाहर काम करने की इच्छा है तो चूँकि पति महोदय को पसन्द नहीं इसलिए मत करो, यह क्यों ? जैसे पुरुष को अपने काम के बारे में चुनाव करने का हक है उसी तरह स्त्री को भी है ।

जहाँ तक घर के काम करने की बात है और उतने ही मात्र को नारी का क्षेत्र मान लेने की बात है, वह भी वहाँ से निकली यह देखना होगा । क्योंकि जिसको भगवान ने भूख दी है उसको यह क्षमता भी दी है कि वह अपनी भूख मिटा सके । फिर क्या कारण है कि भूख मिटाने के लिए स्त्रियाँ को ही खाना बनाना चाहिए ? पश्चिम की हो या पूर्व की, कोई भी संस्कृति ऐसा विधान बना नहीं सकती । आज के युग में जहाँ

हर क्षेत्र में सहकार का नारा है, वहाँ इस प्रकार काम का बँटवारा हो नहीं सकता। नर और नारी के बीच भी नहीं और पुरुष-पुरुष के बीच भी नहीं। यह बँटवारा सामन्त-शाही समाज-व्यवस्था की देन है। लोकशाही में तो हर एक को निर्णय का अधिकार दिया गया है। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि आज नारी की प्रवृत्ति घर के काम के खिलाफ क्यों है? उसका भी कारण है पुरुषों का सामन्तवादी दिमाग। घर के अन्दर के तथा घर के बाहर के वे काम, जो जीने के लिए अनिवार्य हैं उन्हें करनेवालों को हीन और तुच्छ समझा जाता है। जब कार्य की ही प्रतिष्ठा नहीं है तो कर्ता की प्रतिष्ठा कैसे होगी? प्रतिष्ठा की भूख नहीं होनी चाहिए यह तो कोई भी संस्कृति कहेगी नहीं, स्वीकारेगी नहीं।

प्रतिष्ठा और स्वमान की चाह

नारी भी प्रतिष्ठा चाहती है। स्वमान से जीना चाहती है। वह देखती है कि आज समाज में जिन कामों की प्रतिष्ठा है उन्हें करना चाहिए, जिनके करने में अप्रतिष्ठा है उन्हें नहीं करना चाहिए। जो लोग यह मानते हैं कि गृह कार्य को छोड़ देने से घर ही नहीं, समाज भी अव्यवस्थित होता जा रहा है तो सबसे पहले उन्हें खुद आगे बढ़कर गृह कार्य को अपनाना चाहिए। उस काम में प्रतिष्ठा को अधिष्ठित करना चाहिए। और फिर देखें कि नारी क्या चुनती है। नारी को किसी काम से अरुचि हो गयी है, ऐसा मैं नहीं मानती। पर उसके अन्दर प्रतिष्ठा की भूख जगी है स्वमान की चाह पैदा हुई है, वह कैसे पूरी की जाय, यही हम बता सकते हैं। उसमें कहीं भारतीय संस्कृति का विरोध होता है ऐसा हम मानते नहीं। क्योंकि भारत की संस्कृति किसी एक वर्ग, किसी एक राष्ट्र या किसी एक सम्प्रदाय के हित के लिए हो नहीं सकती। वह मानव मात्र के ही लिए होगी। आज यह कहा नहीं जा सकता कि नारी को मानव होने का हक नहीं है।

संकल्प लचीला हो

मैंने देखा कि उनके पास कोई जवाब तो नहीं था, पर मेरी बातें बहुत पसन्द आयी हों, ऐसा भी नहीं था। फिर भी समर्थन किया यह देखकर मुझे थोड़ा आश्चर्य तो हुआ। तभी एक मित्र ने पूछा—"क्या आप संकल्प को मानती हैं?" जवाब दिया—"मैं सतत परिवर्तन को मानती हूँ क्योंकि आँख खुली रहे तो सब कुछ बदलता हुआ दिखाई देता है। उसे कैसे इनकार किया जाय और एक प्रकार की मानसिक कैद में आस्था रखी जाय?"

'कैद में आस्था! यह क्या? बहुत बड़े-बड़े लोग तो यही बताते हैं कि बड़े काम संकल्प से ही सिद्ध होते हैं। मान लीजिए आज हमने संकल्प किया कि विवाह नहीं करना है और कभी किन्हीं क्षणों में कोई कमजोरी आये और इस ऊँचाई से नीचे घसीटना चाहे तो संकल्प उस समय मदद करेगा, क्या ऐसा आप नहीं मानतीं?"

निष्ठा जीवन के प्रति

'पहले तो यह स्पष्ट कर दूँ कि विवाह करना नीचे गिरना और न करना ऊपर उठना है, यही मैं नहीं मानती। और अगर आपके कथनानुसार वह नीचे गिरना है भी, तो दम्भ का जीवन जीने की अपेक्षा वह कहीं ऊँचा है। आप सबलोग जितने यहाँ बैठे हैं अपनी ही बात लीजिए। आप आधुनिक लोग हैं। बताइए आपमें से कितने लोगों को गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासियों के प्रति आदर, श्रद्धा या सहानुभूति होती है? जाने दीजिए, आदर और श्रद्धा, पर कितने हैं जो ऐसे मनुष्यों को देखकर तटस्थ भी रह पाते हैं? उनका अपमान करनेवाले चार शब्द कहे बिना कोई रह भी जाता होगा, लेकिन आँखों पर बल न पड़े, ऐसा तो कोई नहीं ही होगा। क्यों? उन लोगों ने जो पोशाक धारण की है, वह एक प्रकार के संकल्प का ही द्योतक है अमुक प्रकार का जीवन जीने का प्रतीक है। आप स्वयं बताइए कि संकल्प प्रधान है या जीवन। वहाँ संकल्प है साथ ही उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया दम्भ भी है। विचारपूर्वक जीते चले जायें। अविवाहित रहना आवश्यक लगे तो विवाह नहीं करें और अगर आगे हमारा विचार ही विवाह की आवश्यकता बताये तो वह भी किया जाय। मनुष्य की समझ और विचार की क्षमता का बढ़ना मुख्य बात है न कि अपने को एक मान्यता में, एक भावना में, एक तरंग में कैद कर लेना? जैसे विवाह करने की तरंग बह सकते हैं, उसी तरह विवाह न करने की भी। करने न करने के पीछे कब क्या दृष्टि है उसे समझना मुख्य बात है।" ●

जहाँ राष्ट्र बनता है

•

विवेकी राय

आज यहाँ एक काण्ड हो गया। शाम को बालकों की छुट्टी हो जाने पर देर तक जब बिहारी बाबू डेरे पर नहीं लौटे तो मुझे खटका हुआ। टहलता हुआ स्कूल पर पहुँचा। देखा कि वहाँ स्कूल के बरामदे में दो कतार में खड़े होकर लड़के कुछ भुनभुनाते हुए याद कर रहे हैं। बिहारी बाबू एक लड़के को डाँट रहे हैं—

" क्या कहा? लार्ड कार्नवालिस ने सती प्रथा बन्द कर दी? गदहा कहीं का। चल याद कर। आज रात तक याद करके सुना नहीं तो चमड़ी उधेड़ दूँगा। "

"आओ भाई, क्या कहूँ? नाक में दम कर दिया है बेईमानों ने। एक अक्षर याद नहीं है। दर्जा ८ में पढ़ते हैं और यह भी नहीं मालूम कि पानीपत की दूसरी लड़ाई कब हुई या डुप्ले की हार के क्या कारण थे या नाना फड़नवीस कौन था? रिजल्ट खराब हो तो जवाब तलब हो जाय। हाय तोबा मच जाय। इधर इनके कानों पर जूँ नहीं रेंगती'। '' रटो आज रात भर यहीं। देखें कैसे नहीं याद होती है। "

लड़का अपनी कतार में जाकर कुछ टोना जैसे पढ़ने लगा। दूसरा लड़का तलब हुआ। मुँह सूख गया था। आँखों में भय था। मानो कोई हिरन बधिक के सामने खड़ा है। मुझे दया आ गयी। बेचारा! मुरह-सुबह ही रूखा-सूखा खाकर आया होगा और न जाने कब तक पढ़ाई की घानी में पिसेगा।

बिहारी बाबू से कहा—

"जाने दीजिए। इनका दोष भी क्या? आज की शिक्षा ही ऐसी है। यहाँ शिक्षा का आदर्श अथवा वातावरण है?"

"जाने दीजिये? अरे भाई, आपको मालूम होना चाहिए कि कर्ज काढ़कर, गहने बन्धक रखकर और अपना पेट काटकर घरवाले इन्हें पढ़ाते हैं। फीस देते-देते उनकी कमर टूट जाती है। इधर ये हैं कि जैसे-जैसे शरीर से बालिग होते जा रहे हैं वैसे-वैसे बुद्धि से नाबालिग बनते जा रहे हैं। बताइए, भला एक सतर भी शुद्ध हिन्दी लिखने नहीं आता। भारत के नक्शे में ये दिल्ली नहीं दिखा सकते। गाँधीजी पर दो वाक्य बोलने के लिए कहा जाय तो नानी मरने लगेगी। इसी दर्जे को पास कर कभी लोग वकील, मुख्तार और मुदर्रिस होते थे और ये चपरासीगिरी के लायक भी नहीं ।"

'बिहारी बाबू' मैंने कहा—'इस रोने का तो अन्त होनेवाला नहीं।" मेरे यहाँ तो बारहवीं कक्षा में पढ़नेवाले ऐसे अनेक छात्र हैं जिन्होंने अभी तक रेल अथवा मोटर की सवारी नहीं की है। वे राष्ट्र के नागरिक बनेंगे। फिर भी ये पास होते हैं। अगले दर्जे में जाते हैं। ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ भी मिल जाती हैं और फिर नौकरियाँ। नौकरियाँ जिनमें काम कम, कमाई भरपूर।"

'ये तो इस योग्य भी नहीं। अच्छा एक सवाल का उत्तर दो। बस छुट्टी। हाँ बोलो, प्लासी की लड़ाई कब हुई थी?" बिहारी बाबू बोले।

'सन् १८५७ ई० में।' एक लड़के ने उत्तर दिया।

'लीजिए। एक सौ वर्ष खा गया उल्लू का पट्ठा। चलो, फिर से याद करो। नहीं छुट्टी होगी। घर पर तो मानो इनके लिए पोथी खोलना हराम है। हाय रे गाँव। पढ़ाई का सत्यानाश! !"

सूर्यास्त हो गया, धुँधलका पसरने लगा। लड़कों की अधीरता बढ़ने लगी। उधर बिहारी बाबू का पारा और

गरम होकर ऊँचा उठने लगा। मेरे सामने समस्या का त्रिकोण उपस्थित था।

एक ओर अध्यापक छात्रों को अधिक-से-अधिक योग्य देखने के लिए क्षुब्ध है, दूसरी ओर कुछ हाथ न लग पाने के कारण छात्र घर और स्कूल दोनों से परेशान हैं। तीसरी ओर अध्यापक, छात्र, शिक्षा के विषय और घर, स्कूल के वातावरण में परस्पर एक गहरा खिंचाव है।

अब पुस्तक पढ़ पाना कठिन हो गया। दक्षिण ओर से एक छात्र भूमि पर बैठ गया।

"क्यों बैठ गया?" बिहारी बाबू लपक कर पहुँच गये।

"किताब में अक्षर नहीं सूझते हैं।" छात्र बोला।

"तो, मैं तुम्हारे बाप का नौकर हूँ? मुझे भूख प्यास नहीं लगती? लो ।"

"लड़का पिटने लगा। बगल से किसी लड़के ने कुछ भुनक दिया और अब सामूहिक पढाई शुरू हो गयी। थप्पड़, घूंसे और तभी लड़कों में भगदड़ मच गयी। एक लड़का भी बरामदे में नहीं रहा, परन्तु यह और कुतूहलवर्धक रहा कि वे घर न जाकर सामने के नाथ बाबा के मन्दिर के चबूतरे पर एकत्रित हो गये।

"बोलो, महात्मा गांधी की जय। '

'इनक्लाब'।

'जिन्दाबाद'।

अजीब तमाशा। हो-हल्ला से एकदम हवा बदलकर उल्टी हो गयी। न जाने ये क्या कर बैठें? बिहारी बाबू को मानो काठ मार गया। कुरसी पर गुम-सुम बैठ गये। मैं लड़कों के पास पहुँचा।

"हो-हल्ला बन्द करो। तुम लोग क्या चाहते हो?" मैंने कहा।

'इनकलाब ..'। एक लड़का चिल्लाया।

'जिन्दा ।'

दूसरे अभी इतना ही कह पाये थे कि एक लड़के ने सबको हाथ उठाकर रोक दिया और मेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

"बोलो, बोलते क्यों नहीं?"

"क्या कहें? कहा नहीं जाता महाशय।"

"संकोच या भय के कारण? देखो, मैं तो गैर जगह का आदमी हूँ। साफ-साफ कहो।"

"बड़ी-बड़ी बातें हैं। बड़ा गड़बड़ है। क्या कहूँ?"

"दोष तुम्हारा नहीं। हम तुम्हें ईमानदारी से ऐसा नहीं बना पाये कि निरुपद्रव रहो अथवा अपनी बातें साफ-साफ कह सको। फिर भी कुछ तो कहो।"

"जीवन ही चौपट हो रहा है।"

"यानी?"

"हम लोग योग्य नहीं हो रहे हैं।"

"ए? हम लोग योग्य नहीं हो रहे हैं? ओफ!" मेरा सिर दर्द करने लगा।

एक गहरा क्षोभ, एक व्यथा भरी छटपटाहट, हृदय-सागर को मथकर निकला हुआ तीखा कालकूट 'हम लोग योग्य नहीं हो रहे हैं।' मैं चाहता हूँ कि सारा देश इसे कान खोलकर सुन ले। लड़कों की बड़ी जबरदस्त शिकायत है जो पूरे समाज और शासन के लिए एक चुनौती है। वे क्षुब्ध हैं। वे योग्य नहीं हो रहे हैं। क्यों नहीं हो रहे हैं?

कई बातें याद आयीं। मूल प्रश्न के कई पहलू झलक उठे।

उस दिन स्कूल पर आ रहा था। रास्ते में दो मजदूर घास गढ़ रहे थे। पास आने पर उन्होंने इस ढब से बात-चीत शुरू की कि मानो मुझे ही सुनाना हो।

"आजकल बकुला की पाँख-जैसे घप धप कपड़ों की एक चलन चल गयी है।"

"पढ़ुआ लोगों का यही चिह्न है।"

"यार, पढ़ने में भी बड़ा मजा है।"

"काहे नहीं, लूटने के सब घात मालूम हो जाते हैं।"

"हे भाई, जैसे-जैसे दुनियाँ में पढाई बढ़ती जाती है वैसे-वैसे चोरी, बेईमानी, नोच, खसोट और भ्रष्टाचार बढ़ता जाता है।"

"जो भी चार अक्षर पढ़ जाता है, बस यही चाहता है कि दुनिया का जमा काटकर दबा ले।"

"यही स्कूलों में पढ़ाया जाता है क्या?"

"और क्या? ।"

मैं आगे बढ़ गया। शेष बात अनसुनी रह गयी। वास्तव में जो सुनी वह भरपूर रही।

जहाँ मुट्ठी भर स्वार्थी, शिक्षा की सदियों पुरानी सड़ी-गली मशीन से चिपटे हुए हैं, जहाँ पैंतरेबाज कुरसीधारी

शिक्षा के नियामक हैं, जहाँ शिक्षा के अभिलाषी नौकरी में भरती होने लायक प्रमाण-पत्र मात्र पाने के लिए जोर लगाते हैं वहाँ जिस तिस प्रकार उदर भरने, पैसा बटोरने और अपने जमाने में आदर्श महाजनों के साथ शीघ्र ठाट-बाट- वाला बन जाने की अन्धी हविश उन्मत्त बना देती है तो क्या आश्चर्य की बात है?

बड़े मौके से वह बात भी याद आयी। कानों में वे शब्द झनझना रहे हैं। उस दिन प्राइमरी स्कूल का एक बूढ़ा हेडमास्टर कह रहा था—"स्कूल की इमारत बरसात में चू रही है। कई कमरे ढहगये हैं। पूरी इमारत भूतखाने-सी उदास लगती है। भीतर बैठना मुहाल है। जंगले टूट गये हैं। फर्श उखड़ गयी है। दीवारों के पलस्तर उखड़ गये हैं। मरम्मत हुए उतने ही वर्ष हुए जितने वर्ष स्वराज्य हुए। अंग्रेजों के जमाने में साल में दो बार जनवरी और जुलाई में मरम्मत हो जाती थी। ठीकेदार आते थे और सारी गड़बड़ी दुरुस्त करते थे। सफाई होती थी। अब कोई सुननेवाला नहीं। टाट नहीं। लड़के जमीन पर बैठते हैं। ये फर्नीचर तो बस 'पाठशाला प्रबन्ध' नाम की किताब में रह गये। छोटे-छोटे कमरों में एक मास्टर पर सैकड़ों लड़के बोरे की तरह ठूँसे गये। रखवाली हो जाती है यही बहुत है। शिक्षा तो अपने आप जो आ जाती है सो आ जाती है। पुस्तकों की चोर-बाजारी चल रही है। निर्धारित पुस्तकें एकदम बेढंगी हैं। कमाऊ बुद्धिमानों ने इन्हें तैयार किया है। भाषा में अनेक अशुद्धियाँ और दोष। मास्टर दिन काटते हैं। सरकार को अपनी गद्दी की लड़ाई से फुर्सत नहीं। पढ़ाई के नाम पर स्कूल भर खुले हैं।

और लड़कों के सामने मैं चिल्ला उठा——

"अरे, ये तो नीवें ही एकदम खोखली हैं।

प्यारे बच्चो! हल्ला बन्द करो। अपने-अपने घर जाओ। सारा समाज तुम्हारा हित चिन्तक है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु पहाड़ा पर आग लगी है। भाग-दौड़ मची है। तुम्हारा खयाल खटाई में पड़ गया है। धैर्य धारण करो। आग बुझेगी। घाटियों में प्रकाश आयेगा। और भूलने पर लोग महसूस करेंगे कि जिनके कन्धों पर हम देश का बोझा डालने जा रहे हैं, उनके लिए कुछ नहीं किया। ●

नारियल के रस से बिजली का उत्पादन

अमेरिका में बिजली उत्पन्न करने के लिए नारियल के रस का प्रयोग किया गया है। इसके लिए प्रयुक्त प्रणाली या उपकरण को जीव रासायनिक फ्यूएल सेल कहते हैं। इससे प्रयोगात्मक आधार पर एक ट्रांजिस्टर रेडियो को ४५ दिना की अवधि में सविराम ढंग पर ५० घण्टे चालू रखा। इसके अन्तर्गत, नारियल के रस को रासायनिक प्रक्रिया-द्वारा फौर्मिक एसिड में बदल देने के लिए कीटाणुओं का प्रयोग किया गया। यह एक विद्युद् रासायनिक ईंधन है जिससे कोई बैटरी विद्युत् करेण्ट प्राप्त कर सकती है। वैज्ञानिकों ने एरोमोनास फौर्मिकन नामक कीटाणुओं का प्रयोग किया।

तत्सम्बन्धी अनुसंधान रेडोण्डो बीच, कैलिफोर्निया, की टौम्पसन रामो ऊल्डरिज कम्पनी-द्वारा किया गया। वैज्ञानिकों ने कहा कि फौर्मिक एसिड गन्ना, फल और अरबी से भी उत्पन्न हो सकती है। इसे पत्तियों और घासों से उत्पन्न करने की विधि भी विकसित की जा सकती है। इस प्रकार के फ्यूएल सेल संकटकालीन स्थितियों में तथा निर्जन स्थानों पर कम बिजली की पूर्ति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ●

समग्र लोक-शिक्षण की आवश्यकता

•

बद्रीप्रसाद स्वामी

आज देश में जो शिक्षण चल रहा है, उससे सही सोचने-विचारनेवाला 'लोक' निर्मित नहीं होता। आज की शिक्षण पद्धति से बालक के निर्मल मन को एक बने-बनाये ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। फलस्वरूप न तो उसमें विचारों का विकास होता है और न सही वृत्ति का निर्माण।

व्यक्ति के ऊपर आसपास के वातावरण और परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा जिन साधनों से समाज पोषित हो रहा है उनका भी उसकी मनोवृत्ति पर व्यापक असर होता है। इन सबको ध्यान में रखते हुए हमें व्यक्ति और समाज के समग्र विकास हेतु समग्र शिक्षण का आयोजन करना होगा, जिसमें आज की सामाजिक वृत्ति, आसपास की परिस्थिति और साध्य के अनुरूप साधनों का ख्याल रखना होगा। हमें जन्म से मरण तक की शिक्षण-व्यवस्था के बारे में सोचना होगा, जिसमें जीवन और शिक्षण दोनों साथ साथ चलेंगे।

इस प्रकार के शिक्षण के लिए जो भी जन-समुदाय जहाँ भी एक साथ रहता है वही हमारा प्रारम्भिक स्थान हो। उस ग्राम अथवा क्षेत्र का हर परिवार और परिवार का हर सदस्य शिक्षार्थी माना जाय। कुल गाँव एक विद्यालय और कुल गाँव के साधन शिक्षण के साधन हों। उनके जीवन के साथ समग्र दृष्टि से जीवन-साधना करनेवाले साधक ऐसे ग्राम-गुरुकुल के शिक्षक हों। गाँव के बाल, वृद्ध, जवान, स्त्री और पुरुष, सबकी बुद्धि और विवेक का इस प्रकार विकास हो कि वे अपने विकसित विवेक से सही निर्णय कर सकें।

इसके लिए समग्र विकास के आधार पर अपने जीवन को साधनेवाले साधक कम-से-कम कृषि, गोपालन, कताई-बुनाई, तालीम और स्वास्थ्य-रक्षा—इन पाँच विषयों में से एक विषय पर विशेष ज्ञान और बाकी का सामान्य ज्ञान रखनेवाले हों। ऐसे पाँच व्यक्ति किसी एक क्षेत्र-विशेष को चुनकर लोकशिक्षण का काम करें। बालकों को शाम को खेलों द्वारा, प्रौढ़ों को सत्संग-द्वारा, नवयुवकों को पुस्तकालय और वाचनालय द्वारा और स्त्रियों को कताई-बुनाई के द्वारा सम्पर्क साधकर समग्र शिक्षण की ओर ले जाया जा सकता है। चालू जीवन में ही इनका विकास करना होगा और प्राप्त साधनों में शोधन करना होगा। नये जीवन के लिए ज्यों ज्यों नयी दृष्टि का विकास होगा त्यों-त्यों परिस्थिति में भी परिवर्तन होता चला जायगा। इस प्रकार के समग्र लोक-शिक्षण-केन्द्र जगह-जगह प्रारम्भ होने चाहिए, जिससे प्रेरणा प्राप्त करके हर गाँव एक गुरुकुल बन सके, और अपने शिक्षण से अपना विकास तथा अपनी व्यवस्था कर सके।

अगर हम वास्तव में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा चाहते हैं और व्यक्ति समाज के लिए समर्पित हो, ऐसी व्यवस्था चाहते हैं, तो हमें विकेन्द्रित स्वावलम्बी समाज-व्यवस्था के विकास के लिए विकेन्द्रित स्वावलम्बी शिक्षण-व्यवस्था विकसित करनी होगी। ग्राम-शिक्षण की इस व्यवस्था में कुल गाँव एक विद्यालय होगा, कुल ग्रामवासी शिक्षार्थी होंगे, समग्र जीवन का साधक शिक्षक होगा और गाँव से प्राप्त साधन, शिक्षण का माध्यम। इस प्रकार समग्र शिक्षण की साधना के इस प्रयोग से स्वतन्त्र और स्वावलम्बी समाज-व्यवस्था विकसित होगी। ●

ज्ञान का विकेन्द्रीकरण और पुस्तकालय

•

परमानन्द दोषी

विश्व बड़ी तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है। कल की नयी और उपयोगी बातें आज पुरानी और अनुपयोगी सिद्ध हो रही हैं। पुरातन मान्यताएँ बदलती जा रही हैं। नये मानव-मूल्यों की दिन-प्रति-दिन स्थापनाएँ हो रही हैं। प्रयोग और परीक्षण का दौर हमारे जीवन और जगत के प्रत्येक क्षेत्र में चल रहा है। शोषक और शोषित, शासक और शासित का भेद-भाव तीव्रता-पूर्वक तिरोहित होता जा रहा है। राजनीति, समाज, साहित्य आदि सभी दिशाओं में प्रगति के चिन्ह दीख पड़ते हैं। शासन-व्यवस्था में भी परिवर्तन के कई स्पष्ट और स्वस्थ लक्षण दृष्टिगोचर हुए हैं। सत्ता के विकेन्द्रित किये जाने की बात हम प्राय सुना करते हैं। वास्तव में जनतंत्र के सफल विकास के लिए सत्ता का अधिकतम विकेन्द्रीकरण सर्वथा आवश्यक है।

हम अपने देश में देखते हैं—पंचायतों के संस्थापन-संचालन के जरिये सत्ता के विकेन्द्रीकरण का प्रयास हो रहा है। पर जीवन में केवल सत्ता का ही महत्त्व नहीं हुआ करता। सत्ता के लिए विवेक और बुद्धि अपेक्षित है। विवेक के अंकुश के सहारे ही सत्ता का समुचित सदुपयोग हो सकता है। इसी कारण विवेकहीन सत्ता निरंकुशता के समीप पहुँच जाती है, जिसके फल-स्वरूप अधिनायकवाद का जन्म होता है और अधिनायक-वादी प्रवृत्ति देश और समाज के लिए कितनी घातक है, इसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

सत्ता का सन्तुलन

सत्ता अधिनायकवाद तक नहीं पहुँच जाय, इसके लिए इसे ज्यादा से-ज्यादा लोगों के बीच वितरित कर देने की व्यवस्था कर देनी चाहिए। इस वितरण से ही इसमें सन्तुलन कायम रह पायगा।

पर प्रश्न है कि क्या अधिकाधिक जनों तक फैलाव और विस्तार हो जाने से ही सत्ता की मर्यादा कायम रह सकती है? नहीं—सत्ताके साथ-साथ ज्ञान का भी विस्तारण-प्रसारण होना चाहिए। ज्ञान के अभाव में सत्ता का सदुपयोग सधे हाथों-द्वारा भी सम्भव नहीं है। यही वजह है कि आज ग्रामइकाई तक पंचायतों के रूप में विकेन्द्रित सत्ता उतनी असरदार साबित नहीं हो रही है, जितनी अपेक्षित है।

जनतंत्र में सत्ता का बिखराव हो, यह अच्छी बात है। अतएव पंचायत-जैसी संस्थाओं की उपयोगिता अनिवार्यता के हम प्रबल समर्थक हैं। पर पंचायतें मात्र झगड़े टण्टों के सुलझाव में ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझ बैठें, तो इतने भर से कुछ होने जाने को नहीं है। पंचायतें केवल मुट्ठी भर सक्रिय लोगों की ही संस्थाएँ बनकर रह जायँ, तो उन्हें हम सत्ता के विकेंद्रित रूप की प्रतीक नहीं मान सकते। जबतक पंचायत क्षेत्र की सभी जनता पंचायतों को अपनी प्यारी संस्था समझकर उन्हें अपनी आत्मीयता प्रदान नहीं कर सकेगी, तबतक सही मानी में पंचायतें सत्ता के विकेंद्रित अभिकरण की भूमिका निभा सकने में सर्वथा असमर्थ रहेंगी।

चिन्ता का विषय

सत्ता के विशुद्धतम विकेन्द्रीकरण का अभाव अकेली पंचायतों में ही नहीं पाया जाता, बल्कि वैसी सामाजिक,

सांस्कृतिक तथा अन्यान्य संस्थाएँ जिनका गठन तथा-कथित जनतंत्रात्मक आधार पर हुआ रहता है, इसी मर्ज की शिकार रहा करती हैं।

सचमुच बड़ी ही चिन्ता और भीषण परिताप का विषय है कि जनतंत्रीय शासन-पद्धतिवाले देश में रहते और स्वतंत्रताजनित वातावरण के होते हुए भी हम अपनी संस्थाओं को अपेक्षित रूप में ढालने में असमर्थ रहे।

हमारी समझ में इसका कारण—और एक मात्र कारण है—देश में व्याप्त अशिक्षा का सुविस्तृत साम्राज्य। माना कि समाज शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा आदि विषयक आन्दोलन के सहारे हम अपनी जनता को अशिक्षा के दुर्भेद अन्धकार से बाहर निकाल लाने के लिए प्रयत्नशील हैं, हरिजनों एवं पिछड़ी जातियों के लिए शिक्षा प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है, संविधान के निदेशक सिद्धान्तों के अनुकूल सारे देश में निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गयी है —फिर भी वांछित परिणामों की प्राप्ति नहीं हो रही है। और यदि हमारी यही दृष्टि, गति और पद्धति कायम रही, तो निकट भविष्य में इस उपलब्धि से हम वंचित हो सकते हैं।

ज्ञान का विकेन्द्रीकरण

बात दरअसल यह है कि हम सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात जिस हौसले से करते हैं, उस हौसले से ज्ञान के विकेन्द्रीकरण की बात नहीं करते। कुछेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना हमारे इस हौसले की गवाही नहीं दे सकती। हमें घूम-फिरकर पुस्तकालयों के संस्थापन-संचालन की बात पर आ जाना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान का सही और प्रभावशाली ढंग से विकेन्द्रीकरण पुस्तकालयों एवं वाचनालयों के द्वारा ही हो सकेगा। ये पुस्तकालय और वाचनालय जो लोक-पुस्तकालय और सार्वजनिक वाचनालय हों, जिनकी स्थापना शहर के एक-एक मुहल्ले में और देहात के एक-एक गाँव में हो, जिनका निर्वाह सही ढंग से किया जाता रहे, जिनकी सेवाएँ निःशुल्क और निर्बाध रूप से बिना किसी भेदभाव के सभी को प्राप्य हों, जहाँ लोग स्वतः स्फूर्त प्रेरणा से तो जायँ ही, जहाँ नहीं जायँ, वहाँ इसके लिए उन्हें प्रेरित किया जाय। ऐसा होने से ही ज्ञान का समुचित विकेन्द्रीकरण हो सकता है अन्यथा नहीं।

इन कार्यों के सम्पादन के तरीके तथा नियमादि चाहे जैसे भी हों, पर सिद्धान्त रूप में ज्ञान के विकेन्द्रीकरण के अभिकरण पुस्तकालयों और वाचनालयों को अवश्य-मेव मान लिया जाय।

खेद की बात है कि अपने देश में पुस्तकालय के व्यापक संचालन-संस्थापन और निर्वाह की दिशा में बहुत कम काम हो रहा है। सिद्धान्त के रूप में तो इनके लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं, लम्बी-लम्बी स्कीमें हैं, पर व्याव-हारिक रूप में उनकी गति बड़ी ही मन्द है।

एक कलंकमूलक अभाव

भारत-सरकार-द्वारा गठित पुस्तकालय परामर्श-दातृ समिति ने आज से कई वर्ष पूर्व अनमोल सुझावों के साथ अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था, जिसे पुस्तकाकार *प्रकाशित भी किया जा चुका है, पर उसके महत्त्वपूर्ण* अधिकांश सुझाव अब तक कार्यरूप में परिणत किये जाने से वंचित ही हैं।

बिहार में विश्वविद्यालयों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, पर नालन्दा और विक्रमशिला-जैसे विश्व-विख्यात पुस्तकालय, जिस सूबे में कभी अवस्थित होकर इसके मान और गौरव की अभिवृद्धि करते थे, उसी सूबे के पाँचों में से किसी एक भी विश्वविद्यालय में पुस्तकालय-विज्ञान की पढ़ाई की व्यवस्था का अभाव वास्तव में कलंक-मूलक है। यही नहीं, सुना तो यह भी जा रहा है कि देश की वर्तमान संकटापन्न स्थिति को मद्देनजर रखते हुए राज्य के सार्वजनिक पुस्तकालयों को दिये जानेवाले आवर्तक-अनावर्तक अनुदान में भी कटौती की जा रही है।

हम देश की रक्षा को सर्वोपरि महत्व देनेवालों में से हैं, पर पुस्तकालय जो अपने स्वस्थ साहित्य-द्वारा लोगों में एकता और स्वदेश प्रेम की भावना भर रहे हैं, उनके अनुदान में कतर-ब्योंत होना देश की सुरक्षा की ही दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता।

ज्ञान के विकेन्द्रीकरण के प्रतीक—पुस्तकालय हमारे देश की स्वतंत्रता-रक्षा, यश रक्षा और जनतंत्रीय भावनाओं के प्रचार प्रसार के अनन्यतम अभिकरण हैं। इनका पोषण, संरक्षण तथा उन्नयन हमारा, हमारी जनता और हमारी सरकार का परम कर्तव्य है। ●

विकास की नयी दिशा

मदनमोहन पाण्डेय

डारविन के विकास के सिद्धान्तों ने संसार के प्रबुद्ध-जनों का ध्यान आकृष्ट किया और मनुष्य को एक विकासशील पशु मान लिया गया। मनुष्य शनैः शनैः रहस्यमय परिवर्तनों के द्वारा अपने वर्तमान रूप में पहुँचा। चतुष्पदा से आगे बढ़कर वह द्विपद हो गया। स्रष्टा ने उसे एक जटिल मस्तिष्क यंत्र प्रदान किया था। वह सोचने लगा। उसने तर्क-बुद्धि का सहारा लिया। विवेकहीन (इरेशनल) से यह विवेकशील (रेशनल) बन गया। किन्तु, वह अन्य पशुओं के समान ही अपने नैसर्गिक रूप से बँधा हुआ है। बस, वह औरों से भिन्न केवल इस अर्थ में है कि वह ज्ञान से युक्त है अन्यथा उसमें और अन्य पशुओं में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है।

मनुष्य विवेकशील पशु है तथा "ज्ञान हि तेषामाधिको विशेष ज्ञानैर्विहीना पशुभिः समाना" ज्ञान ही उसकी विशिष्टता है। ज्ञान से विहीन मनुष्य पशु के समान है।

जब सभी पशुओं में श्रेष्ठ मानव-पशु के विकास पर हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि मनुष्य बाह्यरूप से पशुओं से सर्वथा भिन्न होते हुए भी अन्ततः पशु ही है। शिक्षा के द्वारा उसने नाना विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। उसने बड़े-बड़े सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। नये-नये आदर्शों की स्थापना की। अनेक वादों को जन्म दिया। बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। किन्तु वह अपनी पशुता का अतिक्रमण न कर सका। साहित्य, कला और प्राविधिक ज्ञान के क्षेत्र में उसने असीम उन्नति की, किन्तु मानवता के क्षेत्र में वह सदैव पशुओं से होड़ लेने में ही अपने पुरुषार्थ की सिद्धि मानता चला आया है। शिक्षा ने—भौतिकवादी शिक्षा ने—उसे ऐश्वर्य का रहस्य तो बतलाया, प्रतिस्पर्द्धा का बोध तो कराया, दूसरों को कुचलकर आगे बढ़ने का मार्ग तो दिखलाया—मान, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा—आदि के बन्धनों में बाँधकर उसमें मद की सृष्टि तो की किन्तु उसने उसकी अन्तरात्मा का परिष्कार नहीं किया।

करनी और कथनी

बीसवीं सदी का ज्ञान विज्ञानमय मानव-पशु हमारे लिए सचमुच ही कौतूहल की वस्तु है। वह कितने ही तंत्रों का निर्माता है, कितने ही वादों का स्रष्टा है। राजतंत्र, गणतंत्र आदि उसके ही मस्तिष्क की कल्पना है। वह समाजवाद, साम्यवाद, ऐसे कितने ही राजनीतिक वादों का जनक है। उसने कई राष्ट्र-संघ बनाये और बिगाड़े। उसके आदर्श तो बड़े ऊँचे हैं किन्तु उसकी कथनी और करनी में महान् अन्तर है। आज राष्ट्रसंघ में भी दलगत विचारों का ही प्राधान्य है। लीग आफ नेशन्स की भाँति इसकी नींव भी व्यक्तिगत स्वार्थों पर टिकी हुई है। अस्तु न्याय के नाम पर यहाँ भी अन्याय का समर्थन किया जाता है।

अपनी युक्तियों से झूठ को सच बना देना मानव-पशु की विशेषता है। आज अणु-आयुधों के निर्माण के द्वारा वह विश्व के विनाश की भूमिका तैयार कर रहा है। दो-दो महायुद्धों ने उसके उन्माद को कम नहीं किया। अब वह तीसरे महायुद्ध का स्वप्न देख रहा है। अपने वर्ग की सामूहिक हत्या का साधन प्रस्तुत करना मानव-पशु की प्रतिभा की देन है। न जाने उसका वह ज्ञान जो उसे पशुओं से पृथक् करता है, कहाँ सोया हुआ है?

मानव-पशुओं का जीवन बडा आडम्बरपूर्ण है। ये अनेक समुदायो, सघो में विभक्त हैं। ये विभिन्न धर्मों में आस्था रखते हैं। इन्होने मन्दिर, मसजिद और गिरजे बनवाये हैं। बडे-बडे मठो और विहारो की प्रतिष्ठा की है। ये उपदेशक भी हैं और प्रचारक भी, किन्तु, इन्हें अपने शब्दो मे स्वय ही आस्था नही है। ये जो कुछ भी कहते हैं केवल दूसरो को भ्रम में डालने के लिए। ये जो कुछ भी करते है केवल अपने स्वार्थ के लिए। इनका धर्म धोखा है। वह केवल आत्म प्रचार की भावना से प्रेरित है।

मानव-पशु की विशिष्टता

मानव-पशु को अर्थ-युक्त वाणी का वरदान प्राप्त है, अस्तु वह अपने शिकार को जाल में फँसाकर तडपा तडपाकर मारता है। नि सन्देह अन्य सभी हिंसक पशु उसकी अपेक्षा अधिक दयालु हैं। वह आशा और विश्वास का सचार करता हुआ प्राणो का शोषण करता है। पशु तो केवल अपने दाँतो और नाखूनो के प्रहार से ही अपने शत्रु का विनाश करता है, वह भी अकारण नही, प्राय सकट उपस्थित होने पर अथवा भूख की तीव्र ज्वाला से व्यथित होने पर। पर मनुष्य अपने शब्दो से ही मनुष्य के हृदय को विदीर्ण करने में समर्थ है। पशुओं के पास शब्दो का वह भण्डार कहाँ ? वे सहज भाव से शत्रुता अथवा मित्रता करते हैं—मनुष्य की शत्रुता और मित्रता दोनो ही का आधार सन्दिग्ध है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वह निम्नतम उपायो का आश्रय ग्रहण कर सकता है। कुछ पशुओ की धूर्तता विख्यात है, किन्तु वाह रे मनुष्य, तेरी समता भला कौन कर सकता है ?

नयी शिक्षा की आवश्यकता

मनुष्य को पद की लालसा होती है अधिकार की *लिप्सा होती है और उन्हें प्राप्त करने के लिए वह ऊँचे* नीचे सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है। पशु अपने में स्वय अधिकार-युक्त होता है। वह पद नहीं चाहता, मर्यादा नही चाहता। पद से युक्त होते ही मनुष्य की सोई पशुता अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जागृत हो उठती है और वह अपने अधिकार का उपयोग प्राय दूसरा के जीवन को दु सभय बनाने में ही करता है। यही तो उसकी सत्ता-प्राप्ति का लक्ष्य है। वह भय का सृजन करती है। दूसरो को भयभीत बनाकर वह अपने अह की रक्षा करता है। पशु अह से शून्य है। वह ज्ञानरहित है उसकी चेतना विकसित नही है। अस्तु, उसका अह सोया हुआ है। किन्तु ज्ञान से युक्त मानव-पशु अपने अह में खोया हुआ है। उसे अधिकार चाहिए। वह अधिकार, जो उसे दूसरो के जीवन से खेलवाड करने की स्वतत्रता प्रदान कर सके। इसी मे तो मानव पशु की श्रेष्ठता चरितार्थ होती है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि शिक्षा के द्वारा मानव-बुद्धि का तो विकास हुआ किन्तु उसकी आत्मा कुठित हो गयी। हमें वस्तुत ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारी आत्मा को आलोकित कर सके—जो जीवन के *विभिन्न अगो को सघटित कर उसे विघटन के भय से बचा* सके। व्यक्तित्व का समाकलन ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। नैतिक आस्थाओ से हीन शिक्षा मनुष्य को अखण्ड व्यक्तित्व नहीं प्रदान कर सकती। हमें बौद्धिक पशुओ की अपेक्षा चरित्रवान, आस्थावान व्यक्तियो की अधिक आवश्यकता है। जो शिक्षा हमारी आस्था को न दृढ कर सके, जो हमारे चरित्र को ऊँचा न उठा सके, जो हमारे जीवन में आत्मविश्वास न उत्पन्न कर सके, जो हमारी सृजनात्मक शक्तियों को जागृत न कर सके, वह शिक्षा केवल आडम्बर-मात्र है, उससे मानव-पशुओ का तो सृजन हो सकता है किन्तु मनुष्य का नहीं। आज समाज को निष्ठावान एव चरित्रवान व्यक्तियो की आवश्यकता है न कि मिथ्या ज्ञान के भार से दबे हुए मानव-पशुओ की। मानव चरित्र का विश्लेषण करने पर हम ऐसा प्रतीत होता है कि विकासवाद की समस्त परम्पराओ के बावजूद मनुष्य की गति तो उर्ध्व हुई किन्तु उसकी विचारधारा अधोमुखी ही बनी रही। वह अपनी *पशुता का तिरोभाव न कर सका।*

आज मानव-पशु सघर्ष में लीन है। मानव का समस्त भविष्य अन्धकारमय दिखलायी पड रहा है। अतिमानव का आविर्भाव और उत्कर्ष ही मानव की समस्याओ का एकमात्र समाधान है और उसका मूल आधार नयी शिक्षा-नीति में निहित है, जो यथा अवसर राजनीति समाजनीति और अर्थनीति को नया मोड दे सकेगी। ●

पंजाबी सूबा

●

जयप्रकाशनारायण

यह विस्मय की बात है कि पजाबी सूबे के सम्बन्ध में काग्रेस कार्यसमिति के निणय का इतना विरोध हुआ है। मेरे विचार में तो इससे और बढिया हल इस समस्या का हो ही नही सकता था। वर्तमान परिस्थितियो में यह अत्यन्त उचित एव विवेकपूर्ण निर्णय है। एक सीधे प्रश्न का सीधा उत्तर दिया गया है। भाषावार प्रान्त रचना का सिद्धान्त देश की जनता और ससद द्वारा स्वीकार किये जाने पर पजाबी-जैसी स्वीकृत, सवैधानिक भाषा के लिए अलग प्रान्त के बनाने के औचित्य को कैसे ठुकराया जा सकता था ?

पजाबी सूबा के रूप में किसी समुदाय विशेष को नही, बल्कि एक सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, जो कि अन्य राज्यो के लिए पहले से ही मूल आधार बनाया जा चुका है। ऐसा लगता है कि पजाबी भाषी जिलो के हिन्दुओ के एक वर्ग की ओर से काग्रेस कार्यसमिति के निर्णय का विरोध किया गया है। यह विरोध क्यो हो रहा है, यह समझना कठिन है, क्योकि पजाबी भाषा जितनी सिक्खो की मातृभाषा है उतनी ही वहां रहनेवाले अन्य सम्प्रदायो की भी है।

पंजाबी सूबे का विरोध दो मे से एक बात प्रकट करती है—एक तो पजाबी भाषी राज्य में रहनेवाले सिक्खो की (जो बहुमत में हो सकते हैं) देशभक्ति पर सन्देह होना और दूसरी हिन्दुओ की शायद उस राजनीतिक क्षेत्र में रहने की अनिच्छा, जहां अन्य समुदाय के लोग बहुमत में हो। इन दोनो में से किसी एक भी बात का स्वीकार करने का अर्थ होगा भारतीय राष्ट्रीयता के मूल पर ही भीषण कुठाराघात करना।

भारत के स्वतत्रता-सग्राम में सिक्ख लोग अग्रगण्य रहे थे और स्वतत्रता के बाद से लेकर अबतक भी वे देश की सुरक्षा के सग्राम में अग्रगण्य हैं। ऐसे देशभक्त, भारतीय समुदाय के प्रति किसी प्रकार की भेदभावना रखेगे तो देश की अखण्डता के लिए कल्पनातीत हानि पहुँचेगी।

जहांतक दूसरी बात का प्रश्न है, प्रत्येक देशभक्त हिन्दू को बिना किसी हिचक के अन्य समुदायवाले बहुमत के क्षेत्र में न रहने की बात का विरोध करना चाहिए। देश में आज अनेक अल्पसख्यक समुदाय ऐसे प्रान्तो में रहते हैं, जहां हिन्दुओ का बहुमत है। तो हिन्दू लोग भी ऐसे राज्य में रहने के लिए क्यो न तैयार हो, जहां कोई दूसरा समुदाय बहुमत में है ?

इस तरह की मनोवृत्ति के कारण ही दो राष्ट्रो के सिद्धान्त का जन्म हुआ था और यदि हमने इसे प्रभावकारी ढग से और तत्काल ही नही दबाया तो वह राष्ट्रीय सिद्धान्त विकसित होगा और भारत का नाश हो जायगा। अत पजाब के सभी देशभक्त लोग इस अवसर पर आगे आयें और हिन्दू तथा सिक्खो में साम्प्रदायिक भावना भडकानेवालो को राष्ट्रीय एकता-जैसे उत्तम मार्ग को तोडने से तथा छिन्न भिन्न करने से रोकें। मैं यह भी आशा करता हूँ कि सरकार अचल बनी रहेगी और भडकावे मे आने से इनकार कर देगी।

जैसे ही उपद्रव शान्त हो जाते हैं, सरकार का यह पहला कदम होना चाहिए कि वह काग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव के अनुसार, और हरियाना तथा कांगडा के निवासियो की भावना का आदर करते हुए नये राज्य की सीमा निर्धारित करने के लिए सीमा आयोग (बाउण्ड्री कमीशन) की नियुक्ति करे। ●

राष्ट्रीय महत्व की तीन घटनाएँ

•

सच्चिदानन्द

आज देश और दुनिया में जो घटनाएँ हो रही हैं, उनका अगर विश्लेषण किया जाय, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संकट का मूल कारण सत्ता के प्रति आधुनिक मनुष्य का मोह और उस पर आधारित हिंसा-द्वेष की राजनीति है। अभी-अभी हमारे देश में तीन बड़ी घटनाएँ हुई हैं मिजो क्षेत्र में विद्रोह, पश्चिम बंगाल में हिंसक उपद्रव और पंजाबी सूबे के नाम पर हिंसक आन्दोलन। अपने देश के बाहर हिन्देशिया में राष्ट्रपति सुकर्ण का पतन और सैनिक शासन का उदय भी एक ऐसी ही घटना है। आखिर यह सब क्यों हो रहा है? इन सारी घटनाओं की तह में एक ही बात है: सत्ता के लिए दुराग्रह की राजनीति। सत्ता के साथ सम्पत्ति की भावना जुड़ी हुई है ही। लेकिन सत्ता की आकांक्षा ही अभी मुख्य रूप से व्यक्ति के मन पर हावी है।

हम मानते हैं कि मिजो क्षेत्र के विद्रोह के पीछे स्वतन्त्रता की आकांक्षा भी एक हद तक है। लेकिन उसने सत्ता की आकांक्षा का रूप ले लिया है। स्वतन्त्रता की आकांक्षा मनुष्य की सर्वाधिक मूल्यवान आकांक्षा है, जिसका हम आदर करते हैं। अगर मिजो जाति स्वतन्त्र रहना चाहती है, तो हमें उसकी इस इच्छा का आदर करना चाहिए, क्योंकि यह भारत-राष्ट्र भारत में निवास करने वाली जातियों की स्वतन्त्र रहने की इच्छाओं का ही मूर्त रूप है। लेकिन क्या मिजो जाति यह अनुभव करती है कि भारत में उसकी स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं है? अथवा उसके कुछ नेता राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए बेचैन हैं? भारतीय संविधान भारत में रहनेवाले सभी व्यक्तियों और समूहों को अपने जीवन का निर्माण करने की पूरी स्वतन्त्रता देता है। वह स्वतन्त्रता मिजो जाति को भी प्राप्त है। फिर भी उसके नेता भारत से अलग होने की माँग क्या करते हैं? यह ठीक है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन से वे कुछ अलग-अलग से रहे हैं, जिस कारण शायद शेष भारत के साथ वे एकात्मकता का अनुभव नहीं करते।

सत्ताकांक्षी चिन्तन

अपनी सरहद पर बसनेवाली जातियों को अपने सांस्कृतिक फैलाव में समेटने का प्रयास भारत ने नहीं किया। नागाओं के साथ भी यही हुआ। आज नागा लोग भी भारत से अलग होने की माँग करते हैं, तो उसका कारण यही है। लेकिन नागा-जनता को शान्ति और स्वतन्त्रता के साथ जीवन जीने का अवसर मिले, जैसा कि उन्हें पिछले एक वर्ष में मिला है, तो कोई कारण नहीं है कि वह भारत से अलग होने की बात करे। पिछले एक वर्ष में वह शायद समझ चुकी है कि भारत में रहते हुए भी वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकती है, लेकिन उसके कुछ राजनीतिक नेताओं को भारत के अन्दर रहना मान्य नहीं है। वे भारत-संघ से अलग होने की माँग पर अड़े हैं। स्वतन्त्रता के लिए उनका यह आग्रह वस्तुतः सत्ताकांक्षी चिन्तन का परिणाम है। मिजो नेशनल फ्रण्ट का विद्रोह भी कुछ-कुछ ऐसे ही चिन्तन का परिणाम है।

जनता को स्वतन्त्रता चाहिए, और उसके लिए आग्रह उचित भी है। लेकिन जनता के तथाकथित

नेताओं को सत्ता चाहिए। उन्हें सत्ता मिल जाने के बाद जनता वास्तविक स्वतंत्रता और शान्ति का उपभोग कर सकेगी, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। खासकर जो लोग बम और बन्दूक के द्वारा सत्ता हासिल करते है, वे उसके द्वारा जनता पर अपनी सत्ता लादने का प्रयास करते हैं। सत्ता की यह आकांक्षा जनता की शान्ति और स्वतंत्रता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा ही नहीं, अशान्ति का सबसे बड़ा कारण भी है। इसलिए जबतक सत्ता की राजनीति का प्रभाव कायम रहेगा, तबतक नागा-समस्या और मिजो-समस्या का हल असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

सत्ताकांक्षी राजनीति

अभी पश्चिम बंगाल में खाद्य आन्दोलन के नाम पर जो कुछ हुआ है, और फिर पंजाबी सूबा के नाम पर भी, उनके पीछे भी सत्तामूलक राजनीति काम कर रही है। खाद्यान्न का अभाव देश में है और इस अभाव के कारण हैं। कांग्रेस सरकार की नीतियाँ भी इसके लिए जिम्मेवार हैं। लेकिन बसों और ट्रेनों को जलाने से क्या यह अभाव दूर होगा? यह स्पष्ट है कि विरोधी दलों को 'अन्न-संकट' से उतना मतलब नहीं है, जितना इस बात से है कि अगले चुनाव में कांग्रेस को कैसे अपदस्थ किया जाय। एक ओर वे बाहर से अन्न मँगाने का विरोध करते हैं, और दूसरी ओर यह आवाज लगाते हैं कि जनता को पर्याप्त अन्न मिलना चाहिए। ये दोनों बातें एक साथ तभी हो सकती है, जब अन्न का उत्पादन बढ़ जाय और उसका समुचित वितरण भी होने लगे।

लोकतंत्र की बुनियाद पर हमला

हम नहीं मानते हैं कि यह सरकार उत्पादन बढ़ाना नहीं चाहती या अन्न का समुचित वितरण करना नहीं चाहती। वह चाहती तो है, लेकिन वह हो नहीं पा रहा है। इसके कारण अनेक हैं। उनमें सरकार की कृषि-नीति भी एक है। इसलिए उसमें परिवर्तन होना चाहिए। अगर सरकार की कृषि-नीति में समुचित परिवर्तन की सम्भावना नहीं दीखती हो, तो जनता को यह हक है कि वह सरकार को अगले चुनाव में बदल दे। विरोधी दलों को इसके लिए जनता को संगठित करने का पूरा हक है। ऐसा करने के बदले उन्होंने ट्रेन और बस जलाने का निश्चय किया। स्पष्टतः ऐसे हिंसक कार्यों के द्वारा सरकार को लाठी-गोली चलाने के लिए मजबूर किया जा रहा है और इसका उद्देश्य यह है कि सरकार और जनता के बीच दुराव पैदा हो जिसका लाभ अगले चुनाव में लिया जाय। सरकार बदलने का यह ढंग शत-प्रतिशत अलोकतांत्रिक और अनुचित है। ऐसे अलोकतांत्रिक ढंग से जो सरकार बनेगी, वह लोकतांत्रिक ढंग से व्यवहार करेगी, यह असम्भव है। स्पष्टतः विरोधी दलों का यह कार्य लोकतंत्र की बुनियाद पर हमला है जिसका उद्देश्य येन केन प्रकारेण राजनीतिक सत्ता हासिल करना है।

हम मानते हैं कि कांग्रेस दल की सत्ता के प्रति आसक्ति इस स्थिति के लिए कम जिम्मेवार नहीं है। कांग्रेस भी चाहती है कि उसके हाथ में सत्ता बनी रहे। दुर्भाग्यवश, देश में कोई इतना शक्तिशाली विरोधी दल बन नहीं पाया है, जो लोकतांत्रिक तरीके से जनता को संगठित कर आवश्यकतानुसार कांग्रेस का स्थान ले सके। इस परिस्थिति से निराश होकर विरोधी दल हिंसा की ओर मुखातिब हो रहे हैं। मतलब यह कि सत्ता की यह छीना-झपटी ही वर्तमान परिस्थिति के लिए जिम्मेवार है। पंजाबी सूबे के प्रश्न पर जो घटनाएँ घटी हैं, उनके पीछे भी यही बात है।

सरकार हिंसा से झुकती है

सन्त फतेह सिंह ने धमकी दी कि पंजाबी सूबा मानो, नहीं तो हम मरेंगे। कांग्रेस और सरकार ने उनकी बात मान ली। अब दूसरे पक्ष की ओर से हंगामा हो रहा है कि पंजाबी सूबा क्यों मान लिया? अब कोई क्या करे? भाषावार सिद्धान्त के अनुसार पंजाबी सूबा बनना चाहिए। लेकिन अभीतक क्यों नहीं वह बनाया गया था? सन्त फतेह सिंह की धमकी का इन्तजार करने की क्या जरूरत थी?

सरकार की यह आदत हो गयी है कि वह सिद्धान्त और तर्क के आगे नहीं झुककर, धमकी और हिंसा के सामने झुकती है। विरोधियों ने भी यह मान रखा है कि हिंसा करने से ही उनके उद्देश्य की पूर्ति होगी। पंजाबी सूबे के प्रश्न पर सन्त फतेह सिंह के मन की बात हुई तो अब मास्टर तारा सिंह नाराज हैं। इधर जनसंघ-

वाले अपना रोष प्रकट कर रहे हैं। खतरा इस बात का है कि कहीं हिन्दू बनाम सिक्ख के झगडे व्यापक रूप से न होने लगें।

अब, इस परिस्थिति का क्या इलाज है? यह तो जाहिर है कि सत्तापरस्त राजनीति के कारण ही यह सब हो रहा है। इस राजनीति को सेवामूलक राजनीति में परिवर्तित किये बिना ये झगडे मिटनेवाले नहीं हैं। गांधीजी ने लोक-सेवक-संघ की कल्पना की थी। वे कांग्रेस को सत्ता की राजनीति से हटाना चाहते थे। अगर कांग्रेस ने उनकी बात मानी होती तो देश में सत्ता के प्रति यह आसक्ति पैदा नहीं होती जो स्वराज्य के बाद हुई है। आज भी हम समझते हैं समस्या का वही इलाज है जो गांधीजी ने बताया था। कांग्रेस सत्ता विसर्जन के लिए तैयार हो। वह यह सोचना छोड दे कि उसके हाथ से शासन निकलेगा तो देश टूट जायगा। कांग्रेस सत्ता में रहकर भी अब देश को टूटने से नहीं बचा सकती। अब सत्ता के प्रति उसकी आसक्ति से ही देश की एकता खतरे में पड गयी है। इसलिए वह सत्ता विसर्जन के लिए तैयार हो।

आज एक ओर कांग्रेस के पास सत्ता इकट्ठी हो गयी है दूसरी ओर धनिक वर्ग के पास सम्पत्ति इकट्ठी हो गयी है। लोकतंत्र, समाजवाद एवं शान्ति की स्थापना और सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि सत्तावाले अपनी सत्ता का और सम्पत्तिवाले अपनी सम्पत्ति का विसर्जन करें। ६७ में चुनाव में सत्ता के लिए भयानक संघर्ष की तैयारी हो रही है। केरल, बंगाल और पंजाब की घटनाएँ उस संघर्ष की पूर्व भूमिका हैं। कांग्रेस के अन्दर भी सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष की समाप्ति सत्तावालों के द्वारा सत्ता छोड़ने की तैयारी से ही हो सकती है। अगर कांग्रेस ने ऐसी उदारता नहीं दिखायी तो आनेवाले संघर्ष में लोकतंत्र क्षत विक्षत होकर रहेगा।

हम चाहते हैं कि कांग्रेस और लोकतंत्र प्रेमी विरोधी दल इस परिस्थिति पर गहराई से विचार करें और मिल जुलकर कोई रास्ता निकालें, जिससे देश बचे और लोकतंत्र भी। ●

देश के पुनर्निर्माण में खेलों का महत्व

●

एम. एस. चोपड़ा

भारत में खेलों के विकास के लिए स्कूल और कालेजों में विशेष ध्यान देना जरूरी है। ये स्थान एक प्रकार के कारखाने हैं, जहाँ कच्चे माल के रूप में हमारे युवक आते हैं और ये युवक देश के भावी नागरिक बनाये जाते हैं। ये युवक हरे बाँस की तरह हैं इन्हें आप जिधर चाहें मोड लीजिए। इस अवस्था के लडकों को जैसी शिक्षा दी जायगी, वे वैसे ही नागरिक बनेंगे और इन्हें आसानी से सुधारा भी जा सकता है।

किन्तु, खेद की बात है कि हमारी शिक्षा-संस्थाएँ खेलों को बढ़ावा देने के लिए बहुत कम प्रयत्न कर रही हैं। स्वतंत्र भारत में इस उदासीनता का कोई कारण नहीं होना चाहिए। मैं देश के कोने-कोने में घूम चुका हूँ और मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि बच्चों को शारीरिक शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

देश को बलवान और स्फूर्त स्त्री-पुरुषों की जरूरत है। देश के लिए सबसे कीमती चीज क्या है? 'रस्किन' हमेशा यह कहते थे कि किसी देश के लिए सुखी और

उम्रवाले साथी थे। कवायद, खेल, गीत, नृत्य आदि में भाग लेना कई साथियों को आरम्भ में बड़ा बेतुका लगता था। एक मित्र ने तो पहले दिन बड़े ही तपाक से कहा—क्या हम बच्चे हैं जो खेल खेलेंगे ? धोती, कुर्ता के अभ्यस्त उत्तरप्रदेश तथा बिहार के साथियों को हाफ पैंट तथा हाफ कमीज पहनने में बेहद खिंचाव हो रहा था। किन्तु दो चार दिनों के अभ्यास से ही यह खिंचाव तथा सकोच का बाँध टूट गया। और बाद में ऐसी लहर फैली कि घण्टी लगते ही कुलाँचे भरते सभी मित्र खेल के मैदान में पहुँच जाते थे। फिर 'मछली जाल', 'ऐसे कैसे', 'कितने जितने', 'चपटपट', 'लोमड़ी', 'शेर' आदि खेलों में ऐसे रम जाते थे कि खेल का समय समाप्त हो जाने पर भी खेल के मैदान से हटने को किसी का जी नहीं चाहता था। और मुक्त समय भी वहीं बिताकर वापस लौटते थे। कवायद् के कॉशन तो राह चलते सुने जाते थे। डाँडिया रास और नृत्य-नाटिका में मित्रों के पाँव ऐसे थिरकने लगते थे कि उम्र, पद, जिम्मेदारी आदि के बोझ का भान उन्हें बिलकुल नहीं रहता था। गाने के समय कण्ठ की मधुरता या कर्कशता की बगैर परवाह किये लोग झूमने लगते थे। सामूहिक गान में लगता भी सब भला ही था।

ग्राम-सम्पर्क—ग्रामदान के काम में शान्ति-सेवादल का प्रवेश कैसे हो, इसके प्रत्यक्ष अनुभव की दृष्टि से लोग प्रति तीसरे दिन अलग-अलग टोलियों में गाँव में जाते थे। खेल, गीत आदि के माध्यम से गाँव के बच्चों तथा युवकों का थोड़े ही दिनों में अच्छा प्रेम सम्पादन हो गया था। बच्चों की जमघट में बड़े बुजुर्गों की उपस्थिति भी सहज ही हो जाती थी। फिर उनसे खुलकर गप-शप होती थी। इसी बीच 'बनैली खुर्द' नामक गाँव का ग्रामदान भी हुआ।

शिविर-जीवन—शौचालय-सफाई, भोजनालय आदि कार्य छ टोलियों में बँटकर सभी शिविरार्थी उत्साहपूर्वक करते थे। टोलियों के नामकरण से ही स्फूर्ति मिलती थी। टोलियों के नाम थे—सत्य, प्रेम, करुणा, शान्ति, मैत्री और भक्ति।

रोल-प्ले, भ्रमण, रामदुकान तथा सर्वोदय-पात्र की व्यवस्था शिविर का आकर्षक विषय रहा। रामदुकान में पोस्टेज, पूनी, तेल, साबुन आदि रखा रहता था। वहाँ रखे गिलास में पैसा डालकर आवश्यक सामान लोग ले लिया करते थे।

सर्वोदय-पात्र की स्थापना भी शिविर में की गयी थी। पात्र में अन्न डालते समय निम्न मंत्र की रचना हुई थी—

सत्य, प्रेम, करुणा

शान्तिकेन्द्र सोखोदेवरा के हम सब लोग सबकी भलाई का ख्याल रखते हुए इस शान्ति-पात्र में यह अनाज डाल रहे हैं।

अनाज डालना (क्रिया)

हम सब कामना करते हैं कि हमारे दिल के अन्दर तथा जगत में शान्ति हो।

शान्ति शान्ति शान्ति

शिविर-व्यवस्था—शिविरार्थियों के भोजन, निवास आदि की जिम्मेवारी सोखोदेवरा आश्रम ने सँभाली थी। आश्रम के प्रधान मंत्री श्री त्रिपुरारिशरण जी ने अपने सहयोगी मित्रों सहित जिस आत्मीयता तथा प्रेमपूर्वक शिविरार्थियों का आतिथ्य किया वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा। सभी शिविरार्थी मित्रों को ऐसी अनुभूति होती रही मानो प्रत्येक आश्रमवासी का वह व्यक्तिगत मेहमान हो। आखिरी तीन-चार दिनों में श्री जयप्रकाश बाबू तथा प्रभावती बहन की उपस्थिति से वातावरण और प्रेमल बन गया था।

शिविर के संचालक मण्डल में श्री नारायण देसाई, श्री सुब्बाराव तथा मैं था।

७ मार्च को शिविर का समापवर्तन था। उस दिन इतना व्यस्त और आकर्षक कार्यक्रम रहा कि होली का दिन और घर से इतनी दूर पड़े रहने का आभास ही मित्रों को नहीं हो पाया। प्रातः शिविरार्थियों-द्वारा कवायद, खेल, योगासन का सामूहिक प्रदर्शन किया गया। श्री जयप्रकाश बाबू को सलामी दी गयी। दोपहर बाद आचार्य राममूर्ति-द्वारा शिविर का समापवर्तन-समारोह सम्पन्न हुआ। रात्रि में रचनात्मक कार्यक्रम आयोजित किया गया था, जिसमें विभिन्न प्रदर्शन रखे गये थे। नृत्य नाटिका में प्रदर्शित शिविर-प्रवृत्तियों का कार्यक्रम बड़ा दिलचस्प रहा। ●

लोकतंत्रीय पद्धति की असफलता क्यों ?

आज लोकतंत्रीय पद्धति विकसित करने का हर प्रयोग बेकार हो रहा है। ग्राम पंचायत अथवा ब्लाक-स्तर पर, जो अनुभव आ रहे हैं, उनसे लोकतंत्र का विनाश ही दिखने लगा है। संविधान ने प्रत्येक नागरिक को समान मतदान प्रदान किया है, किन्तु उसका नागरिक को बोध नहीं। जन कल्याण की योजनाएँ भी विकास कार्य में असफल हो रही हैं। वस्तुतः हमारे लोकतंत्र का लोक सुषुप्त है और केवल तंत्र चल रहा है। जनता के राज्य में नौकरशाही चल रही है। लोक को जगाने की दिशा में हमारा कोई ठोस प्रयोग ही नहीं हुआ। उसी का यह परिणाम है। यदि उपयुक्त शिक्षा मिली होती तो आजादी के १८ वर्षों में नागरिकों की सुशिक्षित और नयी पीढ़ी तैयार होकर सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत बन लोकतंत्र को मजबूत धरातल पर जमा सकती थी।

बुनियादी शिक्षा में ये सभी तत्त्व निहित हैं। उसमें एक सुयोग्य नागरिक बनाने और समाज में लोकतंत्रीय समाजवाद की स्थापना की क्षमता है। यह प्रत्यक्ष बाह्य का दण्ड भय के बदले आत्मानुशासन सिखाती है, अधिकार के लिए संघर्ष के बजाय कर्त्तव्य परायण बनने की क्षमता उत्पन्न करती है, और स्वार्थ-परायणता के स्थान पर परस्पर सद्भाव, सहयोग और सहकार सिखाती है। बुनियादी शिक्षा हमें नैतिकता और सदाचार की शिक्षा देती है। बुनियादी शिक्षा द्वारा मनुष्य-मात्र के हित में ही अपना हित देखने की वृत्ति पैदा होती है। यदि नागरिक में इन गुणों का विकास हो जाय तो लोकतंत्रीय पद्धति सफल होगी और लोकतंत्र में 'लोक' प्रधान हो सकेगा।

आत्मनिर्भरता और हमारी पाठशालाएँ

आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए श्रम और सहकार-शक्ति विकसित करनी होगी। पूंजीवादी स्वतन्त्र व्यापार और केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था से भिन्न व्यवस्था सोचनी होगी। हमें ९० करोड़ हाथों को काम देना है। हमारी पूंजी सीमित है। पूंजी के लिए प्रतीक्षा न सम्भव है और न आवश्यक ही। हमें ऐसे साधन अपनाने होंगे, जो गांवों में बन सकें। खेती के विकास के लिए भी हमें ऐसे साधन तैयार करने होंगे, जो गांव या हर परिवार छोटे पैमाने पर उपयोग कर सकें। विज्ञान का उपयोग हमें भरपूर करना है और उसकी टेकनालॉजी का विकास अपने घरेलू कामों के लिए और करना है।

जीवन की इस तैयारी के लिए हमारी पाठशालाओं में बालक जीवन के आरम्भ से ही कोई न-कोई उद्योग सीखेगा। प्रत्येक प्रक्रिया का क्या, क्यों और कैसे सीखेगा। उस उद्योग का इतिहास और विकास सीखेगा। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास से सम्बन्धित उद्योग का भाग व महत्त्व जानेगा। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक ढंग से उद्योग सीखने से बालक उद्योग में निष्णात होगा तथा उसका शारीरिक और मानसिक विकास भी होगा। शिक्षा में उद्योग को रूस ने भी जोड़ा है। प्रायोजना और प्रक्रिया के माध्यम से शिक्षा की बात तो अमरिका ने भी कही है, किन्तु उत्पादक उद्योग का शिक्षा से सम्बन्धित करना और आत्मनिर्भर बनाने की दिशा हमें बुनियादी तालीम ने ही सुझायी है। चीन ने भी अपनी बहुल आबादी को शिक्षित और आत्मनिर्भर बनाने के लिए हाफ हाफ स्कूल की योजना चलायी है। हमने उद्योग को शिक्षा का माध्यम माना है। इससे उत्पादक उद्योग सीखने का लाभ, उत्पादन करने का आनन्द और बिना अतिरिक्त बोझ महसूस किये आवश्यक शारीरिक और मानसिक विकास सम्भव है। निस्सन्देह बुनियादी शिक्षा में व्यक्ति को, समाज को तथा देश को आत्मनिर्भर बनाने की क्षमता है और मनोवैज्ञानिक ढंग से आनन्द की अनुभूति के साथ सिखाने की कला भी। बुनियादी शिक्षा-सिद्धान्त की यह नवीनता अनुपम है।

विद्यालयों का सीधा सम्बन्ध समाज से हो

बुनियादी शिक्षा में केवल उद्योग की शिक्षा अथवा उद्योग केन्द्रित शिक्षा ही नहीं आती है। यह कल्पना उसे एकांगी बना देगी। समाज और प्रकृति भी शिक्षा के माध्यम हैं। जीवन के द्वारा, जीवन से, जीवन के लिए शिक्षा की यह पद्धति है। आस पास के समाज और प्रकृति का पूर्ण परिचय, समस्याओं का अध्ययन और उनके निराकरण का उपाय भी बच्चे

मिलेंगे। बुनियादी शिक्षा में दैनिक जीवन श्रम सह-कार और सहयोग पर आधारित लोकतंत्रीय व्यवस्था होगी। इसी आधार पर भावी समाज का निर्माण करने की कल्पना आज है। हम अंग्रेजी विशेषज्ञों की सुझायी हुई सामुदायिक विकास की योजनाएँ चला रहे हैं। बापू ने समस्या के मूल को पकड़ा था और सामाजिक क्रान्ति के लिए शिक्षा का मार्ग बताया था। स्वर्गीय प० नेहरू ने भी स्कूलों को गाँवों के सामुदायिक जीवन का केन्द्र बनाने की बात कही थी।

यह तभी सम्भव है, जब हम सामुदायिक जीवन को विद्यालय के जीवन का अंग बनायें और समाज से उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित करें। बुनियादी शिक्षा में यह क्षमता है। इसके माध्यम से नागरिकता का पाठ रटाने की अपेक्षा उसके अभ्यास और समस्याओं के सीधे सम्पर्क में आने और उनके समाधान की क्षमता आती है। सामुदायिक जीवन में बालक स्वच्छन्दता अथवा उच्छृंखलता के बजाय स्वतंत्र नागरिक की उदाराशयता, कर्तव्यपरायणता और आत्मानुशासन सीखेगा। सहजीवन के अभ्यास से उसमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत, वर्ग भेद, और जाति-भेद की संकीर्णताओं का नाश और समता, सहिष्णुता और सामुदायिकता की भावना का विकास निहित है, जो संविधान में उल्लिखित लोकनीति के अनुकूल है। लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक को योग्य नागरिक, चरित्रवान मनुष्य, और सभी को विश्व बन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत बनाने के लिए ही शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क करने का सुझाव दिया था। यदि इस पर समुचित ध्यान दिया गया होता तो लोक-तंत्रीय समाजवादी जीवन का विकास गतिशील हो चुका होता।

बुनियादी शिक्षा के लिए हम करें क्या?

यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आज देश में, जो शिक्षा चल रही है उसमें बुनियादी शिक्षा के बुनियादी तत्त्वों का ही लोप हो गया है। आज शालाओं में उद्योग नहीं चलते हैं। फिर उत्पादन और स्वावलम्बन का प्रश्न ही नहीं उठता। पाठ्यक्रम में सामुदायिक जीवन का भी स्थान नहीं है। बुनियादी शिक्षा के नाम पर अनेक विषयों का विस्तार कर कठिनाई ही पैदा हुई है। इस तरह उसमें न तो नयी शिक्षा का नयापन आ सका है और न पुरानी शिक्षा के गुण ही रह पाये हैं। अगर हम बुनियादी शिक्षा का पुनर्गठन, विकास और विस्तार चाहते हैं तो हमें संक्षेप में ये कदम उठाने होंगे—

- स्कूलों में उद्योग की समुचित व्यवस्था की जाय। प्रत्येक स्कूल के पास उद्योग के साधन और प्रारम्भिक पूँजी की व्यवस्था की जाय।
- उत्पादन के न्यूनतम लक्ष्यांक निर्धारित किये जायें।
- सामुदायिक जीवन को पाठ्यक्रम का आवश्यक अंग बनाया जाय।
- शिक्षकों और निरीक्षकों को प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) दिये जायें।
- वैज्ञानिक ढंग के अधिकतम उत्पादन करने-वाले छात्र, शिक्षक और स्कूल को पुरस्कृत किया जाय।
- उद्योगों के प्राविधिक और समवायी पाठ के विकास हेतु खण्ड स्तर पर अनुसन्धान शालाएँ स्थापित की जायें।
- बुनियादी शिक्षा (१ से आठवें वर्ग तक) का संयुक्त पाठ्यक्रम हो तथा इसी प्रकार माध्यमिक स्तर पर भी तीन या चार वर्षों का समन्वित पाठ्यक्रम हो।
- परीक्षा की वर्तमान दोषपूर्ण पद्धति में सुधार किया जाय।

इस प्रकार बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा देश के हितों और आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल है। शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से वह आधुनिकतम और वैज्ञानिक है। उसमें संविधान के अनुसार लोकतंत्रीय समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य पूरा हो सकेगा और देश में समता और आत्मनिर्भरता आ सकेगी।

●

यह है सोशल गेदरिंग !

•

सुशीलकुमार

ग्रामदान पद-यात्रा के दरमियान एक बार एक हाई स्कूल में जाने का मौका मिला। चर्चा के दौरान यह मालूम हुआ कि इस सप्ताह के अन्त में स्कूल में 'सोशल गेदरिंग' होनेवाला है। सोशल गेदरिंग के नाम से एक निश्चित फीस ली जाती है। यहाँ पर ५०० रुपये उस फण्ड में जमा हैं, उनको खर्च करना था।

चर्चा के बाद स्कूल से मैं एक गाँव की ओर जा रहा था। मेरे साथ उसी स्कूल के एक मास्टर साहब भी थे। सोशल गेदरिंग के बारे में रास्ते भर उनके साथ मैं चर्चा करता रहा। यह कार्यक्रम कम से कम मनाया जाय। इसके बजाय अन्य कई शैक्षणिक कार्यक्रम हो सकते हैं। उस दिन बच्चे साफ-सुथरा होकर आयें, स्कूल के लिए सब बालक श्रमदान करें, चर्चा गोष्ठी हो, बाल कवि-सम्मेलन या सांस्कृतिक सम्मेलन हो, किसी विद्वान् व्यक्ति को उस दिन स्कूल में बुलाया जाय, और सामाजिक नाटक खेला जाय।

खेल-कूद का अच्छा कार्यक्रम रखा जाय। गाँव-वालों को उस दिन सब धर्म के बारे में तथा सामाजिक संगठन के बारे में स्कूल के शिक्षक-विद्यार्थी समझायें और साथ में सब जाति के बालक छूआछूत मिटाने के लिए एक साथ बैठकर कुछ खायें-पीयें भी। यह सारा कार्यक्रम सरकारी स्कूल में आसानी से हो सकता है।

इस प्रकार चर्चा करते हुए मुझे जहाँ पहुँचना था, पहुँच गया। मन को एक सन्तोष हुआ। मन में एक सम्पूर्ण सुन्दर चित्र सोशल गेदरिंग का खिंच गया। विशेष सन्तोष तो इसलिए हुआ कि सरकारी स्कूल में भी अच्छे काम के लिए गुंजाइश है, रुपया है, समय है और मौका है। गाँव पहुँचने के बाद यह बात मैं भूल गया, क्योंकि ग्रामदान-तूफान के सिलसिले में ग्रामदान का विचार ग्रामवासियों को समझाना—यह काम मुख्य था।

४–५ दिन बाद मैं उस हाईस्कूल के पास की सड़क से ही वापस आ रहा था। संयोग से वह दिन स्कूल के सोशल गेदरिंग का था। सुबह मैं करीब ९ बजे वहाँ पहुँचा था। जगह-जगह ८–१० आदमी व कुछ बच्चों के झुण्ड दिखाई दे रहे थे। मुझे भी कुछ लोगों ने घेर लिया और इस प्रकार एक और झुण्ड बन गया। मैंने समझा आज स्कूल में सोशल गेदरिंग का दिन है—इसलिए गाँव-वालों के ऊपर भी उसका असर पड़ा है, और सब लोगों में आज एक उत्साहपूर्ण भाव जाग उठा है। लेकिन, सोशल गेदरिंग की बात समझकर तो मैं दंग रह गया। वास्तव में उस दिन स्कूल में कोई विशेष कार्यक्रम नहीं था। बस, पाँच सौ रुपये का भुक्ता (सह भोज) हो रहा था—यानी हर बालक को घर जाते समय एक कोथली मिलेगी, जिसमें एक पाव बुन्दी (बूँदिया) और एक छटाँक नमकीन सेव होगी। घर जाकर वह कोथली खायी जायगी। बस, यह है सोशल गेदरिंग।

प्राइमरी नहीं, मिडल नहीं, हाई स्कूल के शिक्षकों की यह मनोवृत्ति, कार्यक्षमता का एक उदाहरण है। शिक्षण के प्रति निष्ठा, ईमानदारी और देशभक्ति का सबूत है। शिक्षकों के साथ अकसर हमारी बातचीत होती है तो वह यही कहते हैं, कौन इतना झंझट मोल ले, इन गाँववालों से, बच्चों से खामखाह मगजपच्ची करे ? क्यों कोई शिक्षक नियत समय के अलावा भी कुछ करे ? इससे उसे फायदा क्या होगा ? कोई शिक्षक अच्छा काम करता है तो क्या उसे कोई इनाम देता है ? बल्कि दूसरे लोग तो आसानी से विश्वास भी नहीं करते कि स्कूल का कोई शिक्षक समय से और मन लगाकर अच्छा काम भी करता होगा। लोगों के मन की यह आम धारणा है तभी तो सरकारी नौकरों के लिए 'रिश्वतखोर' और शिक्षकों के लिए 'आरामखोर' शब्द पर्याय हो गये हैं। क्या हम शिक्षकों के लिए यह एक चुनौती नहीं है ? •

शान्तिसेना और, विश्वशान्ति

काका कालेलकर

पृष्ठ २२४, मूल्य २ ५०

शान्तिसेना की कल्पना गाधीजी ने की और सतसन्त विनोबाजी ने इस कल्पना को साकार स्वरूप दिया।

आज दुनिया के प्राय सभी राष्ट्र विश्वशान्ति के लिए प्रयत्नशील है और नि शस्त्रीकरण की ओर बढ़ रहे हैं।

शान्तिसेना नैतिक शक्ति पर खडी रहती है और यह सेवा के द्वारा मैत्री स्थापित करती है।

अहिंसा, मैत्री, सद्भाव, भाईचारा आदि भावो के विकास में जागतिक चिन्ता में कैसे-कैसे मोड आये और भविष्य का समाधान क्या है? इन सब प्रश्नो का उत्तर काका साहेब की इस कृति में पढिए।

तमिलनाड के ग्रामदान

मूल्य दो रुपया

आंध्र के ग्रामदान

मूल्य एक रुपया

लेखक : बसन्त व्यास

"आप लोग ग्रामदान तो प्राप्त कर लेते हैं, पर बाद में उस गाँव को उसी दशा में छोडकर चले जाते है। वहाँ कुछ होता-हवाता तो है नहीं। ऐसे ग्रामदानो से फायदा ही क्या ?"

इस तरह की बात कई बार कही जाती है। कुछ लोग यह भी कहते हैं

"देश म इतने ग्रामदान हुए हैं, क्या कही ऐसे कोई ग्रामदान है जिनको नमूने के तौर पर देखा जा सके ?"

देश के निर्माण में लगे हुए सरकारी नेता और अफसर जो प्राय शहरो से बाहर जाने और गाँवो की हालत देखने के लिए समय ही नही निकाल पाते, कहते हैं

"ग्रामदान से क्या होनेवाला है, हमारे विकास खण्डो में जो काम हो रहा है, वही पर्याप्त है। आपने हजारो गावो का ग्रामदान कराया, क्या वहां किसी परिवर्तन अथवा प्रगति के दर्शन होते हैं ?"

इस तरह के अनेक प्रश्नो और असमजस भरे सवालो का वास्तव में कोई मौलिक उत्तर नही दे सकता। इनका उत्तर तभी मिलेगा, जब य प्रश्नकर्ता एव समालोचक अपने बँगले से बाहर निकलें, गाँव की धूल छानने का कष्ट उठावें। जहाँ जहाँ ग्रामदान का काम हुआ है, उसे खुले दिमाग से देखने का प्रयत्न करें। फिर भी गुजरात के निष्ठावान युवक और सर्वोदय आन्दोलन के श्रमणशील कार्यकर्ता श्री बसत व्यास ने अपनी इन दो पुस्तको में इन सवालो का उत्तर देने की कोशिश की है। ग्रामदान के बाद उन गाँवो में क्या हुआ, इसकी तलाश में घूमनेवाले इस गुजराती भाषी युवक ने अपनी सरल भाषा में जो झाँकी उपस्थित की है, उससे समालोचको का या तो पूरा समाधान हो जायगा या कम-से-कम उन्हें ग्रामदानी गाँवो में जाकर स्वय इस क्रान्ति की यात्रा के पड़ावो को देखने की प्रेरणा मिलेगी।●

सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

अनुक्रम

●

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहकसंख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती है।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

'नयी तालीम' के आगामी विशेषांक का विषय

'राष्ट्रीय विकास और शिक्षा'

विशेषाक के निम्नलिखित उपखण्ड होगे—

- **राष्ट्रीय विकास का अर्थ—**

  मवागीरग या विशिष्ट पहलुम्रो का ?

- **राष्ट्रीय विकास का लक्ष्य—**

  नीति सब का या ग्रधिकतर का ?

- **राष्ट्रीय विकास की नीति—**

  विकेन्द्रित स्वावलम्वन की या केन्द्र सचालित ?

- **राष्ट्रीय विकास की गतिशक्ति (डायनामिक्स)**

  ग्रार्थिक योजना या शिक्षा ?

- **राष्ट्रीय विकास का स्वरूप—**

  गाँव की भूमिका म या नगर की भूमिका में ?

- **राष्ट्रीय विकास में शिक्षा की भूमिका**

  सामाजिक ग्रार्थिक सास्कृतिक धार्मिक राजनैतिक ग्रादि विभिन्न क्षेत्रो म सन्तुलन समन्वय ग्रौर सहयोग पैदा करने ग्रौर राष्ट्र का विश्व से सम्बन्ध जोड़ने में शिक्षा का विशेष योगदान।

यह विशेषाक जून-जुलाइ के सयुक्ताक के रूप म जुलाइ ६६ में प्रकाशित होगा।

देश के चिन्तक शिक्षाविद् ग्रौर समाज शिक्षको से निवेदन है कि वे राष्ट्रीय विकास ग्रौर शिक्षा' के उपरोक्त पहलुग्रो पर ग्रपना लेख भेजकर विशेष सहयोग देने की कृपा करें।

—प्रधान सम्पादक

नयी तालीम, अप्रैल '६६

पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त

लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल, १७२३

जिनिगी के साध

"इतने बडे-बडे धनवान व्यक्ति इस गाँव में है, लेकिन आठ-आठ लोगो के भोजन की व्यवस्था आपके ही घर में क्यो की गयी ?"—ग्रामदान-यात्रा के एक पडाव पर रामनारायण बाबू ने अपने अत्यन्त गरीब अतिथेय से प्रश्न किया—

"की कहे छै अपने के ? हम्मर बड भाग जे अपने के जूठन आज हमरे घरे गिरतै । की कहियो रमलरैन बाबू ! हमें भर जिनिगी एतना धान अपन घरा में कबहुक नाय देखलियो । विनोबा बाबार परताप छथ कि घरा म आज पूरे पूर पचास मन धान छिये । हम्में सोचले रहलिए कि बाम्हन नेवते के साध एह जिनिगी में पूरा नय होतो । हश राम ! अपने सबके अवाई सुनलके त माय के अत्ता न आनन्द भेलै कि की कहियो, एकदम जिद कर देलकै कि उन्ही आर हमरा लेखे भगवान छथ । सब गोटा के दही-चूडा खिअइबे आ जिनिगी के साध पूरैबे । अपनार के परताप से हम्मर दलिद्दर भग गेलै । थोडके आर दही लइयो रमलरैन बाबू ।"

गाय के गोबर से लिपी-पुती वह झोपडी और उसके वासी, दरिद्रता के अभिशाप से मुक्त होकर शायद सदियो बाद अपने अस्तित्व पर विहँस रहे थे ।

—रामचन्द्र 'राही'

आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी ।
गत मास छपी प्रतियाँ २३ ०००, इस मास छपी प्रतियाँ २३,०००

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
सर्व-सेवा-संघ की मासिकी

शिक्षकों के आदर्श गोखले

श्री गोपालकृष्ण गोखले का जन्म सन् १८६६ में कोल्हापुर के एक गरीब मराठा ब्राह्मण कुटुम्ब में हुआ था। वहीं के कालेज में उन्होंने एफ ए परीक्षा पास की। इसके बाद वे बम्बई के एलफिस्टन कालेज मे भरती हुए और वहाँ से सन् १८८४ मे उन्होंने बी ए. परीक्षा पास की।

बी ए होने के बाद उन्होंने शिक्षक का धंधा ही पसन्द किया। उस समय डकन एजूकेशन सोसाइटी अच्छा काम कर रही थी। श्री गोखले इस संस्था मे सम्मिलित हो गये। श्री गोखले ने वहाँ बीस वर्षों तक पढ़ाने की शपथ ली। इस प्रतिज्ञा का उन्होंने पालन किया। इस प्रकार के सेवा वृत्ति परायण लोग जब शिक्षा के लिए अपना जीवन अर्पण करते हैं तभी शिक्षा फलदायी निकलती है और बालकों के संस्कार तभी गढ़ जाते हैं।

वे स्फटिक के समान शुद्ध मेमने के समान कोमल और सिंह के समान शूर निर्दोष और सम्माननीय थे। वे राजनैतिक क्षेत्र मे मेरे लिए परिपूर्ण पुरुष थे।

—गांधीजी

वर्ष : चौदह

●

अंक : दस

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

अब शिक्षा में भी !

गुलाम देश के लिए सबसे कीमती चीज क्या है ?—आजादी। और आजाद देश के लिए ? रोटी ? कपडा ? पुल, बाँध, रेल ? आखिर क्या ?—शिक्षा। आजाद देश की आकाक्षाओ को पूरा करने का एक ही उपाय है—शिक्षा। क्या सुख और क्या ज्ञान और क्या मुक्ति, शिक्षा हर चीज का साधन है। शिक्षा के बारे में यह बुनियादी बात आज हर देश मान रहा है। दुनिया जान रही है कि जिस दिन मनुष्य शस्त्र से मुक्त होगा—और मुक्त वह होगा ही—उस दिन शिक्षा की ही शक्ति समाज को कायम रख सकेगी, दूसरी कोई शक्ति नही। आज भी शिक्षा के ही कारण मनुष्य शस्त्र-मुक्ति के उस शुभ दिन की ओर बढ रहा है, भले ही गति तेज न हो। शिक्षा आज जीवन-व्यापी हो गयी है।

शिक्षा के महत्व के बारे में सन्देह नही रह गया है, लेकिन यह सम्भव नहीं है कि तमाम दुनिया के लिए कोई एक ही शिक्षा-योजना बना ली जाय और समान रूप से हर देश में लागू कर दी जाय, यह असम्भव है। अवश्य, कुछ मूल तत्त्व तय किये जा सकते हैं, और उनके आधार पर हर देश अपनी प्रतिभा और परिस्थिति के अनुसार अपनी शिक्षा-पद्धति विकसित कर सकता है। इतना ही नही, मूल तत्त्वो की एकता के रहते हुए भी एक ही देश के अन्दर अलग-अलग गांवो या शहरो की शिक्षा के रूप-रग में काफी अन्तर हो सकता है, और होना भी चाहिए। जिस तरह हर व्यक्ति का अपना अनोखापन (यूनीकनेस) होता है, उसी तरह जन-समुदाय की हर इकाई का अपना अनोखापन होता है, जिसे सुरक्षित रखना शिक्षा का काम है, क्योकि उसी के आधार पर व्यक्ति या समुदाय के व्यक्तित्व का विकास होता है। हां, इस क्रम और

इस प्रक्रिया मे एक देश के अनुभव और साधन दूसरे देश के काम आयेंगे, और आने चाहिए; लेकिन पसन्द करने का पूरा अधिकार हर देश का अपना होना चाहिए ।

अभी कुछ दिन पहले जब इन्दिराजी अमेरिका गयी थी तो विदायी मे उन्हे एक भेंट मिली। अमेरिका की ओर से राष्ट्रपति जानसन ने घोषणा की कि १५० करोड का, जो सब अमेरिकी रुपया होगा, एक अमेरिकन-भारतीय शिक्षा सस्थान खोला जायगा, जिसमे अमेरिकन और भारतीय दोनो सदस्य होगे और जो हमारे देश की शिक्षा मे सुधार के सुझाव देगा ।

जबसे इस सस्थान की घोषणा हुई है कुछ जानकार लोगो के मन में बडी शका पैदा हो गयी है । दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ प्रोफेसरों ने वक्तव्य देकर साफ-साफ अपने मन का भय प्रकट किया है । भय इस बात को लेकर है कि इस तरह अमेरिका धीरे-धीरे हमारी शिक्षा मे भी घुस रहा है । हम अमेरिका से लडाई के सामान लेते है, पचवर्षीय योजना के लिए पूंजी लेते हैं, पेट के लिए अनाज लेते है, औद्योगिक विकास के लिए मशीन और तकनीकी ज्ञान लेते है, और अब अपने दिमाग के लिए अमेरिकी शिक्षा-शास्त्रियो का मार्ग-दर्शन लेने जा रहे है । इसी बात को लेकर कुछ लोगों के मन में शका पैदा हो गयी है, और सरकार को सफाई देनी पडी है कि अमेरिका से पैसा लेकर या इस सस्थान मे शरीक होकर भारत अपने को बेच नहीं रहा है ।

सवाल यह है कि अगर सरकार अपनी जगह इतनी दृढ है तो शका होती ही क्यो है ? शका की जगह सचमुच कृतज्ञता का भाव पैदा होना चाहिए । जो पराया देश हमें आत्मरक्षा के लिए शस्त्र दे रहा हो, इतनी पूंजी दे रहा हो, और भुखमरी से बचने के लिए मुहमाँगा—बल्कि माँग से भी अधिक—अन्न दे रहा हो उसके प्रति हम कृतज्ञ भी न हो तो हमारे-जैसा गयागुजरा दूसरा कौन देश होगा ? लेकिन, बात सचमुच ऐसी नही है । हम अपने शुभचिन्तको का उपकार मानने को तैयार है, पर अपनी आँखों से हम जो कुछ देख रहे है उससे इनकार भी कैसे करे ? हम पूरे एशिया और अफ्रीका में क्या देख रहे है ? अफ्रीका में विदेशी पूंजी ने क्या किया है ? वियतनाम में विदेशी अस्त्र-शस्त्र क्या कर रहे है ? और अपने ही देश में विदेशी पूंजी, विदेशी बन्दूक और विदेशी बुद्धि का अबतक क्या प्रभाव हुआ है ? क्या विदेशी पूंजी ने देशी पूंजीवाद, विदेशी बन्दूक ने देशी सैनिकवाद और विदेशी बुद्धि ने देशी राज्यवाद को मजबूत नही किया है ? क्या कारण है कि दिनोदिन देश अपनी बुनियादी समस्याओ को हल करने की शक्ति खोता चला जा रहा है ? क्या इस शक्ति को खोकर कोई भी देश बहुत दिनो तक अपने को कायम रख सकता है ? पिछले उन्नीस वर्षों में हमने लगातार यह शक्ति खोयी है, और आज भी बराबर खोते जा रहे है ।

एक दूसरी बात भी है। स्वराज्य के बाद हमारे देश में यही हवा बही कि हमें दुनिया के दूसरे देशो के मुकाबले जल्द-से-जल्द पहुँचना है। हमने सोचा कि इस दौड मे आगे रहने के लिए हमे सभ्य कहे जानेवाले पश्चिमी देशो की राजनीति, अर्थनीति और जीवन-पद्धति की नकल करनी चाहिए। हमने पाश्चात्य ढग का सविधान बनाया, हमने पाश्चात्य ढग का केन्द्रित उद्योगवाद चलाया, यहाँतक कि अपने ५ लाख गाँवो के विकास के लिए हमने अमेरिकन ढग की सामुदायिक विकास-योजना स्वीकार की। इसका क्या परिणाम हुआ? देश की एकता का कमजोर होना, बेकारी और विषमता का दिनोदिन बढते जाना, और गाँवो मे विफलता-ही-विफलता का मिलना क्या बता रहे है? और अब अन्त में हम शिक्षा में अमेरिका की प्रेरणा और सहायता से 'नया प्रयोग' करने जा रहे है!

अगर हमने अपनी परम्परा और अपनी परिस्थिति से मेल खानेवाली राजनीति, अर्थनीति और शिक्षानीति विकसित की होती तो आसानी से अपने 'स्व' को कायम रखते हुए हम विदेशी अनुभवो को पचा लेते। जाहिर है कि आज हमारे पाचन मे वह शक्ति नही है। कुछ विदेशी विचारक भी हम चेतावनी दे रहे हैं कि भारत को हमेशा अपनी परिस्थिति को सामने रखकर ही सोचना चाहिए, और हर प्रश्न का उत्तर उसे अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा से ढूंढना चाहिए, लेकिन दिल्ली और राजधानियो में बैठे हुए शासक और अपने स्वार्थ को देश का विकास माननेवाले नेता और उद्योगपति हमसे यही कहते रहते हैं कि 'भारत' के पास अपना है क्या, जो कुछ है वह 'सात समुन्दर पार' है। अमेरिका ने या किसी भी देश ने, जो भी पद्धति विकसित की है अपने लिए की है। कोई देश दूसरे देश के लिए प्रयोग नही करता। यह कहना काफी नही है कि नये सस्थान के सुझावो पर अन्तिम निर्णय का अधिकार भारत सरकार का होगा। हम देख रहे हैं कि क्या राजनीति और अर्थनीति, और क्या खेती, ग्रामविकास, भवन-निर्माण, साहित्य, पत्रकारिता, फैशन, रहन-सहन, रुचि, मनोरजन तथा सोचने-समझने के तरीके आदि जीवन के अनेक पहलुओ पर अमेरिका का प्रभाव तेजी से बढ रहा है। क्या भारत-सरकार यह सब देख नही रही है? उसने अबतक क्या किया? कही ऐसा न हो कि 'भारत-सरकार' का भारत धीरे-धीरे लुप्त हो जाय और केवल सरकार रह जाय? हमें अमेरिका क्या, किसी से भी कोई दुराव नही है। हम 'जय जगत्' में विश्वास करते हैं, लेकिन 'जय जगत्' का अर्थ 'क्षय भारत' नही है। इसलिए अमेरिका का उपकार मानते हुए भी हम अपने जीवन पर उसका रग नही चढने देना चाहते।

राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप क्या हो ?

•

राधाकृष्ण

हमारे देश के बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियों-द्वारा—चाहे वे प्लानिंग कमीशन में हों, शिक्षण-विद्यालयों में हों, या मन्त्रालयों में हों—गत दो वर्षों से दो शब्दों का इस्तेमाल करने का एक फैशन सा हो गया है। एक शब्द है—वर्क एक्सपीरियेंस और दूसरा प्रोडक्शन ओरियेंटेड एजुकेशन। मैंने यह जानने की कोशिश की कि इन शब्दों से उनका वास्तविक आशय क्या है ? मुझे कुछ स्पष्ट समझ में नहीं आया। मुझे नहीं लगता कि इन शब्दों पर किसी ने विस्तृत रूप से, और गहराई से सोचा विचारा होगा।

आज की परिस्थिति में यह स्पष्ट हो रहा है कि तालीम आज छोटों और बड़ों को जैसी दी जाती है, वही आगे चलती रहेगी तो इस देश में उत्पादन का स्तर बढ़ाने का जो महान काम है, वह बहुत पीछे ही रहेगा, और आर्थिक ही नहीं, चारित्रिक, और सामाजिक मूल्यों की एक बहुत बड़ी क्रायसिस या चुनौती हमलोगों के सामने आ खड़ी होगी। उसी सन्दर्भ में मेरे मन में यह बात आयी कि नयी तालीम के, जो साथी अनुभवी हैं, वे इस जमाने के शब्दों और भाषा में, अपने अनुभव सामने रखें।

इसमें कोई शक नहीं कि देश की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति हमें विवश कर देगी कि अपनी शिक्षण-पद्धति के बारे में आज नहीं तो अगले पाँच-दस सालों में बुनियादी ढंग से सोचने के लिए हम मजबूर होंगे। पंचवर्षीय योजनाओं की विफलता ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के मन में यह विचार डाल दिया था कि क्या अभी समय नहीं आया कि गांधीजी की बातों को याद करें, उनके तौर-तरीकों को समझें और उनमें जो कुछ तथ्य है, उसको पहचानें और काम में लें ?

शिक्षा के साथ बेकारी क्यों ?

शिक्षण का अवसर जैसे जैसे व्यापक होता जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप अनिवार्य शिक्षण की माँग बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इस देश में बेकारी भी बढ़ती जा रही है। इस शिक्षण में कौन-सा ऐसा तत्त्व है, जो बेकारी को बढ़ा रहा है। शिक्षा शास्त्रियों को इस बारे में सोचना होगा। देश में अच्छे-से-अच्छे कुछ इंजीनियर, कुछ डाक्टर और वैज्ञानिकों को हम तैयार करें, इतने मात्र से हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। लाखों-करोड़ों की तादाद में इस देश के जवानों और अन्य लोगों का हस्त-कौशल कैसे बढ़ाया जा सकेगा, यह देखना होगा। आज जहाँ एक मन गेहूँ पैदा होता है, वहाँ दो मन कैसे पैदा करें। प्रकृति ने हमें जो साधन-सम्पत्ति दिया है, उसका पूरा-का-पूरा इस्तेमाल कैसे करें, और प्रकृति में जो समतोल (बैलेंस) है उसको नहीं तोड़ें, यह सब हमें सोचना होगा। यह भी सोचना होगा कि विफलता के स्थान पर विश्वास इस मुल्क में कैसे पैदा करें ? नौकरियों को बढ़ाने के बजाय स्वाश्रयी उद्योगों का प्रमाण कैसे बढ़ायें ? इस देश में हर एक व्यक्ति को काम मिले और अपने-आपको बढ़ाने का मौका मिले, यह सम्भव करना होगा।

नयी तालीम ने यह दावा किया है कि परिस्थिति के सन्दर्भ में वह सोचती है और काम करती है। इतना ही नहीं, नयी-नयी समस्याओं का हल ढूँढ़ना नयी तालीम का काम है। तो हमें यह सोचना चाहिए कि पिछले ३० वर्षों में हम लोगों ने, जो विचार रखे हैं, जिन तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, केवल उन्हीं को न दोहरायें, बल्कि एक नये सन्दर्भ में हम सोचें।

नयी तालीम के दो परिच्छेद

नयी तालीम के दो परिच्छेद पूरे हो चुके हैं। आजादी के पहले जब परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न थीं, उस समय नयी तालीम आरम्भ हुई और आजादी के बाद जब राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ नये ढंग से सोची जाने लगीं तो नयी तालीम ने अपना स्वरूप कुछ बदलने की कोशिश की। आजादी के बाद कौन तीन परिस्थितियाँ देश के सामने खड़ी हुई हैं, यह भी समझना है। आज आर्थिक क्षेत्र में एक निराशावाद फैल रहा है, अपने में विश्वास कम हो रहा है। सामाजिक दृष्टि से सोचें तब भी यही पाते हैं कि समाज का विच्छेद करने वाली शक्तियाँ कई रूपों में खड़ी हुई हैं और इन सबके बीच नयी तालीम को काम करना है।

परिस्थिति की चुनौती

राष्ट्र ने अपनी औद्योगिक और आर्थिक रीति को एक रीति से चलाया है, चाहे उसको हम स्वीकार करें या न करें। हमें यह सोचना होगा कि इस परिस्थिति के अन्दर हम कैसे काम करें। सामाजिक मूल्यों में काफी फर्क होता आ रहा है। कुटुम्बों, परिवारों और गाँवों में कुछ नये मूल्य पहुँच गये हैं, कुछ गलत मूल्य भी पनपे हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे सोचने-विचारने के ढंग और दृष्टिकोण वैज्ञानिक हों, और युग के विकास के साथ-साथ कदम मिलाकर चलने की हममें क्षमता हो। अपनी बातें आज की परिभाषा में, आज की परिस्थिति के अनुसार हम रखें। नयी तालीम के बारे में हमारा-आपका, जो विश्वास है, उसीके लिए यह चुनौती है। यदि हम मानते हैं कि नयी तालीम में कुछ विशेष तत्त्व हैं और हम उन तत्त्वों के आधार पर विश्वास से काम करें तो नयी तालीम की राष्ट्र-निर्माण में अपनी एक देन होगी।

सबसे पहली चीज तो यह है कि जो बालक अगले दस-पन्द्रह सालों में अपने स्कूल को छोड़कर जिन्दगी में प्रवेश करेंगे, उनका हस्त-कौशल कैसे बढ़ाया जाय, उनमें से हर एक-एक प्रोडक्टिव यूनिट (उत्पादक इकाई) कैसे बने? अगले पन्द्रह-बीस साल में, हर क्षेत्र में और विशेष रूप से खेती और उद्योग में, जो कुछ परिवर्तन हों हम उन परिवर्तनों को मद्देनजर रखें। शिक्षण के ढाँचे में हम क्या परिवर्तन लायेंगे और हर बालक-बालिका को इन उद्योगों या खेती में होनेवाले विकास का साधन बनने के लिए हम कैसे तैयार करेंगे? जो लोग बच्चों की तालीम के बारे में सोचेंगे और उसे उत्पादनाभिमुख करना चाहेंगे, उनको गम्भीरता से इस बात को सोचना पड़ेगा। राष्ट्र के ८० प्रतिशत बच्चे, जो पाँचवीं या छठी कक्षा से जिन्दगी में प्रवेश करेंगे, उनके बारे में हमारा चित्र क्या है? हस्त-कौशल को विकसित करने के लिए शालेय शिक्षण में स्थान नहीं होगा और अभ्यास के लिए यथेष्ट मौका नहीं होगा तो बच्चे समाज में कौन-सी पूँजी लेकर जायेंगे और स्वयं को समाज में कैसे समायोजित करेंगे?

देश की उत्पादन क्षमता कैसे बढ़ायें?

शिक्षण में लगे हुए लोग बच्चों से खेल-खेल के तौर पर कबतक कागज कटाते रहेंगे, कबतक रंगों के खिलवाड़ रचाते रहेंगे और कबतक गोंद चिपकाने का मनोरंजन चलाते रहेंगे? बच्चों को और कबतक किसी काम के पूरा होने के समाधान से हम वंचित रखेंगे? हम सब देशभर में समायोजन करते हैं और चाहते हैं कि हर एक आदमी जिम्मेदार हो, लेकिन अपने अवयवों को पूरा-पूरा विकसित करने का हम बच्चों को अवसर नहीं देते हैं तो फिर वे जिम्मेदार नागरिक कैसे बनेंगे?

मैं चाहता हूँ कि शिक्षण में रुचि रखनेवाले साथी और अपने बच्चों के भविष्य के बारे में सोचनेवाले माँ-बाप इस पहलू पर सोचें। इस विचार-सारिणी में हम अपने-आपको किसी बन्धन में नहीं डालें। अपनी कोई परिधि न बनायें। नयी तालीम को तीन उद्योगों का केन्द्र बनाया गया है—भोजन, वस्त्र और आवास का इन्तजाम। मैं इस विचार पर पहुँचा हूँ कि इन तीनों बन्धनों में हमें सीमित नहीं होना चाहिए। देश में एक नयी हवा बनी है, एक नयी भूख पैदा हुई है। वह है राष्ट्रीय निर्माण की हवा। वह दिशा सही है या गलत, यह दूसरा सवाल है, लेकिन इस देश के नवनिर्माण को, जो त्वरा या प्रयास है, उसके प्रति

हमारे देश के बच्चों को सहयोग का मौका मिलना चाहिए। जितने कामों को हम शिक्षण के माध्यम के तौर पर शाला में दाखिल करेंगे या जिन उद्योगों को तालीम का केन्द्र-बिन्दु मानकर चलेंगे, वे उद्योग ऐसे होने चाहिए, जिनकी समाज में कद्र हो। इस दृष्टि से अपने शालेय उद्योगों के बारे में भी हमको सोचना होगा।

शालेय उद्योगों में परिवर्तन की आवश्यकता

हम एक डायनेमिक (परिवर्तनशील) युग में है। डेवलपमेण्ट (विकास) के आज के जो (तकनीकी यंत्र) साधन है, १० साल के बाद वे ही रहेंगे, ऐसा नहीं है। इसलिए तालीम के उद्योगों और साधनों में परिस्थिति के अनुकूल नये परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है। समाज में आज या अगले २५ साल के अन्दर, जो उद्योग-धन्धे खड़े होनेवाले है, उन धन्धों के माध्यम से आज तालीम का ढाँचा बनाना होगा। तब केवल उत्पादक ही नहीं, बल्कि सामाजिक रीति से उत्पादक बच्चों को हम तैयार कर पायेंगे। हमारे लिए यह एक विचारणीय प्रश्न है।

योरप तथा दूसरे देशों का, जो सामाजिक और आर्थिक विकास गत डेढ़ सौ वर्ष में हुआ है, उस इतिहास को आज के सन्दर्भ में अपनी समस्याओं को सामने रखते हुए हम २५-३० सालों में घटित होते देखना चाहते हैं। अपने में ही यह एक बहुत महान प्रयास है और यह प्रयास को जबतक शिक्षण का आधार नहीं मिले तबतक इस प्रयास में हम कामयाब नहीं होंगे। इसके लिए हजारों-लाखों लोगों की तालीम का इन्तजाम और उनकी सेहत की देख-भाल आदि का काम भी करना होगा। उत्पादन का काम तो है ही, लेकिन वह मात्र खेती या कारखाने में है। इसलिए इस नव निर्माण के काम में आज हमारे विद्यार्थियों का योग मिले, और वे शिक्षण के सन्दर्भ में पहुँचें, इस दृष्टि से हमें सोचना होगा।

समन्वय की दिशा

२० साल के बाद हिन्दुस्तान में यह सहन नहीं होगा कि बी० एस० सी० होने के बाद भी एक स्टोव या साइकिल रिपेयर करने की योग्यता छात्र में नहीं है या बिजली का मामूली रिपेयर्स (मरम्मत) करने की योग्यता उनमें नहीं है। जनमानस में और ज्यादा-से-ज्यादा लोगों में कई बातों की सामान्य तकनीकी योग्यता हमें बढ़ानी होगी, तभी यह उद्योगशील समाज बनेगा। उद्योग केवल कुछ कारखानों में नहीं चलनेवाला है। इसके लिए घर घर में उद्योग की नीवें डालनी होंगी। हर घर को एक प्रोडक्टिव यूनिट (उत्पादक इकाई) बनाना होगा। यह समन्वय बदलती हुई राष्ट्र निर्माण की परिस्थिति और बढ़ती हुई तालीम का इन्तजाम, इन दोनों के बीच हमें कर लेना चाहिए। यही 'वर्क एक्सपीरियंस' और 'प्रोडक्शन ओरियेण्टेड एजूकेशन' की बुनियाद होगी। इसके दो पहलू होंगे। एक तो सबको उपलब्ध हो सके, ऐसा तकनीकी ज्ञान और वे कुशलताएँ, जो समाज के निर्माण के सन्दर्भ में होनेवाली हैं, दूसरा उस समाज के साथ तालीम का समन्वय। इन दोनों पटरियों पर अपने शिक्षण का ढाँचा हमें खड़ा करना होगा। कोई बच्चा ऐसा न हो, जिसने कुछ-न-कुछ हाथ का काम नहीं सीखा है, और जो उससे सहज आनन्द और प्रेरणा प्राप्त नहीं करता हो। यदि यह चीज हमें करनी है तो केवल ८वी के बाद की तालीम में ही हम कुछ परिवर्तन करेंगे और उद्योग दाखिल करेंगे तो हमें कामयाबी नहीं मिलेगी। ऐसा कार्यक्रम हमें लेना होगा, जो शिक्षा की तमाम अवस्थाओं को एकदम स्पर्श कर सके। वर्क एक्सपीरियंस को सफल बनाना हो तो आवश्यकता इस बात की है कि इसके वातावरण को हम बनायें। इसके बिना अच्छी-से-अच्छी योजना भी कामयाब नहीं होनेवाली है। जहाँ तक ब्योरा का प्रश्न है कि कैसा स्थान और कितना समय दें, यह प्रश्न उतना तात्त्विक नहीं है जितना संगठन और सुविधा का प्रश्न। मैं उम्मीद करता हूँ कि बुनियादी तालीम के प्रयोगों, उद्योगों, और शिक्षण का जो अनुभव हम लोगों को मिला है, उसके आधार पर वर्क-एक्सपीरियंस का ऐसा आयोजन हम कर सकेंगे, जिसमें विद्यार्थियों में आज नयी तरह पैदा हो और आज के सिनीसिज्म, एपैथी और फ्रस्ट्रेशन के बजाय एक आशा की भावना जग सके।●

गरमी की छुट्टियों में साक्षरता और सफाई-आन्दोलन

•

काशिनाथ त्रिवेदी

इस समय देश के अनेकानेक प्रदेशों में छोटी-बड़ी सभी शिक्षा-संस्थाएँ वार्षिक परीक्षाओं के दौर में गुजर रही हैं। मई के अन्त तक सब प्रकार की परीक्षाएँ लगभग समाप्त हो चुकेंगी। फिर सारा शिक्षा-जगत गरमी की छुट्टियाँ मनाने निकल पड़ेगा। ४०–५० दिन से लेकर ८०–९० दिन तक शिक्षा-क्षेत्र में छुट्टियों की हवा रहेगी। हजारों-लाखों शिक्षक और लाखों-करोड़ों विद्यार्थी गाँव गाँव और नगर-नगर में छुट्टियाँ बिताते दिखाई पड़ेंगे। अंग्रेजी राज के जमाने से गरमी के मौसम में शिक्षा-संस्थाएँ इस तरह की छुट्टियाँ मनाती चली आ रही हैं। अब तो शिक्षा-जगत के लोगों का इन लम्बी छुट्टियों पर एकाधिकार-सा हो गया है। किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि वह इनमें किसी भी प्रकार की कतरब्योंत करे। आज इस अधिकारवाद ने देश में एक नशे का-सा रूप धारण कर लिया है, और यह बड़ी तेजी से बुद्धिजीवियों के क्षेत्र में व्यसन का रूप लेने लगा है।

छुट्टियाँ कैसे बीतती हैं ?

सन् ६६ के गरमी के दिन शुरू हो चुके हैं। कुछ दिनों के बाद सारे देश में गरमी की छुट्टियों के निमित्त पूर्व प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की हजारों-लाखों शिक्षा-संस्थाएँ डेढ़, दो और ढाई महीनों के लिए बन्द होंगी या हो रही हैं। लाखों करोड़ों छात्र-छात्राओं और हजारों-हजार शिक्षकों के सामने एक सवाल खड़ा होगा कि वे अपनी इन छुट्टियों का उपयोग किस तरह करें ? खाना, सोना, कुछ हल्का-फुल्का पढ़ना, खेलना, गप-शप लड़ाना, गाँव, नगर या शहर-कस्बे की गलियों में मटरगश्ती करना और इसी तरह की अन्य बातों में गरमियों का सारा समय बिताना, मोटे तौर पर छुट्टियाँ बिताने का यही एक जाना-माना तरीका आज सारे देश में चल पड़ा है। और अब, किसी की ताकत नहीं है कि वह इसमें किसी तरह का फेर-फार करने अथवा कराने की बात भी सोचे या करे। जिन्हें छोटी उमर में ही छोटे-मोटे व्यसनों ने घेर लिया है, वे छुट्टियों में व्यसनाधीन जीवन बिताते हैं और बाकी के सब जैसे-तैसे अपनी छुट्टियों के लम्बे-लम्बे दिन बिताने में लगे रहते हैं। दोपहर का अधिकतर समय सोने में अथवा घर के अन्दर बैठकर ताश, चौपड़, शतरंज, कैरम आदि समाज में प्रतिष्ठा पाये हुए दिलबहलाव के निठल्ले और बैठे खेलों में बीत जाता है। बचा खुचा आकाशवाणी के विविध मनोरंजक कार्यक्रमों को सुनने में खर्च हो जाता है। रात का बहुत-सा समय सिनेमाघरों के आस पास चक्कर काटने में और तरह-तरह की फिल्में देखने में निकल जाता है। क्या विद्यार्थी और क्या अध्यापक, छुट्टियों में लगभग सभी का जीवन क्रम कुछ इसी तरह के कार्यचक्र से घिरा रहता है। यों देखते देखते छुट्टियाँ समाप्त हो जाती हैं।

यों लोकशक्ति का एक प्रचण्ड स्रोत हफ्तों और महीनों तक निरंकुश और निरुद्देश्य रूप से बरबाद होता रहता है। सभी इस बरबादी को देखते, समझते और अनुभव भी करते हैं, लेकिन इसे रोकने के मामले में अथवा इसको किसी सही दिशा में मोड़ने के बारे में किसी का कोई वश नहीं चलता नहीं दीखता। सब निरुपाय भाव से समय, शक्ति, साधन, बुद्धि और भावना की इस भयंकर और अक्षम्य बरबादी के लाचार और निस्सहाय दर्शक बनकर बैठे रहते हैं। इस विषय में तत्काल पूरी

तीव्रता और तत्परता से कुछ करने योग्य है इसकी अनुभूति और प्रतीति आम तौर पर आज इस देश में कहीं किसी को होती दीखती नहीं। हमारा शिक्षा-जगत तो इस मामले में विशेष रूप से सज्ञा शून्य और चेतना शून्य बना दीखता है। परिवारों में माता पिता इस दिशा में कुछ सोचने-समझने और करने-कराने की रुचि-दृष्टि रखते हो या ऐसा अनुभव भी करते हों, ऐसा क्वचित ही हो पाता है। कुछ अपवाद स्वरूप घरो या संस्थाओ म इस ओर ध्यान दिया भी जाता है तो उसका प्रभाव उन तक ही सीमित रहता है।

शिक्षा विभाग को छुट्टियाँ घोषित करने का अपना धर्म मालूम है, लेकिन घोषित छुट्टियों के व्यवस्थित उपयोग की कोई दृष्टि आज उसके पास नहीं है। छुट्टियाँ देनी पड़ती हैं, इसलिए दे दी जाती हैं, लेकिन छुट्टियों मे देश की प्रचण्ड जनशक्ति का, जो असीम अपव्यय होता है, उसको रोकने की दिशा में कुछ सोचने और करने की अपनी शक्ति वह खो बैठा है। समाज ने भी इस विषय में पूरी-पूरी उदासीनता से काम लिया।

लोक-अभिक्रम जगाने की घडी

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि क्या व्यापक और विकट अकाल के इस सकटमय वर्ष में भी हमारी नयी पीढ़ी गरमी की अपनी छुट्टियाँ परम्परागत रूप से निरुद्देश्य और निरकुश होकर ही बिताये ? या उसके साथ राष्ट्रजीवन का कोई महान उद्देश्य और अकुश जुडे। आज देश के अनेक प्रदेशो में अन्न-पानी, घास-चारे और काम धन्धे की भारी कमी खड़ी हो गयी है और वह सबको सब प्रकार से आतकित और उद्वेलित कर रही है। इस वर्ष की इस असाधारण परिस्थिति के साथ ही हमारे लोक-जीवन के दूसर अनेकानेक अभाव भी जुड़ हुए हैं, और वे भी अपनी-अपनी जगह बडी तेजी के साथ लोक-शक्ति को क्षीण करने मे लगे हैं। केन्द्र की और प्रान्तो की हमारी सरकारें अपने-अपने ढग से इस विकट परिस्थिति का सामना करने की कोशिश में लगी है, लेकिन पिछले १८-२० वर्षों के अपने इस स्वतत्र भारत के लोक-जीवन का, जो अनुभव हमारी गाँठ में है, वह तो पुकार-पुकारकर हममें से हर एक से यही कह रहा है कि सरकारों के भरोसे बैठे रहने से इस देश के करोडो-करोड अभाव ग्रस्त नागरिको का जीवन बनने-सुधरनेवाला नहीं है। यह काम नागरिक की अपनी सगठित शक्ति से ही सम्पन्न हो सकेगा।

आज जमाना माँग कर रहा है कि नयी और पुरानी पीढ़ी के सब लोग खुद कमर कसकर उठें और घर, परिवार, गाँव, समाज तथा नगर के जीवन में जहाँ जहाँ अभावों की भीड खडी नजर आये वहाँ-वहाँ उससे जूझने मे अपनी बुद्धि, शक्ति लगाने में जुट जायें और अपने सम्मिलित पुरुषार्थ से लोक-जीवन के नानाविध, अभावों को विपुलता में बदल देने का चमत्कार सिद्ध करके दिखायें।

हमारे देश की शिक्षा-सस्थाओं के कर्ता धर्ता, चाहें तो नयी पीढ़ी को अपने साथ लेकर वे गरमी की छुट्टियों में गाँवों और नगरों के लोक-जीवन को नाना प्रकार से समृद्ध बनाने का काम योजनाबद्ध रीति से अपने हाथ में ले सकते हैं। मध्य प्रदेश में आज कोई ८३ प्रतिशत लोग निरक्षर हैं। हमारा शिक्षित समाज जागे और गाँवों में काम करने के लिए कमर कसे, तो गरमी की छुट्टियों के दो-ढाई महीनों मे प्रान्त को निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करने में बडी सफलता के साथ वह अपने समय तथा अपनी शक्ति को लगा सकता है। दुनिया के दूसरे कई देशों में वहाँ की सरकारों ने और वहाँ के समाज ने अपने लोक-जीवन को समृद्ध करने के लिए ऐसे पुरुषार्थ चमत्कारिक ढग से सिद्ध करके दिखाये हैं।

क्यूबा की मिसाल

७५ लाख की जनसख्यावाले क्यूबा जैसे छोटे-से देश ने इसी तरह का एक सामूहिक पराक्रम करके अभी-अभी अपने देश को निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करने का महान अभिक्रम सिद्ध किया है। अपने राष्ट्र-नेता और प्रधान मत्री श्री फिडेल कास्ट्रो की पुकार पर क्यूबा की जनता ने एक साल के लिए स्कूलों और कालेजो की अपनी पढाई बिलकुल बन्द रखी और शिक्षक तथा विद्यार्थी, सभी गाँववालों को साक्षर बनाने के लिए निकल पडे। गाँवो में स्कूल नहीं थ। किसानों के घरों में

रोशनी के लिए दीया तक नहीं था। इसलिए सरकार ने सबको एक-एक लालटेन दी। किसानों के घरों में ही लोग रहते थे। दिन में किसानों के साथ खेत में काम करते थे और रात में उन्हें पढ़ाते थे। इसलिए उनके खाने-पीने का बोझ किसानों पर नहीं पड़ा। नतीजा क्या हुआ? एक साल के अन्दर देशभर के किसान साक्षर बन गये। उस साल को श्री फिडल ने नाम दे दिया 'साक्षरता का साल'। इसी तरह हर साल एक-एक खास काम होता रहा। 'खेती का साल', 'उद्योग का साल,' आदि-आदि। सन् १९६६ को क्यूबा के लोगों ने नाम दिया है 'घनिष्ठता का साल'। क्यूबा की एक बहन कहती है कि साक्षरता-आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप एक साल के अन्दर क्यूबा की निरक्षरता २९ प्रतिशत से घटकर ३ प्रतिशत ही रह गयी है।

जब ७५ लाख की आबादीवाला छोटा-सा क्यूबा एक साल के सामूहिक पराक्रम से अपने देश की निरक्षरता को समाप्त करने में इस हद तक सफल हो सकता है, तो क्या भारत-जैसा प्राचीन और समर्थ देश ४८ करोड़ की अपनी आबादी को निरक्षरता के भयंकर अभिशाप से मुक्त करने का पुरुषार्थ और पराक्रम नहीं कर सकता? छुट्टियों में हमारे शिक्षक और छात्र गली-गली, महल्ले-महल्ले फैलकर बच्चों, बड़ों, स्त्रियों, पुरुषों, सबको साक्षर बनाने के अभियान में जुट जायँ तो देखते-देखते निरक्षरता निवारण का काम सारे देश में एक चमत्कार खड़ा कर सकता है। क्या ही अच्छा हो, यदि अभी से इस दिशा में शिक्षा-जगत के समर्थ लोग सोचने और योजना बनाने में लगें और गरमी की छुट्टियों के आते ही योजना के अनुसार जगह-जगह सुव्यवस्थित रीति से काम शुरू करवा सकें।

दूसरा बड़ा मोर्चा—सफाई

दूसरा बड़ा मोर्चा है गाँवों और नगरों में फैली हुई नाना प्रकार की गन्दगी को साफ करने और मिटाने का। आज तो हमारा सारा देश गन्दगी की एक जीती-जागती और चलती फिरती प्रदर्शनी-सा बन गया है। जहाँ-जहाँ निगाह पड़ती है, वहाँ-वहाँ सब कहीं गन्दगी का ही बोल-बाला है। गलियों, रास्तों, चौराहों नालियों, मोरियों और घरों के आगे-पीछे के मैदानों तथा आँगनों तक में—सब कहीं गन्दगी ही गन्दगी का साम्राज्य छाया हुआ है। जहाँ-जहाँ गन्दगी है, वहाँ-वहाँ बदबू है, बदसूरती है। उसीके साथ तरह-तरह की बीमारियों और बुराइयों का भी सारा परिवार जुड़ा है। अपनी इस बेहिसाब गन्दगी के लिए हम भारतवासी सारी दुनिया में काफी बदनाम हो चुके हैं और हो रहे हैं। फिर भी हम हैं कि हमारा मन गन्दगी से और गन्दी आदतों से उकताता, शरमाता नहीं और हम सब क्या गाँवों में, और क्या शहरों में सब कहीं गन्दगी के बीच ही रहने और जीने के आदी बन गये हैं। यह गन्दगी हम को हर तरह से बरबाद कर रही है। इसके कारण अपने इस देश में हमारे तन मन-धन और धर्म-कर्म की, जो बेहद बरबादी होती रहती है, उसका विचार मात्र हमारे मन, प्राण को कँपा देनेवाला है। यदि शिक्षा-जगत के हमारे साथी गरमी की छुट्टियों में गाँवों और नगरों की गन्दगी को साफ करने का और गाँववालों तथा नगरवालों में साफ सुथरे जीवन को अपनाने के विचार एवं आचार को जगाने का कार्य उठा लें और उसे योजना-बद्ध रीति से जगह-जगह हफ्तों तथा महीनों तक चलाने का एक कार्यक्रम खड़ा कर लें, तो व्यापक लोक-शिक्षण के साथ ही उनका अपना नवशिक्षण भी बहुत कुछ हो जाय और देश के लोक-जीवन में से गन्दगी का यह भीषण अभिशाप समाप्त होने की दिशा पकड़े। इस काम में गाँवों की पंचायतें और नगरों की नगर-पालिकाएँ अगुवा बनकर खासा सहयोग कर सकती हैं। स्वायत्त शासन और शिक्षा-विभाग के मिले-जुले सहयोग से इस काम का एक बढ़िया खाका तैयार हो सकता है, और यदि उसके अनुसार व्यवस्थित काम चले, तो उसके बहुत सुन्दर, सुखद और आश्चर्यकारी परिणाम निकल सकते हैं।

यदि इस दशा में इस तरह सोचने की हमारी रुचि और वृत्ति बढ़े तो गरमी की छुट्टियों में मुक्त होनेवाली छात्रों और शिक्षकों की संयुक्त शक्ति से हम अपने देश और प्रदेश में लोक जीवन की समुन्नति के अनेकानेक स्रोतों को मुक्त कर सकते हैं और बड़े पैमाने पर एक जागृत लोक-शक्ति खड़ी करने में समर्थ हो सकते हैं।●

शिक्षा और परीक्षा

●

मोतीसिंह

शिक्षा के अनेक उद्देश्य बताये गये है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास माना है। कुछ इसे ज्ञानार्जन का साधन मानते है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्री इसे लोकतत्र की बुनियाद की एक अपरिहार्य प्रणाली बताते है। इन आदर्शों की दुनिया से हटकर वास्तविकता पर सोचने-वाले हर्बर्ट स्पेंसर जैसे विचारक ने शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपार्जन बताया है, किन्तु आज के विद्यार्थी और अधिकाश अभिभावक यहाँतक कि अध्यापक और शिक्षा-सेवी भी 'परीक्षा में सफल होना' ही शिक्षा का उद्देश्य समझते है।

आज शिक्षा का स्वरूप और उद्देश्य अपने सभी आदर्शों से स्खलित होकर केवल उसके अर्थकरी स्वरूप में समाहित हो गया है। हम उसे आम जनता की भाषा में कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य 'नौकरी पाना' है। यह नौकरी तभी सम्भव है, जब विद्यार्थी के पास परीक्षा पास होने की सनद है। इस प्रकार सारी शिक्षा का आधार परीक्षा पास करना सिद्ध होता प्रतीत होता है।

शिक्षा का लक्ष्य मात्र-परीक्षा नही

शिक्षा प्रणाली को परीक्षा प्रधान बना देने के कारण न केवल हमारे विद्यार्जन एव ज्ञानार्जन की सारी प्रक्रिया विकृत हो गयी है, वरन् हमारी सामाजिक और नैतिक मान्यताएँ भी बहुत नीचे गिर गयी है। अगर हम सारी शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य परीक्षा मे सफल होना मान लेते है या येनकेन प्रकारेण एक सनद लेने मे ही सारी शिक्षा की सफलता निहित समझते है तो आज के स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय केवल सनद बनाने की फैक्टरियाँ मात्र कहे जा सकते हैं। शिक्षा-सम्बन्धी जितने भी अन्य आदर्श है वे केवल अनावश्यक और कोरे हवाई सिद्ध होते है। इसमें सन्देह नही कि समाज और देश के सच्चे शुभचिन्तक शिक्षा की इस प्रगति पर अवश्य चिन्तित होगे। शिक्षा का उद्देश्य चाहे जो कुछ भी हो, लेकिन मात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होना तो अवश्य ही नही है। परीक्षा तो सारी शिक्षा प्रणाली की प्रक्रिया का एक अग मात्र है, उसका उद्देश्य या उसकी परिणति नही।

आज की हमारी शिक्षा प्रणाली को परीक्षा-प्रधान बनाने की सारी जिम्मेदारी हमारे भूतपूर्व अंग्रेज शासको की है, जिन्होंने हमारे देश में शिक्षा का सूत्रपात ही महज इसलिए किया कि थोडे से सामान्य किताबी ज्ञान रखने-वाले बुद्धि और मस्तिष्क से सर्वथा जडवत् कर्मचारी मिल सकें, जिनमे दफ्तरो का काम कराया जा सके। यह शिक्षा वास्तविक जीवन से सर्वथा दूर थी और उसका उद्देश्य नियोजित ढग से समाज और व्यक्ति के निर्माण मे एक प्रकार से अवरोध उपस्थित करना था। इसीलिए इस प्रणाली मे परीक्षा को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया।

प्राचीन प्रणाली

हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली में इस तरह की केवल एक मशीनी परीक्षा प्रणाली का कोई स्थान नही था। गुरुकुलो अथवा आश्रमो मे, जहाँ विद्यार्थी गुरु के निकट सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त करता था, गुरु विद्यार्थी को न केवल अनेक प्रकार का ज्ञान देता था, वरन् उसके चरित्र आचरण और विचारो के सस्कार पर भी वह दृष्टि

रखना था। सभी प्रकार से जब आचार्य को इस बात का विश्वास हो जाता था कि विद्यार्थी ज्ञान में निष्णात हो गया तो वह उसे अपने आश्रम से विदा करता था। न वह उसे कोई सनद देता था और न इस तरह की कोई परीक्षा ही लेता था, जो आज की शिक्षा पद्धति में प्रचलित है।

यह अवश्य है कि गुरु अपने शिष्य के चरित्र और आचरण को अनेक प्रकार से ताल्ता रहता था और जब उसे यह विश्वास हो जाता था कि शिष्य में ऐसी पात्रता आ गयी है, जिससे वह उच्चतम ज्ञान दे सकता है तब वह उसे वह ज्ञान प्रदान करता था। ऐसी अनेक कहानियाँ पुराणों और प्राचीन ग्रन्थों में आती हैं जिनमें गुरु शिष्य की अनेक प्रकार से आचरण और विद्या-बुद्धि की परीक्षा लेने के बाद अपने को सन्तुष्ट करता था। आयुर्वेद के अपने समय के बहुत बड़े ज्ञाता जीवक बुद्ध के समकालीन थे और तक्षशिला के विद्यार्थी थे। कहा जाता है कि उनके आचार्य ने उनके आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान और शिक्षा पर उस समय सन्तोष किया जब उनकी आज्ञा से जीवक ने तक्षशिला के सात कोस की परिधि में पायी जानेवाली सभी वनस्पतियों का ज्ञान और उनका सब सम्बन्धित गुण पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया।

परीक्षा की प्रमुखता समाप्त हो

मेरा तो अपना यह दृष्टिकोण है कि आज हमारी शिक्षा-सम्बन्धी अधिकांश कमियों का कारण शिक्षा का परीक्षा-प्रधान होना है। ज्ञान के स्तर में जो गिरावट आयी है, विद्यार्थियों में अनुशासन का घोर अभाव होता जा रहा है अध्ययन और विद्यार्जन में अनुराग की उत्तरोत्तर कमी होती जा रही है, जीवन के प्रति आस्था और मूल्य समाप्त प्राय होते जा रहे हैं इन सबको यदि रोकना है तो हमें आज की शिक्षा प्रणाली में प्रचलित कृत्रिम परीक्षा की इस प्रमुखता को समाप्त करना होगा। परीक्षा पर बल देने के कारण अध्यापक विद्यार्थी को सम्यक् ज्ञान न तो देना है और न उसे ऐसा करने की आवश्यकता ही महसूस होती है। छात्र के समुचित विकास, उसके साथ मानवीय और रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा को वह सर्वथा अनावश्यक समझता है, क्योंकि उसकी योग्यता और सफलता उत्तीर्ण प्रतिशत से नापी जाती है। विद्यार्थियों में जो अध्ययन और विद्यार्जन के प्रति घोर उदासीनता देखने को मिलती है उसका प्रधान कारण यही है कि वह ज्ञानार्जन को अनावश्यक समझने लगा है और वह आवश्यक समझता है केवल सनद हासिल करना। इसीलिए न तो उसे विद्यालय से प्रेम है, न पुस्तक से, न समाज से और न अध्यापक से।

शिक्षा के स्तर की गिरावट की चर्चा रोज सुनने को मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि स्तर घटा है और बराबर घटता जायगा। यद्यपि इसके लिए बहुत-सी परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं, लेकिन हमारी परीक्षा प्रणाली भी इस गिरावट के लिए कम जिम्मेदार नहीं है। जो विद्यार्थी सम्यक ज्ञान को अर्जित करना शिक्षा का उद्देश्य समझता है, सम्भव है वह इस परीक्षा प्रणाली से उतना सफल न माना जाय जितना वह सहज ही योग्य है। आज परीक्षा में सफल होना और अच्छी श्रेणी में सफल होना एक प्रकार की कला समझा जाता है। मैं उन बातों का उल्लेख नहीं करना चाहता जिनमें अनेक अवैध और अनुचित तरीका का उपयोग किये कराये जाते या होते हैं। मैं केवल इस बात की ओर संकेत करना चाहूँगा कि केवल परीक्षा की सफलता के लिए केवल कुछ चुनी हुई बातों को ही पढ़कर और उसे प्रस्तुत कर परीक्षा में उच्चतम सफलता प्राप्त की जा सकती है।

ज्ञान की गिरावट का इलाज

आजकल जिसे हम 'सेलेक्टिव स्टडी' या चयनात्मक अध्ययन कहते हैं, परीक्षा की सफलता के लिए बहुत प्रचलित हो गया है। हो सकता है कि इस प्रणाली से परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी भी बहुत ही सामान्य तथ्यों से अपरिचित पाया जाय, क्योंकि परीक्षा के लिए उनकी कोई जरूरत नहीं होती। आज विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भारी भरकम पाठ्य ग्रन्थों को पढ़ना तो छोड़ दीजिये शायद विद्यार्थी उनका दर्शन भी नहीं करते हैं। अब तो केवल नोट और कुंजियों की भरमार है। थोड़े श्रम से ही सफलता जहाँ मिल जाती है वहाँ अधिक श्रम करना निरर्थक और मूर्खता समझा जाता है। हमारे देश में खासतौर से अब किसी

भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए श्रम और अध्यवसाय के स्थान पर तिरछा या छोटा रास्ता (शार्ट कट) अपनाना ही बुद्धिमानी और श्रेयस्कर समझते हैं। परीक्षा की सफलता के लिए भी इस फार्मूले को सामान्यतौर पर अपनाया जा रहा है। इसलिए विद्यार्थियों के ज्ञान का स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है और यह गिरावट तबतक रोकी नहीं जा सकती जबतक आधुनिक परीक्षा प्रणाली समाप्त न कर दी जाय।

अनुशासन की समस्या

विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता की समस्या से सभी परिचित हैं। यह समस्या भी मोटे तौर पर आज की हमारी सामाजिक परिस्थिति से जुड़ी हुई है। समाज की जो स्थिति है उससे जन साधारण में व्यापकरूप से उत्पन्न शून्यता, आशाहीनता, कटुता और निरीहता के कारण विद्यार्थियों में भी एक व्यापक बेचैनी आ गयी है जिसका प्रदर्शन हमें अनुशासनहीनता की कार्रवाइयों में मिलता है, किन्तु अनुशासन का सम्बन्ध कक्षा के जीवन, शिक्षा की प्रणाली, जिसमें मुख्यत परीक्षा है, से भी है। विद्यार्थी अपनी कक्षा में एक अपरिचित की भाँति आता है। अध्यापक के भाषण या पाठन को सुनता है या नहीं भी सुनता है और घण्टा खत्म हो जाने के बाद बाहर चला जाता है। अध्यापक के साथ किसी भी प्रकार का बौद्धिक या वैयक्तिक सामीप्य उसका नहीं हो पाता। उसके विद्याध्ययन का अंतिम परिणाम एक ऐसे ढंग से होता है जिसमें अध्यापक के मतामत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अत विद्यार्थी को इस बात की आवश्यकता का अनुभव नहीं हो पाता कि ज्ञान के आदान प्रदान में और विद्यार्थी जीवन की सफलता में उसे अपने अध्यापक का निर्देशन आवश्यक है।

परीक्षा की जगह मूल्यांकन-प्रणाली

इस कारण इस अध्ययन प्रणाली में अध्यापक का स्थान और उसका महत्व भी बहुत ही कम हो गया है। विशेष रूप से स्वतन्त्रता के बाद जब शिक्षा का स्वरूप सार्वजन सुलभ (मास एजुकेशन) हो गया है और कक्षाओं में विद्यार्थियों की बहुत बड़ी भीड़ बैठने लगी है तब से विद्यार्थी और अध्यापक की दूरी और भी बढ़ गयी है। अध्यापक का विद्यार्थियों के ऊपर जो नैतिक या बौद्धिक प्रभाव होना चाहिए वह बहुत ही क्षीण हो गया है। इस कारण शिक्षण-संस्थाओं में अनुशासनहीनता की बढ़ती प्रवृत्ति को अध्यापकों द्वारा रोकने या उसे नियंत्रित करने की शक्ति खत्म हो गयी है। विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता को रोकने के लिए अब पुलिस, कानून और डण्डे की सहायता आवश्यक समझी जाती है, जो रोग का उपचार करने के स्थान पर उसे और भी बढ़ावा देती है। हमें अपनी शिक्षा प्रणाली में इस प्रकार की परीक्षा को, जिसके संगठन और संचालन में विद्यार्थी को नित्यप्रति पढ़ानेवाले अध्यापक का हाथ नहीं है समाप्त करना होगा। साथ ही साथ केवल पूरे पाठ्यक्रम में दो साल अथवा चार साल के बाद केवल एक परीक्षा की प्रणाली को भी समाप्त करना होगा। इसके स्थान पर इस तरह के मूल्यांकन को अपनाना होगा, जिसमें विद्यार्थियों के नित्यप्रति के कार्य और आचरण और समग्र जीवन का मूल्यांकन किया जाय जिससे केवल कुछ थोड़ी-सी किताबी जानकारी की परीक्षा न हो। सारे कार्यकलापों को दृष्टि में रखते हुए, जो मूल्यांकन होगा वह अधिक यथार्थ और सही होगा। उससे विद्यार्थी को इस बात का एहसास करना होगा कि उसका हर कार्यकलाप अध्यापक के सामने रोज तौला जा रहा है। उसकी अन्तिम सफलता या असफलता उसकी इस समग्र सफलता पर आधारित होती है जिसकी तौल उसका अध्यापक करेगा। इससे शिक्षा की गिरावट घटेगी और अनुशासन का विकास विद्यार्थियों में स्वयमेव होगा। धीरे धीरे यह अनुशासन आरोपित न होकर स्वयमेव विकसित होगा।

आज की यह शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी की केवल स्मृति और उसकी लेखनशैली या प्रस्तुतीकरण की परीक्षा करती है। जो विद्यार्थी अपने पढ़े हुए पाठ या पुस्तक से जितना ही अधिक कण्ठस्थ कर ले और उस ढंग से अपनी उत्तर-पुस्तिका में उगल दे, वह परीक्षा के दृष्टिकोण से सफल विद्यार्थी है। विद्यार्थी की कल्पनाशक्ति, विचार और विवेचन शक्ति, उसकी मौलिकता

इत्यादि की समुचित परीक्षा इस परीक्षा प्रणाली से सर्वथा असम्भव है। रूस की परीक्षा प्रणाली में विद्यार्थियों को परीक्षा भवन में अपने साथ पाठ्य पुस्तकों और सहायक पुस्तकों को रखने की अनुमति दी जाती है। वहां पर ऐसा समझा जाता है कि केवल तथ्यों की जानकारी या याद मात्र ही विद्यार्थी के लिए आवश्यक नहीं है उसे सहायक ग्रन्थों और सन्दर्भ ग्रन्थों के उचित प्रकार के तथ्यों का आकलन करना उनको अपने उत्तर में ठीक प्रकार से उपस्थित करने की क्षमता नये ढंग के विचारों को प्रस्तुत करने के प्रयास आदि भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

सुधार सम्बन्धी कुछ सुझाव

अपने देश में विद्यार्थियों का दिशा निर्देश करने के बाद वे जिस प्रकार से शैक्षिक ज्ञान को जानना चाहें उसे तैयार करने में पाठ्य पुस्तकों को देखने की छूट दी जानी चाहिए ताकि आज की पढ़ाई में जो केवल 'इम्पार्टेन्ट' रटने की प्रवृत्ति है और उसकी मात्र परीक्षा की जाती है वह समाप्त हो जाय। यह दूसरा प्रश्न है कि एक ओर हम विद्यार्थी की मानसिक थकान को दूर करने के लिए रटने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं और उसके लिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की दुहाई देते हैं तो दूसरी ओर हमारे विद्यार्थियों की स्मरणशक्ति दिन दिन क्षीण होती जा रही है। हमको यह भूलना नहीं है कि प्राचीन काल में सारी विद्या का निवास अध्यापक और विद्यार्थी की स्मृति में रहता था। उनकी स्मरण शक्ति इतनी पुष्ट और समर्थ थी कि ज्ञान पुस्तकबद्ध न होकर कई पीढ़ियों तक स्मृति में ही जीवित रहा और इसलिए उस काल के ग्रन्थों का नाम स्मृति और श्रुति पड़ा। आज दुर्भाग्यवश वह स्मरणशक्तिवाली हमारी धरोहर भी नष्ट होती जा रही है। इसके लिए हम दूसरे प्रकार से प्रयास करना पड़ेगा किन्तु परीक्षा प्रणाली से तो रटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। वह विद्यार्थियों के ज्ञान चरित्र और मानसिक विकास में बहुत हानिकारक सिद्ध हुई है।

यह परीक्षा प्रणाली इस बात के लिए भी उत्तरदायी है कि इसके कारण देश की श्रम शक्ति और समय का इस जाय में बहुत दुरुपयोग होता है कि विद्यार्थियों का बहुत बड़ा समुदाय उनकी आधी या अधिक संख्या इन सब सही गलत तरीकों के प्रयोग के बावजूद असफल रहती है। इस असफलता की विभीषिका हर विद्यार्थी के सामने इस रूप में उपस्थित रहती है कि वह कभी सन्तुलित और सामान्य ढंग से अपना विद्यार्थी जीवन नहीं बिता सकता। हमारे अध्यापकों और हमारी सारी शिक्षा प्रणाली के लिए यह एक कलंक की बात है कि हम इतने धन और शक्ति के उपयोग करने पर भी पचास प्रतिशत से भी कम ही विद्यार्थियों को ज्ञान के उस स्तर तक पहुंचा पाते हैं जिसे हम प्राप्त करना आवश्यक मानते हैं। परिणामस्वरूप अनेक विद्यार्थी असफल होने के बाद आत्महत्या करते हैं या जीवन से उदास होकर समाज विरोधी तत्वों में जा मिलते हैं या जिनके लिए सारा जीवन शून्यता से भरा असफलता और दुराशा के अन्धकार से पूर्ण हो जाता है। जब विद्यार्थी में सामान्य बुद्धि हो वह अपना कार्य निर्धारित नियम से कर रहा हो तो कोई कारण नहीं है कि वह विद्याजन के कार्य में अपेक्षित ज्ञान प्राप्त न कर सके। इतनी बड़ी संख्या में होनेवाली असफलता में हमारी शिक्षा परीक्षा की असफलता निहित है।

निष्कर्ष

मेरा यह स्पष्ट मत है कि इस परीक्षा प्रणाली का तत्काल खात्मा हो जाना चाहिए। इसके स्थान पर एक ऐसी परीक्षा प्रणाली प्रतिष्ठित करनी होगी जिसमें विद्यार्थी अध्यापक के सारे कार्यकाल या पूरे वर्ष की शैक्षिक सामाजिक संगठनात्मक और नैतिक सम्बन्धी सभी गुणों और शक्तियों को देखें और परखें। उसकी परख और उसके मूल्यांकन को विद्यार्थी की सफलता या असफलता में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाय। विद्यार्थी की सफलता केवल कुंजी नोट्स के रटने तक सीमित न होकर उसके समग्र आचरण और व्यवहार से सम्बन्धित हो। उसी स्थिति में हम आज के युग और परिस्थिति के अनुकूल समाज-सेवी स्वावलम्बी और सर्वतोमुखी विकसित नयी पीढ़ी का निर्माण कर सकेंगे।●

मानवीय समस्या का निदान बुनियादी तालीम

•

बनारसीप्रसाद शर्मा

मनुष्य का जीवन समस्याओं का केन्द्र-स्थल है। अगर जीवन में समस्याएं पैदा नहीं हों, तो वह निर्जीव-जैसा प्रतीत होगा और उसके बिना पुरुषार्थ प्रकट करने एवं सत्य के साक्षात्कार का सुअवसर प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। समस्याएँ प्रकृति, काल और मानव की स्वार्थ, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों में से उत्पन्न होती हैं और वे व्यक्ति, समाज, और राष्ट्र के लिए संकट का सन्देशवाहक बनकर आती हैं। हम इसके निदान के लिए अपनी शक्ति और साधनों का उपयोग करते हुए व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर हल ढूंढने का प्रयत्न करते हैं। समस्याएँ हमारे उत्थान और पतन का कारण बनकर अपना रूप प्रकट करती हैं। वे हमारे सुख और दुःख का कारण बनती हैं। ऐसी अनेकानेक समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हैं और उनके सही निदान के लिए व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर प्रयत्न जारी है, पर समस्याएँ बहुरूपिया बनकर अपना नाना रूप दिखा रही हैं। मैं इस लेख के द्वारा पाठकों का ध्यान जिस समस्या की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ, वह है मानवता की समस्या। यही एक ऐसी समस्या है, जिसके हल होने पर हमारी दूसरी समस्याओं को हल करने की कुंजी मिल जाती है।

हम सब दोषी हैं

मानवता की समस्या का सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत विचार, आचार और व्यवहार से सम्बन्धित है। उसके (मानव) हृदय की तन्त्री सत्य के प्रकाश से झंकृत हो उठती है, पर उसकी स्वार्थ लिप्सा, शासन और शोषण की प्रवृत्ति एवं उसका आवरण उसकी आँखों पर पर्दा डाल देता है।

प्रकृति और काल के द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का असर मानव पर ही नहीं, प्राणि मात्र पर पड़ता है। उसके हल के लिए हम सभी मनुष्य एक श्रेणी में आ जाते हैं, पर शासन और शोषण का जो नग्न रूप आज व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में परिव्याप्त है, उसके लिए प्रायः हम सभी दोषी करार दिये जायेंगे।

आज हर व्यक्ति के मन, विचार और आचरण में एक बात जड़ कर गयी है कि हम सुख से रहें, चाहे जैसे भी हो। सुखी रहना तथा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना बुरी चीज नहीं; पर बुराई तो तब मानी जायगी, जब हम अपने स्वार्थ और सुख के लिए दूसरों के हितों और उनकी सुख-सुविधाओं पर कुठाराघात करते हैं। यही विचार और आचार मानव को शासक और शोषित ऐसे दो दलों में विभाजित करने का कारण बन जाता है।

सच्चे सुख का अनुभव

हर मनुष्य चाहता है कि हम सुख से रहें, पर सुख व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को उपलब्ध कैसे होगा? हमें सुख चाहिए, पर दूसरों को तकलीफ देकर या दूसरों के दुखों से फायदा उठाकर नहीं, वरन् उनके (दूसरों के) सुख के लिए सहायक बनकर जब हम अपने सुखों की खोज करेंगे, तभी हमें हृदय के अन्दर से सच्चा आनन्द और सुख का अनुभव होगा, क्योंकि भौतिक सुख कभी सच्चाई और स्थायी सुख का स्थान नहीं ले सकता। सच्चा सुख तो आध्यात्मिक सुख ही हो सकता है, और वह अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में देखने से सही रूप में प्राप्त हो सकता है। यही विचार हमें दुःख से शाश्वत सुख की ओर

अभिमुख करता है। हम जिसे दुःख कहते हैं वह आध्यात्मिक प्रकाश से सुख में परिणत हो जाता है और आत्मानन्द बन जाता है। जब हम गहराई से विचार करते हैं तो सच्चे सुख, शान्ति और भाईचारे का मार्ग जीवन में श्रम को प्रतिष्ठित करने से ही प्राप्त होने की आशा-किरण दिखाई पड़ती है। वही शासन और शोषण की दीवाल को तोड़ने में हमें कामयाबी हासिल करायेगी।

स्वतन्त्रता का अर्थ

पराधीनता की बेडी तोडकर स्वतन्त्रता की छाया में हम अठारह साल व्यतीत कर चुके। इसके (स्वतन्त्रता) द्वारा हमने समता, स्वतन्त्रता, सुख शान्ति और बन्धुत्व की भावना को मूर्तरूप में देखने का स्वप्न देखा था, और हमने अपनी स्वतन्त्रता के द्वारा मानव मात्र की स्वतन्त्रता के मार्ग को प्रकाशित करने का सकल्प लिया था, क्योंकि स्वतन्त्रता हर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में नवजीवन तथा नवचेतना का सचार करती है, इसीलिए तो स्वराज्य के लिए हँसते हँसते प्राण देने में हम गौरव, और शान का अनुभव करते हैं, पर स्वराज्य के सही अर्थ को चरितार्थ करने की ओर जिस गति से आगे बढना चाहिए था, वह अभी तक नही हो पाया है।

स्वराज्य का अर्थ है अपने पर नियत्रण, पर साधारण तौर पर उसका अर्थ है कम-से-कम अपनी आवश्यकताओ के लिए स्वय पूर्ण होना। स्वतन्त्रता हमें कर्तव्य भावना की ओर मोडती है, अधिकार की ओर नहीं, क्योंकि कर्तव्य में अधिकार समाया हुआ है। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वैराचार नही, वरन दूसरो के हित में अपना हित ढूँढना है।

विश्व परिवार कैसे बने ?

सभ्यता और सस्कृति मानवता की परख के दर्पण हैं। पत्थर-युग को छोड दें तो अतीत काल में हम सभ्यता और सस्कृति के उच्च शिखर पर आसीन थे। प्रकृति और परिस्थिति भी अनुकूल थी, और आध्यात्मिकता को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त हो गया था। शायद ही कभी मानवता को कलकित करनेवाली घटनाएँ घटती थीं। आज तो हम अपने को वैज्ञानिक युग म पा रहे हैं। वैज्ञानिक साधनो न दुनिया को एक दूसरे के सम्पर्क में ला दिया है, लेकिन हम विश्व-परिवार का आदर्श उपस्थित करने में सफल नही हो सके हैं। हाँ, परिस्थिति हमें उस ओर खीचती जा रही है। वह मजिल तक ले जायगी, ऐसी आशा प्रकट होने लगी है। विश्व-परिवार की ओर बढने एव सुदृढ करने के लिए आध्यात्म-प्रधान देश भारत को अगुआ बनना होगा। इसके लिए मानवता के मूल्य को ऊँचे स्तर पर रखना होगा, जिसकी कमी नजर आ रही है।

हम कितने ही सम्पत्तिवान, कीर्तिवान हैं, और हमारे पास रत्नों का अम्बार लगा हो, पर हमारे जीवन के लिए भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा तथा स्वास्थ्य की प्रमुख समस्याएँ अगर पूरी नही हो पाती हैं तो हम मानवता का विकास व्यक्ति, समाज और देश में करने से असमर्थ ही रहेंगे। चूँकि किसी प्रकार के विकास के कामो में लिए पुरुषार्थ प्रकट करने की जरूरत होती है। उसके लिए जिस शक्ति की जरूरत है वह शक्ति है—हमारा श्रम, शक्तिवाहक मजदूर और किसान, जो अपने खून और पसीने से हमारे जीवन रूपी पौधे को सींचकर हरा भरा रख रहा है। हमारी सभ्यता, सस्कृति एव मानवता के विकास और जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं को पूरा करनेवाला आधार-स्तम्भ वही मजदूर और किसान है, पर हम उन मजदूरों और किसानो के साथ, जो कर्तव्य करते नजर आते हैं वह मानवता को कलकित करनेवाला है। हमने शासन और शोषण का, जो जाल फैला रखा है उसमें फँसे ये मानवता के सन्देशवाहक देवतुल्य मजदूर और किसान हमारी सेवा में तल्लीन रहने के लिए विवश हैं। हम उनको भर पेट खाना, तन ढकने के लिए वस्त्र, रहने के लिए घर, उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य के मानवी अधिकारों से वचित रखने में ही सुख का अनुभव कर रहे हैं। आज भी वे दलित पशुओं से भी गयी-बीती हालत में अपनी जिन्दगी बिता रहे हैं। क्या यह सभ्य और सुसस्कृत समाज एव जनतत्र राज्य के लिए गौरव की बात है ?

मानवता का कलक कैसे मिटे ?

मानवता मनुष्य मात्र से ही नही, प्राणि मात्र से आत्मीयता और प्रेम पिरोने तथा समरस बनने के लिए प्रेरित करती है और वह अपने और पराये का विभेद

मिटाकर सच्चे अर्थ में मनुष्य को मनुष्य बनाती है? पर आज इस वैज्ञानिक युग में हम आध्यात्मिक भावना की कमी के कारण अपनी भौतिक दृष्टि से स्वार्थ के लिए दूसरे मनुष्यों को साधनहीन बनाने और सब प्रकार अभाव में रखकर उनका शोषण करने का प्रबल प्रयास करते हैं और श्रम से अपने को बचाकर जिन्दगी बसर करने में गौरव और शान का अनुभव करते हैं।

कितना अन्धेर है कि हम अपने लिए जैसा चाहते हैं वैसी ही बेबसी में पड़े मानव—जो गिरे और पिछड़े हुए हैं, उनके लिए नहीं सोचते हैं। हमारी सरकार भी भावरूप से मानवता के इस कलंक को मिटाने में सफल प्रयास करती नजर नहीं आ रही है। व्यक्ति, समाज और देश को शोषण मुक्त करने, उसे उठाने एवं समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व की भावना को विकसित कर हर प्रकार से समृद्ध करने की दिशा में ठोस प्रयत्न करना सरकार का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए, पर आश्चर्य है कि सरकार इन बुराइयों की जड़ नशाखोरी को भी बन्द करने में आगा-पीछा कर रही है, जो मानवता के लिए कलंक रूप है।

ऊपर हमने जिन खामियों और कर्तव्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है उसका साधन और वाहन शिक्षा ही हो सकती है और वह शिक्षा आज की शिक्षा नहीं, बल्कि वह होगी जीवन शिक्षा, जिसे बापू ने राष्ट्रीय बुनियादी तालीम—नयी तालीम की संज्ञा दी थी। पू० विनोबाजी ने उसी विचार को साकार करने के लिए, त्रिविध कार्यक्रम देश के समक्ष रखा है। बुनियादी तालीम के द्वारा ही शिक्षा स्वावलम्बी, सर्व-सुलभ और व्यापक हो सकती है और उससे सच्चे अर्थ में व्यक्ति समाज और राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक नव चेतना पैदा होगी।

यदि हम राष्ट्रीय आवश्यकता और विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास करके व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में नव चेतना का संचार करना चाहते हैं, और चाहते हैं पारिवारिक भावना का विकास, तो सर्वप्रथम हममें मानवता का संस्कार आना चाहिए। वह संस्कार जीवन में श्रम को प्रतिष्ठित करके ही प्राप्त हो सकता है। ●

नये ज़माने की नयी तालीम

नयी परिस्थिति की नयी तालीम

●

प्रवीणचन्द्र

बुनियादी शिक्षा, बुनियादी तालीम और नयी तालीम ये तीन शब्द या नाम आज आम तौर से प्रचलित हैं। लेकिन सरकारी शिक्षा-विभाग 'बुनियादी' शब्द को ज्यादा पसन्द करते हैं और सर्वोदय क्षेत्र के लोग नयी तालीम शब्द।

शायद यह स्पष्ट ही है कि सरकारी विभाग की बुनियादी तालीम अपने सामने समाज परिवर्तन या नव समाज रचना का लक्ष्य एकदम सीधे तौर पर स्वीकार नहीं करती। सर्वोदय-क्षेत्र की नयी तालीम का लक्ष्य ही अहिंसक सामाजिक क्रान्ति या नव समाज रचना माना जाता है। लक्ष्यों का यह अन्तर अब स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। नयी तालीम की कोई सर्वमान्य खिचड़ी बनाना न युद्ध संगत है और न युक्ति संगत। अतएव, अब वह वक्त आ गया है जब हम सरकार की बुनियादी तालीम और सर्वोदय की व्यापक नयी तालीम का अन्तर करके उसे विभिन्न शब्दावली में परिभाषित कर देना चाहिए। इस प्रसंग में मेरी मान्यता यह है कि सरकारी पक्ष इस शिक्षा को 'बुनियादी तालीम' कहें और सर्वोदय क्षेत्र नयी तालीम।

बुनियादी शिक्षा और नयी तालीम

अगर हम उपर्युक्त शब्द मान लेते हैं तो यह एकदम स्पष्ट हो जायेगा कि बुनियादी तालीम शिक्षा का माध्यम प्रमुख रूप से उद्योग को मानेगी, और नयी तालीम सामाजिक परिवेश को। कुछ स्कूल, जहाँ विज्ञान पर ज्यादा जोर दिया जाय, प्रकृति को अपना माध्यम मानकर चल सकते हैं। बेसिक शिक्षा में उद्योग, प्राकृतिक परिवेश और सामाजिक परिवेश को शिक्षा का माध्यम मानते हैं। लेकिन, इसमें एक विचारणीय प्रश्न यह है कि हम इस माध्यम या श्रेणी में से अधिक जोर (इम्फेसिस) किस पर देते हैं। बेसिक एस टी सी स्कूलों में आज सर्वत्र उद्योगों के साथ समवाय को प्रमुखता दी जाती है। शायद आगे भी यही होता रहेगा। कुछ सरकारी स्कूल प्राकृतिक परिवेश को प्रमुखता देकर चल सकते हैं, लेकिन आम तौर पर वे उद्योग को ही प्रमुखता देकर चलेंगे और सामाजिक परिवेश के साथ अनुबंध (कारिलेशन) का विषय वे गौण ही मानते रहेंगे, लेकिन नयी तालीम के हमारे अद्यतन (लेटेस्ट) विचार के दृष्टिकोण से हमें माध्यम के रूप में, सामाजिक परिवेश को प्रमुख महत्व देना होगा।

नयी तालीम का लक्ष्य है समाज के मूल्यों का परिवर्तन और नये समाज का निर्माण शिक्षा के द्वारा, अहिंसक मार्ग से, सौम्यतर प्रक्रिया की शक्ति से—जिसे कुछ लोग अहिंसक क्रान्ति कहना पसन्द करते हैं, और इसलिए सुसंगत दृष्टि से विचार करने पर हम इस शिक्षा का माध्यम सामाजिक परिवेश मान लेंगे। अत तर्क सगत या युक्ति-युक्त बात यह होगी कि हम स्वावलम्बन की अपेक्षा मूल्य परिवर्तन या मानस-परिवर्तन पर ज्यादा जोर दें। अभी तक हमलोग स्वावलम्बन की भूल-भुलैया में फँसे रहे हैं। अब उसमें से निस्संकोच और दृढतापूर्वक बाहर आना चाहिए। हमारा स्पष्ट लक्ष्य समाज का पुनर्निर्माण पहले है, न कि स्वावलम्बन। इसलिए इस कारण और उस उद्देश्य से नयी तालीम में अब स्वावलम्बन पर जरूरत से ज्यादा जोर देना एक भूल ही होगी। हमें अपने ही बनाये व्यूह में नहीं फँस जाना है, बल्कि आगे बढ़ने के लिए शास्त्र का भी विकास करना है। यह विचारणा (थिंकिंग) पलायन न समझी जाय। मेरा यह व्यक्तिगत विश्वास है। इस विषय पर भी यदि विचार किया जाय तो उचित और समीचीन होगा।

नयी तालीम की नयी मंजिल

स्पष्ट है नयी तालीम के स्कूल में सामुदायिक जीवन या 'कम्युनिटी लिविंग प्रोग्राम' का एक महत्वपूर्ण और विशेष स्थान हो जाता है। विद्यालय-जीवन के इस पक्ष को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है और सम्भवत सरकारी मदद दी जाये। क्योंकि किसी भी कम्युनिटी स्कूल सिस्टम में नाश्ता और भोजन की एक समानता अनिवार्य है। यदि नयी तालीम का स्कूल फैमिली स्कूल न भी हो, तो भी उसके छात्रावास के लिए या वर्ष में कम-से कम तीन बार ऐसे साप्ताहिक कार्यक्रमों के लिए बाहरी आर्थिक सहायता शायद जरूरी होगी। यह शिक्षा की ही दृष्टि से जरूरी है कि छात्रों को सामूहिक और सामुदायिक जीवन की प्रणाली और भावना का प्रत्यक्ष अनुभव हो। क्योंकि उन परिस्थितियों में उच्चवर्ग या सम्पन्न वर्ग के छात्रों के लिए आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के छात्रों के साथ रहने और समानता का विचार और भावना स्वीकार और ग्रहण करने के अवसर मिलेंगे। सरकारी सहायता मिल सके या नहीं, एक नयी तालीम के स्कूल में सहजीवन का अवसर और अनुभव प्रत्येक छात्र को होना आवश्यक है। 'जीवन-शिक्षा' भी एक नाम है, जो नयी तालीम को दिया जाता है। जीवन की शिक्षा जीवन की प्रक्रिया में ही प्राप्त होगी। अत प्रत्यक्ष आदर्श जीवन का प्रोजेक्ट नयी तालीम का वह सामाजिक परिवेश या सामुदायिक परिवेश मान लिया जाना चाहिए, जो नयी तालीम का माध्यम है। नयी तालीम के स्कूल को अन्तत एक पारिवारिक स्कूल में ही विकसित होना होगा। उसे आप फैमिली स्कूल कहिये या कम्युनिटी स्कूल। और, विशेष रूप से ग्रामदानी गाँवों में तो कम्युनिटी स्कूल-सिस्टम ही न्याय-सगत या अपरिहार्य होगा। अत नयी तालीम का आगे का विकास कम्युनिटी स्कूल-सिस्टम में होना अवश्यम्भावी मानकर चलना चाहिए।

यह वह नयी परिस्थिति है, जो १५ साल पहले

विद्यमान नहीं थी। अतएव अब नयी तालीम की यह एक नयी मंजिल है। जब नयी तालीम का उद्देश्य नया समाज, नया मनुष्य और नया ढाँचा है, तो नयी तालीम को नित्य नयी तालीम होना चाहिए। इसलिए गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा का जो भी शास्त्र हमें विरासत में दिया है, वह आज आउट आव डेट हो गया। फलतः अब हमें अपटूडेट नयी तालीम की खोज और उसका निर्माण करने के लिए तत्पर होना चाहिए।

नया देश-व्यापी संगठन

उपर्युक्त सभी कारणों से अब सर्व-सेवा-संघ के लिए इस विषय पर सोचने, पुनर्विचार करने का अवसर और समय है। प्रत्येक प्रान्त में कम-से-कम ५ नयी-तालीम के आदर्श स्कूल होने चाहिए—एक उत्तर में, एक दक्षिण में, एक पूर्व में, एक पश्चिम में और एक मध्य में। प्रान्तों के उन सभी नयी तालीम के स्कूलों का एक संगठन या संघ होना चाहिए। जरूरत हो तो सर्व-सेवा-संघ सर्व-सामान्य नीति निर्धारित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता है।

नयी तालीम के ऐसे सभी स्कूलों को परीक्षा या समीक्षा के विषय पर सामान्यतः एकमत होना चाहिए। ऐसे सब स्कूल नव समाज रचना के लक्ष्य को सिद्ध करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेंगे। इसलिए इन स्कूलों के छात्रों को एक सामूहिक सुरक्षा योजना या अपने विकास का सम्पूर्ण अवसर उपलब्ध होना चाहिए।

बेसिक शिक्षा की मूल योजना सरकार के सामने प्रस्तुत करने के लिए तैयार की गयी थी या हुई थी (सन् १९३७ के कांग्रेस के मंत्रिमण्डलों के सामने रखने के लिए ही); परन्तु अब सारे प्रसंग और सन्दर्भ बदल गये हैं।

उपसंहार

बुनियादी तालीम की, जो कल्पना गांधीजी ने की उसके लिए, जो मूल्य स्थापित किये, उसकी जो भी रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत की उसे महज एक ड्राफ्ट रेजोल्युशन ही मानकर चलना उचित है, न कि वेद, कुरान या बाइबिल।

- जिस प्रकार सर्वोदय-विचार का विकास हुआ है। नयी तालीम की अब तक की प्रगति की रूपरेखा बनानी चाहिए—एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उससे हमें आगे के विकास को देख सकने की दृष्टि प्राप्त हो सकेगी।
- नयी तालीम में अभाव सम्भवतः मनोविज्ञान की उपेक्षा ही की गयी है। पर अब इसको प्रयोगों में शामिल करना अब अनिवार्य है, क्योंकि अब मानस-परिवर्तन या नये मानस का निर्माण जब हमारा बुनियादी आधार है, तो हमें उसकी प्रक्रिया, उसका विज्ञान समझना जरूरी है। इस दृष्टि से इस दिशा में प्रयोग किये जाने चाहिए।
- जिस प्रकार ग्रामदान के लिए सरकार ने नया ग्रामदान ऐक्ट बनाया है उसी प्रकार नयी तालीम के स्कूलों के लिए विशेष कानून बनाने का प्राविजन रखने के लिए शिक्षा विभाग को राजी करना चाहिए। यह काम सर्व-सेवा-संघ को करना चाहिए या किसी नये संगठन को। इसी प्रकार नयी तालीम के उत्तर बुनियादी-स्तर के स्कूलों या विद्यालयों या विद्यापीठों की स्थापना—एक प्रान्त में कम-से-कम एक होनी चाहिए। उसके बिना सब योजना अपूर्ण और असफल हो जायगी।
- आज सरकार के सामने या देश के सामने बुनियादी तालीम की जो समस्याएँ हैं—सफलता, प्रगति अथवा विकास की—उस सम्बन्ध में एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। मैं अन्त में फिर यह दोहराना चाहता हूँ कि 'नयी तालीम' और 'बुनियादी तालीम' दो भिन्न भिन्न विषय हैं, दो विभिन्न क्षेत्र हैं; और समस्याओं के सार्थक समाधान या हल तभी प्राप्त हो सकेंगे जब उनपर विभिन्न सन्दर्भ में विचार किया जायगा। इस लेख में 'बुनियादी तालीम' की दृष्टि से विचार नहीं किया गया है। बुनियादी-तालीम और नयी तालीम के मूल्य, आदर्श और लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। सत्य भी यही है और वास्तविकता भी यही है।

●

सन् १९६६ का तकाजा

•

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

महाभारत के आरम्भ में ही अर्जुन युद्ध से हिरहिरा गया था और उसने साफ कह दिया था कि युद्ध की विजय की अपेक्षा भीख माँगकर खाना अच्छा है। क्या कायरता के कारण ? ना, उस समय अर्जुन से बड़ा वीर कौन था ? अर्जुन युद्ध से हिरहिराया था अपने विवेक के कारण। उसके विवेक की दिशा यह थी कि युद्ध से श्रेष्ठ मनुष्यों की मृत्यु के कारण कुल की, राष्ट्र की सनातन मर्यादाएँ भंग हो जायेंगी और हमें जाने कब तक नरक में सड़ना पड़ेगा— 'नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।'

१९३९ से १९४५ तक, जो विश्व युद्ध हुआ उसमें भारत का नरकवास आरम्भ हुआ, पर अर्जुन के फार्मूले से यह फार्मूला यह था कि ठीकेदारों ने भिन्न भिन्न युद्ध के कामों में काफी रुपया कमाया। १९४७ में भारत स्वतंत्र हो गया और देश का उद्योगीकरण आरम्भ हुआ। ठीकेदारों का कुटुम्ब बड़ा हो गया और उद्योगपतियों के हाथ भी बहुत लम्बे हो गये। देश में घाटे की अर्थ-व्यवस्था चालू हो गयी थी, रुपये बरस पड़े थे। इन रुपयों पर ज्यादा से ज्यादा छापा मारने के लिए ठीकेदारों ने प्रशासकों को चाँदी के तार में बाँधा तो उद्योगपतियों ने राजनीतिज्ञों को सोने के तालों में बन्द किया। राजनीतिज्ञों के भी हाथ-पैर प्रशासक ही थे। बस, राजनीतिक पद सेवा की अंजलि से स्वार्थ की तिजोरी बन गये और वातावरण बदल गया। फ्रांस, इंग्लैण्ड और जापान में भी यह बाढ़ आ रही थी; पर वहाँ के राजनीतिज्ञ अपनी जगह दृढ़ रहे, प्रवाह में नहीं बहे और इसी कारण उस प्रवाह को नियंत्रित कर सके, जो पूरे राष्ट्रीय चरित्र को बहाने के लिए उमड़ा था। जापान ने भी चमत्कारी चरित्र का प्रदर्शन किया।

हमारे देश में गांधीजी ही यह काम कर सकते थे, पर उन्हें तो हमने अपनी ही गोलियों से मार डाला। फिर भी ऋषियों का तप और शहीदों का खून अभी काम कर रहा है और देश में कुछ ऐसे लोग हैं, जो जीवन में सफलता की निश्चित सम्भावना होने पर भी बहुजन की विचार धारा में नहीं बहते और बुरे आचरण से मिलने-वाली उस सफलता की उपेक्षा कर पाते हैं। इसके साथ ही अकेले रहकर भी उस बहु-जन प्रवाह के विरुद्ध वे लड़ते रहते हैं।

विनोबाजी युग-सन्त हैं और मेरा विचार है कि उन-जैसी पैनी और परिपूर्ण प्रतिभा का आदमी शंकराचार्य के बाद भारत में कोई दूसरा नहीं हुआ। आचार्य तुलसी भी अपने सम्प्रदाय के सर्वोच्च सन्त हैं और उनकी दृष्टि व्यापक है। दोनों ही देश की जनता के पूज्य हैं; पर राष्ट्रीय प्रश्न यह है कि क्या विनोबाजी का ग्रामदान और तुलसीजी का अणुव्रत आर्थिक-नैतिक क्रांति का रूप ले रहे हैं देश में ? क्या ग्रामदान और अणुव्रत कोई राष्ट्रीय आंदोलन का रूप पा रहे हैं ? या वे एक शुभ अनुष्ठान हैं ?

•

अनुष्ठान, आंदोलन, क्रांति, क्या भेद है इनमें ? क्या स्वरूप है इनकी जीवन प्रक्रिया का ?

अनुष्ठान यह कि व्यक्ति को एक शुभ विचार या कार्य अच्छा लगता है और वह उसे अपने आचरण में ले लेता है। यह आचरण उसे श्रेष्ठता प्रदान करता है। यह है अनुष्ठान। यह धर्म का साधन है, क्योंकि धर्म की प्रक्रिया ही यह है कि व्यक्ति व्यक्ति से व्यापक श्रेष्ठता का निर्माण हो। सब धर्मों ने यही प्रयत्न किया है और अपने क्षेत्र में उन्हें सफलता भी मिली है, पर यह सफलता एक सीमा पर आकर रुक गयी है। क्योंकि ऐसा लगता है कि

धर्म की प्रक्रिया में कहीं कोई ऐसी चूल ढीली है कि विभिन्न धर्म थोड़ा रास्ता ठीक-ठीक चलकर अपनी मूल प्रेरणा को भूल जाते हैं और कर्मकाण्ड में उलझकर मानवीय एकता की जगह विभेद को बढ़ावा देने लगते हैं। स्वयं हमारा देश धर्म के नाम पर लम्बे खूनी फाग खेलकर टुकड़ों में बँट चुका है।

भलाई और बुराई

मनुष्य के सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह है कि मनुष्य अपनी प्रकृति में, अपने मूल रूप में अच्छा है या बुरा? धर्म का उत्तर है—मनुष्य में ईश्वर का निवास है वह अपने मूल में शुद्ध सत्व रूप है।

व्यवहार का प्रश्न है—फिर वह बुरा, पतित, तामसी क्यों हो जाता है? धर्म का उत्तर है—बुरी परिस्थितियाँ उसे बुरे संस्कारों-स्वभावों से ढक देती हैं, जैसे दहकते अंगारे पर राख की परत चढ़ जाती है।

मार्क्स महान ने कहा कि हम अच्छे व्यक्तियों से अच्छे समाज के निर्माण का द्रविड़ प्राणायाम न करके मूल में ही ऐसे समाज का निर्माण करें, जो मनुष्य को पतित करनेवाली उन परिस्थितियों का ही मूलोच्छेद करके मनुष्य को पतन के अवसरों से दूर रख।

हम जिस समाज-व्यवस्था में अब जी रहे हैं, वह न रामराज्य है, न मार्क्सवादी है, न सर्वोदयवादी है। उसमें व्यक्ति अपनी बुद्धि और साधन शक्ति से समाज-हित का शोषण कर रहा है और समाज व्यक्ति को ऊपर उठाने में, मददगार नहीं है; बल्कि बाधक ही है।

इस भ्रष्ट समाज-व्यवस्था को बदल डालने का आवेग पूर्ण प्रयत्न क्रान्ति है। इस क्रान्ति के लिए जन-मानस को व्यापक रूप में उद्वेलित कर देने का वेगपूर्ण प्रयत्न आन्दोलन है और सामूहिक परिवर्तन एवं सामूहिक उत्थान की बात छोड़कर व्यक्तिगत रूप से जो भी जितना भी अच्छा बन सके बने, यह अनुष्ठान है।

संस्कृति-रक्षण

अँग्रेजी का एक शब्द है 'प्रिजर्व' और दूसरा है 'ग्रो'। मौसम पर कोल्ड स्टोरेज में आलू रख दिये जाते हैं और मौसम के बाद निकाल दिये जाते हैं। यह रखना, रक्षित करना ही प्रिजर्व है। हम एक बीज बोते हैं, उसमें अंकुर फूटते हैं, टहनियाँ आती हैं, फूल खिलते हैं, फल लगते हैं। यह सब 'ग्रो' है, सम्वर्धन है।

मध्यकाल में जब देश छोटे-छोटे आपसी झगड़ों में व्यस्त राज्यों में बँट गया और विदेशी आक्रमणों से देश घिर चला तो संस्कृति खतरे में पड़ गयी। राजनीतिज्ञ इस परिस्थिति में बेकार थे। वे विभेद में घिरे थे, विभेदों को बढ़ा रहे थे। तब सन्त उभरे और उन्होंने तीर्थों-त्योहारों, पर्वों, सुरक्षित संस्कारों में संस्कृति को चमत्कारी ढंग से सुरक्षित (प्रिजर्व) कर दिया। सदियों वह सुरक्षित रही।

बरसों-बरसों तक जमाने के सत्यानाशी दौर में सुरक्षित रहने के बाद १५ अगस्त १९४७ का दिन आया। हम जानते हैं कि यह हमारी स्वतंत्रता का जन्मदिन है ही; पर हमें जानना चाहिए कि यह हमारी सुरक्षित संस्कृति के सम्वर्धनकाल का भी जन्म दिन है। इसे जानकर ही उस सम्वर्धन को जन जन की शक्ति का सहयोग मिल सकता है। इसके लिए एक आर्थिक-नैतिक आन्दोलन की जरूरत है, जो देश की सबसे बड़ी आवश्यकता—सामाजिक क्रान्ति को बल दे—आगे बढ़ाये।

बहुत गहरे तक अपनी खोज एवं चिन्तन की उँगलियाँ पहुँचाकर भी मैं पाता हूँ कि आचार्य विनोबा भावे का ग्रामदान और आचार्य तुलसी का अणुव्रत न आन्दोलन बन पा रहे हैं, न क्रान्ति, बस वे अनुष्ठान ही हैं। उनका भी अपना महत्व है, पर अनुष्ठान को क्रान्ति मान लेना उचित तो है ही नहीं, राष्ट्रीय दृष्टि से खतरनाक भी है।

अनुष्ठान, आन्दोलन, क्रान्ति

कोई विचार जब समाज के—जनमन के—मानस पात्र में प्रतिबिम्बित हो उठता है, संकल्पों में झलक उठता है, तब नेतृत्व मिलने पर वह आन्दोलन का रूप लेता है; और जब वही विचार समाज के—जन-जन के आवेगों—उद्वेगों में कर्म का रूप धारण कर भड़क उठता है, तब क्रान्ति का रूप लेता है। ग्रामदान और अणुव्रत दोनों ही इस स्थिति से दूर हैं और एक अनुष्ठान बनकर रहे आ रहे हैं। मैं इसे हीनता की दृष्टि से नहीं देखता—कोई छोटी बात नहीं मानता। गनीमत है कि सर्वोदय और अणुव्रत

की प्रवृत्तियाँ आन्दोलन का भाँति का रूप न लेकर भी अनुष्ठान तो बनी रह सकी। इस बीच सम्पूर्ण साधन सुविधाओं के साथ उभरी भारत सेवक समाज, भारत साधु समाज और समाज-कल्याण की प्रवृत्तियाँ निर्जीव साइनबोर्ड बनकर ही रह गयीं। इस का दस वि दा अँगोठा का अवलम्ब अब गाधाजी का अनुष्ठान था, खादी उनका आदोलन था और स्वाधता उनकी प्राप्ति थी।

ग्रामदान और अणुव्रत सामूहिक मानस की आकांक्षा की आकृति नहीं दे सके, पर इनकी तह कहाँ है?

देश का पहला आदोलन था बग भग के विरुद्ध उठा स्वदेशी आन्दोलन। वह अपन काय म सफल हुआ और १९११ में वायसराय लाड कजन न बगभग का—बगाल को दो हिस्सा में बाँटने का—प्रस्ताव वापस ले लिया। इसके बाद १९२० से १९४५ तक यह देश गांधीजी क नतृत्व में देशव्यापी आन्दोलन का केन्द्र रहा।

भीड का मनोविज्ञान

आदोलन का प्राण है भीड और हमारा देश भीडो का देश है। अमावस तिथि को सोमवार का पडना एक साधारण सयोग है और चन्द्रग्रहण या सूयग्रहण एक प्राकृतिक सयोग पर सोमवती अमावस्या या ग्रहण के आते ही देश के करोडो नर-नारी नदियों में स्नान करने के लिए उमड पडते हैं। एस देश म आदोलन उठाना क्या मुश्किल है, पर बात यही है कि नता भीड जोडने का मनोविज्ञान जानता हो। गांधीजी इसके विशषज्ञ थे।

उनके बाद उनकी कांग्रेस न कोई आन्दोलन नहीं चलाया, यहाँ तक कि चुनावो को भी आन्दोलन का रूप देने में वह असफल रही। गांधीजी के उत्तराधिकारी और कांग्रेस के नता जवाहरलाल न निरन्तर भीडें जोडीं यह रगा पुता सत्य है। साफ स्वच्छ सत्य यह है कि जवाहरलाल क चारो ओर निरतर भीड जुडी, पर जवाहरलाल न उन भीडो का आत्मीय की तरह आकर्षित तो किया, पर दिया कुछ नहीं कि घर ले जा सके उसका उपयोग कर सके। इससे धीरे धीरे जनता में आम आदोलन की प्रवृत्ति सो गयी।

१९४६-४७ के साम्प्रदायिक उपद्रवो न मुसलमानो को पस्त पर दिया और वे एक समूह के रूप म राष्ट्रीय जीवन से तटस्थ हो गये। भारत पाकिस्तान युद्ध पहली घटना है जिसन मुसलमानो के सामूहिक मानस को पहली बार राष्ट्रीय स्पश से पुलकित किया। विरोधी दलो ने कई आन्दोलन चलाये, पर उनके नता अपने आदोलनो का आधार तैयार न कर सके, जो जन मानस की अपील करता। एक समाजवादी पार्टी ने उत्तरप्रदेश में एक आदोलन चलाया और उस इस अर्थ में पूरी सफलता मिली कि २३ हजार आदमी जल गये, पर जनता क मन पर उसका क्या प्रभाव पडा?

यह प्रश्न महत्वपूर्ण था। मै इसका उत्तर पाने के लिए कई गाँवो में गया, जिनमें समाजवादी कायकर्त्ता गिरफ्तार हुए थे। मरा गाँववालो से प्रश्न था—आपके गाँव में क्या हलचल हो रही है? गाँववालो का सामान्य उत्तर था—अजी, ये लाल टोपीवाले पकडे जा रहे हैं! एक वृद्ध से मैंन पूछा—'ये लाल टोपीवाले क्या पकडे जा रहे हैं?' तो उत्तर मिला—'पडतजी, जो सरकार स धीगामस्ती करेगा, वो तो पकडा ही जागा (जायगा), उसे क्या सरकार गरम दूध प्यावेगी (पिलायेगी)?' मतलब यह है कि इन आधारहीन आन्दोलनो से जनता की आदोलन-वृत्ति को गहरा धक्का लगा, पर दुख है कि विरोधी दलो के नताओ ने जनता के मनोवैज्ञानिक तत्त्वो की घोर उपेक्षा की।

ड्राइंग रूम का हर्ष

एक और गजब हुआ कि गांधीजी क आदर्शों स गिर कर देश के शासकों और प्रशासको न वैभव का जीवन जिया और वह भी इस तरह कि वैभव का प्रदर्शन होता रहे। इसके साथ ही भौतिक उन्नति की इतनी अधिक चर्चा हुई कि नैतिक राष्ट्रीय विचार धारा का रस ही सूख गया। गांधीजी की काय-पद्धति थी—जीवन का स्तर ऊँचा करना, पर हमारी काय-पद्धति हो गयी रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना। हम जीवन का आदश बचकर, ड्राइंग रूम का हर्ष खरीदने में जुट गये और उन्हें भूल गये, जिनके लिए दो रोटी और एक कुरता ही जीवन है।

इससे जीवन में खींचतान आयी गुणो की होड छूटी, खुदगरजी की जोड-तोड न जोर बाँधा। शासक दल आपसी झगडो म उलझकर एसा नगा हुआ कि जनता का

अंदर खो बैठा और दूसरे दल उसे समेट न सके। वातावरण व्यक्तिवादी हो गया, आपा-धापी मच गयी, गांव-शहर, प्रदेश-देश के नेता अपने व्यक्तित्व को स्थिर-मजबूत बनाने में जुट पड़े, और सामूहिक वृत्ति का दम घुट गया।

विनोबाजी के सामने जब बीस डाकुओं ने ग्वालियर-क्षेत्र में शस्त्र-सहित आत्म-समर्पण किया, तो सामूहिकता की एक लहर देशभर में दौड़ गयी और सर्वोदय क्रान्ति का बीज बोने के लिए जन-मानस का विशाल क्षेत्र तैयार हो गया; पर उस समय के मध्यप्रदेश-शासन की अदूरदर्शिता से वह क्षेत्र बिना बोया ही पड़ा रह गया।

चीनी आक्रमण के समय भी स्वस्थ-सहज रूप में जनमानस उद्बुद्ध हुआ; पर उस उद्बोधन को न किसी ने क्रान्ति का पथ दिखाया, न आन्दोलन का; और व्यक्तिगत उन्नति के लिए शासकों, प्रशासकों और क्षेत्रीय नेताओं ने उसका ऐसा शोषण किया कि शोषक ही बाद में यह पूछते फिरे कि वह उबाल, वह उत्साह कहाँ गया?

नयी क्रान्ति की प्रतीक्षा

इस प्रकार जन-मानस के जिस वातावरण में आन्दोलन पनपते हैं, क्रान्तियाँ फूटती हैं, वही नष्ट हो गया। जनता अनैतिक व्यापार से ग्रस्त है, आर्थिक विषमता से ग्रस्त है। नैतिक आन्दोलन और आर्थिक क्रान्ति के लिए भारत के जन मानस को भारत-पाकिस्तान-युद्ध ने पूरी तरह तैयार कर दिया है। भारत इस समय आन्दोलन और क्रान्ति के लिए उन्मुक्त क्षेत्र है; पर जनता में स्वावलम्बन की, क्रान्ति और आन्दोलन का स्वयं नेतृत्व करने की प्रवृत्ति नहीं है और वह हर बात के लिए शासन की ओर देखने की आदी हो गयी है।

यह युग स्थिति है। आवश्यकता है कि कोई नयी क्रान्ति आये, जिससे उस योजना-कमीशन के क्रूर सींकचे ढीले हों, जिन्होंने निर्माण के सब साधनों को अपने कब्जे में कर, उन हाथों में दे दिया है, जो आर्थिक क्रान्ति और नैतिक आन्दोलन से अपने व्यक्तिगत हितों के लिए खतरा अनुभव करते हैं। देश के हितों का युग-तकाजा है कि योजना-भवन की ऊँची देह में सर्वोदय के फेफड़े और अणुव्रत की आँखें लगायी जायें।●

—दैनिक हिन्दुस्तान से साभार
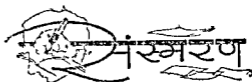
अब तो पचास हजार चाहिए

●

हमारे एक मित्र थे। वे अक्सर कहा करते थे—'मुझे दस हजार रुपये मिल जायेंगे तो मैं जन सेवा करूँगा।'

मैंने उनसे कहा—'यह तुम्हारा भ्रम है।"

उन्होंने जोर देकर कहा—"नहीं, मैं सच कह रहा हूँ।"

फिर मैंने उनसे कहा—'तो ठीक है, देख लो।"

धीरे धीरे दो साल बीत गये। इतने दिनों के अन्दर हमारे मित्र के पास दस हजार रुपये हो गये। तब मैंने उनसे पूछा—"तुम जनता के काम के लिए कब आ रहे हो?'

उन्होंने कहा—'देखा न, आज के जमाने में इन दस हजार रुपयों की क्या कीमत रही? पहले तो जो कीमत दस हजार रुपयों की थी आज वही कीमत पचास हजार रुपयों की रह गयी है। इसलिए मुझे थोड़ा और समय चाहिए, ताकि मैं पचास हजार कमा लूँ।"

इस बात में सचाई भी है और विनोद भी। आदमी में लोभ होता है। उसके पास कितना भी पैसा आये उसे सन्तोष नहीं होता, बल्कि उसकी इच्छा और पैसा पाने की बढ़ती ही जाती है, और पैसे की कीमत भी स्थिर नहीं होती। आज पैसे की एक कीमत है तो कल दूसरी। ●

—विनोबा

तीव्रता के साथ काम करें

विनोबा

ग्रामदान की सफलता में और उसके बाद ग्राम-निर्माण या विकास में, जो मुश्किलें आती हैं वे व्यावहारिक हैं और उनका जवाब दिया जा सकता है, लेकिन उस विषय में मैं अभी चर्चा नहीं करूँगा।

क्या राजनीति और क्या लोकनीति (जो एक नया शब्द निकला है) दोनों में 'नीति' समान है। नीति के बिना न राज्य चल सकता है न कोई पार्टी टिक सकती है और न लोक-व्यवस्था ही चल सकती है। तो, समान अंश निकल सकता है 'नीति'। हमारा देश बड़ा है। विशाल देश की विशाल समस्याएँ होती हैं, तो मतभेद हो ही सकता है। फिर, राजनीति में मतभेद होना स्वाभाविक है और कुछ अंश तक जरूरी भी है, लेकिन हिंदुस्तान में सवाल मतभेद का नहीं मनच्छेद का है।

मतभेद होते-होते सभी पार्टियाँ टूट जाती हैं। इसमें गुण बहुत ज्यादा बुद्धि या नीति का दर्शन नहीं होता। मैं किसी पार्टी में नहीं, तो भी चाहता हूँ कि पार्टियाँ मजबूत रहें। कम्युनिस्ट पार्टी बहुत मजबूत मानी जाती थी। मुझे बड़ा उत्साह आता था उस पार्टी के लोगों के साथ बात करने में, और जरूरत पड़ी तो लड़ने में भी। लेकिन, भारत में वह पार्टी भी टूट रही है। कांग्रेस के बारे में तो खास कहने की जरूरत नहीं। वह शासन में है तो अनेक ग्रुप बनना स्वाभाविक है। उसमें जो भेद हैं, उनको पार्टीभेद नहीं कह सकते, ग्रुप भेद कहना चाहिए।

यहाँ जो हमने राजनीति का ढांचा मान्य किया है, वह बहुत सारा इंग्लैण्ड, अमेरिका को देखकर किया है। उसमें इस बात का ख्याल नहीं रहा कि हिन्दुस्तान राजनीति में योरप से बहुत आगे है। विज्ञान में योरप बहुत आगे बढ़ा है, तो हमें उनसे विज्ञान सीखना चाहिए, पर राजनीति में योरप बहुत पिछड़ा है। सारे योरप में एक-एक भाषा का एक-एक राष्ट्र बना है और भाषा के आधार पर छोटे छोटे राष्ट्र चलते हैं। हरएक राष्ट्र ने अलग-अलग सेना रखी है। 'कामन मार्केट' भी नहीं बना पाये। पूरे योरप की बात ही क्या, आधे योरप का 'कामन मार्केट' बनाने की बात तय की थी वह भी नहीं पूरी कर पाये। पन्द्रह विकसित भाषाएँ एक हों, अनेक धर्म एक हों, ऐसा कोई जिम्मा योरप ने नहीं उठाया। इंग्लैण्ड में एक ही धर्म है, एक ही भाषा है। जातिभेद नहीं है विकसित देश है। दुनियाभर की सम्पत्ति खींच सका है। वहाँ माला स पार्लियामेण्टरी व्यवस्था चल रही है। उनकी और हमारी स्थिति में फर्क है। यहाँ दारिद्र्य, अज्ञान और अनारोग्य है। इसके साथ बहुत बड़े देश खण्डप्राय देश को एक राष्ट्र बना रखा है। 'भरत खण्ड' नाम ही था इसका। तो मान था कि यह एक विशाल खण्ड है और इसके अनेक प्रकार के संस्कार अलग-अलग हैं। इसलिए योरप की राजनीति का अनुकरण यहाँ किया है, पर उसके परिणामस्वरूप एक-एक पार्टी के टुकड़े हो रहे हैं। मतभेद तो खैर दुनियाभर में होते ही हैं, लेकिन यहाँ मतभेद होते ही फौरन पार्टी के टुकड़े होते हैं और आपस में तंग वातावरण बनता है। उसका कारण यह है कि हमने अपने देश की कमजोरियाँ ध्यान में नहीं ली और उसके साथ अपने देश की महत्ता भी ध्यान में नहीं रखी।

सर्व-सेवा-संघ और अन्य पार्टियाँ

गांधीजी ने सुझाया था कि विभिन्न पार्टियाँ रहती हैं विरोधी पार्टी रहती है, तो शासन का सुधार होता है। इस बात में कुछ तथ्य है, लेकिन पूरा नहीं। इसलिए

भारत में ऐसा भी एक समूह चाहिए, जो सत्ता से अलग रहे, लेकिन सत्ता पर उसका असर पड़े। वह सत्ता हाथ में न ले, लेकिन सत्ता उसके कहने में रह सके। इसके लिए गांधीजी ने सुझाया कि लोकसेवक-संघ बने और कांग्रेस को वह सलाह दी, जो उस समय बड़ी संस्था थी और स्वराज्य प्राप्ति का मुख्य श्रेय उसी को हासिल था। तुलसीदासजी ने सिखाया है कि 'राम' से 'नाम' बड़ा है। गांधीजी ने भी यही सोचा कि कांग्रेस की अपेक्षा 'कांग्रेस' का नाम बड़ा बने, और बन सकता, अगर वह सत्ता हाथ में न रखती, सेवा-परायण संस्था बनती, और सत्ता पर आप्ता रखती। अगर कांग्रेस ने उनकी सलाह मानी होती—लोकनैतिक, राजनैतिक और नैतिक, तीनों नैतिक दृष्टियों से उनकी सलाह मानी होती तो वह सत्ता हाथ में न लेते हुए भी सबसे बड़ी सत्ता, संस्था होती।

अब सर्व-सेवा-संघ बना है। उसकी ताकत बन रही है। समय लगता है ताकत बनने में। इसलिए उसे सबको सहयोग देना चाहिए। अगर यह ध्यान में आये कि यह तटस्थ बुद्धि की संस्था नहीं रहेगी तो सत्ता-संस्था पर आप्ता नहीं रह पायगा और न सुधार ही हो सकेगा, तो सभी सर्व सेवा-संघ की मदद करेंगे। हर राजनीतिक पार्टी समझेगी कि हमारी पूर्ति के लिए इसकी जरूरत है, जैसे सब नदियाँ समझती हैं कि हमें समुद्र में डूबना है। अगर पार्टियाँ समझ जायें कि उनकी अन्दर-ही-अन्दर क्या नहीं बन रही है, तो निश्चय ही ऐसा दृश्य दिखायी पड़ सकता कि है सर्वोदय समुद्र है और अनेक पार्टियाँ अपने-अपने स्थान से काम करते हुए आखिर में उसमें मिल जाती हैं।

ये सब पार्टियाँ एक बार अवश्य एक बनीं, जब देश पर बाहर से संकट आया था। इस तरह का कोई संकट बाहर से आता है तो सभी आपस के मतभेद जेब में रख सरकार को मदद देते हैं; मानो ये थर्मामीटर देखते रहते हैं कि एकता की उष्णता कितनी डिग्री तक रखी जाय। देश बहुत खतरे में हो तो एक हो जायँगे, कम खतरे में हो तो एकता कम करेंगे और बाहरी कोई खतरा न रहे तो एकता वापस ले लेंगे। पर, क्या यह कोई एकता है? एकता तो आत्मीय होनी चाहिए, अन्दर से होनी चाहिए तब बाहरी संकट आयेगा ही नहीं।

राजनीतिक पार्टियाँ एक कैसे बनें ?

मेरे सामने सवाल है कि क्या इन सभी राजनीतिक पार्टियों के एक बनने की कोई युक्ति है? चीन, पाकिस्तान के हाथ में वह युक्ति है, यह अलग बात है; लेकिन इसके अलावा क्या ऐसा कोई 'कॉमन प्रोग्राम' है, जिसमें कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर ये काम कर सकती हैं? क्या इन सभी पक्षों को एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर काम करने का कभी मौका आ सकता है? कहा जाता है कि हमारे अलग-अलग दर्शन हैं, इसलिए यह सम्भव नहीं। लेकिन, सब दर्शनों का शिरोमणि दर्शन मानवता, जो सबमें समान है, उसे क्यों भूले जा रहे हैं?

ट्रस्टीशिप का अभ्यास

गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' शब्द निकाला। चर्चा चली कि यह शब्द कैसे बना? तो बोले – 'गीता का चिन्तन करने से यह शब्द मिला।' गीता में 'अपरिग्रह' शब्द आता है। मैं सोचता रहा कि जो भी तत्त्व होता है, वह चन्द लोगों को लागू नहीं होता। तत्त्व और धर्म हर एक पर लागू होते हैं। जो तत्त्व सबपर लागू न हो, वह मानव-धर्म ही नहीं। अगर अपरिग्रह का अक्षरार्थ लिया जाय तो वह 'दिगम्बर रहना' यह होगा—"करतल-भिक्षा तरु-तल-वास"। लेकिन, यह लिखकर शंकराचार्य स्वयं कह रहे हैं – "तदपि न मुंचति आशापाश"। यद्यपि तरु-तल-वास और करतल भिक्षा की जाय तो भी अपरिग्रह नहीं होगा। एक लँगोटी का भी 'परिग्रह' और राज्य का भी 'अपरिग्रह' हो सकता है। साम्यसूत्र है—"शुकजनकयोरेक पथा"। शुकाचार्य विरक्त सन्यासी थे, जबकि जनक राजा। फिर भी दोनों का एक ही पन्थ था। दोनों अपरिग्रही थे। तो, अपरिग्रह शब्द के अर्थ के चिन्तन से ध्यान में आया कि सम्पत्ति, जिसमें शरीर भी शामिल है, अपना नहीं है। वह सबके लिए हमारे पास है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि हमारा यह ग्रामदान 'ट्रस्टीशिप' के विरोध में है। उनके लिए अपरिग्रह की

यह सूक्ष्म दृष्टि सामने रखी गयी है; लेकिन उसकी स्थूल दृष्टि भी प्यारेलालजी ने अपनी किताब में रखी है। स्पष्ट है कि गांधीजी की ट्रस्टीशिप की कल्पना अन्दाज ही नहीं, अक्षरांकित है। प्यारेलालजी की 'लास्ट फेज' में यह है। मैं कहता हूँ कि ग्रामदान ट्रस्टीशिप का क्रमिक अभ्यास है। विरासत और व्यवहार में जमीन हाथ में रखकर टोकन (प्रेमचिह्न) के तौर पर गाँव को एक बार जमीन का हिस्सा और हर साल आमदनी का हिस्सा दान देना—ट्रस्टीशिप का बहुत अच्छा अभ्यास है। इससे समाज को ट्रस्टीशिप का अच्छा अभ्यास होगा।

ट्रस्टीशिप की उत्तम मिसाल बाप और बेटा है। बाप जितनी अपनी चिन्ता करता है, उससे ज्यादा बेटे की करता है। ट्रस्टीशिप का यह एक लक्षण है। दूसरा लक्षण यह कि, वह कोशिश करता है कि बेटा समर्थ हो जाय और उसकी जिम्मेदारी भी है बेटे को समर्थ बनाने की। ट्रस्टीशिप के ये दो लक्षण पिता में दीख पड़ते हैं। इसलिए पिता-पुत्र सम्बन्ध आजतक चला आ रहा है। 'ट्रस्टीशिप' ऐसा शब्द नहीं कि उसके पीछे अपनी वासना, अपनी मिलकियत छिपा रखते हैं और थोड़ा-सा दान दे दिया, तो हो गया। इसलिए सुलभ ग्रामदान पर यह आक्षेप कि 'वह गांधीजी की ट्रस्टीशिप की कल्पना के अनुकूल नहीं', गलत है। गांधीजी के ट्रस्टीशिप का जो अर्थ हम समझते हैं, उसके अनुसार यह आक्षेप गलत है और उसकी अक्षरांकित कल्पना के अनुसार भी गलत है।

दूसरा आक्षेप

इसके बिल्कुल दूसरी बाजू में दूसरा आक्षेप यह है कि इसमें जरा जायका कम है स्वाद कम है। लेकिन समझने की बात है कि 'सहस्रशीर्ष सहस्रपाद' क्रान्ति कैसे बनती है, इसी की यह प्रक्रिया है। हजारों हाथ, हजारों पाँव एक होंगे, तभी क्रान्ति होगी। 'सुलभ ग्रामदान' में यह शक्यता है कि हजारों ग्रामदान हो जायें। उसमें यह जो शक्ति है, वही क्रान्ति की माता है। मनुष्य एक दफा उसके आकर्षण में आ जाय, उसका चस्का लगे तो मनुष्य आगे बढ़ता ही है। मैं कहना चाहता हूँ कि सुलभ ग्रामदान से ग्रामदान का स्वाद घटा नहीं, बढ़ा ही है, क्योंकि उसमें मानवों का सहकार अधिक मिलनेवाला है।

हमने दोनों आक्षेप, दोनों बाजू छोड़कर मध्यम मार्ग पकड़ा है। इसलिए अब अगर सारी राजनीतिक पार्टियाँ अपना-अपना मतभेद कायम रखते हुए भी चुनाव तक उन्हें जेब में रखें और इस काम में सहयोग दें तो उनकी अपनी-अपनी पार्टी में जो मतभेद हैं, वह मिट जायगा। साथ ही एक दूसरी पार्टी में जो तीव्रता है, वह भी कम हो जायगी। फिर 'आइडियोलॉजीकल' (वैचारिक) मतभेद पर वे चुनाव लड़ सकेंगे। इसलिए राजनीतिक पार्टियों से मेरा निवेदन है कि अभी सारे भारत को छोड़ दें, लेकिन बिहार में ही सब मिलकर इस काम को पूरा करें तो उन्हें बहुत बड़ा, बहुत रमणीय दर्शन होगा। सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक और आर्थिक सभी प्रकार की क्रान्ति होगी। उनके पक्षों के जो सिद्धान्त हैं, उनमें इससे बाधा नहीं आती। व्यक्तिगत तौर पर तो हर एक को थोड़ा छोड़ना ही पड़ता है। इसलिए पार्टीवाले इस काम में लग जायें।

मनुष्य को प्रतिदिन समझना चाहिए कि यह हमारा आखिरी समय है। रात को सो जाते हैं, तो हमारे पास जीवित रहने की ऐसी कोई ताकत नहीं, जिसे हाथ में रखकर हम सोते हों। दूसरे दिन भगवान ही हमें जगाता है, यह उसी की कृपा है। इसलिए प्रतिदिन तीव्रता के साथ काम करना चाहिए। यह आध्यात्मिक दृष्टि है।

उद्धार चाहिए : उधार नहीं

लेकिन, राजनीतिक दृष्टि से भी कितना ही दूर देखें, इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। योजना-आयोगवाले कहते हैं कि हिन्दुस्तान के आखिरी तबके के लोगों को निम्नतम स्तर पर पहुँचाने में सन् १९९० लग जायगा। यानी यह २५ साल दूर की बात है। इन पच्चीस वर्षों में क्या होगा, भगवान ही जानें। यह उधार है, उद्धार नहीं। ऐसी उधारी पच्चीस साल तक उन लोगों के साथ चले, जिनको ६ महीने का भरोसा नहीं? इसलिए जाहिर है कि योजना-आयोग जो काम कर रहा है, उसमें तुरन्त उद्धार होने की कोई कल्पना नहीं।

आगे चुनाव आ रहा है। केरल में कम्युनिस्ट पार्टी

के बहुत सारे लोगों को जो, चीन के अनुकूल माने गये थे, जेल में डाल रखा गया है। फिर भी वे बहुसंख्या से चुनकर आये। बंगाल में भी क्या हालत है? वहाँ की एक जमात चीन का खुलेआम स्वागत करती है। तो अगले चुनाव में क्या होगा, कह नहीं सकते। कोई भी पार्टी आ जाय तो क्या वह जो दावे करती है, वे दस साल में पूरे हो सकते हैं? मैं कहना चाहता हूँ कि इसका उत्तर 'हाँ' में होना ही चाहिए, नहीं तो हम मानव नहीं। मनुस्मृति में कहा है कि यह मनुष्य के हाथ की बात है, वह कर सकता है। अगर हम कहें कि यह हमारे हाथ की बात नहीं, पाँच-दस साल में हम यह कर नहीं सकते, तो मानवता का दावा ही छोड़ दें। राजनीतिक दावा तो रख ही नहीं सकते, लेकिन मानवता का दावा भी छोड़ना पड़ेगा।

गरीबी का जिम्मा गाँव-गाँव उठाये

आखिर सरकार है कौन? वह तो जनता की नौकर है। सरकार का 'ला ऐण्ड आर्डर' का, डिफेंस का और उत्पादन बढ़ाने का काम मैं कर रहा हूँ। सरकार के तरह-तरह के काम इस आन्दोलन में जनता-द्वारा हो सकते हैं। यह मानने की जरूरत नहीं कि सरकार इसमें उदासीन रहेगी। रह ही नहीं सकती। इस आन्दोलन में अपनी ताकत है। इसलिए मैंने कहा था कि भाई, मैं भिक्षा नहीं माँगता, दीक्षा दे रहा हूँ। खुशनसीबी है कि आपके मंत्री वगैरह वचन देते हैं कि वे मदद करेंगे। वे ना कह ही नहीं सकते। वह असम्भव है। मैंने उम्मीद रखी है कि भारत में अगर हम यह कर सकें, गरीबी का जिम्मा गाँव-गाँव उठाये, तो चीन देखने के लिए आयगा कि भारत ने किस तरह गरीबी का हल निकाला है। चीन में भी बेहद गरीबी है और उसने बड़ी कोशिश की, लेकिन वह उसे मिटा नहीं सका।

इस काम का आरम्भ यहाँ हो जाय। यहाँ गौतम बुद्ध का नाम चलता है। उनका नाम चीन में भी चलता है, जापान में भी चलता है, ब्रह्मदेश में भी चलता है। ये सारे एशिया के भाग हैं। और, दूर दृष्टि से देखें तो एशिया में आज जो कशमकश चली है, भारत ही उससे एशिया को बचायगा। ●

शत्रु-देश के बेटे को प्यार

४ अक्तूबर १९४४ को ब्लैकपूल के गजट में सार्जेंट पाइलट लिखता है—

फ्रांस पर गोलाबारी करते समय मेरा हवाई जहाज मार गिराया गया। मुझे सीने, कन्धे और बायीं बाँह में चोट आयी। उतरते समय मेरी टाँग भी टूट गयी। मुझे जर्मन घायलों के लिए बने एक 'इमर्जेंसी' अस्पताल में *पहुँचाया गया।*

मेरे आसपास तमाम घायल जर्मन पड़े थे, जिन्हें हमारे विमानों ने घायल किया था। मुझे बहुत संकोच हो रहा था, पर किसी ने कोई शिकायत नहीं की।

मेरी बगल में एक जर्मन नौजवान पड़ा था। ऊपर से नीचे तक मरहम-पट्टी से बँधा हुआ। उसने मुझे एक सिगरेट पेश की और अँग्रेजी में मुझसे बातें कीं। उसने कहा कि '*मेरी माँ अँग्रेजी अच्छी तरह बोल लेती है।* सप्ताह के अन्त में वह मुझसे मिलने आयगी तब तुम भी उससे मिलना।"

उसकी माँ मिलने आयी तो मैं उससे मिला, पर उसके आने के आध घण्टे पहले ही उसका बेटा मर चुका था। अपने बेटे के लिए वह एक पार्सल लायी थी। वह पार्सल उसने मुझे दे दिया। जबतक मैं बन्दी शिविर में जाने लायक हुआ, तबतक वह मेरे लिए सिगरेट और फलों के तीन पार्सल और लायी।

चलते समय मैंने उसे धन्यवाद दिया तो वह बोली—'मेरा एक बेटा इंग्लैण्ड के बन्दी शिविर में पड़ा है। शायद कोई अंग्रेज माँ उसपर भी अपना प्यार बरसाती होगी।' ●

—श्रीकृष्णदत्त भट्ट

ग्रामदान से अकाल का सामना

•

मनमोहन चौधरी

खाद्य की स्थिति को लेकर पिछले दिनों केरल और पश्चिम बंगाल में बड़े पैमाने पर उपद्रव हुए। इन उपद्रवों से दोनों प्रदेशों की जनता को पर्याप्त मात्रा में कष्ट उठाना पड़ा। इसके अलावा भी देश में कितने ही ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ पर खाद्य का संकट अधिक नहीं है, तो कम भी नहीं है। उड़ीसा का करीब एक तिहाई भाग अकाल से पीड़ित है। कुछ हिस्सों में तो कोई फसल ही नहीं हुई। कुछ दिन पहले श्रीमती रमादेवी ने उनमें से कुछ क्षेत्रों का दौरा किया था। वहाँ के निवासियों ने थोड़ा सा अन्न पाने के लिए अपना सर्वस्व बेच डाला। यहाँ तक कि घरों के दरवाजे, खिड़कियाँ और छतों पर की खपरैल तक बेच दी। अब जब उनके पास बेचने को कुछ नहीं रहा, तब वे पेड़ों की पत्तियाँ और कन्द मूल खाकर जीवित रहने की चेष्टा कर रहे हैं। वहाँ के निवासी 'जीवित प्रेत' जैसे जान पड़ते हैं। ऐसी भी खबरें आ रही हैं कि लोग मनुष्यों के लिए अखाद्य भोजन खाने के कारण मृत्यु के शिकार हो रहे हैं। सरकार की ओर से निर्माण-कार्य के द्वारा और मुफ्त में बाँटी जानेवाली रसद की मात्रा बहुत ही अपर्याप्त है।

मुझे इस बात की आशंका है कि देश के अन्य भागों में भी—जैसे महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान में—ऐसी ही स्थिति है और वे भी अकाल से पीड़ित हैं।

यह एक भयंकर स्थिति है। हमारे देश के निवासी हर प्रकार की दुर्घटना को भाग्य का दोष मान लेते हैं। व्यापारियों के एक दल से जब यह प्रार्थना की गयी कि वह जनता की सहायता करे तो उसने कहा कि हम इसमें क्या कर सकते हैं, जब भाग्य ही खिलाफ है। सन्तोष की बात है कि कुछ व्यापारियों ने सहायता कार्य शुरू किया है। फिर भी यह विश्वास तो चालू है ही।

क्या सचमुच यह भाग्य की बात है? बीसवीं शताब्दी में इसपर कोई विश्वास नहीं करेगा। बीसवीं शताब्दी का मनुष्य आज इस स्थिति में है कि वह भाग्य को अपने वश में कर ले। वह पड़े पड़े उसे स्वीकार नहीं कर सकता। इस तरह की विशेष घटनाओं का सामना करने के लिए देश को तैयार करने की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता था। सिंचाई की अधिक सुविधा की जा सकती थी। भूमि समस्या को भी अच्छे ढंग से सुलझाया जा सकता था, जिससे किसानों को अधिक खेती करने की प्रेरणा मिलती। ग्रामोद्योगों के जरिये जनता को पूरक उद्योग दिये जा सकते थे, जिससे संकट के समय वह उनपर निर्भर रह सकती थी। गाँवों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता कि वे संकट के लिए कुछ गल्ले का संचय करते। इसी तरह और भी अनेक बातें की जा सकती थीं।

नक्कारखाने में तूती की आवाज

परन्तु, गाँवों की बिलकुल उपेक्षा की गयी। विनोबा और दूसरे लोग इतने वर्षों से चिल्लाते आ रहे हैं कि खाद्यान्न के सम्बन्ध में हमें स्वावलम्बी होना चाहिए, यह हमारी सबसे बड़ी जरूरत है, परन्तु इस तरह की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज होकर रह गयी। पंचवर्षीय योजनाएँ दोषपूर्ण रहीं। वही हाल उनके अमल में लाने का रहा। शासनतंत्र जनता की आवश्यकताओं और पीड़ाओं से उदासीन ही रहा। नगरों में स्थित व्यापारी वर्ग, गलत नीतियों द्वारा देहातियों का अधिकाधिक शोषण करता रहा है। सरकार ने मद्यपान-जैसी बुराइयों को सरकारी आमदनी का सहज साधन मानकर

प्रोत्साहन दिया है और जनता के जीवनतत्त्व का शोषण किया है। इन सब कमियों और कमजोरियों के साथ अकाल का संकट आज हमारे सामने खड़ा है।

ऐसी स्थिति को सुधारने के लिए क्या हो सकता है? इसके लिए जो लोग काम कर सकते हैं, उन्हें काम देकर और जो काम नहीं कर सकते, उन्हें मुफ्त भोजन देकर तात्कालिक सहायता पहुँचायी जा सकती है, परन्तु मुख्य बात तो यह है कि ऐसा प्रबन्ध किया जाय, जिससे भविष्य में इस तरह की स्थितियाँ पैदा ही न हों। कारण, जबतक हम इस बुराई की तह में नहीं जाते, तबतक एक जगह हम रोकेंगे तो दूसरी जगह रोग फूट पड़ेगा और यह सिलसिला अनिश्चित काल तक चलता रहेगा। सरकार की गलत नीतियों और योजनाओं को बदलना आवश्यक है। सामाजिक और आर्थिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन अपेक्षित है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आज एक क्रान्ति की आवश्यकता है।

केरल और बंगाल के उपद्रव का कारण

जब लोग स्थिति से ऊब जाते हैं तो वे अपना धर्म खो बैठते हैं और प्रदर्शन करने लगते हैं, जैसा कि केरल और पश्चिम बंगाल में हुआ। ऐसे मौकों पर लोग सोचते हैं कि वे क्रान्तिकारी बन गये। हर आदमी को उनके साथ पूरी हमदर्दी होती है, परन्तु इस तरह के छिटपुट उपद्रवों से कुछ नहीं बनता। बहुत हुआ तो इतना ही बनता है कि अधिकारियों के सामने स्थिति आ जाती है और वे जनता को शान्त करने के लिए थोड़ा-बहुत कुछ कर देते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं होता। मलभूत स्थिति पहले जैसी हो बनी रहती है।

गलत पद्धति कैसे नष्ट होगी?

क्रान्ति के लिए कुछ अधिक, ज्यादा ठोस और बड़ा प्रयत्न करना आवश्यक होता है। लोगों को अपने भाग्य को अपने वश में करना होगा। उनमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वे खुद ही क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकें। उन्हें इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी सारी कमजोरियों—अपने भाग्यवाद, जड़ता, तटस्थता, अज्ञानता, मनभेद, आदि—को दूर करना होगा। उन्हें यह बात महसूस करनी चाहिए कि जनता की कमजोरियों में ही कोई गलत सामाजिक आर्थिक पद्धति अपनी जड़ जमाती है। एक बार लोग उसको दूर कर दें तो ऐसी गलत पद्धति अपने आप ही नष्ट हो जायगी।

मैं जितना ही अधिक विचार करता हूँ, उतना ही मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि आज की स्थिति में 'ग्रामदान' ही ऐसा साधन है, जो जनता में परिवर्तन ला सकता है, सामाजिक, आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन ला सकता है और सरकार को विवश कर सकता है कि वह अपना रवैया बदले। ग्रामवासी ग्रामदान के आधार पर ही अपना संगठन करके हर प्रकार के संकटों और दुर्भाग्यों से अपनी रक्षा कर सकते हैं।

हर गाँव अपनी रक्षा के लिए क्या कर सकता है और उसे क्या करना चाहिए, इन सब बातों को दुहराने की जरूरत नहीं है। खाद्य-स्थिति के सन्दर्भ में उठनेवाली कुछ समस्याओं पर हम विचार करें और देखें कि उन्हें हल करने में ग्रामदान किस प्रकार सहायता कर सकता है।

पश्चिम बंगाल में लेवी की पद्धति को लेकर बहुत बड़ा असन्तोष है। ग्रामवासी यह महसूस करते हैं कि जिन लोगों के पास अधिक गल्ला है, उनसे गल्ला लेने में गाँव की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा जाता। शायद उन परिवारों के अपने उपयोग के लिए पर्याप्त गल्ला उनके पास छोड़ दिया जा रहा है, लेकिन उन गाँववालों के लिए कुछ नहीं छोड़ा जाता, जिन्हें अपने लिए गल्ला खरीदना पड़ता है। उधर इस बात का भी कोई भरोसा नहीं है कि अपनी आवश्यकता से अधिक गल्ला उनके पास छोड़ दिया जाय तो वे उसे बाहरवालों को न बेचकर अपने गाँववालों को ही बेचेंगे। यह समस्या ग्रामदान के द्वारा सुलझायी जा सकती है।

ग्रामसभा का काम

ग्रामदान होने से ग्रामसभा सरकार से व्यवहार करने की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेगी। वह इस बात का हिसाब लगा लेगी कि पूरे गाँव की कितनी आवश्यकता है। उसके बाद ही, जो गल्ला बचेगा उसे सरकार को देगी। ग्रामसभा इस बात का भी आश्वासन दे सकती है कि ग्रामवालों के उपयोग के लिए, जो गल्ला बचेगा

उसकी बिक्री में कोई अनैतिक आचरण नहीं किया जायगा। सरकार को इस तरह की व्यवस्था का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि इससे उसका कार्यभार हल्का होता है। यदि वह ऐसा नहीं करती तो भी कोई बात नहीं। ग्रामवासी मिलकर इस स्थिति का सामना कर सकते हैं।

इसके अलावा उपभोक्ता को गल्ले के लिए, जो दाम देना पड़ता है वह उत्पादक के पास नहीं पहुँच पाता। मध्यस्थ लोग बीच में ही उसमें से काफी हिस्सा मार लेते हैं। इससे उत्पादक हताश हो जाते हैं। गल्ले का सारा व्यापार जनता की अपनी सहकारी समितियों के द्वारा किया जा सकता है। ग्रामसभा उसकी पहली इकाई होगी। प्रखण्ड और तहसील के स्तर पर बिक्री-सगठन हो सकते हैं। उत्पादकों की सहकारी समितियाँ शहरी क्षेत्र के उपभोक्ताओं की सहकारी समितियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ सकती हैं। इस प्रकार उपभोक्ता उचित मूल्य दे सकता है और उत्पादक भी उचित मूल्य पा सकता है। इसमें दोनों को लाभ होगा। इससे हर प्रकार का गल्ले का सचय और चोर-बाजार भी समाप्त हो जायगा।

स्पष्ट है कि ये सारी बातें तभी प्रभावशाली रूप में हो सकती हैं जब पूरे-के पूरे प्रखण्ड, तहसीलें और जिले हजारों की तादाद में ग्रामदान में आ जायँ। दो चार छिटपुट ग्रामदानों से विशेष कुछ नहीं हो सकेगा।

सकट-काल में आमदनी कैसे बढ़े ?

जिन क्षेत्रों में अकाल पड़ा है, वहाँ के निवासियों को आत्मसम्मान खोये बिना रोजी की और भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। सरकार उनको मिट्टी खोदने आदि का कुछ काम देती है, परन्तु इस तरह के कामों की भी एक सीमा है। बड़े पैमाने पर काम देने के अन्य साधन हैं--चरखा तथा अन्य ग्रामोद्योग, परन्तु यहाँ यह समस्या उठती है कि जो लोग भुखमरी के किनारे हैं, उन्हें कातना सिखाया जाय और फिर वे इतना कात सकें कि रोजी कमा सकें। कितना अच्छा होता, यदि गाँववाले पहले से ही स्वावलम्बन के लिए चरखा तथा अन्य ग्रामोद्योगों का उपयोग करते। तब इस कौशल का, इन साधनों का और सगठन का सकट-काल में आमदनी बढ़ाने के लिए अच्छा उपयोग हो सकता था। वस्तुतः खादी और ग्रामोद्योगों ने ग्रामदानों की समृद्धि बढ़ा दी होती और ऐसे सकटों का सामना करने की उनकी शक्तियों में भी वृद्धि कर दी होती। गाँववालों की शक्ति बढ़ाने के लिए ग्रामदान में और भी कितने ही उपाय हैं।

यह सही है कि बहुत से ग्रामदानी गाँवों में अभी बहुत कुछ नहीं हो सका है। कुछ आदमियों ने अपने ग्रामों का ग्रामदान कर दिया है और वे चुपचाप बैठ गये हैं कि शायद अपने आप कुछ हो जायगा। परन्तु, यह भी सही है कि अन्य हजारों ग्रामदानी गाँवों के लोगों में शक्ति एव आत्मविश्वास जागृत हुआ है। यह सम्भव है कि ग्रामदान के बाद भी कुछ गाँवों में कुछ न हो, परन्तु यह बात निश्चित है कि हम यदि ग्रामदान से शुरुआत न करें तो कुछ भी नहीं होने जा रहा है। यही एक रास्ता है जो असहनीय स्थिति से देश को बाहर निकाल सकता है। हमें यह महसूस करना चाहिए कि आज अन्य स्थानों पर जो हिंसात्मक क्रान्तियाँ अनिवार्य हो गयी हैं उनका यह अहिंसक विकल्प है। इस क्रान्तिकारी तीव्रता की भावना से हमें इस आन्दोलन में जुट जाना चाहिए। ●

पाठकों से

नयी तालीम का जून का अक अलग से नहीं प्रकाशित होगा, बल्कि जून और जुलाई का अक सयुक्ताक (विशेषाक) के रूप में जुलाई में अपने समय से निकलेगा।

—सम्पादक

जी नहीं लगता

●

तलत निसार अख्तर

हमारी छोटी बिटिया, दस साल की नन्ही बच्ची दिनभर में दसियो बार बुदबुदाती रहती है कि 'जी नही लगता'।

दिनभर स्कूल में रह आयी है। दिल भारी है। 'जी नही लगता'। छुट्टी का दिन है। घर में काम नही है। 'जी नही लगता।'

जाने क्या बात है? उसका कही जी नही लगता। कही आनन्द ही नही है।

यही एक लड़की नही है। बडी लडकियाँ भी यही कहती रहती हैं। बडी औरतो को भी यही हालत है। घर मे करने को बहुत काम पड़े हैं। छोटे-बड़े बच्चों से घर भरा है, लेकिन उनका 'जी नही लगता'।

स्त्रियाँ ही नही, पुरुषों का भी 'जी नही लगता'। आफिस में काम करनेवालो को लगता है कि वे कोल्हू के बैल हैं। उन्हें काम का बोझ लगता है। आफिस के काम में 'जी नही लगता'। घर मे फुरसत है, इसीलिए 'जी नहीं लगता'। कुल मिलाकर आनन्द नही।

तिसपर अकेलेपन मे तो समय बीतता ही नहीं। अकेलापन काटने को दौडता है। अकेलापन क्या हुआ, मानो जन्मगुम हो गया।

क्या बात है? ऐसा क्यो है? क्या हो गया है हमें पुराने लोग तो अकेलेपन पर मोहित थे। जगलों में जाकर तपस्या करते थे। फकीरी लिये अकेले घूमते थे।

आज भी देहातो में, दूर-दूर के खेतो मे किसान अकेले अकेले दिनभर मेहनत करते रहते हैं। उनको बुरा नही लगता।

लगता है, हमारे जीवन का कोई तार टूट गया है, कोई ताल छूट गया है।

आम जीवन तो बहुत-कुछ कोल्हू की तरह हो गया है। वही वही काम। वही वही चक्कर काटना। दिन निकला कि फिर वही, वही।

रोज नयी सृष्टि देखने की शक्ति खत्म हो गयी है। नयी रचना करने की ताकत मिट गयी है। सब नीरस है। कुछ अच्छा नही लगता। कही जी नही लगता।

यह नीरसता मिटाने के लिए, इस जडता से बचने के लिए, इस भार से मुक्त होने के लिए हम दस-बीस साथियो का समूह खोजते हैं। भीड में खो जाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ न सूझा, तो बाजार में मटरगश्ती करने लगते है। सडक पर आने जानेवाले को देखते खडे होते हैं। बाग-बगीचो में टहलने जाते हैं।

हमारे लिए हमारा ही दिल बोझ बना है। मन खाली है तो वक्त काटने के हर तरह के जरिये आजमाते हैं। ताश खेलते हैं। सिनेमा देखते हैं। रेडियो सुनते हैं। सस्कारहीन हैं, तो देसी शराब पीते हैं। पूरे शहरी हैं, तो विलायती शराब उँडेल लेते हैं।

ताश खेलते हैं, मनोविनोद के लिए नही, समय बिताने के लिए। सिनेमा देखते हैं कला का आनन्द लेने के लिए नहीं, मन की ऊब मिटाने के लिए। शराब पीते हैं, पेट भरने के लिए नहीं, मन का बोझ हलका करने के लिए।

जीवन की कुजी कही खो गयी है। जीवन का स्वर हाथ नही आ रहा है। माधुरी गायब हो गयी है। कही कोई गाँठ पड गयी है।

हमारे अब्बाजान दिनभर में ५-५, ६-६ बार नमाज पढते थे। मसजिद मे घण्टा तनहाई में बैठे रहते थे। पढते थे। गाते थे। कोई एक दिन नही, दो दिन नही,

जबतक जिये, तबतक, अपनी जिन्दगी के अस्सी साल, लगातार यह सिलसिला जारी था। इसमें कभी खलल न पड़ा। उनका दिल तनहाई से ऊबा नहीं।

अक्सर जब भी मसजिद से वे बाहर निकलते, तब उनके चेहरे की रौनक देखने के काबिल होती थी। चेहरे पर आनन्द और शान्ति का साम्राज्य होता था।

हमारे अवाजान के दोस्त पण्डितजी का भी हमने यही हाल देखा था। नदी पर सन्ध्या करके घर लौटते तो लगता प्रशान्त अग्नि प्रज्वलित है प्रदीप्त है। चेहरे पर अपूर्व समाधान लहराता था।

उन लोगों को उनका जीवन कभी बुरा नहीं लगा था। एक भी दिन ऐसा न हुआ, जब उन्होंने कहा हो कि जी नहीं लगता।' जिन्दगी भर देहात में रहे। उनके आनन्द में कभी कोई कमी नहीं आयी। हम बार-बार आग्रह करते रहे कि शहर चलें। वे, लेकिन नहीं आये। जबतक जिये, देहात में ही जिये आनन्द से जिये।

हमें वह सब नहीं रहा है। शहर में हजारों की भीड़ में रहते हैं, तब भी हमारा जी नहीं लगता। दिल ऊबता है।

किसीने कहा—'एकाकी न रमते'। अकेले जीवन में रस नहीं है।

शुरू-शुरू में एकान्त में आनन्द नहीं, फिर लोकान्त (भीड़) में भी आनन्द नहीं।

यह आनन्द कैसे मिले ?

यह आनन्द तभी सम्भव है जब हम खुद अपना साथी बनते हैं, खुद अपना दोस्त बनते हैं, यानी खुद हमें दो बनना होगा, फिर दो का एक बनना होगा।

हमें खुद अपना साक्षी बनना होगा। हमें खुद अपना *विषय (आब्जेक्ट) बनना होगा। हमें अपने से इतना* अलग होना होगा कि हमारा ही काम हमें अच्छा लगने लगे, आनन्ददायी होने लगे।

ताश में 'पेशन्स प्ले' होता है। अकेले खलते हैं। खेलनेवाले भी हम, खेल का आनन्द लेनेवाले भी हम। हार-जीत का सवाल ही नहीं। सामने कोई दूसरा हो, तब न ? इसमें तो खेल में ही आनन्द है।

हमारे जीवन में भी ऐसा आनन्द आना चाहिए। कुछ भी हो सकती है। आज हो सकती है, कल नहीं भी हो सकती है। यह खास बात नहीं है।

जीना ही आनन्द होना चाहिए। जीना खेल बनना चाहिए। लीला बनना चाहिए।

क्या कवि कवित्व से कभी ऊबेगा ? क्या चित्रकलाकार चित्रकारी से कभी ऊबेगा ? क्या गवैया संगीत से कभी ऊबेगा ? क्या शिल्पकार शिल्प से कभी ऊबेगा ?

उनको उसमें अपार आनन्द मिलता है। अमित शान्ति मिलती है। वे चाहें तो शाश्वत अलौकिक आनन्द भी पा सकते हैं।

हमारा तो जीवन ही हमारा काम है। फिर जीवन से हमें ऊब क्यों ? पेड़ पौधे देखिये। नया पत्ता निकलता है। फूल खिलते हैं। फल फलते हैं। फिर पत्ते झड़ते हैं। फूल मुरझाते हैं। फल सड़कर गिरते हैं। फिर भी वे ऊबते नहीं। फिर फिर पल्लवित होते हैं। फिर फिर पुष्पित होते हैं। फिर फिर फलते हैं। नया रंग लाते हैं। नया उल्लास भरते हैं।

यह निर्व्याज आनन्द, यह अहेतुक माधुर्य, यह अनूठा रसानन्द हमें अपने जीवन से मिलना चाहिए, इसका मार्ग है साहित्य, काव्यकला।

मोट चलानेवाला किसान कुछ तो अलाप निकालता ही है। ढोर चरानेवाला किशोर कुछ तो बाँसुरी बजा ही लेता है। गाड़ी हाँकनेवाला देहाती कुछ तो तान छेड़ता ही है। चक्की चलानेवाली बहन कुछ तो गाती ही है।

कई घरों में हर क्रिया के साथ कुछ गीत, कुछ श्लोक, कुछ स्तोत्र चलते ही हैं। बुहारते समय, आँगन लीपते समय, स्नान करते समय, कपड़ा धोते समय, रसोई पकाते समय—मतलब कि जीवन की हर क्रिया के साथ काव्य और कला का साथ होता ही है। ये सब जीवन के *संगी बनते हैं। अटूट अंग बनते हैं।* गाकर, सुनकर, सुनाकर हम अपने जीवन को मधुर बना लेते हैं, जीवन की ऊब मिटा लेते हैं। जिन्दगी में जी लगने लगता है।

शायद यही वजह है कि बचपन में गीत, शेर, पद्य, श्लोक, स्तोत्र आदि सिखाया जाता था। बड़ी बढ़ियाँ बहू-बेटियों को सिखाती थीं। बड़े-बुजुर्ग बच्चों को सिखाते थे।

ये गीत, ये काव्य काम को सरल बनाते थे। ये श्लोक जीवन को सरस बनाते थे। ये पद्य जीवन को सहज

बनाते थे। ये दौर जिन्दगी को रंगीन बनाते थे। मधुर संगीत से पशु-पक्षी भी मस्त हो उठते हैं। हमारा किसान जानता है कि गाड़ी के बैल के गले में घण्टी बांधने से बैल कम थकते हैं, दूर का सफर आसान होता है। हमारे ग्वाले जानते हैं कि गाय भैंस के गले में घण्टी रहने पर दूध ज्यादा मिलता है।

सारांश यह कि हमें भीड़ में खोने की आदत से बाज आना चाहिए। अपने जीवन का रस लेने की कोशिश करनी चाहिए। इसके लिए एकान्तप्रियता बढ़ानी चाहिए।

एकान्त में एकाग्रता सधती है, ध्यान सधता है। एकान्त के बिना सत्य का सकृत दर्शन भी असम्भव है।

एकान्त के एकाग्र चिन्तन में, तपस्या में, सत्य का दर्शन पाकर, उसे धरती पर लानेवाले, उसमें रस-भाव की पुष्टि करनेवाले हमारे पूर्वज थे, कवि थे।

इसी एकान्त प्रेम और मौन-ध्यान की आज आवश्यकता है। इसी की अभिरुचि बढ़ाने की आवश्यकता है। जीवन पर छायी जड़ता को मिटाने के लिए इसी सहारे की आवश्यकता है।

इसके लिए जरूरी है कि उत्तम साहित्य का परिचय बढ़े, बचपन से ही उत्कृष्ट काव्य हमारे जीवन के अंग बनें, साँस-साँस में काव्य हो, साँस-साँस में कला हो। ठेठ बचपन से ही ज्ञान-विज्ञान के मोह में पड़कर काव्य साहित्य के रसानन्द से वंचित न रह जायें। बच्चों की नैसर्गिक सृजनात्मकता का मावक्षेत्र खोल देना चाहिए। तभी जड़ता मिटेगी। जीवन में जी लगेगा।

बड़ा का बच्चा के अस्तित्व का भान होना चाहिए। अपने जीवन का आनन्द उन्हें देने की तीव्रता होनी चाहिए। उनका जीवनरस सूखने न देने की ममता होनी चाहिए।

अभी समय बीत नहीं गया है। पुराने सुन्दर संस्कारों में पले लोगों का अस्तित्व मिट नहीं गया है। उन पुराने लोगों को चाहिए कि नयी पीढ़ी को कुम्हलाने से बचायें, उसमें आनन्द का स्रोत रुकने न दें।

बच्चे तो बच्चे ही हैं। बड़े जैसे होते हैं, वैसे ही बच्चे बनते हैं। बच्चे यदि कहें—'जी नहीं लगता', तो बड़ा को लगना चाहिए कि यह सतरे की घण्टी है।

●

प्लेटफार्म नं० ३

●

इटारसी जंकशन पर जी टी एक्सप्रेस की प्रतीक्षा करनेवाले हम-जैसों की अच्छी खासी भीड़ है। सिगनल डाउन हो चुका है। प्लेटफार्म के इस छोर से उस छोर तक लोग उचक उचककर उधर देख रहे हैं, एक अजीब बेसब्री के साथ।

और आखिर विशालकाय इंजिन, अपने साथ यात्री-डब्बों की एक लम्बी कतार लिये हुए प्लेटफार्म पर दाखिल हो जाता है। दौड़ धूप चिल्लपों से सारा स्टेशन अत्यन्त व्यस्त हो उठता है।

गाड़ी में बेहद भीड़ है अन्दर बैठे हुए यात्री बाहरवालों को अन्दर घुसने नहीं दे रहे हैं, हर तीसरे दर्जे के साधारण डब्बे की खिड़कियों और दरवाजों के सामने द्वन्द्व-युद्ध चल रहा है।

'सरदारजी, मुझे चार सीटें चाहिए, मिल सकेंगी ?'

'डे कम स्लीपर' के सामने खडे कण्डक्टर—सरदारजी, से मैं पूछ रहा हूँ।

'कहां जाना है ?'

'वर्धा।'

'आ जाओ।'

मेरी खुशी का ठिकाना नही ! जी टी में इतनी आसानी से जगह मिल गयी, वह भी छुट्टियों के मौसम में, यह क्या मामूली बात है ?

श्रीमतीजी, बरखुरदार और अपने एक अजीज दोस्त के साथ मैं डब्बे में घुसता हूँ। सरदारजी बडे आदर और प्रेम से हमें सीट का नम्बर बता देते हैं। हमारा सामान ठीक से रखा जा रहा है। सरदारजी मुझे एक कोने में ले जाकर समझाते हैं—

"इटारसी से चार सीटों का 'कोटा' था, चारों की चारों मैंने तुम्हें दे दी, कई माँगनेवाले थे, किसी को भी नही दिया।"

"बडी मेहरबानी की आपने सरदारजी, बहुत बहुत शुक्रिया।' मेरा दिल कृतज्ञता से भर आता है।

सरदारजी कहते हैं—' चलो जल्दी करो ! '

'चलिये' सरदारजी के साथ मैं डब्बे से बाहर आकर अपने चार टिकट और आरक्षण के लिए पच्चीस पैसे की निश्चित दर से एक रुपया सरदार जी के हाथ में थमा देता हूँ।

"अरे यह तो दूसरे बाबू यहाँ से जायेंगे वो कर देंगे। देखो, अभी कितने लोग सीटो के लिए परेशान हैं।" और मैंने चारों की चारों तुम्हें दे दी।' सरदारजी पुन वही बात दुहराते हैं।

'क्या मतलब ? सरदारजी नही ।' मैं स्वगत् सोच रहा हूँ, तब तो शायद इस गाडी से जाना न हो सकेगा ! मैं घूस देने को नही, सरदारजी, शायद घाटे का सौदा स्वीकारने को नहीं।

'अरे भाई, क्या सोचन लगे, गाडी छूटनेवाली है चलो अन्दर चलें।'

सरदारजी के साथ डब्बे के अन्दर एक कोने में खडा हूँ। अपना आरक्षण-फार्म दिखाकर वे वही पुरानी बात दुहरा रहे हैं—'चारों सीटें तुम्हें ही दे दी, लाओ जल्दी ...।"

मेरी नसें थरथरा रही हैं, एक भले मानस अपनी उदारता की कीमत माँग रहा है, इतनी भद्रता के साथ। मेरा मन कह रहा है "यह रेल्वे कर्मचारी है। इसने अपनी ड्यूटी की है, जिसके लिए इसे तनख्वाह मिलती है।"

"तनख्वाह मिलती है तो क्या ? यह ऊपरी आमदनी ही तो मुख्य आधार है इनका यह तो युगधर्म है।"

"मैं इसका विरोध करूँगा, मैं इसे अधर्म मानता हूँ।"

'लेकिन इसने एकसाथ चारों सीटें दे दीं, नही देता तो क्या कर लेते तुम ?"

"यहीं रह जाता, पैसेंजर ट्रेन से जाता, आज न सही कल वर्धा पहुँचता।'

अब भी वही करूँगा, झगडना बेकार होगा, सभी कर्मचारी आपस में मिले होते हैं। किसी से शिकायत करने का कोई लाभ नही, कई बार अनुभव कर चुका हूँ।"

'अरे गाडी खुल रही है, जल्दी करो" सरदारजी कुछ झल्लाकर कहते हैं ..।

"बात यह है कि मैं एक शिक्षक हूँ। सत्याग्रह करके अंग्रेजी राज में जेल की सजा काट चुका हूँ। बडी भक्ति के भाव दिल में लिये बापू की कुटिया का दर्शन करने जा रहा हूँ सरदारजी। मुझसे यह लेना-देना नहीं होगा, आपकी मदद चाहता था, जो आपने दी, इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। वैसे आप चाहेंगे तो हम उतर जायेंगे।'

"कोई बात नही, कोई बात नही।" सरदारजी हल्के-हल्के मेरी पीठ थपथपाकर उतर जाते हैं। गाडी आगे सरक रही है। डब्बे के दरवाजे पर हैण्डिल पकड खडा-खडा मैं छूट रहे इटारसी जंक्शन के प्लेटफार्म नं० ३ की ओर देख रहा हूँ। सोच रहा हूँ, अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या के अनुसार क्या मैंने समाज के रग रग में व्याप्त भ्रष्टाचार का प्रतिकार किया, प्रतिरोध किया या कुछ भी नही किया ? किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन हो रहा है, लेकिन काफी पीछे छूट गये सरदारजी के हाथ की थपकी अपनी पीठ पर अब भी महसूस कर रहा हूँ। उनकी आवाज अब भी कानों में गूँज रही है। प्लेट फार्म नं० ३ आँखों के सामने नाच रहा है—सत्य उसका आग्रह उसकी प्रतिक्रिया अन्तर में अनायास कुछ उमडा आ रहा है ..

—रामचन्द्र 'राही'

हनुमानगंज-सर्वोदय-सम्मेलन का निवेदन

•

रॉबिन स्मिथ

सोलहवाँ अ० भा० सर्वोदय सम्मेलन १५ से १७ अप्रैल तक हनुमानगज मे हुआ। सम्मेलन के अध्यक्ष श्री एस. जगन्नाथन् को उनके तमिलनाड के सफल सत्याग्रह के नेतृत्व के लिए हनुमान की उपाधि दी गयी। स्वय जगन्नाथन्जी ने भी एक बार अपने को 'बाबा का हनुमान' कहा था।

हनुमान सिर्फ बन्दर नही, बल्कि पराक्रम, पुरुषार्थ और सरल सेवक-भावना के प्रतीक माने जाते है। हनुमानगज के सर्वोदय सम्मेलन में उपस्थित सर्वोदय-सेवको के समुदाय ने अपनी वार्ता और सकल्पो के द्वारा वस्तुत हनुमान के पराक्रम और पुरुषार्थ का नमूना प्रस्तुत किया। सन ६६ के दिसम्बर तक ५० हजार ग्रामदान प्राप्त करने की सकल्प-पूर्ति अपने आप में एक हनुमान-कूद की ही मिसाल होगी।

हनुमानगज के सर्वोदय-सम्मेलन में विनोबाजी आयेंगे, इस आशा पर बलिया की आम जनता मे बडा उत्साह देखा गया। ग्रामीण और नगर क्षेत्र के घर-घर मे ग्रामदान और सर्वोदय-आन्दोलन की आवाज पहुँची। लोगो ने हार्दिक सहयोग और साधन-सहायता दी। सम्मेलन तक २० ग्रामदान भी मिले।

इतना सब हुआ, लेकिन सम्मेलन के समाप्त होने पर बलियावासियो का मन खिलने के बाद कुछ मुरझाया-सा प्रतीत हुआ। पहला कारण था सम्मेलन में बाबा के न आने का निर्णय और दूसरा था सम्मेलन की स्थानीय जनता पर छाप। सम्मेलन की तैयारी मे सरकारी विभागो से सामयिक और सामजस्यपूर्ण सहयोग मिला, प्रदेश के रचनात्मक कार्यकर्ता और सस्थाओ ने सम्मेलन की सक्षम व्यवस्था खडी की और सम्मेलन की चर्चाएँ भी पर्याप्त प्रेरक-उद्बोधक रही। बलिया के लोगो के लिए सम्मेलन एक ऐसा तमाशा था, जो दिलचस्प था; पर वे उसके मात्र दर्शक थे, सहभागी नही।

बलिया की खादी ग्रामोद्योग-प्रदर्शनी छोटे पैमाने पर लगी थी, पर थी वह आकर्षक। गाँव और नगर की लाखो जनता पर उसकी छाप पडी। बलिया की जनता ने शायद पहली बार भारत के विभिन्न प्रदेश की आम ग्रामीण जनता को इतनी बडी तादाद में अपने बीच देखा। लगभग ६ हजार प्रतिनिधि देश के विभिन्न भागो से आये थे। सबकी वेशभूषा, खान-पान, रूप-रग और बोलियाँ अलग-अलग थी, फिर भी सब एक ही विचार-परिवार के नाते एकत्र थे।

सम्मेलन मे जब विभिन्न प्रदेश के निवासी लडखडाती, किन्तु प्राणवान हिन्दी में अपनी बाते कहते थे, उस समय बलिया की जनता की आँखे कौतुक से चमक उठती थी।

निवेदन : सम्मेलन का शीर्ष बिन्दु

सम्मेलन के निवेदन मे उन सभी प्रश्नो और पहलुओ का समावेश करने का प्रयास किया जाता है, जिनके प्रति उपस्थित प्रतिनिधियो की सहमति या सर्वानुमति हो। निवेदन का प्रारूप पहले सर्व-सेवा-सघ के अधिवेशन मे पेश किया गया। सदस्यो ने उस पर अपनी-अपनी राय प्रकट की। लोगो के विचार और भावना को देखते

हुए प्रारूप में आवश्यक संशोधन किये गये और अपने सुधरे हुए रूप में वह खुले सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया।

सघ अधिवेशन में सर्वोदय-सेवकों के एक हिस्से ने आन्दोलन में प्रतिकार को स्थान दिलाने की आवाज उठायी थी। उनका कहना था कि आज की व्यवस्था और शासन नीति में जो अनीति और अन्याय का पहलू है उसका विरोध होना ही चाहिए। बिना इस प्रकार की प्रतिकार-नीति के सर्वोदय आन्दोलन में विधायक शक्ति का आविर्भाव नहीं हो पायगा।

आचार्य राममूर्ति ने सम्मेलन में निवेदन की चर्चा करते हुए प्रतिकार-नीति की इस माँग का ओजस्वी उत्तर मुखरित किया। उन्होंने पूछा—"क्या ऐसे प्रतिकार की कल्पना की जा सकती है जिसके पहले सहकार-शक्ति की आवश्यकता न हो? फिर उन्होंने कहा—"ग्रामदान बदली हुई परिस्थिति में असहयोग का आन्दोलन नहीं, सहयोग का आन्दोलन है। सहयोग किसके साथ? पडोसी के साथ। उस सहयोग में एक शक्ति है। जब आदमी पडोसी से अलग हो गया तो उसने शक्ति खो दी। पडोसी को पहचान लिया तो उसने शान्ति की शक्ति पा ली और राज्य के आश्रय से मुक्त हो गया।"

श्री राममूर्ति ने अपने भाषण द्वारा यह स्थापना की कि अपने आप में ग्रामदान, खादी और शान्तिसेना एक जबरदस्त प्रतिकार है। एक-एक ग्रामदानी गाँव आज पूँजीवाद, राज्यवाद और सैनिकवाद द्वारा होनेवाले त्रिविध आक्रमण को रोकने का मोर्चा बन रहा है, एक स्थल बन रहा है, जहाँ विधायक सहकार शक्ति प्रकट हो रही है। 'इसमें विरोध नहीं है, बल्कि आज की सम्पूर्ण परिस्थिति से विधायक विद्रोह है। यह विरोध मुक्त विद्रोह, संघर्षमुक्त क्रान्ति की एक अभिनव प्रक्रिया है।'

हनुमान गज में घोषित सम्मेलन निवेदन के दो मुख्य भाग हैं—पहले भाग में देश की आज जो हालत है वह बतायी गयी है—

"सर्व-सेवा-संघ का यह दरतर बड़ा दुख और चिन्ता होती है कि देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही है और यहाँ के सार्वजनिक जीवन में कुछ अस्वास्थ्यकर प्रवेश कर रहे हैं। भारत एक आर्थिक मन्दी के चक्कर में फँस गया है, जिसकी वजह से उत्पादन घटा है और बेरोजगारी बढ़ी है। मुद्रा-स्फीति भी लगातार जारी है और चीजों के दाम बहुत बढ़ते जा रहे हैं। देश के बडे-बडे हिस्सों में ऐसा अकाल पडा है, जिसके कारण खाद्य की जटिल स्थिति और भी ज्यादा बिगड गयी है। परिणाम यह हुआ है कि आम आदमी के लिए जीवन बहुत कठिन हो गया है और समाज के जो पीडित तथा साधनहीन अंग हैं, उनको अकथनीय मुसीबत में से गुजरना पड रहा है। कहीं कहीं तो मुट्ठीभर मोटा-से-मोटा अनाज भी न पा सकने के कारण कुछ लोग मौत के शिकार हुए हैं।"

निवेदन में आगे कहा गया है कि सरकार ने जो अर्थनीति अपनायी वह कितनी गलत है। "संघ यह कहे बिना नहीं रह सकता कि ये चीजें आकस्मिक घटनाओं का परिणाम नहीं हैं, बल्कि उन गलत नीतियों और योजनाओं का इकट्ठा नतीजा हैं, जिनकी मूल कल्पना ही दोषयुक्त थी और वर्षों से जिनके खिलाफ बार-बार चेतावनी और सावधानी कराने के बावजूद जिनपर अमल किया जाता रहा है। विशेष दुख की बात यह है कि गाँवों के हितों को बुरी तरह नजर-अन्दाज किया गया है। इसका अन्न-उत्पादन पर बहुत हानिकारक असर पडा है और ग्रामीण की टिकने की शक्ति को इस हदतक कमजोर बना दिया है कि एक भी फसल खराब हो जाने से, उसे भुखमरी का सामना करना पडता है। शासन का जो तन्त्र है वह बिल्कुल जड और कल्पनाहीन है और आम जनता की जो माँगे हैं, उनका उसे पर्याप्त ध्यान नहीं है। विभिन्न निहित स्वार्थों को, जो देश के व्यापक हितों के लिए हानिकारक रहे हैं, नियन्त्रित करने में भी असफलता रही है।"

निवेदन के नीचे लिखे अंश में जनतन्त्र के बढते हुए खतरे का हवाला देते हुए यह बताया गया है कि सरकार की गलत नीति के, जो परिणाम पैदा हुए हैं उनको भोगनेवाली जनता ने अपना असन्तोष प्रकट करने के लिए हिंसा, उपद्रव और तोड फोड का रास्ता अपनाया। "आये दिन हिंसक विस्फोट हमारे देश के सार्वजनिक जीवन का दुखद और खतरनाक अंग बन गये हैं, लेकिन पिछले चन्द महीनों में ऐसी कोई चीज नहीं हुई है, जो

दमन करने के विशेष अधिकारों की लालसा को न्याय सगत ठहराये और इमरजेन्सी खत्म करने और डी आई आर के उपयोग को बन्द करने की उनकी अरुचि को सही करार दे सके। इसने हमारे जनतत्र के लिए खतरा खडा कर दिया है और देश में निराशा की भावना को बढाकर हिंसा की प्रवृत्ति को उत्तेजित ही किया है।"

निवेदन में सघ ने जनता से अपील की है कि वह अपने असन्तोष को व्यक्त करने के लिए हिंसात्मक और निष्फल ढग से प्रदर्शन करना बन्द करे और जो कुछ करे वह खालिस शान्तिमय उपायो से ही करे क्योकि वे सदा ज्यादा प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। *राज्य-शक्ति* के बजाय लोकशक्ति पर जोर देने की अपनी श्रद्धा का भी सघ निवेदन में उल्लेख किया गया है।

सर्वोदय आन्दोलन यह इनकार नही करता कि राज्य के प्रयोग का महत्व है लेकिन उसकी श्रद्धा हमेशा से *लोकशक्ति यानी लोगो के चेतनशील सगठित* और उद्देश्ययुक्त अभिक्रम म रही है। इस श्रद्धा के साथ सर्वोदय-आन्दोलन विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियो को कमोबेश सफलता के साथ अमल में उतारता रहा है और उसके पीछे उद्देश्य यही रहा कि जनता का अभिक्रम जागृत हो।"

निवेदन में सघ ने यह आशा प्रकट की है कि 'यह वर्तमान सकट हमारे नीति निर्माताओ और योजको की आखें खोल देगा और अब उनका आग्रह बदलेगा। अब तक औद्योगीकरण की जो नीति बरती गयी है उसमे छोटे और मध्यम पैमाने के उद्योगो को दबाकर बडे पैमाने वाले *पूंजी प्रधान उद्योगो पर जोर दिया गया है* जो विदेशी सहायता पर बहुत निर्भर रहे हैं। इस नीति ने देश के मनोबल को कमजोर बनाया है। अब समय आ गया है कि इस नीति में परिवतन हो।

निवेदन के अन्तिम भाग में यह विश्वास प्रकट किया गया है कि आन्दोलन को इतना गतिवान बनाया जा सकता है कि इस साल के अन्त तक कम-से-कम पचास हजार गाँव और कई सौ ब्लाक ग्रामदान में प्राप्त हो जायें। *उससे देशभर म शान्तिमय क्रान्ति को चालना* मिलेगी और लोगो म इतनी ताकत आयगी कि वे राज्य की नीति और योजनाओ का रग बदल सकें।'

•

साल भर में पचास हजार ग्रामदान और प्रखण्ड-के-प्रखण्ड प्राप्त हो, तो भारत मे सत्ता के बाहर की जनता की अपनी शक्ति ऐसी खडी हो सकती है कि जिसके आधार पर हम आगे बढ सकते हैं। बहुत से लोग पूछते हैं कि पन्द्रह साल हुए, अब एक साल में क्या होगा ? मैं कहता हूँ अभी तो आन्दोलन में लोगो को उत्साह आया है। बीच में उत्साह नही था। तब लोग कहते थे कि अभी उत्साह नही रहा, आन्दोलन नीचे गिर रहा है तो मैं कहता था कि मुझे निरुत्साह का दर्शन नही है, उत्साह का ही दर्शन है।

आज आन्दोलन के लिए लोगो के दिल में आशा पैदा हुई है और मुझे विश्वास है कि पूरी ताकत लगायी जाय और पूर्ण नम्रता से तथा निरहकार बुद्धि से हम काम करें तो परमात्मा की कृपा से महात्मा जो चाहते थे, उसका दर्शन दुनिया को होगा।

—विनोबा

आजादी की मंजिलें

स्ट्राइड टुवार्ड फ्रीडम का अनुवाद

लेखक . मार्टिन लूथर किंग

अनुवादक सतीशकुमार

प्रकाशक सर्व-सेवा-संघ वाराणसी

अमेरिका का नीग्रो-आन्दोलन पाठकों के लिए परिचित हो गया है। मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में चल रहा वह आन्दोलन काफी हद तक सफल हुआ है। किंग ने नीग्रो-समाज के प्रति हो रहे अन्याय को बरदाश्त नही किया। वे इस अन्याय से मुक्त होने के लिए चिन्तित थे। उनके मन में अन्याय के प्रति विद्रोह जागृत हुआ। ईसामसीह और गांधीजी के सिद्धान्तो का प्रभाव उनपर पड़ा। इससे उन्होने प्रेरणा पायी। गांधीजी की प्रति-
.. पद्धति को उन्होने पूर्ण रूप से अपनाया। श्री किंग ने थोरो के सविनय अवज्ञा (सिविल डिसओबेडियन्स) –सम्बन्धी लेख पर विचार किया और कहा कि गोरे समाज को हम यह सीधी सी बात कहने जा रहे हैं—"अब इस अन्यायपूर्ण परम्परा के साथ हम सहयोग नही करेंगे।"

सबसे पहले उन्होंने 'बस-बहिष्कार'-आन्दोलन का आवाहन किया। जबतक बसों में बैठने के लिए समान अधिकार नही मिलते या उनकी माँग स्वीकार नही की जाती, वे बसों में नही चढेंगे। किंग स्वयं लिखते हैं—"मैं इसकी सफलता के सम्बन्ध में शंकालु था, बावजूद इसके बस-बहिष्कार की खबर आश्चर्यजनक रूप से सब जगह फैल चुकी थी। सभी पादरियों ने इस योजना को हार्दिक समर्थन दिया था। मै यही सोच रहा था कि क्या वास्तव में लोगो में इतना साहस होगा ?"

बस बहिष्कार आन्दोलन के पहले दिन ही आशातीत सफलता मिली। जहाँ साठ प्रतिशत सफलता की आशा थी वहाँ पूर्ण सफलता मिली। सब के सब नीग्रो लोग अपने-अपने कामों पर या तो पैदल गये या आन्दोलन की तरफ से सयोजित की गयी सवारियों से। टैक्सी-ड्राइवरों या कार के मालिकों ने मुफ्त सेवा दी या बस-जितना ही पैसा लेकर नीग्रो लोगों को उनके काम पर पहुँचाने तथा लाने का काम किया। बसें सप्ताहों खाली चलती रहीं।

इसका भय बराबर बना रहता था कि कब नीग्रो-समुदाय का साहस ढीला पड जाय और बस-बहिष्कार-आन्दोलन वापस हो जाय, परन्तु ऐसी नौबत नही आने पायी। अन्त-अन्त तक नीग्रो समाज ने नेताओं का साथ दिया।

एक सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए श्री मार्टिन लूथर किंग ने कहा—"जिन्होंने हमारे साथ लम्बे समय से दुर्व्यवहार किये है, उन लोगो से यह कहने के लिए हम इकट्ठे हुए हैं कि अब हम थक चुके है। हम रंग के कारण होनेवाले भेदभाव तथा निर्दयता से थक चुके है।···हमारे सामने इस अत्याचार का विरोध करने के अलावा कोई विकल्प नही है।···हमारे तरीके हृदयपरिवर्तन के होंगे, न कि भय पैदा करने के।··· अगर आप साहस के साथ, किन्तु प्रतिष्ठा और प्रेमभरे हृदय से आन्दोलन करेंगे तो इतिहास की किताबों में आनेवाली पीढ़ियों के इतिहासकारों को लिखना पड़ेगा

कि उस युग में ऐसे महान काले लोग हुए, जिन्होंने उस युग में चलनेवाली सभ्यता की धमनियों में एक नया जीवन और नयी प्रतिष्ठा भर दी।"

अहिंसा पर दृढ़ता के कई उदाहरण मौके मौके पर किंग ने प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं—"हमारे शहर में असली तनाव गोरे और काले के बीच का नहीं है, बल्कि न्याय और अन्याय के बीच है। प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों के बीच है। अगर हम कोई विजय प्राप्त होती है तो वह केवल पचास हजार नीग्रो लोगों की विजय नहीं होगी, बल्कि वह न्याय और प्रकाश की शक्तियों की विजय होगी। हमें अन्याय को हराना है, न कि अन्यायलिप्त श्वेतांगों को।"

ऊपर किंग के विचार का जो अंश प्रस्तुत किया है उससे मालूम हो जायगा कि नीग्रो-आन्दोलन का आधार-तत्त्व क्या है। मानव में कटुता का भाव कहीं भी नहीं आया है। प्रतिकार करना है अन्याय का श्वेतांग का नहीं, जो अत्याचार कर रहे हैं। अत्याचारी के हृदय-परिवर्तन पर विश्वास है। प्रतिपक्षी बुरा करता है तो उसका बदला बुरा नहीं, भला हो, घृणा करता है तो बदले में उसे घृणा नहीं, प्यार दें। कहते हैं—'वे सभी, जो अपने हाथों में तलवार उठायेंगे, तलवार के द्वारा ही नष्ट हो जायेंगे।"

मार्टिन लूथर किंग के घर पर बम फेंका जाता है तब भी वे विचलित नहीं होते हैं। जब इसका बदला लेने के लिए नीग्रो समुदाय की क्रुद्ध भीड़ इकट्ठी है तो उसको समझा रहे हैं—"अब हमें किसी भी तरह सत्रस्त होने की जरूरत नहीं है। अगर आपके पास शस्त्र हैं तो आप उन्हें घर वापस ले जाइए। अगर आपके पास शस्त्र नहीं हैं तो कृपया उन्हें प्राप्त करने की कोशिश मत कीजिए। हिंसा के बदले हिंसा करके हम इस समस्या का हल नहीं कर सकते। हम हिंसा का जवाब अहिंसा से दें। हमें अपने श्वेत भाइयों से प्रेम करना चाहिए, भले ही वे हमारे साथ कैसा भी व्यवहार क्यों न करें। गोरे लोगों को हम बता दें कि हम उनसे प्रेम करते हैं।"

मूलतः भारतीय होने के कारण मार्टिन लूथर किंग के आन्दोलन ने भले ही आश्चर्य में नहीं डाला, फिर भी इसकी प्रतीति हुए बिना नहीं रही कि अन्याय और अत्याचार से मुक्ति के लिए एक ही मार्ग रह गया है—अहिंसा। भारतभूमि पर एक प्रयोग गांधी ने किया और सफलता प्राप्त की और दूसरा प्रयोग अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग ने किया और सफलता की मंजिल पर पहुँच रहे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्री किंग ने अपनी पुस्तक में नीग्रो-आन्दोलन के अनुभवों को ज्यों के त्यों रख दिया है। यह पुस्तक शान्ति-आन्दोलन में प्रवृत्त लोगों के लिए प्रेरणादायी तो होगी ही, उन सबके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी जो अन्याय के खिलाफ संघर्षरत हैं।

इस पुस्तक की भाषा रोचक और सरल है तथा शैली में प्रवाह है। इसके लिए अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

—कृष्णकुमार

तमिल स्वयं शिक्षा

प्रकाशक शंकरन्, सेवाग्राम विद्यापीठ, सेवाग्राम।

शंकरन्‌जी की तमिल स्वयं शिक्षा तमिल का अध्ययन करनेवालों के लिए प्रारम्भिक रूप में बहुत सहायक होगी। अभी भारतभर में भारत की भाषाएँ सीखने का एक विशाल प्रयत्न होना अत्यधिक आवश्यक है। भारतीय भाषाएँ सीखने के लिए अंग्रेजी में प्रचुर मात्रा में साहित्य उपलब्ध है। हिन्दी में उसे तैयार करने का प्रयत्न अभी अभी हो रहा है। दक्षिण की भाषाएँ सीखने के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने कुछ पुस्तकें लिखी हैं, लेकिन वे पर्याप्त नहीं हैं और प्रयत्न होना आवश्यक है। शंकरन्‌जी ने 'तमिल स्वयं शिक्षा' प्रकाशितकर एक उपयुक्त कार्य किया है। पुस्तक में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के भिन्न भिन्न रूप देकर विद्यार्थी का प्रवेश भाषा में कराया है। पाठों में दिये हुए वाक्य रोजमर्रा के बोलचाल के हैं। अच्छा होता, यदि इस पुस्तक में तमिल लिपि का थोड़ा-सा परिचय दे दिया जाता, ताकि इस पुस्तक को पढ़कर लिपि के साथ सीधा तमिल भाषा में विद्यार्थी का प्रवेश हो जाता। यह पहला प्रयत्न है। सुधार की काफी गुंजाइश है। अगले संस्करण में सुधार होगा, यह स्पष्ट है। ●

—हरिहरन

अनुक्रम

●

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४वी तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहकसंख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती है।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से भार्गव भूषणप्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

महादेवभाई की डायरी

हिन्दी भाषा का महत्वपूर्ण प्रकाशन

२ अक्टूबर १९६९—गांधी शत-संवत्सरी तक

२५ वर्षों की डायरियो के

२० खण्डो के प्रकाशन की बृहत् योजना

महादेवभाई सन् १९१७ में गाधीजी के पास आये और १५ अगस्त १९४२ को उन्होंने शरीर छोड़ा। इन २५ वर्षो का उनका हर क्षण और हर कार्य गाधीजी तथा गाधीजी की प्रवृत्तियो को ही समर्पित रहा।

२५ वर्षो की ये डायरियाँ २० खण्डो मे प्रकाशित करने की योजना है। प्रत्येक खण्ड डिमाई आकार के ४०० पृष्ठो का होगा। पक्की जिल्द, नयनाभिराम चौरंगा कवर।

मूल्य—प्रत्येक खण्ड का रु० ६-०० । डाक खर्च २-०० । अभी-अभी तीसरा खण्ड प्रकाशित हुआ है और चौथा खण्ड प्रेस में है। खण्ड एक और दो पुन प्रकाशित हो रहे है।

अग्रिम ग्राहको को भारी रिआयत

एक मुश्त १००) जमा करानेवालो को पूरे खण्ड बिना किसी खर्च के प्रकाशित होते ही भेजे जाते रहेगे।

प्रारम्भ म २५) जमा करानेवालो को प्रत्येक खण्ड ४) की वी. पी. द्वारा भेजा जाता रहेगा।

इस तरह १६०) का यह राष्ट्रीय जागरण का जीवन्त इतिहास केवल १००) में घर बैठे प्राप्त कीजिये।

यह साहित्य घर की ही नहीं, राष्ट्र की शोभा है।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन • राजघाट, वाराणसी-१

नयी तालीम, मई '६६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल, १७२३

खा = गाआ + ना = गाआना

घने बागों की एक आकर्षक पहाड़ी ढलान पर बसे इस नर्सिंग होम में दाखिल हुआ तो केले की लहराती पत्तियों, नारियल और सुपारी के झूमते पेड़ों की गुंजन ने बताया, "हमसे ही तो बनता है यह केरल'।

बरामदे में दो अबोध बालाएँ खड़ी थीं। उत्साहभरे दिल से कहा, 'हल्लो।' उनकी पलकें उठीं क्षणभर निहारा और भाग गयीं। नहा-धोकर बाहर आया तो देखा, वे दोनों बहनें बरामदे में बैठी गोल-गोल-सी लुढ़कती आवाज में बातें कर रही हैं। मुझे देखते ही बड़ी ने पुराने हिन्दी अखबार के पन्ने दिखाते हुए कहा, 'हिन्डी'। मैंने कहा, हां, हिन्दी'। कुछ क्षण हम एक दूसरे को देखते-मुस्कराते रहे। आँखों ने आँखों की भाषा समझी। मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा—'खा'। उन्होंने पढ़ा—गाआ'। इस प्रकार वर्ग शुरू हुआ और पूरे दो माह चला।

दो महीने बाद जब वापस लौटने के लिए गाड़ी में बैठा तो बरामदे में खड़ी उनकी डबडबाई आँखों जुड़ी हथेलियों और काँपती आवाज—'न म स्ते' ने क्षणभर रोक लिया। भावात्मक एकता की प्रतीक आठ और दस साल की इन तमिल-भाषी अबोध बालाओं ने यहां के सूनेपन को अपनी मूक अभिव्यक्तियों से भर रखा था। काश, हमारे नेता भी भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम ही रहने देते, उसे राजनीति का गधा नहीं बनाते।

—रामचन्द्र 'राही'

आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २३,५००, इस मास छपी प्रतियाँ २३५००

प्रकृति—प्रकृति की परिवर्तनशीलता और गतिशीलता उसके अपने रहस्यो, शक्तियों एवं उपलब्धियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इससे पैदा हुई जिज्ञासा के आधार पर ज्ञान विज्ञान का अर्जन होगा। प्रकृति प्रथम माध्यम है नयी तालीम का।

उत्पादन प्रक्रिया—मनुष्य की कुछ अनिवार्य बुनियादी आवश्यकताएं हैं भोजन, वस्त्र, आवास आदि की। प्रकृति के उपलब्ध साधनों को अपने पुरुषार्थ का योग देकर उन आवश्यकताओ की पूर्ति करनी होगी। उत्पादन की प्रक्रिया द्वितीय माध्यम है नयी तालीम का।

समाज—व्यक्ति अपने आप तक सीमित नहीं रहता। जीवन विकास के साथ सम्बन्धों का प्रसार होता है, जिसे हम समाज कहते हैं। समाज की समस्याएँ जटिल हैं, जिन्हे हम दण्ड कानून की शक्ति से नहीं हल कर सकते। इन्हे शिक्षण प्रक्रिया से ही हल करना होगा। समाज तृतीय माध्यम है नयी तालीम का।

इस प्रकार नयी तालीम जीवनमय तालीम है, स्वयं जीवन की एक प्रक्रिया है; क्योंकि इसमे सारे ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र मनुष्य और समाज की समस्याएँ है। इसलिए यह मानव का मशीनीकरण करनेवाली आज की यान्त्रिक शिक्षण-प्रक्रिया नहीं; बल्कि सयुक्तिक (रेशनल) और मानवीय (ह्यूमन) व्यक्तित्व तथा समाज के निर्माण का वैज्ञानिक दर्शन है।

६ ०० वार्षिक

० ६० एक प्रति

१ ५० विशेषांक

राष्ट्रीय विकास और शिक्षा

- आजाद भारत की शिक्षा
- स्वराज्य में परावलम्बन
- शासनमुक्त लोक-शिक्षा
- राष्ट्रीय शिक्षा की नयी बुनियादें
- राष्ट्रीय विकास और सैनिक-शिक्षण
- भारतीय शिक्षा को सार्वभौमत्व की चुनौती

अगर देश में आज की राजनीति चलती रहे, अर्थनीति चलती रहे, समाजनीति चलती रहे, तो अकेली शिक्षा कुछ ज्यादा कर नहीं सकेगी। इसलिए जरूरी है कि शिक्षा केवल कार्यक्रम ही नहीं, एक ऐसी शक्ति के रूप में प्रकट हो जो समाज की विघटनकारी शक्तियों का मुकाबला कर सके। शिक्षा को वर्तमान समाज जिन बुनियादों पर चल रहा है उन्हें बदलना है और कल का समाज बनाना है।

लेकिन, इन तमाम प्रयासो का नतीजा क्या हुआ ? लोकतन्त्र की खोज करते है तो वह कही दिखाई नही देता है। एक अचेतन जन-समुदाय तन्त्र के शिकजे के नीचे दबा पडा है। वह तन्त्र-सचालक के सामने हाथ जोडता है, गिडगिडाता है, पैर पकडता है और निरन्तर उससे भयभीत रहता है। केन्द्रीय सरकार एक ओर से ऐसी जनता के पास अपने अधिकार को बाँटकर भेजने का नाटक कर रही है और दूसरी ओर से आपत्तिकाल के नाम से ऐसे कानून बनाती चली जा रही है, जिससे राजकीय कर्मचारी का एकछत्र राज्य सुरक्षित रहे। आज लोकतन्त्र के प्रश्न पर देशभर में विराट विक्षोभ दिखाई देता है। नेता, विचारक, न्यायाधीश यह कहकर असन्तोष प्रकट कर रहे है कि सरकार लोकतन्त्र का गला घोट रही है। और, लोग भी यह मान रहे है कि जो कुछ है सरकार है, वह जो करेगी वही होगा, हमारी अपनी कोई स्वतन्त्र हस्ती नही है।

१९ साल के राष्ट्र-विकास की निष्पत्ति यह हुई कि विकास योजना चलानेवाले भी कहने लगे कि कुछ हुआ नही। देश की आज की स्थिति से सरकार परेशान है, नेता परेशान है, सरकारी कर्मचारी परेशान है, शिक्षक और छात्र परेशान है और परेशान है नगर के नागरिक तथा देहात की जनता। राष्ट्र-विकास के दुष्परिणाम की पराकाष्ठा अन्न-सकट के रूप मे पूरे राष्ट्र को ग्रास करने जा रही है।

किसी राष्ट्र की विकास-योजना की प्राथमिक सफलता इस बात मे है कि मुल्क की पूरी जनता को भोजन, वस्त्र और आवास मिले। जीवन-मान को उठाना, सस्कृति का विकास करना आदि इसके बाद की चीजें है, लेकिन विकास की प्रथम आवश्यकता यानी अन्न के मामले मे हम जोरो से पराधीनता की ओर दौडते जा रहे है, फिर भी मुल्क का पेट भर नही रहा है।

भूखी जनता छटपटा रही है, विक्षोभ जाहिर कर रही है और उसके हितैषी-जन उसी के उद्धार के लिए सरकार को तग करने के लिए अनेक प्रकार के उपायो के आविष्कार करते चले जा रहे है। सरकार इन हितैषियो से तग आकर अनेक प्रकार के उद्घोष करती जा रही है, जिनमे प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी का उद्गार विशेष उल्लेखनीय है। उन्होने देश को सम्बोधित करके कहा कि केवल नारा लगाने से अनाज नही मिलेगा। उसके लिए मेहनत करनी पडेगी, काम करना पडेगा।

अब प्रश्न यह है कि यह मेहनत और काम कौन करेगा ? किसके लिए करेगा ? और क्यो करेगा ?

मुल्क की आबादी पाँच वर्गों में बँटी हुई है—नेता-वर्ग, व्यापारी-वर्ग, कर्मचारी-वर्ग, औद्योगिक मजदूर-वर्ग और ग्रामीण जनता। नेता-वर्ग जनता का भाग्य-विधाता होता है। नेता चाहे शासक दल के हो या विरोधी दल के, दोनो एक ही वर्ग के एक-

दूसरे वे पट्टीदार-मात्र हैं। भुखमरी उनकी नहीं है, वे तो नेतृत्व के अधिकार से आवश्यक सामग्री प्राप्त करेंगे ही। मुल्क में अनाज रहे या न रहे, उनके जलसे, जुलूस और दावतों में किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी। अतएव अनाज प्राप्त करने के लिए उन्हें मेहनत करने की आवश्यकता ही क्यों ? व्यापारी-वर्ग को अपनी आवश्यकता की पूर्ति में उत्पादन करने की जरूरत नहीं है। उसके पास पूंजी है और व्यापार है, महँगाई-वृद्धि के साथ-साथ उसके मुनाफा में भी वृद्धि होती रहती है। अतएव अन्न के लिए अधिक काम करके उत्पादन बढाने की फिक्र उसको नहीं है। कर्मचारी-वर्ग को अनाज प्राप्त करने के लिए अवश्य कुछ काम करना पडता है, लेकिन वह काम अन्न-उत्पादन का नहीं होता है, बल्कि अधिक अन्न-प्राप्ति के लिए सरकार पर दबाव डालने का होता है। औद्योगिक श्रमिक भी उसी प्रक्रिया से अनाज प्राप्त करने की कोशिश करते है, जिस प्रक्रिया से कर्मचारी प्राप्त करते हैं। फर्क इतना ही है कि कर्मचारी-वर्ग—सरकार चलाने के खास औजार होने के कारण—की सुनवाई जल्दी होती है। बाकी सारी जनता, जिसकी आबादी मुल्क की पूरी जनसख्या के करीब ८० प्रतिशत होगी, सदियों की गुलामी और शोषण के फलस्वरूप निस्तेज और अचेतन है। और, वर्तमान समाज की विडम्बना यह है कि अन्न-उत्पादन की जिम्मेदारी इसी वर्ग पर है।

प्रधानमत्री ने जिनको सम्बोधन करके यह कहा है कि नारो से अन्न नहीं मिलेगा, उसके लिए काम करना होगा, वे उस वर्ग के सदस्य नहीं हैं, जो अन्न पैदा करते हैं। क्योकि नारा लगानेवाले नेता, व्यापारी, कर्मचारी या औद्योगिक मजदूर होते हैं। अचेतन जनता इतनी बेहोश है, और उपर्युक्त चतुर वर्ग-द्वारा इस कदर शोषित और निर्दलित है कि उसमे नारा लगाने की शक्ति ही नहीं रह गयी है। अतएव नारा के बदले 'काम करो' कहने पर भी अन्न नहीं मिलेगा। इसके लिए देश के नेताओं को इस प्रश्न पर बुनियादी तौर से सोचना होगा।

राष्ट्र-विकास के शास्त्र में एक शब्द का इस्तेमाल बहुत होता है, वह है 'फेल्ट नीड' (अनुभूत आवश्यकता)। विकास की सारी इमारत इसी फेल्ट नीड पर खडी की जाय, ऐसा समाज-शास्त्री कहते हैं। अत जनता की फेल्ट नीड क्या है, पहले इसकी खोज होनी चाहिए। क्या राष्ट्र-विकास उसकी फेल्ट नीड है ? जन-सम्पर्क में रहनेवाले सभी इस बात पर एकमत होगे कि ऐसा नहीं है, न होना स्वाभाविक है, क्योकि उसमें चेतना नहीं रह गयी है। लेकिन क्या यह सही है कि उसकी फेल्ट नीड कुछ नहीं है ? कुछ तो है ही। जब उसको भूख लगती है तो खाना उसके लिए फेल्ट-नीड है। उसी तरह नींद लगने पर सोना, डर लगने पर भागना आदि आवश्यकताएँ उसकी होती हैं। फिर एक पशु की फेल्ट नीड और इस देश की जनता की फेल्ट नीड में फर्क क्या है ? कहते हैं—'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' की चेतना मनुष्य और पशु

में समान होती है। मनुष्य और पशु में फर्क इतना ही है कि मनुष्य में विकास की चेतना है, जो पशु मे नही है। और, यह चेतना इस देश की जनता में नही है, यह स्पष्ट दीखता है। यही कारण है कि सामुदायिक विकास के विशेषज्ञ का कहना है कि सामुदायिक विकास का प्रारम्भ तभी हो सकेगा, जब ग्रामीण जनता 'डेवलपमेण्ट माइण्डेड' हो।

अब प्रश्न यह है कि जनता डेवलपमेण्ट माइण्डेड कैसे हो और उसका माध्यम क्या हो? कोई भी समाज-शास्त्री यह कह सकता है कि मानस-निर्माण का एकमात्र माध्यम शिक्षा है, लेकिन हमारे देश में, जो शिक्षा चल रही है उसके द्वारा आवश्यक लोकमानस तैयार हो सकता है क्या? लोकमानस तो तब बने जब शिक्षा और लोक का कोई सम्बन्ध हो या लोकशिक्षण राष्ट्र की शिक्षा-नीति की बुनियाद हो। शिक्षा और लोक का सम्बन्ध तभी जुड सकता है, जब शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा का रूप ले सके। आज की शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा न होकर वर्गीय शिक्षा-मात्र है, क्योकि इस शिक्षा का ध्येय नेता बनाने का, कर्मचारी बनाने का, वकील, डाक्टर और इजीनियर बनाने का और कुछ हदतक उद्योग-सचालक बनाने का है। इस देश में नागरिक की शिक्षा की कोई व्यवस्था नही है, जिससे शिक्षा के अन्त में शुद्ध नागरिक बने। किसी देश के शुद्ध नागरिक वे है, जो देश के तत्र-सचालन-यत्र के साथ जुडे हुए नही होते है, और जो स्वतत्र रूप से उत्पादन-द्वारा अपना गुजारा करते है तथा स्वतत्र नागरिक के रूप में देश में बसते है। मुल्क का विकास तभी हो सकेगा जब स्वतत्र नागरिक के शिक्षण की व्यवस्था नियमित तथा सयोजित रीति से हो सके। अन्न-प्राप्ति तो राष्ट्र-विकास का एक कार्यक्रम-मात्र है।

अतएव, देश को अगर अन्न-समस्या का समाधान करना है तो सयोजित जन-शिक्षण-द्वारा राष्ट्र-चेतना पैदा करनी होगी, उत्पादक नागरिक को वैज्ञानिक बनाना होगा, उनमें समाज-हित की भावना पैदा करनी होगी और सामुदायिक चरित्र-निर्माण करना होगा। यह काम प्रचार से नही होगा, नारा लगाने से नही होगा और न नारा लगाने से मना करने से होगा। इसके लिए राष्ट्रीय विकास का ठोस कार्यक्रम बनाना होगा, अभ्यासक्रम का सयोजन करना होगा और इस सयोजन को विकास-निरपेक्ष बनाने से काम नही चलेगा। राष्ट्र-विकास के कार्यक्रम को, जिसकी बुनियाद उत्पादन-कार्य है, शिक्षा का माध्यम बनाना होगा और ऐसी शिक्षा को प्रत्येक नागरिक के लिए सुलभ करना होगा।

दुर्भाग्य से देश के नेता, विचारक तथा सचालक राष्ट्र-विकास के कार्यक्रम की बात तो सोचते है, लेकिन उसके लिए शिक्षा के माध्यम की आवश्यकता को नही सोचते। जिस देश की जनता अविकसित हो, अचेत हो, उस देश का विकास अलग

कार्यक्रम के रूप में नहीं चल सकता है, बल्कि राष्ट्र-विकास को शिक्षा की निष्पत्ति के रूप मे सयोजित करना होगा।

यही कारण है कि महात्मा गाधी ने सन् १९३७ में देश में स्वराज्य के प्रथम प्रकाश के समय नेताओ से यह नही कहा कि तुम देश का आर्थिक विकास करो, अन्न का उत्पादन बढाओ, उद्योग-धन्धो का विकास करो, बल्कि उन्होंने सबसे पहली बात यह कही कि तुम राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा का सयोजन तथा संगठन करो और उत्पादन-जैसे समग्र विकास के कार्यक्रम को शिक्षा का माध्यम बनाओ। देश के नेताओं ने और राज्यकर्ताओ ने इस सलाह को नही समझा। उन्होंने कहा कि गाधी भारत को मजदूरो का एक मुल्क बनाना चाहते हैं, क्योंकि शायद उनके लिए शिक्षित मध्यम वर्ग, जो वर्ण-व्यवस्था के कारण तथा साम्राज्यवादी शोषण के कारण उत्पादन के काम को हेय मानते रहे है, लेकिन उनके हृदय में गाधीजी के प्रति श्रद्धा थी, उनके मन मे गाधीजी के विचारो के लिए आदर था, तो उन्होने बुनियादी शिक्षा के शब्द को तो अपना लिया, लेकिन उसका सयोजन किया राष्ट्र-विकास के कार्य से अलग करके। यद्यपि बुनियादी शिक्षा में उत्पादन के कार्य को मान्य किया गया, फिर भी निरपेक्ष कार्यक्रम होने के कारण वह वास्तविक नहीं हुआ, लाक्षणिक रह गया। स्वभावतः उसमें किसी की रुचि नहीं रही और धीरे- धीरे शिक्षा-जगत से वह समाप्त हो गया।

दूसरी ओर शिक्षा के माध्यम से उत्पादन के कार्य के प्रति राष्ट्रीय हेय भावना के निराकरण के बदले शिक्षा काम से मुक्ति का माध्यम है, ऐसी भावना पैदा की गयी। शिक्षा-जगत में शासन और शोषण का उपयोगी दृष्टिकोण तथा चरित्र का वातावरण बनाया गया, जिसके फलस्वरूप १८ साल के आजाद भारत की शिक्षा की परिणति यह हुई कि आज अपने को शिक्षित माननेवाले तरुण और तरुणी उत्पादक श्रमिक के लिए अधिक नाक सिकोड़ने लगी, बनिस्बत आजादी के पहले के।

अतएव, अगर देश का विकास करना है, मुल्क का पेट भरना है, वर्ग-भेद मिटाकर देश को एक राष्ट्र बनाना है तो गांधीजी-द्वारा परिकल्पित बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा को बुनियादी तौर पर ही अपनाना होगा। वर्गीय शिक्षा को समाप्त कर राष्ट्रीय शिक्षा का सयोजन करना होगा और राष्ट्र-विकास में उसको प्रथम स्थान देना होगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

स्वराज्य में परावलम्बन

● विनोबा

आज हर एक पैदावार बढ़ाने की बात करता है, परन्तु पैदावार क्या कानून या फरमान से बढ़ती है? पैदा आखिर करना हमको ही है। उसके अनुकूल शिक्षण देने पर ही उसका दर्शन होगा। क्या यह सम्भव है कि आज की शिक्षा देश को दरिद्रावस्था से मुक्त कर सकेगी?

आज हालत यह है कि लड़का बीस इक्कीस वर्ष की उम्र तक पढ़ता ही रहता है। छः वर्ष की अवस्था में ही वह पढ़ना शुरू करता है। इस पन्द्रह वर्ष की अवधि में उद्योग या परिश्रम का स्पर्श ही नहीं रहता। वह ठण्ड, हवा, धूप, बरसात कुछ भी नहीं सह सकता। खेती वह कर नहीं सकता, बढ़ई का काम वह जानता नहीं, बुनाई का काम जानता नहीं, रसोई आती नहीं। सिर्फ खाना जानता है, लेकिन चबाने और हजम करने का भी उसे ज्ञान नहीं होता। आहार शास्त्र की जानकारी उसे नहीं होती। इस तरह व्यावहारिक जीवन के लिए निकम्मा बनकर वह बाहर आता है।

इक्कीस बरस की अवस्था तक बच्चों की हड्डियाँ बढ़ती रहती हैं। उनका शरीर बनता रहता है। उनको आकार मिलता है। अगर इस उम्र में शरीर नाजुक रह गया तो जीवन के क्षेत्र में पराक्रम के जो अनेक काम करने हैं वे कैसे किये जायेंगे, पुरुषार्थ कैसे बन सकेगा? जिन्हें कलेजे से लगाकर रखा गया है, वे बच्चे मुल्क की मुसीबतों का मुकाबला कैसे कर सकेंगे? पराक्रमशील कैसे बनेंगे?

स्वराज्य में अगर विदेश से अनाज और कपड़ा मँगाना ही पड़े तो वह स्वराज्य किस किस्म का होगा ? जो चीज गुलामी के जमाने में विदेश से आती थी, क्या उसके प्रमाण में कुछ कमी हुई है ? स्वराज्य आने के पहले स्वदेशी विदेशी का जो विवेक हम किया करते थे वह भी आज हम भूल से गये हैं।

आर्थिक मूल्य का सम्बन्ध किससे ?

अब तो शिक्षा मे परिवर्तन किये बिना देश का विकास सम्भव ही नही है। इसके लिए नयी तालीम पर अमल करना होगा। आज के समाज में शारीरिक परिश्रम और मानसिक परिश्रम की कीमत अलग-अलग मानी गयी है इसे नयी तालीम नही मानती। नयी तालीम के अनुसार मनुष्य जो भी सेवा करता हो—शारीरिक या मानसिक, वह एक नैतिक वस्तु है और उसे जो तनख्वाह दी जाती है वह एक आर्थिक वस्तु है। नैतिक वस्तु की कीमत आर्थिक वस्तु में नही आँकी जा सकती।

सरकार नयी तालीम को कबूल तो कर रही है, परन्तु वह जो तालीम चलायगी, उसमें तो दर्जे रहेंगे ही। यह सरकार का दोष नही, समाज का है। इन सब दर्जो को अपनानेवाली तालीम परिस्थिति के साथ समझौता कर लेगी। नयी तालीम यह नही सह सकती। उसे तो समाज का सारा ढाँचा बदलना है। कांग्रेस ने सोशलिस्ट पैटर्न आव सोसायटी की बात कही, जो एक अच्छी चीज है, परन्तु हमने देखा कि पूँजीपति उसके साथ समझौता कर लेते हैं। इसीलिए मैंने कहा कि 'सोशलिज्म' खतरे में है। उन्होंने एक ऐसा गोल-मोल शब्द चुन लिया है कि उसे जो भी स्वरूप देना चाहें, दे सकते हैं। आजकल 'सर्वोदय' शब्द का भी कुछ ऐसा ही उपयोग किया जा रहा है। इसी तरह अगर 'नयी तालीम' का अर्थ होने लगे, तो इस विचार को समझने-वाले यह कहेंगे कि नयी तालीम एक स्वतंत्र वस्तु है जिसका आज जो चल रही है उसके साथ कोई ताल्लुक नहीं है। नयी तालीम का आर्थिक पहलू यह है कि शारीरिक परिश्रम और मानसिक परिश्रम, इस तरह के दर्जे टूटने चाहिए।

शिक्षण की कसौटी

शिक्षण की ओर दो दृष्टियों से देखना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से और इर्द-गिर्द की परिस्थिति की दृष्टि से। शिक्षण से आत्मविश्वास भी सधना चाहिए और वह परिस्थिति के अनुरूप होना चाहिए। आज का शिक्षण इन कसौटियों पर नही उतर सकता।

आज के शिक्षण का सम्बन्ध बुद्धि की केवल दो शक्तियों के साथ आता है—स्मरण शक्ति और तर्क-शक्ति। स्मरण-शक्ति में परीक्षा ली जाती है कि बच्चा ध्यान में कितना रख पाता है। तर्क शक्ति में देखा जाता है कि बच्चा युक्तिवाद कर सकता है या नही, लेकिन ये तो बुद्धि की मामूली शक्तियाँ हैं, पशुओं में भी दिखायी देती हैं। मोटर का भोंपू बजता है, परिचित पशु सड़क से जरा दूर हट जाते हैं। उनके पास इतना तर्क है कि थोड़ा हट जाने से मोटर सीधे रास्ते चली जायगी। इस तरह तर्क शक्ति और स्मरण शक्ति तो सर्व पशु-साधारण की मामूली शक्तियाँ हैं। इनसे अधिक महत्व की कई शक्तियाँ बुद्धि में हैं। वर्तमान शिक्षा में उनके विकास की तरफ कोई ध्यान नही है। निर्भयता, उद्योगशीलता, त्याग-बुद्धि, सत्यनिष्ठा आदि कई शक्तियाँ के नाम मैं गिना सकता हूँ। हमारे मानस शास्त्रियों का कथन है कि बुद्धि अनन्त शक्तियों से भरी है। जितनी शक्तियाँ इस विश्व में हैं, उतनी सारी हमारे मन में हैं। 'अनन्त वै मन अनन्ता विश्वे देवा' उन सब शक्तियों का यथासम्भव विकास करना शिक्षण का काम है।

लेकिन, प्रत्यक्ष जीवनोपयोगी काम के बिना इन शक्तियों का विकास सम्भव नही है। शिक्षण का कार्य-क्रम ही ऐसा होना चाहिए, जिससे उनके सद्गुणों का अभ्यास हो जाय, जिसमें उनके अनेक गुणों की कसौटी भी हो और विकास भी, लेकिन आज तो शिक्षक कुरसी पर बैठे होते हैं, विद्यार्थी बेंचों पर बैठे होते हैं। ऐसे 'बैठे शिक्षण' से विकास सम्भव नही है। ६७ की सदी अज्ञान उन्हें माफ होता है, ३३ पाये और पास। आत्मविश्वास के लिए निरुपयोगी। ऐसा यह शिक्षण एक क्षण के लिए भी सह्य नहीं है। इसका ढाँचा फौरन बदलना ही चाहिए। ●

भारतीय शिक्षा को सार्वभौमत्व की चुनौती

• प्रबोध चोकसी

शिक्षा का लक्ष्य है वतमान और भविष्य के बीच पुल बनाना। वतमान पीढी जिस अवस्था में है और आनेवाली पीढी जिस अवस्था में पहुँच जाय यह हम चाहते हो या शक्य मानते हों, उन दो अवस्थाओं के बीच की खाई पाटने का अत्यन्त महत्वपूण काय शिक्षा-द्वारा सम्पन्न होता है। नित्य परिवतनशील परिस्थिति की चुनौती का मानवोचित जवाब देना जो सिखाये सो शिक्षा। मनुष्य का सास्कृतिक विकास उसी में निहित है।

विकास का निणय करनेवाले दो बडे तत्त्व है—उत्पादन के साधन और उत्पादक मनुष्य। इनमें साधन को भी जुटानेवाला मनुष्य ही होता है अत मनुष्य ही विकास का प्रधान तत्त्व है। विकास किसे कहा जाय ह्रास किसे कहा जाय, इसका विचार और निणय भी मनुष्य ही करता है। फलत विकास का कारण, हेतु एव प्रयोजन मनुष्य ही है। अब यह मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसमें मुख्य वस्तु मन है। मनुष्य शब्द की व्युत्पत्ति ही सस्कृत मन धातु से है। उस मन की तालीम और सवधन को ही हम शिक्षा कहते हैं। आनेवाली पीढी का मानस जैसा गढिये वैसा भविष्य पाइये—सयोगाधीन कमी-बेशी के साथ।

शिक्षा का व्यूहात्मक महत्व

इस प्रकार विकासमान राष्ट्र के लिए शिक्षा का व्यूहात्मक महत्व है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न वाद और विचार धारा के अग्रणी शिक्षा पर कब्जा करना चाहते हैं। आखिर शिक्षा

जरा सा भी प्रयोग करने की चेष्टा करती है कि फौरन सरकार का शिक्षा विभाग उसके अभिक्रम को कुचल देता है। इस स्थिति को बदले बिना शिक्षकों के जीवन में चाहे जितनी वेतन-वृद्धि से भी रस और आनन्द नहीं लाया जा सकता, क्योंकि आनन्द सृजन में समाया हुआ है और शिक्षा जो कि नये मानव के सृजन का श्रेष्ठ क्षेत्र है उसी में हमने यान्त्रिक केन्द्रीकरण के द्वारा अभिक्रम और आनन्द का कृत्रिम दुर्भिक्ष निर्माण किया है। लाखों शिक्षकों की सहज सृजन शक्ति व्यर्थ जाती है अकृतार्थ ही रह जाती है, और यह राष्ट्र की मानव शक्ति का अक्षम्य अपव्यय है।

दूसरी समस्या जीवन और शिक्षा के विच्छेद की है। इसका उपाय नयी तालीम को जन्म देनेवाले आदि विचार के स्वीकार में दीखता है। प्रत्येक विद्यार्थी को स्कूल के बाहर प्रचलित समाज के जीवन में स्वयं जिम्मेवारी से हिस्सा लेने और काम करने का नियमित अवसर मिलना चाहिए। पाठ्यक्रम का प्रकार ही जीवनोन्मुख होना चाहिए। डाक्टर को अस्पताल में 'हाउस मैन' के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव लेने से पहले डिग्री नहीं मिलती। इसी प्रकार बी० काम० और बी० ए० जी०जैसी डिग्रियाँ केवल किताबी तालीम पर कैसे दी जा सकती है? उन्हें भी डिग्री मिलने से पहले जीवन-व्यवहार में अपना ज्ञान आजमाकर दिखाना चाहिए।

डिग्रियाँ कैसे दी जायें ?

जैसे ग्रन्थ ज्ञान के साथ प्रत्यक्ष अनुभव लेने से डिग्री दी जाती है वैसे ही प्रत्यक्ष व्यवहार के क्षेत्र से आनेवालों को ग्रन्थ ज्ञान के एक वयस्कानुकूल शिक्षाक्रम के बाद डिग्री दी जानी चाहिए। उत्तम किसान, निपुण हिसाबनवीस और अनुभवी मिस्त्री को नवसिखुए किशोर छात्रों की अपेक्षा अधिक आसानी से और कम समय में डिग्री क्यों न दी जाय? क्यों उन्हें जिन्दगीभर हीनता और अन्याय की भावना से ग्रस्त रहने दिया जाय? क्यों उनके अनुभव धन के विस्तारतर उपयोग से राष्ट्र को वंचित रखा जाय?

आज तो यह होता है कि डिग्रीवाला काम नहीं कर सकता और काम कर सकनेवाला डिग्रीवाला नहीं है, अर्थात् समाज की मान्यता नहीं है। परन्तु समाज मान्य डिग्रीधारी बिना डिग्रीवाले कार्यकुशल व्यक्तियों पर हुकुम चलाते हैं और समाज में नाहक विशेषाधिकार भोग करते हैं। ऐसी अन्यायी वर्ग विभेदकारी शिक्षा-व्यवस्था का यह परिणाम आया है कि समाज में बेहिसाब तनाव, भ्रष्टाचार और असाध्य निराशा एवं श्रद्धाहीनता फैल रही है। आजतक के सामन्तशाही समाज में अथवा पुराने वर्णाश्रमी हिन्दू-समाज में कुलीनता के आधार पर विशेषाधिकार जन्म से ही प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ ठाकुर का बेटा हमेशा नाई के बेटे पर हुक्म चलायेगा, ब्राह्मण का बेटा चाहे गँवार हो तब भी आदरणीय और दक्षिणा का पात्र माना जायगा। ऐसा ही कुछ-कुछ स्वराज्योपरान्त भारत में डिग्रीवालों के बारे में हो रहा है। एक नये प्रकार के विशेषाधिकार से सम्पन्न हुकुमशाही खड़ी हो रही है—एक नया वर्ग!

समरस समाज-रचना

समरस समाज रचना हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य है, यह केवल आदर्श नहीं है। इतिहास सिखाता है कि विशेषाधिकार समाज रचना पर बोझरूप हो जाता है। मुट्ठीभर लोगों की तुलना में सामान्य समाज जब गरीब और लाचार हो जाता है तब वह आन्तरिक कलह से खोखला हो जाता है। उसका आर्थिक उत्पादन गिर जाता है और वैसे समाज पर बाह्य आक्रमण अनिवार्य रूप से आ ही जाता है। टायनबी के प्रसिद्ध 'स्टडी आव हिस्ट्री' में यह तथ्य तेईस सभ्यताओं के अध्ययन के निष्कर्ष-स्वरूप पाया गया है। भारत में पिछले कुछ वर्षों में उत्पादन जनसंख्या-वृद्धि की तुलना में मन्द रहा है। पिछले वर्ष तो उसमें गिरावट ही आयी है। उसके अन्यान्य कारण अवश्य हैं, परन्तु मनुष्य ही उत्पादन के विकास या ह्रास का प्रधान कारण है। आज भारतीय समाज में शिक्षा और उद्योग के मामले में केन्द्रीकरण और वर्ग प्रधानता बढ़ रही है। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप मानव शक्ति निरुत्साहित हो रही है। इसी का यह परिणाम है। इस दृष्टि से समरस समाज रचना भारत में न केवल आदर्श, अपितु व्यवहार के नियम के रूप में मानना अनिवार्य है।

गुण-कर्म के आधार पर कुछ व्यक्तियों को अपने जीवन-काल में थोडा सा ऊँचा स्थान और स्वाभाविक मान-सम्मान मिल जाय, उतने से समाज का सन्तुलन नही बिगड जाता, परन्तु गुण-कर्म के अतिरिक्त बिना काम किये या कम-से-कम काम करके महज डिग्री, ओहदे और नाते रिश्ते के बूते पर चन्द लोगों को बहुजन समाज की अपेक्षा अत्यधिक भोग-साधन और सत्ता-स्थान उपलब्ध हो जाते है, तब वह समाज अवश्य ही शीघ्र पतन की ओर लुढक जाता है। अत डिग्रीशाही को नेस्तनाबूद करना ही होगा। डिग्री अर्थात् ज्ञान के पैमाने को खत्म करने की यह हिमायत नही है, बल्कि यह तो डिग्री को ज्ञान-शक्ति और कार्य-शक्ति का सही-सही और समान पैमाना बनाने की बात है। हर एक को अनुभव एव ग्रन्थ-ज्ञान दोनों के समान आधार पर उपाधि का अवसर मिले और इसमें अनुभव का मूल्य ग्रन्थ ज्ञान से कम न माना जाय, यह है उसका तात्पर्य। समाज के उपयोगी व्यवहार मे लगे हुए प्रत्येक नागरिक को अपनी शैक्षणिक योग्यता बढाते हुए आगे बढने का खुला अवसर मिलता रहे, ऐसी सामाजिक और शैक्षणिक नव-रचना अविलम्ब करना आवश्यक है, अन्यथा इस देश में पडी हुई अपार मानव शक्ति व्यर्थ जायगी और आन्तरिक कलह तथा विदेशी आक्रमण इस देश को परास्त करेंगे।

एक बुनियादी तथ्य

इस देश के विशिष्ट सन्दर्भ में शिक्षा का विचार करते हुए एक बुनियादी तथ्य को सामने रखना ही चाहिए।

भारत आज कृषिप्रधान देश माना जाता है। कृषि-प्रधान के दो माने है—१ इसकी बहुजन सख्या कृषि पर निर्भर है, २ इसकी राष्ट्रीय आय का बडा हिस्सा कृषि से प्राप्त होता है। यह आजतक की स्थिति रही है, जिसमें अब तेजी से परिवर्तन आ रहा है। भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि की अपेक्षा दूसरे उद्योगों का हिस्सा बढ रहा है। कृषि का हिस्सा आधे से कम कब का हो गया है, अर्थात् राष्ट्रीय आय के अनुपात की दृष्टि से भारत अब कृषिप्रधान नही रहा, यद्यपि जनसख्या की जीविका की दृष्टि से कृषिप्रधान ही है, लेकिन सोचने की बात यह है कि ५० प्रतिशत से कम राष्ट्रीय आय पर ६५ प्रतिशत से अधिक लोग कबतक जीना सम्भव मानेंगे? उनमें से अधिकाधिक लोग कृषि से ज्यादा आयवाले अन्य क्षेत्रों में जाने की कोशिश करेंगे। इसका मतलब यह है कि पिछले दशक में जापान, इटली आदि देशों में जिस बडे पैमाने पर देहातों से शहर की ओर बडी-बडी 'हिजरतें' हुईं, वैसी ही 'हिजरतें' भारत में भी हो सकती है। यह परिवर्तन देहात से शहर में स्थानान्तर का ही रूप धारण करे, यह अनिवार्य नही है। किसानी के अलावा और जो भी व्यवसाय जहाँ भी मिल सकता है और खुद कर सकते है वहाँ लोग जाने की कोशिश करेंगे, क्योंकि असल में यह क्षेत्रान्तर है—कृषि-क्षेत्र से दूसरे धन्धो में जाने की प्रक्रिया। इसको गति देनेवाला तत्त्व है कृषि, और अन्य क्षेत्रों के बीच की प्रति व्यक्ति आय की असमानता। कृषि की प्रति व्यक्ति आय अन्य क्षेत्रों के मुकाबले कम है। उसे बढाने के तीन आवश्यक उपाय है—

१ वैज्ञानिक तरीकों से उत्पादकता बढाना,
२ कृषिजीवी लोगों की सख्या कम करना, अर्थात् दूसरे क्षेत्रों में लोगों का निर्यात करना,
३ प्रति व्यक्ति खेत का रकबा बढाना, जिसके मानी है प्रति एकड कृषिजीवी की सख्या में कमी करना।

देहातो से भागने की समस्या

यदि उत्पादकता बढती है तो 'हिजरत' की रफ्तार घटेगी। उत्पादकता बढने के मानी है ज्यादा पैदावार होना अथवा कीमतें बढने से ज्यादा पैसे मिलना।

एक हद तक तो उत्पादकता और कीमतें बढने से कृषि से भागने की गति कम रहेगी, लेकिन जैसे-जैसे उद्योगीकरण बढता है, नौकरी-जैसे व्यवसायों का विकास होता है, अर्थात् उसमें कृषि से ज्यादा पैसे मिलते हैं, वैसे-वैसे कृषि से जनसख्या के भागने को वेग मिलेगा।

कुल मिलाकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषि-क्षेत्र से और देहातों से बहुत बडी सख्या में लोग हटेंगे। वस्तुत इस प्रक्रिया का आरम्भ हो ही चुका है। अपने बेटे को किसान ही बनाना चाहता हो, ऐसा किसान दिन-प्रति दिन दुर्लभ होता जाता है। आज भी देहात का जो

समाज-शक्ति की उपयोगी जो है। यही वजह है कि दुनियाभर की सरकारें शिक्षा की बागडोर अपने ही हाथ में रखना चाहती है। इसमें बहुत बड़ा खतरा है। सरकार आज एक है, कल दूसरी हो सकती है। सरकार की जिन्दगी पाँच-पाँच साल की किस्तों में जुड़ती है या कट जाती है, जबकि शिक्षा नीति की रचना पचीस-पचास वर्षों के दीर्घकालीन उद्देश्यों और लक्ष्यों पर की जाय, यह परमावश्यक है।

सरकार चाहे चुनी हुई क्यों न हो,वह हमेशा यही चाहेगी कि जनता उसके अधीन रहे। इन्द्र से लगाकर इन्दिराजी तक सभी सत्तारूढ़ व्यक्ति स्वभावतः इसी कोशिश में रहेंगे कि उनके सिंहासन कभी डोलें नहीं, अर्थात् सरकार के हाथ में शिक्षा हमेशा राज्यकर्ताओं की निगाह में प्रचार का ही सुलभ, सुन्दर साधन रहेगी। अब यह बात शिक्षा के मौलिक हेतु की विरोधी है। राज्याधीन शिक्षा गुलामी की शिक्षा है फिर चाहे वह राज्य जनतन्त्रात्मक ही क्यों न हो।

लोकशाही की आधारशिला

शिक्षा के लिए धन-राशि उपलब्ध करना राज्य का कर्तव्य अवश्य है, क्योंकि शिक्षा राज्य की माता है किन्तु इसीलिए राज्य शिक्षा को अपनी आज्ञा में नहीं रख सकता। जिस प्रकार जनतन्त्रात्मक सरकार जनता को ऐसा हुक्म नहीं दे सकती कि तुमलोग फलाँ फलाँ को ही अपना वोट दो, वैसे ही जनतन्त्रात्मक सरकार यह नहीं कह सकती कि यही पढ़ो या इसी तरह पढ़ो। मत-स्वातन्त्र्य और विद्या-स्वातन्त्र्य पर सरकार का अंकुश आता है तो वह लोकशाही के मूल में ही कुठाराघात है। यह तथ्य सूर्य की भाँति स्वयं स्पष्ट है। फिर भी आज हम देखते हैं कि हमारे जनतन्त्र में शिक्षा राज्य से स्वतन्त्र नहीं है।

जनता का सार्वभौमत्व

शिक्षा की स्वतन्त्रता लोकशाही की प्रथम आधार शिला है। वाणी-स्वातन्त्र्य जनतन्त्र का दूसरा आधार है। फिर भी स्थिति आज यह है कि हमने अपने जनतन्त्र के लिए वाणी-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त तो अनिवार्य मान लिया है, जिसे जो बोलना है सो बोले, अखबार जो लिखना हो सो लिखे, इतनी आजादी के बिना हम लोगतन्त्र को लोगतन्त्र मानने से इनकार करते हैं, परन्तु बोलनेवाला और लिखनेवाला उसे मिली हुई शिक्षा के अनुसार ही लिखता-बोलता है—पयोगों के अनुरूप और शिक्षा के अनुसार। इसका अर्थ बिल्कुल साफ है कि शिक्षा-स्वातन्त्र्य एवं जीविका-स्वातन्त्र्य के बिना तथाकथित वाणी स्वातन्त्र्य हाथी के दिखावटी दाँत या मृगमरीचिका-जैसा है।

जनतन्त्र की नींवें ही इस मूलभूत सिद्धान्त पर डाली गयी है कि जनता सार्वभौम सत्ता है। वह अपने सार्वभौम अधिकार में से केवल समाज के सुप्रबन्ध के लिए प्रशासन का अधिकार अपनी चुनी हुई सरकार को मर्यादित अवधि के लिए सौंपती है। और, यदि वह सरकार उन मर्यादित अधिकारों को जनता के मन-पसन्द ढंग से इस्तेमाल नहीं करती तो जनता उसे छीनकर दूसरी सरकार को सौंपती है। जनता का यह सार्वभौमत्व कहाँ बसता है?—शिक्षा में, वाणी-स्वातन्त्र्य में, मताधिकार में और अन्तिम रूप से सत्याग्रह में। यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाय, यह एकदम जरूरी है, क्योंकि इसके बिना भारत के पनपते हुए जनतान्त्रिक प्रयोग में जनता का सार्वभौमत्व ही खण्डित हो रहा है।

लोगों का ऐसा शैक्षणिक सार्वभौमत्व जिस मात्रा में जिस राष्ट्र में अस्तित्व रख सका उसी मात्रा में उस राष्ट्र में जनतन्त्रात्मक समाज स्थापित हुआ है, और जिस मात्रा में लोगों का शैक्षणिक सार्वभौमत्व जिस देश में खण्डित हुआ अर्थात् राज्याधीन हुआ है, उस मात्रा में मानना होगा कि चाहे वह देश जनतन्त्र के सारे सुशोभित वस्त्र परिधान धारण किये हुए हो तब भी वह तानाशाही की ही गलत पटरी पर चढ़ा हुआ है।

क्या शिक्षा में सार्वभौमत्व का सिद्धान्त व्यावहारिक है—आज के जटिल सन्दर्भ में? अवश्य है। उदाहरणार्थ न्याय को ही लीजिए। न्याय-अन्याय का निर्णय न बहुमत से हो सकता है, न प्रशासनिक अधिकार से। यह एक सीधा सादा सत्य है। इसके विपक्ष में यह भी मानना पड़ा है कि न्याय का फैसला राजदण्ड की शक्ति के बिना कार्यान्वित भी नहीं हो सकता। अदालत चोर का जुर्म और सजा तो तय कर सकती है,

लेकिन चोर को सजा भुगतने के लिए मजबूर तो जेल और पुलिस ही करेगी। इस प्रकार राज्य सत्ता से परे जो न्याय-तत्त्व है उसे कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी प्रशासन पर डालकर इस समस्या का समाधान मानव-संस्कृति ने कर लिया है। न्याय और प्रशासन को हमने पृथक किया है और न्यायालय को सर्वोच्च कक्षा तक राज्य-सत्ता के अकुश से सर्वथा मुक्त रखा है। सुप्रीम कोर्ट का खर्च सरकार देती है, फिर भी सुप्रीम कोर्ट प्रधान मंत्री के हुक्म, राय या मुरव्वत या ख्याल नहीं करता। इसी तरह चुनाव-आयोग की स्वायत्तता भी सुविदित है।

राष्ट्रीय शिक्षा-आयोग

इसी नमूने पर राष्ट्रीय शिक्षा-आयोग सरकार के अकुश से सर्वथा मुक्त रहना चाहिए। जिला, नगर और ग्राम-स्तर तक के सारे शिक्षा-आयोग के घटक प्रशासनिक सत्ता के नियत्रण से मुक्त होने चाहिए। बावजूद इस आजादी के शिक्षा आयोग को प्रत्येक स्तर पर प्रशासन से आवश्यक धनराशि प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

शिक्षा-आयोग को कौन नियुक्त करेगा? उसमें किसे नियुक्त किया जा सकता है? इसको लेकर विचार-विमर्श किया जाना चाहिए और सानुकूल सविधान बनाना चाहिए। इसमें इतना पूर्व निश्चित हो कि सरकार नियुक्ति का निर्णय नहीं कर सकेगी। पालकों और शिक्षकों की सयुक्त सभाओं को शिक्षा-आयोग के लिए योग्य शिक्षा शास्त्रियों को चुनने का अधिकार हो सकता है।

शिक्षा में गुण प्रधान वस्तु है, सख्या गौण वस्तु है। अत वर्तमान राजनीति में चलनेवाली सख्या प्रधान चुनाव-पद्धति बरतने से तो विसगति ही पैदा हो सकती है। दूसरी ओर जिसे जनता का विश्वास और सम्मति प्राप्त हो, ऐसी ही शिक्षा-पद्धति समाज में चले, यह भी आवश्यक है, क्योंकि समाज का भविष्य कैसा हो, यह मात्र-आदर्शवादियों के तय करने की बात नहीं है, अपितु जिन्हें उस पद्धति के फल भुगतने पड़ेंगे उन व्यवहार-जीवी लोगों को उसके निर्णय में सक्रिय भाग लेना होगा। शिक्षा में जनता के सार्वभौमत्व का सिद्धान्त सर्व-प्रथम मान्य कर लेने के बाद उसे व्यवहार में मूर्त करने का विचार करना पड़ेगा।

अतिशय केन्द्रीकरण के दुष्परिणाम

आज शिक्षा के क्षेत्र में अतिशय केन्द्रीकरण हो गया है। स्कूल-कालेज सांचे में ढले हुए साक्षरों के 'स्टैण्डर्ड' का उत्पादन करनेवाले कारखाना-जैसे बन गये हैं। इसके अनेक दुष्परिणाम आये हैं, किन्तु यहाँ हम दो प्रमुख दुष्परिणामों को लेंगे। १ शिक्षा-सस्थाएँ अपना विशिष्ट प्रयोग कुछ भी नहीं कर पा रही हैं। वे अभि-क्रम-शून्य लाल फीतेदार सरकारी कचहरियों-जैसी निष्प्राण बन रही हैं। यदि वहाँ बच्चों का स्वाभाविक किल्लोल न हो और शिक्षकों का स्वाभाविक आदर्शवाद न हो तो उनकी यह प्राणरहित दशा श्मशानवत स्पष्ट दिखायी देगी। आज वह ढँकी हुई है, किन्तु इस कारण यह बात आँखों से ओझल हरगिज नहीं रहनी चाहिए कि चेतनशील बुद्धिमान विद्यार्थियों को वह रट्टूपन की जजीरों में जकड लेती है और आदर्शवादी शिक्षकों को 'सिनिक' (श्रद्धाहीन) और कभी कभी समाज शत्रु भी बना देती है। २ जीवन और शिक्षा के बीच का सम्बन्ध इस केन्द्रीकरण के कारण कट जाता है। शिक्षा अवास्तविक बन जाती है। वर्तमान या भविष्य के समाज में जीवन जीने के मामले में पढा-लिखा आदमी अक्सर अनपढ आदमी की बनिस्बत अयोग्य सिद्ध होता हुआ दिखाई देता है। रिश्तेदारी, नातेदारी, जान-पहचान आदि वर्गीय विशेषाधिकार के कवच यदि उसकी रक्षा न करें तो उसकी अयोग्यता और भी अधिक प्रकट हो जाती है।

पहले दुष्परिणाम का उपाय यह हो सकता है कि हर एक शिक्षा-सस्था को अपना-अपना पाठ्यक्रम बनाने के विषय में सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। हर एक सस्था अपने गुण-बल पर पनपे, मुरझाये या अन्य पनपने-वाली सस्था का अनुकरण करे। स्वेच्छापूर्वक अनुकरण करने की आजादी हो, लेकिन पाठ्यक्रम बनाने की जिम्मेदारी हर एक शिक्षा-सस्था को उठानी ही चाहिए। ऐसे विचारवान एक दो शिक्षा शास्त्री भी न हों तो शिक्षा-सस्था का अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए। आज तो दुर्दशा है कि कोई शिक्षा-सस्था पाठ्यक्रम के विषय में

भी विद्यार्थी शहर के उद्योग में और अन्य सफेदपोश व्यवसायों में जा सकता है वह तो चला ही जाता है। जो नहीं जा सकता, ऐसा गरीब मुहताज भी शहरों में चला ही जाता है। हर एक बड़े शहर के होटलों को देखिये, गन्दी बस्तियों को देखिये, फुटपाथ पर सोनेवालों को देखिये, और प्रतिवर्ष बढ़ते चले जानेवाले सामाजिक अनिष्टों को देखिए। ये सारे इस निष्ठुर, न रोकी जा सकनेवाली प्रक्रिया के प्रमाण उपस्थित करते हैं। कुछ ही वर्षों में देहातों से भागने की प्रक्रिया भयावना रूप धारण कर सकती है।

भारतीय शिक्षा परिवर्तन के द्वार पर

हमारी शिक्षा का विचार करते समय हमें इस विकट परिस्थिति और उसकी विकटतर सम्भावनाओं को ध्यान में रखना ही होगा। शिक्षा को इस राष्ट्रीय विराट घटना के लिए मनुष्य को सन्नद्ध करना होगा। जो लोग क्षेत्रान्तर के लिए योग्यता नहीं रखते, फिर भी जिन्हें बरबस क्षेत्रान्तर करना ही पड़ेगा, उनकी बड़ी बुरी हालत हो सकती है। उनमें विद्रोह की भावना फैली तब तो समूची समाज-व्यवस्था ही टूट सकती है।

अतः शिक्षा को चाहिए कि इस अनिवार्य परिवर्तन के विषय में बिना विलम्ब जागरूक हो जाय और किसानों के बेटों को नये उपयोगी और रोजी-रोटी हासिल करा देनेवाले व्यवसायों के लिए तत्काल तालीम देना शुरू कर दे। ऐसी तालीम न सिर्फ बच्चों के ख्याल से १०–१२ साल के दीर्घ कालीन पाठ्यक्रमवाली होगी, अपितु बड़ों के ख्याल से साल दो साल की और चन्द पखवाड़ों के शिविर के रूप में अल्प काल की और व्यावहारिक क्षमता लाने के लिए होगी। अमुक अल्पतम अक्षर-ज्ञान और गणित के बिना नये किसी भी व्यवसाय में इन निष्कासित लोगों का काम चलेगा नहीं, अतः अपनी रोटी के लिए ७–८ घण्टे काम करनेवाले लोगों को अमुक बेसिक साक्षरी शिक्षा देने के तेज तरीकों को ढूंढना होगा।

एक विराट परिवर्तन की ड्योढ़ी पर भारतीय शिक्षा आज पैरों में जंजीरों के साथ आँखों पर पट्टी बाँधे खड़ी है।

भारत-अमेरिकी शिक्षा-प्रतिष्ठान का कैसा उपयोग हो, इसपर किसका कितना अंकुश रहे, इसको लेकर बड़ा राजनीतिक विवाद खड़ा हो गया है। यह धन इसलिए एक जगह जमा हो गया है कि अभावग्रस्त भारत में गल्ले का दाम अपने स्वाभाविक ऊँचे बाजार भाव पर न चला जाय। अतः अमेरिकी गल्ला आयात करके भारतीय गल्ले के दाम दबाये गये, वरना ये पैसे कमो-बेश किसानों के पास पहुँचे होते। अब यदि हमने इसे उनतक नहीं पहुँचने दिया और अब इस केन्द्रित धनराशि का क्या किया जाय, यह सवाल पैदा ही हुआ है तो इन्साफ का तकाजा है कि इसका विनियोग भारत के किसानों के लिए ही किया जाय, और किसानों के सामने आय-वैषम्य को पाटने के लिए, जो दो बड़ी समस्याएँ खड़ी हैं—उत्पादकता-वृद्धि और क्षेत्रान्तरण, जिसका कि हमने ऊपर जिक्र किया है उनको हल करने के लिए इस धनराशि का उपयोग दो प्रकार की शिक्षाओं पर भारत के देहातों में होना चाहिए।

१ कृषि का उत्पादन बढ़ाने के नये तरीके किसानों को सिखाना,

२ कृषि के अलावा दूसरे छोटे-मझले उद्योग और व्यवसायों के लिए ग्रामीणों को तालीम देना।

इस केन्द्रित धनराशि का यह विकेन्द्रित उपयोग है। विकेन्द्रित उपयोग ग्रामस्वराज्य की संस्थाओं के द्वारा किया जा सकता है। अतः उसमें विदेशी अंकुश का वैसा राजनीतिक सवाल नहीं खड़ा होगा, जैसा कि इस राशि को शोध-संस्थाओं और युनिवर्सिटियों पर खर्च करने से होगा।

भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में जनता के सार्वभौमत्व की दृष्टि से इस विकास-युग के संक्रान्ति काल में, जिनका विशेष महत्व है, ऐसी ये चार बातें हमने निवेदन कर दीं।

●

वाणी से विचार गहराई पर है, विचार से भावना गहरी है। आदमी गैरों से वह कभी नहीं सीख सकता, जिसे वह खुद से सीखता है।

—पेंचमूलिन

राष्ट्रीय शिक्षा की नयी बुनियादें

• राममूर्ति

पुराना जमाना नही रहा

जो जमाना बीत गया वह एक तरह बहुत आसान था। उस वक्त मजदूर से कहा जा सकता था कि मालिक जो मजदूरी दे दे उसी में गुजर करना है शूद्र को समझाया जा सकता था कि सुख-दुख जो भी है सब पूर्व जन्म का फल है इसलिए मन में किसी प्रकार का रंज लाये बिना उसे स्वीकार करना है और स्त्री से तो कहने की भी जरूरत नही थी कि वह पैदा ही पुरुष के लिए हुई है इसलिए पुरुष की कृपा ही उसका सौभाग्य है उसको खिलाकर खाये सुलाकर सोये, उसे सन्तति दे और उसके मरते ही खुद मर जाय। इस तरह समाज का एक बहुत बडा भाग सन्तुष्ट रहता था और कोई सोचता भी नहीं था कि किसी की कोई माँग हो सकती है। हर चीज का निर्णय जन्म से होता था और किसकी हिम्मत थी कि जन्म के निर्णय को न मानता ? मरने के बाद नरक का भय और जीते जी समाज का भय इस दोहरे भय से सबका दिमाग दुरुस्त रहता था। लेकिन आज ? आज कौन है जिसकी माँग नही है ? और जिसने अभी तक नहा की है वह करने के लिए छटपटा रहा है। उसका क्षोभ और अधीरता प्रकट होना चाहती है और जब रुकावट पैदा की जाती है तो वह खुलकर या छिपकर तोडफोड और उपद्रव करने पर उतारू हो जाता है। जन्म का तर्क पुराना पड गया, नरक का भय रह नही गया सरकार अपनी हो गयी वोट का अधिकार मिल गया, सिद्धान्त

में समता मान्य हो गयी, तो क्यों न ऊँची से-ऊँची माँग की जाय और उसकी पूर्ति के लिए जो कुछ किया जा सकता है किया जाय ? जीने का अधिकार, काम और जीविका का अधिकार, शिक्षा और स्वास्थ्य का अधिकार, खुलकर बोलने और लिखने का अधिकार, वोट और पद का अधिकार इनमें से एक भी माँग ऐसी नहीं है जिसे अनुचित कहा जाय। इतना ही नहीं, सवाल यह उठने लगा है कि देश की सरकार है किसलिए अगर वह हर देशवासी की इस माँग की भी पूर्ति नहीं कर सकती ? आज नागरिक इसी कसौटी पर हर व्यवस्था और विधान को कसता है और उसके अनुकूल या प्रतिकूल अपने विचार बनाता है। बात भी बहुत सीधी सादी है लेकिन पुराने वक्त से चली आयी हुई व्यवस्था इतनी मजबूत है, और उसमें पले हुए संस्कार इतने प्रबल हैं, कि नागरिक की ये मामूली माँगें भी पूरी नहीं हो पा रही हैं। और, पूरी न होने के परिणाम भयंकर हो रहे हैं। लोकतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद सर्वोदय, डिक्टेटरशिप के जो 'झगड़े' हैं उन सबकी तह में यही सवाल है। यह सवाल कितनी दूर तक चल गया है इसका अनुमान मुझे एक घटना से हुआ। चीन के आक्रमण के समय की बात है। एक गाँव में सभा हो रही थी। मंच के सामने एक हट्टा कट्टा मजदूर युवक बैठा था। भाषण के दौरान मैंने उससे पूछा 'सुना है चीन ने हमारे देश पर आक्रमण किया है ?' उसने उत्तर दिया 'हाँ सुना तो है'। 'लड़ने जाओगे ?' मैंने फिर पूछा। उसने जोर से सिर हिला दिया। मैंने जरा जोर देकर कहा 'तुम नहीं जाओगे तो क्या मैं जाऊँगा ?' युवक बोला 'बाबू, क्या चीनवाला आयगा तो मजदूरी नहीं करायगा ?' मैं चुप हो गया, इसके आगे क्या कहता ? मैं समझ गया कि मेहनत बेचकर जीनेवाले के लिए मालिक क्या हिन्दुस्तानी, और क्या चीनी ? इस लम्बे-चौड़े देश में इस युवक का था ही क्या कि उसकी रक्षा की उसे चिन्ता होती ? वह मजदूर था, और मजदूर रहेगा यह 'गौरव' उससे कौन छीननेवाला था ? राष्ट्रीयता का नारा तो उसपर असर करता है जिसका राष्ट्र में अपना कुछ होता है या जो इतना सुसंस्कृत होता है कि सब से ऊपर स्वतंत्रता को स्थान देता है। वह युवक स्वामित्व और संस्कार दोनों से परे था इसलिए निश्चिन्त था, निर्द्वन्द्व था।

देश और देश के लोग

जब मैं राष्ट्र की बात सोचता हूँ तो आज भी उस युवक की तसवीर आँखों के सामने खिंच जाती है। मन में प्रश्न उठता है कि उस युवक को राष्ट्र का सक्रिय सदस्य कैसे बनाया जाय ? उसके अन्दर कैसे यह प्रतीति जगायी जाय कि भारतीय राष्ट्र में उसका भी सम्मानपूर्ण स्थान है ? उसे कैसे बताया जाय कि भारत उसका भी उतना ही है जितना और किसी का ? कैसे उसकी जीविका सुरक्षित की जाय, जीवन-स्तर उठाया जाय संस्कारों का परिष्कार किया जाय ? साथ ही यह बात भी है कि वह युवक अकेला नहीं है, वह प्रतिनिधि है करोड़ों का जो मजदूर हैं, बटाईदार हैं कारीगर हैं छोटे किसान हैं। उन्हीं के भरोसे हमारी खेती हो रही है, कारखाने चल रहे हैं, फौजें लड़ रही हैं। ये करोड़ों न हों तो यह देश किसके भरोसे टिकेगा ?

राष्ट्र सबका है, केवल कुछ का नहीं, इसलिए विकास सबका होना चाहिए, केवल कुछ का नहीं। लेकिन हमारे देश में पिछले पन्द्रह वर्षों में एक कौतुक हुआ है। इसमें शक नहीं कि पंचवर्षीय योजनाओं ने देश को समृद्ध किया है। कल-कारखानों की दौलत बहुत बढ़ी है, और लाखों लोगों को काम मिला है। लेकिन यह भी सही है कि बेकारी की संख्या बढ़ी है जीवन का संघर्ष बढ़ा है वर्गगत और जातिगत तनाव बढ़े हैं। ऐसा लगता है जैसे जीवन की चूलें हिल गयी हैं। दिखायी नहीं देता कि राष्ट्र में राष्ट्रीयता है, नागरिकों में नागरिकता है या श्रम में उत्पादकता रह गयी है। कुल मिलाकर राष्ट्र में अपनी समस्याओं को अपने भरोसे हल करने की शक्ति नहीं दिखायी देती। जनता सरकार, धनी-गरीब, मालिक मजदूर शिक्षित-अशिक्षित, सब एक-दूसरे से अलग हैं, और दिनोंदिन दूर होते चले जा रहे हैं। किसी के सामने भविष्य का जैसे कोई चित्र ही नहीं है, और न है मन में कोई ऊँची उमंग, हैं तो माँगें जो किसी तरह पूरी होनी चाहिए।

लोग पूछ सकते हैं कि ऐसी स्थिति क्या पैदा हुई ? क्या शासन ठीक नहीं है ? क्या योजना सही नहीं है ? क्या शिक्षा दोषपूर्ण है ? क्या धर्म-भावना शिथिल है ? किसी एक चीज का दोष बताना कठिन है। दिखाई यह देता है कि राष्ट्र के विकास क्रम में ऐतिहासिक कारणों से एक ऐसी सम्पूर्ण परिस्थिति (टोटल सिचुएशन) बन गयी है जिसके कारण ये परिणाम प्रकट हो रहे हैं। अगर यह बात सही हो तो प्रश्न उठता है कि उस परिस्थिति को बदल कौन सकता है ? कुछ लोग कहते हैं कि अगर शिक्षा बदल जाय तो सब बदल जाय। लेकिन क्या ऐसा कहना सही है ? स्कूल और कालेजों के अभ्यास-क्रम बदल जायँ, किताबें बदल जायँ, परीक्षा की पद्धति बदल जाय, शिक्षकों की सेवा की शर्तें बदल जायँ, तो क्या देश के सामने जो समस्याएँ हैं वे हल हो जायँगी ? कौन कहेगा 'हाँ' ?

शिक्षा यानी शक्ति

सम्पूर्ण परिस्थिति (टोटल सिचुएशन) से निकलने का एक ही उपाय है सम्पूर्ण क्रान्ति (टोटल रिवोल्यूशन)। क्रान्ति किन चीजों में ? सम्बन्धों में, साधनों में, पद्धतियों में। सम्बन्ध कैसे हों ? लोकतांत्रिक। साधन कैसे हों ? वैज्ञानिक। पद्धति कैसी हो ? शैक्षणिक। इन तीनों में एकसाथ क्रान्ति हो तो सम्पूर्ण क्रान्ति का दर्शन हो। राष्ट्रीय विकास की भूमिका में शिक्षा के सामने यह त्रिविध चुनौती है।

जो शिक्षा इस पूरी चुनौती का जवाब दे सके उसका स्वरूप क्या होगा ? बच्चों के लिए तो कुछ अभ्यासक्रम बनाया जा सकता है लेकिन प्रौढ़ों के लिए क्या अभ्यासक्रम होगा ? जाहिर है कि अगर देश में आज की राजनीति चलती रहे, अर्थनीति चलती रहे, समाजनीति चलती रहे, तो अकेली शिक्षा कुछ ज्यादा कर नहीं सकेगी। उसे अन्त में हार माननी पड़ेगी। इसलिए जरूरी है कि शिक्षा केवल कार्यक्रम नहीं, एक ऐसी शक्ति (सोशल फोर्स) के रूप में प्रकट हो जो समाज की विघटनकारी शक्तियों का मुकाबला कर सके और उन्हें खतम कर सके। इसका यह अर्थ है कि शिक्षा को केवल भावी नागरिक नहीं तैयार करने है, बल्कि वर्तमान समाज जिन बुनियादों पर चल रहा है उन्हें बदलना है और कल का समाज बनाना है। आजतक इतिहास में शिक्षा को कभी यह काम नहीं सौंपा गया था, लेकिन अब उसे यह काम करना है। शिक्षा के सिवाय शस्त्र की, राज्य के कानून की, पूंजी या धर्म की किसी दूसरी शक्ति से 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का काम नहीं हो सकता। दूसरी शक्तियों से जो क्रान्ति होगी वह सम्पूर्ण नहीं होगी, टिकाऊ नहीं होगी, उससे यह नहीं होगा कि ऊपरी व्यवस्था के साथ-साथ राष्ट्र में रहनेवालों का हृदय भी बदल जाय ताकि लोग एक नये ढंग से सोचने और समझने लग जायँ।

जड़ कहाँ है ?

लोग कहते हैं कि देश के सामने समस्या गरीबी की है इसलिए उत्पादन बढ़ना चाहिए, अशिक्षा की है, इसलिए स्कूल खुलने चाहिए। कौन कहेगा कि उत्पादन नहीं बढ़ना चाहिए या स्कूल नहीं खुलने चाहिए ? अगर ये काम न हों तो विकास क्या होगा, लेकिन सवाल यह है कि उत्पादन बढ़ता क्यों नहीं और अधिक स्कूल खुलते क्यों नहीं ? उत्पादक कहता है, 'हम उत्पादन क्यों बढ़ायें, हमें क्या मिलेगा ?' सरकार कहती है 'हम अधिक स्कूल कैसे खोलें, पैसा कहाँ है ?' हर एक की अपनी जगह कोई-न-कोई मजबूरी है। वह मजबूरी साधनों की तो है ही, उससे कहीं बढ़कर इस बात की है कि विकास की शक्ति का स्रोत ही सूख गया है। वह स्रोत कहाँ है ? समाज में, सरकार में, परिवार में, खेत और कारखाने में ? मनुष्य और मनुष्य के बीच जो सम्बन्ध होता है वही विकास की शक्ति का स्रोत है। उस शक्ति को प्रकट करने के लिए पहले सम्बन्धों को बदलना चाहिए। लेकिन कौन बदलेगा, कैसे बदलेगा ? इस भूमिका में शिक्षा का सवाल स्कूलों तक नहीं सीमित है, बल्कि पूरे समाज का हो गया है। यह शिक्षा के लिए नयी चुनौती भी है और नया अवसर भी, क्योंकि शिक्षा को राष्ट्र की मूल समस्या हल करनी है। अगर यह समस्या हल हो जाय तो उत्पादन और निर्माण की दूसरी समस्याओं के हल के लिए एक नहीं, अनेक रास्ते खुल जायेंगे। आज के सम्बन्धों के रहते 'सर्व' का विकास सम्भव नहीं है।

प्रश्न होगा—क्या हर गाँव की शिक्षा वहाँ के भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक सन्दर्भ में अलग होगी? उत्तर है—'हाँ, हो सकती है।' अन्तर होगी अनुबन्ध और क्रम में, न कि प्रक्रिया और गुण में। अगर शिक्षा को जीवन के साथ चलना है तो विविधता की छूट देनी ही होगी। जब बच्चा शुरू से अपने समुदाय का अंग होगा तो देश के सब बच्चों को एक साँचे में ढालने की जरूरत क्या है?

प्राथमिक शिक्षण का स्वरूप तय हो जाय तो माध्यमिक और ऊँचे शिक्षण को उसकी लाइन में बिठाया जा सकता है। गाँव के सन्दर्भ में प्राथमिक शिक्षण, क्षेत्र के सम्बन्ध में माध्यमिक शिक्षण और राष्ट्र के सन्दर्भ में ऊँचा शिक्षण होगा। तकनीकी शिक्षण हर कारखाने और 'वर्कशाप' के साथ जोड़ा जा सकता है।

राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्र की नयी बुनियादों की शिक्षा है—आज जो बुनियादें हैं उनकी नहीं।

शिक्षा-आयोग की नयी योजना

शिक्षा-आयोग ने हाल में शिक्षा की एक योजना पेश की है। उसमें पूर्व प्राथमिक से लेकर ऊँची शिक्षा तक शिक्षा के प्राय हर पहलू पर सुझाव दिये गये हैं। यह कहा जा रहा है कि यह योजना राष्ट्रीय शिक्षा की योजना है जिसमें राष्ट्र की शिक्षा का राष्ट्र के विकास के साथ मेल मिलाया गया है। लेकिन अभी तक अखबारों में जो विवरण छपा है उससे यह नहीं प्रकट होता कि आयोग ने राष्ट्रीय विकास की कोई ऐसी नयी बुनियादें मानी हैं जो आज नहीं मानी जा रही हैं। आयोग ने राष्ट्र की एकता तथा विज्ञान और टेक्नालोजी के विकास को सामने रखकर विचार किया है, लेकिन विकास की जिस योजना के सन्दर्भ में विज्ञान और टेक्नालोजी प्रस्तुत की गयी है वह वही है जो सरकार की है यानी पंचवर्षीय योजना। पंचवर्षीय योजनाओं में स्थूल निर्माण और उत्पादन-वृद्धि के बारे में चाहे जो किया गया हो, लेकिन उसमें दो बातें नहीं हैं एक तो नये समाज का चित्र नहीं है दूसरे गाँव का 'स्वतंत्र' अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है। यह माना ही नहीं गया है कि गाँव का कोई अपना 'स्व' भी है जिसे विकसित किये बिना गाँव का सर्वतोमुखी विकास नहीं होगा। यही कारण है कि कमीशन की रिपोर्ट ऐसी लगती है जैसे पंचवर्षीय योजना का ही एक अध्याय हो। इसलिए आज की शिक्षा-पद्धति के कुछ दोषों को दूर करने की बात तो जरूर कही गयी है लेकिन आमूल परिवर्तन की बात नहीं है, विशेष रूप से गाँव के लिए कुछ बहुत नयी बात नहीं है। परम्परागत समाज के स्थान पर नया आधुनिक समाज बनाने की शारीरिक प्रक्रिया की तो चर्चा तक नहीं है। ऐसी हालत में हम कैसे मानें कि आयोग की शिक्षा-योजना से नये समाज की नयी बुनियादें बनेंगी? नतीजा यह होगा कि शिक्षा अलग रहेगी, और समाज-परिवर्तन के लिए अलग क्रान्ति की आवश्यकता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। जबतक शिक्षा और विकास में यह अलगाव बना रहेगा, तबतक नये अर्थ में कोई शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कही जा सकेगी।

●

'राष्ट्रीय विकास और शिक्षा' परिशिष्टांक

'राष्ट्रीय विकास और शिक्षा' विशेषांक के लिए हमें कई लेख उस समय प्राप्त हुए जब कि मैटर प्रेस में भेजा जा चुका था। उनमें कुछ लेख ऐसे हैं जिन्हें हमने अपने सहयोगियों से आग्रहपूर्वक लिखवाया है। अतः ऐसा तय किया गया है कि 'नयी तालीम' का अगस्त-अंक 'राष्ट्रीय विकास और शिक्षा' परिशिष्टांक के रूप में प्रकाशित हो। परिशिष्टांक साधारण अंक की तरह ४० पृष्ठों का रहेगा।

—सम्पादक

राष्ट्रीय विकास और सैनिक शिक्षा

● के. एस. आचार्लू

वह मूलभूत प्रश्न, जिसपर हमें चर्चा करनी है, यह है कि क्या सैनिक-प्रशिक्षण और सैनिक-शिक्षा के उद्देश्यों का मेल शिक्षा के उद्देश्यों से बैठता है ? विश्वविद्यालय-आयोग के विशेषज्ञों ने शिक्षा की जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है—

१ शिक्षण का उद्देश्य विश्व का एक स्पष्ट चित्र पेश करना और जीवन के प्रति समग्र दृष्टिकोण का निर्माण करना है। इसके माध्यम से हमें एक दिशा मिलती है, एक समग्र दृष्टि मिलती है, जो हमें ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समन्वय की ओर ले जाती है।

२. शिक्षण का उद्देश्य छात्रों में अन्तरात्मा के निर्देशानुसार जीवन जीने की योग्यता प्रदान करना है।

३. शिक्षण की आधार-शिला एक ऐसी स्पष्ट सामाजिक व्यवस्था है, जिसकी स्थापना के लिए हम युवकों को प्रशिक्षित करते हैं। हमारे संविधान में भी सामाजिक दर्शन की एक रूपरेखा हमारे सामने रखी है, जिससे हमारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन के सभी अंग संचालित होने चाहिए। हम एक ऐसे प्रजातंत्र की स्थापना में लगे हुए है, जिसमें आर्थिक न्याय, सामाजिक न्याय, राजनीतिक न्याय, विचार-स्वातन्त्र्य, अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-स्वातन्त्र्य, अवसर की समानता, मित्रता के भाव एवं व्यक्ति की मर्यादा का पोषण हो और राष्ट्रीय ऐक्य को बल मिले।

शिक्षा का उद्देश्य

विश्वविद्यालय-आयोग के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य हर व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क एव आत्मा को प्रजातान्त्रिक स्वातन्त्र्य के अनुरूप निर्माण करना है। प्रजातान्त्रिक समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धो का विकास करना और छात्रों में ऐसी योग्यता प्रदान करना निहित है, जिससे उनमें जीने की कला आये और साथ-साथ काम करने की योग्यता बढे। इसका अर्थ यह है कि शैक्षणिक सस्थानो को विचार-स्वातन्त्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य को बढावा देना चाहिए और व्यक्ति में निहित अच्छाइयों और मानवीय मूल्यों मे विश्वास रखना चाहिए। शिक्षण व्यक्ति के अन्दर निहित शक्तियो और उसकी विशेष योग्यताओ की खोज कर उन्हें प्रशिक्षित करता है और उनका भरपूर उपयोग करता है। इससे उसे ऐसे अनुशासन की शिक्षा मिलती है जो उसपर लादी नही जाती, वरन् जिसे वह विकास के विभिन्न क्रमो में सहज रूप से सीखता है।

शिक्षण देते समय हम एक ऐसे स्वतत्र समाज के लिए योजनाएँ बनाते है, जिसमें ऐसे स्त्री और पुरुष नागरिको की तरह रह सकें, जिन्हे मस्तिष्क और अन्तरात्मा के आन्तरिक स्वातन्त्र्य का भान हो और जो ऐसे निर्भीक एजेन्ट्स की तरह कार्य कर सकें, जिनमें सत्य-असत्य तथा भले बुरे को पहचानने की शक्ति हो। शिक्षण का कार्य अपने समाज के सदस्यो में मानसिक निर्भयता, अन्तरात्मा की दृढता और उद्देश्यों के प्रति निष्ठा बढाना है।

विश्वविद्यालय की शिक्षा का मूल उद्देश्य स्वस्थ नेतृत्व प्रदान करना है। हमें लोगो को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए, जिससे उनमें अधिकाधिक अनुभव, परिपक्व दृष्टिकोण और मान्य आदर्शों के सन्दर्भ में ठीक-ठीक निर्णय ले सकने की क्षमता आये। ऐसा नेतृत्व निरकुश और अधिनायकवादी परिस्थितियों में पनप नही सकता। विश्वविद्यालयों को राजनीति के नियत्रण से मुक्त होना चाहिए और मुक्त जाँच की भावना को प्रोत्साहित करना चाहिए।

शिक्षण का अर्थ

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यो की चर्चा करते हुए विकासशील प्रजातान्त्रिक नागरिकता के लिए शिक्षा के महत्व पर विशेष बल दिया है। प्रमुख शिक्षा शास्त्रियो के एक दल ने कहा है कि किसी प्रजातान्त्रिक प्रदेश म हर व्यक्ति को राष्ट्र की हर जटिल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओ पर अपना स्वतत्र अभिमत रखना और कौन-कौन से कदम उठाये जायें, यह भी उसे स्वय सोचना चाहिए। ऐसी स्थिति में शिक्षा का यह कर्तव्य है कि वह छात्रो मे स्पष्ट चिन्तन और नवीन विचारो की ग्राह्यता की शक्ति विकसित करे, जिससे उनमें समझदारी बढे और ऐसी शक्ति आये जिससे वे सत्य से असत्य को और वस्तुस्थिति स प्रचार को अ ग कर सकें तथा धर्मोन्माद और पूर्वाग्रह को अस्वीकार कर सकें। प्रजातन्त्र में शिक्षण का अर्थ है हर व्यक्ति के व्यक्तित्व का 'पूर्ण एवम् सर्वांगीण विकास करना और उसे विश्व नागरिक' का भान कराना।

उक्त दो प्रमुख आयोगो ने शिक्षा के, जो लक्ष्य एव उद्देश्य बतलाये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शिक्षण की योजना को हमारे युवक और युवतियो मे निम्नलिखित मूल्यो की स्थापना करनी चाहिए—

> जीवन के प्रति समग्र दृष्टि, सामाजिक न्याय और स्वातन्त्र्य के अनुरूप प्रजातान्त्रिक समाज के कार्य-क्रमो में भाग लेने की क्षमता, व्यक्ति को अपने आप में एक पूर्ण इकाई मानकर उसमें निहित गुणो के प्रति आस्था, आन्तरिक अनुशासन, स्वतत्र और निर्भय चिन्तन की शक्ति तथा विश्वनागरिकता का भान।

किसी भी सामाजिक पुनरुत्थान की योजनाओ की सरचना सिर्फ इसी उद्देश्य से की जाती है कि यह पता चल सके कि यह सामाजिक पुनरुत्थान के निश्चित मूल्यो की विरोधी तो नहीं है। सामाजिक पुनरुत्थान के लिए शैक्षणिक पुनरुत्थान अत्यावश्यक है, यह बात सभी ने स्वीकार की है। अत यदि शिक्षण को इच्छानुकूल परिणाम लाने हैं तो यह आवश्यक है कि शिक्षण के हर पहलू—जैसे पाठ्यक्रम विन्यास, प्रशिक्षण की पद्धति,

मूल्यांकन पाठ्येतर पाठ्यक्रम शिक्षक प्रशिक्षण अनुशासन शारीरिक स्वास्थ्य एवं प्रशासन, इस प्रकार नियोजित हों जिनसे मान्य मूल्यों को परोक्ष या अपरोक्ष रूप में बल मिले। ऐसे कार्यक्रम जो मान्य आदर्शों एवं लक्ष्यों के अनुरूप नहीं हैं उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए।

× × ×

इस लेख में हम युद्ध-कला के लक्ष्य और उद्देश्यों तथा सैनिक सुरक्षा के कार्यक्रमों की जांच नहीं करना चाहते, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन के मुख्य अंग हैं बल्कि हम मात्र यह देखना चाहते हैं कि राष्ट्रीय शिक्षण की परियोजनाओं में सैनिक शिक्षण का प्रवेश कहां तक उचित है।

सैनिक प्रशिक्षण का लक्ष्य

सैनिक प्रशिक्षण का उद्देश्य किसी शक्तिशाली शत्रु के खिलाफ सैनिक तैयारियां करना और युद्ध छेड़कर कुशलतापूर्वक अधिकाधिक लोगों की हत्या तथा धन का संहार करना है। सैनिक प्रशिक्षण इस बात का प्रतिपादन करता है कि शक्ति ही सर्वोपरि है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में हिंसात्मक भय दिखाना सबसे आवश्यक है। इस विचार का पोषण इस प्रचलित मान्यता से होता है कि युद्ध की तैयारियां और युद्ध राष्ट्रों के सहज सम्बन्धों के अन्तर्गत आते हैं। इससे इस विश्वास को बल मिलता है कि प्रजातंत्र के मूल्यों की रक्षा एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान आज विश्व में सैनिक साधना द्वारा ही किया जा सकता है।

सैनिक प्रशिक्षण मानव-जीवन में एक ऐसे विचार को जन्म देता है जो प्रजातांत्रिक समाज जिसमें जिम्मेदारियां और आत्मनिर्णय निहित हैं के अनुरूप नहीं है। सैनिक प्रशिक्षण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि व्यक्ति उसमें पूर्णतया खो जाता है। उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह प्रचलित नियमों और उपनियमों का ही पालन करता रहे। इन सारे-के सारे व्यवहारों में उसकी (व्यक्ति की हैसियत से) कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह पाती। इस प्रशिक्षण से सैनिकों में आत्मनिर्णय की शक्ति लुप्त हो जाती है साथ ही उसे अपने उच्च अधिकारी की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार इन सारे-के सारे व्यवहारों में उसकी अपनी कोई आवाज नहीं रह पाती।

× × ×

युग की ज्वलन्त समस्या

इस युग की सबसे महत्वपूर्ण एवं ज्वलन्त समस्या, जिसका मुकाबला मानव जाति को करना है, वह है शान्ति की समस्या। विश्व के सभी बुद्धिशील आज इस प्रयत्न में लगे हैं कि किस प्रकार सभ्य मानव जाति को हिंसा या शक्ति का सहारा लेने से रोका जा सके और उनमें पारस्परिक सद्भाव और भाईचारे की प्रतीति पैदा की जाय। ऐसी स्थिति में हमें एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का आविष्कार करना है जिससे शान्ति की सुरक्षा हो सके—व्यक्ति की मानसिक शान्ति पारिवारिक शान्ति और पड़ोसियों से शान्ति चाहे वे नजदीकी पड़ोसी हों या दूर के। शिक्षण का उद्देश्य हाथ मस्तिष्क और हृदय में समन्वय करना है न कि घूंसे में विश्वास रखना। यदि हम ऐसा मानते हैं कि शिक्षण का कार्य ज्ञान और उन तत्वों की उपलब्धियों की दिशा का संकेत करना है जिनसे सुखद और समृद्धिशाली सामाजिक जीवन की प्राप्ति हो सके तो हमारी सारी-की सारी शक्तियां को एक नयी शिक्षा की ओर केंद्रित करना है जो साथ साथ रहने की कला सिखा सके अन्यथा अधिक दिनों तक समाज टिक नहीं सकता। शान्ति का शासन मानवीय समुदाय का शास्त्र है। इससे जो चीज सबसे पहले उद्भूत होगी वह है शान्ति के बारे में चिन्तन की नवीन पद्धति, एक ऐसी चिन्तन पद्धति जो हम यह पता लगाने में सहायक सिद्ध हो सके कि शान्ति मानवीय निष्ठाओं में क्रान्तिकारी पुनरावर्तन का परिणाम है— (मानस नवम्बर २१, १९६३)। हमें विश्व के बारे में एक नये दृष्टिकोण को जन्म देना चाहिए जिसका आधार श्रद्धा विधान और मानव की महत्ता है। इसके अभाव में कोई भी समाज टिक नहीं सकता। यह भी सम्भव है कि हमें शान्ति की ओर ले जानेवाले मार्ग का ही पता न हो पर शिक्षा का मुख्य उद्देश्य उस मार्ग की तलाश के लिए सन्नद्ध रहना और उस खोज निकालना है।

यदि हमारा आदर्श शांति है और हमारा लक्ष्य पड़ोसियों से मधुर सम्बन्ध-स्थापन का है तो हमें अपने राष्ट्र के युवकों को शान्ति के लिए प्रशिक्षित करना होगा। शान्ति वर्षा की बूंदों की तरह स्वर्ग से नहीं आती, वरन्

उसका स्रोत मानवीय हृदय है। जब हम छात्रों का मानस हिंसा और युद्ध के लिए तैयार करते हैं तो सिर्फ 'शान्ति, शान्ति' का नारा लगाने मात्र से शान्ति नहीं आयगी। शान्तिमय जीवन के लिए निष्ठापूर्ण प्रयत्न ही हमें शान्ति की ओर ले जायगा। ऐसी स्थिति में हमें शान्ति के देवालयों को युद्धालयों में नहीं बदलना है।

सैनिकवाद व्यक्ति की महत्ता को समूल नष्ट करता है। यह उन युवकों को, जिनका शिक्षण जीवन के प्रति श्रद्धा रखने एवं धन की रक्षा के लिए हुआ है उन्हें ध्वंस और हत्या की कलाओं में प्रशिक्षित करता है। इस प्रशिक्षण में उसे सामूहिक हत्या के लिए तैयार किया जाता है। इस प्रशिक्षण में वह कुछ भी नहीं सोच पाता, सिवाय इसके कि जिसकी हत्या वह कर रहा है वे विरोधी पक्ष में हैं। साथ ही उसकी मानसिक तैयारी उन निरीह स्त्री और बच्चों पर बम फेंकने की करायी जाती है, सिर्फ इसलिए कि वे एक विपक्षी देश में पैदा हुए हैं। उक्त मान्यता उस प्राचीन शिक्षा के अनुरूप नहीं है, जो हमें अपने पड़ोसियों और शत्रुओं से प्यार करना सिखाती है।

सैनिक-प्रशिक्षण का आधारभूत विश्वास

संयुक्त राज्य अमेरिका के एक सैनिक मैनुअल के अनुसार, जो सैनिक प्रशिक्षार्थियों के लिए निकाला गया था—"एक राइफल से लैस सैनिक-टुकडी का उद्देश्य शत्रु का संहार उन शस्त्रों-द्वारा करना है, जो उनके पास हैं। उनका उद्देश्य शत्रु की स्थल सैनिक टुकडी का विध्वंस करना है, जहाँ कहीं भी वे पाये जायें। इसके लिए सेना के पास राइफलों के अतिरिक्त और भी चीजों की आवश्यकता है, अतः उन्हें हर प्रकार के सैनिक साज-सामान उपलब्ध कराने चाहिए, जिनका निर्माण विज्ञान, उद्योग, और युद्ध-कला ने कर लिया है।" इतना ही नहीं, सैनिकों में आक्रामक वृत्ति, पहल और साधन-सम्पन्नता का भान कराया जाना चाहिए और उन्हें इस तरह प्रशिक्षित करना चाहिए, जिससे अपनी सारी-की सारी विध्वंसक शक्ति से शत्रु का सामना कर सकें। उक्त प्रशिक्षण किसी भी तरह 'चरित्र शिक्षण' नहीं कहा जा सकता, जो शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार शिक्षा का मूल अंग है। सैनिक प्रशिक्षण का विश्वास 'जैसे को तैसा' और पाशविक शक्ति में है।

मिशिगन स्टेट के ऐड्रियन कालेज के अध्यक्ष श्री सैमुएल हैरिसन ने १९४० में कहा था—"जहाँतक देश-भक्ति का प्रश्न है, हम किसी के सामने नहीं झुकते, लेकिन क्रिश्चियन-देशभक्ति इससे भी ऊँचे किस्म की देशभक्ति है—अपेक्षाकृत उस देशभक्ति के, जो सैनिक-शक्ति-द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा करना चाहती है। यह हमारा कर्तव्य है कि हम उन सभी आध्यात्मिक और बौद्धिक शक्तियों का उपयोग करें, जो प्रजातन्त्र के आधार बनाते हैं। हमें यह ज्ञात है कि वह दिन दूर नहीं, जब 'सरमन आन द माउण्ट' में विश्वास रखना जेल के लिए बुलावा देना होगा। ऐसे युग में यदि हमारे छात्रों के बीच ऐसे क्रिश्चियन वृत्तिवाले छात्र हों, जिनकी मान्यता यह हो कि नर-संहार करना पूर्णतया गलत है और जो नर-संहार में भाग लेने से इनकार करते हों उन्हें गिरजाघरों और *विद्यालयों से समर्थन प्राप्त होना चाहिए—*" (मिलिटरिज्म इन एजुकेशन)।

सैनिक-प्रशिक्षण का प्रभाव

अब कुछ क्षणों के लिए हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि *इस सैनिक-प्रशिक्षण का मानवता* और मानवीय आशाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। एक युवा सैनिक, जो अपना प्रशिक्षण-काल पूरा करके अपने पिता के पास लौटता है वह अपने पिता से प्रशिक्षण की अवधि में सुने गये भाषणों और वहाँ पर भिन्न दृष्टिकोणों के बारे में क्या कहेगा? क्या वह अपने पिता से यह कह सकेगा कि उसने मानव-जाति से प्रेम करना सीखा है या वह सभी मानवीय परिस्थितियों में करुणामय व्यवहार कर सकेगा?

मनुष्य दो महान शक्तियों का अधिकारी है—ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति और हृदय की वह शक्ति, जिससे वह प्रेम कर सके। अब यह शिक्षा का कार्य है कि वह उक्त दोनों शक्तियों का भरपूर विकास मानव-जाति के कल्याण के लिए कर सके। कोई शैक्षणिक पद्धति, जिसमें इन जन्मजात गुणों के पुष्पित एवम् पल्लवित होने में बाधा आती है बहुत ही खतरनाक है। इसे अस्वीकृत कर देना चाहिए। ●

—अनु०-गुरुदत्त

शासन-मुक्त लोक-शिक्षा

• काका कालेलकर

पूज्य गाधीजी के जाने के बाद देश में गाधीवाद की अनेक धाराएँ हो गयी है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। स्वराज्य प्राप्ति के विराट सकल्प के कारण ही सारा राष्ट्र गाधीजी के पीछे इकट्ठा हुआ था। जो लोग गाधीजी को नहीं मानते थे व स्वराज्य के आन्दोलन में सक्रिय हिस्सा नही लेते थे तो भी उन्होंने स्वराज्य के आन्दोलन में विघ्न नही डाला यह तो उनकी सेवा थी ही। जिन्होंने विघ्न डाला उन्हें उसका अग्रेजो की ओर से पुरस्कार मिला आज मिल रहा है। उनकी बात हम छोड दें लेकिन स्वराज्य प्राप्ति के दिनों में काग्रेस ने घोषित किया कि जो स्वराज्य मिलेगा वह सारे राष्ट्र को मिलेगा। स्वराज्य प्राप्ति के लिए जिन्होंने विशेष कोशिश की उन्हें विशेष अधिकार मिलेंगे ऐसी बात नही होगी।

गाधीजी की दुहाई कबतक ?

जिन लोगों ने काग्रेस के साथ स्वराज्य का आन्दोलन चलाया उन्ही के हाथ में राज्य की बागडोर जाना स्वाभाविक था लेकिन जिन्होंने स्वराज्य-आन्दोलन के प्रति अनास्था और उपेक्षा दिखायी थी वे धीरे धीरे अधिकारारूढ होते जा रहे है। शिक्षा का ही क्षेत्र लीजिए। काग्रेस के हाथ में स्वराज्य के अधिकार जाते ही विद्वानों ने कहना शुरू किया कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। शिक्षा का माध्यम या वाहन हिन्दी को ही होना चाहिए। गाधीजी के विचार ही काग्रेस को मान्य थे इसलिए उन्ही विचारों की ताईद करना

विद्वानों ने जरूरी समझा, लेकिन धीरे धीरे कांग्रेस पक्ष में मतभेद प्रकट होने लगे। सब कांग्रेसवालों ने गाधीजी के सब सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया था। किसी ने एक चीज को महत्व दिया, किसी ने दूसरी चीज को महत्व दिया। देश के सब लोग अपने को गाधीवादी कहने लगे। पूर्णरूप से गाधीवादी कोई एक भी है क्या? सूर्य प्रकाश के सामने जब बिल्लोरी काँच का शख रखा जाता है तब सूर्य प्रकाश की सात किरणें अलग-अलग हो जाती हैं। स्वराज्य के दिना में सब मिलकर जो सूर्यप्रकाश हुआ था स्वराज्य होने के बाद उसका सप्तवर्णी इन्द्रधनुष बना और हर एक रग अलग-अलग रूप से प्रकट हुआ। हर एक रग को कहने का अधिकार था कि हम सूर्य किरण ही है। हर एक की बात कुछ हद तक सही थी, पूर्ण रूप से किसी की भी नहीं।

ऐसी हालत में सबसे अच्छा रास्ता यही है कि गाधीजी की दुहाई देकर कोई अपनी बात आगे न करे। गाधीजी ने क्या कहा था, उनके सिद्धान्त क्या थे, उनके वचनों में से स्थायी तत्त्व कौन-से हैं और उस काल में ही सही थे और आज सही नहीं हैं ऐसे कालिक तत्त्व कौन-से हैं, इसकी चर्चा हमेशा होती ही रहेगी। ऐसी चर्चा अनिष्टकर भी नहीं कही जा सकती।

गाधीजी ने एक दफा स्वय कहा था कि मेरे कार्यक्रम में सबसे महत्व का कार्यक्रम है खादी का। इसीलिए मैंने इसे ग्रहमाला का सूर्य कहा है, लेकिन अगर कुछ चमत्कार होकर हिन्दुस्तान में कपास की पैदाइश होना ही बन्द हो जाय और कपडे के लिए कुछ दूसरा ही प्रबन्ध करना पडे तो मैं अपना खादी का कार्यक्रम छोड दूँगा। सत्य, अहिंसा, सयम, अस्तेय आदि जीवन के उत्कर्ष के सनातन तत्त्व कायम ही रहेंगे। उनके बारे में हमारा आग्रह दिन-पर दिन बढ़ता ही जायगा, लेकिन दूसरी बातें समय समय के अनुसार बदलती जायँगी।

इसलिए, हर एक आदमी को कहने का अधिकार होता है—'मेरा विश्वास है कि गाधीजी आज जीवित होते तो जरूर अपने कार्यक्रमो में और अपनी मान्यता में उन्होंने परिवर्तन या तबदीली की होती। गाधीजी का मानस अनुभव के अनुसार बढ़ता जाता था। निर्जीव पदार्थ-जैसे वे अप्रगतिशील या अपरिवर्तनशील नहीं थे। आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, इसलिए उनका नाम लेकर उन्हीं की उस समय की बातें आज चलाना ठीक नहीं होगा।'

यह भूमिका भी सही है। हालांकि महात्माजी खूब सोचकर अपने कार्यक्रम की बातें करते थे, सत्य, अहिंसा, आदि अपने जीवन सिद्धान्त पर कसने के बाद ही वे सामने रखते थे, और इसीलिए उन्हें अपने कार्यक्रम में आमूलाग्र तबदीली नहीं करनी पडी। विशेष अनुभव के बाद उन्होंने कई बातें अधिक स्पष्ट की हैं। दूसरी कई बातें उन्होंने शायद मर्यादित भी की हों, लेकिन उनका साहित्य ध्यान से पढनेवाला का कहना है कि गाधीजी के लेखन में शुरू से लेकर आखिर तक उनके मूलभूत सिद्धान्त एक-से पिरोये हुए हैं, अनुस्यूत हैं।

अँग्रेज गये, अँग्रेजी आयी

शिक्षा के बारे में गाधीजी का कार्यक्रम और उनकी नसीहत दिन पर दिन स्पष्ट होती गयी है। इसलिए यह तो स्पष्ट पहचाना जाता है कि गाधीजी ने क्या कहा था और आज हम कहाँ जा रहे हैं। पिछले दस बरस में सारे राष्ट्र में और शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले सब लोगों ने गाधीजी के विचार छोड दिये हैं और उन्होंने आगे बढने की जगह उत्तरोत्तर तुच्छ प्रगति की है।

कांग्रेस ने और कांग्रेस के पीछे चलनेवाली जनता ने अँग्रेजों के हाथ से स्वराज्य छीन लिया, लेकिन स्वराज्य मिलने के बाद वह ऐसे लोगो के हाथ में सौंप दिया, जो अँग्रेजी भाषा के ही हामी भरनेवाले हैं। राज्य चलाने का जरिया और शिक्षा चलाने का जरिया अंग्रेजी न हो, ऐसा माननेवाले और कहनेवाले लोग बाजू पर हट गये हैं और सारा राज्य अँग्रेजीवालो के हाथ में सौंपा गया है। अँग्रेजों का राज्य चला गया और अँग्रेजी का राज्य स्थापित हुआ है और शिक्षा के बारे में गाधीजी के विचार बिलकुल एक बाजू पर रख दिये गये।

शिक्षा और ग्राम-रचना का काम

अब जैसा-जैसा अनुभव होता गया पुरानी शिक्षा-पद्धति के दोष फिर से ध्यान में आने लगे और जब जवाहरलालजी ने कहा कि गाधीजी की बुनियादी तालीम

का कार्यक्रम ही अच्छा था तब सब के उव सरकारी शिक्षा-शास्त्री और दूसरे लोग कहने लगे कि हम भी बुनियादी तालीम को अच्छा समझते हैं उसी का चलाना चाहते हैं। बुनियादी तालीम पर व्याख्यान होने लगे, सेमिनार होने लगे। थोड़े ही दिनों में किताबें तैयार हुई और फिर लोग कहने लगे कि बुनियादी तालीम की आजमाइश हो चुकी, वह कामयाब नहीं है उसे छोड़ ही देना चाहिए। ऐसे लोगों ने इसके पहले भी बुनियादी तालीम को बाकायदा स्वीकार किया और बाकायदा उसका इनकार भी किया। अपने अधिकार जिन्हें छोड़ने नहीं हैं, नौकरी में रहना है और तरक्की पानी है उनके लिए दूसरा रास्ता है ही नहीं।

ऐसी हालत में हमारा सुझाव है कि गाँव की शिक्षा और ग्रामजीवन की पुनर्रचना का काम सरकार अपने हाथ में न रखे।

गाँव की शिक्षा किसके हाथ में ?

जिस तरह मैट्रिक के बाद भी उच्च शिक्षा का खर्चा सरकार देती है अच्छे अच्छे कालेज भी चलाती है, तो भी उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करनेवाले विद्यापीठ विश्व-विद्यालय सरकार से स्वतन्त्र हैं। उच्च शिक्षा के स्वरूप का निर्णय युनिवर्सिटी के नाम से संगठित हुई विद्वत् मण्डली के हाथ में है, सरकार उनकी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता मंजूर करती है, उसी तरह ग्राम शिक्षा और ग्राम रचना का काम लोकसेवकों की किसी संगठित संस्था के हाथ में सौंप देना चाहिए। उच्च शिक्षा अगर स्वतन्त्र रह सकती है तो लोक शिक्षा को भी स्वतन्त्र होना चाहिए। यह जिम्मेदारी हिन्दुस्तानी तालीमी संघ और सर्व सेवा-संघ जैसी स्वतन्त्र संस्था के हाथ में सौंप देनी चाहिए। राजनीतिक पक्ष का ख्याल रखे बिना लोकसेवा का, जिन्होंने व्रत लिया है ऐसे लोगों का संगठन बनाकर उस क्षेत्र के तजुरबेकार लोगों के हाथ ग्राम-लोक शिक्षा का प्रबन्ध सुपुर्द कर देना चाहिए।

शहर के विद्वान लोग और शहरी बच्चों के माँ-बाप रूढ़िवादी और अप्रगतिशील होते हैं। ये सभी राष्ट्र की प्रगति में बाधा डालेंगे, इसलिए शहर की शिक्षा पुराने ढंग से अगर लोग चलाना चाहें तो उनकी इस इच्छा में बाधा नहीं डालनी चाहिए, लेकिन सरकारें ऐसी पुरानी शिक्षा-पद्धति को मान्यता न दें। सरकार को चाहिए कि वह एक कानूनी स्टेच्युटरी बोर्ड बनाये, जिसमें सब पक्ष के लोकसेवकों के प्रतिनिधि हों, लेकिन ऐसे लोगों को चाहिए कि वे राजनीतिक झगड़ों से दूर रहें और लोक शिक्षा का काम अपने हाथ में लें।

सरकार की नीयत आज इससे उलटी है। ग्राण्ट की छड़ी से जोर से वह सब तरह की लोक-संस्थाएँ अपने काबू में लेती जा रही है।

कम से कम लोक शिक्षा का क्षेत्र शासन के प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए। सरकारें ऐसे मुक्त शिक्षा प्रबन्ध को आर्थिक मदद जरूर दे, लेकिन किसी भी संस्था को सरकार अपनी ओर से ग्राण्ट न दे। अनुदान देने का अधिकार सर्व-सेवा-संघ-जैसे लोक-सेवकों के स्वतन्त्र संघ को ही होना चाहिए। शिक्षा-जैसा पवित्र सेवा कार्य पूर्णतया शासन मुक्त हो और गैर जिम्मेदार विद्वानों के हाथ में न जाय, इतना तो तुरन्त होना ही चाहिए।

•

हमारी भावना और आकांक्षा यह है कि युग-युगों से दबा हुआ देहात का औसत आदमी एक नयी फुर्ती और ताजगी के साथ उठ खड़ा हो, अपने रोज-रोज के जीवन को अपनी ही ताकत और मेहनत से सँवारने में लगे और अपने आस-पास खड़े हुए अनगिनत अवरोधों को अपनी ही शक्ति और समझ से तोड़कर जीवन के हर क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए कमर कसे।

—काशिनाथ त्रिवेदी

- राष्ट्रीय विकास और शिक्षा के माध्यम का प्रश्न
- राष्ट्रीय विकास के सन्दर्भ में शिक्षा की व्याख्या
- कुलीगिरी की तालीम या

भारत में अबतक जो विकास हुआ है, उसका माध्यम विदेशी पूंजी ही नहीं विदेशी भाषा भी रही है। इस विकास की गतिशक्ति (डायनामिक्स) विदेशी पूंजी पर आश्रित विदेशी भाषा में सोची और बनायी गयी आर्थिक योजना रही है, शिक्षा नहीं। अतः विकास की इस प्रक्रिया में जन-शक्ति और जन-मानस का उपयोग नहीं हो सका। जन-शक्ति और जन-मानस के उपयोग-द्वारा राष्ट्र का विकास करने की जो भी योजना बनेगी उसके मूल में शिक्षा होगी और उस शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय या प्रादेशिक जन-भाषाएं होगी।

राष्ट्रीय विकास और शिक्षा के माध्यम का प्रश्न

• वंशीधर श्रीवास्तव

स्वतंत्रता के इन अठारह उन्नीस वर्षों में राष्ट्र का, जो विकास हुआ है उसे राष्ट्रीय कहना गलत है ऐसा एक से अधिक व्यक्ति कहते और मानते हैं। गांधीजी की स्पष्ट चेतावनी के बावजूद स्वर्गीय नेहरू ने विदेशों से कर्ज लेकर राष्ट्र को प्रगतिशील और आधुनिक बनाने की धुन में औद्योगीकरण के जिस अराष्ट्रीय मार्ग पर डाल दिया है उससे राष्ट्र का जितना और जैसा विकास हुआ है उससे सर्वसाधारण का हित नहीं हुआ है। समाजवाद की कसम खाते रहने के बाद यह विकास पूंजीवाद मूलक है, यह भी स्पष्ट होता जा रहा है। इससे किसी विशिष्ट वर्ग का जो भी हित हुआ हो, देश की उस जनता का हित निश्चित रूप से नहीं हुआ, जो भारत के लाख लाख गांवों में रहती है और जो भारतीय संस्कृति की रीढ़ है। इन बीस वर्षों में दिल्ली की सूरत बदली है परन्तु गांव जहां-के-तहां हैं। इस विकास से देश और देश की संस्कृति की सूरत शकल बिगड़ रही है। धनी भले ही धनी हो रहे हैं, परन्तु गरीब और अधिक गरीब ही रहे हैं।

इसके जहां दूसरे कई कारण हैं वहां सबसे बड़ा कारण यह भी है कि विकास का यह कार्य भारत की जन शक्ति और जन-भाषाओं के माध्यम से नहीं हुआ है। जनता के विकास का माध्यम जन शक्ति और जन भाषाएं ही हो सकती हैं, इस तथ्य को जितना शीघ्र समझ लिया जायगा उतना ही शीघ्र राष्ट्र के सच्चे विकास का कार्य शुरू किया जा सकेगा। भारत में अबतक जो विकास हुआ है उसका माध्यम विदेशी पूंजी ही नहीं विदेशी भाषा

भी रही है। इस विकास की गतिशक्ति (डायनामिक्स) विदेशी पूंजी पर आश्रित विदेशी भाषा में सोची और बनायी गयी आर्थिक योजना रही है शिक्षा नहीं। यह विकास विकेन्द्रित स्वावलम्बन मूलक न होकर केन्द्र संचालित रहा है। अतः विकास की इस प्रक्रिया में जनशक्ति और जन-मानस का उपयोग नहीं हो सका है। जबतक जन भाषाओं का उन्नत करके उनके माध्यम से राष्ट्र के विकास की बात सोची, समझी और की नहीं जाती तबतक जनशक्ति और जन मानस का उपयोग नहीं किया जा सकता, और विकास मार्ग से राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार के विकास का जो कार्य क्रम बनेगा उसके मूल में शिक्षा होगी और उस शिक्षा का माध्यम जन-भाषाएँ (क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक) होगी।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा के माध्यम के रूप में जन-भाषाओं को विकसित करने की बात को लेकर हमेशा गलत चिन्तन हुआ है, क्योंकि यह चिन्तन उन्होंने किया, जिनका हित अँग्रेजी को बनाये रखने में ही है। उनका कहना है 'अँग्रेजी को, जो अंग्रेजों के समय से भारत की सम्पर्क-भाषा, शासन की भाषा, और उच्च शिक्षा की माध्यम रही है, तबतक बनाये रखा जाय जबतक क्षेत्रीय भाषाएँ विकसित नहीं हो जाती। यह निश्चित है कि अँग्रेजी का स्थान राष्ट्रभाषा और प्रादेशिक भाषाएँ लेंगी, परन्तु अंग्रेजी के स्थान पर इन्हें रखने की प्रक्रिया मन्द होनी चाहिए। इसमें जल्दी की गयी तो इससे शिक्षा को क्षति पहुँचेगी और शिक्षा का स्तर गिर जायगा। स्कूलों में जब एक बार शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ हो जायेंगी तो धीरे धीरे विश्वविद्यालयों में भी शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ हो जायेंगी। यह सब काम विकास की प्रक्रिया से होना चाहिए। इसके लिए अनेक तैयारियों की जरूरत होगी, प्रादेशिक भाषाओं में पाठ्यपुस्तकें तैयार करनी होंगी और उन्हें पढ़ाने के लिए शिक्षक तैयार करने होंगे। इसके लिए आपको प्रादेशिक भाषाओं में सोचना होगा। इन सब कामों में बहुत समय लगेगा। फिर भारत की एकता को कायम रखने के लिए और सुदृढ़ बनाने के लिए सम्पर्क-भाषा भी आवश्यक है। इस समय अँग्रेजी ही इस सम्पर्क-भाषा का काम कर रही है। हिन्दी विकसित होकर जबतक सम्पर्क-भाषा बनने योग्य नहीं हो जाती और जबतक सर्व-सम्मत से उसे स्वीकार नहीं किया जाता, तबतक अँग्रेजी को बनाये रखा जाय।"

यह तर्क स्वार्थियों का है। इस तर्क को मान लिया जाय तो आनेवाली सौ वर्षों में भी न तो क्षेत्रीय भाषाएँ (जन भाषाएँ) विकसित होगी, और न हिन्दी विकसित होगी। हम इस प्रकार का तर्क करते समय जन-भाषाओं के विकास और उन्हें शिक्षा का माध्यम रखने के सम्बन्ध में उन तथ्यों की ओर से भी आँखें बन्द कर लेते हैं, जिन्हें स्वयं अँग्रेजों ने भी स्वीकार किया था, परन्तु जिन्हें स्वार्थ-वश वे कार्य में परिणत नहीं कर पाये, परन्तु हम तो इतने स्वार्थान्ध हो रहे हैं कि सही ढंग से सोचना भी भूल गये हैं।

अँग्रेजी बनाम मातृभाषा

आज से एक शताब्दी पूर्व लार्ड मेकाले ने अपने प्रसिद्ध लेख (मिनिट्स) में अँग्रेजी के माध्यम-द्वारा भारतवासियों को यूरोपीय साहित्य और विज्ञान पढ़ाने की संस्तुति की और उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने उनके इस प्रस्ताव को कार्यान्वित किया। संस्कृत और अरबी फारसी पूर्वी भाषाओं पर पैसा खर्च करना व्यर्थ समझा गया और अँग्रेजी की शिक्षा को प्रोत्साहित किया गया।

लेकिन, यह ठीक नहीं हुआ है, इसे भी शीघ्र समझ लिया गया और कम से कम सिद्धान्त इस बात को स्वीकार किया गया कि अँग्रेजी के साथ वर्नाक्यूलर (भारत की प्रादेशिक) भाषाओं की शिक्षा भी देनी चाहिए। अतः उसी वर्ष पब्लिक इंस्ट्रक्शन की जनरल कमेटी ने, जिसके अध्यक्ष स्वयं लार्ड मेकाले थे, इस तथ्य को स्वीकार किया और अपनी रिपोर्ट में लिखा, "हम वर्नाक्यूलर भाषाओं के महत्व को स्वीकार करते हैं। वर्नाक्यूलर साहित्य का निर्माण हम अपना अन्तिम लक्ष्य समझते हैं, जिसकी प्रगति के लिए हमें सभी प्रयास करने चाहिए। इस समय एक विदेशी भाषा का पढ़ना तो इसलिए अनिवार्य हो गया है कि वर्नाक्यूलर भाषाओं में साहित्य का लगभग अभाव है। (ट्रविलियम ऑन एजुकेशन आव द पीपुल आव इण्डिया–पृष्ठ २२–२३)।

इस लक्ष्य को अँग्रेजों ने सदा ध्यान में रखा। १८५४ ईसवी के प्रसिद्ध डिस्पैच में सर चार्ल्स वुड लिखते हैं—"हमलोगों का उद्देश्य देश की वर्नाक्यूलर भाषाओं के स्थान पर अँग्रेजी को प्रतिष्ठित करना नहीं है। हम प्रादेशिक भाषाओं के महत्व को भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि जनता केवल इन्हीं को समझती है। किसी भी शिक्षा-प्रणाली में इन भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। और, यदि किसी भी पाश्चात्य-ज्ञान विज्ञान की शिक्षा जनता को देनी है तो वह प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से ही मिलनी चाहिए। हमलोगों का विचार है कि यूरोपियन ज्ञान के प्रचार के लिए अँग्रेजी भाषा और वर्नाक्यूलर भाषाओं का, दोनों का ही साथ-साथ अध्ययन-अध्यापन हो।" (डिस्पैच फॉर द कोर्ट आव डाइरेक्टर आव द इस्ट इण्डिया कम्पनी टु द गवर्नर जनरल आव इण्डिया—नवम्बर ४९ दिनांक १९ जुलाई, १८५४ अनुच्छेद १३–१४)।

परन्तु, डिस्पैच की इस नीति का कभी भी ईमानदारी से कार्यान्वयन नहीं किया गया और भारतीय प्रादेशिक भाषाओं को कभी भी प्रोत्साहन नहीं दिया गया।

१८५७ ई० में हिन्दुस्तान में विश्वविद्यालयों के स्थापित हो जाने के बाद प्रारम्भिक और माध्यमिक दोनों ही प्रकार की शिक्षाओं का लक्ष्य इन विश्वविद्यालयों के लिए तैयारी-मात्र रह गया और चूंकि इन नये विश्वविद्यालयों में सारी शिक्षा अँग्रेजी के माध्यम से होती थी, इसीलिए नीचे के स्तरों पर भी अँग्रेजी माध्यम की बात सोची और अपनायी गयी। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने, जो उस समय पूरे उत्तर-भारत का अकेला विश्वविद्यालय था, पहले जो यह नियम बनाया गया था कि इण्ट्रेंस की परीक्षा में इतिहास, भूगोल और गणित के प्रश्न-पत्रों के उत्तर वर्नाक्यूलर भाषाओं में दिए जा सकते थे, १८६१–६२ में यह नियम बना दिया कि जबतक विशेषरूप से आदेश न दिया गया हो, सभी विषयों में सभी उत्तर अँग्रेजी में दिये जायेंगे। इस प्रकार विश्वविद्यालयों-द्वारा वर्नाक्यूलर की शिक्षा के स्थान पर अँग्रेजी की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला।

फिर भी शिक्षा की समस्या पर विचार करने के लिए १८८२ ई० में जो इण्डियन एजुकेशन कमीशन नियुक्त किया गया उसने स्पष्ट संस्तुति की कि पूर्व माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम वर्नाक्यूलर भाषाओं को रखा जाय। अपनी रिपोर्ट में कमीशन ने लिखा—"इस स्तर पर यदि इतिहास, विज्ञान, गणित आदि सामान्य विषयों की शिक्षा भी अँग्रेजी के माध्यम से हुई तो इन विषयों में विद्यार्थी की प्रगति बहुत कम होगी। ऐसी हालत में सामान्य शिक्षा की कीमत पर अँग्रेजी की दक्षता में वृद्धि होगी।" परन्तु इस कमीशन ने हाई स्कूल-स्तर के लिए कोई निश्चित संस्तुति नहीं की और इसका निर्णय स्थानीय शासनों के हाथ में छोड़ दिया। १८०२ ई० में शिक्षा का जो दूसरा कमीशन नियुक्त हुआ उसने भी अँग्रेजी के इस प्रयोग के घातक परिणाम को समझा और अपनी रिपोर्ट में लिखा—"पाठ्यक्रम में अँग्रेजी की वर्तमान प्रमुखता के बावजूद परिणाम बहुत निराशा-पूर्ण है। मैट्रीकुलेशन के बाद विद्यार्थियों के लिए अँग्रेजी में व्याख्यानों का समझना कठिन है—बहुत तो युनिवर्सिटी की शिक्षा के बाद भी शुद्ध भाषा में पत्र तक नहीं लिख पाते। उच्चार तो सभी के भ्रष्ट हैं। अतः हमलोग यह कहने का साहस कर रहे हैं कि अँग्रेजी की शिक्षा तबतक न आरम्भ की जाय जबतक विद्यार्थी यह न समझे कि उसे अँग्रेजी भाषा में क्या पढाया जा रहा है।" कमीशन ने यह भी लिखा "जबतक स्कूलों में प्रादेशिक भाषाओं की अच्छी ट्रेनिंग नहीं दी जाती, विश्वविद्यालयों के सब प्रयास विफल जायेंगे। इस समय तो इन भाषाओं की अवहेलना हो रही है और इनके अध्यापन का काम कम वेतनवाले अयोग्य अध्यापकों के हाथ छोड़ दिया गया है।"

इस दिशा में भारत सरकार ने अपनी शिक्षा-नीति पर मार्च १९०४ ई० में, जो प्रस्ताव पारित किया था वह भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रस्ताव में कहा गया है—"अँग्रेजी की पढ़ाई के कारण वर्नाक्यूलर भाषाओं की अवहेलना हो रही है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि १८५४ ई० के डिस्पैच में जो यह इच्छा प्रकट की गयी थी कि वर्नाक्यूलर भाषाएँ जनता में पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार का वाहन बनें, वह पूरी नहीं हो रही है।" (प्रस्ताव का अनुच्छेद ८)। इसी प्रस्ताव के २६ वें अनुच्छेद में

स्पष्ट कहा गया है—"प्रारम्भिक शिक्षा की योजना में अंग्रेजी का कोई स्थान नहीं था और न होना चाहिए। शासन की कभी यह नीति नहीं रही है कि वर्नाक्यूलर भाषाओं की जगह अंग्रेजी ले ले। चूंकि हाई स्कूल-स्तर की परीक्षाएँ अंग्रेजी में होती हैं, अतः माध्यमिक संस्थाएँ समय से पहले ही अंग्रेजी की शिक्षा भाषा की हैसियत से और शिक्षा के माध्यम की हैसियत से, दोनों हैसियतों से, शुरू कर देती हैं और इसी कारण इन स्कूलों में वर्नाक्यूलर भाषाओं की शिक्षा की अवहेलना हो जाती है। सामान्यतः बालक को तबतक अंग्रेजी नहीं सिखानी चाहिए, जबतक अपनी मातृभाषा में उसकी पूरी पढ़ाई न हो जाय। यह भी महत्वपूर्ण है कि जब अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू की जाय तो उसे असमय ही अन्य विषयों की शिक्षा का माध्यम न बनाया जाय। कम से-कम १३ वर्ष की आयु के पहले अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम के रूप में न किया जाय। उस दशा में भी माध्यमिक विद्यालयों में कोई विद्यार्थी अपनी प्रान्तीय भाषा का अध्ययन न छोड़े, जो कम-से-कम स्कूल-कोर्स के अन्त तक अवश्य चले।'

आर्थर मेह्यू अपनी पुस्तक 'एजुकेशन आव एण्डिया' में लिखते हैं—

"भारत की प्राचीन भाषाओं, संस्कृत, अरबी फारसी आदि को शिक्षा का माध्यम न बनाने के निर्णय से ही सन्तुष्ट न होकर अंग्रेजी का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उसे अध्ययन का एक विषय मात्र न बनाकर शिक्षा का माध्यम बना दिया गया। लार्ड मेकाले ने अंग्रेजी के इन दोनों पहलुओं को अलग-अलग न रखकर भारी भूल की थी। इस भूल का अहितकर परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बनी और प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना हुई।"

१९३७ में जब बेसिक शिक्षा की चर्चा हुई तो महात्मा गांधी ने स्पष्ट कहा कि बेसिक शिक्षा बालकों की मातृभाषा में ही दी जाय। और, इस सात-आठ वर्ष की अवधि में उन्हें अंग्रेजी न पढ़ायी जाय। केन्द्रीय सलाहकार समिति उनके इस राय से सहमत हुई। पोस्ट-वार एजुकेशनल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया नामक रिपोर्ट में वह लिखती है—"इस विषय पर कि क्या अंग्रेजी बेसिक स्कूलों में पढ़ायी जाय, गम्भीर विचार किया गया है और समिति का यह मत है कि किसी भी परिस्थिति में अंग्रेजी को जूनियर बेसिक स्कूल के पाठ्यक्रम में स्थान न दिया जाय। हम सीनियर बेसिक स्तर पर भी उसे प्रारम्भ करने के पक्ष में नहीं हैं, लेकिन अगर किसी क्षेत्र में अंग्रेजी के लिए जनता की मांग है तो इसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय प्रादेशिक शिक्षा विभाग के हाथ में छोड़ दिया जाय।

सरकार-द्वारा वर्नाक्यूलर भाषाओं को प्रोत्साहन देने की इस नीति के रहते हुए और विभिन्न शिक्षा आयोगों-द्वारा प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बना देने की संस्तुतियों के बावजूद अंग्रेजी का अध्ययन-अध्यापन इतना महत्वपूर्ण क्यों बना रहा और क्या वह माध्यमिक स्तर पर अन्य विषयों की शिक्षा का भी माध्यम बनी रही, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है।

१९३९ में तो भारतीय विश्वविद्यालयों की चौथी कान्फ्रेंस में भी यह प्रस्तावित किया गया कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर, जिसमें डिग्री कोर्स भी शामिल है शिक्षा का माध्यम मातृभाषा (प्रादेशिक भाषाएँ) हो।

अंग्रेजी को महत्व देने का प्रमुख कारण तो १८५४ के डिस्पैच में ही मौजूद था। वह यह कि आधुनिक शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से ही दी जा सकती है। यही कारण है कि जब विश्वविद्यालय खोले गये तो उनमें अंग्रेजी को ही शिक्षा का एकमात्र माध्यम रखा गया। बाद को जब अंग्रेजों ने भारत में उच्च सेवाओं की योजनाएँ बनायीं तो उनके लिए भी अंग्रेजी को ही परीक्षा का माध्यम रखा। शासन में उच्चपद पर काम करनेवालों के लिए विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ न्यूनतम योग्यता निश्चित की गयीं। उन्हें प्राप्त किये बिना न तो उच्च सेवाओं के लिए परीक्षाओं में ही भाग लिया जा सकता था और न दूसरी नौकरियाँ ही मिल सकती थीं। दफ्तरों के बाबुओं के लिए भी अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक हो गया, क्योंकि शासक, चाहे अंग्रेज हों, चाहे भारतीय हों शासन का सारा काम अंग्रेजी में ही करते थे। इस प्रकार अंग्रेजी ऊँची-नीची सभी सेवाओं के लिए अनिवार्य हो गयी। अंग्रेजी का ज्ञान एक आर्थिक आवश्यकता हो गया। अंग्रेजी जाननेवाले ही बड़े ओहदे पानेवाले हो

होना चाहिए, वह समाजवाद की भाषा में नहीं बोलते साम्राज्यवाद की भाषा में बोलते और पुराने ढग से सोचते है। भारत जैसे बहु भाषा भाषी समाजवादी देश में सभी प्रदेशो के विश्वविद्यालयो की शिक्षा का माध्यम कोई एक भाषा नही हो सकती, होनी भी नही चाहिए। शासन का काम चलाने के लिए एक सम्पर्क भाषा रखना एक बात है और उच्च शिक्षा की भाषा दूसरी बात है। दोनो के दो रहने में किसी प्रकार की आपत्ति नही है और इस देश की एकता को कोई खतरा नही पहुँचेगा। देश की एकता को सुदृढ रखने के लिए एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है परन्तु वह भाषा देश के सभी विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम भी हो, यह कतई जरूरी नही। देश की एकता के लिए एक सम्पर्क भाषा विकसित करने की तत्काल आवश्यकता है, परन्तु वह अँग्रेजी के रहते कभी विकसित नही होगी—सौ वर्ष में भी।

दूसरा प्रश्न यह है कि इस भूमिका में अंग्रेजी का क्या स्थान होगा? गाधीजी का कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय कामो के लिए हम थोडे दिनो तक भले ही अँग्रेजी का व्यवहार कर लें, परन्तु अन्ततोगत्वा यह काम भी राष्ट्र-भाषा द्वारा ही होना चाहिए। भारत की राष्ट्रभाषा चालीस करोड जनता की भाषा होगी, जो विश्व की जन सख्या का लगभग पाँचवाँ भाग है। जबतक यह देश इस राष्ट्रभाषा को अन्तर्राष्ट्रीय पद पर प्रतिष्ठित नही करता, तबतक विश्व के देशो में उसका सम्मान नही होगा।

इस लेख में अबतक जो कुछ कहा गया है उसका विश्लेषण किया जाय तो निम्न तथ्य प्राप्त होते हैं —

१. जबतक जन-भाषाएँ (प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषाएँ) शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर से स्नातकोत्तर स्तर तक शिक्षा और परीक्षा का माध्यम नहीं बन जातीं तबतक देश में न तो समाजवाद की स्थापना होगी और न जन-विकास का काम ठीक ढग से हो सकेगा।
२ प्रादेशिक भाषाओ को प्रतिष्ठित करने के मार्ग में सबसे बडी बाधाएँ आज के विश्वविद्यालय हैं जहाँ अँग्रेजी आज भी अनिवार्य अथवा वैकल्पिक रूप में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम बनी हुई है। अंग्रेजी को विश्वविद्यालयो से अपदस्थ किये बिना प्रादेशिक भाषाओ को प्रतिष्ठित करना सम्भव नहीं होगा। अत सबसे पहले विश्वविद्यालयो में ही परिवर्तन करना है और प्रादेशिक भाषाओ को वहाँ की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम बनाना है।
३ विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम बन जाने से शिक्षा के प्रारम्भिक और माध्यमिक स्तर पर और जन-सेवा आयोगो की प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षाओ में प्रादेशिक भाषाएँ स्वत प्रतिष्ठित हो जायगी।
४. इस स्थापना से हिन्दी को सम्पर्क के रूप में विकसित करने में बल मिलेगा।
५ यह भ्रम है कि प्रादेशिक भाषाओ के उच्च शिक्षा का माध्यम होने से देश की एकता खडित होगी। एकता का सम्बन्ध शासन द्वारा प्रयुक्त सम्पर्क-भाषा से है। दोनो प्रश्नों को उलझानेवाले निःस्वार्थ होकर नहीं सोचते।

ज्ञान जब इतना घमण्डी बन जाय कि वह रो न सके; इतना गम्भीर बन जाय कि वह हँस न सके, इतना आत्मकेन्द्रित बन जाय कि वह अपने सिवाय और किसी की चिन्ता न करे, तो वह ज्ञान अज्ञान से भी ज्यादा खतरनाक होता है।

—खलील जिब्रान

कुलीगिरी की तालीम या...?

• अनिकेत

जब गांधीजी ने उत्पादन के माध्यम से बुनियादी तालीम की राष्ट्रीय कल्पना योजना देश के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों और नेताओं के सामने रखी थी तो उसे 'कुलीगिरी की तालीम'-जैसी संज्ञा दी गयी थी। क्योंकि उनकी निगाहों के सामने जिस भावी भारत का चित्र था वह कुलियों का नहीं बाबुओं का भारत था और निःसंदेह गांधीजी की यथार्थ और दूरदर्शी दृष्टि में उत्पादकों के एक नये भारत का सपना था। लेकिन, वह सपना सपना ही रहा। देश के कर्णधारों ने 'बाबुओं' के जिस भारत की नींव डाली, और उसके जो परिणाम सामने आये, उन्हें देखकर तो अब यह शंका होने लगती है कि क्या गांधीजी का सपना ३० जनवरी सन ४८ की संध्या को उनकी पलकों में ही सदा सर्वदा के लिए बन्द हो गया?

बंगाल के अकाल पर अपनी राय जाहिर करते हुए गांधीजी ने कहा था कि देश में नयी तालीम चलती होती, तो यह अकाल नहीं आता। इतने दिनों बाद उड़ीसा में फिर वही अकाल लौट आया। लोग अमरूद और पीपल की पत्तियाँ खाने लगे, अपने बच्चों को एक-एक रुपये पर महाजनों के हाथों बेचा, तिसपर भी भूख उनकी हड्डी-पसली में उनके प्राणों को निगलती ही गयी है। इस समय गांधीजी की बातों को दुहरानेवाला भी कौन है कि नयी तालीम होती तो उड़ीसा का यह अकाल नहीं होता।' और अगर कोई जुबान दबे बातें। आज दुहराये भी तो किनसे

'बाबुओं के कानों तक पहुँचेगी यह आवाज ?

नयी तालीम गांधीजी के जीवन की सर्वोत्तम देन है, लेकिन उस अन्तिम और सर्वोत्तम देन की जब भी याद आती है तो सचमुच प्रश्नों की एक लम्बी कतार सामने खड़ी हो जाती है। उन प्रश्नों का जवाब कब मिलेगा ? कहाँ मिलेगा ? कैसे मिलेगा ?

अपनी पुस्तक एजुकेशन आव होल मन में अमेरिकन शिक्षाशास्त्री श्री राल्फ बारसोदी का कहना है—

Throughout the whole world, both in the East and the West, there is an acute feeling of discomfort among thoughtful and concerned men and women about the problem of educ ation In America, inspite of the mult plication of schools of all kinds, from nursery schools to universities, the more thoughtful and the more concerned leaders of education never theless feel that somthing is seriously wrong

(शिक्षा की समस्या पर, सारी दुनिया में क्या पूर्व और क्या पश्चिम, सब जगह के विचारक तथा शिक्षा से सम्बन्धित अधिकारी स्त्री-पुरुष एक विशेष शैक्षिक समस्या का अनुभव कर रहे हैं। नर्सरी स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक की बढ़ती हुई संख्या के बावजूद अमेरिका में अपेक्षाकृत अधिक विचारशील और शिक्षण के अधिकारी नेता यह महसूस कर रहे हैं कि कुछ भयंकर गलती हो रही है।)

शिक्षा की बुनियादी समस्या

वास्तव में गांधीजी ने इस बात को समझकर ही नयी तालीम की परिकल्पना पेश की थी। उन्होंने माना था कि शिक्षा की समस्या प्राथमिक शालाओं से मात्र विश्वविद्यालयों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह (शिक्षा की समस्या) पूरी दुनिया के नव निर्माण की समस्या है। वैज्ञानिक उपलब्धियों और समृद्धि के शिखर पर पहुँचा हुआ और अतिशिक्षित नागरिकोंवाला देश अमेरिका आज इस बात का ताजा और सबसे बड़ा उदाहरण है कि पूरी दुनिया में शिक्षा की जो दिशा चल रही है उससे मानवता का पोषण नहीं शोषण हो रहा है बल्कि तेजी से क्षय हो रहा है।

दुनिया के नक्शे पर जहाँ भी निगाह जाती है, तथा, कथित सभ्य शिक्षित और समृद्ध यानी विकसित देश धर्म राष्ट्र आदर्श और विचार के नाम पर उन सभी पिछड़े, अविकसित असभ्य और आदिवासी लोगों की तुलना में अत्यधिक क्रूरता के साथ मनुष्य के रक्त की नदियाँ बहाने की तैयारी में दिनरात व्यस्त हैं। यह परिणाम है सदियों की चली आ रही असन्तुलित, एकांगी परम्परा ग्रस्त कुशिक्षा का। इसीलिए आज विद्यालयों के पाठ्यक्रम में फेरबदल करने शिक्षालयों की संख्या बढ़ाने और सैनिक शिक्षण देने से समस्या एक इंच भी हल होने की जगह निरन्तर उलझती ही जा रही है।

कुशिक्षा के ऐतिहासिक कारण

इस कुशिक्षा का ऐतिहासिक कारण है। मानव-विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज की रचना और उसका संचालन सत्ताधिकारियों के हाथों में रहा है, और उन सत्ताधिकारियों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए ही शिक्षण की रूपरेखा और व्यवस्था में समय समय पर फेर-बदल किया है। मनु कन्फूशियस और प्लेटो ये तीन इतिहास के अपवाद हैं जिन्होंने समाज का नेतृत्व शिक्षक के द्वारा हो, ऐसी बात कही है, लेकिन कुल मिलाकर विचारक का विवेक वैज्ञानिक और कलाकार की प्रतिभा, सुधारक का उपदेश और योद्धा का पौरुष सत्ता के संरक्षण में ही लगता रहा है और आज भी लग रहा है जिसकी निष्पत्ति है युद्ध की वर्तमान विभीषिका।

इसलिए, शिक्षा की पहली और जागतिक समस्या है कि दुनिया युद्ध और हिंसा मुक्ति की ओर कैसे बढ़े ? यानी युद्धमुक्त संसार की रचना के लिए शिक्षा कैसी हो, यह आज की वास्तविक समस्या है।

'बाबूगिरी' की तालीम का परिणाम

हमारे नेताओं की आकांक्षाओं को पश्चिमी प्रगति की चकाचौंध सम्पूर्ण रूप से अपने प्रभाव में ले चुकी थी। उनके सपनों में बापू की कुलीगिरीवाली तालीम नहीं समायी क्योंकि वहाँ पहले से ही उपनिवेशवादी और वैज्ञानिक उपलब्धियों के आधार पर विकसित एकांगी

असन्तुलित और हिंसात्मक सभ्यता का विकास करनेवाली आधुनिकतम शिक्षण की कल्पना मौजूद थी। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप वैसा बना, जिसका परिणाम है कि प्रतिवर्ष मैट्रिक पास होनेवाले २२ लाख शिक्षितों में केवल ७ लाख काम में लगते हैं और बाकी के सारे पढ़े-लिखे लोग बेकारी के शिकार हैं, और इनकी संख्या तेजी से बढ़ती ही जा रही है। ये रोजगार पाये हुए लोग भी उत्पादक नहीं हैं, बल्कि सरकारी, गैर सरकारी कार्यालयों में नौकरियाँ करते हैं। आज जब कि हमारे देश की जन-संख्या २ प्रतिशत हर साल बढ़ रही है और सन् २,००० में ४५ करोड़ की जगह ९० करोड़ हो जाने-वाली है उस हालत में (अधिक नहीं लगभग ३४-३५ सालों के बाद ही) ४० करोड़ लोगों को रोजगार देना होगा, जब कि आज देश में सिर्फ ७ करोड़ के लगभग लोगों को रोजगार देने की क्षमता है। अगर यही स्थिति कायम रही, तो निश्चित ही आज से ३४-३५ साल बाद एक नहीं, अनेक राज्यों में उड़ीसा का अकाल फैलेगा, इतना ही नहीं शिक्षित बेकारों की इतनी बड़ी संख्या क्षोभ और निराशा से भरकर कितनी विध्वंसक हो जायगी, आज इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। जो भी होगा, निस्सन्देह यह बाबूगिरी की तालीम का ही नतीजा होगा क्योंकि तेजी से पैदा हो रहे हाथों में उस तालीम ने कलम थमायी है और कुदाल के प्रति नफरत पैदा की है।

स्पष्ट है कि गांधी के विचार को राष्ट्र ने नहीं अपनाया, क्योंकि राष्ट्र के नेताओं, कर्णधारों की कल्पना में राष्ट्र की तसवीर ही कुछ और थी, जबकि बापू एक नये समग्र व्यक्तित्व, सन्तुलित मस्तिष्क और व्यापक भावनावाले उत्पादक नागरिकों के समाज की कल्पना करते थे।

नयी तालीम की रूपरेखा

गांधीजी ने कहा—"नयी तालीम का शिक्षण-काल माँ के गर्भ से मृत्यु तक, समाज, प्रकृति और उत्पादन उसका माध्यम, समवाय उसकी पद्धति और घर-आँगन से लेकर पूरा समाज उसकी शाला।" और इस मूल विचार से उन्होंने शिक्षण की परिधि को व्यापक किया, उसे परिस्थिति और समस्या सापेक्ष बनाया तथा मनुष्य को सदियों की सत्तागत गुलामी और हिंसा से मुक्त होने की कुंजी दी।

लेकिन, आज तो शिक्षण के नाम पर अलग-अलग शारीरिक, बौद्धिक क्षमताओं का विकास व्यवस्था और तंत्र-संचालन के लिए हो रहा है। परम्पराओं और रूढ़िगत मान्यताओं के ढाँचे में भावनाओं को ढालने का प्रयास ही रहा है। वह क्षमता कहाँ विकसित हो रही है मनुष्य के अन्दर, कि वह अपने अन्तर की पुकार को सुन सके, अपने विवेक को उसके अनुसार दिशा दे सके और शारीरिक क्षमता उसके स्वतंत्र अस्तित्व का आधार बन सके? मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं का उत्पादन करनेवाले श्रम की गरिमा से सर्वथा दूर है, ज्ञान विज्ञान के धनी उत्पादन की क्रियाओं से मुक्त है, और आत्मज्ञान के अलख जगानेवाले दुनिया की उलझनों के परे हैं। जीवन और उसकी समस्याओं से निरपेक्ष ज्ञान विज्ञान हिंसा के आधार पर दुनिया को समाप्त करना चाहता है। यह मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों के असन्तुलित और सत्ता केन्द्रित विकास का ही परिणाम तो है।

नयी तालीम माँ के गर्भ से ही शुरू हो जाती है यानी वह जीवन की तालीम है, तालीममय जीवन की बुनियाद है। समाज, प्रकृति और उत्पादन-काम—यानी जीवन के सारे सम्बन्ध और उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ नयी तालीम की माध्यम हैं, और आँगन से लेकर पूरे समाज को शिक्षण की शाला बनाने का मतलब है कि पूँजी, कानून और शस्त्र की शक्तियों पर नियंत्रण रखनेवाले शासकों के हाथ में समाज का नेतृत्व नहीं रहे, बल्कि सन्तुलित और समग्र व्यक्तित्ववाले शिक्षकों-द्वारा समाज को नेतृत्व मिले, ऐसी परिस्थिति का निर्माण हो, यह उसका लक्ष्य है।

उत्पादन के माध्यम से

हर व्यक्ति में उत्पादन की पूरी क्षमता पैदा हो जाय और जीविका व्यक्ति के अपने नियंत्रण में रहे और उसका अस्तित्व दूसरे के शोषण पर आधारित न हो, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी नाम के दो वर्ग न रहें। श्रम और बुद्धि

को भरपूर क्षमतावाले उत्पादन करें और विज्ञान मनुष्य को बेकार न बनाकर उसकी कुशलता बढ़ाये। इस प्रकार वास्तव में एक ओर उत्पादन की प्रक्रिया को तालीम का माध्यम बनाकर 'वर्ग-संघर्ष-मुक्ति' और वर्ग-निराकरण की दिशा में जाने का संकेत है, तो दूसरी ओर भारत-जैसे ही दुनिया की घनी आबादीवाले देशों के करोड़ा-करोड़ बेकार हाथों को उत्पादन-कार्यों में लगाने यानी *श्रमशक्ति को पूंजी में बदलने का उपाय है।*

समाज के माध्यम से

'स्व' केन्द्रित जीवन मूल्यों और निष्ठाओं को सामाजिक रूप देने यानी व्यापक करने के लिए नयी तालीम का माध्यम पूरे सामाजिक सम्बन्धों और समस्याओं को माना गया है। हर समस्या को हिंसा की शक्ति से हल करने की अबतक की कोशिश व्यर्थ सिद्ध हुई है। मनो-*विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियाँ इस सम्भावना* को पुष्ट कर रही हैं कि मनुष्य मूलतः बुरा नहीं है। जिन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसके मानस में 'बुराई' नाम की ग्रन्थि बनी है, उस परिस्थिति को बदलने से उस 'बुराई' की 'ग्रन्थि' स्वमेव नष्ट हो जाती है, मनुष्य की आन्तरिक 'अच्छाई' जाग उठती है। जाहिर है कि *विज्ञान के इस युग की और आगे आनेवाले युग की* भी समस्याएँ, शिक्षा द्वारा ही हल की जा सकती हैं, दण्ड और कानून-द्वारा नहीं। यह सत्तामुक्ति की दिशा है।

प्रकृति के माध्यम से

प्रकृति की परिवर्तनशीलता और गतिशीलता मनुष्य के जीवन को, मुख्य रूप से जीविका और भावना को, हर क्षण प्रभावित करती है। उसके रहस्यों का उद्‌घाटन और शक्तियों की शोध का काम तो प्रकृति को शिक्षण का माध्यम बनाने से होगा ही, साथ ही मनुष्य के चित्त का, उसके भावों का भी शिक्षण सम्भव हो सकेगा। (बच्चों के मानस और चित्त को प्रकृति की व्यापकता, गतिशीलता और परिवर्तनशीलता कितना प्रभावित करती है; इसका प्रत्यक्ष अनुभव बाल शिक्षण में होता है।)

इस प्रकार उत्पादन-कार्य के माध्यम से शारीरिक क्षमता, समाज के माध्यम से विवेक की व्यापकता और प्रकृति के माध्यम से भावना की विशालता के विकास का आधार शिक्षण की प्रक्रिया में मिलता है। (इसका मतलब यह नहीं कि उत्पादन में बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं, या कि सामाजिक विकास के लिए केवल बुद्धि चाहिए, अथवा प्रकृति के द्वारा निरपेक्ष भावना का विकास होगा। ये सभी बातें तो एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं ही, लेकिन विभिन्न माध्यमों से विभिन्न प्रमुख विषयों *का अभ्यास तो करना ही होगा है।*) इस प्रकार परि-स्थिति, समस्याओं और आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उक्त तीनों माध्यमों से जिस तालीममय जीवन पद्धति का विकास होगा, वह केवल शारीरिक क्षमता, केवल बुद्धि या केवल भावना के विकास की असन्तुलित स्थिति नहीं होगी, वह जीवन या समाज निरपेक्ष भी नहीं होगी, बल्कि सन्तुलित शक्तियों के विकास और समग्र व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया होगी। इस प्रकार नयी तालीम की इस समवायी पद्धति के कारण समाज, प्रकृति और जीवन की हर क्रिया के साथ मनुष्य का जो जीवित और जागृत सम्बन्ध बनेगा, उसके फलस्वरूप मनुष्य की शारीरिक अक्षमताएँ, मानसिक कुण्ठाएँ और भाव-नात्मक संकीर्णताएँ मिट जायेंगी।

विज्ञान की चुनौती के जवाब में

जैसा कि पहले भी जिक्र किया गया है इस विज्ञान के युग की दो चुनौतियाँ हैं, जिनका जवाब देना है *शिक्षा को*—

१ दुनिया हिंसा मुक्त कैसे हो ? और
२ तीव्र गति से बदल रही परिस्थितियों का सामना मनुष्य कैसे करे ?

क्योंकि एक तो आज जो विध्वंसक परिस्थिति है उससे मुक्त हुए बिना निर्माण की शक्ति कहाँ से आयगी ? *सारी शक्ति तो विध्वंस की क्षमता बढ़ाने और* उससे बचने में खर्च हो रही है, दूसरे, आज जो बच्चा प्राथमिक शाला में भरती हो रहा है, जब वह जवान होगा तो उस समय की परिस्थिति में और आज की परिस्थिति में भारी *परिवर्तन हो गया रहेगा। इससे भी आगे जाकर हम* कह सकते हैं कि जीवन के हर कदम पर मनुष्य को बदली हुई परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा, इसके लिए मनुष्य के अन्दर आवश्यक क्षमता का विकास

कैसे होगा ? नयी तालीम इसका जवाब है। क्योंकि इसके द्वारा—

१ श्रमिक और बुद्धिजीवी का भेद मिटेगा, वर्ग-निराकरण होगा, वर्ग संघर्ष की सम्भावना समाप्त होगी,

२ शिक्षा 'सर्व' के लिए सुलभ होगी, क्योंकि 'सर्व' के जीवन की सारी क्रियाओं में शिक्षा का प्रवेश हो जायगा,

३ 'आम व्यक्ति का समग्र विकास होगा, उसकी अन्तर्निहित शारीरिक क्षमता, बौद्धिक प्रतिभा और हृदयगत् भावना का सन्तुलित विकास होगा,

४ मनुष्य विशिष्ट असन्तुलित शक्तियों की सत्ता सेना, पूंजी सम्प्रदाय वाद आदि से मुक्त होगा,

५ यह जो विधायक क्रान्ति होगी वह दुनिया की विध्वंसक परिस्थितियों को समाप्त कर देगी,

६ पूरा समाज ही शिक्षण की शाला के रूप में बदल जायगा, उसकी प्रवृत्तियां शिक्षण का माध्यम और उसकी समस्याएँ शोध का विषय बन जायेंगी यानी समाज में स्वचालित और स्वतः स्फूर्त (Au omatic and self generating) शक्ति पैदा होती रहेगी, जो हर नयी चुनौती का सामना कर सकेगी। चाहे वह पेट भरने की समस्या हो, चाहे नैतिक और सांस्कृतिक उत्थान की, अथवा मानवीय अधिकारों के रक्षा की।

गांधीजी ने नयी तालीम का विचार दिया और उसे 'जीवन शिक्षा' की संज्ञा देकर वैज्ञानिक सन्दर्भ में फिट कर दिया, किसी प्रकार से 'वाद' या प्रवृत्ति के ढाँचे में ढाला नहीं। अब इस समाज को पीछे ढकेलनेवाली तालीम कहकर निहित स्वार्थों या अदूरदर्शिता के कारण भले टाल दिया जाय, लेकिन इस विचार में भारत के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त होने का सन्देश है युद्ध मुक्त दुनिया की ओर बढ़ने का संकेत है। सम्भव है, जब यह विचार पश्चिमी देशों के प्रयोग में आ जाय, यानी विकास का हज पूरा कर ले, तब हमारा मानस इस ओर आकर्षित हो। यह भी सम्भव है कि हमारी राष्ट्रीय परिस्थितियां हमें मजबूर कर दें इस 'कुलीगिरी' की तालीम को अपनाने के लिए, जिस प्रकार स्वर्गीय नेहरू को अपने अन्तिम दिनों में गांधी विचार में आशा की किरणें दिखाई देने लगी थी।

•

लोग कहते हैं कि 'साधन आखिर साधन है'। मैं कहता हूँ कि 'साधन में ही सब कुछ समाया हुआ है'। जैसा साधन वैसा साध्य। साध्य और साधन में अन्तर नहीं है। जगत्कर्ता ने हमें साधन पर यत्किंचित् अधिकार दिया भी है, साध्य पर तो बिलकुल ही नहीं। साधन जितना शुद्ध होगा उतना ही साध्य शुद्ध होगा। इस विधान का एक भी अपवाद नहीं है। —गांधी

राष्ट्रीय विकास के सन्दर्भ में शिक्षण की व्याख्या

• तारकेश्वरप्रसाद सिंह

शुश्रूषा श्रवण चैव ग्रहण धारण तथा ।
ऊहापोहार्थं विज्ञान तत्त्वज्ञान च धीगुणा ॥

अर्थात्, सुनने की इच्छा, सुनना, सुनकर उसे पकड़ना, उसे समझना, पुन उसे स्मृति में धारण करना, उसके सम्बन्ध में विचार करना, उसका अर्थ भली भाँति समझ लेना और यथार्थ ज्ञान को आत्मसात् कर लेना, यही बुद्धि के गुण हैं और यही ज्ञान प्राप्त करने का क्रम भी है। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में बुद्धि की दो वृत्तियाँ—(१) समझना और (२) उसे स्मरण रखना जरूरी हैं, अर्थात् शिक्षण व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवतन की प्रक्रियाओं की सज्ञा है। इसपर बाहर के विद्वानो के कुछ आधारभूत सिद्धान्त दिये जाते हैं।

"Learning is not an addition of new experience, parse, nor is it old experience summed up, rather it is a synthesis of old and the new experiences with a result in a completely new organiszation or pattern of experience" (Heidgerken)

अर्थात् ज्ञानार्जन हूबहू एक नया अतिरिक्त अनुभव मात्र नहीं है और न यह पुराने अनुभव का सार-मात्र ही है, बल्कि यह नये एव पुराने अनुभवों का एकीकरण मात्र है, जिसका फल बिलकुल नये अनुभव का सगठन व प्रतिरूप मात्र होता है।

"Learning is no one specific kind of activity It is a change that occours in the organism during many

kinds of activity" R S Woodworth and Harold Schlosberg, Experimental Psychology (third edition, 1955) P 530

अर्थात् 'सीखना प्राणी के बरताव का परिवर्तन व परिमार्जन-मात्र है जो उनकी अपनी क्रिया का प्रतिफल है।'

तात्पर्य यह है कि परिवर्तन या परिमार्जन स्थायी ढंग से होना है। यदि कोई बच्चा 'लाल मिर्च' को एक बार भूल से खा लेता है तो दूसरी बार 'लाल मिर्च' सामने आने से वह कभी भी उसे नहीं खा सकता। पुनरुक्त व्यवहार का परिवर्तन प्रगतिशील होता है, यानी एक बार की सीखी हुई क्रिया में उत्तरोत्तर वृद्धि या उन्नति होती रहती है। अतः व्यवहार के प्रगतिशील परिवर्तन को सीखना कहते हैं।

शिक्षण का सीमित अर्थ केवल किसी बात को सीखना है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ व्यक्ति के विकास की प्रक्रिया-मात्र है।

शिक्षण और विद्या में अन्तर

विद्या ज्ञान को कहते हैं और उसी ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रियाओं को शिक्षण कहा जाता है, किन्तु दोनों का सम्बन्ध एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि एक-दूसरे को विलग करना असम्भव है। इसपर देश और विदेश के शिक्षाशास्त्रियों का अपना खास अनुभव भी है।

फ्रांक स्मिथ ने अपनी पुस्तक वर्ग शिक्षण के सिद्धान्त में कहा है—

"Theory should inform practice and practice should consent theory and two should grow in a mutual relationship"—P 72

अर्थात् 'सिद्धान्त से अभ्यास का उद्भव होता है और अभ्यास सिद्धान्त में संशोधन करता है तथा दोनों को एक दूसरे से सम्बन्धित होकर ही विकसित होना चाहिए।'

विश्व के महान शिक्षा शास्त्री बापू ने शिक्षा में नयी तालीम की परिकल्पना की है तथा व्यक्ति के विकास की समग्रता में विश्वास रखा है। उनके अनुसार व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के सन्तुलित विकास के उद्देश्य रखे गये हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मानव के रचनात्मक एवं सृजनात्मक क्रियाकलाप आधार माने गये हैं, अर्थात् मनुष्य के सभी प्रकार के विकास का आधार-सूत्र उसकी रचनात्मक, सृजनात्मक, सामाजिक तथा भौतिक क्रियाएँ ही होती हैं। अतः नयी तालीम में व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाने की अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास का अभ्यास किया जाता है और सामाजिक तथा भौतिक प्रतिवेश के अनुसार उसकी अन्य शक्तियों का भी विकास किया जाता है। नयी तालीम में वैयक्तिक विकास के तीन क्षेत्र—औद्योगिक प्रतिवेश, सामाजिक प्रतिवेश तथा भौतिक प्रतिवेश होते हैं। इन्हीं प्रतिवेशों के द्वारा मनुष्य की सारी शक्तियों—शरीर, मन तथा आत्मा—के विकास की परिकल्पना की गयी है। सन् १९३८ में नयी तालीम का अभ्यास-क्रम बनाया गया। एक वर्ष के अभ्यास के अनुसार उसमें परिवर्तन लाया गया। प्रत्येक वर्ष के अभ्यास के आधार पर नयी तालीम के पाठ्यक्रम में परिवर्तन होते जाते हैं। गांधीजी की एक परिकल्पना यह थी कि सात वर्ष के औद्योगिक अभ्यास से किसी भी पाठशाला का चालू खर्च निकल जायगा। वस्तुस्थिति तथा अभ्यास के अनुभव से शिक्षाशास्त्री अब इसमें शत-प्रतिशत विश्वास नहीं रखते। इस प्रकार किसी भी शिक्षा सिद्धान्त को अभ्यास की कसौटी पर कसने पर उसमें शनैः शनैः परिवर्तन होता है। जब कोई चिन्तक किसी सिद्धान्त का निरूपण करता है तब अपने सिद्धान्त को अभ्यास की कसौटी पर कसता है तदनुसार परिवर्तन भी करता है। यदि किसी सिद्धान्त का अभ्यास नहीं होता है तो वह सिद्धान्त वास्तविकता से दूर कोरी कल्पना मात्र ही रह जाता है। अतः सिद्धान्त और अभ्यास में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, जैसे धार्मिक शिक्षा में धर्म के वसूलों की चर्चा के स्थान पर बालकों को उन कामों के करने की शिक्षा दी जाती है, जिनसे उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रज्ज्वलित होती हों। एक बार एल० पी० जाक साहब ने एक शिक्षक से पूछा कि आपके विद्यालय की कार्यतालिका कहाँ है? क्या आप धर्म की शिक्षा देते हैं? एक शिक्षक ने उनको इन शब्दों में उत्तर दिया—

"We teach it in arithmetic by accuracy, we teach it in language by learning to say what

we mean We teach it in history, by humanity, we teach in Geography by breadth of mind, we teach it in the playground by fair play, we teach it in kindness to animals by courtesy to servants, by good manners to one another, and by truthfulness in all things We teach it by showing the children that we the elders are their friends and not their enemies' —L. P Jackes, in the Hibbert journal

अर्थात् हमलोग धर्म की शिक्षा गणित में शुद्धता से देते हैं भाषा में इसकी शिक्षा विचारों की स्पष्टता से देते हैं इतिहास में मानवता की शिक्षा से इसकी शिक्षा देते हैं, भूगोल में मस्तिष्क की विशालता से क्रीडा-क्षेत्र में ईमानदारी से खेल में पशुओं के प्रति दयालुता से नौकरों के प्रति सद्भावना से तथा सभी वस्तुओं में सत्यता बरतने से हमलोग धार्मिक शिक्षा देते हैं। हमलोग बच्चों को बताते हैं कि हम सयाने लोग उनके मित्र हैं।

इस तरह धार्मिक शिक्षा का सिद्धान्त बालक के जीवन अभ्यास-द्वारा दिया जाता है। अत सिद्धान्त अभ्यास के लिए मार्गदर्शन देता है तथा अभ्यास सिद्धान्त को वास्तविकता के क्षेत्र में उतारता है। एक को दूसरे से कदापि अलग नहीं किया जा सकता। ऐसा करना भी सैद्धान्तिक भूल होगी। शिक्षा क्या है—शिक्षा की बहुत-सी परिभाषाएँ होती हैं, किन्तु व्यापक अर्थ में शिक्षा के अन्तर्गत सभी प्रकार के प्रभाव आते हैं जिनसे मनुष्य के गुणों का विकास होता है। जान स्टूवार्ट मिल ने शिक्षा की परिभाषा यों दी है —

'Not does it include whatever we do for ourselves, and whatever is done for us by others, for the express purpose of bringing us somewhat nearer as the perfection of our nature, it does move in its largest acceptation, it comprehends even then indirect effects produced on character and on the human faculties, by things of which the direct purposes are quite different, by laws, by forms of government, by the industrial arts, by modes of social life, nay, even by physical facts not dependent on human will, by climate, soil and local position whatever helps to shape the human being to make individual what he is, or hinder him being what he is not—is part of his education —Inaugural Address at St Andrews, 1867

अर्थात शिक्षा के अन्तर्गत केवल हमलोग, जो अपने लिए करते फिरते हैं वे ही कार्य नहीं हैं, और जो दूसरे लोग हमलोगों की प्रवृत्तियों को विकसित करने के लिए करते हैं केवल वे ही कार्य नहीं हैं, बल्कि शिक्षा का कार्य इससे अधिक व्यापक होता है। इसके भीतर व्यक्ति के चरित्र तथा मानवीय शक्तियों पर पड़नेवाला परोक्ष प्रभाव आता है। इस तरह का प्रभाव कानून, शासन पद्धति, कला कौशल सामाजिक संगठन जलवायु भूमि की बनावट तथा स्थानीय स्थितियों से पड़ता है। चाहे जिस ढंग से मानव का स्वरूप निखरता हो, मनुष्य अपनी क्षमता को प्राप्त करता हो तथा ऐसी क्षमता, जो उसके निर्माण में रुकावट डालता हो, वह शिक्षा कहलाती है।

इस प्रकार की शिक्षा को केवल मानव-संस्कृति को प्राप्त करने के क्षेत्र तक सीमित रखने से उसको संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करना होता है। अत व्यक्ति की शिक्षा उसके समुदाय में होती है। समाज का उसपर प्रभाव पड़ता है। परिवार, राज्य, धार्मिक संस्थाएँ तथा अन्य प्रकार के संगठन का प्रभाव व्यक्ति की शिक्षा पर पड़ता है, किन्तु यदि इनमें किसी एक का प्रभाव अधिक होता है तो व्यक्ति संकीर्ण बनता है। धार्मिक संस्थाओं के अधिक प्रभाव से वह धर्मान्ध बनता है, दूसरे धर्म-वालों से घृणा करना सीखता है। अत वह पूर्ण शिक्षित होता नहीं है। यदि राज्य का प्रभाव अधिक पड़ता है तो वह संकीर्ण बनता है, क्योंकि राज्य किन्हीं खास राजनीतिक सिद्धान्तों पर बनता है।

साम्राज्यवाद, अधिनायकवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्र वाद आदि सिद्धान्तों पर राज्य का निर्माण होता है। साम्यवादी देश अपने छात्रों को साम्यवाद की शिक्षा देता है, राजनीतिक विचार की संकीर्णता पैदा करता है।

फलस्वरूप एक देश दूसरे देश के विरुद्ध है। फलत मानव-सभ्यता खतरे में पड़ गयी है। अत बालकों की शिक्षा ऐसी पाठशालाओं में होनी चाहिए जिनका सगठन मानवीय दृष्टि से हुआ हो, जिसमें मानवधर्म, मानव-कल्याण, सर्वोदय पर आधारित सत्ता, व्यक्ति के स्वतंत्र विकास आदि का अवसर मिलना चाहिए तथा उन्हीं की शिक्षा मिलनी चाहिए। पाठशाला में शिक्षा गुरुओं-द्वारा दी जाती है। गुरु को जाति भेद, वर्ग भेद, भाषा भेद, धर्म-भेद आदि दुर्गुणों को दूर करने की परिकल्पना की जाती है। यही कारण है कि शिक्षाशास्त्री शिक्षालयों को सरकारी तंत्र तथा धार्मिक संस्थाओं से अलग रखने के पक्ष में हैं। आज का शिक्षाशास्त्री व्यक्ति और समुदाय में समझौता करता है वह चाहता है कि व्यक्ति के विकास के लिए समुदाय से स्वतंत्र वातावरण उपस्थित किया जाना चाहिए, ताकि वह अपनी सारी शक्तियों के विकास में पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव कर सके, और व्यक्ति अपनी विकसित भावना से समुदाय की सेवा में रत होने की क्षमता भी प्राप्त कर ले। मनुष्य राज्य और समुदाय में विभेद करने में समर्थ हो सके। राज्य को समुदाय का सेवक बनना चाहिए। गांधीजी ने लोक सेवक द्वारा राज्य चलाने की परिकल्पना की है। सच्चा लोकसेवक सच्चा राज्य शासक भी हो सकता है। काण्ट ने कहा है कि शिक्षा केवल हमारी वर्तमान समस्याओं का साधन मात्र नहीं है, वरन् इसका आदर्श बहुत ऊँचा है और भविष्य से सम्बन्ध रखता है। शिक्षा का सम्बन्ध मानवता के आदर्श तथा मानव मात्र की सभ्यता से है। शिक्षा से आशा की जाती है कि वह व्यक्ति के भीतर उन गुणों का विकास कर दे, जिनसे व्यक्ति एक ऐसे विश्व-बन्धुत्व पर आधारित समाज का निर्माण करने में समर्थ हो पाये, जिसमें उसका जीवन तथा उसके समाज के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन एक दूसरे की सहायता से समृद्धिशाली बन सके। इस प्रकार के समाज निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति का निश्चित सहयोग होना चाहिए और यह भी सम्भव है जब व्यक्ति को इस बात की शिक्षा दी जाय कि यदि वह अपने पडोसी की सेवा करेगा तो उसका अधिक हित होनेवाला है। शिक्षा के इसी स्वरूप में आस्था पैदा करने की जरूरत है। इसी विश्वास से मानव-संस्कृति टिक सकती है।

समाज निर्माण की एक अनुभव-प्रक्रिया

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षण-द्वारा मनुष्य के जीवन और उससे समाज का निर्माण अनवरत होता रहता है।

अत जीवन और समाज निर्माण की एक अनवरत प्रक्रिया को ही शिक्षण कहा जाता है। शिक्षण-प्रक्रिया के दो पहलू हैं—एक मनोवैज्ञानिक, दूसरा सामाजिक। मनोवैज्ञानिक पहलू में बालक की आन्तरिक शक्ति का अध्ययन होता है और सामाजिक पहलू में समाज के प्रभाव का बालक के विकास पर अध्ययन होता है। बच्चा की प्रवृत्ति और क्रियाशीलता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही शिक्षा की प्रक्रिया निर्धारित मार्ग से चलती है और मनमाना नहीं होने पाती। सामाजिक परिस्थितियाँ बालक में शिक्षण की प्रेरणा, निर्देशन और समायन (एडजस्टमेण्ट) की भावना पैदा करती है। बालक घर में, पडोस में, विद्यालय में, खेल के मैदान में, सभी समय शिक्षण प्राप्त करता है। सांस्कृतिक अवसरों पर विद्वानों के भाषणों से, महान व्यक्तियों के जीवन से तथा जिनके साथ उनका सम्पर्क होता है उनसे वह शिक्षा प्राप्त करता है। मनुष्य के ऊपर सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जगत का प्रभाव जब समग्र रूप से पडता है तो वह पूर्ण मानव समझा जाता है। ऐसे मानव से उसके समाज का भी निर्माण होता है। आज के युग में अखण्ड ज्ञान की उतनी ही आवश्यकता है जितनी आवश्यकता आध्यात्मिक हृदय के निर्माण की है। इस यंत्र-युग में जहाँ नित्य संघर्ष चलता रहता है उसमें दृढ आध्यात्मिक हृदयवाला ही व्यक्ति सफल हो सकता है। विज्ञान जितनी अधिक शक्ति हमारे हाथों में सौंपता जाता है उतनी ही अधिक सम्भावनाएँ हमारे लिए पाप और पुण्य के लिए पैदा होती जाती हैं। अत विवेकपूर्ण अपनाया हुआ विज्ञान सच्ची तालीम की बुनियाद बन सकता है। परमाणु शक्ति के इस युग में यदि मानव-कल्याण हेतु व्यवहार की क्षमता मनुष्य में नहीं पैदा होती है तो अपने पूर्वजों की चिर-संचित संस्कृति का विनाश ही कर बैठेगा। ●

- अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं और शिक्षा
- सार्वत्रिक समस्याएं और राष्ट्रीय शिक्षा

सही शिक्षण लोगो को स्वय सोचने-समझने, योजना बनाने, कार्य करने और समस्याएँ उपस्थित होने पर सूझ बूझ तथा समझदारी से उनका मुकाबला करने की क्षमता प्रदान करता है। शर्त एक ही है कि वह शिक्षण स्वतन्त्र प्रयोग और पहल करने के लिए मुक्त हो। शिक्षण का दायित्व है कि वह तीव्रगामी परिवर्तनशील युग के लिए नयी पीढी को इस प्रकार सक्षम बनाये कि वह बदलती हुई औद्योगिक, सामाजिक और जागतिक परिस्थितियो में जागरूक व्यक्ति का रोल अदा कर सके।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ और शिक्षा

• रामजनम

राष्ट्रीय विकास का एक अवरोधक पहलू है अन्तर्राष्ट्रीय तनाव। प्रतिद्वन्द्विता, चाहे वह व्यापार की हो या विकास की, तनाव का कारण बनती है। तनाव के सामान्य कारण पैदा होते ही दोनों ओर से आलोचना प्रत्यालोचना प्रारम्भ हो जाती है, कीचड़ उछाला जाने लगता है और कभी कभी तो युद्ध जैसी भयावह स्थिति भी सामने आ जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना जैसे-जैसे अपने संकुचित अर्थ में प्रकट हो रही है, राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में परिवार और पाठशाला दोनों का सामूहिक कर्तव्य होता है कि वे अपने बच्चों में स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास करें। उन्हें इस बात के लिए अनुप्राणित करें कि वे राष्ट्रों के सहयोग, सहकार और सम्बन्धों के 'बनाव की दिशा में सोच-विचार कर सकें।

बदलती परिस्थितियाँ और विकास के अवसर

आज विज्ञान के नित-नये आविष्कार हो रहे हैं, औद्योगीकरण का दिन दूना रात चौगुना विकास हो रहा है, ऐसी स्थिति में पारस्परिक सम्बन्धों की नयी-नयी कड़ियाँ जुड़ती जा रही हैं और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति उत्तरोत्तर परमुखापेक्षी बनती जा रही है। एक देश की घटना दूसरे देश को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। युद्ध और अकाल-जैसी बड़ी घटनाएँ तो चाहे विश्व के किसी कोने में घटें, सारा जगत आलोड़ित हुए बिना नहीं रह पाता। इसलिए आज राष्ट्र केन्द्रित नागरिकता की

भावना नही चलनेवाली है। आज तो विश्व-नागरिकता के प्रकाश में ही सबको चिन्तन-मनन करना होगा और अपना पथ निर्दिष्ट करना होगा।

भौगोलिक पार्थक्य रहन-सहन, भाषा, धर्म तथा संस्कृति का विशेषीकरण करता है और राष्ट्रों का संगठन उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास, परिस्थितियों की परिवर्तनशीलता नयी-नयी आवश्यकताओं को जन्म देती रहती है, परिणामत एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिए लक्ष्मण रेखा खींचता है, प्रतिबन्ध की दीवालें खड़ी करता है, और यह सारा-का सारा मायाचक्र चलता है सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के नाम पर। फलत अपने राष्ट्र के प्रति आत्मीयता और भक्ति का उद्भव होता है और दूसरे राष्ट्र के प्रति भय, अरुचि और द्वेष के भाव उग आते हैं।

राष्ट्रों का छोटा-बड़ा होना, जनसख्या की कमी-बेशी तथा भौगोलिक सुख-साधनों की असमानता, एक को विकास के अवसर सुलभ करती है तथा दूसरे की राह में रोड़े बिछाती है। परिणामत कोई राष्ट्र धनी हो जाता है कोई गरीब। और, इसके अतिरिक्त व्यवस्था के स्वरूप की विभिन्नता, यानी किसी का साम्यवादी पद्धति अपनाना तो किसी का पूंजीवादी व्यवस्था को पसन्द करना, किसी का लोकतान्त्रिक पद्धति में आस्थावान होना तो किसी का राज्यतन्त्र या साम्राज्यशाही के प्रति आग्रही होना भी आपसी प्रतिद्वन्द्विता की आग भड़काने में विशेष सहायक सिद्ध होता है। राष्ट्र के नागरिकों की आवश्यकताएँ, चाहे आर्थिक हों, सामाजिक हों, धार्मिक हों या सांस्कृतिक, उनकी पूर्ति के सतत प्रयास में हर एक राष्ट्र जी जान से जुटा हुआ है, लेकिन उसे पूर्णत साफल्य कहाँ मिल पाता है? यही कारण है कि विभिन्न राष्ट्रों के नागरिक अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का सहारा लेते हैं—वे संगठन चाहे साहित्यिक हों, चाहे सांस्कृतिक हों, चाहे धार्मिक। और जब कभी इन संगठनों में मनमुटाव पैदा होता है विरोध का अंकुर उग आता है तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव हुए बिना नही रहता।

कभी-कभी राष्ट्रों की अभ्यन्तरीण दलगत राजनीति भी अभिशाप बन जाती है। एक दल के नेता अपनी स्थिति की सुरक्षा के लिए दूसरे दलों की आलोचना या समर्थन किया करते हैं। यह नीति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को उकसाने में कम सहायक नही होती। सकुचित राष्ट्रीयता और अन्धी देशभक्ति तो इस उकसाव के मूल में बनी ही रहती है। अपने रीति रिवाजों, परम्पराओं और अपनी संस्कृति को दूसरे से ऊँचा समझने की भावना पर पूर्वाग्रह कमोबेश किस देश के नागरिकों में नही होता? और, यह विष राष्ट्रीयता के नाम पर क्या-क्या गुल नही खिलाता?

भौगोलिक परिस्थितियों के अवरोध, भाषागत वैभिन्य तथा यातायात की दुरूह कठिनाइयों के कारण एक राष्ट्र के नागरिकों के मन प्राण में दूसरे राष्ट्र के नागरिकों के प्रति अवास्तविक धारणाएँ, मिथ्या मान्यताएँ और अशुद्ध विश्वास पलते रहते हैं, जो कटुता, द्वेष और घृणा के सर्जक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय एकता कैसे कायम रह सकती है?

किसी भी राष्ट्र के लिए उसकी गृह-नीति अत्यन्त महत्व की होती है, और जैसी होनी है गृहनीति उसी के अनुरूप उस राष्ट्र की परराष्ट्र नीति भी होती है। इस तरह विश्व साम्यवादी, पूंजीवादी इकाइयों में बँटकर एक-दूसरे को अपना शत्रु समझ बैठता है।

समाधान के शैक्षिक दृष्टिकोण

अब प्रश्न है कि इन अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को दूर कैसे किया जाय, या कम कैसे किया जाय?

हमारे शिक्षक चाहे वे पाठशालाओं के हों, कालेजों-विश्वविद्यालयों के हों या पत्र पत्रिकाओं के सम्पादक हों या समाज या राष्ट्र के अगुवा हों, सबका सम्मिलित प्रयास होना चाहिए कि राष्ट्र का हर आबाल-वृद्ध किसी भी समस्या पर विचार करते समय अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही विचार करे। व्यक्तिगत तथा सामूहिक चारित्र्य का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि राष्ट्रीय भावनाएँ कही भी अवरोधक न हों।

ऐसे स्वस्थ चिंतन के लिए हमारी सभी छोटी-बड़ी शिक्षण-संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीयता के विभिन्न अंगों पर विधिवत प्रकाश डालने की आवश्यकता है और

उसके लिए आवश्यकता है भाषणो की, गोष्ठियों की तथा सास्कृतिक शिष्ट मण्डलो की। एक देश के चुने हुए विभिन्न क्षेत्रो के प्रतिनिधि दूसरे देश में जायँ, एक-दूसरे को समझें-बूझें,परखें और विचारो का आदान प्रदान करे। इसके लिए आने जाने की सुविधाओ में मुक्त रूप से छूट देनी होगी, प्रोत्साहन देना होगा, लेकिन यह सजगता भी कम आवश्यक नही है कि कहीं अवाछनीय तत्वो का आदान प्रदान न होने पाये, अन्यथा राष्ट्रीय हित के स्थान पर अपूर्त क्षति भी सम्भव है।

परराष्ट्रनीति और परिवार-भावना

पिछड़े हुए राष्ट्रो के प्रति, चाहे वे विश्व के किसी भी कोने में क्यो न हो, स्नेह और सौहार्द की भावना अत्यन्त आवश्यक है। एक गरीब राष्ट्र भुखमरी का शिकार हो, अशिक्षा और पिछड़ेपन की चक्की में पिस रहा हो, और हम उसकी इस दुर्दशा को आँख मूँदकर देखते रहें, यह आज के विश्व मे कदापि चलनेवाला नही है। इसके लिए हर राष्ट्र को अपनी परराष्ट्रनीति को निर्देलीय भावनाओ पर आधृत करना होगा।

यह सच है कि बिना अन्तर्राष्ट्रीय आदान प्रदान के कोई राष्ट्र अपने को जीवित नही रख सकता। सचाई तो यह है कि आज सारा विश्व एक परिवार है, और उसके सभी देश एक दूसरे के सहयोग और सहकार के बिना अपना काम नही चला सकते, इसलिए पारिवारिक भावना से ओत प्रोत होकर एक अन्तरग माला में गूँथे बिना किसी राष्ट्र की गाड़ी चलनेवाली नही है। ससार के शिक्षाशास्त्री इस समस्या के समाधान के लिए प्रयत्नशील हैं इस प्रश्न की अनुगूँज उनके मन-मस्तिष्क को सचेष्ट एव सक्रिय बनाये हुए है यह ध्रुव सत्य है।

शिक्षा का इतिहास हमें बताता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षालय विश्व के लिए आवश्यक है, छठी शताब्दी के पूर्व सर्व प्रथम पादरे डूबियरा ने सोचा। उसके बाद पानसोफिक विद्यालयो की स्थापना हुई, जिनके सस्थापक थे कमेनियस और जिनका उद्देश्य था सम्पूर्ण विश्व में सामजस्य, एकता एव शान्ति स्थापन। आगे चलकर प्रथम विश्वयुद्ध की परिसमाप्ति के बाद श्रीमती एण्ड्रूज ने अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा विकास को राष्ट्र-सघ (लीग आव नेशस) में सम्मिलित करने का प्रयास किया। कतिपय शिक्षाशास्त्रियो के सम्मिलित प्रयास से सन् १९२५ में इण्टर नेशनल ब्यूरो आव एजुकेशन की स्थापना हुई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद दूसरे देशो के साथ-साथ रूस और अमेरिका के प्रतिनिधियों ने सयुक्त राष्ट्रसघ चार्टर में यह निश्चय किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढाने के लिए सयुक्त राष्ट्र-सघ अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति तथा शिक्षा में सहयोग को प्रोत्साहन दे। 'राधाकृष्णन् रिपोर्ट' में भी इस बात की ओर सकेत किया गया है।

विचार-शक्ति का विकास आवश्यक

जबतक अन्तर्राष्ट्रीय भाव-बोध के बाधक तत्वो को *हटाया नही जाता, शिक्षा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सहयोग* एव सहकार कायम रखने में अपने को पगु ही पायेगी। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा-द्वारा प्रत्येक व्यक्ति मे मुक्त रूप से स्वतत्रता पूर्वक विचार करने की शक्ति का विकास किया जाय और धार्मिक, सास्कृतिक और रहन सहन के मिथ्या लोभ में लगी लिपटी राष्ट्रीयता के दोषो की ओर हर छोटे-बड़े का ध्यान आकृष्ट किया जाय, राष्ट्रो के भय को दूर किया जाय, और उन्हे परस्परावलम्बन की दिशा में सोचने के लिए उन्मुख किया जाय। इसके अतिरिक्त युद्ध की विभीषिकाओं का स्पष्ट चित्र पेश किया जाय और एक राष्ट्र के प्रति दूसरे राष्ट्र के मन में विश्वास और सद्भावना जागृत की जाय।

जबतक स्वय शिक्षक विश्व-बन्धुत्व के आदर्शों में आकण्ठ नही डूबा रहेगा तबतक उससे ये कार्य होनेवाले नही है। यह ज्ञान शिक्षक पुस्तको के माध्यम से कदापि नही दे सकता। इसके लिए आवश्यक होगा कि शिक्षक मानवता का पुजारी हो। आदर्शहीन शिक्षक का अनुकरण करके अनुकरणशील बालक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वप्न देख ही कैसे सकता है ?

यह स्मरण रहे कि अन्तर्राष्ट्रीयता की पावन भावना को शिक्षा के लिए किसी नये विषय के समावेश की बात सायद बुद्धिमत्ता की बात न होगी। इस भावना की शिक्षा तो पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम के प्रत्येक विषय के माध्यम से दी जा सकती है। पाठ्यविषय चाहे भूगोल हो, इतिहास हो, विज्ञान हो, कला हो या कृषि, हर एक

के द्वारा शिशु बालक के कोमल मन पर अन्तर्राष्ट्रीयता की अमिट छाप रख सकता है। इतिहास के नाम पर राजा रानियों की कहानियाँ बहुत दिनों तक पढ़ाई गयी सन् तारीख तथा शासन प्रबन्ध घोखाया गया लेकिन अब यह चलनेवाला नहीं है। अब शिक्षक को इतिहास का विषय समाज विकास के रूप में अधिष्ठित करना ही होगा। अन्तर्राष्ट्रीय विकास शिक्षण ऊँची कक्षाओं में ही नहीं बल्कि किस्से-कहानी के रूप में छोटी कक्षाओं से ही शुरू किया जा सकता है और इसके लिए आवश्यक होगा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण।

जब शिक्षक कक्षा में भूगोल पढ़ाता है तो कौन कच्चा माल किस देश में पैदा होता है उसका वितरण किस प्रकार होता है आने जाने के अन्तर्राष्ट्रीय साधन क्या हैं आदि प्रकरणों के सन्दर्भ में अन्तर राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हर कदम पर कर सकता है। साथ ही विज्ञान पढ़ाते समय तथ्यों के साथ साथ उसे यह भी बताना होगा कि अनुसंधान करनेवाले वैज्ञानिकों के सामने एक देश की कल्पना नहीं बल्कि सारे विश्व की कल्पना थी उनकी खोजों से एक देश नहीं बल्कि सारा विश्व लाभान्वित हो रहा है। इसी प्रकार साहित्य तथा दूसरे विषयों के माध्यम से किस्से कहानियों नाटकों उपन्यासों और कविताओं की सहायता से हम अपने बच्चों को एकात्मकता की भावना में दीक्षित कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षण के साधन

परिवार तथा स्कूल के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षण के प्रसार के लिए सामाजिक संस्थाओं के योगदान की भी आवश्यकता है क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता है तो विद्यालय में पाये हुए ज्ञान का उचित उपयोग बालक समाज में कर कैसे सकता है? उसको व्यावहारिक रूप कैसे दे सकता है? बालकों के मन में यह विचार बैठाना होगा कि देशों की दूरी उनके सम्बन्ध में बाधक नहीं बन सकती। एक देश के बालक दूसरे देश के बच्चों को पत्र लिखकर अपना मित्र बना सकते हैं।

इसके लिए भिन्न राष्ट्रों की मातृभाषा में पुस्तकें होनी चाहिए। दूसरे देशों की कहानियाँ नागरी लिपि और हिन्दी भाषा में भारत के लिए उपयोगी होंगी और इसी प्रकार हमारे यहाँ की कहानियाँ दूसरे देशों में उनकी भाषाओं में उपयोगी होंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियाँ अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार एवं प्रसार के लिए बहुत उपयोगी हैं। इस दिशा में शंकर (कार्टूनिस्ट) द्वारा किया गया प्रयास हमारे देश के लिए गौरव की बात है। इन प्रदर्शनियों के माध्यम से बच्चे अपने चित्र भेजते हैं जिससे उनके विकास से दूसरे देश के बच्चे परिचित होते हैं। शिक्षा के उत्तरोत्तर विकास के साथ चलचित्रों की उपयोगिता एवं महत्व बढ़ता जा रहा है। इन चलचित्रों के माध्यम से सहयोग एवं एकता की भावना सुदृढ़ करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। बच्चों के लिए होनेवाले रेडियो और टेलिविजन कार्यक्रम भी इस उद्देश्य की सफलता में बहुत दूर तक सहायक हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं होगा। उन्हें चाहिए कि दूसरे देशों के धर्म दर्शन तथा साहित्य के अध्ययन का पर्याप्त अवसर सुलभ कर सकें। अन्धविश्वासों एवं निराधार समाचारों के आधार पर निर्मित होनेवाली ऐसी मिथ्या धारणाओं जिनसे विश्व में संघर्ष और अशान्ति के अंकुर उगते हैं को समाप्त करने में ये विश्वविद्यालय हमारे सहायक हो सकते हैं।

एक देश में दूसरे देश की पत्र पत्रिकाएं नियमित रूप से आनी चाहिए। खेल की टीमें अन्तर्राष्ट्रीय खेलों में शरीक हों तथा विश्व-सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन विश्वविद्यालयों के माध्यम से एक मंच पर होने चाहिए। बच्चों को विदेशी अतिथियों से सम्पर्क का अवसर मिलना चाहिए। अगर विश्वविद्यालय के छात्रों को इस प्रकार के अवसर दिये जायं तो निश्चय ही हमारी भावी पीढ़ी के युवक और युवतियाँ सभी बन्धन हुए स्वदेश में सोचने विचारने के अभ्यस्त हो जायेंगे और अपनी समस्याओं का सुगम हल निकालने में वे सफल हो सकेंगे।

●

सार्वत्रिक समस्याएँ और राष्ट्रीय शिक्षा

• रुद्रभान

भारत के बीते युग की महानता में आस्था रखनेवाले नायक यहाँ की आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक परम्परा के भीतर मानवीय विकास की सर्वोत्तम समाज-योजना का दर्शन करते हैं। वे अर्वाचीन के बदले परम्परागत जीवन मूल्यों की रक्षा में विश्वास रखते हैं। ऐसे नायक प्राचीन संस्कृति के पुनर्जीवन में ही राष्ट्रीय विकास की सार्थकता मानते हैं।

राष्ट्र-नायकों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो मानता है कि देश का विकास विज्ञान के साधना और उद्योग धन-समृद्धि से ही सम्भव है। इस वर्ग के लोग वैज्ञानिक शोध और तकनीकी प्रशिक्षण पर जोर देना चाहते हैं ताकि देश में बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं और इंजीनियरों की संख्या भरपूर रहे। वे इस देश को विज्ञान की दौड़ में आगे से-आगे ले जाने के लिए उत्सुक हैं। इसके लिए देशवासियों को, जो भी कीमत चुकानी पड़े उसके लिए वे उन्हें तैयार रखना चाहते हैं।

राष्ट्र मानस को प्रबुद्ध बनाने की दिशा में सोचनेवाला एक तीसरा वर्ग है जो प्राचीन एवं अर्वाचीन युग की विशेषताओं के समन्वय में व्यक्ति और समाज के विकास का स्थायी समाधान मानता है। इस वर्ग के मन में राष्ट्रीय विकास की कुछ अलग प्रकार की ही तसवीर है। उस तसवीर में अध्यात्म-बोध का तो स्थान है किन्तु किसी धार्मिक सम्प्रदायवाद का नहीं, विज्ञान का स्थान तो है किन्तु परमाणु बम बनाने का नहीं।

राष्ट्रीय विकास के चिन्तन में लगे हुए इन तीनों प्रकार के नेतृत्व के पीछे किसके साथ कितने लोगों का समर्थन है, इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है।

राष्ट्र-नायकों का जो समुदाय वैज्ञानिक साधना और प्रायोगिकी (टेक्नालाजी) में राष्ट्रीय विकास का फलितार्थ मानता है उस वर्ग के हाथों में ही देश के शासन और आर्थिक संयोजन की बागडोर पिछले १८ वर्षों से है। इस अवधि में कई आम चुनाव हुए और हर बार देश की जनता ने इसी वर्ग को देश के शासन का भार सौंपा। राष्ट्रीय विकास के लिए तीन पंचवर्षीय योजनाएँ लागू की गयीं और अब चौथी का दौर चल रहा है। इन योजनाओं के परिणामस्वरूप देश में प्रायोगिकी का विस्तार उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

बड़ा लोकतंत्र, पिछड़ा देश

वैज्ञानिक तथा प्रायोगिक विकास के बावजूद आज भी भारत शक्तिशाली राष्ट्र बनने से कोसों दूर है। बड़ी जनसंख्या के कारण यह विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है, किन्तु मानव-जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं—अन्न, आवास और शिक्षा की पूर्ति की दृष्टि से यह दुनिया के पिछड़े और कमजोर देशों में पीछे के स्थान पर स्थित है। इतना ही नहीं, देश के सामने जो नयी-नयी समस्याएँ आ रही हैं उनका सामना करने की इसकी शक्ति भी दिनोंदिन परिलुप्त-सी होती दीखती है।

भारत जैसे लोकतांत्रिक राष्ट्र का भविष्य, जितना उसके वैज्ञानिक और प्रायोगिक विकास पर निर्भर करता है उससे कहीं अधिक वह यहाँ निवास करनेवाले करोड़ा-करोड़ लोगों के चारित्र्य आत्मबल और उपस्थित समस्याओं का सामना करने की शक्ति पर निर्भर करता है। राष्ट्र की जनता में जिस हद तक यह शक्ति होती है उस हद तक ही वह शक्तिशाली हो पाता है। राष्ट्र की जनता में यह शक्ति जिस माध्यम से पैदा होती है वह है शिक्षण। अपनी सुविधा के लिए हम चाहे उसे राजनीतिक शिक्षण, सामाजिक शिक्षण या लोक-शिक्षण-जैसा कोई भी नाम दे ले, किन्तु वह है शिक्षण ही। पिछले १८ वर्षों में इस शिक्षण-नामक प्रवृत्ति के प्रति, जो लापरवाही बरती गयी उसी के अनिवार्य परिणाम हैं—राष्ट्रीय खाद्य-संकट, जनता की गहरी उदासीनता, छात्रों की अनुशासनहीनता और नाना प्रकार की भ्रष्टाचारी समस्याएँ। राष्ट्रीय संयोजन के परिणाम स्वरूप जितनी समस्याएँ सुलझनी चाहिए थीं वे तो अधूरी पड़ी ही रहीं, उनके स्थान पर और दूसरी नयी समस्याएँ भी सिर उठाये सामने आ खड़ी हुईं। राष्ट्र की प्राकृतिक तथा आर्थिक सम्पदा के विकास पर जितना ध्यान दिया गया, यदि उतना ही मानवीय सम्पदा पर दिया गया होता तो वह आज क्या इतनी विपन्न, अस्तव्यस्त और संतप्त होती?

सही शिक्षण लोगों को स्वयं सोचने समझने, योजना बनाने, कार्य करने और समस्याएँ उपस्थित होने पर सूझ-बूझ तथा समझदारी से उनका मुकाबला करने की क्षमता प्रदान करता है। शर्त एक ही है कि वह शिक्षण स्वतंत्र प्रयोग और पहल करने के लिए मुक्त हो, और तभी उसका पाठ्यक्रम राष्ट्र और जन-जीवन की परिस्थितियों से सहज सम्बद्ध रह सकेगा।

हमने जिस झण्डे को राष्ट्रीय विकास का प्रतीक स्वीकारा वह तो है तीन रंगों का, किन्तु राष्ट्र-अधिनायकों के मन में राष्ट्रीय विकास की अलग-अलग ढंग की एकरंगी तसवीर ही अंकित हो पायी है। किसी तसवीर में अतीत की अच्छाइयों के रंगों की प्रमुखता है, किसी में भविष्य के सपनों की रंगीनी है, तो किसी में जीवन की वर्तमान परिस्थितियों का मात्र-छाया-चित्र प्रतिबिम्बित है। राष्ट्रीय झण्डे की तरह राष्ट्रीय विकास की तसवीर भी तिरंगी रखनी होगी। उसमें अतीत के जीवन सिद्ध सामाजिक मूल्यों, वर्तमान युग की माँगों और भविष्य की आवश्यकताओं का समावेश करना आवश्यक है। इसके अनुरूप ही शिक्षण-योजना भी तिरंगी रखनी होगी, जो प्रौढ़ शिक्षण, युवा शिक्षण और बाल शिक्षण के क्षेत्रों तक फैली होगी। तीनों के बीच काल का गतिशील चक्र समाहित रहेगा ही।

हमारी राष्ट्रीय औद्योगीकरण की प्रक्रिया, जहाँ एक ओर उत्पादन के नये-नये साधन और तकनीक सुलभ करती जा रही है, वहीं दूसरी ओर वह उत्पादन के परम्परागत तरीकों और औजारों को बेकाम भी

बना रही है। उसमें पहले से चले आनेवाले उत्पादनों में लगे लोगों का धन्धा समाप्त हो जाता है और वे बेकार हो जाते हैं। यह परिस्थिति उनके भीतर सामाजिक असुरक्षा, भय और विद्वेष के भाव पैदा करती है, और भीतर-भीतर औद्योगीकरण की इस प्रक्रिया के प्रति उनका असन्तोष बढ़ता जाता है। चूंकि औद्योगीकरण एक ऐसी आर्थिक-सामाजिक प्रक्रिया है जिससे समाज में नयी नयी सुविधाओं और उत्पादन की गति तेज करने की तकनीकों का आविष्कार होता रहता है, इसलिए ऐसे लोग खुल्लमखुल्ला औद्योगीकरण का विरोध नहीं कर पाते। फलतः उनके भीतर उभड़नेवाला असन्तोष और आक्रोश कहीं-न-कहीं फूट पड़ने की राह ढूंढ़ता रहता है। जो लोग इस स्थिति को सही रूप में नहीं समझ पाते या समझने की क्षमता नहीं रखते, वे अपने बढ़ते हुए असन्तोष का बदला अपने परिवार, पड़ोसियों और समाज से लेने की सोचते हैं या लेने लगते हैं। बढ़ती हुई खुदगरजी, पारिवारिक कलह, चोरी, शराबखोरी पागलपन और तरह-तरह के अन्य सामाजिक अपराधों के मूल में भीतर भीतर पलनेवाली यह असन्तोष-भावना ही मूलरूप से विद्यमान है।

जिस देश की आम जनता में अपनी भावनाओं तथा संवेगों को नियंत्रित करने का संस्कार जिस हद तक मौजूद होता है वहाँ इस प्रकार की असामाजिक और आत्मघातक प्रवृत्तियाँ उस हद तक कम पायी जाती हैं।

विज्ञान के नये दिगन्त

आधुनिक विज्ञान के कारण जहाँ एक ओर प्राद्योगिकी का विकास हुआ है वहीं दूसरी ओर ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी नये-नये दिगन्तों का द्वार खुला है और खुलता जा रहा है।

मानव विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, अर्थ विज्ञान, राजनीति विज्ञान जैसे विषयों का मुख्य केन्द्र मनुष्य का व्यवहार (बिहेवियर) ही है। इन विषयों के अध्ययन और शोध में लगे हुए व्यक्ति मनुष्य की वृत्तियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए उसकी मानसिक गुत्थियों को समझने और सुलझाने का उपाय ढूंढ़ते हैं ताकि आदमी अपने असन्तोष और आवेश को इस प्रकार रचनात्मक दिशा दे कि उसके द्वारा उसका मानसिक सन्तुलन बने रहने के साथ-साथ उसकी सक्रियता को रचनात्मक आधार मिले।

नृ-शास्त्रियों, समाज शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने मिलकर पता लगाने की कोशिश की है कि मनुष्य किन स्थितियों में पड़ने पर कैसा व्यवहार करता है। उन्होंने यह भी जानने का प्रयास किया है कि आदमी के अमुक ढंग के व्यवहार का उसके नन्हें-मुन्नों पर क्या प्रभाव होता है और जब उनके बच्चे बड़े होते हैं तो उनके जीवन पर उसका क्या और कैसा असर दिखाई देता है।

किसी राष्ट्र का भविष्य वस्तुतः इस बात पर निर्भर करता है कि उसके नागरिक व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से आपसी सम्बन्धों में किस प्रकार पेश आते हैं, अपनी सामाजिक आवश्यकताओं और माँगों की पूर्ति कैसे करते हैं, और अपने मानसिक असन्तोष और आवेश को कैसे जाहिर करते हैं।

जिन लोगों को अपने भीतर असुरक्षा की प्रतीति होती है, वे किसी समुदाय के साथ जुड़ जाने में अपनी सुरक्षा समझते हैं। एक ढंग की पोशाक, रीति रिवाज, सोच विचार, खान-पान और मनोरंजन को स्वीकार कर वे अपनी रक्षा की भावना से मुक्ति पाने का प्रयास करते हैं। पन्थ, सम्प्रदाय और छोटे-छोटे संगठनों के मूल में यह असुरक्षा की भावना ही रहती है। अपनी इन्हीं राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में हमें अपनी भावी पीढ़ी के शिक्षण पर विचार करना है।

शिक्षण-योजना कैसी हो ?

भावी पीढ़ी के शिक्षण का विचार करनेवाले शिक्षा-शास्त्रियों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग मानता है कि हम बाल-शिक्षण की योजना बनाते समय देश की तीन चार पीढ़ी की ऐतिहासिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखें और उसीके अनुसार बाल शिक्षण का पाठ्यक्रम बनायें। शिक्षा शास्त्रियों का दूसरा वर्ग मानता है कि हम इतिहास के इतने तीव्रगामी परिवर्तन के युग से गुजर रहे हैं कि तीन चार पीढ़ी आगे की वस्तुस्थिति, परिस्थिति और उनकी आवश्यकताओं का ठीक अन्दाज लगाने में विफल रहेंगे। अतः हमको १० वर्ष आगे तक की सम्भाव

नाओ और आवश्यकताओ को ही ध्यान म रखकर योजना करनी चाहिए।

अमेरिका के शिक्षाविद श्री रिचड सेलिजर न अपन देशवासियो को सकेत किया है कि जो बच्चे १९६६ में किण्डरगाटन (पूव प्राथमिक) म प्रवेश करग वे १९८३ म कालेज की स्नातक परीक्षा पास करेंगे और उनके प्रौढ जीवन का अधिकाश भाग इक्कीसवी शताब्दी म बीतेगा।

आज के दस-बीस वष पहले इस प्रकार के सकेत का कोई विशष महत्व न माना गया होता किन्तु वतमान के सन्दर्भ म निश्चय ही इसका पर्याप्त महत्व है।

आज के जीवन-काल म जितनी गति से और जितन अधिक परिवतन हो रहे ह उतने पहले नही होते थ। हमारी दुनिया आज मे सौ साल पहले जैसी थी उससे आज बहुत बदली हुई है। सौ साल तो एक प्रकार से कुछ *लम्बी अवधि मानी जा सकती है दरअसल आज* से दस बीस बरस पहले की दुनिया से भी अगर आज की दुनिया की तुलना की जाय तो बहुत-सी बदली हुई परिस्थितियाँ दिखाई दगी।

कुछ सावत्रिक समस्याएँ

आज से पहले मानव की जितनी भी पीढिया गजर चुकी ह उनम से किसी के सामन एकसाथ इतन अधिक परिवतन और इतनी अधिक जटिल और परस्पर जुडी हुई समस्याएँ नही उपस्थित हुई थी। य समस्याए एसी सावत्रिक हैं कि कोई देश या जीवन का कोई पहलू इनसे अछूता नही बचा है।

जिन परिस्थितियो से य समस्याएँ पैदा हो रही ह वे निम्नलिखित हैं —

- *परिवतन की तीव्र गति*
- यत्रो का निरन्तर विकास
- जनसख्या की वद्धि
- व्यक्ति और समुदाय के लोगो की परस्पर निभरता
- सरकार की बढती हुई जिम्मेदारियाँ
- विभिन्न विचारधाराओ की आपसी प्रतिद्वद्विता
- राष्ट्रीय भावनाएँ और सहयोग की विपरीत परिस्थितियाँ
- प्राकृतिक साधनो की बढती हुई माग और उसकी खपत
- सास्कृतिक परिवतन और उसके कारण उपन्न आन्तरिक सास्कृतिक सम्बन्धो की समस्या
- व्यक्तिगत निराशाओ और आपसी तनावो की समस्या
- सामाजिक तथा व्यक्तिगत मूल्यो में अन्तर विरोध।

शिक्षण का दायित्व हो जाता है कि इस तीव्रगामी परिवतनशील युग के लिए नयी पीढी को इस प्रकार सक्षम बनाय कि वह बदलती हुई औद्योगिक और सामाजिक परिस्थितियो म जागरूक व्यक्ति का रोल अदा कर सके।

क्या पढाय, कैसे पढाय ?

यहाँ शैक्षिक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आज की बदलती हुई दुनिया में योग्यता और कुशलतापूवक *जीने के लिए छात्रो में किस प्रकार के ज्ञान और काय* कुशलता की अनिवाय आवश्यकता होगी ? क्या विद्यालय म छात्र को केवल अलग अलग विषयो की शिक्षा दी जाती रहेगी या उसे इस योग्य भी बनाया जायगा कि वह अपन सामन होनवाले परिवतन को समझ सके ताकि आग चलकर वह इस परिवतन की प्रक्रिया म एक असहाय व्यक्ति होने के बदले सक्रिय नतत्व का रोल अदा करते हुए परिवतन को कुछ इच्छित मोड देन में भी समथ हो सके ? इसी प्रश्न को दूसरे शब्दो म रख सकते हैं कि आज बालक पाठशाला म पढ रहे ह और बाहरी दुनिया और उसकी समस्याए तीव्र गति से बदल रही है तो उन्ह क्या पढाया जाय और कसे पढाया जाय कि दुनिया की बदलती हुई परिस्थिति म उनकी पढाई की उपयोगिता बनी रह सके ? क्या पाठशाला म दिय जानवाले तात्कालिक शिक्षण स *समाज म उत्पन्न होनेवाली समस्याओ के समाधान की* क्षमता बालको में आ पाती है ?

शिक्षा शास्त्रियो की मान्यता है कि अलग अलग विषयो की पढाई अलग अलग समय म जारी रखते हुए बालको को कुछ ज्ञान तो दिया जा सकता है किन्तु विषयो की पाठ्यपुस्तक-आधारित एकपक्षीय ज्ञानाजन की पद्धति-द्वारा उनम इस प्रकार की क्षमता अथवा योग्यता का आविर्भाव नही हो पाता कि अपन ज्ञान का सदुपयोग व प्रस्तुत समस्याओ के समाधान म कर पाय।

हम एकदम नय सिरे से शिक्षण देन की कोई तरकीब *ढूढ* निकालनी होगी। *हम उन्हा पहलुओ पर जोर देना* होगा जिनका वर्तमान में महत्व हो और भावी जीवन म

जिनका दूरगामी प्रभाव पडनेवाला हो। आज आवश्यकता इस बात की है कि बालक एक विषय के ज्ञान के साथ दूसरे विषय के ज्ञान की परस्पर सम्बद्धता को समझ सकें, उन्हें विज्ञान के साथ-समाज, इतिहास, कला, तथा शस्त्रास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान हो। बिना इस प्रकार की समझ प्राप्त किये उनमें आनेवाली नित्य नयी समस्याओं, नये वातावरण और समाज की गुत्थियों को समझने और उनका निराकरण करने की योग्यता नहीं आयगी। वस्तुत दुनिया के मान्य शिक्षा-शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शिक्षण को विषयगत ज्ञानार्जन के साथ सीमित रखने के बजाय, यदि प्रस्तुत समस्याओं के साथ सम्बद्ध किया जाय तो छात्रों की ग्रहण-शक्ति अधिक कारगर और उपयोगी हो जाती है।

भारत औद्योगीकरण युग में प्रवेश कर चुका है। औद्योगिक समाज के नागरिकों मे दो समानान्तर कुशलताओं की आवश्यकता पडती है--१ दुनिया के और हिस्सों में लोगों में जीने और काम करने की जो रीति-नीति बरती जा रही हो उसका परिचय रखना, २ अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक रहन-सहन की आदतों में यदि कुछ सामयिक फेर-बदल या अनुकूलन की आवश्यकता उपस्थित हो तो उसे कबूल करना।

वस्तुत आनेवाले युग के नागरिकों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्कर्ष के लिए सिर्फ इतना ही पर्याप्त नहीं होगा कि वे औद्योगिक और तकनीकी कुशलताओं में दक्ष हो, बल्कि उन्हें अपने पेशे, परिवार और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों और उसमें निहित नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्नों पर व्यापक तथा जागतिक सन्दर्भ में सोचने की योग्यता भी हासिल करनी होगी।

दो विचारणीय प्रश्न

दुनिया मे तेजी से होनेवाले परिवर्तन के साथ साथ हमारे जागतिक ज्ञान विज्ञान का दायरा भी बराबर फैलता जा रहा है। प्रचलित ज्ञान विज्ञान के इतने अधिक विषय और विभाग हो गये हैं और उनमें नयी-नयी शाखा के कारण निरन्तर इतना नया अंश जुड़ता जा रहा है कि व्यक्ति के लिए सबकी जानकारी रखना अपने आप में एक बडी समस्या है। निरन्तर बढती हुई ज्ञानराशि में से किसे ग्रहण करना और किसे छोड देना, अर्थात् कितने अंश को अनिवार्य ज्ञान के दायरे में शामिल करना, यह भी एक समस्या है, जिसके समाधान की कोई कारगर तरकीब ढूंढनी होगी, क्योंकि नये-से-नये विषय-ग्रन्थ और पाठ्य-पुस्तकें जानकारी की दृष्टि से शीघ्र ही पुरानी पड जाती हैं।

ज्ञान विज्ञान की अबाध वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के जीवन और उसके सीखने के तरीकों के बारे में भी नित्य नये-नये तथ्यों की जानकारी प्राप्त हो रही है। ये नये तथ्य बताते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति के अन्दर अनेक भिन्नताएँ और विविधताएँ मौजूद हैं और उसके सीखने का अपना एक ढंग होता है। ऐसे जमाने में जबकि सीखने के लिए बहुत कुछ हो और समय तेजी से भागता दीख रहा हो, हमें शिक्षण की ऐसी नयी विधियों और पद्धतियों को ढूंढ निकालने की आवश्यकता है, जिनके जरिये सीखने-सिखाने की प्रक्रिया अधिक-से-अधिक त्वरित और सहज हो सके।

राष्ट्र का उदय कैसे होगा ?

हमारे सामने जो-जो प्रश्न और समस्याएँ उपस्थित हैं उनका उत्तर प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है। आज के युग में जबकि संगठित और जोरदार रूप में अपनी राय जाहिर करने और उसके लिए तरह-तरह के दबावों का उपयोग करने के अनेक कारगर उपाय तथा साधन लोगों को उपलब्ध हैं, समाज रचना और शिक्षण-सम्बन्धी बुनियादी प्रश्न बौद्धिक महा विवाद के विषय बन गये हैं। लाखों करोडों लोग अनेक प्रकार की और अकसर विरोधी राय प्रकट करते हैं। सबकी राय तथा मान्यताओं में से मूलभूत और लाभप्रद अंश एकत्र करके उसके जरिये सामाजिक परिवर्तन को नया मोड देना इस युग की एक पेचीदी और अहम समस्या है। शोध के स्तर पर इसका समाधान समाज शास्त्रियों को ढूंढना है और कार्यान्वयन के स्तर पर राष्ट्र-नायकों और शिक्षा-शास्त्रियों को। जबतक हमारे योजनाकार और शिक्षा-शास्त्री राष्ट्र-निर्माण में एकजुट होकर नहीं लगेंगे तबतक न तो राष्ट्रीय जीवन के अन्तर्विरोधों का अन्त होगा, और न राष्ट्र की आन्तरिक शक्ति का उदय ही।●

भारतीय चिन्तकों के शिक्षण-विचार

- शिक्षा और राष्ट्रीय चरित्र-विकास
- गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का शिक्षा-दर्शन
- राष्ट्रीय विकास का माध्यम नयी तालीम

उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय नव जागरण के उन्नायकों—राजा राममोहन राय, आचार्य केशवचन्द्र सेन, रानडे, गोखले और स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि में राजनीतिक आकांक्षा उतनी प्रखर रूप में नहीं दिखाई पड़ती जितनी सांस्कृतिक और शैक्षिक।

अंग्रेजी शासन की दमनकारी नीति के कारण अथवा राजनीतिक चेतना के अभाव के कारण उस समय के इन सभी राष्ट्र-पुरुषों ने सांस्कृतिक माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों के सुधार और मार्जन के लिए एक नयी रचनात्मक दृष्टि उपस्थित की जिसका उद्देश्य अंग्रेजी शासन से देश को मुक्त करना था।

शिक्षा और राष्ट्रीय चरित्र-विकास

• डा० मोतीसिंह

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र का विकास है। यह चरित्र केवल निजी जीवन की अपेक्षाओं और आदर्शों की पूर्ति करनेवाला न होकर सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं और उद्देश्यों को पूरा करनेवाला होना चाहिए। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा मनुष्य के चरित्र को इस ढांचे में ढालने का प्रयास है जिसमें समूचे देश या मानवता के आदर्शों के अनुकूल व्यक्तित्व को बनाया जा सके, अर्थात् शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय चरित्र का विकास किया जा सके।

राष्ट्रीय चारित्र्य की इस आवश्यकता का अनुभव देश में जब से अँग्रेजी शासन के विरुद्ध चेतना का संचार हुआ तभी से किया जा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक और राजनीतिक जागरण का, जो धीमा प्रकाश देश में फैला, जो आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन के महा जागरण में परिणत हुआ वहीं से शिक्षा की आवश्यकता की अभिव्यक्ति नव जागरण के प्रवर्तकों के विचारों में स्पष्ट रूप से मिलती है। राजा राममोहन राय, आचार्य केशवचन्द्र सेन, रानडे, गोखले और स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि सभी के प्रयत्नों पर यदि हम एक विहंगम दृष्टि डालें तो यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि इन सांस्कृतिक और धार्मिक नव जागरण के उन्नायकों में राजनीतिक आकांक्षा उतनी प्रखर नहीं दिखाई पड़ेगी, जितनी सामाजिक और नैतिक।

राष्ट्रीय चेतना का उन्नयन

कहना कठिन है कि अंग्रेजी साम्राज्य की दमनकारी नीति के कारण अथवा राजनीतिक चेतना के अभाव के कारण उस समय के इन सभी राष्ट्र-पुरुषों ने विदेशी शासन के विद्रोह को राजनीतिक भाषा में उतना अधिक व्यक्त नहीं किया, जितना सांस्कृतिक और शैक्षिक माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों के सुधार और मार्जन के लिए एक नयी रचनात्मक दृष्टि उपस्थित की, जिसका उद्देश्य अंग्रेजी शासन से देश को मुक्त करना था। राजा राममोहन राय ने समूचे बंगाल में नये ढंग की शिक्षा के प्रचार का आन्दोलन शुरू किया और उन्होंने अंग्रेजी के पठन-पाठन को आवश्यक बताया। उनका उद्देश्य अंग्रेजी को अपने देश पर थोपने का नहीं था बल्कि रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जड़ीभूत भारतीय चेतना को अपने द्वारा ही निर्मित संकीर्णता के घरौंदे से बाहर निकालना था। यहां पर विस्तार से तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन करना प्रासंगिक न होगा, किन्तु इतिहास का एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि किस प्रकार लम्बे समय तक विदेशी गुलामी में रहने के बाद देश की सामान्य राष्ट्रीय चेतना सुप्तप्राय-सी हो गयी थी और सामूहिक रूप से राष्ट्रधर्म का एहसास लुप्तप्राय सा हो गया था।

राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में फैले हुए इस अन्धमोह को दूर करने के लिए अंग्रेजी भाषा और साहित्य का ज्ञान आवश्यक था। इसी कारण राजा राममोहन राय ने जिस शिक्षा के आन्दोलन का सूत्रपात किया उसका आधार राष्ट्रीय था, किन्तु उस राष्ट्रीयता को जगाने के लिए उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान आवश्यक माना, जिसमें व्यक्ति-स्वाधीनता, राजनीतिक दर्शन और राष्ट्रीय आन्दोलन सम्बन्धी भावनाएँ बहुत स्पष्ट और मुखर रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

उसी प्रकार महाराष्ट्र में 'डकन सोसाइटी आव एजुकेशन' की स्थापना करनेवाले गोखले, रानडे आदि राष्ट्र-नायकों ने भी शिक्षा को राष्ट्रीय चेतना का माध्यम बनाया।

इन लोगों ने अंग्रेजी भाषा और साहित्य से समाविष्ट नवीन शिक्षा पद्धति की आवश्यकता को स्वीकार किया, जिससे देश की नयी पीढ़ी के भीतर राष्ट्रीयता और राजनीतिक स्वतन्त्रता के आदर्श पूर्णरूप से विकसित हो सकें।

गुरुकुल-प्रणाली

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना करते हुए तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों की निन्दा बहुत ही प्रभावशाली ढंग से की। इनकी राष्ट्रीयता भारत के पुरातन आदर्शों पर आधृत बहुत प्रखर थी। इन्होंने संस्कृत और हिन्दी के माध्यम से नये शिक्षा-आदर्शों की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया। प्राचीन भारत में शिक्षा की जो गुरुकुल प्रणाली थी, उसका प्रतिपादन करते हुए उनके और उनके अनुयायियों के प्रयास से अनेक स्थानों पर गुरुकुल प्रणाली की शिक्षा आरम्भ हुई, जो अंग्रेजों-द्वारा संचालित नयी पद्धति की शिक्षा से एकदम पृथक् थी। इसके आदर्श, शैली और लक्ष्य सभी प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुरूप थे। अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य आदर्शों से सरोकार रखना इसमें सर्वथा अनावश्यक माना गया। आर्य समाज में सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों को खण्डन की प्रवृत्ति और दूसरे आन्दोलनकारियों अथवा विचारकों की अपेक्षा अत्यधिक उग्र थी। जाति प्रथा, छुआछूत, मूर्तिपूजा, और तीर्थ-यात्रा आदि अन्धविश्वासों को बहुत ही प्रबल ढंग से खण्डित करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आन्दोलन ने देश की एकता को मजबूत करने और अखिल भारतीय राष्ट्रीयता के धुंधले चित्र को उकेरने और स्पष्ट करने में बहुत बड़ा काम किया। यही विशेषता थी कि आर्य समाजी आन्दोलन आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हो गया, और गुरुकुलों की शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अभिन्न अंग बन गयी।

गांधीजी का नेतृत्व

ऊपर जिन विचारकों और सांस्कृतिक जागरण के प्रवर्तकों की चर्चा की गयी है, उनका कार्य शुद्ध राजनीतिक स्तर पर देश के नव निर्माण का नहीं था। वे समाज सुधार तथा ज्ञान और शिक्षा के प्रचार-द्वारा तत्कालीन

समाज में कुछ ऐसा सुधार और मार्जन करना चाहते थे, जिससे लोगों के चिंतन की पद्धति बदले। अंग्रेजी शासन से देश में विचारों की गुलामी, जो चतुर्दिक छाई हुई थी उसका उन्मूलन हो। राजनीतिक स्वाधीनता का स्पष्ट स्वर आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में मुखर हुआ। अँग्रेजी शासन से देश को मुक्ति दिलाने का स्पष्ट लक्ष्य देश की जनता ने स्वीकार किया। राजनीतिक स्वाधीनता की आकांक्षा गांधीजी के पहले बहुत कुछ भारतीय स्वर में विद्यमान रहते हुए भी अवरुद्ध थी। उसकी गूँज स्पष्ट नहीं हो पा रही थी। शायद उसकी उलझी हुई अनुभूति लोगों का हो रही थी, किन्तु उसका स्पष्ट चित्र लोगों के मानस पटल पर उभरा नहीं था। गांधीजी के नेतृत्व में सर्वप्रथम स्वाधीनता के लक्ष्य को स्वीकार किया गया, उसका एक स्पष्ट चित्र लोगों के सामने मूर्तिमान हुआ और उसकी पूर्ति के लिए अखिल भारतीय स्तर पर जोरदार प्रयास आरम्भ हुआ।

गांधीजी एक ऐसे युग-पुरुष थे, जिन्हें केवल एक राजनीतिक नेता की ही दृष्टि नहीं प्राप्त थी वरन जो युग-जीवन के सबसे सच्चे और यथार्थवादी प्रवक्ता थे और जिनकी वाणी और आचरण में युग धर्म अपनी समस्त विशेषताओं के साथ व्यक्त हुआ। इसे कहने में कोई हिचक नहीं कि गांधीजी ने राजनीतिक स्वाधीनता को अपना मुख्य लक्ष्य नहीं माना, बल्कि देश के जीवन में सत्य, अहिंसा और निष्काम कर्मयोग के आदर्शों की प्रतिष्ठा और वातावरण के द्वारा एक ऐसी समाज रचना का प्रयास किया, जिसमें राजनीतिक गुलामी स्वयमेव समाप्त हो जाय और साथ ही समाज में ऐसे शाश्वत आदर्श प्रतिष्ठित हों, जिससे आर्थिक और सामाजिक विषमता, परस्पर द्वेष और कटुता सदैव के लिए समाप्त हो जाय।

इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए वर्तमान शिक्षा पद्धति को एकदम अपूर्ण और निकम्मी समझा गया। हमारे सांस्कृतिक जागरण का पहला चरण गांधीजी के समय तक समाप्त हो चुका था, जिसमें राजा राममोहन राय-प्रभृति लोगों द्वारा संचालित अँग्रजी शिक्षा के सूत्रपात और प्रसार की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी थी। अब स्पष्ट रूप से नयी राष्ट्रीय और सामाजिक आकांक्षाओं के अनुकूल ऐसे समाज की रचना का प्रश्न उपस्थित था, जो न केवल राजनीतिक गुलामी को समाप्त करे, बल्कि साथ ही देश में सच्ची स्वाधीनता को स्थापित करे, जिसमें वैयक्तिक और न्याय की सुरक्षा हो सके और शील, समता और सद्भाव हमारे सामाजिक जीवन के अंग बनें।

राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप

गांधीजी ने अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम चरण में अँग्रेजी विद्यालयों के बहिष्कार का नारा दिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि अँग्रेजी शिक्षा भारतीय जीवन से सर्वथा असम्पृक्त है। इसके द्वारा शिक्षित समुदाय और भारतीय जनता के बीच एक बहुत बड़ी खाई या अलगाव की भावना उत्पन्न हो जाती है।

अतः उन्होंने राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना पर बल दिया। उन्हींके आन्दोलन का परिणाम हुआ कि काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, हिन्दी विद्यापीठ, सदाकत आश्रम आदि नये विद्यालयों और प्रतिष्ठानों का जन्म हुआ। बाद में चलकर जब हमारे देश के राज्यों में कांग्रेसी-सरकारों का गठन हुआ उस समय पुनः गांधीजी का ध्यान शिक्षा पद्धति को राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप परिवर्तित करने और उसे क्रियात्मक रूप देने की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने वर्धा में देश के ऐसे शिक्षा सेवियों की बैठक बुलायी, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके सहयोगी रहे और साथ ही शिक्षा के कार्य से भी सम्बद्ध थे। डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में इन शिक्षा सेवियों की एक समिति बनायी गयी, जिसने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा पर सभी पहलुओं से विचार करने के उपरान्त एक रिपोर्ट प्रकाशित की, जो बुनियादी तालीम या बेसिक शिक्षा का आधार बनी।

इस प्रकार शिक्षा को एक राष्ट्रीय रूप देने का, जो आन्दोलन शुरू हुआ उसकी अन्तिम कड़ी देश की स्वाधीनता की प्राप्ति तक हमें देखने को मिलती है।

विविधता में एकता का दर्शन

राष्ट्रीय चरित्र क्या और कैसा हो और शिक्षा के माध्यम से इसकी निष्पत्ति किस प्रकार की जाय, अभी तक इसपर कोई सर्वसम्मत हल सामने नहीं आया है। शायद इसका सर्वसम्मत हल तत्काल सम्भव भी न

हो। हमारा देश अनेक संस्कृतियों भाषाओं सम्प्रदायों और दर्शनों की मिली जुली सम्पदा से समृद्ध है। जब हम भारत-जैसे देश की कल्पना करते हैं तो हमें शंकराचार्य की वह सुन्दर कल्पना दिखाई देने लगती है, जिसकी भौगोलिक परिधि उन्होंने अपने चार पीठों को स्थापित कर निर्धारित किया। उस भौगोलिक एकता में कैसे वैचारिक एकता को शिक्षा के माध्यम से प्रतिष्ठित किया जाय, यह समस्या हमारे राष्ट्र-निर्माताओं और शिक्षाविदों के सम्मुख है। एक ओर जहाँ हम अपनी सांस्कृतिक और भाषा इकाइयों में सुरक्षित विचार, शिल्प और कला की सुन्दरता के गौरवपूर्ण धरोहर का सम्मान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर यह भी देखना है कि इनके प्रति एकान्त आग्रह ऐसा न हो जाय, जिससे समूचे देश के साथ अलगाव का भाव पैदा हो। देश की राष्ट्रीयता के प्रति अटूट निष्ठा के साथ सांस्कृतिक इकाइयों की यह धरोहर सुरक्षित ही न रहे, बल्कि उसकी समृद्धि राष्ट्रीय विकास के समानान्तर निरन्तर होती चले, जिससे समूचे देश का जीवन समृद्ध और सम्पन्न हो सके। सभी अर्थों में विविधता के बीच हम एकता का विकास कर सकें। विभिन्न इकाइयों को तोड़कर एकता का स्वप्न देखना एक कल्पना मात्र होगी। ऐसी एकता खण्डित और एकांगी होगी। हमें अपनी राष्ट्रीयता को असल में इन सभी इकाइयों में प्रतिबिम्बित करना होगा। इकाइयों के मानस-दर्पण को हमें ऐसा स्वच्छ और निर्मल बनाना होगा, जिसमें समूचे देश का चित्र अपने आप झलकता रहे। इसके लिए एक ऐसी मानवीय, सर्जनशील और उदार दृष्टि की आवश्यकता है जिसमें संकीर्णता या हल्कापन न हो। बड़े यत्नपूर्वक, धैर्य से, धीरे धीरे उस ढाँचे को सँवारना होगा, जिसमें इस विविधता में एकता का दर्शन सम्भव हो सके।

मानवीय संस्कार का निर्माण

हम जिस राष्ट्रीय चरित्र की कल्पना करते हैं वह उदारता, व्यापकता, समग्रता और ग्रहणशीलता का प्रतीक होगा। राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का जो प्रयास हमारे विद्यालयों में किया जायगा, उसमें पाठ्यक्रम, उसकी सामग्री और पाठन विधि, सभी का आमूल परिवर्तन करना होगा। साहित्यिक विषयों का जो पाठ्यक्रम अभी तक नीचे से ऊपर तक की कक्षाओं में पढ़ाया जा रहा है वह व्यक्ति और घटना का वर्णन मात्र है। जातिगत जीवन का विकास, उसकी समस्याएँ और समाधान, उसकी आकांक्षा और उद्देश्य को लेकर हमें इतिहास, भूगोल, राजनीति और समाजशास्त्र इत्यादि विषयों की पाठ्य-सामग्री तैयार करनी पड़ेगी। विद्यार्थियों के सम्वेदनशील मस्तिष्क पर इस उदार राष्ट्रीय परम्परा का चित्र इस ढंग से उकेरना पड़ेगा कि उसकी छाप अमिट हो जाय। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा और स्थान के भेद के बावजूद उनके मन में एक ऐसा मानवीय संस्कार उत्पन्न हो कि अलगाव की वृत्तियाँ परस्पर विरोधी न होकर पूरक रूप में राष्ट्रीय संस्कार को सशक्त कर सकें।

शिक्षा का समान अवसर

राष्ट्रीय चरित्र के विकास में हमें मानवीय समता और उसके प्रतिष्ठा सम्बन्धी मूल्यों को ईमानदारी के साथ शिक्षा के क्षेत्र में अपनाना पड़ेगा। आज की शिक्षा अब धीरे धीरे जन शिक्षा का रूप ग्रहण कर रही है। सभी विद्यार्थियों को एक तरह की साज-सज्जा और सुविधा के विद्यालयों में पढ़ने की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु आजादी के बाद धनी और सम्पन्न वर्ग के लोगों में खासतौर से यह मनोवृत्ति देखने को मिल रही है कि वे अपने बच्चों को सामान्य स्कूलों में न भेजकर पब्लिक स्कूलों में भेज रहे हैं। ये पब्लिक स्कूल अभिजातवाद (अरिस्टोक्रेसी) के अड्डे हैं। यहाँ विद्यार्थियों में एक झूठे प्रकार का श्रेष्ठत्व पैदा किया जाता है। इससे विद्यार्थी अपने को एक ऐसे वर्ग का सदस्य समझने लगते हैं, जिसे देश पर शासन करने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त हो। भाषा, वेश, विचार और जीवन पद्धति सभी दृष्टि से सर्वथा एक ऐसा अल्पसंख्यक वर्ग इन पब्लिक स्कूलों के माध्यम से जन्म ले रहा है जो समता और समानता के सिद्धान्त के लिए घातक है। हम इन पब्लिक स्कूलों में उन कन्वेण्ट स्कूलों और माण्टेसरी स्कूलों की भी गणना करते हैं, जो आज हर शहर और बड़े कस्बों में जन्म ले रहे हैं और जहाँ अधिक फीस देनेवाले और अच्छे कपड़े पहननेवाले विद्यार्थी ही शिक्षा पा सकते हैं। समाज

और सरकार का कर्तव्य है कि इस बड़प्पनबाजी को आगे बढ़ने से रोके और जन सामान्य के शिक्षा-स्तर का इतना ऊँचा और सुविधा सम्पन्न करे कि सभी साधारण स्कूलों से ही शिक्षा प्राप्त करने में अपना लाभ समझें।

इन दिनों राष्ट्रीयता का कभी-कभी गलत अर्थ सरकारीकरण समझा जाता है। राष्ट्रीयता और सरकारीकरण में न केवल बहुत बड़ा अन्तर है, बल्कि बहुत कुछ अन्तर्विरोध भी है। शिक्षा को एकदम सरकारी विभाग बना देना, उसे नियंत्रित और संचालित करना, उसकी आत्मा का हनन करना होगा। शिक्षण का कार्य एक शिल्पकार और कलाकार के काम जैसा है। वह अनजान और मासूम बच्चों को एक नये रूप और व्यक्तित्व देकर एक प्रकार से गढ़ने का कार्य है। इसमें अध्यापक की वैयक्तिक कल्पना और कलात्मक सूझ और इनसानियत की विशेषताएँ बहुत मदद करती हैं। सरकारी पुर्जे का अंग होकर वह पहल नहीं कर सकता। उसकी दृष्टि भी बहुत कुछ बँध जायगी और इस प्रकार विद्यालयों से एक खास तरह के साँचे में ढले हुए व्यक्ति निकलेंगे और परिणाम यह होगा कि हम अपने देश में जिन बहुमुखी प्रतिभाओं का व्यापक रूप से विकास देखना चाहते हैं वह स्वप्न खत्म हो जायगा।

शिक्षा के क्षेत्र में बहुधा अपने आदर्शवादी स्वप्नों को साकार करने की चेष्टा हमारे मनीषियों और राष्ट्र-निर्माताओं ने की। उसी के परिणामस्वरूप रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्वभारती की स्थापना की। मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय बनाया और सारे देश में काशी विद्यापीठ जैसी अनेक संस्थाएँ प्रादुर्भूत हुईं। अब देश की आजादी के बाद शिक्षा के क्षेत्र में नेतृत्व करने का पौरुष ही जैसे खत्म हो गया है। देश के जीवन में नया प्राण फूँकनेवाली विश्वभारती और काशी विश्वविद्यालय जैसी संस्थाएँ भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को खोकर सरकारी संस्थाएँ मात्र रह गयी हैं। यही हाल गुरुकुल और आर्य समाजी शिक्षण-संस्थाओं का भी है। इस तरह शिक्षा के क्षेत्र में त्याग, उत्सर्ग, आदर्श और सेवा की भावना का बराबर लोप और ह्रास दिखाई दे रहा है और ज्ञानार्जन और विद्यानुराग के क्षेत्र में सरकार की कृपा पर भरोसा रखने के कारण लोकतंत्र में, जिसमें स्वतंत्र व्यक्तित्व के बनने और बनाने की सुविधा होनी चाहिए वह खत्म होती जा रही है।

सरकारी कमजोरी

राष्ट्रीय चरित्र के विकास में एक-दो और भी बहुत बड़ी बाधाओं का जन्म हुआ है, जो आजादी के बाद ही विशेष रूप से उभरी हैं। एक उल्लेखनीय बुराई, जो चिन्ता का विषय है वह है शिक्षा का व्यवसायीकरण। कुछ धनी मानी व्यक्ति लाख-करोड़ रुपया लगाकर शिक्षण-संस्थाएँ खोल रहे हैं। ऊपर से वे सेवा का ढोल पीटते हैं, किन्तु अन्ततः उनका उद्देश्य ऐसी शिक्षण-संस्थाओं से अधिक धन कमाना होता है।

निजी विद्यालयों में जिस प्रकार से प्रबन्धकों और व्यवस्थापकों द्वारा धाँधली, गड़बड़ी, भ्रष्टाचार और स्वेच्छाचार का बोलबाला है उसके कारण भी राष्ट्रीय शिक्षा की प्रगति निरन्तर अवरुद्ध होती जा रही है। यह बात छिपी नहीं है कि संस्थाओं के जन्म देने और संचालन में अब कोई भी प्रबन्ध-समिति एकदम आर्थिक सहायता नहीं देती। मनमाने फर्जी हिसाब के आधार पर सरकारी अनुदान हासिल किया जाता है, किन्तु सरकार का शिक्षा सम्बन्धी कानून शिक्षकों की नौकरी और आर्थिक मामलों का अधिकार प्रबन्धकों को दे देता है। इस कारण वे इन शिक्षण-संस्थाओं पर बहुत बुरी तरह हावी हो गये हैं। अध्यापकों और आचार्यों को अनेक प्रकार से न केवल वे अपमानित और लांछित करते हैं बल्कि विद्यालय का काफी धन वे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हड़प लेते हैं, किन्तु कोई उनकी ओर अंगुली भी नहीं उठा पाता। अध्यापक अपने स्वाभिमान और पारिश्रमिक से वंचित रहकर किस प्रकार राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर सकता है? इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। शिक्षा को राष्ट्रीय स्वरूप देने के लिए आवश्यक है कि हमारी केन्द्रीय सरकार एक राष्ट्रीय नीति और परम्परा कायम करे और प्रान्तीय सरकारों, राजनीतिक स्वार्थों और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से शिक्षा को मुक्त कर उसे एक आत्म निर्भर, स्वावलम्बी आधारशिला पर प्रतिष्ठित करे।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का शिक्षा-दर्शन

● निरंकारदेव सेवक

अब से लगभग ६० वर्ष पूर्व विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जिस उद्देश्य और जिस भावना से प्रेरित होकर शान्तिनिकेतन की स्थापना की थी उसकी पूर्ति वर्तमान 'विश्वभारती' के रूप में कहाँ तक हो रही है यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है। आधुनिक सभ्यता के सारे कुप्रभावों को अपने साथ लिये हुए कलकत्ता उस समय भी एक अत्यन्त व्यस्त और कोलाहलपूर्ण नगर था और विश्वकवि मानव समाज के रहन सहन और व्यवहार में अधिक-से अधिक सादगी, स्वतंत्रता और कलात्मकता लाने के पक्ष में थे इसलिए उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में वह नया प्रयोग किया था।

एक आश्रम के रूप में शान्तिनिकेतन की स्थापना विश्वकवि के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ कई वर्ष पूर्व कर चुके थे। पर उन्होंने कभी कल्पना भी न की होगी कि वह विश्वकवि के कल्पनादर्शों के अनुसार विकसित होकर शिक्षा का एक अभूतपूर्व केन्द्र बनेगा। सन् '४० की गर्मियों के दिनों में जब मैं वहाँ गया था तो वहाँ की शिक्षा प्रणाली को देखकर आश्चर्य में पड़ गया था। ऐसा उन्मुक्त और शान्त वहाँ का वातावरण था कि मन वहीं बस जाने को करने लगा था। सुरुचि और कला की अभिव्यक्ति वहाँ के कण-कण में दिखाई देती थी। कच्ची मिट्टी से बने साफ-सुथरे छात्रावासों की भित्तियाँ कलात्मक चित्रों और मूर्तियों से सुसज्जित थीं। वहाँ के वायुमण्डल में एक अलौकिक संगीत हर समय गूंजता हुआ मालूम होता था। छात्र और अध्यापक के

पारस्परिक सम्बन्ध वहाँ देश के अन्य सब कालेज-स्कूलो से भिन्न थे। अध्यापक छात्रो से किसी प्रकार की दूरी का अनुभव नही करते थे। छात्र अध्यापको का आदर करते, उन्हे हृदय से प्रेम करते, पर उनसे डरते नही थे। वहाँ के जीवन और रहन सहन मे एक ऐसी सादगी थी जो किसी दूसरे विद्यालय में देखने को नहीं मिल सकती थी। पेडो के नीचे पत्तो या घास फूस के ढेरो में कक्षाएँ लग जाती थी और उन्ही में से एक ढेर पर बैठकर अध्यापक छात्रो को पढाने लगते थे। प्राय छात्र पेड की किसी शाखा पर बैठकर अपना पाठ याद करते हुए दिखाई देते थे। वह प्राय नगे पैर इधर उधर घूमते दिखाई देते थे। मोजे जूते पहनने या गले में नेकटाई अवश्य पहनने का कोई रिवाज वहाँ नही था।

पहले उनके प्रयोग को लोगों ने शका की दृष्टि से देखा पर धीरे धीरे उसकी उपयोगिता प्रकट होती गयी और शान्ति निकेतन का शिक्षालय प्रसिद्धि प्राप्त करता गया। धीरे धीरे उनके प्रयोग से प्रभावित होकर बहुत से सहयोगी शान्ति निकेतन में आ जुटे और शान्ति निकेतन भारतीय शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

क्या विश्वकवि ने शिक्षा का यह आदर्श शान्ति-निकेतन के लिए चुना? इसका उत्तर हम उनके पूर्व जीवन और विचारधारा के अध्ययन से सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। उनका बचपन एक ऐसे घर की चहार दीवारी में बीता था जिसके कायदे-कानून बहुत कडे थे। घर के बाहर जाना मना था। अधिकतर उन्हें नौकरो के शासन में रहना पडता था। उनमें से एक नौकर उन्हे घर में कहीं बैठाकर उनके चारो ओर खडिया से एक घेरा खींच देता था और बहुत गम्भीर होकर कहता था—इस सीमा के बाहर हुए और विपत्ति आयी। विपत्ति के भय से वह बाहर जाने का दुस्साहस नहीं कर पाते थे। प्राय खिडकी पर बैठे वह बाहर का दृश्य एक बन्दी की भाँति देखते रहते थे। कुछ बडे होने पर जब वह स्कूल जाने लगे तो वहाँ के वातावरण में भी उन्हें अपना दम घुटता-सा अनुभव हुआ। अध्यापकों की डाँट फटकार तो दूर उनके कठोर वचन भी उनका कोमल मन सहन नहीं कर पाता था। उन्होने एक एक कर कई स्कूलो में शिक्षा ग्रहण करने की कोशिश की, पर कहीं भी उनका मन नही लगा। इसलिए उनके सम्पन्न अभिभावको को उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही करना पडा।

अपनी शिक्षा के दौरान रवीन्द्रनाथ ने भारतीय कला और साहित्य के साथ साथ तात्कालिक पाश्चात्य जीवन और साहित्य का भी परिचय पा लिया था। दोनो की तुलना करने से उनके मन में दोनो में समन्वय करने की बडी बलवती इच्छा प्रकट हुई। उन्होंने देखा कि भारतीय आदर्श यदि जीवन का सार बताते हैं तो पाश्चात्य अनुभव जीवन को वैज्ञानिक दृष्टि देते हैं। उनके मन में यह कामना उठी कि यदि इन दोनो परम्पराओ का मेल हो सके तो जीवन सर्वांग सुन्दर हो जाय।

उनका विचार था कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व और प्राप्त शक्तियो के समुचित विकास के लिए प्रकृति के अधिक से-अधिक निकट जाना अत्यन्त आवश्यक है। वह यदि बडा होकर सामाजिक जीवन के सघर्षों मे पडकर प्रकृति के अत्यधिक निकट न रह सके तो कम-से कम अपने शिक्षा काल मे तो उसे प्रकृति के अधिक-से-अधिक निकट सम्पर्क में रहने और स्वाभाविक रूप से अपने को पहचानकर विकसित होने का अवसर मिलना ही चाहिए। उनका कहना था कि मनुष्य की देखने की शक्ति खुली आँखो से ब्रह्माण्ड को देखने से ही विकसित हो सकती है, बन्द कमरो मे आराम से पडे तस्वीरें देखते रहने से नही। इसी प्रकार भूगोल, भूगर्भ-विद्या, वनस्पतिशास्त्र, कृषि विज्ञान, जीवशास्त्र आदि का ज्ञान जितनी सरलता से वह पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, जीव और वनस्पति-जगत के सीधे सम्पर्क में आकर प्राप्त कर सकता है उतना उन विषयो पर लिखी पुस्तको के अध्ययन से नहीं।

कला को वह मानवात्मा का विश्वात्मा से एकीकरण का एक साधन मानते थे। इसलिए शिक्षा में कला को अधिक-से अधिक स्थान देना वह आवश्यक समझते थे। कला की शिक्षा के द्वारा वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को ऐसा कलात्मक रूप से सुन्दर बना देना चाहते थे कि उसमें 'असुन्दर' और अशिव' कही रहे ही नहीं। इतिहास, राजनीति और सामाजिक विषयो की शिक्षा भी वह मानवीय सौहार्द्र य प्रेम के आधार पर ही देने के पक्ष में थे। राष्ट्रीय और जातीय भेदभावो से वह शिक्षा को सदैव मुक्त रखना चाहते थे।

राष्ट्रीय विकास का माध्यम नित्य नयी तालीम

● कृष्णकुमार

आज जगत विस्फोट के कगार पर पहुँच चुका है। और, प्रत्येक राष्ट्र का अस्तित्व जगत के अस्तित्व में निहित है; इसलिए राष्ट्रों का अस्तित्व भी खतरे में है, यानी राष्ट्र और जगत को भेद की दृष्टि से देखना आज की परिस्थिति में सम्भव नहीं है। जगत बचता है तो राष्ट्र बचते हैं।

राष्ट्रों के सामने यह एक चुनौती खड़ी है, जिसका जवाब शीघ्र देना है, नहीं तो मानव का नाश होनेवाला है। वह मानव, चाहे भारत का हो, पाकिस्तान का हो, चीन का हो, अमेरिका का हो या रूस का हो, सबके सामने एक ही सवाल है। इस सवाल का जवाब अब राष्ट्रों के घरौंदों को कायम रखकर धर्मों के संकुचित दायरे में या राजनीति के दलदल में फँसकर नहीं दिया जा सकता। अब तो मानव को इन सब सीमाओं को तोड़कर सिर्फ मानवीय स्तर पर सोचना-समझना होगा और अपनी समस्याओं का समाधान खोजना होगा।

विनोबाजी एक ऐसे आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं, जो राष्ट्र-निरपेक्ष है, सार्वराष्ट्रीय है, मानवीय है। वे अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका में एक ऐसा हल प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे मानव और मानव करीब आयेंगे, मानव का सम्बन्ध, जो आज बिगड़ गया है सुधरेगा, और इसीलिए उनका सर्वोदय-आन्दोलन हृदय-परिवर्तन का है, न कि सरकार-परिवर्तन का या और किसी भौतिक परिवर्तन का।

समाज-परिवर्तन का माध्यम

क्रान्ति का जाना-पहचाना वर्ग-संघर्ष का मार्ग दुनिया को मालूम है। कई देशों ने सौ-पचास वर्षों के भीतर-भीतर वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया के द्वारा अपने यहाँ परिवर्तन लाने की कोशिश की है। बहुत कुछ उन्हें सफलता भी मिली है। उतनी भी सफलता अभी दूसरी प्रक्रियाओं के द्वारा किसी देश के हाथ नहीं आयी है। यही कारण है कि वर्ग-संघर्ष के प्रति आज भी आकर्षण बना हुआ है।

विनोबाजी भी समाज-परिवर्तन का काम कर रहे हैं, लेकिन उनकी प्रक्रिया वर्ग-संघर्ष की नहीं है, बल्कि शिक्षण की है। क्रान्ति एक बार हो गयी और फिर उसकी आवश्यकता समाप्त हो गयी, ऐसा नहीं होता। क्रान्ति की धारा सतत प्रवाहित होती रहती है। जब इसका स्रोत सूख जाता है तब समाज कुण्ठित हो जाता है निष्प्राण हो जाता है। इसलिए क्रान्तिधारा को सूखना नहीं चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब शिक्षण की प्रक्रिया क्रान्ति का माध्यम बन जाय। वर्ग-संघर्ष में यह सम्भव नहीं है। विनोबाजी शिक्षा द्वारा इसी क्रान्तिधारा को कायम रखना चाहते हैं।

शासन-मुक्त शिक्षा

आज जो शिक्षा भारत में प्रचलित है या दुनिया के किसी भी देश में चल रही है वे सबकी-सब सरकार के अधीन चलती है। जिस ढंग की सरकार होगी उसकी शिक्षा भी उसी ढंग की होगी। पूंजीवादी सरकार होगी तो पूंजीवाद की शिक्षा दी जायगी, समाजवादी सरकार होगी तो समाजवादी शिक्षा दी जायगी, साम्यवादी सरकार होगी तो साम्यवादी शिक्षा दी जायगी, और अगर तानाशाही सरकार होगी तो उसके ढंग की शिक्षा दी जायगी। ऐसी शिक्षा की कोशिश यह होती है कि उसके देश के सारे लोग उसी ढंग से सोचें, जिस ढंग से सरकार सोचती है। इसीलिए प्रयत्न से सरकार पूरे राष्ट्र के लिए एक प्रकार का पाठ्यक्रम और अभ्यासक्रम बनाती है। सभी जगह एक ही प्रकार की पाठ्यपुस्तकें चलती हैं। व्यक्ति के सोचने का अधिकार छिन जाता है, व्यक्ति-स्वातंत्र्य कुछ रह नहीं जाता। ऐसी शिक्षा क्रान्ति का माध्यम कैसे बन सकती है? नयी समाज-रचना करने की ताकत उसमें कहाँ से आयगी? उसे तो अपनी सरकार कायम रखने के लिए उसी के अनुकूल शिक्षा देनी होगी। वह नया कुछ कर हीं नहीं सकती।

गांधी और विनोबा ने एक ऐसी शिक्षा का विचार दिया और योजना प्रस्तुत की, जो शासन-मुक्त होगी। इस शिक्षण-विचार का नाम उन्होंने नयी तालीम रखा, ऐसी तालीम जो सर्वतंत्र-स्वतंत्र होगी। किसी प्रकार का अंकुश इसपर नहीं होगा और न इसका किसी विद्यार्थी के दिमाग पर बोझ होगा। इसका न अपना कोई बना-बनाया ढाँचा होगा और न रूपरेखा, जो विद्यार्थी के दिमाग में भरी जायगी। उसका सम्बन्ध सीधे जनता से होगा। शिक्षणशास्त्री और शिक्षकों के मार्गदर्शन में शिक्षा स्वतंत्र चलेगी।

लोकतान्त्रिक सरकार जनता के द्वारा ही बनायी हुई होती है, लेकिन जब वह सरकार भी कल्याण के नाम पर सारी सत्ता केन्द्रित करती चली जाती है तब जनता को अपनी ही बनायी सरकार का मुँह जोहना पड़ता है। भारत की लोकतान्त्रिक सरकार ने भी अपना स्वधर्म पूरा किया। सरकार ने जनता के सभी काम अपने हाथ में समेट लिये, शिक्षण को भी अपने हाथ में रखा और अपने ढंग की शिक्षा देने में लगी हुई है, परन्तु इस शिक्षा से राष्ट्रीय विकास सम्भव नहीं है, क्योंकि शिक्षा राष्ट्रीय तो है ही नहीं। राष्ट्रीय शिक्षा सरकार के द्वारा नहीं चलायी जा सकती।

नयी तालीम : एक जीवन-दर्शन

बुनियादी शिक्षा का विचार गांधीजी ने १९३७ में राष्ट्रीय नेताओं के सामने रखा था, लेकिन नेताओं ने उसे उस रूप में स्वीकार नहीं किया, जिस रूप में गांधीजी चाहते थे। जहाँ-तहाँ छिटपुट बुनियादी शिक्षा का काम शुरू हुआ, लेकिन वह शिक्षा की एक पद्धति के रूप में, जीवन-दर्शन के रूप में नहीं। बुनियादी शिक्षा नयी तालीम है, जो समाज-परिवर्तन का माध्यम होगी, ऐसा किसी ने माना नहीं। परिणाम यह हुआ कि

धीरे धीरे बुनियादी शिक्षा के नाम से चलनेवाले विद्यालय बन्द हो गये। कुछ विद्यालय तो सरकारी मान्यता लेकर चल रहे हैं, लेकिन अब उनमें भी कोई नयापन नहीं है।

भारत की राष्ट्रीय सरकार ने, जो शिक्षा चलायी उसमें मूलभूत दोष थे, जिनके कारण समाज-जीवन का हर अंग धीरे धीरे कमजोर ही हुआ। राष्ट्र की समृद्धि में वृद्धि हुई, लेकिन उस वृद्धि की सिद्धि जनता का नही हुई, यानी राष्ट्रीय समृद्धि के साथ साथ आर्थिक विषमता भी बढ़ी। कहाँ चरित्र विकास होना, उसमें ह्रास ही हुआ। राष्ट्र का मनोबल बढ़ता लेकिन वह घटा, नैतिकता घटी। शिक्षा बढ़ी लेकिन उस शिक्षा का परिणाम बुरा हुआ। जहाँ परम्परा से प्राप्त सम्पदा की रक्षा की जाती और उसमें उत्तरोत्तर कुछ जुड़ता जाता वहाँ उसमें ह्रास ही हुआ। अब ऐसी शिक्षा को तो राष्ट्रीय नहीं ही कहा जा सकता। राष्ट्रीय शिक्षा पूरे राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को ध्यान में रखकर दी जायगी। जिस शिक्षा-योजना में एक वर्ग शिक्षा के अवसर से वंचित रह जाय क्या वह राष्ट्रीय होगी? इस शिक्षा-योजना ने देश में एक नया अनुत्पादक वर्ग खड़ा कर दिया, जो पढ़ लिखकर स्कूल-कालेज से तो निकला, लेकिन हो गया बेकार। निस्सहायता बढ़ी, परावलम्बन बढ़ा, और यह इस हद तक बढ़ा कि आज देशों से माँगकर भी अपना पेट नहीं भर पा रहे हैं।

अब प्रश्न है कि शिक्षा हो कैसी? आज जीवन के जो मूल्य बने हैं उनमें परिवर्तन की आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा को जीवन मूलक होना होगा, और जो शिक्षा जीवनमूलक होगी, वह उत्पादन मूलक ही होगी। शरीर, मन और बुद्धि तीनों का विकास अनिवार्य है, परन्तु इनके सन्तुलित विकास की योजना बनानी होगी। शरीर का शिक्षण अखाड़े में या ड्रिल के मैदान में, मन का शिक्षण मन्दिर मठ में, गुफाओं में या जंगल में, और बुद्धि का शिक्षण स्कूल में या कालेज में होगा, यह सम्भव नहीं है। इनका विकास खेती में हो और उद्योग धंधों के द्वारा हो, ऐसी योजना बनानी होगी।

ब्रह्मविद्या

विनोबाजी ने ब्रह्मविद्या पर जोर दिया है। उनका कहना है कि "हमारे देश के लड़के ऐसे होने चाहिए कि इधर तो ब्रह्म विद्या का गायन करें और उधर झाड़ू लगायें, गोबर से (घर) लीपें और खेत में मेहनत करें। आज की तालीम ऐसी है कि उसमें न तो ब्रह्मविद्या का पता है न उद्योग का। ब्रह्मविद्या न होने का परिणाम यह हो रहा है कि हम सब विषय भोग-परायण बन गये हैं इन्द्रियों के गुलाम हो गये हैं। . ब्रह्मविद्या से आत्मा की पहचान हो जायगी। शरीर मन और इन्द्रियों पर काबू रहेगा। सारी दुनिया के प्रति प्रेम पैदा होगा स्व-पर का भेद मिट जायगा, यह छोटा सा घर मेरा है यह खेत मेरा है, इस तरह की सब बातें मिट जायेंगी। जिसको ब्रह्मविद्या हासिल हुई है वह मेरा मेरा नहीं कहेगा। वह कहेगा कि यह घर, वह जमीन' यह सम्पत्ति 'सबकी' है।" आज की समस्याएँ आर्थिक और भौतिक जितनी हैं उससे ज्यादा मानसिक है। इसलिए आवश्यक है कि मन की भूमिका से ऊपर उठने की कोशिश की जाय। विनोबाजी का मानना है कि धर्म-ग्रन्थों का शिक्षा में स्थान होना चाहिए। साहित्य पढ़ाने के लिए उससे उत्तम कोई साहित्य हो नहीं सकता। धर्म-ग्रन्थों से संस्कार के निर्माण में मदद मिलेगी। हाँ, इन ग्रन्थों में जो कहा गया वह सत्य ही है, ऐसा आग्रह नहीं होना चाहिए। किसी ग्रन्थ में कोई बात कह दी गयी उससे खिलाफ कुछ किया नहीं जा सकता, ऐसा मानकर उनका अध्ययन नहीं होना चाहिए।

स्वावलम्बी शिक्षा

नयी तालीम स्वावलम्बन के लिए और स्वावलम्बन के द्वारा होगी। १६ वर्ष तक स्वावलम्बन के लिए शिक्षा दी जायगी और १६ वर्ष के बाद स्वावलम्बन के द्वारा शिक्षा दी जायगी, यानी बच्चा शुरू से ही उत्पादन के काम में लगेगा और १६ साल की उम्र में वह इतना सक्षम होगा कि अपनी शिक्षा के लिए आत्मनिर्भर हो जायगा। यह तभी सम्भव है जब कर्म और ज्ञान

को अलग नहीं किया जायगा। जो ज्ञान कर्म से अलग होगा वह जीवन से अलग का होगा और होगा बेकार।

विद्यार्थी जीविका में स्वावलम्बी तो होगा ही, लेकिन ज्ञान प्राप्ति में भी वह स्वावलम्बी होगा। शिक्षणशास्त्र में यह एक बड़ी चीज है कि विद्यार्थी ज्ञान प्राप्ति में स्वावलम्बी हो। शिक्षक सहायक मात्र होता है। विद्यार्थी को इतना अभ्यास हो जाना चाहिए कि अन्त में उसे शिक्षक की आवश्यकता न रह जाय।

लोकशिक्षण-द्वारा लोकक्रान्ति

विनोबाजी लोकशिक्षण के द्वारा लोक-चेतना जगाकर समाज-परिवर्तन का काम कर रहे हैं। आज शिक्षा की, जो धारणा अँग्रेजों के समय से बन चुकी है और राष्ट्रीय सरकार ने भी उस धारणा को दृढ़ करने में सहयोग दिया है, उसको बदलना भी शिक्षा का ही काम है। और, वह नयी तालीम से ही सम्भव है।

समाज परिवर्तन में लोक शिक्षण का महत्व बढ़ जाता है। विनोबाजी गाँवों में पैदल घूम घूमकर विचार प्रचार के द्वारा लोक शिक्षण का काम करते रहे हैं। लोकशिक्षण के लिए उन्होंने विविध कार्यक्रम प्रस्तुत किया है—ग्रामदान, खादी, शान्तिसेना। ग्रामदान के द्वारा वे गाँव में एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना चाहते हैं, जहाँ कोई भी जमीन का मालिक नहीं रह जाता है। गाँव के सभी लोग अपने पूरे गाँव की समस्याओं के बारे में साथ बैठकर चर्चा करेंगे, योजना बनायेंगे और उस योजना के मुताबिक सब भेद भूलकर प्रयत्न करेंगे। इसी को विनोबाजी लोक-चेतना कहते हैं। और, चूँकि सब सोचेंगे, समझेंगे, समझने की कोशिश करेंगे तो उस प्रयत्न में उनका शिक्षण ही होगा। गाँव में सामूहिक शक्ति का उदय भी होगा। सबकी चिन्ता सब करेंगे। सबकी सुरक्षा का आश्वासन गाँव की ग्रामसभा देगी, जिसमें गाँव के सभी बालिग स्त्री-पुरुष शामिल होंगे।

इस प्रकार ग्रामदान के बाद गाँव का निर्माण होता है। पूरे गाँव में परिवार की भावना बनती है जितने भेद हैं उन भेदों को भूलकर पूरे गाँव के लिए काम करने की प्रेरणा होती है, अतएव ग्रामदानी गाँव में नयी तालीम का वातावरण बनता है और उसकी परिस्थिति बनती है। इसलिए विनोबाजी का मानना है कि ग्रामदान के बाद पूरा गाँव नयी तालीम का विद्यालय होगा। गाँव के सभी बच्चे, स्त्री पुरुष और बड़े-बूढ़े विद्यार्थी होंगे और, गाँव के अनुभवी किसान, कारीगर शिक्षक होंगे, गाँव गाँव में विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा दी जा सकती है। कोई गाँव ऐसा नहीं है, जहाँ पूरा ज्ञान देने की परिस्थिति मौजूद न हो। हाँ, विशेष तकनीकी ज्ञान के लिए कुछ विद्यार्थियों को दूसरी जगह में जाना होगा।

शिक्षण-पद्धति के रूप में विनोबाजी ने चार सुझाव दिये हैं—पदयात्रा, जंगम विद्यालय, एक घण्टे की पाठशाला और कौटुम्बिक पाठशाला।

क्रान्ति की प्रक्रिया शिक्षा

यह तो नयी तालीम के स्वरूप की चर्चा हुई, परन्तु जो सबसे बड़ी बात है वह यह है कि शिक्षा क्रान्ति की प्रक्रिया बन जाय। विज्ञान के कारण बहुत ही तेजी से समय का परिवर्तन होता चला जा रहा है, लेकिन उतनी तेजी से समाज नहीं बदल रहा है। यह आवश्यक है कि ज्यों-ज्यों समय बदलता है त्यों-त्यों समाज बदलता रहे। शिक्षा क्रान्ति की प्रक्रिया बन जाती है तो सतत क्रान्ति प्रक्रिया जारी रहेगी और समाज-परिवर्तन का काम होता रहेगा। नयी तालीम क्रान्ति की प्रक्रिया बन सकती है, क्योंकि यह नित्य नयी तालीम है। जो तालीम नित्य नयी होगी वह आग्रह मुक्त होगी ही। नित्य नयी तालीम का अपना न ढाँचा है, न अपनी कोई निश्चित पद्धति है जिसका आग्रह हो। जहाँ आग्रह होता है वहाँ नयी चीज को स्वीकार करने की शक्ति और सामर्थ्य नहीं होती। जहाँ का जो वातावरण होगा, जैसी परिस्थिति होगी, जो उद्योग धन्धे चलते होंगे, जो समस्याएँ होंगी उन्हीं के अनुसार वहाँ की शिक्षा चलेगी। जैसे-जैसे परिस्थिति बदलती जायगी, वैसे-वैसे शिक्षा बदलती चली जायगी। इस प्रकार शिक्षण से समाज का सतत आरोहण होता रहेगा। ●

शिक्षा के पाश्चात्य प्रयास

- अमेरिका
- सोवियत रूस
- जनवादी चीन
- इसराइल

विभिन्न देशों में शिक्षा

अमेरिका

• रामभूषण

किसी भी देश की शिक्षा का स्वरूप निर्धारण करने में वहाँ की परिस्थिति-विशेष का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता है। अमेरिका के राष्ट्रीय विकास में वहाँ की शिक्षा का क्या योगदान रहा है, इसे स्पष्टतः समझने के लिए वहाँ की शिक्षा के क्रमिक विकास और उसके वर्तमान स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त होगा।

१४९१ में जब कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की थी उस समय से लेकर आज तक अमेरिकी शिक्षा कई विकास-चरणों को पार कर चुकी है। आज तो अमेरिका, जैसे जीवन के अनेक क्षेत्रों में वैसे शिक्षा के क्षेत्र में भी संसार का सिरमौर बना हुआ है। वैसे संसार के अन्य देशों की तुलना में अमेरिका नया है और उसे नयी दुनिया कहा भी जाता है। वहाँ के आदिवासी मुख्यतः रेडइण्डियन ही थे, लेकिन यूरोप के विभिन्न देश के लोग वहाँ जा-जाकर बस गये और इस तरह वहाँ विभिन्न जातियों और वर्गों तथा सामाजिक स्थिति के लोगों को मिलाकर एक ऐसा समूह बना, जिसे आज हम अमेरिकी जनता कहते हैं।

शिक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप

यूरोपीय देशों के लोगों के अमेरिका जाकर बसने के प्रारम्भिक दिनों में प्रारम्भिक शिक्षा के बाद की शिक्षा केवल एक विशेष वर्ग को ही उपलब्ध थी। प्राथमिक शिक्षा वैसे जन-साधारण को सुलभ अवश्य थी, लेकिन वह इतनी महँगी थी कि उसे सभी प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस प्रारम्भिक शिक्षा में बच्चों को कुछ लिखना पढ़ना सिखाया जाता था, लेकिन इसके बाद की शिक्षा यूरोप के शास्त्रीय ढंग पर आधारित थी और वह विशिष्ट वर्ग की ही सुविधा मानी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा में आगे चलकर लिखने-पढ़ने की योग्यता के साथ-साथ पाश्चात्य सभ्यता, साहित्य तथा इतिहास, भूगोल व थोड़ी दार्शनिक शिक्षा का भी समावेश किया गया।

१९वीं शताब्दी के मध्य में औद्योगिक विकास के साथ अमेरिकी शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन आया। पाठ्यक्रम में विज्ञान व औद्योगिक विषयों को स्थान दिया गया। उस समय वर्तमान स्कूलों को पब्लिक संस्थाओं में परिवर्तित किया गया। नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा के लिए सारे राज्यों में पब्लिक स्कूलों की स्थापना हुई। शताब्दी के अन्त तक इन स्कूलों की संख्या काफी बढ़ गयी। हायर सेकेण्डरी स्कूलों की संख्या में भी वृद्धि हुई और पाठ्यक्रम में औद्योगिक विषयों को शामिल किया गया। आनेवाले बाद के वर्षों में अमेरिका के पब्लिक स्कूलों तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा में काफी विकास हुआ।

अमेरिकी शिक्षा का उद्देश्य है विद्यार्थी को उत्तरदायित्वपूर्ण, सजग, जागरूक व नयी-नयी चीजें जानने के लिए अध्ययनशील बनाना। नागरिक अधिकारों व कर्तव्यों की ठीक-ठीक जानकारी व उनका समुचित पालन करनेवाला और साथ ही राष्ट्रीय आय एवं उसके औद्योगिक विकास में अधिकाधिक सहायक हो सकने योग्य व्यक्ति तैयार करना अमेरिकी शिक्षा का एक बड़ा प्रयत्न है। ७ से १६ वर्ष की अवस्था के बीच प्रत्येक विद्यार्थी नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पाता है। अमेरिका के स्कूली लड़के-लड़कियों को आज नि:शुल्क यातायात, शारीरिक देखभाल तथा दोपहर में भोजन की सुविधाएँ दी जा रही हैं। अधिकतर स्कूलों में ऐसे मार्गदर्शन-केन्द्र होते हैं, जो रुचि एवं योग्यता के अनुसार विद्यार्थियों को कार्य व पेशा अपनाने की सलाह देते हैं। अमेरिका के आदिवासियों को भी नि:शुल्क शिक्षा की सुविधाएँ दी जा रही हैं और उनके ९० प्रतिशत बच्चे इस सुविधा का लाभ उठा रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा में वहाँ के पब्लिक-स्कूलों का बड़ा हाथ है। इन स्कूलों में वहाँ के सभी वर्गों के विद्यार्थियों को प्रवेश मिलता है और सबको अपने विकास का समान अवसर।

ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि अमेरिकी शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है लोगों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना, जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और साथ ही राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें प्रशिक्षित नागरिक बना सके। जनतंत्र के नाते में अमेरिका अपने लोगों को शिक्षा व विकास के समान अवसर देता है। वैसे कई बातों में अमेरिका के विभिन्न राज्यों की शिक्षा में अन्तर अवश्य मिलेगा, लेकिन शिक्षा-दर्शन को परिचालित करनेवाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सर्वत्र एक है।

शैक्षणिक प्रशासन का प्रकार

आज दुनिया के सभी राष्ट्र अपने चतुर्दिक विकास के लिए प्रयत्नशील हैं और इसीलिए आज यूनेस्को-जैसे विश्व संगठनों के द्वारा यह प्रयास हो रहा है कि ऐसी शिक्षा-पद्धति का विकास हो, जो स्थानीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में सभी राष्ट्रों के विकास में सहायक हो सके। अमेरिका के लोग अपने अधिकारों के प्रति बड़े सजग हैं। यही कारण है कि वहाँ के संविधान में शिक्षा को न सम्मिलित करके उसे विभिन्न राज्यों की जिम्मेदारी पर छोड़ दिया गया है। जहाँतक राज्यों का सम्बन्ध है, उन्होंने सारी व्यावहारिक जिम्मेदारी स्थानीय संस्थाओं पर छोड़ दी है, जो अपनी सीमाओं के अन्दर उनका निर्वाह करती है।

अमेरिका की फेडरल सरकार वैसे प्रत्यक्ष कोई विशेष अधिकार नहीं जताती फिर भी शिक्षा पर कण्ट्रोल तो रखती ही है और विभिन्न कार्यक्रमों-द्वारा शिक्षा को प्रोत्साहित करने का प्रयास भी करती रहती है। स्कूलों की स्थापना के लिए वह भूमि देती है और समय-समय पर आर्थिक सहायता भी। साथ ही बेकारी के

निवारण के लिए भी वह आर्थिक सहायता देती है। महायुद्ध-जैसी भयकर स्थितियों के बाद अवकाश-प्राप्त सिपाहियों की शिक्षा एव प्रशिक्षण के लिए भी वह सहायता देती है।

अमेरिका का एजुकेशन आफिस, जिसका सर्वोच्च अधिकारी एजुकेशन कमीशन होता है, शिक्षा पर केन्द्रीय रूप से कण्ट्रोल रखता है। यह केन्द्र आंकडे एकत्र करता है, सालाना रिपोर्ट तैयार करता है और प्रसार की व्यवस्था करता है। शिक्षा की राष्ट्रीय योजनाओं का कार्यान्वयन, शैक्षणिक सुधार के प्रयास, औद्योगिक एव पेशा सम्बन्धी शिक्षा पर कण्ट्रोल तथा गैरयूरोपीय—जैसे नीग्रो, अमेरिकी-भारतीयों आदि की शिक्षा का प्रबन्ध एव देखभाल भी इस केन्द्रीय आफिस का कार्य है।

डलावार राज्य को छोडकर अमेरिका के अन्य राज्यों ने शिक्षा सम्बन्धी अधिकार अपने स्थानीय सगठनों को दे दिये हैं। जहाँतक शिक्षा के क्षेत्र का सम्बन्ध है, कुशलता का न्यूनतम मान निर्धारित करना, शिक्षा-सम्बन्धी सर्वसाधारण नियम लागू करना औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं की पूर्ति राज्य-सरकारों के अधीन है। इन कार्यों के लिए स्टेट एजुकेशनल आफिसेज भी हैं। स्टेट एजुकेशन कमिशन इन आफिसेज का हेड होता है, जिसकी सहायता के लिए स्टेट एजुकेशन डिपार्टमेण्ट होता है, जिसके अन्तर्गत काउण्टी-बोर्ड्स, टाउनशिप्स, स्कूल डिस्ट्रिक्ट्स वगैरह काम करते हैं। लोकल बोर्ड आव एजुकेशन स्कूलों के प्रबन्ध की देखभाल करता है। जहाँतक प्रशासन का सम्बन्ध है यह एक अपने में पूर्ण एव स्वतत्र इकाई है और इसपर फेडरल तथा स्टेट एजुकेशन डिपार्टमेण्ट का केवल नाम के लिए कण्ट्रोल रहता है। अमेरिका में ऐसे लोकल बोर्डों की सख्या करीब डेढ लाख है। जनतत्र की भावना की प्रधानता, विविध प्रकार के प्रयोगों की सुविधा तथा नि शुल्क एव शिक्षा का धर्म निरपेक्ष स्वरूप, इन अमेरिकी शिक्षण-सस्थाओं की विशेषता है।

पूर्व प्राइमरी शिक्षा

अमेरिकी शिक्षा प्रणाली में आज बच्चे की शिक्षा पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है, क्योंकि वही देश का भावी नागरिक एव ससार का एक जिम्मेदार प्राणी होनेवाला है। ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाली अनेकानेक उपयोगी खोजों का इस्तेमाल शिक्षा प्रदान करने के लिए भी किया जा रहा है। अमेरिका में पूर्व-प्राइमरी शिक्षा के विकास का एक बडा कारण यह भी है कि औद्योगिक दृष्टि से यह महाद्वीप बहुत आगे बढा हुआ है। अत वहाँ माँ-बाप के काम पर चले जाने के पश्चात बच्चों को सँभालने का प्रश्न उठता है। इस माँग की पूर्ति के लिए पूर्व प्राइमरी शिक्षा का विकास हुआ है। इस पूर्व प्राइमरी शिक्षा के तीन प्रमुख अग हैं। बच्चों के सम्बन्ध में माँ-बाप की शिक्षा, घर के वातावरण में बच्चे की शिक्षा, नर्सरी शिक्षा तथा किण्डरगार्टन स्कूल।

प्राइमरी शिक्षा

प्राइमरी शिक्षा किसी भी देश के बच्चों के जीवन की आधारशिला है, क्योंकि इसी शिक्षा पर भावी जीवन की नींव पडती है। इसीलिए अमेरिकी प्राइमरी स्कूलों में भी नागरिकता की भावनाओं के विकास, चरित्र-गठन एव नैतिक उन्नति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ये प्राइमरी स्कूल दो प्रकार के होते हैं। प्रथम से आठवीं कक्षा तक, जिनमें बच्चा ६ वर्ष की उम्र में भरती होता है और १४ वर्ष की उम्र तक रहता है, तथा १ से लेकर ६वीं कक्षा तक ६ वर्ष के कोर्सवाले, जिनमें बच्चे ६ वर्ष की उम्र से १२ वर्ष की उम्र तक रहते हैं। सोमवार से शुक्रवार तक पढाई तथा शनिवार और रविवार अवकाश। नित्य पढाई पाँच या साढे पाँच घण्टे तक और इस तरह वर्ष में १५२ से १५७ दिन तक। ये प्राइमरी स्कूल ३ की जगह ५ 'आर्स' की शिक्षा देते हैं यानी रीडिंग, राइटिंग और रिथमेटिक (अरिथमेटिक) में रिक्रियेशन (मनोरजन) एव रिलेशन्स (पारस्परिक सम्बन्ध) और जोड देते हैं। इनके अलावा साहित्य, इतिहास, नागरिकशास्त्र, भूगोल, स्वास्थ्य रक्षा, कृषि, प्रकृति-अध्ययन, सगीतकला, हस्त उद्योग तथा गृह विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती है।

सेकेण्डरी शिक्षा

१६३५ में प्यूरिटन-द्वारा प्रथम सेकेण्डरी स्कूल खोले जाने के पश्चात से आज तक अमेरिका की सेकेण्डरी-

शिक्षा अधिकाधिक विकसित होती गयी है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ इन स्कूलों के रूप में परिवर्तन होता गया। अमेरिका के सेकेण्डरी स्कूलों में आज जो व्यवस्था प्रचलित है वह दो प्रकार की है—प्रथम तो वह, जिनमें ९वीं से १२वीं कक्षा तक पढाई होती है तथा दूसरे वह, जिनमें ७वीं से १४वीं कक्षा तक। इनके अतिरिक्त कला, वाणिज्य, हस्त उद्योग तथा अन्य विशेषताएँ रखनेवाले सेकेण्डरी स्कूल भी हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि इन स्कूलों ने कोई एक अमुक कक्षा प्रणाली न अपनाकर भिन्न भिन्न प्रकार की प्रणालियाँ अपनायी हैं। इन सेकेण्डरी स्कूलों के आज कई रूप प्रचलित हैं—जैसे, जूनियर हाई स्कूल, हाई स्कूल, काम्प्रिहेंसिव हाई स्कूल, लिमिटेड स्कूल, स्पेशलाइज्ड स्कूल, वोकेशनल एवं टेकनिकल स्कूल, पार्ट टाइम स्कूल, कण्टिन्यूएशन स्कूल आदि।

उच्च शिक्षा

पाठकों को यह जानकारी रुचिकर प्रतीत होगी कि उच्च शिक्षा का पहला केन्द्र यानी हार्वर्ड कालेज सन् १६३६ ई० में स्थापित हुआ था, जिसमें उस समय केवल २० विद्यार्थी थे, लेकिन आज यह विश्वविद्यालय दुनिया के महानतम विश्वविद्यालयों में है। सेकेण्डरी शिक्षा की तरह ही अमेरिका की उच्च शिक्षा का भी उद्देश्य विभिन्न समितियों की सिफारिश पर आधारित है। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानसिक विकास के लिए ज्ञान की साधना तथा साथ ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी एवं उसके जीवन से समरसता उच्च शिक्षा का उद्देश्य है। अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसिडेण्ट ट्रूमन ने उच्च शिक्षा की परिभाषा की थी—'रचनात्मक, जनतान्त्रिक, सामाजिक, सहकारी एवं व्यावहारिक विशेषताओं का विकास।' हायर एजुकेशन इकनामिक कमीशन की राय के अनुसार अनुसन्धान-कार्य का विकास भी इन उद्देश्यों में सम्मिलित होना चाहिए। अमेरिका में उच्च शिक्षा प्रदान करनेवाले जो संगठन हैं उनके ये विभिन्न प्रकार हैं—जेनरल कालेज, कालेज, लिबरल-आर्ट कालेज, टेकनिकल और कम्यूनिटी कालेज, लैण्डग्राण्ट कालेज, स्कूल डिस्ट्रिक्ट कालेज, स्टेट विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय, ग्रेजुएट कालेज, हायर टेकनिकल इस्टीट्यूशन्स। इन शिक्षा-संस्थाओं में अधिकतर चार वर्ष के प्रीग्रेजुएट कोर्स की प्रणाली अपनायी जाती है। ग्रेजुएट स्तर के बाद एक वर्ष की शिक्षा के उपरान्त मास्टर की डिग्री प्रदान की जाती है। डाक्टर की डिग्री के लिए अन्य तीन वर्ष लगते हैं। विभिन्न प्रकार के देशों के लिए कालेज-स्तर के बाद ५ से ४ वर्ष तक पढाई की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रीय विकास में शिक्षा का योगदान

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अमेरिकी शिक्षा का विकास वहाँ की परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। समय-समय पर जैसी आवश्यकता पड़ती रही उसके अनुरूप ही शिक्षा का स्वरूप भी विकसित हुआ। इसलिए यह निर्विवाद है कि वहाँ के राष्ट्रीय विकास में शिक्षा का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है और आज है। संसार के इस सर्वाधिक विकसित महादेश में आज तो शिक्षण-संस्थाओं की भरमार है। विभिन्न प्रकार की शिक्षा के लिए आज अमेरिका में काफी संख्या में शिक्षण-संस्थाएँ हैं और यही प्रमाण है इस तथ्य के लिए कि स्वतन्त्रता प्रेमी इस देश में उच्च शिक्षा के प्रति बड़ी आस्था है। कालेज में पढनेवाली उम्र यानी १८-१९ वर्ष की उम्र के प्रति पाँच व्यक्तियों में कम-से-कम एक व्यक्ति अमेरिका में आज किसी-न किसी कालेज या विश्वविद्यालय में शिक्षा पा रहा है। आज से वर्षों पहले यानी १९५२ में ही अमेरीकी विश्वविद्यालयों, कालेजों और जूनियर कालेजों के विद्यार्थियों की इक्कीस लाख अड़तालीस हजार संख्या संसार की ऊँची शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुल विद्यार्थियों की आधी थी, और आज तो यह संख्या कहीं और अधिक है।

अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति जानसन के शिक्षा-सम्बन्धी कतिपय उद्गार ध्यान देने योग्य हैं। उनका कहना है—"हम शुरुआत ही शिक्षा से करते हैं। प्रत्येक बच्चे को राष्ट्र में मिलनेवाली सर्वोत्तम शिक्षा मिलनी ही चाहिए।" आगे वह कहते हैं—"हमें किसी लौह सिद्धान्त के प्रति पूर्ण आस्था की तलाश नहीं है, बल्कि

निवारण के लिए भी वह आर्थिक सहायता देती है। महायुद्ध-जैसी भयकर स्थितियों के बाद अवकाश प्राप्त सिपाहियों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिए भी वह सहायता देती है।

अमेरिका का एजुकेशन आफिस, जिसका सर्वोच्च अधिकारी एजुकेशन कमीशन होता है शिक्षा पर केन्द्रीय रूप से कण्ट्रोल रखता है। यह केन्द्र आँकड़े एकत्र करता है, सालाना रिपोर्ट तैयार करता है और प्रचार की व्यवस्था करता है। शिक्षा की राष्ट्रीय योजनाओं का कार्यान्वियन, शैक्षणिक सुधार के प्रयास, औद्योगिक एवं पेशों सम्बन्धी शिक्षा पर कण्ट्रोल तथा गैरयूरोपीय—जैसे नीग्रो, अमेरिकी भारतीयों आदि की शिक्षा का प्रबन्ध एवं देखभाल भी इस केन्द्रीय आफिस का कार्य है।

डलावार राज्य को छोड़कर अमेरिका के अन्य राज्यों ने शिक्षा सम्बन्धी अधिकार अपने स्थानीय सगठनों को दे दिये हैं। जहाँतक शिक्षा के क्षेत्र का सम्बन्ध है, कुशलता का न्यूनतम मान निर्धारित करना, शिक्षा-सम्बन्धी सर्वसाधारण नियम लागू करना औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं की पूर्ति राज्य सरकारों के अधीन है। इन कार्यों के लिए स्टेट एजुकेशनल आफिसेज भी हैं। स्टेट एजुकेशन कमिशन इन आफिसेज का हेड होता है, जिसकी सहायता के लिए स्टेट एजुकेशन डिपार्टमेण्ट होता है जिसके अन्तर्गत काउण्टी-बोर्ड्स, टाउनशिप्स स्कूल डिस्ट्रिक्ट्स वगैरह काम करते हैं। लोकल बोर्ड आव एजुकेशन स्कूलों के प्रबन्ध की देखभाल करता है। जहाँतक प्रशासन का सम्बन्ध है यह एक अपने में पूर्ण एवं स्वतन्त्र इकाई है और इसपर फेडरल तथा स्टेट एजुकेशन डिपार्टमेण्ट का केवल नाम के लिए कण्ट्रोल रहता है। अमेरिका में ऐसे लोकल बोर्डों की संख्या करीब डेढ़ लाख है। जनतन्त्र की भावना की प्रधानता, विविध प्रकार के प्रयोगों की सुविधा तथा निःशुल्क एवं शिक्षा का धर्म निरपेक्ष स्वरूप इन अमेरिकी शिक्षण-संस्थाओं की विशेषता है।

पूर्व प्राइमरी शिक्षा

अमेरिकी शिक्षा प्रणाली में आज बच्चे की शिक्षा पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है, क्योंकि वही देश का भावी नागरिक एवं ससार का एक जिम्मेदार प्राणी होनेवाला है। ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाली अनेकानेक उपयोगी खोजों का इस्तेमाल शिक्षा प्रदान करने के लिए भी किया जा रहा है। अमेरिका में पूर्व-प्राइमरी शिक्षा के विकास का एक बड़ा कारण यह भी है कि औद्योगिक दृष्टि से यह महाद्वीप बहुत आगे बढ़ा हुआ है। अतः वहाँ माँ-बाप के काम पर चले जाने के पश्चात बच्चों को सँभालने का प्रश्न उठता है। इस माँग की पूर्ति के लिए पूर्व प्राइमरी शिक्षा का विकास हुआ है। इस पूर्व प्राइमरी शिक्षा के तीन प्रमुख अग हैं। बच्चों के सम्बन्ध में मा-बाप की शिक्षा, घर के वातावरण में बच्चे की शिक्षा, नर्सरी शिक्षा तथा किण्डरगार्टन स्कूल।

प्राइमरी शिक्षा

प्राइमरी शिक्षा किसी भी देश के बच्चों के जीवन की आधारशिला है, क्योंकि इसी शिक्षा पर भावी जीवन की नींव पड़ती है। इसीलिए अमेरिकी प्राइमरी स्कूलों में भी नागरिकता की भावनाओं के विकास, चरित्र-गठन एवं नैतिक उन्नति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ये प्राइमरी स्कूल दो प्रकार के होते हैं। प्रथम से आठवीं कक्षा तक, जिनमें बच्चा ६ वर्ष की उम्र में भरती होता है और १४ वर्ष की उम्र तक रहता है, तथा १ से लेकर ६वीं कक्षा तक ६ वर्ष के कोसवाले, जिनमें बच्चे ६ वर्ष की उम्र से १२ वर्ष की उम्र तक रहते हैं। सोमवार से शुक्रवार तक पढ़ाई तथा शनिवार और रविवार अवकाश। नित्य पढ़ाई पाँच या साढ़े पाँच घण्टे तक और इस तरह वर्ष में १५२ से १५७ दिन तक। ये प्राइमरी स्कूल ३ की जगह ५ 'आर' की शिक्षा देते हैं यानी रीडिंग, राइटिंग और रिथमेटिक (अरिथमेटिक) में रिक्रियेशन (मनोरजन) एवं रिलेशन्स (पारस्परिक सम्बन्ध) और जोड़ देते हैं। इनके अलावा साहित्य, इतिहास, नागरिकशास्त्र, भूगोल, स्वास्थ्य रक्षा, कृषि, प्रकृति-अध्ययन, सगीतकला, हस्त उद्योग तथा गृह विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती है।

सेकेण्डरी शिक्षा

१६३५ में प्यूरिटनों-द्वारा प्रथम सेकेण्डरी स्कूल खोल जाने के पश्चात से आज तक अमेरिका की सेकेण्डरी-

आज हम रूस का जो महान विकास देख रहे हैं उसके लिए वहाँ की शिक्षा को बड़ी सीमा तक श्रेय है।

शैक्षणिक प्रशासन

सोवियत शासन-व्यवस्था में शिक्षा की देख-भाल के लिए दो मन्त्रालय काम करते हैं। १९५३ में स्थापित मिनिस्ट्री आव कल्चर, जिसमें मिनिस्ट्री आव हायर एजुकेशन भी सम्मिलित कर ली गयी, विशिष्ट प्रकार के सेकेण्डरी स्कूलों के संगठन और शिक्षण कार्य के लिए जिम्मेदार है। यही संगठन उच्च शिक्षा की भी व्यवस्था करता है। व्यवहार-रूप में पर्याप्त संचालन सोवियत रूस के गण राज्यों की तरफ से ही होता है, लेकिन मिनिस्ट्री आव कल्चर विश्वविद्यालयों तथा उच्च-स्तरीय प्राविधिक एवं कृषि-संस्थाओं को चलाती है। अन्य संस्थाओं के लिए यह नियमों, पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-पुस्तकों का निर्देश करती है। दूसरा मन्त्रालय आल यूनियन मिनिस्ट्री आव लेबर रिज़र्व के नाम से जाना जाता है, जो नीचे के स्कूलों को संचालित करता है। कुछ विशेष संस्थान—जैसे, कमिटी फॉर आर्टस् तथा कमिटी फॉर फिजिकल एजुकेशन आदि इन्हीं मन्त्रालयों से सम्बद्ध हैं और अपने अन्तर्गत शिक्षा का संचालन करते हैं। सोवियत संघ के प्रत्येक गणराज्य में एक मिनिस्ट्री आव पब्लिक एजुकेशन है जो किसी विशिष्ट प्रकार की शिक्षा को छोड़कर सर्वसाधारण की शिक्षा की व्यवस्था करती है। इस मन्त्रालय में अनेक विभाग होते हैं, जो प्रत्येक एक डाइरेक्टर के अधीन होता है और अलग-अलग कार्यों—जैसे, स्कूल के पूर्व स्तर की शिक्षा, प्राइमरी व सेकेण्डरी स्कूल, औद्योगिक व कृषि-कार्य के लिए युवकों की शिक्षा, शिक्षक-प्रशिक्षण, स्कूल के बाहर के कार्य, इमारतें तथा अन्य साज सामान आदि की देख-भाल करता है। यूनियन रिपब्लिकन मिनिस्ट्री इंसपेक्टरों व स्कूल के प्रधानों की नियुक्ति करती है व बजट तथा पाठ्यक्रम आदि का भी निर्देश करती है। इसके अनन्तर क्षेत्रीय, शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकारी होते हैं। प्रशासन का यही नमूना सर्वत्र लागू होता है। प्रत्येक प्रशासकीय इकाई का अपना एक बजट होता है, जिसमें शिक्षा को भी स्थान दिया जाता है।

पूर्व प्राइमरी शिक्षा

बच्चों तथा माताओं के संरक्षण-केन्द्र, सलाह व जानकारी देनेवाले केन्द्र तथा तीन वर्ष से कम उम्र के बच्चों की नर्सरी फैक्टरियाँ आदि विभिन्न प्रकार की संस्थाओं-द्वारा चलायी जाती हैं। ये चलानेवाली संस्थाएँ मिनिस्ट्री आव-हेल्थ के अन्तर्गत पड़ती हैं। किण्डर गार्टन में तीन से सात वर्ष की अवस्था के बीच के बच्चे लिये जाते हैं। बच्चों के लिए कार्यक्रम में खेल-कूद, कहानी सुनाना, गाना-बजाना, ड्राइंग तथा मूर्तियाँ बनाना सिखाया जाता है। इन स्कूलों में कोशिश की जाती है कि बच्चे का चतुर्दिक विकास हो, साथ ही उसमें सामूहिक भावना का भी निर्माण हो। कुछ बड़े बच्चों को लिखने-पढ़ने की शिक्षा भी दी जाती है।

प्राइमरी व सेकेण्डरी शिक्षा

सात वर्ष की अवस्था होने पर बच्चा स्कूल जाने लगता है। सोवियत यूनियन में मुख्यतः तीन प्रकार के स्कूल हैं—४ वर्षीय प्राइमरी स्कूल, जो अब मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में ही पाये जाते हैं, ७ वर्षीय स्कूल, और १० वर्षीय या सेकेण्डरी स्कूल। किन्हीं किन्हीं राज्यों में पूरा कोर्स ११ वर्षों का रखा जाता है, ताकि रूसी भाषा पढ़ाने के लिए अधिक समय मिले। शिक्षा का माध्यम सर्वत्र मातृभाषा ही है। गैर-रूसी भाषावाले स्कूलों में दूसरी कक्षा से रूसी भाषा शुरू कर दी जाती है। सात-वर्षीय या दसवर्षीय स्कूलों में यह लक्ष्य रखा जाता है कि बच्चे को नेचुरल साइंस के साथ-साथ भाषा व गणित की अच्छी आधारभूत शिक्षा दे दी जाय। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में बच्चे के प्रमोशन के बाद उसके रूसी भाषा, अंकगणित व स्थानीय भाषा के ज्ञान की परीक्षा ली जाती है।

दसवर्षीय स्कूलों में निम्नांकित पाठ्य कार्यक्रम पर अमल किया जाता है—

विषय	वर्ष में दिये अध्ययन घण्टे
रूसी भाषा	२५०८
साहित्य	५४४

मनुष्य जितना विभिन्न है वैसे ही हमारे विश्वास एव मान्यताएँ भी विभिन्न है। हम अमेरिका की शक्ति नहीं, मानवता के विकास की खोज कर रहे हैं। हम दूसरो पर आधिपत्य नही चाहते, बल्कि सबकी स्वाधीनता को पुष्ट करना चाहते है।' एक अन्य अवसर पर बोलते हुए उन्होंने कहा था—"कोई भी पद्धति, जो एक किसान के बच्चे को, जैसा कि मैं ५५ वर्ष पहले था, वह स्थान पा सकने में सहायक होती है, जिसपर मैं हूँ, तो वही पद्धति दुनिया की तमाम प्रणालियों, दर्शनो के बीच जीवित रहगी। ●

सोवियत रूस

नेपोलियन ने विश्व विजय का जो सपना देखा था उसे साकार करने के लिए उसने रूस पर कब्जा करना आवश्यक समझा था, लेकिन सोवियत रूस उस समय भी अजेय रहा और आज तो वह एक महाशक्ति के रूप में ससार के सम्मान का पात्र बना हुआ है। ऐसे देश की शिक्षा पद्धति पर विचार करना तथा उस पद्धति का उस राष्ट्र के विकास में योग निश्चित करना उपादेय भी है और रोचक भी।

३५ अक्षाश रेखाओ पर बसा हुआ यह महादेश ६५०० मील लम्बा और १५०० मील चौडा है। ८१,४५ ००० वर्गमील के इसके क्षेत्रफल को पश्चिम में बाल्टिक सागर, पूर्व में प्रशान्त महासागर, दक्षिण में काला सागर व गोबी रेगिस्तान तथा उत्तर में आर्कटिक सागर घेरे हुए है। भिन्न भिन्न समुदायो और भिन्न-भिन्न भाषाओ का यह महादेश अपनी विविधता में भारत की ही तरह है, और रूसी क्रान्ति के पहले यह देश भी भारत की ही तरह पिछडा हुआ था, लेकिन क्रान्ति के बाद की इसकी कहानी मानव के अदम्य पुरुषार्थ और कभी न हारनेवाली साहसी वृत्ति की एक गाथा है।

सोवियत रूस में शिक्षा की ऐतिहासिक भूमिका

बीसवी सदी के पहले रूसी शिक्षा पर राज्य और धर्म गुरुओ का आधिपत्य था। देश में केवल १० से १५ प्रतिशत लोग ही साक्षर थे। कला-कौशल एव हुनर की शिक्षा तो एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित थी। पीटर महान रूसी शिक्षा का पिता कहा जाता है। उसी के शासनकाल (१६८९-१७२५) में प्राइमरी व सेकेण्डरी शिक्षा का सगठन हुआ। १८२५ तक तो करीब १४०० बडे व छोटे स्कूल खुल गये थे। १८६३ में एक महिला ट्रेनिंग कालेज खोला गया। १८८४ में लोगो के प्रदर्शन के कारण जारशाही की निरकुशता कुछ कम हुई, जिससे स्कूलों के विकास में कुछ सुविधा हुई। रूस में शिक्षा का विकास वास्तव में १९०६ में शुरू हुआ। १९१७ में जब रूस में बाल्शेविक सरकार की स्थापना हुई उसके उपरान्त ही देश से निरक्षरता व अज्ञान उखाड फेंकने का दृढ सकल्प किया गया। १९२१ से १९२७ के बीच के वर्ष तो वास्तव में रूसी शिक्षा में क्रान्ति के वर्ष है। रूस की पचवर्षीय योजनाएँ १९२८ से शुरू हुई, और पहली ही पचवर्षीय योजना के अन्त में देश मे विद्यार्थियो की सख्या में काफी वृद्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध ने रूसी शिक्षा-क्षेत्र में कई परिवर्तन कराये। युवको, वयस्को, विद्यार्थियो सभी को देश की रक्षा के लिए सेना में भरती होना पडा, फिर भी शिक्षा का कार्य रुका नहीं, बल्कि लडके लडकियो की शिक्षा की व्यवस्था अनेक रूपो में की गयी। १९४६ की पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत स्कूलो का फिर से सगठन हुआ, और उसके पश्चात तो नये नये प्रयोगो, विधियो द्वारा शिक्षा प्रदान करने का देश में जैसे एक वातावरण ही बन गया।

सम्बन्धी प्रयोग' के रूप में पहली बार १९५६ में शुरू किये गये। ऐसे स्कूलों के संगठन-द्वारा सरकार बच्चे की शिक्षा और देख भाल का उत्तरदायित्व सँभालती है और इस प्रकार बच्चे के परिवार की काफी मदद हो जाती है। छात्रावास स्कूलों में रहने और पढ़नेवाले छात्रों को शारीरिक व मानसिक विकास का पूरा अवसर मिलता है। इन स्कूलों में अध्ययन काम और आराम का सुनियोजित कार्यक्रम बनता है। भौतिकशास्त्र, रसायन शास्त्र, गणित, भूगोल, प्रकृतिशास्त्र और ड्राइंग की कक्षाओं में वे उद्योग तथा कृषि के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोग में आनेवाले ज्ञान की बुनियाद प्राप्त कर लेते हैं और कर्मशालाओं तथा प्रयोगशालाओं में काम कर वे इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप देना सीख लेते हैं। ऐसे स्कूलों का एक लक्ष्य होता है बच्चों के मन में काम के प्रति पूर्ण सम्मान की स्थापना। इन स्कूलों का निर्माण काफी हदतक स्वयं-सेवा के आधार पर किया जाता है। बच्चों को इन स्कूलों में माता पिता की प्रार्थना पर दाखिल किया जाता है। निम्न, मध्यम तथा ऊँची आयवाले माँ-बाप क्रम से अपने बच्चों को निःशुल्क, आंशिक खर्च और पूरा शुल्क देकर पढ़ाते हैं। फिर भी, सरकार जो सहायता देती है, माँ बाप उसका १० प्रतिशत ही शुल्क के रूप में देते हैं।

पढ़ाई के साथ कमाई

सोवियत संघ में शिक्षा का एक और प्रकार है, जिसमें पढ़ाई के साथ साथ कमाई की भी व्यवस्था रहती है। ऐसे स्कूल के विद्यार्थी विभिन्न अवस्थाओं और व्यवसायोंवाले वे लोग होते हैं, जो किसी-न किसी कारण माध्यमिक शिक्षा न प्राप्त कर सके हों। ऐसे तरुण अपने काम के साथ साथ मजदूरों तथा किसानों के सान्ध्य-कालीन स्कूलों में अथवा पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रमों के जरिये अपना अध्ययन जारी रखते हैं। सान्ध्यकालीन ऐसे स्कूल १९४३ में उन नौजवानों के लिए स्थापित किये गये थे, जिन्होंने लड़ाई में गये लोगों के स्थान पर काम करने के लिए स्कूल छोड़े थे। अपनी शिक्षा जारी रखने के इच्छुक हर व्यक्ति को ऐसे स्कूल में प्रवेश मिलता है। इन विद्यार्थी-श्रमिकों को सरकार हर प्रकार की मदद देता है। उनका कार्य दिन छोटा होता है वे दिन में काम करके रात में पढ़ने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं, परीक्षाओं के समय उन्हें छुट्टियाँ दी जाती हैं और कभी-कभी सवेतन अवकाश दिया जाता है।

विशेषज्ञों का प्रशिक्षण

सोवियत संघ की श्रमिक जनता की शिक्षा का एक अन्य प्रकार भी है। अक्तूबर क्रान्ति के बाद देश ने माध्यमिक विशेषीकृत स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों की स्थापना करके अपने मजदूर किसान विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करना आरम्भ किया। आज तो तरुण विशेषज्ञों के प्रशिक्षण-क्षेत्र में सोवियत संघ संसार में सबसे आगे है। साथ ही, वहाँ पूरे पश्चिमी यूरोप के विद्यार्थियों से अधिक विद्यार्थी हैं। इंजीनियरों के प्रशिक्षण में सोवियत संघ सबसे अधिक विकसित पूँजीवादी देश संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से आगे निकल गया है।

सोवियत संघ के बड़े-से-बड़े विश्वविद्यालय

आज सोवियत संघ में ३९ विश्वविद्यालय हैं, जिनमें दो लाख विद्यार्थी पढ़ते हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय में ४ से ६ फैकल्टियाँ—भौतिकी तथा गणित, रसायन, जीव-विज्ञान तथा भूमि विज्ञान, भू-गर्भशास्त्र तथा भूगोल-विज्ञान, इतिहास तथा भाषा विज्ञान—हैं और हर विश्वविद्यालय में प्रविष्ट विद्यार्थियों की संख्या २ हजार से ५ हजार तक है। विश्वविद्यालयों में विषयों की पढ़ाई मातृभाषा तथा रूसी के माध्यम से होती है।

मास्को-जैसे बड़े से-बड़े विश्वविद्यालयों में केवल दिन के विभागों में लगभग १५ हजार विद्यार्थी पढ़ते हैं। इस विश्वविद्यालय में १२ फैकल्टियाँ हैं और २,४५० अध्यापक। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में ९,४०० विद्यार्थी हैं। कीव विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या ५,६०० है। सोवियत कालेजों और टेकनिकल स्कूलों के सभी विद्यार्थी मजदूरों, कृषकों और श्रमिक बुद्धि-जीवियों के बच्चे हैं। ध्यान देने की बात है कि फ्रांस के विश्वविद्यालयों में केवल २ प्रतिशत छात्र श्रमिक परिवारों के हैं, जब कि केम्ब्रिज में ८ प्रतिशत। सोवियत संघ में माध्यमिक और उच्च शिक्षा निःशुल्क है। लगभग

अंकगणित	
बीजगणित, ज्यामिति, ट्रिगनामेट्री	११५५
मेंसुरल साइंस	९९०
इतिहास	५४५
रूस का संविधान	७०५
भूगोल	६६
भौतिकशास्त्र	५२८
खगोल विद्या	४७८
रसायन शास्त्र	३३
विदेशी भाषाएँ	१४६
शारीरिक शिक्षा	७२६
ड्राइंग	५९४
मैकेनिकल ड्राइंग	१९८
संगीत	१३२
	१३२

अनिवार्य शिक्षा

क्रान्ति के पूर्व रूस में ७६ प्रतिशत लोग निरक्षर थे। उस समय की दशा का वर्णन करते हुए एक बार लेनिन ने कहा था—"सारे यूरोप में रूस-जैसा कोई और देश न था, जहाँ का मनुष्य साधारण शिक्षा, संस्कार और ज्ञान से इस प्रकार पूर्णतया वंचित था।" लेनिन इसी रूस में १९१९ में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की ८वीं कांग्रेस ने लक्ष्य निर्धारित किये—"१७ वर्ष तक की उम्र के सभी लड़के-लड़कियों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य व सामान्य और बहुप्राविधिक यानी ज्ञान की उत्पादन की सभी प्रमुख शाखाओं के सम्बन्ध में सिद्धान्त एवं व्यवहार से परिचित करानेवाली शिक्षा का प्रबन्ध तथा ऐसे स्कूलों की स्थापना, जिनकी श्रेणियों में बच्चों की पढ़ाई उनकी मातृभाषा में होती हो और पढ़ाने की प्रणाली धार्मिक प्रभावों से पूर्णतया मुक्त हो। यह शिक्षा बच्चों की पढ़ाई और सामाजिक दृष्टि से उत्पादक काम में घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ानेवाली बने और साम्यवादी समाज के सुशिक्षित सदस्य तैयार करनेवाली हो।"

आज सोवियत संघ की जनता का चौथा हिस्सा अध्ययन करता है। लगभग प्रत्येक परिवार में कोई-न-कोई विद्यार्थी है ही। किसी परिवार का ७ वर्षीय बच्चा है, जो स्कूल की देहरी लाँघ रहा है, तो किसी में कोई लड़का या लड़की, जो दस वर्षीय स्कूल की अन्तिम परीक्षा की तैयारी कर रही है या कालेज से ग्रेजुएट हो रही है तो किसी में स्वयं माता-पिता शाम के स्कूल में जाते हैं या पत्र-व्यवहार-पाठ्यक्रम के विद्यार्थी हैं। सार्वजनिक शिक्षा का सबको समान अवसर सोवियत प्रणाली की एक महान सफलता है। इस समय सोवियत संघ में लगभग २९० लाख स्कूली छात्र हैं। इन्हें पढ़ाने के लिए हर वर्ष दसियों हजार स्कूली अध्यापक स्नातक बनते हैं। प्रत्येक १,००० आबादियों के लिए सोवियत संघ में ९, ग्रेट-ब्रिटेन में ५.८ और इटली में ५.४ अध्यापक हैं। इसका अर्थ यह है कि हर अध्यापक के पीछे सोवियत संघ में १७, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ८२ और ग्रेट ब्रिटेन में ३० छात्र हैं। लोकशिक्षा का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत ही स्पष्ट है—दसवर्षीय स्कूलों में से ५६ प्रतिशत स्कूल इस समय इन क्षेत्रों में स्थित हैं। देश के स्कूली छात्रों में से आधे से अधिक छात्र देहाती स्कूलों में पढ़ते हैं।

सोवियत संघ की शिक्षा-प्रणाली की आज एक यह भी विशेषता है कि यहाँ शिक्षा की बहुप्राविधिक प्रणाली पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे विद्यार्थियों को अर्थव्यवस्था की मुख्य शाखाओं तथा औद्योगिक कार्यों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है और व्यावहारिक प्रशिक्षण व औद्योगिक कौशल की भी प्राप्ति होती है। केवल मास्को शहर का ही उदाहरण लें। यहाँ के स्कूलों में बिजली, बढ़ईगिरी और खरादी काम की १५०० वर्कशापें हैं। रूस में शिक्षा-प्रणाली में जो भी सुधार हो रहे हैं उनका शिक्षा-दीक्षा-सम्बन्धी मार्क्सवादी, लेनिनवादी विचारधारा से पूर्णतया मेल खाता है। यहाँ लोगों को इस तथ्य में दृढ़ आस्था है कि नवयुवकों में अध्ययन व उपयुक्त काम दोनों का मधुर मेल हो, नहीं तो भावी समाज की कल्पना सम्भव नहीं है। वर्तमान विज्ञान और उद्योग दोनों की निरन्तर बढ़ती माँगों की दृष्टि से युवक-युवती को दोनों का समुचित ज्ञान हो सके, ऐसा वहाँ निरन्तर प्रयास हो रहा है।

छात्रावास-स्कूल

सोवियत शिक्षा-प्रणाली की एक अन्य विशेषता है वहाँ के छात्रावास-स्कूल। ऐसे स्कूल 'आवासिक स्कूल-

सम्बन्धी प्रयोग' के रूप में पहली बार १९५६ में शुरू किये गये। ऐसे स्कूलों के सगठन-द्वारा सरकार बच्चे की शिक्षा और देख-भाल का उत्तरदायित्व सँभालती है और इस प्रकार बच्चे के परिवार की काफी मदद हो जाती है। छात्रावास-स्कूलों में रहने और पढनेवाले छात्रो को शारीरिक व मानसिक विकास का पूरा अवसर मिलता है। इन स्कूलो में अध्ययन, काम और आराम का सुनियोजित कार्यक्रम बनता है। भौतिकशास्त्र, रसायन शास्त्र, गणित, भूगोल, प्रकृतिशास्त्र और ड्राइग की कक्षाओं में वे उद्योग तथा कृषि के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोग में आनेवाले ज्ञान की बुनियाद प्राप्त कर लेते हैं और कर्मशालाओ तथा प्रयोगशालाओ में काम कर वे इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप देना सीख लेते हैं। ऐसे स्कूलो का एक लक्ष्य होता है बच्चो के मन में काम के प्रति पूर्ण सम्मान की स्थापना। इन स्कूलों का निर्माण काफी हदतक स्वय-सेवा के आधार पर किया जाता है। बच्चो को *इन स्कूलों में माता-पिता की प्रार्थना पर दाखिल* किया जाता है। निम्न, मध्यम तथा ऊँची आयवाले माँ-बाप क्रम से अपने बच्चो को नि शुल्क, आंशिक खर्च और पूरा शुल्क देकर पढाते हैं। फिर भी, सरकार जो सहायता देती है, माँ बाप उसका १० प्रतिशत ही शुल्क के रूप में देते हैं।

पढाई के साथ कमाई

सोवियत सघ में शिक्षा का एक और प्रकार है, जिसमें पढाई के साथ साथ कमाई की भी व्यवस्था रहती है। ऐसे स्कूल के विद्यार्थी विभिन्न अवस्थाओ और व्यवसायोवाले वे लोग होते हैं, जो किसी-न-किसी कारण माध्यमिक शिक्षा न प्राप्त कर सके हो। ऐसे तरुण अपने काम के *साथ-साथ मजदूरों तथा किसानों के सान्ध्य*-कालीन स्कूलो में अथवा पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रमो के जरिये अपना अध्ययन जारी रखते हैं। सान्ध्यकालीन ऐसे स्कूल १९४३ में उन नौजवानों के लिए स्थापित किये गये थे, जिन्होंने लडाई में गये लोगो के स्थान पर काम करने के लिए स्कूल छोडे थ। अपनी शिक्षा जारी रखने के इच्छुक हर व्यक्ति को ऐसे स्कूल में प्रवेश मिलता है। इन विद्यार्थी-श्रमिकों को सरकार हर प्रकार की मदद देती है। उनका कार्य दिन छोटा होता है वे दिन में काम करके रात में पढने के लिए स्वतत्र रहते हैं, परीक्षाओं के समय उन्हें छुट्टियाँ दी जाती हैं और कभी-कभी सवेतन अवकाश दिया जाता है।

विशेषज्ञों का प्रशिक्षण

सोवियत सघ की श्रमिक जनता की शिक्षा का एक अन्य प्रकार भी है। अक्तूबर-क्रान्ति के बाद देश ने माध्यमिक विशेषीकृत स्कूलो, कालेजों और विश्वविद्यालयो की स्थापना करके अपने मजदूर किसान विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करना आरम्भ किया। आज तो तरुण विशेषज्ञो के प्रशिक्षण-क्षेत्र में सोवियत सघ ससार में सबसे आगे है। साथ ही, वहाँ पूरे पश्चिमी यूरोप के विद्यार्थियो से अधिक विद्यार्थी हैं। इजीनियरो के प्रशिक्षण में सोवियत सघ सबसे अधिक विकसित पूँजीवादी देश सयुक्त राष्ट्र अमेरिका से आगे निकल गया है।

सोवियत सघ के बडे-से-बडे विश्वविद्यालय

आज सोवियत सघ मे ३९ विश्वविद्यालय हैं, जिनमें दो लाख विद्यार्थी पढते हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय में ४ से ६ फैकल्टियाँ—भौतिकी तथा गणित, रसायन, जीव-विज्ञान तथा भूमि-विज्ञान, भू-गर्भशास्त्र तथा भूगोल-विज्ञान, इतिहास तथा भाषा-विज्ञान—हैं और हर विश्वविद्यालय में प्रविष्ट विद्यार्थियों की सख्या २ हजार से ५ हजार तक है। विश्वविद्यालयो में विषयों की पढाई मातृभाषा तथा रूसी के माध्यम से होती है।

मास्को-जैसे बडे-से-बडे विश्वविद्यालयो में केवल दिन के विभागो में लगभग १५ हजार विद्यार्थी पढते हैं। इस विश्वविद्यालय में १२ फैकल्टियाँ हैं और २,४५० *अध्यापक। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में* ९,४०० विद्यार्थी हैं। कीव विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की सख्या ५,६०० है। सोवियत कालेजों और टेकनिकल स्कूलों के सभी विद्यार्थी मजदूरों, कृषकों और श्रमिक बुद्धि-जीवियों के बच्चे हैं। ध्यान देने की बात है कि फ्रास के विश्वविद्यालयों में केवल २ प्रतिशत छात्र श्रमिक परिवारों के हैं, जब कि केम्ब्रिज में ८८ प्रतिशत। सोवियत सघ में माध्यमिक और उच्च शिक्षा नि शुल्क है। लगभग

८० प्रतिशत विद्यार्थियों को सरकारी छात्रवृत्तियाँ मिलती हैं और इसके अतिरिक्त क्षेत्र में काम करते समय अधिकांश विद्यार्थियों को वेतन मिलता है। काम करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करने का हर अवसर यहाँ के विद्यार्थियों को उपलब्ध है। यहाँ २४ पत्र-व्यवहार कालेज, ९ सान्ध्य कालेज, दिन के कालेजों में ४३० से अधिक पत्र-व्यवहार और २४० से अधिक सान्ध्य पाठ्यक्रम विभाग और पत्र-व्यवहार कालेजों से सम्बद्ध ३०० से अधिक उपविभाग तथा परामर्श-केन्द्र हैं। सोवियत संघ के कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट विद्यार्थियों में से ४३ प्रतिशत यानी ९ लाख से भी अधिक विद्यार्थी काम करते हुए पढ़ते हैं।

संसार के देशों के साथ सद्भावना-वृद्धि के उद्देश्य से अभी कुछ ही वर्ष पहले रूस ने लुमुम्बा फ्रेण्डशिप यूनिवर्सिटी खोली है जहाँ संसार के हर भाग के, विशेषकर अफ्रो-एशियाई देशों के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। रूस के चतुर्दिक विकास को देखते हुए वहाँ के राष्ट्रीय विकास में शिक्षा की भूमिका स्पष्ट हो जाती है। पिछले ४० वर्षों में रूस ने जितनी अभूतपूर्व प्रगति की है, वह अन्य देशों के लिए प्रेरणा एवं आशा का स्रोत है।

जनवादी चीन

सदियों से गरीब, पिछड़े तथा अभावग्रस्त देश चीन ने सन् १९४९ की जनवादी क्रान्ति के पश्चात्, जो उन्नति की है उसे देखकर सारे संसार के लोगों को आश्चर्य हुआ है, और आज तो चीन ऐटम व हाइड्रोजन बम बनाकर दुनिया की महाशक्तियों के समकक्ष बैठना चाहता है। ऐसे विकासशील देश ने अपनी शिक्षा का जो विकास किया है उसका अध्ययन न केवल रुचिकर ही है, बल्कि आवश्यक भी। और, चूँकि शिक्षा ही मनुष्य के निर्माण का सर्वश्रेष्ठ साधन है, अतः अपने राष्ट्रीय विकास में चीन अपनी शिक्षा-पद्धति पर ही निर्भर रहा है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

शिक्षा के कानूनी आधार

जनवादी चीन के मूलभूत सिद्धान्त एवं नीतियाँ उन तीन विधि पत्रकों में निहित हैं, जिन्हें पीपुल्स पोलिटिकल कन्सल्टेटिव कान्फ्रेंस ने स्वीकार किया है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है सर्वसामान्य कार्यक्रम, जो संविधान के रूप में माना जाता है और जिसकी धाराओं ४१-४७ में शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति की चर्चा की गयी है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित धाराओं के कुछ अंशों का उल्लेख उपयुक्त होगा—

> धारा ४१—जनवादी चीन की संस्कृति एवं शिक्षा राष्ट्रीय, वैज्ञानिक और सर्वमान्य होगी। लोगों का सांस्कृतिक स्तर उठाना, राष्ट्रीय विकास-कार्यों के लिए लोगों का प्रशिक्षण, सामन्तवादी व फासिस्ट नीतियों का उन्मूलन तथा जनता की सेवा के सिद्धान्त का अधिकाधिक विकास जनवादी सरकार का मुख्य कार्य होगा।
>
> धारा ४२—जनवादी चीन के सभी सदस्यों में पितृभूमि के प्रति प्रेम, लोगों के प्रति प्रेम, श्रम के प्रति प्रेम, विज्ञान के प्रति प्रेम तथा सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा की भावना विकसित की जायगी।
>
> धारा ४६—जनवादी चीन की शिक्षा-प्रणाली सिद्धान्त और व्यवहार के एकीकरण से विकसित होगी। जनवादी सरकार पुराने तरीके व ढाँचे को सुनियोजित व व्यवस्थित रूप में बदलेगी।

धारा ४७—क्रान्तिकारी एव राष्ट्रीय निर्माण-कार्यों की विशाल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सार्वभौम शिक्षा का प्रयोग होगा, सेकेण्डरी व ऊँची शिक्षा को अधिकाधिक शक्ति प्रदान की जायगी, प्राविधिक शिक्षा पर जोर दिया जायगा। खाली समय में श्रमिकों की शिक्षा तथा तैनाती के स्थान पर सैनिको की शिक्षा दृढतर की जायगी तथा युवा एव पुराने दोनों प्रकार के बुद्धिवादियो को क्रान्तिकारी एव राजनीतिक शिक्षा प्रदान की जायगी। यह सभी सुनियोजित व व्यवस्थित ढग से होगा।

इस 'कामन प्रोग्राम'-द्वारा निर्दिष्ट सुधारो को सरकारी आदेश पत्रो ने धीरे-धीरे लागू किया। अक्तूबर १९५१ में शिक्षा सम्बन्धी एक निणय लागू किया गया, जिसने किण्डर गार्टेन से लेकर विश्वविद्यालयीन एव प्रौढ शिक्षण तथा पुराने व नये दोनों प्रकार की शिक्षण सस्थाओं को एक निश्चित ढर्रे व एकसूत्रता में ला खडा किया। दूसरा महत्वपूर्ण आदेश अक्तूबर १९५२ में दिया गया, जो सेकेण्डरी व ऊँची शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियो की सहायता सब्सिडी, वजीफे से सम्बन्धित था।

शैक्षिक प्रशासन-सगठन

केन्द्रीय सगठन में 'शिक्षा और सस्कृति मत्रालय 'सास्कृतिक एव शैक्षिक समिति' के मार्गदर्शन पर चलता है। इस समिति का चेयरमैन 'गवनमेण्ट एडमिनिस्ट्रेशन काउंसिल' का एक मेम्बर होता है। केन्द्रीयकरण तथा राज्य का कण्ट्रोल—चीनी शैक्षिक प्रशासन के आज ये दो मुख्य तत्त्व हैं। १९५० में चालू किये हुए सरकारी आदेशों के अनुसार उच्च शिक्षा की सस्थाएँ शिक्षा मत्रालय के अन्तर्गत कर दी गयी है। सेकेण्डरी व प्राइमरी शिक्षा प्रान्तीय एव स्थानीय सरकारो के ही अन्तर्गत हैं तथा प्राइमरी स्कूलों पर स्थानीय अधिकारियो का नियत्रण रहता है। इन तीनों स्तरो पर शिक्षा का व्यय तीनो स्तरों-द्वारा अलग-अलग उठाया जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सभी प्रकार की शिक्षा के लिए 'अधिकतर लोगो-द्वारा विचार-विमर्श, किन्तु-कुछ द्वारा निर्णय' का सिद्धान्त लागू किया जाता है। शिक्षा के प्रकार एव उसके द्वारा प्रदान की जाने वाली बातो के सम्बन्ध में यह प्रोत्साहन दिया जाता है कि सारे राष्ट्र में उनपर चर्चा हो, लेकिन निर्णय केन्द्रीय सरकार-द्वारा बुलायी राष्ट्रीय काग्रेस में लिया जाता है। इस प्रकार जो निर्णय लिया जाता है उसका असर पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों, परीक्षाओं तथा देशभर के प्राइमरी, सेकेण्डरी तथा प्रौढ शिक्षण पर पड़ता है।

पूर्व प्राइमरी शिक्षा

अभी तक चीन मे शिशुओं की शिक्षा पर अधिक ध्यान नही था। १९५१ के सरकारी आदेश में ३ से ७ वर्ष के बच्चों के लिए किण्डरगार्टन के प्रबन्ध की बात कही गयी, लेकिन इन किण्डरगार्टनो की व्यवस्था मुख्यत शहरो में ही की गयी और औद्योगिक प्रतिष्ठानो को भी यह व्यवस्था करने का आदेश दिया गया। धीरे धीरे यह व्यवस्था ग्रामीण जीवन में भी लागू की जा रही है।

प्राइमरी शिक्षा

प्राइमरी शिक्षा के क्षेत्र मे चीन ने १९५२ से ५ वर्ष के क्रमवाले स्कूल शुरू किये हैं। पाठ्यक्रमो में कुछ आवश्यक परिवर्तन करके और स्कूल में दाखिल होने की उम्र ७ वर्ष तक बढाकर अधिकारी अब यह समझने लग है कि ऐसे स्कूलो से जनता के सभी तबको के लोगो की आवश्यकता पूर्ति हो जायगी। स्कूलो की व्यवस्था का उत्तरदायित्व स्थानीय होता है और उन्हें चलाने में कुछ सार्वजनिक सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाता है। राजनीतिक प्रशिक्षण और एक्स्ट्रा करिकुलर यानी पाठ्यक्रम से बाहर के कार्यों को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

सेकेण्डरी शिक्षा

सेकेण्डरी शिक्षा का काल ६ वर्ष का है जिसमें तीन वर्ष जूनियर सेकेण्डरी के लिए और तीन वर्ष सीनियर सेकेण्डरी के लिए दिये जाते हैं। रोजमर्रा के काम के लिए स्कूल काउंसिल होती है जिसमें प्रशासकीय अधिकारी, शिक्षक, विद्यार्थी तथा श्रमिक होते हैं, लेकिन नीति-निर्धारण और पैसे का प्रबन्ध मिनिस्ट्री आव एजुकेशन

के जिम्मे रहता है। टेकनिकल सेकेण्डरी शिक्षा की कमी होने हुए भी साधारण सेकण्डरी स्कूलों को इस उद्देश्य की पूर्ति लायक नहीं बनाया गया है। विज्ञान के विषयों में अब अधिक विशेषता प्राप्त करायी जा रही है, छोटे-छोटे कोर्स हटा दिये गये है और सप्ताह में दो घण्टे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा पाठ्यक्रम के बाहर के कार्यक्रमों के लिए दिया जाता है।

उच्च शिक्षा

जहाँ तक प्रशासनिक ढाँचे का प्रबन्ध है किसी विश्व विद्यालय के प्रधान प्रेसिडेण्ट व वाइस प्रेसिडेण्ट होते हैं और ये दोनों ही सरकार-द्वारा नियुक्त होते हैं। बाकी पदों की नियुक्ति विश्वविद्यालय-स्टाफ या सरकार के द्वारा होती है। प्रत्येक संस्था में एक काउंसिल होती है जिसमें अधिकारी, स्टाफ के सदस्य, विद्यार्थी प्रतिनिधि होते हैं, जिन्हें कार्यक्रम, योजना, बजट तथा नियमों-उपनियमों के सम्बन्ध में काफी अधिकार हैं, लेकिन निर्णयों पर प्रेसिडेण्ट को 'वीटो' करने का अधिकार होता है। विश्व-विद्यालय के किसी खास पहलू को काउंसिल तथा श्रमिकों एवं विद्यार्थियों के संगठन मिलकर देखते हैं।

शिक्षा पर कण्ट्रोल केन्द्रीय होने के कारण पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में एकरूपता रहती है। पाठ्यक्रम और शिक्षण पणाली में अनावश्यक चीजें हटाने, शीघ्र स्पेशलाइजेशन शुरू करने तथा ठोस राजनीतिक प्रशिक्षण देने पर जोर दिया जा रहा है। सिद्धान्त और व्यवहार में एकरसता रखने के लिए विद्यार्थियों की छुट्टियों का कुछ हिस्सा कृषि या औद्योगिक क्षेत्रों में लगाने का विधान है। इन कार्यों के लिए शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के ग्रुप जाते है। आने-जाने तथा अन्य खर्चों को भारत सरकार वहन करती है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र की एक झलक देने के लिए यहाँ उन बातों का हवाला देना समीचीन होगा, जो सनयात सेन विश्वविद्यालय के प्रेसिडेण्ट ने भारतीय सद्भाव मण्डल के सदस्यों से १९५१ में कहा था। प्रेसिडेण्ट ने इस प्रकार कहा—'चीनी जनता की विजय के बाद इस विश्वविद्यालय की जिम्मेदारी ली गयी और अब हम चीनी जनता की सरकार की नीतियों को पूरा करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। मैं अभी-अभी पेकिंग से लौटा हूँ। हम अपने चेयरमैन माओ की नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। हमलोगों ने जब इस विश्वविद्यालय को अपने अधिकार में लिया तो पहली चीज यह की कि सभी शिक्षकों को राजनीतिक एवं आदर्शात्मक नयी प्रणाली में दीक्षित किया। दो वर्षों बाद हमें अच्छा नतीजा मिला है। अब हमलोग केवल राजनीतिक और आदर्शात्मक चीजों पर ही बल नहीं देंगे, बल्कि अपने चेयरमैन के विचारों का अधिकाधिक अध्ययन भी करेंगे। हमारे चेयरमैन के शिक्षा-सिद्धान्त में कई चीजें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। पहली बात तो यह है कि हमारी राजनीतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा-द्वारा होनी चाहिए। पूंजीवादी देशों में शिक्षा राजनीति व अर्थनीति दोनों से ऊपर है। हमारी दृष्टि में यह खयाल गलत है। हमारा शिक्षा-सिद्धान्त श्रमिकों के विचारों से प्रभावित है उसी तरह जैसे हमारा सारा राजनीतिक ढाँचा ही श्रमिक वर्ग से परिचालित है, क्योंकि वही हमारे राष्ट्र के मुख्य आधार है। दूसरे शिक्षा में सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय होना ही चाहिए। हमारी शिक्षण फैकल्टियों एवं अनेक सरकारी विभागों में बड़ा निकट सम्बन्ध है, ताकि हम मिलकर अपने इस नये चीन का निर्माण कर सकें। हालाँ कि हमें पैसे की कठिनाई जरूर है, किन्तु हमारे देश ने हम जो कार्य सौंपा है उसे हम विश्वविद्यालय के सभी सदस्य अपनी पूरी शक्ति लगा कर पूरा करेंगे। इस दृष्टि से कम्युनिस्ट पार्टी का उदाहरण दुनिया के सामने है। पिछले तीस वर्षों में उसने क्या-क्या मुसीबतें नहीं उठायी, लेकिन अन्त में वह अपने लक्ष्य में सफल रही।" इसी प्रकार की बात चीनी नेशनल कमेटी के एक सदस्य ने एक दूसरे सद्भावना मण्डल के कुछ सदस्यों से कही थी। नये चीन में शैक्षिक स्वाधीनता का प्रश्न ही नहीं है। वहाँ शिक्षा के मार्क्सवादी दर्शन को उसके पूर्ण अर्थों में अपनाने का प्रयास है।

विशिष्ट संस्थाएँ एवं उपाय

चीनी क्रान्ति ने शिक्षा में कई ऐसी चीजें दाखिल की हैं, जो समय-समय पर लागू की जाती है, फिर हटा

ली जाती है। ऐसी चीजें उपस्थित सुविधाओं का पूरा उपयोग करने एव मजदूर-कृषक वर्ग के विद्यार्थियों को अधिकाधिक अवसर प्रदान करने की दृष्टि से की जाती हैं। विश्वविद्यालयों में इजीनियरिंग व चिकित्सा के पाठ्यक्रम के वर्ष घटा दिये गये है और इसके लिए या तो पाठ्यक्रम को ही काट-छांट कर छोटा कर दिया गया है या विद्यार्थियों को कोई डिप्लोमा देकर उन्हें बाद में कोर्स पूरा करने की सुविधा दी जाती है। एक नये प्रकार की सस्था (पीपुल्स युनिवर्सिटी) खोली गयी है जिसमें मजदूर या किसान तबके से आये हुए विद्यार्थी प्रधानता में रहते है। दूसरे प्रकार की सस्था है रिक्त-अवकाश-स्कूल, जिन्हें बडी सख्या में सगठित किया गया है। ऐसे स्कूल निचले स्तरों पर साक्षरता व अकगणित की शिक्षा देते है, लेकिन आगे चलकर कुछ विस्तृत पाठ्यक्रम रखा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों मे ऐसे स्कूल विण्टर स्कूल यानी जाडे माह के स्कूल बन जाते हैं, जिनमें व्यावहारिक कृषि को ऊँचा स्थान दिया जाता है।

शिक्षा का महत्वपूर्ण अग

चीन में शिक्षा-सस्थाएँ शिक्षा का जो काम कर रही है वह तो कर ही रही है, काफी काम पीपुल्स लिबरेशन आर्मी यानी मुक्ति-सेना और गैर-सस्थात्मक एजेंसियो द्वारा हो रहा है। चीन में १२०० शब्दों के साथ एक आसान वर्णमाला विकसित की गयी है, जिससे अधिकाधिक जनता का शिक्षित करने में सफलता मिल सके। आगामी ३२ वर्षों में चीनी मजदूरो के बीच से निरक्षरता का निरसन कर देने का लक्ष्य रखा गया है। चीन की सबसे बडी शक्ति आज प्रौढ शिक्षा के क्षेत्र में लग रही है। आवश्यक सख्या में शिक्षक तैयार करने पर भी चीन में आज पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। शिक्षक आज वहाँ बहुत ही महत्वपूर्ण प्राणी माना जाता है और उसे देश के सास्कृतिक जीवन की एक आवश्यक कडी के रूप में स्वीकार किया जाता है। शिक्षको को देश के श्रमिकों और किसानो से मिलने और अपनी क्रियाशीलता विकसित करने के अवसर दिये जाते है।

शिक्षा का रोल

ऊपर दिये तथ्यों मे यह स्पष्ट हो गया होगा कि चीन के राष्ट्रीय विकास में वहाँ की शिक्षा पद्धति कितनी सहायक रही है। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रीय विकास के दृष्टिकोण से ही वहाँ की शिक्षा विकसित की गयी है। ७६ करोड जनसख्या का यह महादेश आज बडी शीघ्रता से दुनिया के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रो की पक्ति मे बैठने के लिए बढ रहा है और वह समय अब दूर नही लगता, जब ससार के राष्ट्रो में चीन का अपना विशिष्ट स्थान बनेगा। विकास की दृष्टि से चीनी जीवन प्रणाली में जो खतरे निहित है वह किसी भी कम्युनिस्ट-प्रणाली के अग है। इन खतरो के बावजूद चीनी शिक्षा-प्रणाली चीन को कहाँ तक ले जायगी इसका उत्तर भविष्य के गर्भ मे है। ●

इसराइल

आपको सम्भवत यह सुनकर कुतूहल होगा कि इसराइल के भूतपूर्व प्रधानमत्री बेनगुरियां को अपनी ही नौकरानी से कम वेतन मिलता था। क्यो? इसराइल से लौटने पर अपने एक मित्र ने बताया—"टना केले हाँ केवल इसलिए सड जाते है कि उन्हें हटाने के लिए मजदूर रखने पर मजदूरी केलो के दाम से कही अधिक बैठती है।" इतने ऊँचे जीवन-मान और अनेक विचित्रताओं से भरे देश इसराइल की ओर आज दुनिया की कुतूहलभरी आँखे लगी हुई है। इसराइल एक नवीन सभ्यता को जन्म दे रहा है और थोडे ही समय में उसने

अफ्रीका के देशों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। ऐसे देश की शिक्षा पद्धति सबकी रुचि की वस्तु होगी।

१५ मई १९४८ को जब अफ्रीकी देश इसराइल की स्थापना हुई तो उसे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली विरासत में मिली, जिसके अन्तर्गत स्कूली बच्चों की कुल संख्या ९७ हजार थी। १९१८ से १९४८ तक फिलस्तीन में ब्रिटिश शासन ने हेब्रू स्कूलों की स्वायत्तता स्वीकार तो की थी, किन्तु इन स्कूलों को प्राइवेट क्षेत्र के अन्तर्गत ही माना गया था। इसके परिणामस्वरूप वर्ल्ड जियोनिस्ट आर्गनाइजेशन और यहूदी लोगों को बड़े अभाव का सामना करना पड़ा, क्योंकि उन्हें बाहर से आनेवाले लोगों के, जिनमें एक बड़ी संख्या दीन वित्तहीन शरणार्थियों की थी, पुनर्वासन की व्यवस्था करनी पड़ी। मई १९४८ से दिसम्बर १९५२ तक देश में करीब ८ लाख लोग बाहर से आये। इन करीब साढ़े चार वर्षों में ही देश की जनसंख्या दुगुनी यानी लगभग १५ लाख हो गयी। इन सभी बातों से शिक्षा की समस्या कठिन होती गयी। दुनिया के विभिन्न देशों से आये लोगों के विभिन्न रीति-रिवाजों, जीवन मानों, परम्पराओं आदि के बीच अनेक प्रश्न खड़े हुए, जिनका इसराइली राज्य ने धैर्य एवं बुद्धिमत्ता से मुकाबला किया।

शिक्षा का वैधानिक आधार

अनेक प्रकार की समस्याओं के बीच भी इस नये देश की सरकार ने शिक्षा को अपना बड़ा उत्तरदायित्व माना। अरब देशों से सन्धि के पश्चात् ही १२ सितम्बर १९४९ को इसराइल की पार्लमेण्ट ने कम्पल्सरी एजुकेशन लॉ यानी अनिवार्य शिक्षा-कानून पास कर दिया। इस कानून में सार्वत्रिक अनिवार्य शिक्षा लागू हो गयी, जो धर्म, जाति या लिंग का बिना कोई भेद किये ५ से १४ वर्ष तक के बच्चों के लिए और जो बच्चे प्राइमरी शिक्षा पूरी न कर सके हो उनके लिए १७ वर्ष तक की उम्र तक के लिए सुलभ हो गयी। इनके अतिरिक्त, एजुकेशन आर्डिनेंस तथा ऐंटीविटीज आर्डिनेंस के साथ मिनिस्ट्री आव एजुकेशन एण्ड कल्चर शिक्षा की देखभाल करती है।

प्रशासन एवं संगठन

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के मन्त्री के अतिरिक्त डायरेक्टर जेनरल व उसका स्टाफ, बोर्ड आव चीफ इन्स्पेक्टर्स आव स्कूल्स, डिपार्टमेण्ट फार फिनान्स एण्ड सप्लाइज, द ब्यूरो फॉर रिसर्च एण्ड एक्जामिनेशन्स, एक कानूनी सलाहकार तथा दूध-वितरण समिति भी रहती है। प्राइमरी, सेकेण्डरी और पेशे तथा प्रौढ़-शिक्षा-सम्बन्धी विभाग भी अलग अलग है, जिनसे सम्बद्ध अनेक उपविभाग हैं। वैसे मिनिस्ट्री आव एजुकेशन एण्ड कल्चर कानून का पालन कराने के लिए जिम्मेदार है, लेकिन अपने अधिकारों के प्रयोग में वह एक शिक्षा-समिति की सलाह लेती है। इस शिक्षा-समिति में जनता के प्रतिनिधि रहते हैं। बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी स्थानीय अधिकारियों पर होती है, लेकिन शिक्षा-मन्त्रालय यह देखता है कि स्थानीय अधिकारी अपने कर्तव्य का पालन किस प्रकार करता है। शिक्षा मन्त्रालय स्थानीय शिक्षा का ४० प्रतिशत से ८० प्रतिशत तक खर्च भी उठाता है। नये लोगों, विशेषकर अरब शरणार्थियों के बच्चों का पूरा खर्च सरकार उठाती है। इसराइल के नागरिक-जीवन में शिक्षा का कितना महत्व है यह वहाँ के बजट में उत्तरोत्तर बढ़ते शिक्षा-व्यय को देखकर किया जा सकता है।

३ से ६ वर्ष तक के बच्चे किण्डर गार्टेन स्कूलों में जाते हैं। केवल ५-६ वर्ष के बच्चे ही कम्पलसरी एजुकेशन के अन्तर्गत आते हैं। प्राइमरी स्कूलों में ८ वर्ष का शिक्षाक्रम लागू होना है, जिसमें ६ से १४ वर्ष की उम्र तक के बच्चे पढ़ते हैं। जिन युवक श्रमिकों को प्राइमरी शिक्षा पूरा करने का अवसर नहीं मिला रहता वे १४ से १७ वर्ष की उम्र तक शिक्षा पूरी करते हैं। सेकेण्डरी स्कूलों में ४ वर्ष की पढ़ाई होती है और उनमें वही बच्चे दाखिल होते हैं, जिन्होंने प्राइमरी शिक्षा पूरी की रहती है। सेकेण्डरी स्कूलों के ग्रेजुएट विश्वविद्यालयों या उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्रों में भरती हो सकते हैं। सेकेण्डरी स्कूलों के समकक्ष ही विभिन्न देशों एवं कृषि के स्कूल भी होते हैं। लड़कों के लिए कृषि, बढ़ईगिरी, बिजली, धातु कार्य इत्यादि और लड़कियों के लिए सिलना बुनना, पाकशास्त्र, विज्ञान इत्यादि के

अतिरिक्त ऐसे शिक्षण-केन्द्र बौद्धिक शिक्षा भी प्रदान करते हैं। शिक्षा के उच्च केन्द्रों में हेब्रू विश्वविद्यालय, हैफा इन्स्टीट्यूट आव टेकनालाजी, वीजमैन इन्स्टीट्यूट आव साइंस, एग्रिकल्चरल इन्स्टीट्यूट, म्यूजिकल एकेडमी, बेजालेल स्कूल आव आर्टस् एण्ड क्राफ्ट्स आदि हैं। इसी तरह शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए टीचर्स ट्रेनिंग कालेज हैं, जो दो वर्ष की ट्रेनिंग देते हैं। नर्सिंग कालेज आदि भी इसी तरह की शिक्षण-संस्थाएँ हैं।

पूर्व प्राइमरी शिक्षा

देश के सभी वर्गों के ३ से ६ वर्ष की उम्र के, लगभग ७० प्रतिशत बच्चे किण्डरगार्टन में शिक्षा पाते हैं। दुनिया में यह प्रतिशत सबसे अधिक है और यूरोप तथा अमेरिका के अधिकतर देशों से भी अधिक है। इन्हीं किण्डरगार्टन स्कूलों से ही हिब्रू भाषा पहले घरों में, फिर सड़कों पर भी पहुँची। इन्हीं स्कूलों के माध्यम से बच्चों में सभ्य नागरिक जीवन की अच्छी आदतों का सूत्रपात हुआ। किण्डरगार्टन स्कूलों से एक लाभ यह भी होता है कि बच्चों की माताएँ दिन के अधिकांश समय खाली रहकर अन्य काम कर सकती हैं। इसराइल के किण्डरगार्टन स्कूलों में बच्चों की संख्या वर्ष के बाद वर्ष बढ़ती ही गयी है।

प्राइमरी शिक्षा

इसराइल में ६ से १४ वर्ष के बच्चों के लिए प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य है। ऐसे स्कूलों के संगठन में यूरोप और अमेरिका के स्कूलों के नमूने ध्यान में रखे गये हैं, साथ ही हेब्रू संस्कृति के उत्तमोत्तम तत्वों का भी समावेश किया गया है। देश और वहाँ के लोगों की आवश्यकता के अनुसार ही प्राइमरी शिक्षा का विकास किया गया है। इसराइल की आवश्यकता अन्य देशों से कुछ भिन्न ही रही है। इस देश को केवल अच्छे नागरिक ही नहीं, बल्कि ऐसे युवकों का भी निर्माण करना रहा है, जो देश का निर्माण करें और आवश्यकता पड़ने पर उसकी रक्षा के लिए अपने प्राण दे दें। इसराइली स्कूल में दुनिया की स्कूल प्रणाली की अच्छाइयों को अपनी आवश्यकता के अनुरूप ढाल लिया गया है। स्कूलों की शिक्षा में शारीरिक श्रम को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है और इसके लिए विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलाप हैं। अपने देश के प्रति सम्मान एवं गौरव की ऊँची भावना जागृत करना प्रत्येक स्कूल का पुनीत कर्तव्य माना जाता है। देश के विभिन्न भागों का दर्शन पाठ्यक्रम का ही एक अंग माना गया है।

सेकेण्डरी शिक्षा

उन सेकेण्डरी स्कूलों को, जो मिनिस्ट्री आव एजुकेशन की माँगों की पूर्ति करते हैं, सरकारी मान्यता प्राप्त है और वे बिना किसी अन्य रुकावट के हेब्रू यूनिवर्सिटी में प्रवेश पा सकते हैं। मान्यता प्राप्त सेकेण्डरी स्कूलों के ग्रेजुएट भी विश्वविद्यालयों में प्रवेश पा सकते हैं। ऐसे स्कूलों के पाठ्यक्रम में भी यूरोप व अमेरिका के उत्तमोत्तम स्कूलों की चीजें स्वीकार की गयी हैं। इन स्कूलों में यहूदी साहित्य पढ़ने पर काफी जोर दिया जाता है। साथ ही शारीरिक व्यायामों एवं खेल-कूद की भी पर्याप्त व्यवस्था है। प्राइमरी शिक्षा तो अनिवार्य एवं निःशुल्क है, लेकिन सेकेण्डरी स्कूलों का खर्च ऊँचा है जो मुख्यत माता पिता द्वारा दी गयी फीस से पूरा किया जाता है। इसराइली सरकार ऐसे स्कूलों को ग्रान्ट्स देने और अच्छे मेधावी विद्यार्थियों को वजीफा देने के लिए अधिकाधिक व्यय करती रही है। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय देश के सभी बच्चों को अच्छा ऊँचा शिक्षण देने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा रहा है।

पेशो-सम्बन्धी शिक्षा

१८७० में इसराइल में कृषि शिक्षा के लिए मिक्वेह स्कूल की स्थापना हुई थी। ५० वर्षों तक यही एकमात्र ऐसा स्कूल रहा, लेकिन इस शताब्दी के तीसरे दशक में अन्य ऐसे स्कूल खोले गये। इसराइली राज्य की स्थापना के बाद कृषि विज्ञान की शिक्षा और विस्तृत और घनी बनायी गयी। वैसे राज्य-स्थापना के पूर्व भी कुशल कारीगरों और श्रमिकों की शिक्षा फिलस्तीन में काफी बढ़ी हुई थी। इन सभी शिक्षा-संस्थानों का विकास हुआ और इनके पाठ्यक्रमों में अन्य कई चीजों का समावेश किया गया। इन स्कूलों में आज धातुकार्य, आटो-

मोबाइल, एग्रिकलचरल मिकेनिक, रेडियो, बिजली फार्म, बढईगिरी, सिलाई-बुनाई, गृहशास्त्र, जहाजरानी तथा सूक्ष्म वास्तुकला की बडी ऊँची शिक्षा प्रदान की जाती है।

उच्च शिक्षा

इसराइल में आज यह महान प्रयत्न चल रहा है कि युवकों की पीढ़ियाँ उत्तरोत्तर शिक्षित तथा वैज्ञानिक एवं प्राविधिक दृष्टि से पूर्ण प्रशिक्षित श्रमिक बनती जायँ। अपने पडोसी देशों की तुलना में इसराइल काफी छोटा देश है, अत अपने आकार की कमी को पूरा करने की दृष्टि से उसकी विशेष गुणात्मक विकास करने की बराबर चेष्टा रहती है। आज इसराइल में हेब्रू विश्वविद्यालय का बहुत ऊँचा स्थान है जिसकी कला, शिक्षा, विज्ञान, कानून एवं चिकित्सा में प्रदान की गयी डिग्रियों का दुनियाभर में सम्मान है। इस विश्वविद्यालय का देश के सांस्कृतिक जीवन में भी बडा ऊँचा स्थान है। ज्यादा तर विद्यार्थियों को पढने के काल में अपनी जीविका उपार्जित करनी पडती है और वे बडी खुशी से यह करते हैं। इसराइल के उच्च शिक्षा-संस्थान सार्वजनिक उपयोग की चीजें खोजने में बराबर लगे रहते हैं—जैसे, हैफा का इस्टीट्यूट आव साइंस कई व्यावहारिक खोजों में भी लगा हुआ है—जैसे कृषि एवं जंगलों से प्राप्त वस्तुओं का उद्योग की दृष्टि से अधिकाधिक उपयोग तथा समुद्री पानी से नमक निकालना और नमक निकालकर पानी को पीने लायक बनाना आदि।

प्रौढों की शिक्षा

आज सारे इसराइल में सायकालीन कक्षाओं का जाल सा बिछा हुआ है जहाँ प्रौढों की शिक्षा होती है। शिक्षा से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है बाहर से आकर बसनेवालों की अन्य लोगों से सांस्कृतिक समरसता जिसे प्राप्त करने में वहाँ के शिक्षा मन्त्रालय की ओर से विशेष प्रयत्न किया गया है और इस दृष्टि से वहाँ आशातीत सफलता भी मिली है।

किबुत्ज की शिक्षा

सहकारी जीवन के क्षेत्र में इसराइल में एक अभिनव प्रयोग किया है जिसे किबुत्ज-पद्धति के रूप में दुनिया जानती है। यह सरकारी जीवन पद्धति का विकास किया गया है। किबुत्ज की शिक्षा-पद्धति भी बडी रुचिकर है। बच्चे खेत में या बाग में काम पर भेज दिये जाते हैं और वहाँ जो समस्या आती है उसे विशेषज्ञ की सहायता से बच्चा समझता है। इसराइल से लौटे मेरे एक मित्र के अनुसार वहाँ भारत की नयी तालीम-पद्धति में प्रतिपादित समवाय-पद्धति की तरह की पद्धति से ही ज्ञान प्रदान किया जाता है। कोशिश यह की जाती है कि जब लडका १८ वर्ष का हो जाय तो वह ८ घण्टे तक उत्पादन करनेवाला श्रमिक हो जाय। हाई स्कूल की स्टेज तक हर विद्यार्थी को ८ घण्टे के उत्पादन कार्य में कुशल बना दिया जाता है। हाई स्कूल के बाद किसी विशेष शिक्षा के लिए बाहर भेज दिया जाता है। आवश्यकता के अनुसार किसी विशेष चीज का अध्ययन करने के लिए लडके-लडकियों को बाहर भेजकर उस विशेष चीज के विषय में जानकारी देने की भी व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए एक बार रसोईघर कैसे बने, इसकी जानकारी के लिए दो लडकों को बाहर भेज दिया गया कि दुनिया के रसोईघर बनाने की विधियाँ अध्ययन करके वे लौटें और तब निर्माण करायें।

लडाई की समस्या का सामना करने के लिए इसराइल में हर नागरिक को तैयार रहना पडता है। देश के एक तिहाई भाग में फैले इन किबुत्जों में भी युद्ध का सामना करने की पूरी ट्रेनिंग व पूरी तैयारी रहती है। अत किबुत्जों की शिक्षा में सैन्य विज्ञान को विशेष स्थान दिया जाता है।

इसराइल के रूप में दुनिया के यहूदियों को एक ऐसा देश मिला जिसे वे अपना देश कह सकते हैं, और इसी लिए उन्होंने अपने देश को सर्वांगीण रूप से विकसित करने में कोई कसर उठा नहीं रखी है। ऐसे देश को विकसित करने में वहाँ के युवक युवतियों को विकास मार्ग पर अग्रसर करनेवाली वहाँ की शिक्षा पद्धति का विशेष स्थान है यह निर्विवाद है। ●
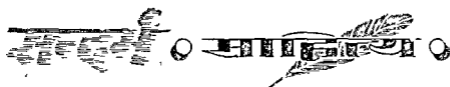
हमारा राष्ट्रीय शिक्षण

लेखक चारुचन्द्र भण्डारी

अनु० विद्याभूषण

हमारा राष्ट्रीय शिक्षण कैसा हो, इस विषय की अत्यन्त सारगर्भित गवेषणा इस ग्रन्थ में देखने को मिलती है।

राष्ट्रीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने भारत के अतीत काल को चार भागों में विभाजित किया है —

आदि वैदिक युग—ईसा से २,००० वर्ष पूर्व तक

उत्तर वैदिक युग—२,००० ईसा पूर्व से १,००० तक

उपनिषद युग, बौद्ध युग या सूत्र-युग—ईसा पूर्व १,००० से ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी तक।

पुराण युग या भाष्य-युग—ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक।

आदि वैदिक युग में किसी लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था। उस अवस्था में वेद को कंठस्थ करना और कंठस्थ रखना एकमात्र शिक्षणीय विषय था।

उत्तर वैदिक युग में वर्णमाला और लेखन-पद्धति का आविष्कार हो गया था। इस युग में वेदाध्ययन से पूर्व लिखने, पढ़ने और सरल गणित की शिक्षा का प्रचलन हुआ। धीरे-धीरे ज्ञान की विभिन्न दिशाओं की सृष्टि और प्रसार होने लगा। पठनीय विषयों में ज्योतिष फलित, ज्योतिष-ज्यामिति, छन्द शासन आदि का समावेश था।

वैदिक युग के उपरान्त बौद्ध-युग में एक ओर उपनिषदा, बौद्ध एव जैन धर्म ग्रन्थो वेदान्त, योगशास्त्र, मीमासा, न्याय, पुराणो और भाष्यो की रचना हुई तथा व्याकरण, इतिहास, काव्य आदि का विकास हुआ, दूसरी ओर स्मृति, चिकित्सा शास्त्र, युद्धविद्या, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, गणित कृषि, गो प्रजनन आदि विविध वृत्ति मूलक विज्ञानों की रचना हुई। अत शिक्षा का गुरुत्व केवल वेदाध्ययन तक सीमित न रहा। उस समय आध्यात्मिक ज्ञान को शिक्षा की बुनियाद माना जाता था।

उपनिषद युग के अन्तिम भाग से पौराणिक युग के मध्य भाग तक का समय भारत के शिल्पगत अभ्युदय का युग माना जाता है क्योकि इसी अवधि में भारत का शिल्प विज्ञान चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया। चिकित्सा शास्त्र, भास्कर्य, स्थापत्य विद्या, जहाज निर्माण, खनिज विज्ञान, धातु विद्या आदि की इस काल में पर्याप्त उन्नति हुई। इन सब विद्याओ की कार्य ज्ञान प्रणाली से अत्यन्त कुशलतापूर्वक शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीन काल में शिक्षक व्यक्तिगत रूप से अपने विद्यालय चलाते थे और जितने विद्यार्थियो की शिक्षा का भार वहन कर सकते थे करते थे। सामान्यत एक शिक्षक के लिए बीस से अधिक छात्र ग्रहण कर सकना सम्भव नही होता था। छात्रगण साधारणत गुरु के घर निवास करते थे। गुरु के परिवार में ही छात्रो के भोजन और निवास की व्यवस्था थी। सभी छात्र थोडा बहुत काम करते थे और काम करने में कोई भी छात्र हीनता का अनुभव नही करता था।

लेखक के अनुसार प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था में निम्नलिखित गुण थे।

१ छात्रो के चरित्रनिर्माण, ब्रह्मचर्याश्रम के पालन और छात्रो के व्यक्तित्व विकास पर अधिक बल देना अर्थात् सदाचार शिक्षा को प्रमुख स्थान देना।

२ शिक्षको और छात्रो का एक साथ निवास—उनके मध्य आतरिक श्रद्धा तथा स्नेह का सम्पर्क।

३ गुरु-गृह में श्रमसाध्य काम करने के अनन्तर शिक्षा-लाभ का सुयोग।

४ दरिद्र से दरिद्र छात्रो को भी शिक्षा के सुयोग से वचित न करना।

५ प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना

६ परीक्षा प्रथा का न होना।

७ शिक्षा समाप्ति के बाद भी साधारण जीवन में नियमित अध्ययन का नियम अर्थात् स्वाध्याय।

८ शिक्षा की बुनियाद में आध्यात्मिकता और सरकार द्वारा शिक्षा-व्यवस्था को यथासम्भव सहायता प्रदान, परन्तु शिक्षा-व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप न होना।

९ तपोवन का शिक्षा का मूल उत्स होना।

१० छात्रो को गुरु के आदर्श पर अपने जीवन-निर्माण का सुयोग मिलना, क्योकि उस समय गुरु थे आचार्य, अर्थात वे जिस बात की शिक्षा देते थे, उसका अपने जीवन में पालन करते थे।

राष्ट्रीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के बाद विद्वान लेखक ने आगे के अध्यायो में नयी तालीम के उद्गम् और क्रमिक विकास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। महात्मा गाधी के मार्ग-दर्शन में नयी तालीम की कल्पना कैसे साकार हुई, उनकी शिक्षा की कल्पना में हस्तशिल्प को महत्वपूर्ण स्थान क्या और कैसे प्राप्त हुआ और नयी तालीम के विकास में विनोबाजी का क्या योगदान रहा, आदि पहलुओ पर लेखक ने भरपूर प्रकाश डाला है।

शिक्षा के स्वरूप और वास्तविक अर्थ का विवेचन करते हुए लेखक ने कहा है कि विद्या के क्षेत्र मे ऐसा माना जाता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व व्यक्ति के भीतर नही है उसे बाहर से प्राप्त करना सम्भव नही है। जो भीतर सुप्त है, उसे जाग्रत करना शिक्षा का एकमात्र कार्य है शिक्षा किसी स्वतत्र वस्तु की सृष्टि नही कर सकती। प्रश्न उठता है कि—भीतर सुप्त क्या रहता है? उसका आधार क्या है? एक ही तत्त्व क्या सबमें रहता है? यदि एक ही तत्त्व सब लोगो में सुप्त रहता है, तो सबको समान भाव से शिक्षित कर सकना क्या सम्भव नही होता? इन सब बातो को भलीभाँति समझने पर ही शिक्षा का वास्तविक स्वरूप समझ में आ सकेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा का वास्तविक अर्थ है राष्ट्र के स्वभाव में जो कुछ है, उसे प्रकाशित करना। गुरुदेव, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनुपम भाषा में प्राचीन काल में भारत जिन सम्पत्तियों का अधिकारी था, वे थी— ज्ञान में अद्वैत तत्त्व, भाव में विश्व मैत्री, कर्म में योग साधना और स्वभाव में विश्व-एकता। प्राचीन भारत ने अपनी शिक्षा के बल पर इस सत्य का प्राप्त किया था।

'शिक्षा के लक्ष्य', शिक्षा किस प्रकार दी जाय?, 'जीवन और शिक्षा' आदि पहलुओ की अलग-अलग अध्यायों में सम्यक चर्चा करते हुए इस ग्रन्थ में थोडे में सभी आवश्यक जानकारी एकत्र कर दी गयी है। ग्रन्थ की भूमिका में विनोबाजी ने लिखा है— चारु बाबू की राष्ट्रीय शिक्षा पर लिखी गयी किताब अद्यतन सामग्री से परिपूर्ण है। नामूल लिख्यते किंचितेवाली विवरण शैली का अंगीकार करने के कारण इसमें पाठकों को एक ही पुस्तक में अनेक पुस्तकें पढने का लाभ सहज ही मिल जाता है।

शिक्षण विचार

विनोबा

इस पुस्तक में विनोबाजी के शिक्षण सम्बन्धी विचार सग्रहित किये गये है। देश का नवीन शिक्षण कैसा होना चाहिए यह पुस्तक का मुख्य विषय है।

हमारे देश में यह बात चल पडी है कि जो हाथों से काम करेगा, उसकी इज्जत कम होगी। शिक्षक, प्रोफेसर डाक्टर, वकील, ये सब लोग हाथो से काम नही करेंगे, उपज नही बढायेंगे। लेकिन उनकी इज्जत ज्यादा होगी। वे जिस्मानी मजदूरी (शरीर-परिश्रम) से नफरत करेंगे। भगत, बाबा, फकीर, साईं, सन्त, महात्मा, ये भी कभी हाथों स काम नही करेंगे, उत्पादन के काम में कतई भाग नही लेंगे। यह पहले से चला आया है। अंग्रेजी सीखे लोग भी कभी उत्पादन का काम नही करेंगे। याने एक 'हायर मिडिल क्लास' खडा हुआ है जो काम के लिए समाज को पीसता रहेगा।

आज हिन्दुस्तान में सरकारी नौकर करीब अस्सी लाख हैं। यानी अस्सी लाख परिवार को सरकार वेतन देती है। लगभग नौ करोड परिवारों की सेवा के लिए अस्सी लाख सेवकों का इन्तजाम सरकार करती है। यानी १२ परिवारों की सेवा के लिए एक परिवार सरकार रख रही है। मतलब एक 'मिडिल क्लास' सरकार खडा कर रही है। यह वर्ग उत्पादन का काम कतई नही करेगा।

हिन्दुस्तान की तालीम का ढाँचा इतना दकियानूसी है कि उसपर विज्ञान का कोई असर नही और आज का समाज बदला है उस माहौल (वातावरण) का भी कोई असर नही। तिसपर भी वह तालीम बेखटके चल रही है।

सर्वोदय विचार की माँग है कि तालीम सरकार के हाथ म नही रहनी चाहिए। अपनी सरकार को चाहिए कि वह देश के विद्वानों को आजादी दे और लोगों को उत्तेजन दे कि लोग जिस किस्म की तालीम चाहते हैं, वे दे सकें।

जमाने की माँग है कि आज जो तालीम चल रही है उसे जल्द-से जल्द दफना दिया जाय। दफनाना दो तरह स होता है। पिताजी की लाश इज्जत के साथ दफनाई जाती है। लेकिन यह हमारी तालीम इज्जत के साथ दफनाने लायक है ही नही। यह बुरी चीज है जो हिन्दुस्तान के जिगर को खा रही है। लोगो का पराक्रम खतम कर रही है।

तालीम के बारे में सर्वोदय के बुनियादी वसूल इस प्रकार है—

१ तालीम लोगो के हाथ में हो
२ तालीम का जरिया मातृभाषा ही हो
३ उनके साथ-साथ दूसरी जबानें भी सिखा दी जायें, लेकिन लादी न जायें

शिक्षा-दर्शन-मंजूषा*

श्री तारकेश्वर प्रसाद

इस पुस्तक में उन विषयों का विवेचन किया गया है जिनका शिक्षा दर्शन से सीधा सम्बन्ध है। प्राचीन काल से आज तक शिक्षा के प्रति दार्शनिकों की जो दृष्टि रही है उसकी विशुद्ध व्याख्या इस पुस्तक मे की गयी है। और, यह प्रयास किया गया है कि शिक्षा के पूर्व और पश्चिम के विचारकों के विचारों से पाठकों को अवगत कराया जाय। इसके साथ ही प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, व्यवहारवाद तथा गांधी दर्शन के सारभूत सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

शिक्षा का उद्देश्य भिन्न-भिन्न युग में बदलता रहा है। समाज या राष्ट्र में जिस समय जो समस्या प्रबल रही है उसी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य भी निर्धारित होता रहा है। इन उद्देश्यों की ओर देखने पर ज्ञात होता है कि उनके मुख्य तीन प्रकार होते हैं—

(१) राष्ट्र कल्याण, (२) समाज-कल्याण, (३) व्यक्ति कल्याण। इन्हीं के आधार पर शिक्षा म राज्यवाद, समाजवाद तथा व्यक्तिवाद का प्रश्न खड़ा होता है।

शिक्षा में राष्ट्रवाद की भावना में विश्वास करने वालों का दर्शन यह है कि राष्ट्र का कल्याण व्यक्ति के कल्याण के ऊपर की चीज है। राष्ट्र को सुदृढ बनाना ही व्यक्ति का धर्म है। क्योंकि व्यक्ति का भाग्य निर्माता राष्ट्र ही होता है। अत राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति के चिन्तन का परिमार्जन होना चाहिए, ताकि व्यक्ति राष्ट्र के हित की बात ही सोचे। राष्ट्रवादी शिक्षा में राज्य की ओर से शिक्षा का आदर्श, पाठ्य क्रम तथा पाठन प्रणाली निर्धारित की जाती है। सभी व्यक्तियों का विकास एक खास लक्ष्य से किया जाता है। जो राष्ट्र की बागडोर हाथ में रखते हैं, उनकी इच्छानुसार ही शिक्षा का आदर्श तय होता है।

समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य समाज की सेवा के लिए योग्य नागरिक तैयार करना है। इसमें व्यक्ति को नि स्वार्थ बनकर अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को समाज के हित में निछावर करने की दीक्षा दी जाती है। यदि किसी व्यक्ति की आकांक्षा समाज की आवश्यकता के प्रतिकूल हो तो उसे अपनी आकांक्षा को छोड़ना पड़ता है।

इन विचारों के पीछे सामाजिक मूल्य की निम्न-लिखित कसौटियाँ निहित हैं—

- शिक्षा द्वारा व्यक्तियों मे इस प्रकार की सामाजिक योग्यता एव दक्षता होनी चाहिए कि वे *स्वावलम्बी बन सकें। अर्थात् वे अपने श्रम एव* उत्पादन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु उन्हें समाज का बोझ नही बनना चाहिए।
- व्यक्ति में दूसरी सामाजिक विशेषता यह होनी चाहिए कि यदि उसके हित साधन में दूसरे का अहित होता हो तो उसको अपने हित साधन का विचार छोड देना चाहिए।
- व्यक्ति में तीसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि *जिस कार्य एव आकांक्षा—द्वारा समाज की* प्रगति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता नही पहुँचती उस कार्य एव आकांक्षा की पूर्ति का विचार भी वह छोड दे।

शिक्षा में व्यक्तिवाद का सिद्धान्त व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं पर जोर देता है। उसका कहना है कि बालक में स्वतंत्र शक्तियाँ है। शिक्षा का काम उसको प्राकृतिक वातावरण में रख देना है जिसमें उसके व्यक्तित्व का विकास स्वाभाविक ढंग से हो सके। शिक्षा में समाज *और व्यक्ति के मुकाबले व्यक्ति ही मुख्य है, क्योंकि* उत्तम व्यक्ति ही उत्तम समाज बनाता है। परिवार, समाज तथा विद्यालय शिक्षा के साधन हैं व्यक्ति इनके लिए नही है बल्कि ये व्यक्ति के लिए हैं। राष्ट्र का काम व्यक्ति पर शिक्षा का बोझ लाद देना नही है, बल्कि उसके चारों तरफ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देना है कि वह उनसे प्रेरणा लेकर अपने भीतर की भिन्न भिन्न शक्तियों को प्रकाश में ला सके।

किन्तु आजसमाज में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का

---

* प्रकाशक—ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

सदुपयोग नहीं कर रहा है। व्यक्ति की उच्छृंखलता से सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था छिन्न भिन्न हो रही है। अत शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की उच्छृंखलता को रोकना भी है। शुद्ध अर्थ में व्यक्ति की स्वतंत्रता से समाज के विकास में सहायता मिलनी चाहिए।

वस्तुत राष्ट्र और समाज का सच्चा हित उसके व्यक्ति के गुणों के विकास से ही सधता है और व्यक्ति-विकास भी समाज की गोद में होता है। इनका एक दूसरे से इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं, एक दूसरे के सहायक हैं। अत समाज व्यक्ति के लिए पूर्णरूपेण विकास की परिस्थितियाँ उपस्थित करे तथा उसके स्वतंत्र विकास में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।

संक्षेप में शिक्षा के मुख्य चार उद्देश्य है—

१ व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास

२ जिस विश्व मे व्यक्ति रहता है उसकी जानकारी प्राप्त करना।

३ व्यक्ति को कला-कौशल का ज्ञान देना जिससे वह समाज का एक रचनात्मक सदस्य बन सके।

४ मानवेतर गुणों की प्राप्ति में सहायता देना।

वर्तमान शिक्षा की प्रथम प्रवृत्ति यह है कि एक ऐसी शिक्षा पद्धति का आयोजन होना चाहिए, जो प्रत्येक बालक और बालिका को अपने भीतर की अच्छाइयों का विकास करने तथा समाज में सर्वोच्च पद तक पहुँचने का अवसर दे सके।

शिक्षा की दूसरी प्रवृत्ति यह दीख पडती है कि शिक्षा उपयोगी हो। बालक को ऐसा ज्ञान कराया जाय, जिससे उसके जीवन की समस्याएँ हल हो सकें। वह समाज में स्वावलम्बी हो सके।

शिक्षा की तीसरी वृत्ति का सम्बन्ध 'अनुशासन' से है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार बच्चों पर अनुशासन के नाते दबाव डालने से उनके विकास पर बुरा असर पडता है। बच्चे के दिल में यदि कोई 'उफान' उठता है जिसको वह व्यक्त करना चाहता है और यदि उसको दबा दिया जाता है तो वह पूरे रूप में दबता नहीं है, बल्कि वह दूसरे रूप में प्रकट होता है। अत आज स्वय-अनुशासन पर जोर दिया जाता है। आज यह बात पुरानी पड गयी है कि बच्चे जन्म से शैतान होते हैं। असलियत यह है कि बच्चे जन्म के साथ अच्छे मानव बनने के लिए अच्छे गुणों के बीज लेकर ही पैदा होते हैं और उन्हीं गुणों को पल्लवित एव पुष्पित करना शिक्षा का काम है। यदि आदत ठीक हो जाय तो बालक अनुशासन भग नहीं कर सकता।

नयी शिक्षा का सबसे मुख्य सिद्धान्त है बालक और उसकी अन्तर्निहित सम्भाविताओं (पोटेंशियेलिटीज) के प्रति श्रद्धा और विश्वास। दूसरा सिद्धान्त है उसकी अद्वितीयता में विश्वास। प्रत्येक बालक में एक अनोखा व्यक्तित्व होता है जो किसी दूसरे बालक में वैसा ही नहीं पाया जाता। यदि उसका विकास किया जाय तो विश्व अधिक सुसंस्कृत हो सकता है। अत प्रत्येक बालक में अन्तर्निहित अद्वितीय शक्तियों का विकास करना चाहिए। नयी शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त यह है कि व्यक्तित्व का विकास पूरे रूप में समाज में ही होता है। अत बालक को अपने साथी तथा समाज के अन्य लोगों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलना चाहिए। नयी शिक्षा का चौथा सिद्धान्त है—बालक के विकास के लिए स्वतंत्र वातावरण उपस्थित करना। बालक के बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास के लिए मुक्त वातावरण का होना अनिवार्य शर्त है। नयी शिक्षा का पाँचवाँ सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, जिनका प्रकाशन होना चाहिए। नयी शिक्षा का छठवाँ सिद्धान्त है आनन्द प्राप्ति। नयी शिक्षा बालकों की शैक्षिक क्रियाओं का सगठन इस ढग से करना चाहती है कि उसको प्रत्येक स्थल पर आनन्द प्राप्त हो सके।

'शिक्षा-दर्शन मजूषा' का प्रकाशन १९६१ में हुआ किन्तु ग्रन्थ की ताजगी में अन्तर नहीं आया है क्योंकि इसमें शिक्षाशास्त्र तथा शिक्षण सिद्धान्तों की चर्चा हुई है जो रोज रोज नहीं बदलते। 'शिक्षा क्या है?' 'शिक्षा के रूप भेद', 'शिक्षा के उद्देश्य', 'दर्शन और शिक्षा', 'स्वतंत्र की शिक्षा', आदि ऐसे ही विषय हैं।

शिक्षकों और शिक्षण में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

●

—रविशकर

उच्चतर शिक्षा की समस्या

गुरुशरण

किताब का नाम है–'हायर एजुकेशन रिपोर्ट आव ग्रेट ब्रिटेन १९६३'। बात यह हुई कि ८ फरवरी, १९६१ को इंगलैण्ड के तत्कालीन प्रधानमंत्री ने देश की बढ़ती आवश्यकताओं को देखकर प्रो० लार्ड राबिंस की अध्यक्षता में १३ सदस्यों की एक समिति नियुक्त की। इस समिति का काम राष्ट्रीय आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के स्रोतों को ध्यान में रखकर इंगलैण्ड में चल रही वर्तमान उच्चतर शिक्षा की समीक्षा करके शासन को सुझाव देना था कि दीर्घकालीन विकास के दूरगामी परिणामों को देखते हुए ब्रिटेन की उच्चतर शिक्षा किन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित हो और उसके लिए कौन-कौन-सी नयी प्रकार की संस्थाएँ और खोली जायँ तथा उनमें किस प्रकार के सुधार व परिवर्तन अपेक्षित हैं।

उक्त समिति का प्रतिवेदन प्रधान मंत्री-द्वारा अक्तूबर १९६३ में इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट के समक्ष प्रस्तुत किया गया और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उस प्रतिवेदन के अनुरूप वहाँ की उच्चतर शिक्षा ने अब नयी दिशा में मोड़ लिया है। मोड़ दिया नहीं गया बल्कि लिया है, क्योंकि वहाँ की शिक्षा शासन-द्वारा संचालित न होकर जन-आधारित है। विद्यालयों के पाठ्यक्रम पृथक-पृथक हैं उनकी डिग्रियाँ भी अलग अलग हैं। बस, सरकार केवल उन डिग्रियों को मान्यता देने का काम करती है।

न जाने क्या, इस किताब को देखकर मुझे एक किताबी सवाल याद आया कि अपने देश की उच्चतर शिक्षा कैसी होनी

चाहिए ? इतनी इसलिए कह रहा हूँ कि जहाँतक जिन्दगी का सवाल है उसके लिए तो उच्चतर शिक्षा स्पष्ट चिंतन, दृढ़ निश्चय और निष्ठापूर्वक काम का ही कहा जायगा, जो नित नूतन मन में जीवन के प्रति आस्था और विश्वास जगाये, आत्मा की अनेक सुषुप्त शक्तियों को जागृत करे और मुक्ति की ओर ले जाये, जिसके लिए भारतीय मनीषियों ने कहा—'सा विद्या या विमुक्तये', पर जहाँ तक वर्तमान उच्चतर शिक्षा के प्रचलित अर्थ-बोध से अभिप्राय है वहाँ भी एक अनुत्तरित प्रश्न वर्षों से हमारे देश के सामने है कि क्या बी० ए०, एम० ए० की बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ केवल नौकरी के लिए ही हैं, जो आजकल आसानी से मिलती नहीं। परिणाम यह है कि स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा-प्राप्त नौजवान सिवाय नौकरी के कुछ भी करना नहीं चाहता। बस, हर वक्त दिल में एक प्रकार की बेचैनी, घुटन, मायूसी और जबान पर जमानेभर के लिए शिकायत तथा आँखों में सबके प्रति निरर्थकता का भाव व अपनी वाह्यिकता से अभी तक चली आयी हर चीज को नकारने की वृत्ति। आखिर इन सबका कोई अंत है या नहीं ?

हाँ, मैं कह रहा था कि ब्रिटेन में उच्चतर शिक्षा-प्रतिवेदन १९६३ नामक किताब को देखकर, मुझे भारतीय स्थिति परिस्थिति के सन्दर्भ में उपर्युक्त सवाल याद आया। इस प्रतिवेदन को तैयार करने के लिए दो वर्ष सात महीने में १३ सदस्यों की १११ बैठकें समय समय पर होती रहीं। व्यक्तियों व संस्थाओं के ४०० लिखित वक्तव्य लिये गये। हजारों लड़कों से प्रश्न पूछकर उनकी योग्यता के मूल्यांकन का सर्वे किया गया। विद्यार्थियों में २१ वर्ष से ऊपर और २१ वर्ष से कम ऐसे दो बड़े भेद रखे गये। इसी सिलसिले में विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा प्रशिक्षण-संस्थाओं के प्रशिक्षकों का भी वक्तव्य सुना गया और उन सबके आधार पर गहराई से विचार विमर्श के बाद समिति ने इंगलैण्ड की उच्चतर शिक्षा-व्यवस्था का विश्व के अन्य देशों से तुलनात्मक अध्ययन किया। तदुपरान्त देश की तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर १९८० तक व्यवहार में आनेवाले निम्न सलाह दिये—

सुझाव

१ संतुलित एवं नियोजित शिक्षा में उद्देश्य की दृष्टि से चार बातें मुख्य रूप से कही गयीं, जिनमें सर्व प्रथम शारीरिक श्रम को महत्व दिया गया, क्योंकि प्रति-स्पर्धामूलक आज के समाज में श्रम के सहज अभ्यास के बिना बुद्धि का पूरा उपयोग नहीं हो पाता है।

२ दूसरा उद्देश्य मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था का बताया गया। केवल विशेषज्ञ पैदा करना ही उद्देश्य न रहे, बल्कि सुसंस्कृत स्त्री-पुरुषों का निर्माण होना चाहिए।

३ अनुसंधान के क्षेत्र में उच्चतर शिक्षा-संस्थाओं का आवश्यक कार्य सत्य की शोध करना माना गया। इस दिशा में विश्वविद्यालय एक दूसरे के अनुभवों से लाभान्वित होते रहें और एक विश्वविद्यालय में जिस विषय पर शोध का काम हो रहा है उसी पर दूसरे विश्वविद्यालय में काम आरम्भ कर श्रम, समय और राष्ट्रीय धन का अपव्यय न होने पाये।

४ अवसर की समानता का आदर्श सामने रखते हुए यह जरूरी समझा गया कि सभी युवक-युवतियों को, जिसमें व योग्यता और क्षमता रखते हों उस शिक्षण में जाने देना चाहिए, पर इस बात का ध्यान रहे कि उनमें अपने स्वयं के परिवार के प्रति, जो प्रेम और सहकार है वह विकसित होकर सामाजिकता का रूप ग्रहण करे और उनमें पूरे समुदाय को लाभ पहुँचाने की वृत्ति उत्पन्न हो।

उपर्युक्त चारों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस बात की सिफारिश की गयी कि उच्चतर शिक्षा सर्व सुलभ हो, पर जहाँतक टेकनिकल शिक्षा का प्रश्न है वहाँ अच्छे उत्पादकों का निर्माण करने से कहीं बढ़कर चरित्रवान और आचारवान स्त्री-पुरुषों के निर्माण को ध्यान में रखना होगा।

प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर विद्यालयों में शिक्षा विषयक जो नियम पारित हुए उनमें एक प्रकार का अभाव रहा। वह अभाव सामंजस्य का कहा जा सकता है। कमेटी की राय रही कि सबसे पहले देश की उच्चतर शिक्षा का स्वरूपनिर्धारण

करना होगा, फिर उसके अनुरूप नीचे की पूरी शिक्षा होनी चाहिए। हर विद्यार्थी के सामने शुरू से ही उसके जीवन का लक्ष्य पूर्व निर्धारित रहना चाहिए, ताकि उसके लिए पढ़ाई पूरी होने के बाद जीविका-सम्बन्धी व्यवसाय चुनने की समस्या उपस्थित न हो।

उच्चतर शिक्षा-संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास को देखते हुए सुझाया गया कि विश्वविद्यालयों में भीड़ बढ़ाने के बजाय अब जरूरत इस बात की है कि काम करते हुए पत्राचार-पाठ्यक्रम के माध्यम से लोगों को अद्यतन ज्ञान दिया जाय। वर्तमान युग यांत्रिक युग है। जीवन के हर क्षेत्र में टेक्नालाजी का नित नूतन विकास हो रहा है। उसके लिए शिक्षित युवक-युवतियों के ज्ञान में और पैबन्द जोड़ने के बजाय राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उद्योग प्रधान समूचा ज्ञान दिया जाय। जिस उद्योग-विशेष में एक साल के लिए जितने व्यक्तियों की आवश्यकता हो उतने ही व्यक्तियों को शिक्षित कर डिग्री दी जाय। सम्पूर्ण उच्चतर शिक्षा उद्योगों से ही जुड़ी रहनी चाहिए।

समिति ने सिफारिश की कि शिक्षक और छात्र के बीच हार्दिक सम्बन्ध स्थापित होना बहुत जरूरी है तभी छात्रों में मानवीय मूल्यों का समुचित विकास हो सकेगा। इस दिशा में 'पेरण्ट्स क्लब' या 'मदर क्लब'-जैसी संस्थाएँ बन सकती हैं, जिनमें शिक्षक भी सदस्य के रूप में रहकर उनके साथ उनके बच्चों के बारे में खुलकर विचार-विमर्श कर सकते हैं।

समय समय पर पाठ्यक्रम में सुधार, संशोधन और परिवर्तन होते रहना चाहिए। पाठ्यक्रम सभी विद्यालयों के इस तरह के रहें कि एक कालेज का छात्र अपने सामान्य ज्ञान के बल पर दूसरे कालेज में सहज ही प्रवेश पा सके। विश्वविद्यालय-स्तर पर छात्रों में शोध वृत्ति जागृत हो जानी चाहिए और इस स्तर पर उनको केवल मार्ग-दर्शन कर खुद आगे बढ़ने देना चाहिए।

समिति का कहना है कि शिक्षक प्रशिक्षण के लिए 'गाइड बुक फार टीचर्स' समय-समय पर निकलनी रहनी चाहिए। उनका ओरियण्टेशन भी होते रहना चाहिए। अभी इंगलैण्ड में शिक्षक-प्रशिक्षण के दो कोर्स प्रचलित हैं। एक में तीन साल के बाद सर्टिफिकेट दिया जाता है और दूसरे में चार साल के बाद डिग्री। लोगों का सुझाव था कि इन दोनों को डिग्री कोर्स करके अवधि तीन वर्ष की रखनी चाहिए; पर समिति ने अवधि घटाना उचित नहीं समझा और इस बात पर बल दिया कि चार वर्ष की अवधि रहनी ही चाहिए और उसके बाद भी पूरी तरह मूल्यांकन कर लेने के बाद उन्हें डिग्री दी जाय और पढ़ाने के लिए विद्यालयों में भेजा जाय। समिति ने यह भी प्रस्ताव रखा कि अब आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक-प्रशिक्षण के विभिन्न विषयों में विशेषज्ञ बनाने की दृष्टि से और कालेज भी खोले जा सकते हैं, जो ज्ञान-विशेष में शिक्षकों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टि से सम्यक् रूप में तैयार करें। उदाहरण-स्वरूप साइंटिफिक एण्ड टेक्नालाजिकल एजुकेशन और रिसर्च के क्षेत्र में इसकी आवश्यकता है।

एक बात यह भी कही गयी कि अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व एवं व्यापारिक दृष्टि से दुनिया के अर्ध विकसित एवं अविकसित देशों की भाषाएँ भी पढ़ाई जानी चाहिए। प्रोफेशनल एजुकेशन में इस बात का समावेश किया जाय कि छात्र इन देशों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन कर व्यावसायिक निपुणता का ज्ञान प्राप्त करें।

अन्त में एक विषय आता है छुट्टियों का। छुट्टियाँ कैसे बितायी जायँ, इसपर भी समिति ने अपनी राय दी कि किसी त्योहार विशेष पर छात्रों को ऐसे ही छोड़ देना उचित नहीं है, बल्कि उनकी छुट्टी आमोद प्रमोद के साथ अच्छी तरह बीते और उन्हें साथ-ही साथ ज्ञान भी प्राप्त हो, इसकी योजना कालेजों द्वारा विधिवत बनायी जानी चाहिए। लम्बी छुट्टियों के लिए उनके अध्ययन के विषयों से सम्बद्ध स्थलों पर जाने की उन्हें अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। इसके लिए उन्हें आर्थिक अनुदान भी दिये जा सकते हैं।

समिति के प्रतिवेदन का सार संक्षेप में प्रस्तुत करने के बाद इन पंक्तियों के लेखक का यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि जो कुछ इंगलैण्ड में चल रहा था या जो अब मोड़ लेकर चलनेवाला है वही अपने यहाँ के लिए भी अच्छा है। क्योंकि प्रत्येक देश की अपनी अलग परिस्थितियाँ होती हैं, अलग प्रतिवेश होते हैं, अलग समस्याएँ होती हैं और उन्हीं के प्रकाश में शिक्षा की दिशा भी निर्णीत होनी है, होनी चाहिए।●

श्री राल्फ वारसोदी की निगाह में

युग की पुकार और भारत को चुनौती

● रामचन्द्र

उस समय श्री अनुग्रह बाबू विहार के वित्तमंत्री थे। श्री धीरेन्द्र भाई के साथ हो रही एक चर्चा में उन्होंने वर्तमान शिक्षा पद्धति की कटु आलोचना की। श्री धीरेन्द्र भाई ने आश्चर्य से पूछा— "अनुग्रह बाबू, गाँव के सामान्य आदमी से लेकर राज्य के इतने समर्थ मंत्री तक जब वर्तमान शिक्षा की तीव्र आलोचना कर रहे है, तो आखिर इसे चला कौन रहा है?" श्री अनुग्रह बाबू ने किंचित् विनोद और दर्दभरी आवाज में कहा—"धीरेन्द्र भाई इसे चला कोई नहीं रहा है बल्कि यह अपने आप चल रही है।" बात काफी दिनों पहले की है, लगभग १०-१२ साल पुरानी, लेकिन इस अवधि में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हमारे देश की शिक्षा-पद्धति में हो गया हो, ऐसा नहीं लगता, और हम आज भी कह सकते है कि बावजूद हमारी अनिच्छा के शिक्षा की वह पद्धति अबतक अपने-आप चलती ही जा रही है। शायद चलती जायगी न जाने कबतक!

वास्तव में शिक्षा की समस्या केवल भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के सामने है। क्योंकि नित्य नयी विज्ञान की चुनौतियाँ परम्परागत शिक्षण को व्यर्थ सिद्ध कर रही हैं। आज यथा-स्थिति की पोषक और व्यवस्था तथा तंत्र-संचालन का प्रशिक्षण देने मात्र से शिक्षा का उद्देश्य पूरा होता दिखाई नहीं दे रहा है, बल्कि अब तो पूरा मानव-जीवन और समाज नये सन्दर्भ के अनुकूल अपने को कैसे बनाता चला जाय, यह इस युग की उत्कट माँग है। ऐसी स्थिति में भारत दुनिया के प्रबुद्ध लोगों

और तटस्थ देशों के लिए आशा का केन्द्र है कि यहाँ से कोई नयी रोशनी दिखाई देगी, मानव की मुक्ति का कोई मत्र मिलेगा।

अमेरिका के वयोवृद्ध शिक्षाशास्त्री और प्रयोगकार, जो अपने व्यस्त प्रायोगिक जीवन के ७० साल पूरा करने के बाद भी आज शिक्षा की दिशा में निरन्तर चिन्तन और प्रयोग करते जा रहे हैं, अपनी पुस्तक The Education of the whole man* (समग्र व्यक्ति का शिक्षण) के पहले अध्याय The Challenge in India (भारत को चुनौती) में भारत से जो अपेक्षा की है, युग की माँग के अनुसार शिक्षा के जिस नये स्वरूप की कल्पना की है, वह हमारे लिए न सिर्फ मननीय है बल्कि उस दिशा में सक्रिय होने के लिए अत्यन्त प्रेरक भी है।

जीवन-शाला प्रयोग के आधार

मानवीय विकास के सन्दर्भ में आपका कहना है—"राष्ट्रीयता, आदर्शवादिता और धार्मिकता की पूर्व धारणाओं, पूर्व निश्चयों तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त शिक्षण की उपयुक्त पद्धति द्वारा समग्र मनुष्य का विकास ही उसकी समस्याओं के समाधानार्थ प्रस्तुत विभिन्न विचारों के वर्तमान सघर्षपूर्ण अन्धकार से निकलकर सयुक्तिक और मानवीय आरोहण का एकमात्र विकल्प है, इसके द्वारा ही वर्तमान युग की सर्वाधिक सम्भ्रामक अँधेरी खाई पट सकती है और भँवर में ढकेलनेवाले बवंडरों के बीच भी जैसे प्रबुद्ध समुदाय का निर्माण हो सकना सम्भव है, जिनके सदस्यों के अन्दर किसी भी गिरोह या आन्दोलन-द्वारा झूठे और गलत सिद्धान्तों जैसे असीम सम्पत्ति का सग्रह और शक्ति के केन्द्रीकरण—को स्वीकारने के लिए प्रेरित करने या जबरदस्ती लादने के प्रयासों का प्रतिकार करने की प्रेरणा पैदा हो सकती है।"

अपने इस विचार को आधार मानकर न्यूयार्क के 'मर्स्न' स्थान पर जीवनशाला (*School of living*) के रूप में शैक्षणिक और सामाजिक प्रयोग की शुरुआत १९३४ में श्री बारसोदी ने की। उनके प्रयोगों का स्वरूप महात्मा गाधी-द्वारा परिकल्पित नयी तालीम—जीवन की तालीम, जीवन के लिए तालीम—से बहुत मिलता-जुलता रहा। उस प्रयोग के अनुभवों का सविस्तार उल्लेख उन्होंने शिक्षा और जीवन (Education and living) नामक अपने ग्रन्थ के दो खण्डों में किया है।

शिक्षा में विशिष्टीकरण

श्री राल्फ बारसोदी शिक्षा में विशिष्टीकरण को आधुनिक उलझनों का एक बहुत बडा कारण मानते हैं, और इसलिए उनका सुझाव है कि शिक्षा नित्य जीवन की सभी समस्याओं के समवाय में (*Problem integrated*) होनी चाहिए। यद्यपि विज्ञान में, विज्ञान के आधार पर खडी औद्योगिक सभ्यता के सचालन में, विशिष्टीकरण (Specialization) अनिवार्य-सा है, लेकिन यह विशिष्टीकरण मनुष्य के सन्तुलित और समग्र शिक्षण की उपेक्षा ही करता है, इसलिए एकागी विशेषज्ञ नही, बल्कि सर्वांगीण विकसित मनुष्य की रचना के लिए शिक्षण की कोई-न-कोई ऐसी पद्धति ढूँढनी ही होगी, ताकि मनुष्य अपने सामने खडी समस्याओं के समाधान के लिए सयुक्तिक (Rational) और मानवोचित (Humanely) प्रयास कर सके। बहुत सारे विषयों के सतही ज्ञान या किसी एक विषय का अत्यन्त गहरा अध्ययन शिक्षा की इस समस्या का हल नही है।

समस्या-केन्द्रित शिक्षण

उक्त समस्या के समाधान के लिए सम्पूर्ण ज्ञान को मानव और समाज की बुनियादी समस्याओं पर केन्द्रित करना होगा, क्योंकि तभी ज्ञान विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र को बुनियादी समस्याओं के विश्लेषण का आधार बनाया जा सकेगा। और, जब समस्याओं का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा, तो विद्यार्थी को इस योग्य बनाया जा सकेगा कि अपने जीवन-दर्शनों के अनुसार, वह जो *कुछ सीखता है—विशिष्ट ज्ञान भी—उसका उपयुक्त* इस्तेमाल कर सके।

समस्याओं की जटिलता और दुरूहता के सामने आज

* प्रकाशक—सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, वल्लभ विद्यानगर, गुजरात।

शिक्षित समुदाय विश्व भर में परम्परा हिंसा हो रहा है, व्यापक पैमाने पर निराशा तथा क्षोभयुक्त विध्वंस या उदासीन और निष्क्रिय मनोवृत्ति का विकास हो रहा है, यह बिलकुल स्पष्ट है। यह जो विज्ञान के प्रभाव में दुनिया का एक नया सन्दर्भ बन गया है, क्या भविष्य में इसी मानस के द्वारा मानव विकास सम्भव होगा ?

श्री वारसोदी सुझाते हैं—

क. मैट्रीकुलेशन के बाद उपाधियों और व्यवसायों के लिए विशेष शिक्षण या अभ्यासक्रम शुरू करने से पूर्व एक निश्चित अवधि तक हर विद्यार्थी को परिसंवादों में सम्मिलित होना चाहिए, जिसमें मानव की प्रज्ञा और ज्ञान क्षेत्र का सर्वेक्षण हो। निश्चय ही यह कार्यक्रम विद्यार्थियों के लिए प्रेरक अनुभव होगा, जो केवल उनके दिमाग को ही नहीं, भावना को भी स्पर्श करेगा, क्योंकि मनुष्य की बुनियादी समस्याएँ नग्न रूप में उनके सामने आयेंगी और तभी वे अपने ज्ञानार्जन को बुनियादी मानवीय समस्याओं पर केन्द्रित कर सकेंगे।

ख. अन्तिम परीक्षाएँ पूर्ण करने से पूर्व सारी दुनिया की सर्वेक्षित अनुमानतः ४० बुनियादी समस्याओं और उनके समाधान के जागतिक प्रयासों की जानकारी और अनुभव देनेवाले परिसंवाद भी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य रूप से आयोजित किये जाने चाहिए, ताकि वे मानव और समाज के व्यापक सन्दर्भ में समस्याओं को प्रभावकारी, सयुक्तिक और मानवीय ढंग से हल करने में अपने को लगा सकें।

व्यक्ति के आवर्धन और मानवीकरण की दिशा

इस प्रकार विद्यार्थियों के अन्दर वर्तमान राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक और आदर्शवादी, निहायत उलझे तथा आपस में टकराते आन्दोलन से मुक्त, अपेक्षाकृत अच्छी दुनिया और जिन्दगी के निर्माण में अपने आपको लगा देने की वृत्ति पैदा होगी। श्री वारसोदी भारत की शिक्षा संस्थाओं से यह अपेक्षा रखते हैं कि ज्ञान विज्ञान के इस या उस क्षेत्र की विशिष्ट जानकारी विद्यार्थियों को दे देने मात्र से वे अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेंगी, बल्कि स्त्री पुरुषों के व्यक्तित्व के आवर्धन (Cultivation) और मानवीकरण (Humanization) की दिशा में प्रयत्नशील होंगी, ताकि वे इस युग की चुनौतियों का सही जवाब देने में सक्षम हो सकें।

आज ऐसे दूरदर्शी और सक्षम व्यक्तित्व का निर्माण केवल भारतीय ही नहीं, जागतिक स्तर पर भी आवश्यक है। क्या भारत उसका केन्द्र बनकर आशा की किरणें बिखेर सकेगा ?

भारत को चुनौती

श्री वारसोदी का दावा है कि दूसरी शताब्दी में यूरोप दुनिया का 'केन्द्र' नहीं रहनेवाला है। समृद्धि तथा सैन्यबल की पराकाष्ठा के बावजूद अमेरिका से भी इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका वर्तमान दबदबा बहुत समय तक टिकनेवाला नहीं है। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के बाद सारी दुनिया अमेरिका से नैतिक नेतृत्व की आशा करती थी, लेकिन अमेरिका युग की चुनौती के उत्तर में नैतिक और वैचारिक नेतृत्व देने में सर्वथा अक्षम साबित हुआ। नेतृत्व की रिक्तता में दुनिया के समक्ष साम्यवाद का आदर्श आया, लेकिन साधन और साध्य के अनैतिक और अमानवीय रूप के कारण दुनिया को यह आदर्श पूरा समाधान नहीं दे सका।

इतिहास साक्षी है कि चीन, जापान और विशाल भारत की गौरवमय प्राचीन संस्कृतियों में जीवन-मूल्य और आत्मिक चेतना का विलक्षण विकास हुआ था, जिसे यूरोप ने पहले सैन्यबल से और बाद में अपनी यांत्रिकता से विजित किया, लेकिन भारत में आज भी अहिंसा का तत्त्व कायम है। इसीलिए भविष्य के जागतिक मंच पर वह नायक की भूमिका अदा कर सकता है। क्या भारतीय शिक्षा इसके लिए योग्य नेतृत्व का निर्माण करेगी और नियति ने जो जिम्मेदारी भारत पर डाल दी है उसे निभायगी, या समय आने पर वर्तमान अमेरिकी नेतृत्व की तरह भारतीय नेतृत्व भी अक्षम

साबित होगा ? दुर्भाग्यवश अगर ऐसा ही हुआ तो वारसोदी के विचार से दुनिया की रिक्तता साम्यवाद की बर्बरता से भर जायगी और सम्पूर्ण जगत भौतिकता के एक सुदीर्घ और क्रूर दुःस्वप्न में खो जायगा ।

युग की माँग

वक्त का तकाजा है कि शिक्षा में नीतिशास्त्र के ऊँचे आदर्शों पर जोर दिया जाय, मुक्त कलाओं का विकास हो, मानवता के प्रति गहरा प्यार पैदा हो । आज आवश्यकता है, न केवल यंत्र शास्त्र की, बल्कि दर्शनशास्त्र की भी, ताकि उभरती हुई नयी पीढ़ियों को व्यापक और समग्र दृष्टि (vision) मिले, वे क्षेत्र, प्रान्त तथा राष्ट्र के हितों तक सीमित न रह जायँ ।

श्री वारसोदी की निगाह में आज जो भी आर्थिक, राजनीतिक समस्याएँ हैं । वे किसी बुनियादी संकट के लक्षण मात्र हैं और उस बुनियादी संकट की जड़ तक पहुँचने के लिए हमें आज से बहुत ज्यादा पीछे लौटना पड़ेगा । सदियों से मनुष्य की आस्था का आधार धार्मिक परम्पराएँ रहीं, जीवन का संचालन धर्म की सत्ता द्वारा होता रहा । यद्यपि समय-समय पर इन परम्पराओं में भारी परिवर्तन होते रहे, लेकिन अन्तिम सत्ता धर्म की ही बनी रही । कापरनिकस से लेकर गलिलियो, बैकन, न्यूटन तक, विज्ञान के जितने भी आविष्कार हुए उनके कारण धर्म की सत्ता पर कहीं कोई आँच नहीं आयी । एक परम्परा दूसरी परम्परा को स्थानान्तरित अवश्य करती रही, लेकिन मानव इन परम्पराओं की सत्ता के खिलाफ कुछ सोचने की जगह इस बात से सन्तुष्ट होता रहा कि उसकी परम्पराएँ दूसरा की परम्पराओं से बेहतर हैं । सन् १८५९ में जब डार्विन ने अपने सिद्धान्तों की घोषणा की, उस समय जरूर इस महान ईश्वरीय परम्परा की सत्ता समाप्त हुई, लेकिन तब उसकी जगह एक नये ईश्वर 'विज्ञान' की सत्ता स्थापित हो गयी ।

इस नये भगवान ने अपनी असीम शक्ति प्रदर्शित की और पिछले तमाम अन्धविश्वासों और पारम्परिक मूल्यों को खत्म किया, तथा शक्तियों के अपार स्रोत और यन्त्रों की असीम क्षमता हमारे इस्तेमाल के लिए उपलब्ध किया ।

लेकिन, वारसोदी का मानना है कि परम सत्य तथा नैतिक मूल्यों का विज्ञान (Science of axiology) मानव कल्याण की दृष्टि से, भौतिक, रासायनिक, यांत्रिक और एलेक्ट्रानिक विज्ञानों के कुल योग से भी अधिक महत्वपूर्ण है । आज तो विज्ञान के विध्वंसात्मक विकास के कारण दुनिया मानवीय मूल्यों से रिक्त हो चुकी है ।

जीवन-निष्ठ विज्ञान का विकास हो

विज्ञान-द्वारा निर्मित मूल्यों की इस रिक्तता के कारण ही मनुष्य की आकांक्षाओं की रूपरेखा निर्धारित करनेवाला विज्ञापकों का नग्न नृत्य आज सम्भव हो पा रहा है । ये विज्ञापक हमारी दिनरात की आकांक्षाओं को, हमारे जीवन के लक्ष्य को अपने साँचे में ढाल रहे हैं । हमें कैसा भोजन करना चाहिए, कैसा शौक करना चाहिए, *किसे वोट देना चाहिए, कैसी सवारी करनी* चाहिए, कैसा निवास रखना चाहिए, क्या पढ़ना चाहिए, क्या गाना चाहिए, कैसा मनोरंजन करना चाहिए, आदि आदि सभी बातों को अपने आकर्षक विज्ञापनों-द्वारा निर्धारित करते हैं । इस तरह अखबारों, पत्रिकाओं, इश्तहारों, रेडियो और टेलीविजनों के द्वारा जाने-अनजाने हमारे सम्पूर्ण जीवन-संचालन की बागडोर इन विज्ञापकों के हाथ में केन्द्रित होती जा रही है । यही कारण है कि नैतिक और ऊँचे मानवीय मूल्यों की जगह 'खाओ-पीओ, ऐश करो' की उनकी सीख को सारा समाज तेजी से अपना रहा है । 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' आकर्षण का केन्द्र अब नहीं रहा, अब तो सर्वोच्च मूल्य वे हैं, जो आधुनिकतम 'फैशन' के अनुकूल और अपूर्व हैं ।

आज का आर्थिक (दरिद्रता का), राजनीतिक (साम्यवाद और पूँजीवाद का), सामाजिक (आम जनता के विद्रोह का) संकट वास्तव में दुनिया में व्याप्त दुहरे विकार (Defects) का परिणाम है, जिस ओर वर्तमान विज्ञानवाद ने हमें ढकेल दिया है—मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन की समस्याओं का समाधान कैसे करे, इसके लिए उपयुक्त मानवीय जीवन-दर्शन के साथ विज्ञान के अनुबन्ध का न होना, और इस समस्या के समाधान में शिक्षण के उपयोग का न होना । दुनिया को इन विकारों से मुक्त करने का एक ही उपाय है शैक्षणिक क्रान्ति । आज ये समस्याएँ

वैज्ञानिक दुनिया को पुकार-पुकारकर कह रही है कि शिक्षण को असवेदनशील भौतिकता के पूर्वग्रहों से मुक्त करो और उसकी जगह 'मानव क्या है' इसका अध्ययन शुरू करो। ये समस्याएँ विज्ञान की इस दुनिया से कह रही हैं कि अबतक के उपेक्षित जीवन निष्ठ विज्ञान (Normative Sciences) के विकास में लगो, और शिक्षा जगत से कह रही हैं कि बुनियादी समस्याओं पर अपने पाठ्यक्रम को केन्द्रित करो।

श्री कारसोदी को पूरी उम्मीद है कि वास्तविक और बुनियादी सकट, जो वास्तव में शैक्षिक सकट है, उसका उपर्युक्त निदान किया जायगा तो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सकट के रूप में जो लक्षण प्रकट हुए हैं, वे पहली बार हल होने की स्थिति में आ सकेंगे।

'उद्योगवाद' और 'नगरवाद'

घातक सामाजिक व्याधियों मे फँसकर दुनिया मर रही है। यो इनमें से कुछ व्याधियाँ तो इतनी घातक हैं कि दुनिया का विध्वस करने के लिए उनमें से कोई एक अकेली ही काफी है, लेकिन उनमे फिर भी ये दो व्याधियाँ तो अत्यन्त भयकर हैं और जिन्हें आधुनिक जगत व्याधियों में शुमार भी नही करता। वे व्याधियाँ हैं—उद्योगवाद और नगरवाद की।

आधुनिक दुनिया इस मान्यता पर चल रही है कि न केवल कृषि और निर्माण का ही, बल्कि शिक्षण का भी, औद्योगीकरण करके असीम सम्पदा का सग्रह करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। निस्सन्देह इसे आधुनिक दुनिया के नेता 'समृद्धि', 'विपुलता' और 'ऊँचे जीवनमान' की खूबसूरत सज्ञा देते है, लेकिन इन सज्ञाओ से यथार्थ में कोई फर्क नही पडता।

'उद्योगवाद', और 'नगरवाद' दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पहला यह सिखाता है कि सम्पत्ति का सग्रह कैसे हो और दूसरा यह सिखाता है कि उस सग्रहित सम्पत्ति को खर्च कैसे किया जाय। यद्यपि 'उद्योगवाद' को कायम रखने के लिए कच्चे माल का उत्पादन जिन किसानों मजदूरो के द्वारा होता है और जो सबको भोजन और वस्त्र की सुविधा देने के लिए दिन रात पसीना बहाते है, वे हमेशा दरिद्र ही बने रहते है। सारी सम्पत्ति उद्योगवाद और नगरवाद के मायाजाल में फँसकर रह जाती है। देहातों से आकर नगर के कारखानों में काम करनेवाले स्त्री पुरुष भी जो कुछ कमाते हैं, वह सब भी नगरवाद के प्रभावकारी विज्ञापनों के निर्देशानुसार वही खर्च हो जाता है। वास्तव में नगर एक ऐसा वृहद बाजार है, जिसमें जितनी दूर तक हमारी कल्पना की पहुँच हो सकती है उतनी दूर तक की, ऐसी चीजें, जो जबान से लार टपका दें, शरीर को मजा दें, मन को गुदगुदा दें और उत्तेजित कर दें या इन्द्रियों को आलोडित कर दें, बिक्री के लिए प्रस्तुत हैं। उद्योगवाद आधुनिक मनुष्य के लिए निर्धारित जरिया है पैसा प्राप्त करने का और नगरवाद निर्दिष्ट मार्ग है खर्च करने का।

विचार वस्तुत व्यक्ति निष्ठ होते है, वस्तु निष्ठ नही। उनका उद्भव मन में या दिमाग में होता है, बाहर नही। वे विचार मनुष्य को चालना देते है, यहाँ तक कि वस्तुगत और बाह्य क्रियाओ को भी निर्दिष्ट करते है। मनुष्य यह सोचता है कि ये विचार उसके अपने निजी है, लेकिन स्थिति इसके विपरीत होती है। जितने भी महान विचार है, मनुष्य पर अपनी सत्ता स्थापित करते है, और उसके दायरे को सीमित करते है।

क्या हमें चुनौती स्वीकार है ?

आम जनता की दरिद्रता दूर करने की बात एक है और असीम सम्पत्ति या विपुलता का अर्जन बिलकुल दूसरी चीज। इस दूसरी चीज ने सारी दुनिया में अपरिमित औद्योगीकरण का उन्माद पैदा कर दिया है। अधिकतम सम्पत्ति और सम्पूर्णत औद्योगीकरण ही मूलत आज की दो सामाजिक व्याधियाँ हैं। जो चुनौती दे रही हैं कि क्या हम केन्द्रित तथा कम्यून्स (नवचीन की प्राथमिक इकाइयों) के आधार पर खड़े औद्योगीकरण की बर्बर भौतिकता के अन्धकार में विलीन हो जाने तक वतमान लीक पर ही चलते रहेंगे ? दौलत के भ्रामक भगवान की भक्ति तब तक करते रहेंगे, जबतक कि मनुष्य सम्पत्ति उत्पादक राक्षसी यत्र का मात्र एक पुरजा न बन जाय ? या हम भारतीय सस्कृति में वर्णित 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के महान लक्ष्य की ओर बढने का प्रयत्न करेंगे ? ●

वह बाप को बच्चा, बच्चू, लल्लू, बउव्वा कहता है और इस ढंग से कहता है कि घर के सभी लोग उससे जीते-जी यही कहलवाते हैं। आदमी के बच्चे को खाली बातें बताने और उनको याद कराने से काम नहीं चलेगा। यह तालीम नहीं हुई। इस तरह के स्कूल रिकार्ड भरने के कारखाने और ऐसे उस्ताद रिकार्ड भरने की मशीन ही हुए, और कुछ नहीं।

आप पूछेंगे, तो फिर तालीम है क्या? इसका जवाब एक माँ की जुबानी सुनिये, जो इंगलिस्तान की सीधी-सादी औरत है, जिसका बचपन में ऐसे ही स्कूल में भेज दिया गया था और ऐसे ही टीचरों से पाला पड़ा था, तो उसे कड़ुए घूंट पीने पड़े। उसने मन में ठान लिया कि मैंने तो यह तोता कहानी पढ़ ली, पर मैं अपने बच्चों को इससे बचाऊँगी और उनको यह कड़वे घूंट नहीं पीने दूंगी। इंगलिस्तान में एक माँ का अपने इस फैसले पर इतना आसान काम नहीं है। वहाँ तालीम लाजिमी है। इसलिए जब पहला बच्चा इतना बड़ा हुआ कि स्कूल जाये, तो दफ्तर से नोटिस आयी कि लड़के को स्कूल भेजो या हमको इत्मीनान दिलाओ कि तुमने पूरे वक्त बच्चे को पढ़ाने का इन्तजाम किया है। इस पर बहस चली और मामला अदालत तक पहुँचा। वहाँ ज्वाय ई० बेकर ने कहा—

> "तालीम घटनाओं का जानना नहीं है, बल्कि सलाहीयतों (क्षमताओं) को उभार के काम में लाना है। बहुत से लोग समझते हैं कि टीचर का काम यह है कि बच्चों के दिमाग में मालूमात भरें और ठूंसें। तालीम तो इसके प्रतिकूल है। तालीम ऐसा कर्म है, जो बच्चों की उन सलाहीयतों को उभारता है, जो उनमें पहले से मौजूद है।' *

इस बिना (बुनियाद) पर स्कूल और उस्ताद इसलिए हैं कि बच्चों की उन सलाहीयतों को मालूम करें और उनको उभारें। उन सलाहीयतों का कैसे पता लगायें और उनको कैसे उभारें, तालीम के बुनियादी सवाल बन जाते हैं। और जब ये बुनियादी सवाल हैं तो स्कूल को समाज से, अध्यापक को घर और खानदान से रिश्ता जोड़ना पड़ता है और बच्चों के घर से मिलना-जुलना और मेल-जोल बढ़ाना पड़ता है, क्योंकि इसके बिना तो काम चलता नहीं और चल भी नहीं सकता।

विद्यार्थी ने स्कूल जाने से पहले घर में आँख खोली। घरवाला ही में इनसानी समाज और जीवन का पहला तजुर्बा किया, जिसमें उसको माँ की गोद, बाप का प्यार, भाई-बहनों का साथ मिला। उनके साथ हँसा-रोया और बड़ा होके खेला भी। वहीं माँ की ममता में नहाया। प्रेम की छत्र-छाया में रहा, कभी भाई-बहनों से कुट्टम-कुट्टी भी हुई। यही है उसकी अपनी दुनिया, जिसका असर उसके दिल-दिमाग पर बहुत गहरा है, जिसको लेकर वह स्कूल जाता है। अगर स्कूल, उसके टीचर उसकी पढ़ाई, उसकी दुनिया से नाता जोड़ लेते हैं तो विद्यार्थी काम में जुट जाता है। वह समझता है कि स्कूल उसी की दुनिया है, जो फैल गयी है। उसके अध्यापक उसी के नातेदार हैं।

अगर स्कूल, उसके टीचर विद्यार्थी से रिश्ता नहीं जोड़ते, तो फिर लड़ाई-सी छिड़ जाती है, जो उसके मन में चलती रहती है। माँ-बाप पर उसका पूरा भरोसा होता है, वह मन के पट उनके सामने खोल देता है और वह नहीं सुनते तो अकेला ही लड़ाई लड़ता रहता है, जो ऐसे रूप ले लेती है जिसको हम समझ नहीं पाते और उसको बदशौक, फिसड्डी, निकम्मा और पता नहीं क्या-कुछ कहके उसकी आत्मा दाबते और अपने सदियों के पुराने साँचे में ढाल के मगन हो जाते हैं।

शिक्षण के इस रूप का ज्वाय ई० बेकर ने दूसरे मौके पर और निखारा। जब उन्होंने अदालत में 'जंगली फूलों की प्रार्थना' नामी गीत पढ़ के सुनाया, जिसमें जंगली फूल गाते हैं—"हमको उन बेहिस (चेतना शून्य) ठोकरों से बचाओ, जो हमारी नन्हीं कोंपलों को कुचल देते हैं और उन लोगों से भी बचाओ, जो इस बात को मानते हैं कि हर फूल को एक जगह से उखाड़ के दूसरी जगह लगाया जा सकता है।" इस गीत को सुनाकर उन्होंने कहा—' फूल अपने वक्त पर खिलता है। अगर तैयार होने से पहले कली को नोच लिया जाय, तो वह

* children in ch[illegible]

बदसूरत और खराब हो जायगी। इसी तरह हर बच्चे का दिमाग उन दिमागों की गरमी और रोशनी से खुलता है जो उसपर असर डालते हैं। जिन पर बच्चों की तालीम की जिम्मेदारी है वे वैसे लोग होने चाहिए, जो उससे मुहब्बत करते और उसको समझते हैं।"

इस उसूली बहस को छोडकर जरा रोज-रोज के काम को लीजिये कि बच्चे के घर का जीवन उसपर क्या असर डालता है और टीचर को उसका ज्ञान न हो तो वह कैसा भटकता है। सन् १९१४ में जर्मनी के शहर बर्लिन के एक महल्ले कार्म्स रूहेल में बच्चा की जिन्दगी का पता लगाने का काम चला, तो मालूम हुआ कि चालीस फीसदी बच्चे अकेले नहीं, किसी बड़े के साथ सोते हैं। इन चालीस फीसदी में दस फीसदी ऐसे थे, जो एक-एक चारपाई पर चार-चार सोते थे, जिनमें से एक सत्तर-अस्सी साल के दादा-दादी सोते थे, जो रातभर खाँसते रहते थे। बीस फीसदी एक चारपाई पर तीन-तीन, जिनकी उम्रें में पाँच-पाँच, दस दस साल का फर्क। इन बच्चों को रातभर ठीक से नींद नहीं आती। सबेरे जब स्कूल जाते, तो ताजा दम नहीं होते। पहले दूसरे, तीसरे घण्टों में पढ़ाने-वाले, जो इनके घर की जिन्दगी से नावाकिफ थे, यह समझते थे कि ये ताजा दम हैं। उनके सवाल का जवाब बच्चे न देते, तो वह उनको डाँटते-फटकारते थे, जिसका बच्चों पर उलटा असर पड़ता। वह अपने मन में कहते कि इनको पता तो है नहीं कि हम किस दशा में हैं और मुफ्त में हमें डाँट रहे हैं।

घर और घर के लोग विद्यार्थी के लिए क्या हैं, उस बात से खुल जायगा जो आर० विलियम बर्नेथ ने अपनी किताब 'टीचिंग माइन्ड इन एलेमेण्ट्री स्कूल्स' में लिखी है—"जॉन मेहनती और समझदार लड़का। रोज काम करता और क्लास में सवालों के जवाब भी खूब देता है, पर आज चुप है। बहुत से सवाल किये, पर जॉन चुप बैठा रहा। उस्तानी ने डाँटा नहीं। तेवर से भाँप लिया कि आज घर में कुछ हुआ है तभी जॉन चुप है। चुमकारा तो जॉन ने कहा—"तुम क्या करोगी, जब तुम्हारी माँ कहें कि तुमने वह काम किया है, लेकिन दिल से जानती हो कि तुमने वह काम नहीं किया।" यह सुनके वह अपनी किताब में लिखती है—"यह चोट खाया हुआ बच्चा है। ऐसा बच्चा, जिसे दुःख है कि जिसकी मुहब्बत और हिफाजत का उसको पूरा एहसास था और जिसकी इसको बड़ी जरूरत थी, वह एहसास जाता रहा।"

"माँ जिसकी गोद में पहुँचकर वह समझता था कि अब कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता, जिसकी आँखें उसके ममता की मौजों में झुलाती है। वही माँ आज उसपर दोष लगाती है और दोष भी ऐसा, जिसको उसका मन कहता है कि ठीक नहीं, गलत और बिलकुल गलत है। उसकी तो दुनिया उजड़ गयी, उसे सर छुपाने की जगह नहीं। इसलिए वह क्लास में तो है, मगर चोट खाया हुआ और घाव भी माँ का लगाया हुआ। इसलिए अब किसका पढ़ना, और कैसा पढ़ना लिखना-सीखना।"

ऐसी बातें आये दिन हर स्कूल में होती रहती हैं और अगर बच्चों की उमंगें उभारनी हैं तो विद्यालय का पूरे समाज से और उस्ताद का बच्चा के खानदान से बहुत गहरा रिश्ता होना चाहिए, ताकि एक दूसरे को पूरी तरह समझें और मदद करें। क्योंकि इसी जरिये बच्चों की सलाहीयता का पता लगता है और इसी तरह उनकी सलाहीयतों को उभारकर तालीम में काम लिया जा सकता है।

दुनिया के अगुवा देशों में यह रिश्ता किसी-न किसी रूप में मिलता है। जैसे इंगलिस्तान, फ्रांस, अमेरिका में वाल्दैन (पालकों) की अंजुमनें हैं, जो अपनी मैगजीन निकालती हैं। तालीम को समझने-समझाने का इन्तजाम करती हैं। उनके मेम्बर स्कूलों में जाते हैं। जो खोट देखते हैं उसे बताते और दूर करने की कोशिश भी करते हैं। आस्ट्रेलिया की कुछ रियासतों में उस्तादों और वाल्दैन की मिली-जुली अंजुमनें हैं, जिन्होंने अपनी सरकार से अच्छी शिक्षा की माँग में इस पर जोर दिया कि क्लास में भीड़ न हो, ताकि उस्ताद हर बच्चे पर ध्यान दे सके। रूस में स्कूल-कमेटियों में वाल्दैन के नुमाइन्दे (प्रतिनिधि) होते हैं, जो सालभर में कई बार मिलकर बैठते और बच्चों के बारे में बातचीत करके एक दूसरे की मदद करते हैं।

अमेरिका के जो तीन-चार रिसाले (मासिक पत्र) मैंने देखे, उनमें एक बात अच्छी मिली। वहाँ बच्चा में डर नहीं है। वे अपने माँ-बाप से बात साफ साफ कह

देते हैं। इतनी साफ कि हम उनमें से कुछ को गन्दी बात समझ सकते हैं। उनके माँ-बाप भी अपने बच्चों के बारे में बातचीत में कुछ ढकी छुपी नहीं रखते। उस्ताद उनके घरेलू जीवन के बारे में बातें पूछकर बच्चे को समझने का गुन (भेद) पाते और उसके मन की बात मालूम कर लेते हैं। हमारे देश में तो यह सब बहुत ही मुश्किल है।

आज तो हालात इतने बदल गये हैं कि स्कूल का समाज और टीचर और उसके काम का बच्चों के घर और घर की जिन्दगी से नाता जुड़े बिना काम चल ही नहीं सकता। अपने क्लास की एक बात से इसे साफ कर दूं। गप्पू रोज पहले घण्टे में देर से आता था। एक दिन कह दिया कि कान खोल के सुन लो कि कल से हाजरी नहीं लूंगा। वह फिर भी देर से आया। जब धीरज से पूछा तो कहा-- 'मास्टर साहब, सवेरे सबसे पहले गाहकों को दूध पहुंचाता हूँ तो काम चलता है।" इसको सुनके मैंने अपने स्कूल की तारीख पर नजर डाली।

मैं सन् १९२७ में मुसलिम युनिवरसिटी-स्कूल में नौकर हुआ तो उसमें नवाबों, राजाओं जमींदारों के लड़के पढ़ते थे। जब सन् १९६० में रिटायर्ड हुआ तो हर क्लास में तीस चालीस फीसदी बच्चे चपरासियों, घोसियों, कमेरों, भिश्तियों वगैरह के थे। पेट पालने के लिए उनको और उनके माँ-बाप को कुछ-न कुछ काम करना पड़ता था, जिसमें वक्त लगता और मेहनत होती थी। इसपर उनका कोर्स वही था, किताबें वही थीं, जो ऐसे ऊँचे घराने के बच्चों के लिए थीं, जिनके लिए स्कूल की पढ़ाई के अलावा कम से-कम एक वर्ना दो दो तीन-तीन टयूटर रखे जाते थे।

जो बड़ी तबदीली मैंने इतने बरसों से मुसलिम युनिवरसिटी-स्कूल में देखी, वह हमारे जमहूरी (लोकतांत्रिक) में फैलती हुई तालीम की वजह से कुछ नहीं तो पचास फीसदी स्कूलों में हो गयी है। जो बच्चे पिछड़े घरानों से आते हैं उनके कपड़े ही दूसरों की नजर में नहीं जंचते, तो उनपर घटियापन का लेबुल लगता है और उनपर किताबों का इतना बोझ लाद दिया जाता है जितना ऊँचे घरानों के बच्चों पर, जिसको वह अपने घर के माहौल (वातावरण) और पढ़ाई के इन्तजाम की वजह से संभाल लेते हैं, लेकिन पिछड़े बच्चे नहीं सँभाल सकते और इस बोझ से उनकी आत्मा धीरे धीरे सिसक सिसककर मरती है।

आज हमको अपने बच्चों को वाकई तालीम देना है और उनकी सलाहियतों को उभारना है तो पहली बात अपने टीचरों और पूरे समाज के जहन में यह जमानी होगी कि वह हर काम जिससे समाज की कोई जरूरत पूरी होती है वह अच्छा काम है, करने का काम है। तभी ऐसे बच्चों की कद्र होगी, उनके दिल में हौसला होगा। दूसरी यह बात कि "हर फूल एक जगह से दूसरी जगह नहीं लगाया जा सकता।"

आज देश की तालीम पर सबसे बड़ी फटकार यही है कि चाहते हैं कि हमारे विद्यालय अमेरिका, रूस, इगलिस्तान-जैसे हो जायें यानी जो-जो और जितने-जितने मजमून (विषय) बच्चों को वहाँ पढ़ाये जाते हैं उतने ही मजमून यहाँ भी पढ़ाये जायें। उतनी ही किताबों का बोझ अपने विद्यार्थियों पर लाद दें। हमारी नजर किताबों पर है, इनसान के बच्चों, उनकी सलाहियतों पर नहीं है। इसकी सबसे खुली और साफ मिसाल तीन जबान पढ़ाने का फैसला है। हमारे देश में जान होती और हम ईमानदारी से बच्चों को कल के देश का खेवइया समझते तो यह फैसला न करते और यह देखते कि तालीम का सोता कहाँ से फूटता है उसी पर जोर दें। जार्ज सेम्पाउ ने अपनी किताब (इंगलिश फॉर इंगलिश) में लिखा है कि अँग्रेजी अकेला मजमून नहीं है, इसमें तो तमाम मजमून आ जाते हैं और यह उनसे परे निकल जाता है। यह अँग्रेजों के लिए उनका पूरा जीवन है उनका रूप है। इसको पाके वह अपनी बात कह सकते हैं और समझदार इनसान बन सकते हैं। ऐसे इनसान, जो माजी (भूतकाल) की मीरासलें (मूल्य) और हाल (वर्तमान) पर काबू पाके मुस्तकबिल (भविष्य) का सामना करें।" इसमें यह बात बता दी गयी कि तालीम का सोता तो मादरी जबान से फूटता है। मादरी जबान एक मजमून ही नहीं, तमाम मजमूनों पर हावी और उनसे परे भी है। इसको हम इस तरह पढ़ायें कि हमारे पर जो तहजीब का वरसा (उत्तरदायित) है वह बच्चे तक पहुँच जाय और उसकी आत्मा जाग उठे, और इनसानी समाज से अपना रिश्ता जोड़े। मादरी जबान में सीखने की उमंग बढ़ेगी तो फिर

अच्छे लोगों को समझन, अपनी मरजी के मजमून को पढ़ने के लिए बच्चा दूसरी जबानें पढ़ेगा और दिल से पढ़ेगा, हुकूमत के जोर से नहीं।

इस हालत में जब पिछड़े घराना से करोड़ों की तादाद में बच्चे आ रहे हैं। इमको मजमूनों की तादाद कम करनी चाहिए और जो कुछ पढ़ाये उसका रिश्ता समाजी जीवन से जोड़ के बच्चों में उमग पैदा करनी चाहिए। आग बढ़ने का हौसला पैदा करना चाहिए। ऐसा करने से शुरू-शुरू में तो यह करोड़ों बच्चे उन लाखों बच्चों से पीछे रहेंगे, जो पिछड़े घराना से नहीं आते, पर जैसे-जैसे वह बच्चे बढ़ते जायेंगे, उनका और उनके आगेवाला का फासला कम होता जायगा और एक दिन ऐसा भी आयगा कि ये पिछड़े बच्चे आगे निकल जायेंगे, लेकिन यह डण्डे के डर से नहीं, मन की लगन से होगा।

हमारे देश मे शिक्षा का नाता चूंकि समाज से नही है, इसलिए एक डण्डा तो वही है जिसको सभी जानते हैं, लेकिन 'स्टैण्डर्ड' के नाम से एक डण्डा और चलता है। कहिये कि निसाब (आधार) हल्का कीजिये, फिर देखिये कि चारा तरफ से आवाज आती है 'स्टैण्डर्ड' तो पहले ही गिर रहा है अब हम और ज्यादा गिरने नही देंगे। कोई इन तालीम के ठीकेदारा से पूछे कि 'स्टैण्डर्ड' का टोप ऊपर से लादा जायगा या नीचे से उभरेगा ? किताबों के रटने से बनेगा या दिल की उमगों और हौसलों से। ज्वाय ई० बेकर ने स्टैण्डर्ड के पुजारियों के लिए बड़ी प्यारी बात कही—"किसी माहिरे सेहत (स्वास्थ्य-मर्मज्ञ) ने कभी मशविरा नहीं दिया कि बच्चे के हलक (कण्ठ) में किसी खास किस्म या मेकदार (परिमाण) का खाना जबरदस्ती ठूंसा जाय। क्योंकि डाक्टरी की किताब में लिखा है कि उस उम्र में बच्चे को वह खाना उस मेकदार में देना चाहिए। बच्चे के खाने में यह देखा जाता है कि उसको कौन सा और कितना खाना पचता है और उसको देखके खाने की किस्म और मेकदार मुकरर की जाती है। फिर स्कूल में मालूमात को बच्चों के दिमाग म क्या जबरदस्ती ठूंसा जाता है ? बच्चे का बदन और जेहन कोर्स की किताबों की हिदायत या मुहकमए तालीम (शिक्षा विभाग) के मशविरे के मुताबिक नशवोनमा (विकास) नही पाता। यह नादानी है कि दिन-ब दिन बच्चे को क्लास के कमरे में बन्द रखके ऐसी पढ़ाई हो, जिसका दवसाँ हिस्सा भी उसका दिमाग पचा नही सकता और इसको तालीम कहा जाय। यह तो बिलकुल ऐसी बात हुई कि बच्चे को दस्तरखान पर बिठाके उसके चारा तरफ ऐसे खाना की प्लेटें लगा दी जायें, जिनको अभी वह पचा नही सकता और फिर कहा जाय कि इसको खाना दिया गया है जो इसके लिए मुनासिब और मौजूं (उचित) है।

अनु०—मजूर

•

सरकार या कुछ नेता अच्छे या बुरे नियम बना दें और उन्हे जनता चुप-चाप या थोड़ी-बहुत चिल्ल-पों मचाने के बाद स्वीकार ले, उससे जनता शिक्षित नही मानी जायगी। परन्तु जनता खुद ही अपने नियम पसन्द करके उनपर अमल करने लगे और सरकार को वे नियम उसी रूप में स्वीकार करने पड़ें, ऐसी स्थिति निर्माण करनेवाली शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा है।

—किशोरलाल मशरूवाला

अनुक्रम

●

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहकसंख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती है।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

श्रीकृष्णदत्त सर्व सेवा संघ की ओर से भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशन

समग्र नयी तालीम : *धीरेन्द्र मजूमदार*—धीरेन्द्र भाई मौलिक और क्रान्तिकारी शिक्षा-विशेषज्ञ है। इस कृति में आपने बच्चो के लिए ही नही, सम्पूर्ण परिवार के लिए समग्र नयी तालीम की, स्वावलम्वन की शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। मूल्य-१ २५

बुनियादी शिक्षा : क्या और कैसे : *दयालचन्द्र सोनी*—लेखक ने अनुभवो के आधार पर बुनियादी शिक्षा के महत्व का विचार प्रस्तुत किया है। पुस्तक रोचक तथा तथ्यों से भरी है। मूल्य-१·२५

बालवाड़ी : *जुगतराम दवे*—शिशु-अवस्था में अगर सुसंस्कारो के बीज बो दिये जायँ तो जीवन सदा रसपूर्ण बना रहता है। बाल-मन्दिर मे बच्चो के साथ कैसा बरताव किया जाय, उन्हे कैसे पढाया-लिखाया जाय, यह बाते विवेक और धीरज पर निर्भर होती है। श्री जुगतराम भाई बाल-शिक्षा के मँजे हुए आचार्य हैं। उनकी यह कृति प्रत्येक पुस्तकालय, बालमन्दिर और घर मे रहनी चाहिए। मूल्य-३·००

बच्चो की कला और शिक्षा : *देवीप्रसाद*—लेखक कला-शिक्षक है और उन्होंने सेवाग्राम मे बच्चो मे निहित कला-दृष्टि के प्रस्फुटन को उकसाया है। कला-जीवन और कला-सौन्दर्य की बच्चो में कैसी अभिरुचि होती है, और उनका मार्गदर्शन कैसे किया जाय, इन सब बातो की छानबीन वैज्ञानिक ढग पर की गयी है। मूल्य-८·००

नयी तालीम, जून-जुलाई '६६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
लाइसेंस न० ४६
रजि० सं० एल, १७२३

राष्ट्रीय विकास और शिक्षा-विशेषांक

राष्ट्रीय विकास का मूल आशय उसकी गतिशक्ति तथा निरन्तर बदलते हुए समाज में उसकी बुनियादी आवश्यकताओं का युगबोध।

विवेचन के कुछ पहलू

* राष्ट्रीय विकास का माध्यम
* राष्ट्रीय विकास की बुनियादें
* राष्ट्रीय विकास के सन्दर्भ में
* भारतीय चिन्तकों का शिक्षा-दर्शन
* शिक्षण के पाश्चात्य प्रयास

आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस
मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २३५००
मास छपी प्रतियाँ २३५००